ओ३म्

न्यायदर्शनम्

विद्योदयभाष्यम्

विद्याभास्कर, वेदरत्न, न्याय-वैशेषिक,
सांख्य-योग तीर्थ, वेदान्ताचार्य, शास्त्रशेवधि

आचार्य उदयवीर शास्त्री

* ओ३म् *

उदयवीर शास्त्री ग्रन्थावली

१

न्यायदर्शनम्

(अभिनवपद्धतिपरिष्कृत-विद्योदयभाष्यसहितम्)

विद्याभास्कर, वेदरत्न

उदयवीर शास्त्री

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योगतीर्थ, वेदान्ताचार्य, विद्यावाचस्पति, शास्त्रशेवधि

विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द

हमारे यहाँ से प्रकाशित लेखक द्वारा प्रणीत ग्रंथ

1. न्यायदर्शन भाष्य
2. वैशेषिकदर्शन भाष्य
3. सांख्यदर्शन भाष्य
4. योगदर्शन भाष्य
5. मीमांसादर्शन भाष्य
6. ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन भाष्य)
7. सांख्यदर्शन का इतिहास
8. सांख्य सिद्धान्त
9. प्राचीन सांख्य संदर्भ
10. वेदान्तदर्शन का इतिहास
11. वीर तरंगिणी (विभिन्न विषयों पर लेख)

ISBN 81-7077-055-6

प्रकाशक : **विजयकुमार गोविन्दराम हासानन्द**
4408, नई सड़क, दिल्ली-110 006
दूरभाष : 23977216, 65360255
e-mail : ajayarya@vsnl.com
Website : www.vedicbooks.com

वैदिक-ज्ञान-प्रकाश का गरिमापूर्ण 85वाँ वर्ष (1925-2010)

संस्करण : 2010

मूल्य : 200.00 रुपये

मुद्रक : अजय प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

NYAYDARSHANAM *by* Acharya UdayVeer Shastri

भूमिका

महर्षि यास्क ने अपने निरुक्त में एक इतिहास प्रस्तुत किया है जो इस प्रकार है—

पूर्वकाल में ऋषियों के न रहने पर मनुष्य देवजनों के पास गये और बोले—'को न ऋषिर्भविष्यति ?'—अब हमारा कौन ऋषि होगा ? तब देवों ने उन्हें तर्क-ऋषि प्रदान किया - 'तेभ्य एतं तर्कमृषिं प्रायच्छन्' (निरुक्त १३/१२)। तर्क को लक्ष्य करके भगवान् मनु ने कहा है—

यस्तर्केणानुसंधत्ते स धर्मं वेद नेतरः। —मनु० १२/१०६

अर्थात् जो तर्क के द्वारा अनुसन्धान करता है वही धर्म के तत्त्व को जानता है, अन्य नहीं।

यहाँ तर्क से अभिप्राय है—प्रमाणों के अनुसार सत्य का निश्चय करना। प्रमाण ही न्याय का देवता अथवा मुख्य प्रतिपाद्य है। लोक में उसी को तर्कविज्ञान या तर्कशास्त्र भी कहते हैं। जब तक वादी-प्रतिवादी होकर वाद न किया जाय तब तक सत्यासत्य का निर्णय नहीं हो सकता। इसीलिए लोकोक्ति बन गई है—'वादे वादे जायते तत्त्वबोधः'। अपनी इस शक्ति के कारण न्यायशास्त्र विभिन्न नामों से विभिन्न रूपों में देश-काल की सीमाओं का उल्लंघन कर विश्व भर में लोक-व्यवहार में भी उतना ही उपयोगी हो गया है जितना धार्मिक अथवा दार्शनिक ऊहापोह में। अनुमान की पूरी प्रक्रिया (जिसमें प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय तथा निगमन पाँचों अवयव शामिल हैं) का आधार यही दर्शन है। समस्त दार्शनिक, धार्मिक तथा व्यावहारिक ऊहापोह का नियमन न्यायदर्शन के सिद्धान्तों के द्वारा ही होता है। अन्यथा चिरकाल तक मन्थन करते रहने पर भी तत्त्वार्थ-नवनीत की प्राप्ति नहीं होती।

न्याय और वैशेषिक दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं। जहाँ वैशेषिक पदार्थों और उनके धर्मों का उल्लेख, संगमन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहाँ न्यायदर्शन उन पदार्थों एवं धर्मों के जानने और समझने की प्रक्रिया का निरूपण करता है।

यास्क हरेक साधारण मनुष्य के तर्क को तर्क नहीं मानते। वे ऐसे मनुष्य के ऊहापोह को ही ऋषि समझते हैं जो अनेक विद्याओं में पारंगत हो, बहुश्रुत हो, तपस्वी हो और प्रकरणानुसार चिन्तन करनेवाला आप्तपुरुष हो।

दार्शनिक साहित्य के प्रणयन में निष्णात, दर्शनशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् साहित्यवाचस्पति आचार्य उदयवीर शास्त्री अपने विषय के अधिकृत विद्वान् हैं। दर्शनशास्त्र जैसे क्लिष्ट एवं शुष्क विषय के प्रस्तुतिकरण को उनकी शैली की यह विशेषता है कि वह विद्वानों से लेकर साधारणजनों तक के लिए सुबोध एवं रुचिकर होने से सभी के लिए समान रूप से उपादेय है।

आचार्य उदयवीर जी प्रणीत साहित्य का प्रकाशन अब तक श्री स्वामी वेदानन्द जी तीर्थ द्वारा-संस्थापित, श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी द्वारा पोषित तथा श्री आचार्य उदयवीर जी द्वारा प्रतिष्ठित विरजानन्द वैदिक (शोध) संस्थान द्वारा होता रहा है। आचार्य जी के अशक्त हो जाने तथा इस कारण उससे संन्यास ले लेने के परिणामस्वरूप यह संस्थान श्रीहीन हो गया। परन्तु इतने उत्कृष्ट साहित्य के अध्ययन-अध्यापन से समाज वंचित न हो, इसलिए भविष्य में आचार्य जी की सम्पूर्ण रचनाओं के प्रकाशन का दायित्व गोविन्दराम हासानन्द के स्वत्वाधिकारी श्री विजयकुमार जी ने अपने ऊपर ले लिया। गोविन्दराम हासानन्द प्रकाशन संस्थान की स्थापना महान् गोभक्त हासानन्द जी के सुपुत्र तथा श्री विजयकुमार जी के पिता श्री गोविन्दराम जी ने आर्यसमाज के उदयकाल में की थी। न्यायदर्शन के प्रस्तुत सशोधित संस्करण का प्रकाशन उसी के द्वारा हो रहा है। श्री विजयकुमार जी को अनेकशः साधुवाद एवं आशीर्वाद।

डी-१४/१६ मॉडल टाउन, दिल्ली
१६-१०-६०

—**विद्यानन्द सरस्वती**

आचार्य उदयवीर शास्त्री व्यक्तित्व एवं साहित्य-साधना

डॉ० भवानीलाल भारतीय

भारतीय दर्शनों के उद्भट विद्वान् पं० उदयवीर शास्त्री का जन्म पौष शुक्ल १० सं० १९५१ वि० तदनुसार ६ जनवरी, १८९१ को बुलन्दशहर जिले के ग्राम बनैल में ठाकुर पूर्णसिंह तथा माता तोहफा देवी के यहाँ हुआ। इनका बचपन का नाम उदयवीरसिंह था। निकटवर्ती ग्राम सावितगढ़ में आर्यसमाज के उत्सव पर गुरुकुल सिकन्दराबाद के संस्थापक पं० मुरारीलाल शर्मा के व्याख्यान से प्रेरणा पाकर ठाकुर पूर्णसिंह ने अपने पुत्र को गुरुकुल में प्रविष्ट कराने का संकल्प किया, फलतः उदयवीरसिंह १८ वर्ष की आयु में गुरुकुल सिकन्दराबाद में पठनार्थ भेजे गए। यहाँ उनका अध्ययन १९१० तक रहा। तत्पश्चात् वे १९१० में गुरुकुल महाविद्यालय ज्वालापुर में आए। उस समय महाविद्यालय अपनी शैक्षणिक दृष्टि से आर्यसमाज की एक उत्कृष्ट संस्था के रूप में सम्मान प्राप्त कर रहा था। स्वामी शुद्धबोध तीर्थ (पं० गंगादत्त शास्त्री) के अतिरिक्त पं० नरदेव शास्त्री तथा पं० पद्मसिंह शर्मा जैसे कृती विद्वान् उन दिनों महाविद्यालय में पढ़ाते थे। उदयवीरजी ने कलकत्ता विद्यालय की न्यायतीर्थ (१९१५ में) तथा सांख्य-योगतीर्थ (१९१६ में) परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। गुरुकुल की विद्याभास्कर परीक्षा भी आपने ससम्मान उत्तीर्ण की। कालान्तर में पुरी के शंकराचार्य स्वामी भारती कृष्णतीर्थ ने शास्त्रीजी के पाण्डित्य पर मुग्ध होकर उन्हें शास्त्र-शेवधि तथा वेदरत्न उपाधियों से अलंकृत किया तथा महाविद्यालय ने अपने इस यशस्वी छात्र को विद्यावाचस्पति से सम्मानित किया।

जब वे १९१५ में न्यायतीर्थ की परीक्षा देने के लिए कलकत्ता गए थे तो उनके समक्ष एक कठिनाई आई। 'तीर्थ' उपाधि के लिए मौखिक परीक्षा भी होती है। परीक्षा लेनेवाले परीक्षक बंगाली विद्वान् ही होते हैं जिनके 'ओकारान्त' उच्चारण के कारण हिन्दी-भाषी छात्र उदयवीर के लिए उनके प्रश्नों को हृदयंगम करना कठिन हो सकता था। फलतः वे विश्वविद्यालय के तत्कालीन वाइस चांसलर सर आशुतोष मुखोपाध्याय के पास गए और उनके समक्ष अपनी समस्या रखी। मुखो-पाध्याय महाशय छात्र की दिक्कत समझ गए और उन्होंने हँसते हुए कहा—"हाँ,

मैं समझ गया । बंगाली 'अव्यक्त वाक्' होते हैं । मौखिकी के लिए दूसरी व्यवस्था हो जाएगी । ' फलतः उस वर्ष मौखिकी लेनेवाले कोई दाक्षिणात्य विद्वान् थे ।

कलकत्ता की परीक्षाएँ देने के बाद उनके मन में पंजाब विश्वविद्यालय की शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण करने का विचार आया । उन्होंने ओरियण्टल कॉलिज लाहौर के प्राचार्य प्रो० ए० सी० वुलनर को एक पत्र लिखा और स्वयं लाहौर जा पहुँचे । उन्होंने प्रो० वुलनर से व्यक्तिशः भेंट की और शास्त्री कक्षा में प्रविष्ट हो गए । लाहौर में महात्मा हंसराज ने उन्हें निवासादि की पूर्ण सुविधा दी । अमृतधारा के प्रवर्तक पं० ठाकुर दत्त शर्मा ने उन्हें अपने ही घर में रहने का आग्रह किया । इस प्रकार १९१७ में शास्त्री परीक्षा उत्तीर्ण कर पुनः वे महाविद्यालय में आ गए और आगामी चार वर्ष तक वहीं अध्यापन करते रहे । १९२१ में शास्त्रीजी का विवाह आर्मी पुलिस के अधीक्षक ठाकुर प्रतापसिंह की पुत्री विद्याकुमारी से हुआ । विवाह का भी एक मनोरंजक संस्मरण है । शास्त्रीजी के ससुर पुलिस में तो थे ही, आखेट-प्रिय भी थे । उनका पूरा परिवार ही मांसाहारी था । अकेली विद्याकुमारी ही निरामिषभोजी थीं । जब कभी ठाकुर साहब अपनी इस लड़की के विवाह की चर्चा करते तो अन्यमनस्क होकर कहने लगते—"ठाकुरों के परिवार में जन्मी इस कन्या के लिए मैं ब्राह्मण देवता कहाँ से तलाश करूँगा ?" किन्तु कुछ संयोग ही ऐसा बना कि उन्हें सच्चे अर्थों में पं० उदयवीर शास्त्री जैसे दामाद मिले जो जन्मनाक्षत्रिय किन्तु विद्या व्यासंग और कर्म से ब्राह्मण थे ।

१९२० में जब महात्मा गांधी ने असहयोग-आन्दोलन चलाया तो उन्होंने देश के विद्यार्थियों को अंग्रेजी विद्यालयों का बहिष्कार करने की प्रेरणा दी । किन्तु देश के युवाओं को अशिक्षित रखना तो महात्माजी का भी अभिप्राय नहीं था । अतः देश के विभिन्न नगरों में राष्ट्रीय विद्यालयों की स्थापना हुई । लाहौर में लाला लाजपतराय और भाई परमानन्द की प्रेरणा से नेशनल कॉलेज खोला गया । इसमें पं० जयचन्द्र विद्यालंकार तथा स्वयं भाई परमानन्द जैसे आर्यसमाजी विद्वान् छात्रों को इतिहास की शिक्षा देते थे । १९२१ में शास्त्रीजी भी संस्कृत-अध्यापक बनकर इसी कॉलेज में आ गए । यहाँ उनका संसर्ग भगतसिंह, भगवतीचरण बोहरा आदि क्रान्तिकारियों से हुआ । भगतसिंह तो संस्कृत पढ़ते थे, अतः शास्त्रीजी के छात्र भी थे । बोहरा से भी शास्त्रीजी का अत्यन्त निकट का सम्बन्ध रहा जो कालान्तर में पारिवारिक जैसा ही हो गया । जब लाहौर में भगतसिंह की पुलिस द्वारा सरगर्मी से तलाश की जाने लगी तो वे वहाँ से भागकर कानपुर चले आए और शास्त्रीजी का सन्दर्भ देकर अमर शहीद गणेशशंकर विद्यार्थी के पत्र 'प्रताप' के सम्पादकीय विभाग में कार्य करने लगे । एक अपरिचित युवक को जिम्मेदारी का काम सौंपने के पूर्व विद्यार्थीजी ने पुनः शास्त्रीजी को पत्र लिखकर पूछा । तत्पश्चात् शास्त्रीजी ने जब उन्हें पूर्ण आश्वस्त कर दिया तो भगतसिंह की ओर से विद्यार्थी

जी भी निश्चिंत हो गए। शास्त्रीजी का शहीद भगतसिंह से निरन्तर सम्बन्ध बना रहा। जब वे नेशनल कॉलेज के बन्द हो जाने के कारण लाहौर छोड़कर कुछ समय के लिए अपने ससुराल की जमींदारी नाहन (हिमाचल प्रदेश) में आकर रहने लगे तो पुलिस की निगाह से बचने के लिए सरदार भगतसिंह भी नाहन आकर शास्त्रीजी से मिले। अब शास्त्रीजी के लिए धर्म-संकट की-सी स्थिति उत्पन्न हो गई। उनके ससुर सरकारी सेवा में थे, अतः शास्त्रीजी यह भी नहीं चाहते थे कि भगतसिंह की उपस्थिति के कारण उनके ससुर को परेशानी हो। उधर वे अपने प्रिय छात्र को संरक्षण भी देना चाहते थे। फलतः वे उन्हें लेकर एक निकटवर्ती गाँव में चले गए और अपने एक परिचित के यहाँ सरदार भगतसिंह को रखा। शहीद भगतसिंह के हृदय में अपने विद्यादाता इन गुरुवर के प्रति असीम श्रद्धा थी। इसका एक प्रमाण इस बात से मिलता है कि फाँसी की कालकोठरी से ही भगतसिंह ने एक पुस्तक स्वहस्ताक्षरों से अंकित कर शास्त्रीजी को भेजी। अमूल्य निधि समझकर शास्त्रीजी आज भी इसे सहेजे हुए हैं।

भगतसिंह की ही भाँति शहीद भगवतीचरण वोहरा के साथ भी शास्त्रीजी का अन्तरंग सम्बन्ध रहा। २८ मई, १९३० को रावी-तट पर बम बनाते समय वोहरा ने वीरगति प्राप्त की थी। उनकी पत्नी दुर्गादेवी वोहरा का शास्त्रीजी की गृहिणी से अत्यन्त प्रेम था। श्रीमती वोहरा ने शास्त्रीजी के रोचक संस्मरण उनके अभिनन्दन-ग्रन्थ 'ऋतम्भरा' में अंकित किए हैं। लाहौर में शास्त्रीजी ने कुछ काल तक दयानन्द ब्राह्म महाविद्यालय में भी अध्यापन किया।

देश-विभाजन के पश्चात् वे कुछ काल तक शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ बीकानेर के आचार्य रहे। यहाँ रहते हुए आपने अनुभव किया कि वैतनिक रूप से अध्यापन करने के साथ-साथ उच्चकोटि का साहित्य-लेखन सम्भव नहीं है। फलतः आप गाजियाबाद आ गए और 'विरजानन्द वैदिक शोध संस्थान' में रहकर समग्ररूप से सारस्वत साधना में ही लग गए। यहाँ आपको स्वामी वेदानन्द तीर्थ और स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती जैसे संन्यासियों के सम्पर्क में आने का अवसर मिला। स्वामी विज्ञानानन्द जी ने उन्हें आर्थिक और लौकिक कठिनाइयों से पूर्णतया मुक्त कर एकान्ततः लेखन-कार्य में लग जाने की प्रेरणा दी। इसी का परिणाम था कि शास्त्रीजी ने उच्चकोटि के दार्शनिक ग्रन्थों का प्रणयन किया और विद्वत्समाज में उन्हें दर्शन के प्रौढ़ विद्वान् के रूप में ख्याति प्राप्त हुई। १९५८ में वे गाजियाबाद आए थे और लगभग दो दशकों तक वहाँ रहकर उन्होंने लेखन-कार्य किया। अन्ततः अत्यन्त वार्धक्य और नेत्र-ज्योति क्षीण होने के कारण वे अपनी पुत्री के पास अजमेर आ गए। इसी बीच उनकी पत्नी का भी निधन हो गया। विगत पाँच वर्षों से वे अत्यन्त जराजीर्ण एवं रुग्ण होने पर भी पूर्ण सचेत होकर जीवन का संध्याकाल व्यतीत कर रहे हैं। परमात्मा उन्हें दीर्घायु करे!

उदयवीर शास्त्री की साहित्य-साधना

शास्त्रीजी की सारस्वत साधना १९२३ में आरम्भ हुई। उस समय वे लाहौर में ही थे। सर्वप्रथम उन्होंने महामति कौटल्य (चाणक्य) लिखित विश्वप्रसिद्ध ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' पर माधव यज्वा की लिखी 'नय चन्द्रिका' नामी टीका का सम्पादन किया। इसके तुरन्त पश्चात् १९२५ में तीन भागों में 'अर्थशास्त्र' का सटीक संस्करण तैयार किया जिसे मोतीलाल बनारसीदास ने प्रकाशित किया। १९२६ में साहित्यशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रन्थ वाग्भटालंकार की संस्कृत एवं हिन्दी टीका लिखी, जो प्रकाशित हुई।

सांख्य दर्शन के अध्ययन को पं॰ उदयवीरजी का योगदान

पं॰ उदयवीरजी के अध्ययन का प्रिय विषय सांख्य दर्शन रहा है। इस दर्शन के अनुशीलन में उन्होंने अपने जीवन का बहुलांश लगाया है। दार्शनिक विद्वानों में यह सामान्य धारणा है कि प्रचलित कपिल-प्रोक्त सांख्यसूत्र अधिक प्राचीन नहीं है अपितु ईश्वरकृष्ण-रचित 'सांख्यकारिका' ही सूत्रों की अपेक्षा प्राचीन है। कोई-कोई विद्वान् तो यहाँ तक कहते हैं कि सूत्रों की रचना कारिकाओं के अनुकरण पर ही हुई है। शास्त्रीजी अपने दीर्घकालीन अनुशीलन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि वस्तुतः कपिल-प्रणीत सांख्यसूत्र (षडध्यायी सांख्य) ही इस शास्त्र का प्राचीन ग्रन्थ है। ईश्वरकृष्ण की जिन कारिकाओं को कतिपय सूत्रों का मूल समझा जाता है वस्तुतः वे कारिकाएँ ही सूत्रों के आधार पर निर्मित हुई हैं। जब लाहौर में सम्पन्न हुए अखिल भारतीय प्राच्य विद्या परिषद् (All India Oriental Conference) के वर्ष १९२८ के अधिवेशन के सभापति महामहोपाध्याय पं॰ हरप्रसाद शास्त्री से पं॰ उदयवीरजी ने उक्त तथ्य की चर्चा की और अपने निष्कर्षों से परिचित कराया तो इन क्रान्तिकारी धारणाओं को सुनकर महामहोपाध्याय महाशय का चौंकना स्वाभाविक ही था। अप्रत्याशित रूप से उनके मुँह से इतना ही निकला, "शास्त्रिन् अतिभयंकरमेतत्।" इसके बाद शास्त्रीजी ने सांख्य दर्शन के अनुशीलन में अपना सम्पूर्ण समय और शक्ति लगा दी। इसी अध्ययन का परिणाम 'सांख्यदर्शन का इतिहास' के रूप में दर्शन के जिज्ञासुओं के समक्ष आया जिसका प्रथम संस्करण १९५० में प्रकाशित हुआ। यह 'इतिहास' अपने-आप में एक महाप्रबन्ध है जिसमें वैदिक दर्शनों में सर्वाधिक प्राचीन एवं महत्त्वपूर्ण सांख्यदर्शन के रचयिता भगवान् कपिल तथा परवर्ती सांख्याचार्यों तथा उनकी कृतियों का काल-क्रमानुसार विवेचन किया गया है। सांख्यदर्शन के शताधिक ग्रन्थों का आलोडन-विलोडन करने के पश्चात् लेखक ने अपने जो निष्कर्ष प्रस्तुत किए हैं वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। प्रथम तो उनकी यह सुदृढ़ स्थापना है कि सांख्य का चिन्तन विश्व की प्राचीनतम दार्शनिक दृष्टि है तथा इसके प्रवक्ता महर्षि कपिल संसार के पुराणतम दार्शनिक

है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थ 'षडध्यायी सांख्य सूत्र' भी अत्यन्त प्राचीन है। इसमें उन्होंने सांख्यसूत्रों की मौलिकता और प्रामाणिकता को सप्रमाण सिद्ध किया।

शास्त्रीजी को 'सांख्य दर्शन का इतिहास' लिखकर ही सन्तोष नहीं हुआ, उन्होंने इस दर्शन के प्रतिपाद्य का सुष्ठु रीति से विवेचन करने के लिए 'सांख्य-सिद्धान्त' नामक एक अन्य ग्रन्थ भी लिखा। इसके प्रारम्भिक अध्यायों में सांख्य वर्णित २५ तत्त्वों की पुरुष, प्रकृति और विकार इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विवेचना की गई है। तत्त्व-विवेचन के प्रसंग में रसायन-शास्त्र में परिगणित शताधिक तत्त्वों (Elements) तथा सांख्य-स्वीकृत पंच भूतों की तुलनात्मक विवेचना करते हुए उन्होंने सांख्य के दृष्टिकोण की यथार्थता प्रतिपादित की है। प्राचीन भारतीय वाङ्मय में सांख्यदर्शन की चर्चा जहाँ-जहाँ, जिस-जिस प्रसंग में हुई है उन सभी सन्दर्भों की विस्तृत व्याख्या कर लेखक ने अपने इस ग्रन्थ को एक प्रकार से सांख्य-विषयक विश्वकोश ही बना दिया है।

जब पं० उदयवीरजी ने 'सांख्य दर्शन का इतिहास' और सांख्य-सिद्धान्त प्रतिपादक दो ग्रन्थ लिख डाले, तो उन्होंने यह भी आवश्यक समझा कि अब कापिल सूत्रों की व्याख्या भी लिखी जानी चाहिए। फलतः सांख्य के विद्योदय-भाष्य का प्रणयन हुआ। यों तो इस भाष्य से पूर्व भी आर्यसमाज के अनेक विद्वानों ने सांख्यदर्शन के विभिन्न भाष्य लिखे थे, किन्तु विद्योदय-भाष्य एक अपूर्व कृति है। इसके द्वारा सांख्यदर्शन की समस्त मान्यताएँ सुस्पष्ट हो जाती हैं। शास्त्रीजी ने सांख्यदर्शन के प्रथम अध्याय के २५ सूत्रों को प्रक्षिप्त सिद्ध किया है और परिशिष्ट में इन सूत्रों के अर्थ भी लिख दिए हैं। इस भाष्य से सांख्य-चिन्तन की प्राचीनता तो सिद्ध होती ही है, यह भी स्पष्ट हो जाता है कि बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शनों का काल सांख्यदर्शन के उद्भव-काल से बहुत बाद का ही है। अतः इस कल्पना में कोई सार नहीं है कि सांख्यदर्शन के कुछ सूत्र बौद्ध तथा जैन धर्मों के प्रवर्तन-काल के बाद के हैं, केवल इसलिए कि उन सूत्रों में उक्त अवैदिक विचारधाराओं का खण्डन मिलता है। शास्त्रीजी की युक्तियों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सांख्य-सूत्रों की रचना उस युग में हुई थी जब बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शनों का जन्म भी नहीं हुआ था।

सांख्यदर्शन के इतिहास ने लेखक को भारत के मूर्धन्य दार्शनिकों में प्रतिष्ठित कर दिया। उनकी इस कालजयी पुस्तक पर उन्हें निम्न पुरस्कार प्राप्त हुए—

सेठ हरजीमल डालमिया पुरस्कार—११०० रु०

हिन्दी साहित्य सम्मेलन का मंगलाप्रसाद पुरस्कार १२०० रु०

उत्तर प्रदेश सरकार का साहित्य पुरस्कार १२०० रु०

बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् का पुरस्कार १००० रु०

सांख्यदर्शन के पश्चात् शास्त्रीजी ने अन्यान्य दर्शनों पर भी लेखनी उठाई।

सर्वप्रथम 'वेदान्त दर्शन' का विद्योदय-भाष्य २०२३ वि० में प्रकाशित हुआ। इसमें विद्वान् भाष्यकार ने शारीरक सूत्रों की भेदपरक व्याख्या की और शांकर मत की त्रुटियों को उजागर किया है। स्मर्तव्य है कि शंकर ने अपने वेदान्त-भाष्य में कतिपय सूत्रों की व्याख्या के प्रसंग में सांख्य-सिद्धान्त की कटु आलोचना की है। शास्त्रीजी ने इन आपत्तियों का कपिल-मतानुसार सुन्दर समाधान किया है। 'वेदान्त दर्शन' के विद्योदय-भाष्य के प्रकाशन के पश्चात् उन्होंने 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' लिखा। यह ग्रन्थ २०२७ वि० में छपा। वेदान्त दर्शन पर लिखे गए विभिन्न ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों का विस्तृत परिचय देना अपने-आपमें एक महत्त्वपूर्ण शोध-कार्य था। इसमें आपने आद्यशंकराचार्य का काल निरूपण करते हुए उन्हें २२०० वर्ष पूर्व का सिद्ध किया है। यह एक सुखद संयोग ही है कि शास्त्रीजी शंकर का काल-निर्धारण करते हुए उसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं जो स्वामी दयानन्द द्वारा सत्यार्थप्रकाश के ११वें समुल्लास में उल्लिखित हुआ है। आदिशंकर का काल-निर्धारण करते समय आपने शंकराचार्य द्वारा स्थापित चारों मठों के आचार्यों के कार्यकाल-विषयक तत्-तत् मठों में उपलब्ध पुरातात्त्विक सामग्री का सम्यक् परीक्षण किया था। प्रसन्नता की बात है कि शंकराचार्य के काल-निर्धारण का यह प्रकरण पृथक् रूप में अंग्रेजी में अनूदित होकर Age of Shankar शीर्षक से प्रकाशित हो चुका है।

वेदान्त के पश्चात् शास्त्रीजी ने अवशिष्ट वैदिक दर्शनों पर भाष्य-रचना की। वैशेषिक दर्शन का विद्योदय-भाष्य २०२६ वि० में लिखा। इसमें "भाष्यकार का निवेदन" शीर्षक देकर आपने वैशेषिक के नामकरण, सूत्रकार महर्षि कणाद, सूत्र-रचनाकाल, सूत्रपाठ और सूत्रों की संख्या, वैशेषिक में 'अभाव' नामक पदार्थ की स्वीकृति, ईश्वर-सद्भाव का प्रश्न तथा वैशेषिक सूत्रों के विभिन्न व्याख्या-ग्रन्थों एवं उनके लेखकों का परिचय जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की है। कालान्तर में उनके न्याय तथा योगदर्शन पर भी विस्तृत भाष्य छपे। इन भाष्यों की प्रमुख विशेषता यही है कि इनसे जहाँ मूल सूत्रों में निहित अभिप्राय सुस्पष्ट होता है, वहाँ तत्-तत् दर्शन के अध्ययन-प्रसंग में उत्पन्न होने वाली विभिन्न शंकाओं और समस्याओं का भी निराकरण हो जाता है।

पं० उदयवीर शास्त्री के शोध-प्रबन्ध

ग्रन्थ-रचना के अतिरिक्त शास्त्रीजी की लेखनी से प्रसूत शोध-निबन्धों का महत्त्व भी कम नहीं है। इनमें से कतिपय का उल्लेख आवश्यक है—

१. **सांख्य सूत्रों का प्राचीन नाम और इतिहास**—यह 'जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्टोरिकल सोसाइटी' में छपा। इसमें शास्त्रीजी ने पश्चिमी विचारकों की इस धारणा का खंडन किया है कि कपिल नाम का व्यक्ति इतिहास में कोई हुआ ही नहीं। इसी में उन्होंने सांख्य-सूत्रों की प्राचीनता भी सिद्ध की है।

२. डॉ० सिद्धेश्वर वर्मा को भेंट किये गए 'सिद्ध भारती' शीर्षक अभिनन्दन-ग्रन्थ में उनका 'तिलकोपज्ञा आर्या' शीर्षक लेख प्रकाशित हुआ। इसमें लेखक ने लोकमान्य तिलक द्वारा प्रणीत एक आर्या (श्लोक) की समीक्षा की गई है जिसे तिलक ने ईश्वरकृष्ण-रचित बताया था, किन्तु जो वास्तव में सांख्यकारिका के लेखक द्वारा रचित न होकर तिलक-रचित है। इस लेख से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रों में प्रक्षेप किए जाने के लिए मध्यकालीनों को ही दोषी नहीं ठहराया जा सकता। तिलक जैसे विद्वान् भी यदि स्वोपज्ञ आर्या को अन्यप्रोक्त कहें तो यही कहना होगा कि शास्त्र-ग्रन्थों के मूलस्वरूप का संरक्षण एक कठिन कार्य है।

३. संस्कृत में लिखित शोध निबन्ध—केन प्रणीतानि सांख्यसूत्राणि, पतंजलि-प्रणीतमध्यात्मशास्त्रम् मेधातिथीय न्यायशास्त्रम् आदि उनके प्रमुख शोध-निबन्ध हैं। "सांख्य सम्बन्धिशांकरालोचनालोचनम्" में उन्होंने शंकर की इस धारणा का खंडन किया है कि वेदान्तसूत्रों में सांख्य-मत का खंडन किया गया है। शंकर भले ही कपिल को अनीश्वरवादी ठहराता हो, किन्तु आचार्य बादरायण ने तो अपने शास्त्र में ऐसे संकेत कहीं नहीं दिए।

४. इतिहास भी शास्त्रीजी का प्रिय विषय है। 'सप्त सिन्धवः' शीर्षक निबन्ध में उन्होंने डॉ० सम्पूर्णानन्द तथा इतिहासज्ञ सर देसाई की धारणाओं का खंडन किया है।

५. **दर्शन की मूल समस्याएँ**—उत्तरप्रदेश दर्शन परिषद् के १९७९ के अधिवेशन में प्रदत्त अध्यक्षीय भाषण।

आचार्य उदयवीर जी ने सत्यार्थप्रकाश के सम्पादन में स्व० स्वामी वेदानन्द को अपूर्व सहयोग दिया, जिसके परिणामस्वरूप सटिप्पण स्थूलाक्षरी सत्यार्थप्रकाश का प्रकाशन सम्भव हो सका।

भाष्यकार का निवेदन

समस्त भारतीय दर्शन अध्यात्म और अधिभूत का विवेचन प्रस्तुत करता है। इनमें छह वैदिक दर्शन–न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त हैं, और तीन अवैदिक–चार्वाक, आर्हत, बौद्ध दर्शन हैं। यद्यपि सामूहिक रूप से सभी दर्शनों का प्रतिपाद्य विषय अध्यात्म–अधिभूत के अन्तर्गत आजाता है, परन्तु प्रत्येक दर्शन अपने प्रधान प्रतिपाद्य विषय के रूप में मूलभूत विषय के किसी-एकदेश अथवा एक अंश को लेकर प्रवृत्त हुआ है, और उसीका साङ्गोपाङ्ग व शाखा-प्रशाखा रूप से पूर्ण वर्णन प्रस्तुत करता है; फिर भी अध्यात्म-अधिभूत के मौलिक आधार को किसी ने उपेक्षित नहीं किया है। जहाँ अधिभूत प्रधान है, वहाँ अध्यात्म आंशिक है; और जहाँ अध्यात्म प्रधान है, वहाँ अधिभूत का विवेचन आंशिक हुआ है। इसी दृष्टि से इन दर्शनों को परखें, तो निम्न रूपरेखा सामने आती है—

न्याय—का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है। आद्योपान्त दर्शन का अधिक भाग प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोग की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने के लिए लिखागया है। न्याय के प्रथम सूत्र में जिन सोलह विधाओं का निर्देश है, उनमें प्रमेय के अतिरिक्त शेष 'संशय' आदि समस्त विधाओं का उपयोग केवल 'प्रमाण' के पूर्ण एवं निर्दोष स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए है। प्रमेय भी प्रमाणों का लक्ष्य-क्षेत्र होने के कारण उनके स्वरूप को निखारने में सहयोगी है। प्रमाण की सार्थकता या सफलता तभी है, जब उसके द्वारा जाना हुआ अर्थ–उपादान एवं परिहार की भावना से प्रवृत्ति के अनन्तर–अपने वास्तविक रूप में पाया-जाता है।

'आत्मा' आदि प्रमेयों में भी गम्भीरता से देखाजाय, तो उनमे एकमात्र 'आत्मा' मुख्य ज्ञात होता है। शेष–शरीर, इन्द्रिय, अर्थ [गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द], बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग, ये सब आत्मा से सम्बद्ध हैं। साक्षात् या परम्परा से इन सबका उपयोग आत्मा के लिए है। सूत्रकार ने शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य 'प्रमाण' के लक्ष्य-क्षेत्र में 'आत्मा' को विशेष स्थान देकर उसका और उससे सम्बद्ध परिस्थितियों का प्रमेय में परिगणन कर-दिया है। इससे यह भी लक्षित होता है कि सूत्रकार का संकेत प्रमाणों द्वारा शरीरादि से भिन्न आत्मा के स्वरूप को पहचानना ही मुख्य है। ऐसे सब विवेचनों का प्रधान आधार 'प्रमाण' ही रहता है।

वैशेषिक दर्शन—शेष उन सब अर्थतत्त्वों का उपपादन करता है, जो इन प्रमाणों का विवेच्य है। वह–द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय–इन भाव-पदार्थों के रूप में हुआ है। इनका विवेचन उस दर्शन में केवल एक विशेष सीमा तक ही है, जो मानव आदि प्राणियों के सीधा प्रयोग अथवा अनुभव में आता है। यह अर्थतत्त्व का वही रूप है, जो प्राणी के चारों ओर विश्व के रूप में फैला हुआ है। प्राणी के जीवन में विश्व का सीधा उपयोग पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश इन पाँच भूतों के रूप में होता है। इन्हींका विशद विवरण वैशेषिक प्रस्तुत करता है। न्याय की सोलह विधाओं के साथ इनका कोई विरोध, असामञ्जस्य या प्रातिकूल्य नहीं है; क्योंकि न्याय के प्रमेयक्षेत्र को ही यह दर्शन पूरा करता है। इसी भावना के अनुसार सूत्रों के व्याख्याकार वात्स्यायन मुनि ने एकाधिक बार भाष्य [२।१।३४॥४।१।२८; ३८] में–जहाँ समस्त पदार्थ के निदर्शन का अवसर आया है, वहाँ–वैशेषिक प्रतिपादित द्रव्यादि छह भाव-पदार्थों का उल्लेख किया है; न्याय की सोलह विधाओं का नहीं।

कलेवर—प्रस्तुत सोलह विधाओं का–उद्देश, लक्षण, परीक्षा इन तीन भागों द्वारा न्याय में विस्तृत विवरण दियागया है, जो पाँच अध्याय–प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक होने से–दस आह्निक तथा लगभग पाँच सौ तीस (५३०) सूत्रों में पूरा हुआ है। इतना शास्त्र का कलेवर है। प्रथम अध्याय में उद्देश तथा लक्षण और अगले अध्यायों में पूर्व कथन की परीक्षा कीगई है।

शास्त्र की रचना के समय सूत्रों की ठीक संख्या कितनी रही होगी, यह निश्चितरूप से कहना कठिन है। अध्ययन-अध्यापन-काल में कुछ परिवर्त्तन होतारहा हो, यह सम्भव है। वाचस्पति मिश्र के काल [विक्रम की नवम शताब्दी] तक सूत्रों की संख्या तथा पाठ आदि में इतना सन्देहजनक परिवर्त्तन होगया था कि वाचस्पति मिश्र को सूत्रों की परीक्षा द्वारा पाठ आदि का निर्धारण कर,संशोधित सूत्रपाठ के लिए 'न्यायसूचीनिबन्ध' नामक रचना करनी पड़ी।

मूलग्रन्थों के भाष्यकारों का यह क्रम रहा है कि अनेक प्रसंगों में किसी विषय के अधिक विवेचन के लिए पूर्वपक्ष-उत्तरपक्ष के रूप में अपना संक्षिप्त संस्कृत-संदर्भ रच कर उसीकी व्याख्या भाष्य में करदेते हैं। ऐसे सन्दर्भों को व्यवहार में 'भाष्यवार्त्तिक' कहाजाता है। पतञ्जलि के व्याकरण-महाभाष्य में यह क्रम बहुत स्पष्टरूप से देखाजाता है। इन गौतमीय न्यायसूत्रों के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने भी अपनी रचना में उस क्रम को आश्रय दिया है। कालान्तर में ऐसे भाष्यसन्दर्भों में से कुछ सूत्ररूप में समझलियेगए हों, यह सम्भव है।

उस काल में मुद्रणकला न होने से ग्रन्थों का प्रतिलिपि कियाजाना एक व्यवसाय था। प्रतिलिपिकार व्यवसायी आज के अक्षरयोजकों (Compositers) के समान साधारण पढ़ेलिखे होते थे। पर लिपि में उनका अक्षर-विन्यास बहुत

सुन्दर,स्वच्छ व आकर्षक होता था। प्रतिलिपि करते समय किन्हीं भ्रमपूर्ण[1] कारणों से यह सम्भावना बनी रहती थी कि कहीं कोई भाष्यवार्त्तिक सूत्ररूप में लिपिकृत होजाय। अनन्तर उस पुस्तक से अन्य प्रतिलिपि करने पर ऐसे सन्दर्भों की सूत्रता दृढ़ होजाती रही है। पूरे ग्रन्थ में से ऐसे सन्दर्भों का छाँट लेना कठिन होता है, क्योंकि सूत्रता की जो कसौटी आचार्यों ने बताई है, ऐसे सन्दर्भ उस कसौटी[2] पर खरे उतर जाते हैं।

उदाहरण के लिए [२। १। २२] सूत्र विचारणीय है। प्रत्यक्ष-लक्षण की परीक्षा का यह प्रसंग है। पहले इक्कीसवें सूत्र में आपत्ति उठाई गई कि प्रत्यक्ष के लक्षण में केवल इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख कियागया; आत्म-मनःसन्निकर्ष का नहीं कियागया, जबकि कोई भी ज्ञान आत्म-मनःसन्निकर्ष के विना होना सम्भव नहीं। यही आपत्ति अगले बाईसवें सूत्र से दिग्, देश, काल, आकाश को लक्ष्यकर उठाईगई है। कोई भी ज्ञान दिशा आदि के अस्तित्व में ही होपाता है, इसलिए प्रत्यक्ष के लक्षण में दिशा आदि का भी प्रत्यक्षज्ञान के कारणरूप से उल्लेख होना चाहिए।

सूत्रकार ने प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा के प्रसंग में आगे विस्तार के साथ इक्कीसवें सूत्र की आपत्ति का तो समाधान किया है, परन्तु बाईसवें सूत्र द्वारा उठाई गई आपत्ति का समस्त प्रसंग में संकेतमात्र भी नहीं किया। शास्त्रभर में कहीं अन्यत्र ऐसा स्थल दिखाई नहीं दिया, जहाँ सूत्रकार ने स्वयं कोई आपत्ति उठाई हो, और उसका समाधान न कियागया हो। इससे सिद्ध होता है, बाईसवाँ सूत्र वस्तुतः सूत्रकार की रचना नहीं है। भाष्यकार ने एक संक्षिप्त सन्दर्भ द्वारा

---

१. इसप्रकार की भ्रान्ति के कारणों में मुख्य कारण सूत्र एवं भाष्यसन्दर्भ की समानरूप से व्याख्या करना कहाजासकता है। इसीकारण की छाया में अन्य कारणों की कल्पना कीजासकती है। १. सूत्रों के समान मोटे अक्षरों या भिन्न स्याही में लिखाजाना। २. सूत्र की संख्या के समान ऐसे सन्दर्भ के साथ क्रमिक संख्या लगा देना, आदि।

२. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद्विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यञ्च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ [पराशरोपपुराण, अ० १८]
लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षर-पदानि च।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥
[तुलना करें, न्यायकन्दली-भूमिका, पृ० ११, विन्ध्ये० कृत, लाजरस–वाराणसी संस्करण; तथा भामती, १। १। १॥ आनन्दगिरि टीका]

वह आपत्ति उठाई, और आगे भाष्यकार ने ही उसका समाधान करदिया है। इससे निश्चित होता है, यह सन्दर्भ[1] सूत्र न होकर भाष्यवार्त्तिक है।

इसप्रकार कितने सन्दर्भ सूत्ररूप से शास्त्र में प्रक्षिप्त होचुके हों, यह निश्चितरूप में नहीं कहाजासकता। केवल इतना प्रकट करना अभिप्रेत है कि सूत्रात्मक इस न्यायशास्त्र का मूलभूत विशुद्ध कलेवर कितना रहा होगा; इसकी गम्भीरतापूर्वक परीक्षा करना अपेक्षित है।

विशिष्ट प्रकरण–उद्दिष्ट एवं लक्षित पदार्थों की परीक्षा के अवसर पर कतिपय ऐसे प्रसंग शास्त्र में आगए हैं, जिनका उद्देश सूत्र में कथन नहीं है; पर शास्त्रीय सिद्धान्त के रूप में उनका अत्यन्त महत्त्व है। उनमें एक मुख्य प्रसंग 'अवयवी-सद्भाव' का है। सूत्रकार ने इस विषय का विवेचन सात [२। १। ३०–३६] सूत्रों द्वारा किया है। यह प्रसंग प्रत्यक्षलक्षण की परीक्षा के अन्तर्गत उठाया-गया कि प्रत्यक्ष प्रमाण से जो वस्तु देखीजाती है, उसका वास्तविक अस्तित्व क्या है? उसका स्वरूप क्या है? क्या वह अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई है, अथवा किन्हीं मूलतत्त्वों का समुदायमात्र है? यह शास्त्र, दीखनेवाली वस्तु को स्वतन्त्र इकाई के रूप में स्वीकार करता है। न्याय के इस सिद्धान्त का प्रबल विरोधी बौद्धदर्शन है।

यहाँ अवयवी की सत्ता को सिद्ध करना अपेक्षित नहीं है; केवल यह परखना अभीष्ट है, कि प्रस्तुत प्रसंग में सूत्र अथवा वात्स्यायनभाष्य द्वारा किए-गए इस अवयवी के विवेचन में बौद्धदर्शन की छाया के कोई संकेत उपलब्ध हैं, या नहीं? गम्भीरता से सूत्र-भाष्य के इस समस्त प्रसंग का विचार करने पर प्रतीत होता है, बौद्धदर्शन की छाया इस प्रसंग में नहीं है। देखना यह है कि क्या यह विवेचन किसी विशिष्ट बौद्ध दार्शनिक ग्रन्थ में निरूपित अवयवि-निरास की युक्तियों पर आधारित है? अथवा किसी विशिष्ट बौद्ध दार्शनिक के विचारों को लक्ष्य कर लिखागया है? इस समस्त प्रसंग में कोई ऐसा संकेत या पारिभाषिक पद प्रयुक्त हुआ दिखाई नहीं देता, जिससे यह अनुमान कियाजासके कि अमुक बौद्धग्रन्थ या दार्शनिक व्यक्ति के विचारों को इस विवेचन का आधार बनाया-गया है।

इससे ज्ञात होता है, यह विवेचन साधारणरूप से इस तथ्य को दृष्टिगत करते हुए कियागया है कि वस्तुभूत, घट, पट आदि इकाइयाँ इन्द्रिय द्वारा

---

१. **वाचस्पति मिश्र ने 'न्यायसूचीनिबन्ध' में इसको सूत्र माना है। पर सूत्रकार ने इस आपत्ति का सूत्रद्वारा निराकरण नहीं किया, यह इसके सूत्र न होने में एक पुष्ट प्रमाण है। मिश्र ने अन्यत्र भी भाष्यवार्तिक का सूत्ररूप से उल्लेख किया है।**

उपलब्ध होती हैं, वह तत्त्व की कौन-सी अवस्था सम्भव होसकती है ? इस विवेचन का सार इतना ही है कि मूलभूत तत्त्व अपनी उसी अवस्था में इन्द्रिय-गोचर नहीं होसकता; वह अवस्थान्तर को प्राप्त होकर ही इन्द्रिय का विषय बनता है; वही अवस्थान्तर स्वतन्त्र इकाई के रूप में अवयवी है।

ऐसा ही प्रसंग चतुर्थ अध्याय के द्वितीय आह्निक में पैंतीस सूत्रों [३-३७] द्वारा लम्बे प्रकरण में प्रस्तुत कियागया है। वहाँ पर भी किन्हीं बौद्धग्रन्थनिरूपित विशिष्ट तर्कों व युक्तियों को विवेचन का लक्ष्य बनायागया हो, ऐसा नहीं है, प्रत्युत दृष्टिगोचर होनेवाले वस्तुतत्त्व को लक्ष्य करके ही वह विवेचन प्रस्तुत कियागया प्रतीत होता है। तात्पर्य है, किसी विशिष्ट वाद को लक्ष्य न कर केवल साधारण सिद्धान्त के स्पष्टीकरण की भावना से ही इसप्रकार के विवेचन हैं।

प्रावादुक दृष्टियाँ—न्यायदर्शन में एक और प्रसंग चौथे अध्याय के प्रथम आह्निक [सूत्र १४-४६ तक] में है। प्रेत्यभाव की परीक्षा में 'भाव' अर्थात् वस्तु की उत्पत्ति बताने के प्रसंग से कतिपय वादियों के विचारों का सूत्रकार ने विवेचन किया है, जो वस्तु की उत्पत्ति आदि के विषय में है। वे आठ वाद इसप्रकार हैं—

१. अभावकारणवाद,	[सूत्र १४--१८ तक]
२. ईश्वरकारणवाद	,, १९-२१ ,,
३. अनिमित्तवाद	,, २२-२४ ,,
४. सर्वानित्यत्ववाद	,, २५-२८ ,,
५. सर्वनित्यत्ववाद	,, २९-३३ ,,
६. सर्वपृथक्त्ववाद	,, ३४-३६ ,,
७. सर्वाभाव-(शून्य)-वाद	,, ३७-४० ,,
८. संख्यैकान्तवाद	,, ४१-४६ ,,

इन वादों के विषय में ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विवेचन यहाँ प्रस्तुत करना अवसरप्राप्त नहीं है। वह दर्शन का इतिहास लिखते समय कियाजासकेगा। ऐसे प्रसंग ग्रन्थकार-सम्बन्धी ऐतिहासिक तथ्यों को उजागर करने में उपयुक्त प्रकाश डालसकते हैं।

सूत्रकार गौतम, उसका काल—न्यायसूत्रों के रचयिता का 'गौतम' यह गोत्रनाम है। इनका सांस्कारिक नाम मेधातिथि था। कभी अतिप्राचीन काल में सरस्वती नदी के स्रोत भौगोलिक कारणों से अवरुद्ध होजाने पर सारस्वत प्रदेश का राजा विदेघ माथव जीवननिर्वाह के साधनों में बाधा होजाने के कारण अपने पुरोहित गोतम राहूगण की सलाह के अनुसार सारस्वत प्रदेश को छोड़कर पूर्व दिशा की ओर चलकर 'सदानीरा' नामक नदी के पश्चिम तट पर आपहुँचा।

वर्त्तमान अम्बाला ज़िला और उसके आस-पास का पश्चिम-दक्षिण की ओर का विस्तृत भू-भाग उस काल में सारस्वत प्रदेश था। जब ये लोग बसने के विचार से किसी भू-भाग की खोजमें पूर्व की ओर चलकर कोशल देशों को पार करते हुए सदानीरा के बाएँ तट पर पहुँचे, तो राजा विदेघ माथव ने अपने पुरोहित व मन्त्री गोतम राहूगण से कहा, हम लोग सारस्वत प्रदेश से पच्छिम की ओर इसलिए नहीं गए कि वे देश दूर तक बसे हुए हैं, उधर बसने के लिए मानव-रहित भूभाग का मिलना सम्भव न था। उत्तर की ओर पर्वतीय ऊबड़-खाबड़, ऊँचे-नीचे प्रदेश हैं। नीचे का दक्षिणी भाग सरस्वती के स्रोत रुद्ध होजाने से ऊजड़ होगया है, तब आपकी सलाह के अनुसार निवासयोग्य भूमि मिलजाने की आशा से पूर्व दिशा की ओर चले आए। अब सदानीरा (वर्त्तमान गण्डक) नदी सामने आगई। सुनाजाता है, आजतक मानव ने इसे पार नहीं किया; और इसके पूर्व की ओर का भूभाग दलदली (स्रावितर) प्रदेश है, अब क्या किया-जाए?[१]

गोतम राहूगण ने उत्तर दिया, राजन्! यदि आज तक इस नदी को किसी मानव ने पार नहीं किया, तो हम करेंगे। आपने जो नदी के पूर्व की ओर के भूभाग को दलदली प्रदेश बताया, वह बहुत पुराने समय की बात है। अब वह मानवनिवास के अयोग्य (अक्षेत्रतर) नहीं है। यह सुन राजा विदेघ माथव ने अपने साथी प्रजाजनों, पारिवारिक वर्ग व मन्त्री-पुरोहित आदि के साथ सदानीरा नदी को पारकर हिमालय-पर्वतश्रेणियों की तराई में अपने नाम से 'विदेघ' नामक प्रदेश बसाया, जो कालान्तर में उच्चारण-भेद से 'विदेह' कहाजाने लगा। शतपथ ब्राह्मण के रचनाकाल तक इसका **नाम** 'विदेह' होचुका था।

उस विदेह राजवंश के कुलक्रमागत पुरोहित व कुलगुरु—गोतम राहूगण के वंशधर होतेरहे। इसी कारण ये 'गौतम' गोत्र नाम से सदा प्रसिद्ध रहे। भारत में सदा से यह परम्परा रही है कि व्यवहार में व्यक्ति का सांस्कारिक नाम न लेकर गोत्रनाम, वंशनाम अथवा किसी उपनाम से व्यवहार होतारहता है। गौतम गोत्र के न मालूम कितने व्यक्ति होगए होंगे, जिनके सांस्कारिक नामों का हमें नितान्त भी पता नहीं है। न्यायशास्त्र के रचयिता गौतम का सांस्कारिक नाम साहित्य के एक कोने में सुरक्षित रहगया है। भास कवि ने प्रतिमा नाटक (अंक ५) में इसका उल्लेख किया है। विदेह राजवंश के पुरोहितों व

---

१. यह प्रसंग शतपथ ब्राह्मण [१।४।१।१०-१७] के एक सांकेतिक निर्देश के आधार पर लिखागया है। इसका उल्लेख अब से लगभग पचास वर्ष पूर्व अपनी रचना 'सांख्यदर्शन का इतिहास' [पृ० ५६—६१] में कुछ विस्तार के साथ किया है।

गुरुओं के उस प्रसिद्ध, प्रतिष्ठित एवं अनूचान कुल में मेधातिथि का जन्म हुआ।

इसके काल का पता लगाना कठिन है, पर भास ने जिस प्रसंग में और जिस रीति पर इसका उल्लेख किया है, उससे काल का कुछ अनुमान कियाजा-सकता है। विन्ध्यवन के जनस्थान में रहते राम के निवास पर परिव्राजक वेष में रावण आता है। वह अपने अधीत विभिन्नविषयक शास्त्रों के नाम गिनाता है। उस गणनाक्रम में मेधातिथिरचित न्यायशास्त्र का उल्लेख है। सांगोपांग वेदाध्ययन की बात कहकर मानवीय धर्मशास्त्र, माहेश्वर योगशास्त्र, बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र तथा मेधातिथि के न्यायशास्त्र का नाम लिया है। प्रतीत होता है, भास के काल तक परम्परा आदि किन्हीं आधारों पर यह जानकारी रही, कि गौतमगोत्रीय न्यायशास्त्र के रचयिता का सांस्कारिक नाम मेधातिथि है। इस गौतम गोत्र में एक और व्यक्ति के सांस्कारिक नाम शतानन्द का पता लगता है, जिनकी माता अहल्या के–भगवान् राम द्वारा–उद्धार की कथा कहीजाती है।

नाटकीय मञ्च के प्रवीण विशेषज्ञ भास के द्वारा ऐसी बात लिखीजाने की आशंका नहीं कीजासकती, जिसमें कालिक असामञ्जस्य की सम्भावना हो। इससे यह अनुमान कियाजासकता है कि राम-रावण का इतिहास में जो समय हो, उससे पूर्व गौतम-गोत्रीय मेधातिथि ने न्यायशास्त्र की रचना की। इसका ऊहापोहपूर्वक विस्तृत विवेचन शास्त्र का इतिहास लिखेजाने के अवसर पर किया-जासकता है।

न्याय का प्रस्तुत भाष्य—अपने जीवन का कार्यकाल प्रारम्भ होने के साथ लगभग साठ-पैंसठ वर्ष पूर्व भारतीय दर्शनों पर कुछ अभिनव लेखन की भावना जागृत हुई थी। इसका विशेष कारण था, उन प्रसंगों व विचारों की जानकारी, जो विदेशी विद्वानों ने भारतीय वाङ्मय के विषय में अभिव्यक्त किए; परन्तु उन निर्णयों में भारतीय परम्पराओं व इतिहास आदि के साथ सामञ्जस्य की अवहेलना करदीगई थी, जबकि उनकी पृष्ठभूमि दृढ़, समुचित एवं न्याय्य आधारों पर प्रतिष्ठापित रही है। इसके फलस्वरूप सन् १९१६ ई० के मार्च में कलकत्ता विश्वविद्यालय की सांख्य-योगतीर्थ परीक्षा देने के अनन्तर सांख्यविषयक इतिवृत्त के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ। अनेक पारदर्शी विद्वानों के साथ इस विषय की चर्चा व परामर्श चलता रहा। अन्तराल में अनेक विघ्न-बाधाओं के कारण वर्षों के लिए यह कार्यक्रम विच्छिन्न रहा। अवसर पाकर पुनः प्रारम्भ हुआ। इसप्रकार के व्यवधान जीवन-निर्वाह के साधनों में उलट-फेर के कारण होते रहे। लगभग चौबीस-पच्चीस वर्ष का समय लगाकर पहला ग्रन्थ **'सांख्य दर्शन का इतिहास'** लिखाजासका।

उन दिनों लाहौर में निवास था। वहीं यह कार्य पूरा हुआ। ये वही दिन

थे, जब देश-विभाजन के लिए राजनीतिक क्षेत्र में महान् संघर्ष जारी था। भारतीय वाङ्मय के गम्भीर विद्वान् होने के साथ अरबी, फ़ारसी तथा योरोपीय अनेक भाषाओं के जानकार श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ ने कुछ वर्ष पूर्व लाहौर गुरुदत्त भवन' में 'विरजानन्द वैदिक संस्थान' नाम से एक अकादमिक शोध-संस्था की स्थापना की थी। उन दिनों उसी संस्था के साथ सम्बद्ध होकर मेरे द्वारा यह सांख्यविषयक लेखन-कार्य चलरहा था। देशविभाजन के कारण सन् १९४७ ई० में लाहौर बलात् छोड़ना पड़ा। संस्थान का लगभग डेढ़ लाख से भी अधिक मूल्य का विशाल पुस्तकालय वहीं रहगया। किसीप्रकार 'सांख्यदर्शन का इतिहास' की पाण्डुलिपि साथ लाईजासकी। लगभग दो वर्ष के अनन्तर अवसर पाकर संस्थान का कार्य हरद्वार के समीप ज्वालापुर में प्रारम्भ किया-गया, पर वहाँ भी बाधाओं ने पीछा न छोड़ा। स्वामी वेदानन्दतीर्थ रोग के कारण ज्वालापुर-निवास छोड़कर दिल्ली आगए। कुछ समय तक हरद्वार के शिक्षाकेन्द्रों में निर्वाहार्थ कार्य करते हुए मुझे बीकानेर 'शार्दूल संस्कृत विद्यापीठ' में प्रधानाचार्य-पद पर सेवा करने का अवसर मिलगया। इस कार्य में बीकानेर के गीतानिष्ठ श्रेष्ठी श्री रामगोपाल मोहता का विशेष सहयोग था। मेरा उनका परिचय गीता के माध्यम से लगभग बीस वर्ष पहले से चलरहा था।

लगभग चार वर्ष विद्यापीठ की सेवा में रहा। इसप्रकार सात-आठ वर्ष तक संस्थान का कार्य विच्छिन्न रहा। ज्वालापुर रहते 'सांख्यदर्शन का इतिहास' प्रकाशित होगया था। जब बीकानेर से सेवानिवृत्त होने को था, उन्हीं दिनों दिल्ली में रहते श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ का अकस्मात् हृदयगति-अवरोध से देहावसान होगया। इस दुर्घटना की सूचना मुझे समाचार पत्रों द्वारा बीकानेर रहते प्राप्त हुई। संस्थान का कार्य आगे चलने की रही-सही आशा भी इस घटना से निचली तह तक धूमिल होगई। तब मैंने संस्थान के मन्त्री श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री M. A. को सहानुभूतिपत्र बीकानेर से लिखा। शास्त्री जी उन दिनों दिल्ली राज्यसभा कार्यालय में कार्यरत थे।

इधर परोक्ष दैवी शक्तियाँ जाने-अनजाने कुछ प्रेरणा प्रदान कररही थीं। अभी मैं बीकानेर ही था, थोड़ा समय बीतने पर पं० सत्यानन्द शास्त्री का पत्र मिला, 'आप बीकानेर से सेवानिवृत्त होकर संस्थान के कार्य को इधर आकर सम्भाल लें।' सन् १९५८ ई० के जुलाई मास में बीकानेर छूटा। तीन-चार महीने मुझे अपने भावी जीवन के कार्यक्रम का निश्चय करने में लग गए। अन्त में दिल्ली आकर पं० सत्यानन्द शास्त्री से मिलने पर ज्ञात हुआ कि संस्थान की अध्यक्षता व संचालन का कार्यभार श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती ने सम्भालना स्वीकार करलिया है। उन्होंने गाज़ियाबाद में 'संन्यास आश्रम' की स्थापना की है।

श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ ज्वालापुर छोड़ने के अनन्तर दिल्ली निवास के समय दिल्ली से कुछ दूर खेड़ा खुर्द ग्राम की भूमि में नहर के बाएं तट पर एक उद्यान में आश्रम बनाकर रहा करते थे। त्यागी, तपस्वी, अध्ययनशील विद्वान् थे, वहाँ रहते विभिन्न विषयों की पुस्तकों का पर्याप्त संग्रह होगया था। उन्हीं दिनों श्री स्वामी जी ने महर्षि दयानन्द के अमरग्रन्थ सत्यार्थप्रकाश पर महत्त्वपूर्ण टिप्पणियाँ लिखीं, तथा सटिप्पण सत्यार्थप्रकाश के मुद्रण-प्रकाशन का प्रबन्ध किया। अभी पूरा छपकर सत्यार्थप्रकाश का कार्य सम्पन्न नहीं होपाया था कि श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ जी का निधन होगया। इस कार्य को अपने अथक परिश्रम से पं० सत्यानन्द शास्त्री ने पूरा किया। स्वामीजी के जीवनकाल में भी इस ग्रन्थ के मुद्रण-प्रकाशन आदि सब कार्यों का प्रबन्ध बड़ी संलग्नता से शास्त्री जी ही करते रहे हैं।

इस स्थिति में श्री स्वामी विज्ञानानन्द सरस्वती द्वारा संस्थान का कार्य-भार पूर्णतया सम्भाल लेने पर खेड़ा खुर्द से श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ का पुस्तका-लय आदि सामान–श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी तथा पं० सत्यानन्द शास्त्री के सबल प्रयत्न से–उठाकर 'गाजियाबाद संन्यास आश्रम' में स्थानान्तरित करदिया-गया। मेरे इधर आने से कुछ दिन पूर्व यह कार्य सम्पन्न होचुका था। सत्यार्थ-प्रकाश का प्रथम संस्करण भी समाप्तप्राय था। दिनाङ्क १८ नवम्बर, सन् १९५८ ई० को यहाँ आकर मैंने कार्य आरम्भ किया। उस समय संस्थान की आर्थिक दशा अत्यन्त क्षीण थी। इसका समस्त भार श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी ने अपने ऊपर लेलिया। उन्होंने अकेले ही इस कार्य को जिस अभिनन्दनीय रीति पर निभाया, उसका जोड़ बहुत कम मिलेगा।

लगभग इन अठारह वर्षों में जो कार्य सम्पन्न हुआ है, वह संक्षेप में निम्न प्रकार है—

१. सत्यार्थप्रकाश—के दो संस्करण। दूसरा–दो सहस्र; तीसरा–तीन सहस्र। यहाँ आकर पहले मैंने द्वितीय संस्करण के कार्य को प्रारम्भ किया। प्रकाशित होने पर यह संस्करण जल्दी बिकगया। एक सहस्र के लगभग प्रतियाँ तो 'मथुरा दीक्षा-शताब्दी समारोह' के अवसर पर निकल गईं। तृतीय संस्करण की तैयारी होने तक अन्तराल-काल में दर्शन-सम्बन्धी लेखनकार्य चलता रहा। सत्यार्थप्रकाश के तृतीय संस्करण में कुछ विशेष कार्य हुआ।

क—अकारादि क्रम से समस्त सत्यार्थप्रकाश की विषयनिर्देशिका तैयार कीगई, जिसमें छह सहस्र के लगभग शीर्षक हैं।

ख—'सम्पादकीय' शीर्षक के नीचे–जो ग्रन्थ के प्रारम्भ में मुद्रित हुआ–अनेक सन्दिग्ध पाठों के विषय में प्रामाणिक सुझाव दिएगए हैं।

ग—'स्पष्टीकरण' शीर्षक के नीचे कतिपय सत्यार्थप्रकाश के ऐसे पाठों

के विषय में स्पष्टीकरण दियागया है, जिनको कहाजाता है कि ये अनायास समझ में नहीं आते। इसके अतिरिक्त दर्शन आदि सम्बन्धी जो कार्य हुआ है, उसका विवरण नाम-संकीर्त्तनमात्र से निम्न प्रकार है—

२. **सांख्यसिद्धान्त**—कापिल सिद्धान्तों के ऊहापोहपूर्वक विवेचन के रूप में मौलिक ग्रन्थ। पृ० सं० ५६८

३. **सांख्यदर्शन-विद्योदयभाष्य**—आधुनिक परिप्रेक्ष्य में लिखागया, कापिल षडध्यायी सूत्रों का भाष्य। पृ० ३६८

४. **ब्रह्मसूत्र (वेदान्तदर्शन) विद्योदयभाष्य**—किसी भी सम्प्रदाय की छाया से रहित, गुरुपरम्परा-प्राप्त–सूत्र पदों के अनुकूल–व्याख्या। पृ० ८२८

५. **वेदान्तदर्शन का इतिहास**—सामयिक परिप्रेक्ष्य में अनेक मौलिक तत्त्वों के उपपादन के साथ, ब्रह्मसूत्रों के रचयिता बादरायण तथा भाष्यकार शंकराचार्य के विषय में प्रचारित अनेक भ्रान्तियों के प्रमाणयुक्त निराकरण से पूर्ण मौलिक रचना। पृ० ५१२

६. **वैशेषिकदर्शन विद्योदयभाष्य**—यह कणाद सूत्रों का भाष्य मध्य-कालिक व्याख्याओं की छाया से आंशिक रूप में रहित है, तथा भारतीय दर्शन में विवेचित तत्त्वों का आधुनिक विज्ञान की कसौटी पर कसने का यथासम्भव प्रयास इसमें कियागया है।

इन प्रकाशनों के अतिरिक्त इस बीच संस्थान ने छोटे-बड़े लगभग चौबीस ग्रन्थों का प्रकाशन किया है, जिनमें चार ग्रन्थों–आर्याभिविनय (हिन्दी), आर्याभिविनय (इंग्लिश), वैदिक सन्ध्या (इंगलिश), 'क्या प्राचीन आर्य लोग मांसाहारी थे ?' के सम्पादक, लेखक श्री पं० सत्यानन्द शास्त्री, M. A. हैं। शेष ग्रन्थों के लेखक संस्थान के संस्थापक दिवंगत श्री स्वामी वेदानन्दतीर्थ हैं। इनका सम्पादन पं० सत्यानन्द शास्त्री तथा मेरे द्वारा हुआ है।

दार्शनिक ग्रन्थों के लेखन व प्रकाशन की मेरी भावना युवावस्था के प्रारम्भ में जो जागृत हुई थी, अनेक व विविध प्रकार की कठिन–कठिनतर बाधाओं को लाँघती हुई, पूर्वोक्त उन अभिनन्दनीय आत्माओं के सब प्रकार के गहरे सहयोग के द्वारा, यहाँ तक पहुँच गई है।

आभार-प्रकाशन—प्रस्तुत ग्रन्थ न्यायदर्शन के प्रकाशन में आर्थिक सहयोग के अतिरिक्त प्रेरणा व उत्साहप्रदान के रूप में–करनाल-निवासी अनुपम वदान्य, ऋषिभक्त, भारतीय वैदिक संस्कृति में निष्ठा रखनेवाले, सौजन्यमूर्त्ति श्री प्रताप-सिंह चौधरी का–हृदयग्राही सहयोग प्राप्त हुआ है। संस्थान गहरी आत्मीय भावनाओं के साथ उनके सहयोग का आदर करता है।

लगभग दो महीने से ब्र० धर्मवीर, व्याकरणाचार्य मेरे पास दर्शनशास्त्र अध्ययन के लिए आये हुए हैं। उन्होंने अपेक्षित प्रूफ़-संशोधन, सूत्रसूची आदि

का सकलन तथा प्रैस-सम्बन्धी कार्यों के विषय में पूर्ण सहयोग प्रदान किया है। अन्तरात्मा उनके कार्य से सन्तुष्ट है। अपनी समस्त आन्तरिक भावनाओं से उनके कल्याण की कामना करता हूँ।

अजय प्रिण्टर्स, नवीन शाहदरा, के मालिक श्री अमरनाथ एवं श्री साँवलदास जी का आभार हृदय से स्वीकार करता हूँ। उन्होंने निर्धारित समय पर ग्रन्थ का मुद्रण सम्पन्न कर इस कार्य में प्रशंसनीय सहयोग प्रदान किया है। साथ ही प्रैस के समस्त कर्मचारियों के लिए साधुवाद प्रकट करता हुआ इस विभाग के निरीक्षक कार्यकर्त्ता पं० रामसेवक मिश्र का आभार अभिव्यक्त करना भूल नहीं सकता। प्रूफ़ में प्रदर्शित संशोधनों के सावधानतापूर्वक ठीक करने तथा कार्य को समय पर पूरा करने में उन्होंने अपनी ओर से कोई न्यूनता नहीं होने दी।

संस्थान का भावी कार्य तथा साधन—जैसा प्रकट कियाजाचुका है, सभी दर्शनों के भाष्य तथा अपेक्षित इतिहास आदि के लेखन का संकल्प लेकर इस कण्टकाकीर्ण पथ पर चलना प्रारम्भ किया था। पर्याप्त मार्ग तै होचुका है। जीवन का पथ भी उसीके साथ धीरे-धीरे पूरा होने को जारहा है। पर मुझे इसकी कोई जल्दी नहीं, इसका लेखा-जोखा प्रभु के हाथ है; जब तक चाहे, कार्य कराएगा। पर आर्थिक स्रोत की प्रगति में शिथिलता आरही है।

संस्थान के अध्यक्ष श्री स्वामी विज्ञानानन्द जी की आयु पिच्यानवे वर्ष के लगभग होचुकी है, स्वास्थ्य सर्वथा साथ छोड़ता जारहा है। स्मरणशक्ति धीरे-धीरे जवाब देती जारही है। जो अर्थस्रोत उनके कर्मठ जीवन, प्रभाव व परिश्रम से अविरत प्रवाहित रहा है, उसमें चिन्तनीय बाधा उपस्थित होगई है। भावना यही है, प्रभु इस कार्य को चालू रक्खेगा, और स्रोतस्विनी शक्ति सामने आएगी। लगन से कार्य करते रहना अपना कर्त्तव्य है।

प्रकाश्यमान ग्रन्थ—योगदर्शन का विद्योदयभाष्य लिखा हुआ तैयार है। सम्भव है, आगामी शीतऋतु तक उसके प्रकाशन का प्रबन्ध होजाय। उसके अतिरिक्त कतिपय ग्रन्थ इसप्रकार हैं—

१. प्राचीन सांख्य सन्दर्भ
२. वैशेषिकदर्शन तथा न्यायदर्शन का इतिहास
३. ऋग्वेद के ऋषि
४. मीमांसादर्शन-भाष्य आदि।

वैशाख कृष्ण १४, रविवार,
सं० २०३४ विक्रमी

—उदयवीर शास्त्री

विषय-सूची

प्रथमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

द्वितीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

❁ ओ३म् ❁

न्यायदर्शनम् [गौतमीयम्]

विद्योदयभाष्यसहितम्

प्रथमाध्याये प्रथमाह्निकम्

भारतीय वैदिक दर्शनों में गौतमीय न्यायदर्शन अर्थ-तत्त्व को समझने की प्रक्रियाओं का सर्वांगपूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। यह विवरण इतना वस्तुनिष्ठ है कि प्रारम्भ से लेकर विचार के अन्तिम स्तर तक इसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सभी वैदिक-अवैदिक दर्शनों को अपने मान्य सिद्धान्त प्रस्तुत करते समय इस पद्धति का प्रयोग करना अपेक्षित होता है।

भारतीय छह वैदिक दर्शनों को तीन जोड़े के रूप में स्वीकार कर समान-शास्त्र कहा है। जैसे सांख्य-योग तथा पूर्वोत्तर-मीमांसा परस्पर समान-शास्त्र हैं, ऐसे ही न्याय-वैशेषिक समान-शास्त्र हैं। कहना चाहिये, ये शास्त्र अपने विशेष प्रतिपाद्य अर्थ का विवरण प्रस्तुत करते हुए एक-दूसरे के पूरक हैं। वैशेषिक जहाँ पदार्थ और उनके धर्मों का उल्लेख, संगणन एवं स्वरूप का विवेचन करता है, वहाँ न्यायदर्शन उन पदार्थों व धर्मों के जानने-समझने की प्रक्रिया का विस्तृत निरूपण करता है।

इस दिशा में न्याय का मुख्य प्रतिपाद्य विषय 'प्रमाण' है। समस्त दर्शन का अधिक भाग प्रमाण के स्वरूप और उसके प्रयोग की प्रक्रियाओं को प्रस्तुत करने के लिए लिखागया है। न्याय के प्रथम सूत्र में जिन सोलह विधाओं का संक्षेप से निर्देश है, उनमें 'प्रमेय' के अतिरिक्त शेष 'संशय' आदि समस्त विधाओं का उपयोग केवल 'प्रमाण' के पूर्ण एवं निर्दोष स्वरूप को प्रस्तुत करने के लिए है। प्रमेय भी प्रमाणों का लक्ष्य-क्षेत्र होने के कारण उनके स्वरूप को निखारने में सहयोगी है; क्योंकि प्रमाण की सार्थकता या सफलता तभी है, जब उसके द्वारा जाना हुआ अर्थ—उपादान एवं परिहार की भावना से प्रवृत्ति के अनन्तर—अपने वास्तविकरूप में पायाजाता है।

न्यायशास्त्र में 'आत्मा' आदि बारह प्रमेय गिनाये हैं। गम्भीरता से देखा-जाय, तो इनमें केवल 'आत्मा' मुख्य है। शेष—शरीर, इन्द्रिय, अर्थ [गन्ध, रस,

रूप, स्पर्श, शब्द], बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग, ये सब 'आत्मा' से सम्बद्ध हैं। साक्षात् या परम्परा से इन सबका उपयोग आत्मा के लिये है। सूत्रकार ने शास्त्र के मुख्य प्रतिपाद्य प्रमाण के लक्ष्य-क्षेत्र में आत्मा को विशेष स्थान देकर उसका और तत्सम्बन्धी परिस्थितियों का 'प्रमेय' में परिगणन करदिया है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्रकार के आशय को अन्तर्दृष्टि से समझ शास्त्र के प्रारम्भ में समस्त यथार्थता व 'तत्त्व' को चार विधाओं में परिसमाप्त माना है—प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति। वस्तुतः अर्थतत्त्व को समझने और उसके विवेचन की यह उपयुक्त प्रक्रिया है। इस प्रकार के समझने और विवेचन का प्रधान आधार 'प्रमाण' है। उसीका सांगोपांग पूर्ण निरूपण न्यायशास्त्र में हुआ है।

वह अर्थतत्त्व क्या है, जो इन प्रमाणों का विवेच्य है? इस भाग को वैशेषिकदर्शन पूरा करता है। इन दोनों के समान-शास्त्र मानेजाने का यही आधार है। यद्यपि गौतमीय न्यायसूत्रों में प्रमाणों के विवेच्य 'प्रमेय' पदार्थ का उल्लेख हुआ है, तथापि सूत्रव्याख्यान में जहाँ समस्त पदार्थ के निर्देश का अवसर आया है, वहाँ सूत्रकार के आशय को समझते हुए भाष्यकार वात्स्यायन ने एकाधिक वार वैशेषिक-प्रतिपाद्य द्रव्यादि छह भाव-पदार्थों का स्पष्ट उल्लेख किया है।[1] गौतमीय सूत्रों के प्रमेय का नहीं।

भाष्यकार वात्स्यायन के निर्देशानुसार—प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा करना 'न्याय' है। ऐसे शास्त्र—जिनमें प्रमाण द्वारा पदार्थविद्या का विवेचन हुआ है—'आन्वीक्षकी' विद्या के अन्तर्गत मानेजाते हैं। आन्वीक्षकी विद्या में सांख्य, योग और लोकायत दर्शन का परिगणन कियाजाता है।[2] इन दर्शनों में सृष्टि-प्रक्रिया एवं भौतिक तत्त्वों का मुख्यतया विस्तृत विवेचन हुआ है।

कौटल्य-प्रयुक्त 'योग' पद का अर्थ

कतिपय आधुनिक विद्वानों का विचार है—यहाँ आन्वीक्षकी विद्या में न्याय-वैशेषिक की गणना नहीं कीगई। परन्तु उनका ऐसा विचार नितान्त भ्रान्त धारणा पर आधारित कहाजासकता है। प्रतीत होता है, यहाँ प्रयुक्त 'योग' पद के वास्तविक अर्थ को समझने में उन्हें भ्रम हुआ है। वस्तुतः उक्त तीन

---

१. **द्रष्टव्य, न्यायसूत्र-वात्स्यायनभाष्य २। १। ३४॥ तथा ४। १। २८; तथा ३८॥**

२. **'आन्वीक्षकी त्रयी वार्त्ता दण्डनीतिश्चेति विद्याः।···सांख्यं योगो लोकायतञ्चेत्यान्वीक्षकी।' कौट० अर्थ० १। २। १, १०॥**

नामों में 'योग' पद न्याय और वैशेषिक के लिए प्रयुक्त है। इस पद का इसी अर्थ में प्रयोग गौतमीय न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन मुनि ने किया है।[1] सम्भवतः इस पद का प्रयोग किसी काल में पातञ्जलदर्शन तथा काणाद-गौतमीय-दर्शन दोनों के लिए होतारहा है।

आकृति व उच्चारण से पद समान होने पर भी धात्वर्थ के आधार पर इनका भेद है। पातञ्जलदर्शन के लिए 'योग' पद 'युज समाधौ' धातु से तथा काणाद-गौतमीयदर्शन के लिए 'युजिर् योगे' धातु से निष्पन्न होता है। परमाणुओं के योग से सृष्टि-प्रक्रिया मानने के कारण न्याय-वैशेषिक के लिए 'योग' पद का प्रयोग कियाजातारहा है। कालान्तर में इस पद का प्रयोग लुप्त होगया, समाधि अर्थवाला 'योग' प्रचलित रहा। आज साधारणरूप में इसका यही अर्थ जाना-जाता है।

शास्त्रारम्भ का प्रयोजन

परमकारुणिक महामुनि गौतम ने—इन सब भावनाओं के साथ यह समझते हुए कि जन-समाज जिस वातावरण के बीच रहता है, एवं उसके चारों ओर जो यह स्थूल जगत् बिछा पड़ा है, और इसके पीछे जो अन्तर्हित व्यक्त-अव्यक्त तत्त्व है, उस सबकी यथार्थ जानकारी के लिए उपयुक्त एवं व्यावहारिक साधनों का परिचय देना मानवजीवन के सर्वविध कल्याण के लिए आवश्यक है—प्रस्तुत शास्त्र का प्रवचन किया, जिसका प्रथम सूत्र है—

प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवाद-जल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः ॥ १ ॥

[प्रमाण—निग्रहस्थानानाम्] प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, च्छल, जाति,

---

१. द्रष्टव्य न्यायसूत्र [१।१।२९] का वात्स्यायनभाष्य। प्रतितन्त्रसिद्धान्त बताने की भावना से वहाँ सांख्यमत का निर्देश है—'यथा नासत आत्म-लाभः, न सत आत्महानं, निरतिशयाश्चेतनाः, देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेष इति सांख्यानाम्।' स्पष्ट है, ऐसा मत कापिल सांख्य और पातञ्जलयोग दोनों का समान है।

वहाँ न्याय-वैशेषिक सिद्धान्त इसप्रकार दिया है—'पुरुषकर्मादि-निमित्तो भूतसर्गः, कर्महेतवो दोषाः प्रवृत्तिश्च, स्वगुणविशिष्टाश्चेतनाः, असदुत्पद्यते उत्पन्नं निरुध्यत इति योगानाम्।' स्पष्ट ही यहाँ 'योग' पद न्याय-वैशेषिक के लिए प्रयुक्त है।

निग्रहस्थानों के [तत्त्वज्ञानात्] यथार्थज्ञान से [निःश्रेयसाधिगमः] मोक्ष एवं कल्याण की प्राप्ति होती है।

सूत्र में तीन समस्त [समास-युक्त] पद हैं। पहला है—'प्रमाण' से लगाकर 'निग्रहस्थानानां' तक। 'च' के अर्थ में यहाँ इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। 'च' का अर्थ होता है—'और'। प्रमाण और प्रमेय और संशय···और निग्रहस्थान ये सब एक-दूसरे के साथ मिलकर एक पद के रूप में यहाँ प्रस्तुत कियेगये हैं। संस्कृत में इनका विग्रह इसप्रकार बोलाजायगा—'प्रमाणानि च प्रमेयं च संशयश्च प्रयोजनं च···निग्रहस्थानं च, एषां इतरेतरयोगः-प्रमाणप्रमेयसंशय··· निग्रहस्थानानि, तेषां प्रमाणप्रमेय···निग्रहस्थानानाम्'।

जिज्ञासा—संस्कृत में विग्रह करते समय 'प्रमाण' पद नपुंसकलिंग बहुवचन में, 'प्रमेय' नपुंसकलिंग एकवचन में, 'संशय' पुंल्लिग एकवचन में,····'निग्रहस्थान' नपुंसकलिंग एकवचन में प्रयुक्त हुए। ऐसा भेद क्यों कियागया?

समाधान—सूत्रकार ने आगे प्रमाण, प्रमेय आदि के उद्देश अथवा लक्षण सूत्रों में इन पदों का प्रयोग जिस लिंग और जिस वचन में किया है, उसीके अनुसार विग्रह में इन पदों का प्रयोग अपेक्षित है, इसीकारण यह भेद है।[1]

दूसरा पद है—'तत्त्वज्ञानात्' और तीसरा है—'निःश्रेयसाधिगमः'। इन दोनों पदों में षष्ठी तत्पुरुष समास है। 'तत्त्व' क्या है? जो जैसा पदार्थ है, उसका उसीरूप में प्रतीत होना। जैसे सत् पदार्थ सद्रूप में जानागया 'तत्त्व' है; ऐसे असत् पदार्थ असद्रूप में जानागया 'तत्त्व' है। इसप्रकार प्रमाण आदि पदार्थों को वास्तविक रूप में जानलेना मानव के सब प्रकार के कल्याण का साधक है।

इस शास्त्र के आरम्भ करने का मुख्य प्रयोजन 'प्रमाण' के यथार्थस्वरूप को सर्वांगपूर्ण रूप में प्रस्तुत करना व समझाना है। इसीकारण सूत्र में इसका सर्वप्रथम निर्देश हुआ। प्रमाण प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान का साधन है। जो पदार्थ प्रमाण से जानाजाता है, वह सब 'प्रमेय' कहाजाता है। प्रस्तुत शास्त्र में 'प्रमेय' पद से जिनका संकलन हुआ है, वह केवल उपलक्षण है, प्रतीक व संकेतमात्र। प्रमाण का लक्ष्य-क्षेत्र प्रमेय है, अतः प्रमाण के अनन्तर 'प्रमेय' पद का पाठ है। सूत्र में समस्त पदों की आनुपूर्वी सुसंघटित एवं सप्रयोजन है। ऐसा नहीं है कि विना किसी भावना के चाहे जो पद चाहे जहाँ रखदिया हो।

---

१. इसके लिए निम्नसंख्याङ्कित सूत्रों को देखें—
१।१।३॥ १।१।६॥ १।१।२३-२६; ३२; ४०; ४१॥
१।२।१-४; १०; १८; १६॥

सूत्र में पदानुपूर्वी सप्रयोजन

प्रमाण की प्रवृत्ति प्रमेय में तभी होती है, जब संशय अंकुरित होता है; अतः प्रमेय के अनन्तर 'संशय' का पाठ है। संशय तभी जागृत होता है, जब व्यक्ति किसी विशिष्ट उद्देश्य से कहीं प्रवृत्त होनाचाहता है, तब आगे 'प्रयोजन' पढ़ागया। विशिष्ट प्रयोजन पहले किसी अनुकूल अनुभव के आधार पर उभरता है, अतः आगे 'दृष्टान्त' कहा। उसके बल पर ही सिद्धान्त प्रकाश में आता है, तब आगे 'सिद्धान्त' कहा। यह सब खेल जिन पर अवलम्बित है, वे 'अवयव' इसके आगे पढ़ेगये। अवयवों के प्रसंग में ऊहापोह द्वारा कोई निर्णय निखार में आता है, अतः आगे तर्क और निर्णय पढ़ेगये हैं। इसप्रकार के कथनोपकथन केवल तीन विधाओं में सम्भव हैं, आगे उन्हींका उल्लेख है—वाद, जल्प और वितण्डा। इनमें उत्तर की अपेक्षा पूर्व-पूर्व श्रेष्ठ है, इसी आधार पर इनका क्रम है। ऐसी चर्चाओं में दब आने पर व्यक्ति अपनी खाल को बचाने के लिए दूषित प्रयोग करता है, उन्हींको अन्त में हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान पदों से अभिव्यक्त किया है। इनमें भी दूषण की दृष्टि से पूर्व की अपेक्षा उत्तरोत्तर निकृष्ट हैं; यही इनके क्रम का आधार है। इसप्रकार प्रथम सूत्र में उन सोलह विधाओं का निर्देश है, जिनके विषय में शास्त्र द्वारा विवेचन प्रस्तुत किया-जाना है।

आन्वीक्षकी विद्या, उसका फल—जैसा प्रथम कहा गया, शास्त्रारम्भ का मुख्य प्रयोजन प्रमाण के निखरे स्वरूप को बताना है; उसीके लिए संशय आदि विधाओं का यहाँ निरूपण हुआ है। अन्यथा, केवल अध्यात्म तत्त्वों का कथन करने से यह शास्त्र उपनिषद् आदि के समान—विद्या की चार विधाओं में से—त्रयी के अन्तर्गत मानाजाता। संशय आदि के निरूपण के कारण इसकी गणना विद्या की आन्वीक्षकी विधा में कीगई है। इसप्रकार प्रमाण आदि विभिन्न विधाओं के रूप में निरूपित यह आन्वीक्षकी-शास्त्र सब प्रकार के ज्ञानों को प्रकाश में लाने के लिए प्रदीप के समान है। सभी प्रकार के अनुष्ठानों का यह एकमात्र उपाय है। सब धर्मों का यह आश्रय है। क्योंकि प्रमाण-प्रतिष्ठा के बिना इन सबका होना सम्भव नहीं होता। प्रत्येक शास्त्रीय तत्त्वार्थ-विवेचन व व्यवस्था, समस्त लोकव्यवहार तथा धर्मानुष्ठान आदि में प्रमाणादि पदार्थ महान् उपकारक होते हैं।

विद्या के चार क्षेत्र

विद्या के चार प्रकार-विभाग अथवा चार विस्तृत क्षेत्र बताये—आन्वीक्षकी, त्रयी, वार्त्ता, दण्डनीति।

१. पहले प्रकार में समस्त दर्शनशास्त्रों—आस्तिक-नास्तिक दर्शनों तथा

उपनिषद् आदि का समावेश है, जो जड़-चेतन अथवा आत्मा-अनात्मा के विवेचन को तर्क-प्रणाली से प्रस्तुत करते हैं, एवं प्रधानरूप से अध्यात्म-विद्याओं का विस्तृत प्रतिपादन करते हैं।

२. दूसरे प्रकार में समस्त यज्ञादि अनुष्ठान एवं धार्मिक कर्मकाण्ड का समावेश है। इसके अतिरिक्त अध्यात्म-ज्ञान की विधियों एवं उपासना-प्रक्रियाओं का विवरण इसके अन्तर्गत आता है।

३. तीसरे में कृषि, पशुपालन, वाणिज्य, शिल्प, उद्योग, सेवा आदि समस्त जीवनोपायभूत अर्थ-प्राप्ति के साधन आजाते हैं।

४. चौथा विभाग—प्रशासन है, जिसमें प्रजापालन, आन्तर और बाह्य-आपातों से राष्ट्र की रक्षा, नियत व्यवस्थाओं, विधि-विधानों के अनुसार समाज का संचालन।

इन सभी विद्याओं में तत्त्वज्ञान और मोक्षप्राप्ति, प्रत्येक विद्याकी अपनी स्थिति के अनुसार समझनी चाहिये। वह यथाक्रम इसप्रकार है—

१. तत्त्वज्ञान—आत्मसाक्षात्कार; आत्मा और परमात्मा दोनों का साक्षात् ज्ञान। मोक्षप्राप्ति—त्रिविध दुःखों की अत्यन्त निवृत्तिपूर्वक परमानन्द [परमात्म-रूप आनन्द] की प्राप्ति।

२. तत्त्वज्ञान—यज्ञादि कर्मों की प्रक्रियाओं एवं उनकीअनुष्ठानविधियों का यथार्थज्ञान। मोक्षप्राप्ति—अनुष्ठानों के अनन्तर उनके फल-स्वर्गादि एवं विशिष्ट सुखों की प्राप्ति।

३. तत्त्वज्ञान—वाणिज्य, उद्योग, कृषि, पशुपालन आदि का यथार्थ पूर्ण-ज्ञान। मोक्षप्राप्ति—वाणिज्य आदि से होनेवाला अर्थ-लाभ।

४. तत्त्वज्ञान—सन्धि, विग्रह आदि छह अंगों तथा साम, दाम आदि चार उपायों एवं अन्य प्रशासन-सम्बन्धी विधियों आदि का यथार्थ पूर्णज्ञान। मोक्षप्राप्ति—राज्य आदि का लाभ।

शास्त्रारम्भ में मंगलाचरण—आचार्य सूत्रकार द्वारा शास्त्र के आरम्भ में मंगलाचरण न कियेजाने के कारण कहाजाता है—मंगलाचरण करना प्रामाणिक कार्य नहीं है। यदि होता, तो सूत्रकार उसकी उपेक्षा न करता।

यहाँ समझना चाहिये, अतिप्राचीनकाल से भारतीय परम्परा में यह प्रथा रही है कि प्रत्येक कार्य के प्रारम्भ में परमात्मा का नामस्मरण अवश्य होना चाहिये। भगवान् के स्मरण से कार्य के सफल होने की आशा कर्त्ता-व्यक्ति को सदा प्रोत्साहित रखती है, जो कार्य के सफल होने का मुख्य आधार समझना चाहिये। यह आवश्यक नहीं कि कर्त्ता द्वारा किये गये भगवन्नामस्मरण का उल्लेख ग्रन्थरचनारूप कार्य के प्रारम्भ में अवश्य कियाजाय। गौतम जैसे आर्ष वैदिक मुनि ने शास्त्रारम्भ करते समय भगवन्नामस्मरण न किया हो, ऐसा

सम्भव प्रतीत नहीं होता। सर्वप्रथम सूत्र में 'प्रमाण' पद का निर्देश कर आचार्य ने इस विषय में अपनी आन्तरिक भावना का संकेत अवश्य देदिया प्रतीत होता है। 'प्रमाण' पद में परमात्मा-अर्थ के बोधन कराने का रहस्य अन्तर्निहित होने से यह प्रभु के नामस्मरण को सूचित करता है।[1] यही प्रस्तुत में मंगलाचरण का निर्देश समझना चाहिये ॥ १ ॥

प्रमाण आदि के तत्त्वज्ञान से मोक्षप्राप्ति का उल्लेख किया। शिष्य जिज्ञासा करता है—क्या तत्त्वज्ञान के अनन्तर तत्काल मोक्ष होजाता है, अथवा उसका कोई अन्य प्रकार है? सूत्रकार ने समाधान किया—

दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तराऽपाये तदनन्तरापायादपवर्गः ॥ २ ॥

[दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानाम्] दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष और मिथ्याज्ञान के [उत्तरोत्तराऽपाये] उत्तर-उत्तर के, अगले-अगले के नष्ट होजाने

---

१. प्रस्तुत शास्त्र में प्रमाण पद का प्रायोगिक अर्थ है—प्रमा का करण, यथार्थ-ज्ञान का साधन। परन्तु इस पद में एक अन्य निगूढ भाव है, जो इसप्रकार समझना चाहिए—

वैदिक साहित्य में 'प्रमा' पद का प्रयोग 'इयत्ता-सीमा-नाप' आदि अर्थ में हुआ है। इससे प्रत्येक सीमित पदार्थ इस पद के बोध्य अर्थ की सीमा में आजाता है। इसप्रकार भूमि, अन्तरिक्ष तथा सभी द्युस्थित लोक-लोकान्तर 'प्रमा' हैं। यह समस्त विश्व जिस अचिन्त्य शक्ति के द्वारा प्राणित [प्रमा+अन] है, जीवित एवं स्थित है, तथा अव्यक्त दशा से उभरकर अपनी इस व्यक्त दशा में आपाता है, वह शक्ति 'प्रमाण' पद बोध्य है। इसके लिए द्रष्टव्य है, वैदिक साहित्य—ऋ० १०।१३०।३॥ अथर्व० १०।७।३२॥ माश० ८।३।३।५॥ मै० १।११।१०॥ ३।२।६॥ काठ० १४।४॥ जै० २।४१॥

इसीके अनुसार अनन्तरवर्त्ती आचार्यों ने 'प्रमाण' पद का बोध्य अर्थ बताया है—जो समस्त जीवन एवं वस्तुमात्र का आधार है। वह तत्त्व परमात्मा के अतिरिक्त और कोई नहीं है। इसी भावना से प्रेरित होकर मध्यकालिक कोषकारों ने करण [अष्टा० ३।३।११७], कर्त्ता [अष्टा० ३।३।११३] तथा भाव [३।३।११५] अर्थ में ल्युट् प्रत्यय मानकर 'प्रमाण' पद के निम्न अर्थ अभिव्यक्त किये हैं—"प्रमाणं नित्यमर्यादाशास्त्रेषु सत्यवादिनि। इयत्तायाञ्च हेतौ च क्लीबैकत्वे प्रमातरि" [मेदिनी कोष]।

पर [तदनन्तरापायात्] उसके अनन्तर-के-अव्यवहित पूर्व के नाश होजाने से [अपवर्गः] मोक्ष होता है।

सूत्र में समस्त-असमस्त (समासयुक्त व समासरहित) चार पद हैं, जो ऊपर चौकोर कोष्ठक में निवद्ध हैं। पहले समस्त पद में—दुःख, जन्म, प्रवृत्ति, दोष, मिथ्याज्ञान—ये पाँच पदार्थ कहे हैं। इनमें उत्तर अर्थात् अगला पदार्थ अपने से पहले का कारण है। इसप्रकार दुःख का कारण जन्म, जन्म का कारण प्रवृत्ति, प्रवृत्ति के कारण हैं दोष, और दोषों का कारण मिथ्याज्ञान है। यह एक तर्कपूर्ण व्यवस्था है कि कारण के नाश होजाने पर कार्य का नाश होजाता है। फलतः मिथ्याज्ञान के नाश से दोषों का नाश, दोषों के नाश से प्रवृत्ति का नाश, प्रवृत्ति के नाश से जन्म का नाश, और जन्म के नाश से दुःखों का नाश सम्भव है।

मोक्ष का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—सब प्रकार के दुःखों से अत्यन्त छूट जाना [१। १। २२]। दुःखों की गहरी जड़ में बैठा है—मिथ्याज्ञान। जबतक इसे जड़ से उखाड़कर दूर फेंक नहीं दियाजाता, तबतक दुःख से छुटकारा नहीं। यह मिथ्याज्ञान आत्मा और उससे सम्बद्ध प्रमेयों में विविध प्रकार का होता है। आत्मा आदि के विषय में मिथ्याज्ञान का स्वरूप क्या है, यह निम्नप्रकार समझना चाहिये।

आत्मा के स्वतन्त्र चेतन अस्तित्व को स्वीकार न करना, शरीर आदि जड़ अनात्मा पदार्थ को आत्मा समझना। इसीप्रकार दुःख में सुख, सुख में दुःख, अनित्य में नित्य, नित्य में अनित्य की भावना मिथ्याज्ञान है। जो रक्षा करने में सर्वथा असमर्थ है, उसको रक्षक समझलेना, जैसे शक्तिमान् की तथाकथित कल्पित प्रतीकरूप आकृति व प्रतिकृति में रक्षक की भावना होना मिथ्याज्ञान है। भयावह पदों में भयहीनता की भावना, तथा घृणित-निन्दित प्रसंगों को अभिनन्दनीय समझना भी मिथ्याज्ञान है। ऐसे ही त्याज्य को ग्राह्य और ग्राह्य को त्याज्य समझना मिथ्याज्ञान है। यह आत्मा एवं तत्सम्बन्धी भावों में मिथ्याज्ञान का स्वरूप बताया।

प्रवृत्ति आदि के विषय में मिथ्याज्ञान इसप्रकार समझना चाहिये। वाणी, मन और शरीर द्वारा कोई कार्य करना प्रवृत्ति है। यह पूर्वकृत कर्मों के सहयोग से हुआ करती है। इस विषय में ऐसी भावना कि कर्म कोई नहीं और न कर्मफल कुछ है, सब प्रवृत्ति आकस्मिक एवं नैसर्गिक होती रहती हैं, यह प्रवृत्ति-विषयक मिथ्याज्ञान है।

दोष-विषयक मिथ्याज्ञान है—आत्मा इस संसार में अपने दोष[1] आदि

---

१. दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःख क्या हैं? इसका विवरण सूत्रकार ने अभी आगे दिया है। इसके लिए देखें सूत्र—१। १। १७, १८, १९, २१॥

कारणों से नहीं आता, न संसार दोषनिमित्तक है, यह अनादिकाल से ऐसा ही चला आरहा है, इत्यादि ।

चालू जीवन समाप्त होजाने पर फिर आत्मा का अन्य किसी देह से सम्बन्ध नहीं होता । न कोई ऐसा चेतन स्वतन्त्र आत्मा है, जिसका देह से वियोग होना मरण और सम्बन्ध होना जन्म बतायाजाता है । यह प्रेत्यभाव अथवा जन्म-विषयक मिथ्याज्ञान है । ऐसा जन्म और मरण विना कारण के होता रहता है । यहाँ सकारण जन्म-मरण के विषय में अकारणता का ज्ञान मिथ्याज्ञान है । प्रेत्यभाव का आदि तो है, पर इस क्रम का फिर कभी अन्त नहीं होता । ऐसे ज्ञान में मोक्ष का अभाव प्रतिपादित होजाना मिथ्याज्ञान है । यदि प्रेत्यभाव को नैमित्तिक मान लियाजाय, तो भी कर्मों को इसका निमित्त नहीं मानाजासकता; क्योंकि कार्य करने वाले तथाकथित चेतन नित्य आत्मा का अस्तित्व सम्भव नहीं । यह जन्म-मरण, रज-वीर्य आदि दैहिक धातुवैषम्य के कारण होते रहते हैं । देह, इन्द्रिय, बुद्धि, वेदना इनके निरन्तर अनुक्रम का उच्छेद होजाना 'मरण' और क्रम का निर्बाध चलते रहना जन्म है ।[1] इस विचार में नित्य आत्मा का स्वीकार न कियाजाना मिथ्याज्ञान है ।

अपवर्ग-विषयक मिथ्याज्ञान है—यह अत्यन्त असह्य एवं भयावह है; इसमें सब प्रकार की प्रगतियों की समाप्ति होजाती है, प्रत्येक अभिलषित सांसारिक वस्तुओं से वियोग होजाता है; अनेक कल्याणपूर्ण स्थितियाँ नष्ट होजाती हैं, कौन ऐसा बुद्धिमान् होगा, जो सब सुखों के उच्छेदरूप इस निष्क्रिय अपवर्ग को चाहेगा ?

ऐसे मिथ्याज्ञान से अनुकूल परिस्थितियों में राग, और प्रतिकूल में द्वेष भड़क उठता है । इस राग-द्वेष के प्रभाव एवं प्राबल्य से व्यक्ति मिथ्याभाषण, दूसरों के प्रति डाह, दम्भ, छल-कपट, लोभ आदि अनेक दोषों में फँसजाता है । इन प्रबल दोषों से प्रेरित होकर अपने शरीर, वाणी और मन के द्वारा सम्पन्न होने वाले पाप-पुण्य अथवा शुभाशुभ प्रवृत्तियों में धकेल दियाजाता है ।

---

१. यह कथन बौद्धमतानुसार है । इस मत में पाँच स्कन्ध [विश्व के आधार-भूत] स्वीकार्य हैं । संज्ञा, रूप, विज्ञान, वेदना, संस्कार । देह [संज्ञा स्कन्ध, गौ-अश्व-मनुष्य आदि देहरूप में], इन्द्रिय [रूपस्कन्ध, सविषयाणीन्द्रियाणि रूपस्कन्धः], बुद्धि [विज्ञान-स्कन्ध, आलयविज्ञान-प्रवृत्तिविज्ञान दोनों], वेदना [वेदनास्कन्ध, सुख-दुःख आदि का अनुभव], संस्कारस्कन्ध के लिए भाष्यकार वात्स्यायन ने यहाँ कोई अतिरिक्त पद नहीं पढ़ा; परन्तु यह स्कन्ध राग-द्वेष-मोह-धर्म-अधर्मरूप मानाजाता है, जो सुख-दुःख आदि का कारण है । यहाँ कार्य [वेदनास्कन्ध] को कारण का भी संग्राहक मानकर वेदनास्कन्ध से संस्कारस्कन्ध का भी ग्रहण होजाता है ।

जब प्रवृत्ति पाप व अशुभ कार्यों की ओर झुकी रहती हैं, तब व्यक्ति शरीर से हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। वाणी से—मिथ्याभाषण, कठोर वचन बोलता, चुग़लख़ोरी, असम्बद्ध प्रलाप आदि करता है। मन से—दूसरों के प्रति द्रोह, दूसरे के धन को अन्याय से हड़पने की चाहना तथा नास्तिकता आदि का पोषक बनजाता है। यह पापरूप प्रवृत्ति अधर्म को बढ़ाती है।

जब प्रवृत्ति का झुकाव पुण्य की ओर होता है, तब प्रवृत्त हुआ व्यक्ति शरीर से—दान, दूसरों की रक्षा, परिचर्या-सेवा आदि किया करता है। वाणी से—सत्यभाषण, परकल्याण के प्रवचन, मधुर वार्त्तालाप एवं वेदादि सत्य सर्व-हितकारी शास्त्रों का स्वाध्याय आदि करने में तत्पर रहता है। मन से—सब प्राणियों के प्रति दयाभाव, अस्पृहा और अभिवन्दनीय में श्रद्धाभाव रखने लगता है। यह शुभ प्रवृत्ति है, जो धर्म का विस्तार करती है। यह उभय प्रकार की प्रवृत्ति अच्छे-बुरे जन्म का कारण है।[1]

देह, इन्द्रियाँ, मन, प्राण आदि का संहतरूप से विशिष्ट आकृतियों में प्रादुर्भाव होना—जन्म—है; अर्थात् आत्मा का देहादि के साथ सम्बन्ध होजाना। आत्मा को दुःख आदि का अनुभव देहादि-सम्बन्ध में सम्भव है, अतः जन्म को दुःख का कारण कहा गया। प्रतिकूल अनुभवों से जनित स्थिति का नाम दुःख है, जिसको बाधा, पीड़ा, ताप आदि नामों से व्यवहृत कियाजाता है।

मिथ्याज्ञान से लगाकर दुःखपर्यन्त परिस्थितियों के निरन्तर चलते रहने का नाम संसार है। जब तत्त्वज्ञान होजाने पर मिथ्याज्ञान का नाश होजाता है, तब मिथ्याज्ञान से होनेवाले दोष स्वतः विलीन होजाते हैं। जब कारण-मिथ्याज्ञान न रहा, तो कार्य कैसे रहजायगा? दोषों के न रहने से प्रवृत्ति का अभाव होजाता है, प्रवृत्ति के अभाव में पुनः जन्म का अवसर नहीं रहता। जन्म न होने पर दुःख रहने का प्रश्न नहीं उठता। दुःख की इस अत्यन्त निवृत्ति का नाम अपवर्ग, या निःश्रेयस है।

आत्मा आदि प्रमेयों के विषय में तत्त्वज्ञान का स्वरूप क्या है? इसको आत्मादिविषयक मिथ्याज्ञान के विपर्यय से समझलेना चाहिये। जैसे आत्मा के विषय में—आत्मा नित्य चेतन तत्त्व है, यह—तत्त्वज्ञान है। इसीप्रकार अनात्मा में अनात्मा, दुःख में दुःख, अनित्य में अनित्य, अरक्षक में अरक्षक, भयावह में भयावह, निन्दित में निन्दित, त्याज्य में त्याज्य बुद्धि का होना-तत्त्वज्ञान है। तात्पर्य है—जो जैसा पदार्थ है, उसको अपने वास्तविक स्वरूप में जानना-समझना 'तत्त्वज्ञान' कहाजाता है।

---

१. शुभ-अशुभ जन्म के विषय में द्रष्टव्य, मनु० १२। ४०—८५॥ गीता, अध्याय १६।

यद्यपि संसार में सुख की कमी नहीं, परन्तु वह सुख-दुःखों के भारी भार से दबा रहता है, सन्तापों के गाढ़े घोल में लिपटा हुआ वह ऐसा है, जैसा स्वादु भोजन में विष घुला हो। उसे सर्वथा पृथक् कर निर्दोषरूप में भोगाजाना सम्भव नहीं। जीवन की रक्षा के लिए जिस प्रकार सविष स्वादु भोजन त्याज्य है; इसीप्रकार अध्यात्म कल्याण की प्राप्ति की भावना से—वह वैषयिक क्षणिक सुख त्याज्यकोटि में रक्खाजाता है, जो विविध प्रकार के कष्ट-क्लेश व दुःखों से संपृक्त है।

वैषयिक सुखोपभोग के लिए मुख्यरूप से दो वस्तु अपेक्षित हैं—स्वास्थ्य और अर्थ। संसार के समस्त सुख-भोग की गाड़ी इन्हीं दो पहियों पर चलती है। इनमें से किसी एक के भी न होने पर गाड़ी गड़बड़ा जाती है। उस दशा में भी प्राणी सुख-भोग के लिए हाथ-पैर मारता है, और जो कुछ मिलता है, उसीमें सन्तुष्ट रहना पड़ता है। वस्तुतः वह केवल सुख-भोग की रीस है।

पहला साधन 'स्वास्थ्य' है, जो पितृ-परम्परा और अपने क्रिया-कलापों से प्राप्त होता है। इसकी सुरक्षा के लिए दृढ़ता से ब्रह्मचर्य आदि व्रतो का पालन करना आवश्यक है। यह स्थिति—अध्यात्ममार्ग और उपयुक्त सांसारिक सुख-भोग—दोनों के लिए अनुकूल है। जो तलवार की इस नंगी धार पर चल सके, वे पार हो गये। यह स्वास्थ्य अनायास प्राप्त नहीं होजाता; इसको प्राप्त करने व सुरक्षित रखने के लिए—आन्तर व बाह्य—दोनों प्रकार के तप व श्रम आदि की अपेक्षा रहती है, जिसे स्वभाव-सुलभ आलसी जीवन पूरा नहीं करपाता: और उस दुर्लभ रत्न की प्राप्ति से वञ्चित रहता है।

दूसरा साधन 'अर्थ' स्वयं अनेकरूप में क्लेशमूल है। यहाँ भी—पितृ-परम्परा और अपना श्रम—दोनों कार्य करते हैं। आज सारा संसार—और साधारणरूप से सदा ही—समस्त शक्ति का उपयोग अर्थ के संग्रह में करता है। अनुभवियों ने बताया है—अर्थों के अर्जन में दुःख और रक्षण में दुःख, अर्थ का आय और व्यय दोनों दुःख के जनक हैं।[१] अर्थ के सभी दास हैं, चाकर हैं; अर्थ किसीका दास नहीं। अर्थ उसीका दास है, जो इसकी उपेक्षा करता है।[२] अर्थ जिसको अपनी

---

१. **अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानाञ्च रक्षणे।**
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान्॥ [कस्यचित्कवेः]

२. **अर्थस्य सर्वो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।**
तस्यार्थस्तु सदा दासो य एनं समुपेक्षते॥
[तुलना करें—महाभारत, ६।४३।४१,५६,७१,८२]

और आकृष्ट न करसकें, उसीको ज्ञानवान् समझना चाहिये।[1] फलतः अतिकष्टसाध्य क्षणिक वैषयिक सुख को हेय समझ, शाश्वत कल्याणप्राप्ति की भावना से आत्मादि के साक्षात् तत्त्वज्ञान के लिए प्रयत्नशील होना मानवजीवन का उद्देश्य है; उसीकी पूर्ति के लिए इस शास्त्र का प्रारम्भ कियागया है ॥ २ ॥

पदार्थ का उपपादन तीन स्तरों में शास्त्र करता है—उद्देश, लक्षण और परीक्षा। केवल नाम लेकर पदार्थ का निर्देश कर देना 'उद्देश' है। उद्दिष्ट पदार्थ को अन्य पदार्थों से पृथक् व भिन्न रूप में स्पष्ट करदेनेवाला धर्म 'लक्षण' कहाजाता है। उद्दिष्ट पदार्थ का जो लक्षण कियागया है, वह उस पदार्थ के वास्तविक स्वरूप को स्पष्ट करता है या नहीं ? इसका प्रमाणों के द्वारा निश्चय करना 'परीक्षा' है।

शास्त्र में प्रथम उद्दिष्ट पदार्थ का पहले विभाग बताकर पुनः उनका लक्षण किया है, जैसे—प्रमाण और प्रमेय का। प्रथम सूत्र में इनका नाममात्र लेकर उद्देश है। फिर तीसरे सूत्र में प्रमाण के तथा नौवें सूत्र में प्रमेय के विभाग बताये। चौथे से सातवें सूत्र तक विभक्त प्रमाणों के लक्षण बताये हैं। इसीप्रकार दसवें सूत्र से बाईसवें सूत्र तक विभक्त प्रमेय के लक्षण दिये हैं। कहीं ऐसा है कि उद्दिष्ट पदार्थ का पहले लक्षण करदिया है, फिर उसके विभाग बताये हैं, जैसे—छल के प्रसंग में।[2] अब सबसे प्रथम उद्दिष्ट 'प्रमाण' पदार्थ के विभाग का कथन सूत्रकार करता है—

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि ॥ ३ ॥

[प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः] प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द [प्रमाणानि] प्रमाण हैं।

सूत्र में पहला पद समासयुक्त और दूसरा असमस्त है। यहाँ 'चकार' अर्थ में सर्वपदार्थप्रधान इतरेतरयोग द्वन्द्व समास है। उद्देश्य-विधेय पदों का लिङ्ग और वचन यद्यपि समान होना चाहिये, पर 'प्रमाण' पद के नियत नपुंसकलिङ्ग होने से—उद्देश्य पद पुंल्लिङ्ग होने पर भी—विधेय पद नपुंसकलिङ्ग में प्रयुक्त है।

सूत्र में संख्यावाचक पद न होने पर भी गणना द्वारा प्रमाणों की चार नियत संख्या मानाजाना शास्त्र में निर्धारित है। कोई पदार्थ जिस साधन द्वारा जानाजाता या निश्चय कियाजाता है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। यह पद 'प्र'

---

१. **आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता।
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥
[महाभारत, ५। ३३। १५-१६ के मध्य; गो० पु० सं०]**

२. **देखें सूत्र, १। २। १० तथा ११ ॥**

उपसर्गपूर्वक 'माङ्[1] (मा)' धातु से करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम् ।' ज्ञान का जो करण-साधन है, वह प्रमाण है। 'प्रमाण' पद का यह अर्थ उसके निर्वचन द्वारा अभिव्यक्त होजाता है।

प्रमाण चार हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द। सब प्रमाणों में प्रधान होने से प्रत्यक्ष का सर्वप्रथम उल्लेख हुआ है। अन्य प्रमाणों द्वारा पदार्थ के जान-लेने पर भी उस विषय की कुछ जिज्ञासा बनी रहती है; परन्तु प्रत्यक्ष से जानलेने पर वह समाप्त होजाती है, यही प्रत्यक्ष की प्रधानता का स्वरूप है। अनुमान के प्रत्यक्ष-पूर्वक होने से प्रत्यक्ष के अनन्तर अनुमान का पाठ है। इसका विषय-क्षेत्र त्रैकालिक होने से यह अन्य प्रमाणों से पहले पढ़ागया है। अनुमान के समान होने, तथा विषय के प्रत्यक्षहोने पर इस प्रमाण की प्रवृत्ति का अवसर आने से अनुमान के अनन्तर 'उपमान' पढ़ा है। 'शब्द' प्रमाणकी प्रवृत्ति में प्रत्यक्ष व अनुमान यथाप्रसंग अपेक्षित रहते हैं, अतः अन्त में 'शब्द' का उल्लेख है। शब्द का विषय प्रायः अतीन्द्रिय रहता है; यह भी कारण अन्त में पढ़ेजाने का सम्भव है।

जिज्ञासा—क्या किसी विषय को जानने के लिए चारों प्रमाण सम्मिलितरूप से अपेक्षित होते हैं ? अथवा एक प्रमाण द्वारा प्रत्येक प्रमेय को जानलेना अपेक्षित रहता है ? तात्पर्य है, किसी प्रमेय में चारों प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, अथवा एक की ?

समाधान—प्रमेय में प्रमाण की प्रवृत्ति के दोनों प्रकार देखेजाते हैं। कहीं एक प्रमेय में अनेक प्रमाणों की प्रवृत्ति होती है, तथा किसी विषय में एक प्रमाण का प्रवृत्त होना सम्भव रहता है। जैसे—'आत्मा है' यह शब्द प्रमाण से जानाजाता है। आत्मा के ज्ञान, सुख, दुःख, प्रयत्न आदि गुण-लिङ्गों से उसका अनुमान होता है। यदि योगाभ्यास द्वारा समाधि-अवस्था को प्राप्त करलियाजाय, तो उस अवस्था में आत्मा और मन के संयोगविशेष से आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। यहाँ एक प्रमेय में तीनों प्रमाणों की प्रवृत्ति स्पष्ट है। इसीप्रकार तिरोहित अप्रत्यक्ष अग्नि का किसी आप्त के निर्देश से शब्दप्रमाण द्वारा बोध होजाता है। जब व्यक्ति उस ओर जाने लगता है, और कुछ समीप पहुँचजाता है, तब अग्नि के तिरोहित रहने पर भी उसमें से उठता हुआ धुआँ दिखाई देने लगता है। तब धूम को देखकर अग्नि का अनुमान होजाता है। उसीके अनुसार अग्नि

१, **यह जुहोत्यादिगणी धातु 'मान' और 'शब्द' अर्थ में पठित है। 'मान' का अर्थ है मापना, नापना, निश्चय व निर्धारण करना। इस धातु से कर्त्ता [३।३।११३], भाव [३।३।११५], और करण [३।३।११७] अर्थों में 'ल्युट्' प्रत्यय होता है। यहाँ अन्तिम अर्थ अभिप्रेत है।**

के समीप जाकर उसका प्रत्यक्ष होजाता है। यह प्रमाणों का 'अभिसंप्लव' है, एक प्रमेय को जानने में एकाधिक प्रमाणों का प्रवृत्त होना।

अनेक स्थल ऐसे रहते हैं, जहाँ केवल एक प्रमाण की प्राप्ति देखीजाती है। जैसे कहागया—'अग्निहोत्रंजुहुयात् स्वर्गकामः' स्वर्गकी कामना करनेवाला व्यक्ति अग्निहोत्र(होम) करे। स्वर्ग को आज तक किसीने देखा नहीं; वह प्रत्यक्ष का विषय नहीं है। प्रत्यक्ष न होने से उसका अनुमान सम्भव नहीं; क्योंकि अनुमान के लिए व्याप्तिज्ञान अर्थात् हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध का साक्षात् ज्ञान होना आवश्यक है; वह स्वर्ग के विषय में सम्भव नहीं। फलतः किसी ऐसे स्वर्ग का अस्तित्व केवल शब्दप्रमाण से जानाजाता है।

हम बन्द कमरे में बैठे हैं, हमारे कान में एक विशेष गर्जन-ध्वनि अचानक सुनाई देती है। उस ध्वनिविशेष से बाहर बादलों के होने का अनुमान होजाता है। कुछ काल के अनन्तर जब हम कमरे से बाहर आते हैं, तो आसमान साफ दिखाई देता है, बादल का कहीं टुकड़ा नहीं। यहाँ बादल का ज्ञान केवल अनुमानप्रमाण से हुआ है; अन्य किसी प्रमाण का अवकाश नहीं।

इसीप्रकार जब हमारी हथेली पर एक फल अथवा कोई अन्य दृश्य पदार्थ रखा रहता है, उस समय स्पष्ट हम उसका केवल प्रत्यक्ष करते हैं; न वहाँ अनुमान प्रवृत्त है न शब्द। ऐसे स्थलों में केवल एक प्रमाण की प्रवृत्ति देखीजाती है। इसप्रकार ये प्रमाण अकेले या मिलकर अर्थज्ञान के साधन होते हैं॥ ३॥

गत सूत्र से प्रमाण को चार भागों में विभक्त बताया गया। विभाग के अनुसार प्रमाणों के लक्षण बताने की भावना से सर्वप्रथम कथित प्रत्यक्ष-प्रमाण का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम्॥ ४॥

[इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नम्] इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष-सम्बन्ध से उत्पन्न, ऐसा [ज्ञानम्] ज्ञान, जो [अव्यपदेश्यम्] व्यपदेश्य न हो, [अव्यभिचारि] व्यभिचारी न हो, [व्यवसायात्मकम्] निश्चयात्मक हो, वह [प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्ष कहाजाता है।

सूत्र में छह पद हैं, जो चौकोर कोष्ठक में बद्ध हैं।[1] यहाँ 'ज्ञानम्' उद्देश्य और 'प्रत्यक्षम्' विधेय पद है। सूत्र का पहला पद ज्ञान के स्वरूप को प्रस्तुत करता है, और अगले तीन पद 'ज्ञान' की किन्हीं विशेषताओं का निर्देश करते

---

१. आगे व्याख्या में सूत्र-पदों की संख्या का निर्देश नहीं कियाजायगा। इस [ ] कोष्ठक में बद्ध पदों के अनुसार उनकी संख्या समझलेनी चाहिये।

हैं। सूत्रार्थ होगा—वह ज्ञान प्रत्यक्ष है, जो इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष द्वारा उत्पन्न होता है; परन्तु वह 'अव्यपदेश्य' 'अव्यभिचारि' और 'व्यवसायात्मक' होना चाहिए।

सन्निकर्ष छह—इन्द्रिय पाँच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, जिनका घट आदि द्रव्य और द्रव्यादि में समवेत रूप, रसादि एवं द्रव्यत्व, पृथिवीत्व आदि धर्मों के साथ सन्निकर्ष होकर उस-उस विषय का प्रत्यक्ष होता है। सन्निकर्ष छह प्रकार का है—संयोग, संयुक्तसमवाय, संयुक्तसमवेतसमवाय, समवाय, समवेतसमवाय और विशेषणता अथवा विशेष्यविशेषणभाव। किस अर्थ के प्रत्यक्ष में कौन-सा सन्निकर्ष अपेक्षित होता है, यह इसप्रकार समझना चाहिये—

संयोग=द्रव्य के प्रत्यक्ष में,
संयुक्तसमवाय=गुण, कर्म और द्रव्यगत जाति के प्रत्यक्ष में।
संयुक्तसमवेतसमवाय=गुणसमवेत तथा कर्मसमवेत जाति के प्रत्यक्ष में।
समवाय=शब्द के प्रत्यक्ष में।
समवेतसमवाय=शब्दगत जाति के प्रत्यक्ष में।
विशेषणता=अभाव के प्रत्यक्ष में।

द्रव्यग्राहक इन्द्रिय केवल चक्षु है। कतिपय आचार्य त्वक्-इन्द्रिय को भी द्रव्यग्राहक मानते हैं। दो द्रव्यों का परस्पर सम्बन्ध, 'संयोग' होता है। चक्षु-इन्द्रिय द्रव्य है, और घट भी द्रव्य है; चक्षु का घट से सम्बन्ध, संयोग सन्निकर्ष है, यह सन्निकर्ष होने पर चक्षु द्वारा घट का ज्ञान होजाता है।

चक्षु 'रूप'-गुण का ग्रहण कराता है। चक्षु का संयोग घट-द्रव्य के साथ है, घट में रूप समवाय-सम्बन्ध से रहता है, इसप्रकार चक्षु का रूप के साथ सन्निकर्ष 'संयुक्तसमवाय' हुआ। यह सन्निकर्ष होने पर चक्षु से रूप का ग्रहण होता है।

यह एक नियम है—जिस इन्द्रिय से जिस पदार्थ का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से उस पदार्थ में रहनेवाली जाति और उस पदार्थ के अभाव का ग्रहण होता है।[1] इस व्यवस्था के अनुसार घट में रहनेवाली 'घटत्व' जाति और रूप में रहनेवाली 'रूपत्व' जाति का चक्षु से ग्रहण होगा। चक्षु का घट के साथ 'संयोग-सन्निकर्ष' है, और घट में 'घटत्व' जाति का समवाय है; इसप्रकार चक्षु का घटत्व से संयुक्तसमवाय सन्निकर्ष होगा, यह सन्निकर्ष होने पर चक्षु से घटत्व जाति का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्षज्ञान होजाता है। उसी व्यवस्था के अनुसार चक्षु का घट से संयोग, घट में रूप का समवाय, और रूप में 'रूपत्व' जाति का समवाय होने से चक्षु का रूपत्व के साथ 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा। इस सन्निकर्ष के होने पर चक्षु से 'रूपत्व' जाति का ग्रहण अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान होजाता है।

---

१. **येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिस्तदभावश्च गृह्यते।**

इसीप्रकार त्वक् इन्द्रिय से घटादि विषय का ग्रहण करने के लिए सन्निकर्ष समझलेना चाहिये। जो आचार्य त्वक्-इन्द्रिय को द्रव्यग्राहक नहीं मानते, उनके विचार से त्वक् द्रव्य का ग्रहण न कर द्रव्यगत गुण आदि का ग्रहण करता है। एक अन्धा व्यक्ति—जिसे पहले घट का ज्ञान है, तथा समाखा व्यक्ति भी घोर अंधेरे में घट को छूकर और टटोलकर जान लेता है—यह घट है। यहाँ केवल स्पर्श व आकार-परिमाण आदि गुणों का त्वक्-इन्द्रिय से प्रत्यक्ष होता है। गुणों के द्वारा वह व्यक्ति घट-द्रव्य का अनुमान से ज्ञान करता है।

घ्राण, रसन और श्रोत्र-इन्द्रिय द्रव्यग्राहक न होकर केवल गुणग्राहक हैं। घ्राण से गन्ध का ग्रहण होता है। जिस द्रव्य में गन्ध का ग्रहण होरहा है, उस द्रव्य के साथ घ्राण-इन्द्रिय का संयोग है, और उस द्रव्य में गन्ध-गुण का समवाय; इसप्रकार घ्राण से गन्ध का ग्रहण होने में 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष होगा। गन्ध में समवेत 'गन्धत्व' जाति के ग्रहण करने में पूर्ववत् 'संयुक्तसमवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा। इसीके अनुसार रसन-इन्द्रिय का—रस-गुण और रसत्व जाति के ग्रहण करने में—सन्निकर्ष समझलेना चाहिये।

घ्राण आदि इन्द्रियाँ जैसे पृथिवी आदि तत्त्वों से उत्पन्न और अपने रूप में एक पृथक् इकाई मानी जाती हैं, वैसे श्रोत्र के विषय में नहीं मानाजाता। श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर आकाश ही स्वरूपतः श्रोत्र-इन्द्रिय है। देह के एक उभरे हुए अङ्ग कान के अन्दर एक विशिष्ट अङ्ग से सम्बद्ध आकाशदेश श्रोत्र-इन्द्रिय[1] मानलियागया है। श्रोत्र-इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, और शब्द आकाश में समवाय-सम्बन्ध से रहता है। इसलिए श्रोत्र से शब्द का ग्रहण करने में 'समवाय' सन्निकर्ष होगा। शब्दगत 'शब्दत्व' जाति के ग्रहण में 'समवेतसमवाय' सन्निकर्ष होगा।

अभाव के प्रत्यक्ष में सन्निकर्ष को समझने के लिए यह ध्यान रखना चाहिये कि जिस वस्तु का अभाव ग्रहण करना है, उस अभाव का अधिकरण क्या है? अर्थात् किसीका अभाव कहाँ ग्रहण करना है? उस अधिकरण के साथ ग्राहक इन्द्रिय का सन्निकर्ष पहले समझलेना चाहिये। जो सन्निकर्ष बने, उसके आगे 'विशेषणता' पद जोड़देने से उस अभाव के प्रत्यक्ष का सन्निकर्ष स्पष्ट होजाता है।

जैसे—भूतल में घट का अभाव प्रत्यक्ष करना है। घट का ग्रहण चक्षु-इन्द्रिय से होता है; घट के अभाव का ग्रहण भी चक्षु से होगा। देखना चाहिये, घटाभाव का अधिकरण क्या है? स्पष्ट है, वह अधिकरण भूतल है। भूतल द्रव्य है, भूतल के साथ चक्षु-इन्द्रिय द्रव्य का 'संयोग' सन्निकर्ष होगा। इसके

---

१. **कर्णशष्कुल्यवच्छिन्ननभःप्रदेश एव श्रोत्रम्। यह प्रमाणभूत आचार्यों ने बताया है।**

आगे 'विशेषणता' पद जोड़ने से—चक्षु द्वारा भूतल में घटाभाव का ग्रहण करने के लिए 'संयुक्तविशेषणता' सन्निकर्ष होगा। चक्षुःसंयुक्त भूतल में घटाभाव विशेषण है—'घटाभाववद् भूतलम्' यह प्रत्यक्ष प्रतीति का स्वरूप है।

अब अन्यत्र देखिये। रूप में गन्ध का अभाव ग्रहण करना है। गन्ध का ग्रहण भी घ्राण से होता है, तो उसके अभाव का ग्रहण भी घ्राण से होगा। इस गन्धाभाव का अधिकरण यहाँ रूप है। रूप गुण है, वह किसी द्रव्य में समवेत होगा। अभाव का ग्राहक इन्द्रिय घ्राण भी द्रव्य है। तब घ्राण का उस द्रव्य से संयोग, और उस द्रव्य में रूप का समवाय है। इसप्रकार गन्धाभाव के अधिकरण रूप के साथ घ्राण-इन्द्रिय का 'संयुक्तसमवाय' सन्निकर्ष हुआ। इसके आगे 'विशेषणता' जोड़ देने से—रूप में गन्धाभाव का ग्रहण—'संयुक्तसमवेत-विशेषणता' सन्निकर्ष से होगा। घ्राण-इन्द्रिय से संयुक्त रूपवद्द्रव्य, उस द्रव्य में समवेत रूप, वहाँ विशेषण है गन्धाभाव—'रूपं गन्धाभाववत्' यह प्रत्यक्ष प्रतीति होती है।

इसीप्रकार 'रूपत्व' अधिकरण में गन्धाभाव के ग्रहण के लिए घ्राण-इन्द्रिय का रूपत्व के साथ सन्निकर्ष देखना होगा। पूर्ववत् वह सन्निकर्ष है—'संयुक्तसमवेतसमवाय।' घ्राण संयुक्त रूपवद्द्रव्य, द्रव्य में समवेत रूप, रूप में समवेत रूपत्व। इसप्रकार घ्राण का रूपत्व के साथ सन्निकर्ष हुआ—'संयुक्तसमवेत-समवाय'। उसके आगे 'विशेषणता' जोड़ने से घ्राण-इन्द्रिय द्वारा 'रूपत्व' अधिकरण में गन्धाभाव का ग्रहण 'संयुक्तसमवेतसमवेतविशेषणता' सन्निकर्ष से होगा—'रूपत्वं गन्धाभाववत्'।

प्रत्यक्ष पद का अर्थ तथा प्रत्यक्ष का फल—इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष उक्त छह विधाओं में होता है। इसप्रकार के सन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान 'प्रत्यक्ष' कहा जाता है। उक्त भाव 'प्रत्यक्ष' पद के निर्वचन में निहित है—'अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयं वृत्तिः प्रत्यक्षम्।' 'अक्ष' पद इन्द्रिय का वाचक है। प्रत्येक इन्द्रिय का अपने ग्राह्य विषय के प्रति वृत्ति-व्यापार प्रत्यक्ष है। उस वृत्ति अर्थात् व्यापार का स्वरूप क्या है ?—सन्निकर्ष अथवा ज्ञान। इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष होना—इन्द्रिय का अपने विषय के प्रति व्यापार है, इसीका नाम प्रत्यक्ष प्रमाण है। जब सन्निकर्ष प्रत्यक्ष प्रमाण है, तब उसका फल है—उस अर्थ-वस्तु के ज्ञान-प्रमा का होना। 'प्रमाण' पद का तात्पर्य है—प्रमा का साधन। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर ज्ञान होता है, अतः सन्निकर्ष को प्रमाण मानने पर उसके अनन्तर होनेवाला ज्ञान उसका फल है।

परन्तु जब इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न 'ज्ञान' को प्रत्यक्षप्रमाण मानाजाता है, तो निश्चित ही उसका फल अन्य कोई 'प्रमा' होना चाहिये। इस दशा में उसका फल होगा—ज्ञात वस्तु के विषय में उसके हान, उपादान अथवा उपेक्षा

का ज्ञान। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न वस्तु-ज्ञान जब 'प्रत्यक्षप्रमाण' है, तब उस वस्तु के विषय में यह ज्ञान होना उस प्रमाण का फल है कि यह वस्तु त्याज्य है, अथवा उपादेय है, अथवा उपेक्षा करने योग्य है।

प्रत्यक्षप्रमाण के विषय में इस विकल्प का संकेत पाकर परवर्ती आचार्यों ने 'इन्द्रिय' को प्रत्यक्ष प्रमाण माना है। वस्तुतः इन्द्रिय पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण है। अर्थ के साथ उसका सन्निकर्ष मध्यवर्ती व्यापारमात्र है। तात्पर्य हुआ—इन्द्रिय-अर्थ के साथ सन्निकर्ष द्वारा—वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान का असाधारण कारण होता है; अतः इन्द्रिय प्रत्यक्षप्रमाण और वस्तु-ज्ञान उसका फल है।[1] अनन्तर स्थिति के अनुसार वस्तु के हान आदि का ज्ञान उत्पन्न होता है।

---

१. साक्षात् इन्द्रिय को प्रत्यक्षप्रमाण माननेवाले आचार्यों का कहना है, प्रमाण वही है, जो प्रमा का करण हो। करण का स्वरूप है—व्यापारवदसाधारणं कारणं करणम्। व्यापारवाला होता हुआ जो कार्य का असाधारण कारण होता है, वही 'करण' कहाजाता है। व्यापार है—तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको व्यापारः। अर्थात् इन्द्रिय से जन्य होने पर जो इन्द्रियजन्य ज्ञान का जनक हो वह व्यापार कहाजाता है। तात्पर्य है—इन्द्रिय साधन और ज्ञान साध्य के मध्य की स्थिति, जो साधन से उत्पन्न कीजाकर मुख्य साध्य-ज्ञान को उत्पन्न करने में सहायक होती है। प्रस्तुत प्रसंग में वह मध्य की स्थिति 'सन्निकर्ष' है। इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष इन्द्रिय द्वारा उत्पन्न होता है, तथा इन्द्रियजन्य वस्तुज्ञान की उत्पत्ति में सहायक होता है; क्योंकि जब तक सन्निकर्ष न होगा, वस्तुज्ञान का होना सम्भव नहीं। तात्पर्य हुआ—इन्द्रिय, अर्थ के साथ सन्निकर्ष द्वारा अर्थज्ञान को उत्पन्न करता है। फलतः इन्द्रिय 'प्रमाण' और उससे हुआ वस्तुज्ञान उसका फल है।

यह व्यवस्था—सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष प्रमाण मानने में भी समान है। क्योंकि इन्द्रिय रहने पर भी यदि सन्निकर्ष न होगा, तो वस्तुज्ञान असम्भव है। इसलिए 'प्रत्यक्षप्रमाण' होने में सन्निकर्ष को प्रधानता मिलनी चाहिये। वह वस्तु-ज्ञान द्वारा हान आदि बुद्धि को उत्पन्न करता है। इसप्रकार सन्निकर्ष प्रत्यक्षप्रमाण, वस्तु-ज्ञान व्यापार और हान आदि का ज्ञान फल है। वस्तुस्थिति यह है कि इसे कैसे भी समझाजाय, इससे प्रत्यक्षप्रमाण का स्वरूप स्पष्ट करना अभिप्रेत है। यह केवल वस्तुतत्त्व के उपपादन का प्रकारमात्र है। ज्ञान के प्रति साधनता इन्द्रिय और सन्निकर्ष दोनों में निहित है।

प्रत्यक्ष में मन की कारणता

यद्यपि सूत्र में केवल इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख है, पर इससे यह न समझना चाहिये कि प्रत्यक्षज्ञान के होने में इतना ही कारण है। क्योंकि ज्ञान आत्मा को होता है, तथा एक क्षण में एक ही ज्ञान होने के कारण उस ज्ञान में एक और आन्तर साधन मन है। इसप्रकार प्रत्येक बाह्य वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान तभी होता है, जब आत्मा का मन से, मन का इन्द्रिय से और इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष हो। क्योंकि आत्मा का मन से और मन का इन्द्रिय से सन्निकर्ष अनुमिति आदि प्रत्येक ज्ञान में हुआ करता है, इसलिए प्रस्तुत सूत्र में उन्हीं साधनों का निर्देश है, जो केवल प्रत्यक्षज्ञान में अपेक्षित हैं। इससे अनुमिति आदि ज्ञान के समानसाधनों का यहाँ निवारण नहीं होता।

प्रत्यक्ष के तीन विशेषण—प्रत्यक्षज्ञान के स्वरूप को स्पष्टरूप में समझने की भावना से सूत्र में तीन विशेषण पद दिये हैं। उनमें प्रथम है—'अव्यपदेश्यम्।' 'व्यपदेश' पद का अर्थ है—कथन करना, शब्द द्वारा किसी अर्थ का बोध कराना। जिस अर्थ का बोध कराना अभिप्रेत है, वह अर्थ 'व्यपदेश्य' कहाजायगा। आचार्य सूत्रकार का अभिप्राय है कि यहाँ वह प्रत्यक्षज्ञान अभीष्ट है, जो 'अव्यपदेश्य' हो, अर्थात् शब्द द्वारा जिसका बोध न कराया जासके।

अव्यपदेश्य-विशेषण—उदाहरण के रूप में समझिये, एक व्यक्ति पेड़ा, बर्फ़ी या रसगुल्ला खाता है। खाने पर जिसका वह अनुभव करता है, उसके लिए साधारण शब्द है—रस, और विशेष है—मधुर रस। प्रत्येक पेड़ा आदि उपभुक्त वस्तु में मधुररस का अनुभव होता है; परन्तु प्रत्येक वस्तु के माधुर्य में परस्पर अन्तर रहता है। भोक्ता व्यक्ति उस अनुभूति के लिए जिन पदों—रस अथवा मधुररस—का प्रयोग करता है, उससे अन्य किसी श्रोता व्यक्ति को उस माधुर्य का बोध अर्थात् अनुभूति नहीं करासकता, और न वह उस माधुर्य के परस्पर अन्तर का बोध करासकता है। रस, मधुर रस, अथवा विभिन्न रस आदि पदों से जो बोध श्रोता को होता है, वह केवल शाब्दिक है—शब्दप्रमाणजन्य। मधुर पदार्थ और रसन-इन्द्रिय के सन्निकर्ष से जो ज्ञान या अनुभव भोक्ता को होता है, वह उन शब्दों द्वारा श्रोता को होना सम्भव नहीं, जो शब्द भोक्ता—अपने अनुभव को अभिव्यक्त करने के लिए—बोलता है। इसीकारण भोक्ता का वह प्रत्यक्ष ज्ञान 'अव्यपदेश्य' है; शब्द द्वारा अबोध्य। यदि वह शब्द द्वारा बोध्य हुआ करता, तो 'मधुर' शब्द द्वारा माधुर्यरस की अनुभूति होजाया करती। फलतः इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान भोक्ता-प्रमाता को होता है, वह शब्दनिरपेक्ष है, अतः अव्यपदेश्य है। जो व्यपदेश्य है, वह शाब्दज्ञान है, प्रत्यक्षज्ञान नहीं।

इस मान्यता में यह परिस्थिति सुपुष्ट प्रमाण है—यदि किसी वस्तु के वाचक शब्दों को न जाननेवाले और जाननेवाले दोनों व्यक्तियों को मधुर आदि पदार्थ का उपभोग करायाजाय, तो उस रस की अनुभूति में कोई अन्तर न होगा। एक व्यक्ति—जब किसी वस्तु के वाचक शब्द को नहीं जानता, उस अवस्था में वस्तु के उपभोग से जिस रस का अनुभव करता है, वैसा ही अनुभव उसे तब होता है, जब वह उसके वाचक शब्द को जान लेता है। इससे स्पष्ट है, इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य वस्तु-ज्ञान में शब्द की अपेक्षा नहीं होती, इसीलिए वह ज्ञान शब्द द्वारा बोध्य नहीं। उस अर्थज्ञान के अवसर पर वाचक शब्द का कोई उपयोग नहीं होता। केवल बाह्य व्यवहार के लिए वाचक शब्द का प्रयोग कियाजाता है। लोकव्यवहार के लिए शब्द और अर्थ के वाचक-वाच्य सम्बन्ध को जानना आवश्यक है। यहाँ रहस्य यह है, कि उस अनुभूत्यात्मक अर्थज्ञान का—जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है—कोई ऐसा वाचक शब्द नहीं है, जिससे उसका तद्रूप बोध कराया जा सके। परन्तु किसी न किसी रूप में बोध कराये बिना लोकव्यवहार चल नहीं सकता। अतः उस अर्थ के लिए जो संज्ञाशब्द अथवा वाचक शब्द नियत है—रस या रूप; इन्हीं शब्दों के आगे 'इति' पद का प्रयोग करके उस ज्ञान को अभिव्यक्त कियाजाता है—'रस इति जानीते, रूपमिति जानीते।' अथवा—'रस इति ज्ञानम्, रूपमिति ज्ञानम्।' 'रस का ज्ञान है' अथवा 'रूप का ज्ञान है'। इसप्रकार अर्थवाचक रस-रूप आदि पदों के सान्निध्य से उस ज्ञान का अभिव्यञ्जन—लोकव्यवहारनिमित्त—करायाजाता है। फलतः इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न वह अर्थज्ञान अशाब्द—अव्यपदेश्य है।

अव्यभिचारी विशेषण—उस प्रत्यक्षज्ञान का दूसरा विशेषण है—'अव्यभिचारि'। अन्य पदार्थ में अन्य का ज्ञान होजाना व्यभिचारि-ज्ञान कहाजाता है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न ज्ञान, वही प्रत्यक्षज्ञान मानाजायगा, जो व्यभिचारि न हो। सायंकाल झुटपुटा होने पर मार्ग में पड़ी टेढ़ी-मेढ़ी रस्सी को देखकर पथिक भय के वातावरण में साँप समझलेता है। यह ज्ञान इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से अवश्य होता है; पर उपयुक्त प्रकाश के न होने और भय की भावना के उभरने से रस्सी में साँप का ज्ञान व्यभिचारि है। ऐसा ज्ञान उपयुक्त प्रकाश में भय की आशंका न रहने से नष्ट होजाता है। तब वहाँ 'यह रस्सी है' ऐसा अव्यभिचारि ज्ञान प्रत्यक्ष मानाजाता है।

इसीप्रकार गरम मौसम में जब नंगी मरुभूमि पर सूर्य की तीव्र किरण पड़ती हैं, और भूमि से ऊष्मा उभर रहा होता है, तब ऊष्मा और गतिशील किरण मिलकर दूरस्थित पुरुष को ऐसी दिखाई देती हैं, जैसे जल लहरें लेता बहरहा हो। यहाँ भू-ऊष्मा और किरणों के आपस में मिलने की परिस्थिति को

दूर से जल समझना व्यभिचारि-ज्ञान है। उस स्थान के समीप जाने पर जल-ज्ञान नहीं रहता, क्योंकि वहाँ उस रूप में जल का सर्वथा अभाव है। केवल रेत, हवा और गरमी का अनुभव होता है। जहाँ जिसका अभाव है, वहाँ उसका दीखना व्यभिचारि-ज्ञान है। यद्यपि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य है, पर व्यभिचारि होने से प्रत्यक्ष नहीं मानाजाता।

यदि सूत्र में उक्त ज्ञान का विशेषण 'अव्यभिचारि' न रक्खाजाता, तो व्यभिचारि-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष मानाजाता; तब यथार्थ में उस वस्तु के वहाँ न मिलने पर प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तित्व खतरे में पड़जाता। प्रमाणों में प्रत्यक्ष को महत्त्व इसी आधार पर दियाजाता है कि प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का ज्ञान होजाने पर उसमें आगे किसीप्रकार के सन्देह या न्यूनता का अवकाश नहीं रहता, जो व्यभिचारिज्ञान में सम्भव नहीं।

व्यवसायात्मक विशेषण—प्रत्यक्ष का तीसरा विशेषण है—'व्यवसायात्मकम्'। 'व्यवसाय' पद वि-अव उपसर्गपूर्वक 'षो अन्तकर्मणि' धातु से 'णः' [३। १। १४१] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। अथवा 'घञ्' [३। ३। १८] प्रत्ययान्त निष्पत्ति भी मानीगई है। दोनों प्रकार से अर्थ होगा—क्रिया का पूर्णरूप से सम्पन्न होजाना। ज्ञान के विषय में क्रिया की सम्पन्नता 'निश्चय' पर होती है। अतः यहाँ 'व्यवसाय' पद का अर्थ है—निश्चय, अवधारण, निर्धारण। यद्यपि व्यवसाय पद का प्रयोग विभिन्न प्रसंगों के अनुसार अनेक अर्थों में होता है, पर यहाँ उसका अर्थ केवल निश्चय है; ज्ञान का सर्वथा सन्देहरहित होना। ज्ञान के लिए जो क्रिया व्यवहृत होती है, उसका अन्त—'निश्चय' है। इसप्रकार व्यवसायात्मक पद का अर्थ हुआ—निश्चयात्मक। जो ज्ञान निश्चय के स्तर पर पहुँच जाता है, उसीको 'प्रत्यक्ष' मानाजाता है।

एक पथिक मार्ग में चलाजारहा है, साथ उसके अच्छी मोटी रक़म है। अभी उसका गन्तव्य लक्ष्य-स्थान कुछ दूर है, सायंकाल होचुका है, कुछ अंधेरा घिर आया है, दूर की वस्तु स्पष्ट दिखाई नहीं देती, इतने में वह अपने सामने थोड़ी दूर पर कुछ खड़ा देखता है। वह द्विविधा में पड़जाता है कि यह क्या है? यदि यह कोई व्यक्ति है, तो वह अवाञ्छनीय हो सकता है; सम्भव है, साथ में बँधी रकम पर आक्रमण होजाय, और जान भी मुफ़्त में जाय। यदि यह निश्चय होजाय, तो वापस लौटचलना अच्छा होगा। सम्भव है, यह कोई व्यक्ति न होकर सूखा ठूँठ खड़ा हो। यदि ऐसा हो, तो आगे बढ़जाने में कोई भय न होगा। वह इन दोनों में से किसी एक का निश्चय नहीं करपाता। कारण यह है कि कुछ अंधेरा झुक आने से व्यक्ति के हाथ-पैर-सिर आदि तथा ठूँठ के कोटर (खोखल) व टेढ़ापन आदि विशेषधर्म दिखाई नहीं दे रहे; जो दोनों के समानधर्म हैं—ऊँचाई, चढ़ाव-उतार आदि—वे दिखाई दे रहे हैं। इससे पथिक

द्विविधा में पड़ा है—वह इसे ठूँठ समझे या कोई व्यक्ति ? यह ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने पर भी निश्चयात्मक न होने से प्रत्यक्ष की कोटि में नहीं आता । यह संशयात्मक ज्ञान कहाजाता है। यदि 'व्यवसायात्मक' विशेषण न दियाजाता, तो ऐसा ज्ञान भी प्रत्यक्ष मानाजाता, जो दोषावह होता ।

ऐसे प्रसंगों के उदाहरण अनेक हैं। एक व्यक्ति मार्ग पर चलाजारहा है। दूर जाना था, साथ में दाल-चावल बँधे हैं। भूख उभर आई है; सोचता है, कहीं आग मिलजाती तो इन्हें पकाकर खालिया जाता, क्षुधा निवृत्त होजाती । इतने में एक ओर वह कुछ धुन्ध-सा उठता हुआ देखता है । उसे देखकर वह द्विविधा में पड़जाता है, कि क्या यह धुआँ है, या धूल उड़रही है ? ऐसा ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होने पर भी व्यवसायात्मक नहीं है, संशयात्मक है; अतः यह प्रत्यक्ष नहीं मानाजायगा ।

व्यवसायात्मक विशेषण आवश्यक—सूत्र में कहा गया, व्यवसायात्मक ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य होता है। इससे यह न समझना चाहिये कि जो ज्ञान आत्ममनःसन्निकर्षजन्य है, वह अनवधारणात्मक-अनिश्चयात्मक होता है; प्रत्युत चक्षु से देखेजाते हुए पदार्थ का भी द्रष्टा कभी-कभी निश्चय नहीं करपाता। जैसे चक्षु द्वारा अवधारण किये अर्थ का मन से अवधारण होता है, ऐसे ही चक्षु से अनवधारण किये अर्थ का मन से अनवधारण होता है। इन्द्रिय से जैसा अनवधारणात्मक ग्रहण होगा, मन से वैसा ही अनवधारणात्मक मनन होगा । ऐसी दशा में जब वहाँ विशेष धर्म जानने की अपेक्षा रहती है, तभी वह संशय का स्वरूप बनता है; उसेप्रत्यक्ष नहीं कहाजासकता। फलतः जो यह समझता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान निश्चयात्मक ही होता है, अतः सूत्र में 'व्यवसायात्मकम्' विशेषण अनावश्यक है, ऐसा समझना सर्वथा असंगत होगा ।

प्रमा-अप्रमा—यह समझरखना चाहिये, प्रत्यक्ष के विषय में सर्वत्र इन्द्रिय के द्वारा अर्थ के साथ सन्निकर्षरूपव्यापार आवश्यक है। कोई द्रष्टा इन्द्रिय-साधन के विना बाह्य विषय का प्रत्यक्ष करने में समर्थ नहीं होता, वह प्रत्यक्ष-ज्ञान चाहे यथार्थ हो, या अयथार्थ। यथार्थज्ञान को 'प्रमा' और अयथार्थज्ञान को 'अप्रमा' कहाजाता है। संशय और विपर्यय-ज्ञान 'अप्रमा' के अन्तर्गत आते हैं। यद्यपि इसकारण सूत्र की भावना के अनुसार उनके लिए 'प्रत्यक्षज्ञान' पद का प्रयोग नहीं होना चाहिये, परन्तु प्रमा-अप्रमा दोनों में इन्द्रियव्यापार समान होने से ये 'अप्रमा' के लिए भी औपचारिक रूप से केवल व्यवहार में 'प्रत्यक्षज्ञान' पद का प्रयोग कर दिया जाता है। वस्तुतः 'प्रमा' ही प्रत्यक्षज्ञान है, इसीलिए प्रमा के करण-साधन को 'प्रमाण' मानाजाता है। ऐसी दशा में इन्द्रियद्वारा गृहीत अनवधारणात्मक ज्ञान अथवा अप्रमारूप ज्ञान भी प्रत्यक्षकोटि में न आजाय, इसीलिए सूत्र में 'व्यवसायात्मकम्' विशेषण दिया गया है। उक्त मान्यता में यह

एक सुपुष्ट प्रमाण है कि जिन व्यक्तियों का कोई इन्द्रिय नष्ट होजाता है, उनको मन के रहते हुए भी नष्ट-इन्द्रिय के विषय का मन द्वारा अनुव्यवसाय-अवधारण नहीं होता। अतः निश्चय करना बुद्धि अथवा मन का धर्म होने पर भी मन उसी विषय का मनन-अनुव्यवसाय करता है, जो बाह्येन्द्रिय द्वारा गृहीत हो। इसीकारण अन्धे को रूप का एवं पूर्ण बधिर को शब्द का अनुव्यवसाय—मन की विद्यमानता में भी—नहीं होता।

आत्मा का प्रत्यक्ष मन के द्वारा—जिज्ञासा—सूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान को प्रत्यक्षज्ञान कहागया है ! परन्तु मुख्य प्रमेय आत्मा और उसके सुख आदि गुणों का ज्ञान चक्षु आदि इन्द्रियों के द्वारा नहीं होता। तब आत्मा आदि के प्रत्यक्षज्ञान का लक्षण भी बताना चाहिये। तात्पर्य है, चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियों द्वारा आत्मा आदि प्रमेय का प्रत्यक्ष न होने से उक्त लक्षण आत्मा आदि के प्रत्यक्ष में घटित न होगा; अतः यह लक्षण अव्याप्ति-दोष से दूषित होने के कारण अग्राह्य माना जाना चाहिये।

समाधान—चक्षु, श्रोत्र, त्वक्, रसन, घ्राण, ये पाँच बाह्य इन्द्रिय हैं। इनसे अतिरिक्त एक आन्तर इन्द्रिय 'मन' है। चक्षु आदि इन्द्रियों के वर्ग में सूत्रकार ने 'मन' का उल्लेख इनके परस्पर धर्मभेद के कारण नहीं किया। इन्द्रियाँ भौतिक हैं, भूतों से यथायथ इनकी उत्पत्ति होती है— पृथिवी से घ्राण, जल से रसन आदि। इसके अतिरिक्त प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत एक विषय को ग्रहण करता है, जैसे—घ्राण गन्ध को, रसन रस को, चक्षु रूप को, इत्यादि। बाह्य इन्द्रियों में विषयग्राहकता इन्द्रियों के गुणसहित होने पर ही रहती है, जैसे—चक्षु रूपविशिष्ट-रूपवाला होता हुआ ही रूप का ग्राहक होता है, तथा घ्राण गन्ध-विशिष्ट, एवं रसन रसविशिष्ट होता हुआ, आदि।

इन सबके विपरीत मन अभौतिक पदार्थ है, नित्य है, पृथिवी आदि किन्हीं भूतों से उत्पन्न नहीं होता। इसके अतिरिक्त चक्षु आदि इन्द्रियों के समान रूपादि नियत विषय का ग्राहक न होकर मन रूप-रस-गन्ध-स्पर्श आदि सभी विषयों का ग्रहण करता है। विषयग्रहण की क्षमता के लिए मन को गुणविशिष्ट [सगुण] मानना आवश्यक नहीं। रूप-रसादि गुणरहित भी मन रूप-रसादि गुणों के ग्रहण करने में समर्थ रहता है। बाह्य इन्द्रियों के साथ मन का यह भेद होने के कारण सूत्रकार ने इन्द्रियवर्ग में इसका पाठ यद्यपि नहीं किया, परन्तु यह एक आन्तर इन्द्रिय है, और इसीके द्वारा आत्मा आदि प्रमेय का प्रत्यक्ष होता है। इसप्रकार आत्म-प्रत्यक्ष के आत्म-मनःसन्निकर्षजन्य होने से, उसके लिए अन्य प्रत्यक्ष-लक्षण अनपेक्षित है। उक्त लक्षण में उसका समावेश होजाने से न लक्षणान्तर की आवश्यकता है, न प्रस्तुत लक्षण में किसी प्रकार का दोष है।

मन के अस्तित्व में प्रमाण — जिज्ञासा—मन कोई अतिरिक्त पदार्थ है, इसमें क्या प्रमाण है ?

समाधान—सूत्रकार ने अभी आगे सोलहवें सूत्र में मन के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए साधन का निर्देश किया है। वहाँ बताया है, चक्षु आदि सब इन्द्रियों का एक समय में अपने-अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष रहने पर भी सब विषयों का ज्ञान आत्मा को एक ही समय में नहीं होता। इसका कारण यही है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष रहता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आत्मा को होता है, अन्य इन्द्रिय के विषय का नहीं। तात्पर्य है, आत्मा को बाह्य विषय के ज्ञान के लिए आवश्यक है—बाह्य विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो, इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष हो, मन के साथ आत्मा का संयोग हो। इस शृंखला के पूरा होने पर बाह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होता है। इसमें मन का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अन्यथा अनेक विषयों का एक ही क्षण में ज्ञान होता रहना चाहिये। यही मन के अस्तित्व में प्रमाण है।

मन इन्द्रिय है—जिज्ञासा—यह ठीक है, सूत्रकार ने बाह्य इन्द्रियवर्ग में—धर्मभेद के कारण—मन का उल्लेख नहीं किया; परन्तु सूत्रकार ने मन के इन्द्रिय होने का अपने शास्त्र में क्या कहीं अन्यत्र उल्लेख किया है ?

समाधान—यद्यपि अपने शास्त्र में ऐसा उल्लेख नहीं हुआ, परन्तु अन्य शास्त्र [तन्त्रान्तर] में ऐसा स्पष्ट उल्लेख कियागया है।[1] उस मन्तव्य का यदि यहाँ प्रतिषेध नहीं है, तो उसे स्वीकार करने में कोई हानि नहीं[2] ॥ ४ ॥

अनुमान-प्रमाण लक्षण—प्रत्यक्षलक्षण के अनन्तर क्रमप्राप्त अनुमान के लक्षण का सूत्रकार ने निर्देश किया—

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानम्-पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतोदृष्टं च ॥ ५ ॥

[अथ] अनन्तर [तत्पूर्वकम्] प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला [त्रिविधम्] तीन प्रकार का [अनुमानम्] अनुमान-प्रमाण है। वे तीन प्रकार हैं—[पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्टम्] पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट [च] तथा।

---

१. द्रष्टव्य, सांख्यदर्शन, अध्याय २, सूत्र १७, १९, २६, ३२ ॥

२. भाष्यकार [वात्स्यायन] ने इस आशय का एक सन्दर्भ कौटलीय अर्थशास्त्र से यहाँ उद्धृत किया है—" 'परमतमप्रतिषिद्धमनुमतम्' इति हि तन्त्र-युक्तिः।" अर्थशास्त्र में 'तन्त्रयुक्ति' नाम का पन्द्रहवाँ अन्तिम अधिकरण है। उसमें ४६वीं संख्या पर उक्त सन्दर्भ है। वहाँ पाठ इसप्रकार है—'परवाक्यमप्रतिषिद्धमनुमतम्।'

प्रत्यक्ष लक्षण के अनन्तर अब अनुमान-प्रमाण का लक्षण बताते हैं—'तत्पूर्वकं अनुमानम्'। यहाँ लक्षण का स्वरूप केवल इतना है—'तत्पूर्वकम्'। 'अनुमानं' लक्ष्य पद है। लक्षण में 'तत्' पद प्रत्यक्ष का बोधक अथवा परामर्शक है। 'पूर्व' पद कारण का प्रत्यायक है। तात्पर्य हुआ—प्रत्यक्ष है कारण जिसका, ऐसा अनुमान प्रमाण होता है। अनुमान में कोई साध्य, हेतु एवं उदाहरण आदि को प्रस्तुत कर—सिद्ध कियाजाता है। यद्यपि अनुमान के प्रयोग में पाँच अवयवों [वाक्य खण्डों] का प्रयोग कियाजाता है, तथापि महत्त्वपूर्ण अवयव साध्यसिद्धि के लिए 'हेतु' होता है, उसीको 'साधन' कहाजाता है। यह नाम ही उसके महत्त्व का द्योतक है।

सूत्र में 'तत्' पदबोध्य प्रत्यक्ष से साध्य-साधन के परस्पर सम्बन्ध का प्रत्यक्ष एवं अनन्तर अनुमान-काल में साधन का प्रत्यक्ष होना अभिप्रेत है। साध्य-साधन के परस्पर सम्बन्ध को संक्षेप में 'व्याप्ति' कहाजाता है। अनुमान में सर्वप्रथम व्याप्ति का प्रत्यक्षज्ञान होना चाहिये। व्यक्ति महानस [रसोईघर, पाकशाला] में देखता है कि जब आग जलाई जाती है, तो उससे धुआँ अवश्य उठता है। इससे वह जानलेता है कि धुएँ का कारण आग है। धुआँ आग के विना हो नहीं सकता। ऐसा प्रत्यक्षज्ञान ही 'व्याप्तिज्ञान' है। इसे तार्किक भाषा में—'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इसप्रकार बोलाजाता है। जहाँ धुआँ है, वहाँ आग अवश्य है, क्योंकि आग के विना धुआँ होना सम्भव नहीं।

हेतु, साधन, लिंग ये पद एक ही अर्थ को कहते हैं, इसीप्रकार साध्य, लिंगी ये पर्याय पद हैं। साध्य और साधन अथवा लिंगी और लिंग के सम्बन्ध का उक्त प्रकार प्रत्यक्ष होजाने के अनन्तर प्रत्यक्षज्ञान की स्थिति तो नहीं रहती, उसका संस्कार [भावनाख्य] आत्मा में रहजाता है। ऐसा व्यक्ति, जिसने लिंग-लिंगी-सम्बन्ध का प्रत्यक्षज्ञान करलिया है, कभी जंगल में चलाजारहा है, उसे आग की आवश्यकता होती है। इधर-उधर दृष्टिपात करता हुआ चलरहा है। एक जगह उसे धुआँ उठता हुआ दिखाई देता है। उसको देखते ही वह संस्कार जागजाता है, जो महानस में हुए ज्ञान से आत्मा में उत्पन्न हुआ था। संस्कार के जागते ही साध्य-साधन के सम्बन्ध का स्मरण हो आता है। उस समय धुएँ के दीखने और साध्य-साधन के सम्बन्ध का स्मरण हो आने से उस व्यक्ति को वहाँ अग्नि का ज्ञान होजाता है। अनुमान-प्रमाण से हुआ यह ज्ञान 'अनुमिति-ज्ञान' कहाजाता है। अनुमान का प्रयोग इसप्रकार होगा—

अनुमान के पाँच अवयव

१. 'पुरःप्रदेशो वह्निमान्' सामने जगह आगवाली है। यहाँ 'आग' साध्य है, प्रदेश [जगह] अधिकरण है। साध्य के अधिकरण को तार्किक भाषा में

'पक्ष' कहाजाता है। प्रस्तुत शास्त्र की प्रणाली से अनुमान के पाँच अवयवों में यह 'प्रतिज्ञा' वाक्य है।

२. 'धूमात्'–वहाँ धुआँ दीखने से। यह हेतुवाक्य है। जहाँ धुआँ होता है, वहाँ आग अवश्य होती है, यह व्याप्ति का स्मरण है।

३. 'महानसवत्'–जैसे रसोईघर में। यह दृष्टान्तवाक्य है।

४. 'तथाचायम्'–वैसा ही यहाँ है, अर्थात् सामने धुआँ दिखाई देरहा है। इसे पाँच अवयवों में 'उपनय' वाक्य कहाजाता है।

५. 'तस्मात्तथा'–धुआँ वाला होने से यह प्रदेश अवश्य आगवाला है। यह पाँच अवयवों में 'निगमन' वाक्य है। इसके आधार पर वहाँ आग के होने का निश्चय होजाता है।

इसप्रकार वर्त्तमान में साधन-धूम के दीखने—और उससे लिङ्ग-लिङ्गी अर्थात् साध्य-साधन के सम्बन्ध की स्मृति—से अप्रत्यक्ष अर्थ 'अग्नि' का अनुमान द्वारा ज्ञान होजाता है। इस स्मृति का मूल वह प्रत्यक्षज्ञान है, जो प्रथम महानस आदि में साध्य-साधनसम्बन्ध का व्यक्ति को साक्षात् होता है। कोई अनुमान इसके विना हो नहीं सकता, इसलिए अनुमान के लक्षण में प्रत्यक्षपूर्वकता का प्राधान्य रहता है।

अनुमान के तीन भेद—अनुमान-प्रमाण—विशिष्ट वाक्य-प्रयोगों द्वारा किसी अदृष्ट अर्थ को जानलेने-समझलेने की एक पद्धति है, जिसका संक्षिप्त संकेत गत पंक्तियों में कियागया, तथा आगे क्रमानुसार[1] विस्तार के साथ कियाजायगा। ऐसे कतिपय आधारों पर अनुमान तीन प्रकार का मानागया है—पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट।

पूर्ववत्—यह पद 'मतुप्' प्रत्ययान्त, तथा 'वति' प्रत्ययान्त दोनों प्रकार निष्पन्न होता है। 'पूर्व' पद यहाँ कारण का बोधक है, क्योंकि कारण सदा कार्य से पूर्व विद्यमान रहता है। प्रथम प्रत्ययान्त के अनुसार अर्थ होगा—कारण-वाला। तात्पर्य हुआ—जहाँ कारण से कार्य का अनुमान हो। अनुमान का यह प्रकार 'पूर्ववत्' कहाता है, जैसे—उमड़ते-घुमड़ते बादलों को देखकर यह अनुमान होजाता है कि अभी आसन्न भविष्यत् में वर्षा होनेवाली है। यहाँ उन्नत-मेघ कारण और वर्षा कार्य है। कार्योन्मुख कारण से होनेवाले कार्य का अनुमान होजाता है। तन्तुओं के परिष्कृत आतान-वितान से उत्पद्यमान पट का अनुमान होजाता है। इन तन्तुओं में अब पट उत्पन्न होगा।

शेषवत्—पूर्व विद्यमान कारण की अपेक्षा से कार्य 'शेष' समझाजाता है, अतः यह 'शेष' पद कार्य का बोध कराता है। अर्थ हुआ—कार्यवाला, वह

---

१. **प्रथम सूत्र में परिगणित सोलह पदार्थों में से 'अवयव' नामक पदार्थ का क्रमप्राप्त विवरण [१।१।३२-३९] सूत्रों में प्रस्तुत है।**

कारण होगा। तात्पर्य है—जहाँ कार्य से कारण का अनुमान हो। अनुमान के इस प्रकार को 'शेषवत्' नाम दियाजाता है, जैसे—साधारण जलप्रवाह के विपरीत नदी का पानी बहुत चढ़ आया है; प्रवाह बहुत तीव्र है; जल, मिट्टी, सूखे पत्ते, कूड़ा-कबाड़ आदि मिला बहुत मलिन है; कभी पेड़ व झाड़-झंखाड़ भी बहे चले आरहे हैं; नदी के ऐसे प्रवाह से ऊपरी भागों में कहीं वृष्टि के होने का अनुमान होता है। नदीजल का वैसा प्रवाह कार्य तथा वृष्टि उसका कारण है। यहाँ कार्य से कारण का अनुमान होता है। धूम-कार्य से अग्नि-कारण का अनुमान भी इसका उदाहरण है।

सामान्यतोदृष्ट—इस पद के अंश 'समान' पद का अर्थ यहाँ 'एक' है। स्वार्थ में 'ष्यञ्' और सार्वविभक्तिक 'तसि' प्रत्यय द्वारा 'सामान्यतः' पद निष्पन्न होता है, जिसका अर्थ होगा—एकत्वेन दृष्ट। तात्पर्य है—विभिन्न प्रदेश में एकत्वेन दृष्ट व्यक्ति या पदार्थ जहाँ अदृष्ट अर्थ का अनुमान कराता है, वह अनुमान का 'सामान्यतोदृष्ट' नामक तीसरा प्रकार है, जैसे—गत वर्ष मैंने जिस देवदत्त को वाराणसी में देखा था, वही आज ग़ाज़ियाबाद मे विद्यमान है। वाराणसी में देखे देवदत्त का ग़ाज़ियाबाद में दीखना—हमारे लिए अदृष्ट—उसकी यात्राका अनुमान कराता है। यात्रा के विना देवदत्त का वाराणसी में दीखने के अनन्तर ग़ाज़ियाबाद में दीखना सम्भव नहीं; अतः कालान्तर से विभिन्न प्रदेश में किसी व्यक्ति या पदार्थ का दीखना उसकी यात्रा अथवा गति का अनुमान कराता है, जिसकी अनुमाता ने देखा नहीं है।

इसीप्रकार प्रातःकाल सूर्य पूर्व में दीखता है, मध्याह्न में ऊपर और सायंकाल पश्चिम में। एक ही सूर्य की यह स्थिति साधारणजन को उसकी गति का अनुमान कराती है। सूर्य की गति साधारणतया दीखती नहीं; एक सूर्य का विभिन्न प्रदेश में दीखना उसका अनुमापक है। भाष्यकार वात्स्यायन ने यह उदाहरण साधारण लोकव्यवहार के आधार पर प्रस्तुत किया है। 'सूर्य उदय हो रहा है, सूर्य कितना चढ़ आया है, अब सूर्य ढल रहा है, अब छिपगया है' इत्यादि व्यवहार सर्वत्र लोक में समानरूप से देखाजाता है। उसीके अनुसार भाष्यकार ने आदित्य-गति के अनुमान का उदाहरण दिया है।[1]

---

१. आधुनिक कतिपय व्यक्तियों के मुख से प्रायः ऐसा कथन सुनने में आता रहता है कि भाष्यकार वात्स्यायन को इतना भी पता न था कि सूर्य चलता भी है या नहीं? सूर्य की ऐसी स्थिति पृथिवी की गति के आधार पर प्रतीत होती है; ऐसा ज्ञान तात्कालिक भारतीय आचार्यों को नहीं था, इसीकारण आदित्य की गति का उल्लेख कियागया।

निवेदन है, जिन व्यक्तियों ने प्रथम इस बात को उछाला है, उनके पूर्वाचार्य पृथिवी को चपटा मानते रहे हैं। उसके समाधान में ही सूर्यगति

'पूर्ववत्' अनुमान का अन्य विवरण—उक्त पदों का व्याख्यान प्रकारान्तर से भी कियाजाता है—

पूर्ववत्—इस अर्थ के अनुसार 'पूर्ववत्' पद तुल्यार्थक 'वति' प्रत्ययान्त समझना चाहिये। अर्थ होगा—पहले के समान। तात्पर्य है, व्यक्ति महानस आदि में जैसे प्रथम अग्नि और धूम के सम्बन्ध को देखता है, तथा समझलेता है कि अग्नि के विना धूम नहीं हो सकता, उसीके समान जब वह व्यक्ति कहीं केवल धूम को देखता है तो उससे वह अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान करलेता है। यहाँ धूम साधन और अग्नि साध्य है—'धूमेन हेतुना अग्नेरनुमानं भवति।'

यह अनुमान दो प्रकार का होता है, एक—समव्याप्तिक, दूसरा—विषम-व्याप्तिक। पहला वह अनुमान होता है, जहाँ साध्य और साधन दोनों एक-दूसरे के साध्य व साधन होसकें। तात्पर्य है, साध्य-साधन दोनों का परस्पर व्याप्य-व्यापकभाव हो, जैसे—'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु से घट का 'अनित्यत्व' सिद्ध कियाजाता है—'घटः अनित्यः, उत्पत्तिमत्त्वात्'। यहाँ घट अधिकरण अथवा पक्ष में 'अनित्यत्व' साध्य है, 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु है। इसकी व्याप्ति होगी—'यो य उत्पत्तिमान् स सोऽनित्यः' जो उत्पन्न होने वाला पदार्थ है, वह अनित्य होता है। इसप्रकार व्याप्ति के कथन में व्याप्य का पहले और व्यापक का अनन्तर

का समाधान अन्तर्निहित है। वस्तुतः ज्योतिःशास्त्र का प्रकाण्ड वैदुष्य होने पर भी भाष्यकार को यहाँ शास्त्रीय विवरण प्रस्तुत करना अभिवाञ्छित नहीं है। वह केवल ऐसा उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता है, जो आ-पामर प्रसिद्ध एवं लोकव्यवहारसिद्ध है, जिसके आधार पर वह अदृष्ट अर्थ को जानने की एक प्रक्रिया को समझाना चाहता है। उसने सूर्यगति की स्थापना नहीं की। आज का गर्वीला वैज्ञानिक भी 'सूर्योदय' को यह नहीं कहता कि 'पृथिवी घूम गई है'। सतही बात को न लेकर हमें वस्तुस्थिति पर अधिक ध्यान देना चाहिये। वैसे लोकव्यवहार में इसप्रकार के अनेक उदाहरण देखे जासकते हैं, जैसे—यह सड़क दिनरात चलती है, यह रास्ता कहाँ जाता है ? यह मार्ग दिल्ली को जारहा है। न केवल अब, प्रत्युत सहस्रों वर्ष पूर्व के संस्कृत-साहित्य में भी ऐसे व्यवहार का अभाव नहीं है। 'एष पन्थाः स्रुघ्नं याति, अयं पन्थाः पाटलिपुत्रं याति' ऐसे प्रयोग साहित्य में उपलब्ध हैं। ऐसे ही जब व्यक्ति किसी नगर को जारहा होता है, तब उसके समीप पहुँचकर अनायास ये शब्द मुँह से निकलते हैं—अब दिल्ली आगया, आगरा आगया, कलकत्ता आगया, आदि। इसलिए भाष्यकार द्वारा दियेगये उदाहरण के आधार पर भाष्यकार की अज्ञानता को समझना अपनी अज्ञानता का द्योतन करना है।

कथन कियाजाता है। यह एक व्यवस्था है—'व्याप्यस्य पूर्वं वचनं व्यापकस्य ततः परम्।' व्याप्ति के ऐसे निर्देश में हेतु अर्थात् साधन व्याप्य और साध्य व्यापक होता है।

उक्त उदाहरण में साध्य-साधन को परस्पर बदला जासकता है। साध्य को साधन अथवा व्यापक को व्याप्य, एवं साधन को साध्य, एवं व्याप्य को व्यापक मानकर व्याप्ति का निर्देश कियाजासकता है। पहले प्रयोग में 'अनित्यत्व' साध्य और 'उत्पत्तिमत्त्व' हेतु है। इसे बदलकर प्रयोग होगा—'घटः उत्पत्तिमान्, अनित्यत्वात्' यहाँ पहले प्रयोग का साध्य, साधन बनगया है, और जो साधन था, वह साध्य बनगया। उसीके अनुसार व्याप्ति का प्रयोग होगा—यो योऽनित्यः, स स उत्पत्तिमान्' जो पदार्थ अनित्य है, वह उत्पत्तिवाला होता है। इसप्रकार 'अनित्यत्व' और 'उत्पत्तिमत्त्व' दोनों धर्म समान व्याप्तिवाले हैं। इनमें से प्रत्येक एक-दूसरे का साध्य व साधन कहाजासकता है। इसलिए यह 'पूर्ववत्' समव्याप्तिक अनुमान मानाजायगा।

यह स्थिति 'धूम-अग्नि' के उदाहरण में नहीं है। यहाँ 'धूम' हेतु-साधन अर्थात् व्याप्य है, अग्नि साध्य अर्थात् व्यापक है। व्याप्तिनिर्देश की व्यवस्था के अनुसार पहले व्याप्य और पुनः व्यापक का निर्देश होगा—'यत्र धूमः, तत्र अग्निः' जहाँ धुआँ है, वहाँ आग अवश्य होती है। इसको बदलकर—'जहाँ आग है, वहाँ धुआँ अवश्य होता है' ऐसा निर्देश नहीं किया जासकता। अर्थात् यहाँ व्याप्य का व्यापक के रूप में और व्यापक का व्याप्य के रूप में निर्देश नहीं होगा; क्योंकि दहकते अंगारों में आग के रहते भी धुआँ नहीं रहता। इस कारण यह 'पूर्ववत्' 'विषमव्याप्तिक' अनुमान कहाता है।

'पूर्ववत्' अनुमान का व्यतिरेकी रूप में भी प्रयोग कियाजाता है। समव्याप्तिक पूर्ववत् अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति दिखाने के लिए साधनाभाव से साध्याभाव का निर्देश होगा, जैसे—अनित्यत्वसाध्य में उत्पत्तिमत्त्व हेतु है। जो उत्पत्तिवाला है, वह अनित्य है; यह अन्वयव्याप्ति है। व्यतिरेकव्याप्ति के लिए कहाजायगा—जो उत्पत्तिवाला नहीं है, वह अनित्य नहीं होता; जैसे—आकाश, आत्मा आदि। साध्य-साधन परस्पर उलटजाने पर भी हेत्वभाव से साध्याभाव का निर्देश होगा; जो अनित्य नहीं, वह उत्पत्तिवाला नहीं होता। उदाहरण पहले के समान। अन्वयव्याप्ति में उदाहरण के लिए सभी अनित्य पदार्थों—पट, मठ, कठ, जलादि—में से किसीका उल्लेख कियाजासकता है।

इस व्यवस्था के विपरीत विषमव्याप्तिक पूर्ववत् अनुमान में व्यतिरेकव्याप्ति दिखाने के लिए साधनाभाव से साध्याभाव का निर्देश न कर, साध्याभाव से साधनाभाव का निर्देश होगा। विषमव्याप्तिक 'धूम-अग्नि' के उदाहरण में अन्वयव्याप्ति के लिए धूम से अग्नि का होना बतायाजाता है—धूमसत्त्वे अग्नि-

सत्त्वम् । परन्तु व्यतिरेकव्याप्ति के लिए हेत्वभाव से साध्याभाव का निर्देश नहीं कियाजासकता। समव्याप्तिक अनुमान की व्यतिरेकव्याप्ति के समान यहाँ यह नहीं कहाजासकता कि—'जहाँ धुआँ नहीं होता, वहाँ आग नहीं होती'। यहाँ साध्याभाव से साधनाभाव का निर्देश होगा—'जहाँ अग्नि नहीं होता, वहाँ धुआँ नहीं होता'।

फलतः समव्याप्तिक और विषमव्याप्तिक दोनों प्रकार के पूर्ववत् अनुमान में अन्वयव्याप्ति का निर्देश समानरूप से होगा—हेतुसत्त्वे साध्यसत्त्वम् । परन्तु व्यतिरेकव्याप्ति के निर्देश में अन्तर होगा । समव्याप्तिक अनुमान में—हेत्वभावे साध्याभावः । विषमव्याप्तिक अनुमान में—साध्याभावे हेत्वभावः । ऐसा समझना चाहिये ।

'शेषवत्' का अन्य विवरण—शेषवत्—इस पद का अर्थ है, परिशेष, अर्थात् बचा हुआ । किसी पदार्थ के स्वरूप का निर्णय करने के लिए, अन्य विविध पदार्थों से उसके भेद का उपपादन करने पर जो पदार्थ शेष रहजाता है; अर्थात् जिसके साथ उसके भेद का वर्णन नहीं हुआ; वही स्वरूप उस पदार्थ का समझलिया जाता है। जैसे—शब्द के स्वरूप का निर्णय करने के लिए प्रसंग चलाया—शब्द सत् अर्थात् सत्तावाला है, और अनित्य है, यह जानलेने पर इतना निश्चय होजाता है कि शब्द न सामान्य (जातिरूप) होसकता है, न विशेष और न समवाय । क्योंकि इन पदार्थों में न सत्ता-जाति रहती है और न ये अनित्य हैं। इसलिए शब्द सत्ता जातिवाला और अनित्य होने से सामान्य, विशेष, समवाय इन पदार्थों से अलग होजायगा । सामान्य आदि से अतिरिक्त तीन पदार्थ और हैं—द्रव्य, गुण, कर्म । तब विवेचन करना होगा—शब्द द्रव्य है, गुण है या कर्म है ?

ज्ञात हुआ—शब्द द्रव्य नहीं होसकता, क्योंकि शब्द अनित्य है; जो अनित्य द्रव्य होते हैं, उनके समवायिकारण अनेक द्रव्य हुआ करते हैं । किसी भी अनित्य द्रव्य का समवायिकारण एक द्रव्य कभी नहीं होता। परन्तु शब्द का समवायिकारण केवल एक द्रव्य—आकाश है । अतः शब्द का द्रव्य मानाजाना सम्भव नहीं ।

शब्द, कर्म पदार्थ के वर्ग में भी नहीं आता, क्योंकि कर्म कभी दूसरे कर्म का कारण नहीं होता; अर्थात् कोई कर्म किसी अन्य कर्म को कभी उत्पन्न नहीं करता ।[1] इसके विपरीत शब्द अन्य शब्द का उत्पादक होता है। वक्ता के मुख से उच्चरित शब्द, श्रोता के श्रोत्रेन्द्रिय तक शब्द-सन्तति द्वारा पहुँचता है। मुखोच्चरित प्रथम शब्दसे समानजातीय शब्द आगे-आगे उत्पन्न होतेजाते हैं, और वह ध्वनि

---

१. 'कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते' वैशेषिकदर्शन, १ । १ । ११ ॥

इसप्रकार श्रोत्र तक पहुँच जाती है। अतः शब्द, शब्दान्तर का हेतु होने से कर्म के वर्ग में समावेश नहीं पाता। इसप्रकार द्रव्यादि पाँच पदार्थों से अतिरिक्त केवल एक पदार्थ शेष रहजाता है। उस वर्ग में असमावेश के लिए कोई हेतु न होने के कारण शब्द का समावेश गुण-वर्ग में मानलियाजाता है। इस परिशेष-अनुमान के आधार पर शब्द का गुण होना निश्चित होजाता है।

सामान्यतोदृष्ट का अन्य विवरण

सामान्यतोदृष्ट—प्रथम अनुमान का लक्षण बताया—'तत्पूर्वकम्' अर्थात् वह प्रत्यक्षपूर्वक-प्रत्यक्षहेतुक होता है, जिसका तात्पर्य है—साध्य और साधन के परस्पर सम्बन्ध का प्रथम प्रत्यक्ष होना। परन्तु कतिपय प्रसंग ऐसे हैं, जहाँ साध्य-साधनसम्बन्ध का प्रत्यक्ष नहीं होता। वहाँ किसी सामान्य से—अन्य की समानता से—अदृष्ट अर्थ का बोध करायाजाता है। ऐसा अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' पद से कहागया है। इसको स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दियाजाता है, जैसे—इच्छा आदि गुणों से आत्मा का अनुमान होता है। गुणों का यह समानधर्म है कि वे द्रव्याश्रित रहते हैं। प्रत्येक गुण किसी-न-किसी द्रव्य में समवेत रहेगा। गन्ध, रस, रूपादि गुण पृथिवी आदि द्रव्यों में समवेत रहते हैं। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख आदि गुण भी रूपादि के समान किसी द्रव्य में आश्रित रहने चाहियें। इनका जो आश्रय है, वही 'आत्मा' नामक द्रव्य है। इस-प्रकार रूपादि गुणों की समानता के आधार पर इच्छादि गुणों से—उनके आश्रय के रूप में—'आत्मा' सिद्ध होता है। यह 'सामान्यतोदृष्ट' नामक अनुमान का एक प्रकार है।

केवलान्वयि-अनुमान—नव्य न्याय की परम्परा में सूत्रपठित 'पूर्ववत्' पद केवलान्वयि अनुमान का; 'शेषवत्' केवलव्यतिरेकि का; तथा 'सामान्यतोदृष्ट' पद अन्वयव्यतिरेकि अनुमान का बोधक मानाजाता है। जिस अनुमान में केवल अन्वयव्याप्ति बने, वह केवलान्वयि; जिसमें केवल व्यतिरेकव्याप्ति बने, वह केवलव्यतिरेकि, और जिसमें उभयप्रकार व्याप्ति बने, वह अन्वयव्यतिरेकि अनुमान कहाजाता है।

केवलान्वयि का उदाहरण है—'घटोऽभिधेयः, प्रमेयत्वात्, पटादिवत्'। प्रत्येक पदार्थ के लिए अभिधा-वाचक पद की कल्पना कीजाती है; ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ प्रमाज्ञान का विषय मानाजाता है; अतः प्रत्येक पदार्थ अभिधेय व प्रमेय है। ऐसी स्थिति में किसी विशिष्ट पदार्थ को पक्ष [साध्याधिकरण] मानकर 'जो प्रमेय है, वह अभिधेय अवश्य होता है' [यत्र प्रमेयत्वं तत्र अभिधेयत्वम्] इस रूप में दोनों धर्मों की केवल अन्वयव्याप्ति बनसकती है। 'जो प्रमेय नहीं है, वह अभिधेय नहीं है' इस प्रकार इन दोनों धर्मों की

व्यतिरेकव्याप्ति को नहीं बोलाजासकता, क्योंकि इसका दृष्टान्त मिलना असम्भव है।

केवलव्यतिरेकि-अनुमान—केवलव्यतिरेकि का उदाहरण है—'पृथिवी इतरेभ्यो [जलादिभ्यो] भिद्यते, गन्धवत्वात्'। केवलव्यतिरेकव्याप्ति में 'हेतु' रूप से पक्षवृत्ति असाधारणधर्म का उपयोग कियाजाता है। वह धर्म पक्ष के अतिरिक्त और कहीं नहीं पायाजाता। पृथिवी पक्ष में 'गन्धवत्व' ऐसा ही हेतु है। इतरभेद [जलादि से पृथिवी का भेद] साध्य है। यहाँ 'जो गन्धवाला है, वह जलादि से भिन्न है' ऐसी अन्वयव्याप्ति नहीं बनसकती; क्योंकि इसका दृष्टान्त मिलना असम्भव है। जो गन्धवाला है, वह केवल पृथिवी है, और वह पक्ष है; पक्ष संदिग्ध साध्य का अधिकरण होता है; दृष्टान्त में सपक्ष का प्रयोग कियाजाता है, जो निश्चित साध्य का अधिकरण होता है। समस्त पृथिवी के पक्ष होने से सपक्ष का मिलना असम्भव है, क्योंकि पृथिवी के अतिरिक्त गन्ध अन्यत्र कहीं नहीं रहता। अतः यहाँ केवलव्यतिरेकव्याप्ति का आश्रय लिया-जाता है—'यदितरेभ्यो न भिद्यते, न तद् गन्धवत्, यथा जलादिकम्' जो जलादि से भिन्न नहीं है, वह गन्धवाला भी नहीं है। गन्धाभाव जलादि में निश्चित है, सन्दिग्ध नहीं। अतः व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर जलादि दृष्टान्त सम्भव हैं।

अन्वय-व्यतिरेकि-अनुमान—अन्वयव्यतिरेकि का उदाहरण है—धूम से अग्निका अनुमान। यहाँ उभयप्रकार व्याप्ति संभव है। 'जहाँ आग नहीं, वहाँ धुआँ नहीं होता' इस व्यतिरेकव्याप्ति में उदाहरण—'जलह्रद' आदि होगा। इसका विवरण प्रथम आचुका है।

इसका अन्य उदाहरण—'शब्दोऽनित्यः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' है। जो उत्पत्ति-धर्मक है, वह अनित्य है, जैसे घटादि पदार्थ; यह अन्वयव्याप्ति है। जो उत्पत्तिधर्मक नहीं है, वह अनित्य भी नहीं; जैसे आकाश आदि। यह व्यतिरेकव्याप्ति है।

'त्रिविध' सूत्रपद — जिज्ञासा—सूत्रकार ने जब अनुमान के तीन विभागों को 'पूर्ववत्' आदि नामनिर्देशपूर्वक अभिव्यक्त करदिया, तब उससे अनुमान का त्रैविध्य स्पष्ट होजाता है; सूत्र में 'त्रिविधं' पद का पाठ अनावश्यक प्रतीत होता है।

समाधान—अनुमान आदि प्रमाणों से अर्थ के निश्चय करने का क्षेत्र अति महान् व विस्तृत है, ऐसे विषय का लक्षण-निर्देश करने के लिए वस्तुतः सूत्रकार ने बहुत छोटे सूत्र की रचना की। उसे और अधिक लघु बनाने में सूत्रकार ने उस महान् क्षेत्र का सम्भवतः अनादर समझा; अतः सूत्र को और छोटा करने में उसने अपना आदरभाव प्रकट नहीं किया। सूत्रकार ने इस भावना को शास्त्र

में अन्यत्र शब्द [१।१।८], छल [१।२।११] आदि लक्षणों के प्रसंग पर अभिव्यक्त किया है। सिद्धान्तलक्षणप्रसंग [१।१।२७] में भाष्यकार ने 'स चतुर्विधः' ऐसा निर्देश किया है।[1]

अनुमान-प्रमाण के महान् विस्तृत क्षेत्र का होना इससे स्पष्ट होता है कि प्रत्यक्ष का क्षेत्र केवल वर्त्तमानकालिक है; अर्थात् प्रत्यक्ष की प्रवृत्ति मात्र वर्त्तमान पदार्थों में सम्भव है। इसके विपरीत अनुमान-प्रमाण की प्रवृत्ति अतीत, अनागत, वर्तमान सभी कालों में विद्यमान पदार्थों के ग्रहण करने में होती है। अर्थात् तीनों कालों में होनेवाले पदार्थों का ज्ञान अनुमान- प्रमाण द्वारा होना सम्भव होता है ॥ ५ ॥

उपमान-प्रमाण—क्रमप्राप्त उपमान का लक्षण सूत्रकार बताता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम् ॥ ६ ॥

[प्रसिद्धसाधर्म्यात्] जाने हुए साधर्म्य-सादृश्य से [साध्यसाधनम्] साध्य का साधन [उपमानम्] उपमान होता है।

तीसरा प्रमाण उपमान है। किन्हीं दो पदार्थों का साधर्म्य-सादृश्य पहले से ज्ञात होजाने पर उस सादृश्यज्ञान से, प्रथम अदृष्ट वस्तु के सामने आजाने पर उसके नाम का ज्ञान होजाना उपमान है। जैसे—एक वनवासी नगर में आया, वनवासी व्यक्ति वन के अनेक जानवरों और वहाँ उत्पन्न होनेवाली अनेक ओषधियों से परिचित होते हैं। नागरिक ने वनवासी से पूछा, क्या आप माषपर्णी और मुद्गपर्णी ओषधियों को पहचानते हैं? हमें आवश्यकता है, वन में जाकर लाना चाहते हैं; वहाँ उन्हें कैसे पहचानें? वनवासी ने कहा, आपने कभी उड़द और मूँग के पौधे को देखा है? नागरिक बोला, उन्हें अच्छी तरह जानता हूँ। वनवासी ने बताया—उड़द के पौधे के समान माषपर्णी और मूँग के पौधे के समान मुद्गपर्णी का पौधा होता है। इससे नागरिक को उड़द और माषपर्णी तथा मूँग और मुद्गपर्णी के परस्पर-सादृश्य का ज्ञान होजाता है। यह सादृश्यज्ञान शाब्दिक है, अर्थात् शब्दप्रमाणजन्य।

जब नागरिक अवसर पाकर जंगल में जाता है, तो वहाँ ढूंढने पर कुछ पौधे उसे उड़द और मूँग के पौधों के समान दिखाई देते हैं। उन्हें देखते ही वह

---

१. वस्तुतः आजकल मुद्रित पुस्तकों में भाष्यांश के रूप से निर्दिष्ट-पद सूत्र [१।१।२७] के अंश होने चाहियें। वहाँ भाष्यकार का सूत्रावतरणिका का पाठ—'तन्त्रभेदात्तु खलु'—इतना ही रहा होगा। यदि ऐसा न होता, तो भाष्यकार यहाँ छल और शब्द के साथ 'सिद्धान्त' का उल्लेख न करता।

पहले जाने हुए इनके सादृश्य का स्मरण होआने पर यह जानलेता है कि इस पौधे का नाम माषपर्णी और इसका मुद्गपर्णी है। पौधा उसे प्रत्यक्ष से दिखाई दे रहा है। यदि उसे पहले से उड़द और माषपर्णी के सादृश्य का ज्ञान न होता, तो उस पौधे को देखते हुए भी वह नहीं जानसकता था कि इस पौधे का नाम माषपर्णी है। इस संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान का साधन दोनों पौधों का सादृश्यज्ञान है। इसप्रकार सादृश्यज्ञान उपमान-प्रमाण और संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान-उपमिति उसका फल है। यदि संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान को उपमान-प्रमाण मानाजाय, तो उसका फल हान-उपादान-उपेक्षाबुद्धि होगा।

इसीप्रकार गो-गवयसादृश्यज्ञान से वनचारी गवय प्राणी के नाम का बोध होता है। उपमान-प्रमाण का उदाहरण-क्षेत्र अन्य प्रमाणों के समान विस्तृत न होने पर भी नितान्त न्यून नहीं है। दैनिक व्यवहार में—जाने न जाने—इसके अनेक प्रसंग आते रहते हैं। व्यापार तथा अन्य व्यवहार के क्षेत्र में वस्तु की शुद्धता, दृढ़ता आदि को समझने के लिए प्रायः इसीका आश्रय लियाजाता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि यह प्रमाण शब्दपूर्वक होने के साथ प्रत्यक्षपूर्वक भी है। पहला सादृश्यज्ञान शब्दप्रमाणमूलक है, और संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान में पहले वस्तु का दीखना प्रत्यक्ष है। यदि जिज्ञासु को उपमेय पदार्थ का प्रत्यक्ष न होगा, तो संज्ञासंज्ञिसम्बन्धज्ञान के होने का अवसर नहीं आसकता।

साधर्म्य के समान वैधर्म्यज्ञान से भी कभी-कभी वस्तु का बोध होजाता है। भैंसे के समान भारी-भरकम होने पर भी एक वनचारी प्राणी गैंडा की नाक पर सींग होता है, सिरपर नहीं। इस नाकपर सींग के वैलक्षण्य से गैंडा [खड्गमृग] की पहचान होजाती है॥ ६॥

शब्दप्रमाण—क्रमप्राप्त शब्दप्रमाण का लक्षण सूत्रकार बताता है—

आप्तोपदेशः शब्दः॥ ७॥

[आप्तोपदेशः] आप्त का उपदेश-कथन [शब्दः] शब्द नामक प्रमाण है।

किसी पदार्थ के साक्षात्कृतधर्मा पुरुष को आप्त कहाजाता है। साक्षात्कार का अर्थ है—जो वस्तु जैसी है, उसको उसीरूप में निश्चयपूर्वक जानना। ऐसा जानकर पुरुष जब उस वस्तु के विषय में अन्य व्यक्तियों को बताने के लिए प्रवृत्त होता है, तब वह उपदेष्टा है; उसका कथन शब्द-प्रमाण है। ऐसे पुरुष को 'आप्त' इस आधार पर कहाजाता है कि पदार्थ के उसप्रकार जानने का नाम 'आप्ति' है। यह पद 'आप्लृ व्याप्तौ' [स्वादिगण] धातु से निष्पन्न होता है, जिसका भाव है—पूर्ण जानकारी। उस 'आप्ति' के साथ अपने कार्य में प्रवृत्त होनेवाला पुरुष आप्त है।

यह लक्षण ऋषि, आर्य और म्लेच्छ, अर्थात् उत्तम विद्वान्, मध्यम साधारणजन तथा निकृष्ट अनपढ़ आदि सभी प्रकार के व्यक्तियों के लिए समान है। कैसा भी व्यक्ति अपने सीमित विषय में विशेष जानकारी रखने के कारण साक्षात्कृतधर्मा होने से 'आप्त' होता है। अपने विषय में उसका उपदेश-कथन शब्द-प्रमाण है। जगत् में सब प्रकार के व्यवहार इन्हीं प्रमाणों के आधार पर चलते हैं। न केवल विद्वानों व साधारण मनुष्यों में ही, अपितु पशु-पक्षियों में भी प्रमाणाधार- व्यवहार देखा जाता है। प्राणीमात्र में इन प्रवृत्तियों की उद्भावना सम्भव है ॥ ७ ॥

शब्दप्रमाण के भेद—शब्दप्रमाण-लक्षण के अनन्तर सूत्रकार ने शब्दप्रमाण के भेद का निर्देश किया—

स द्विविधो दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात् ॥ ८ ॥

[सः] वह (प्रमाणभूत शब्द) [द्विविधः] दो प्रकार का है, [दृष्टाऽदृष्टार्थत्वात्] दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ होने से।

दृष्टार्थ शब्द—शब्दप्रमाण से जाने गए जिस अर्थ को इसी देह के साथ रहते, अथवा इसी जीवन में जानाजासके, वह 'दृष्टार्थ' शब्द-प्रमाण है। इसका तात्पर्य है—शब्दप्रमाण से जानेगये जिस अर्थ को प्रत्यक्ष प्रमाण से भी जानाजासके, वह दृष्टार्थ है; जैसे—किसी व्यक्ति ने किसी अन्य को कहा—वहाँ नदी-किनारे पेड़ पर पाँच फल लगे हैं। वक्ता पुरुष आप्त है, उसने फलों को पेड़ पर लगा देखा है। जब श्रोता पुरुष नदी-तट पर जाता है, यदि किसी ने इस बीच उन फलों को नहीं तोड़ा, तो वह उनको वहाँ देखता, व प्राप्त कर लेता है। वक्ता पुरुष का वैसा कथन दृष्टार्थ शब्दप्रमाण है। लोक में ऐसे व्यवहार की प्रचुरता है। व्यवहार का कोई विभाग ऐसा नहीं, जहाँ शब्दप्रमाण के इस आधार के विना अभिलषित कार्य को अनुकूलता के साथ सम्पन्न कियाजासके।

अदृष्टार्थ शब्द—अन्य प्रमाण के विना जो अर्थ केवल शब्दप्रमाण से जानाजाय, वह 'अदृष्टार्थ' शब्दप्रमाण कहाजाता है। यह शब्दप्रमाण का विभाग वस्तुतः वैदिक वाक्य और लौकिक वाक्य के आधार पर है। इस रूप में लौकिक वाक्य को 'दृष्टार्थ' और वैदिक वाक्य को 'अदृष्टार्थ' समझना चाहिए। जैसे—वैदिक वाङ्मय का विधिवाक्य है—'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' अथवा 'वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत'। इन वाक्यों से बोधित अर्थ—स्वर्ग की प्राप्ति अथवा स्वर्ग के प्रशासन की प्राप्ति—उस जीवन में सम्भव नहीं, जिसमें अग्निहोत्र अथवा वाजपेय का अनुष्ठान कियाजाता है। अनुष्ठान-जीवन में स्वर्ग या स्वाराज्य का प्रत्यक्ष न होने से यह वैदिक वाक्य 'अदृष्टार्थ' हैं।

यदि इस विभाग को न दिखाकर केवल एकरूप में शब्द को प्रमाण कहदियाजाता, तो साधारण लौकिक पुरुष—दृष्टार्थ होने से—लौकिक वाक्य पर विश्वास करता, केवल उसीको शब्दप्रमाण के रूप में स्वीकारता। सूत्रकार ने इस विभाग का यह प्रयोजन स्पष्ट किया कि केवल दृष्टार्थ वाक्य प्रमाण न होकर, अदृष्टार्थ वाक्य को भी प्रमाण मानाजाना चाहिए। जैसे लौकिकवाक्य-बोधित अर्थ को प्रत्यक्ष द्वारा जानाजासकता है, वैसे वैदिक्यवाक्यबोधित अर्थ को अनुमान द्वारा जानने का प्रयत्न कियाजासकता है ॥ ८ ॥

प्रमेय, द्वितीय पदार्थ—प्रमाणों के लक्षण और उपयुक्त विभाग-निर्देश के अनन्तर सूत्रकार इन प्रमाणों से बोध्य अर्थ का प्रमेयरूप में निर्देश करता है—

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभाव-फलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ ९ ॥

[आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गाः] आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग (ये बारह) [तु] तो [प्रमेयम्] प्रमेय हैं।

निर्दिष्ट बारह प्रमेयों मे मुख्य केवल आत्मा है। साधारणरूप से प्रत्येक पदार्थ प्रमेय होता है; प्रमा अर्थात् ज्ञान का विषय। परन्तु यहाँ अपवर्ग-प्राप्ति के प्रसंग में आत्मा का स्थान सर्वोपरि है; आत्मज्ञान से अपवर्ग की प्राप्ति सम्भव है। शरीर आदि ग्यारह प्रमेय सब आत्मसम्बन्धी पदार्थ हैं। आत्मा आदि समस्त प्रमेयों का विवरण स्वयं सूत्रकार ने आगे दिया है; संक्षेप में इसप्रकार समझना चाहिए।

आत्मा—चेतन तत्त्व सबका द्रष्टा व भोक्ता है। सब इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य समस्त विषयों के जाननेवाला है, क्योंकि वही सब विषयों का अनुभव करता है। इसी आधार पर आत्मा को कभी 'सर्वज्ञ' कहदियाजाता है।

शरीर—उसी आत्मा के भोगों का आधार है। तात्पर्य है, आत्मा इस स्थूल पार्थिव आदि शरीर में रहने पर सुख-दुःख आदि को भोगपाता है। यदि शरीर के बिना आत्मा को भोग प्राप्त होजाया करता, तो शरीर का होना, अर्थात् आत्मा का शरीर में भोगप्राप्ति के लिए आना निष्प्रयोजन था।

इन्द्रिय—आत्मा के भोग के लिए साधन हैं। इन्द्रिय पाँच हैं—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र। ये बाह्य इन्द्रिय कहलाते हैं।

अर्थ—आत्मा के भोक्तव्य विषय हैं। ये पाँच हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। ये यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों से ग्राह्य होकर आत्मा के भोग का विषय बनते हैं।

बुद्धि—वह भोग है, जो गन्धादि अर्थों-विषयों का आत्मा को अनुभव होता है।

मन—आन्तर इन्द्रिय है। बाह्य इन्द्रिय केवल एक नियत अर्थ का ग्राहक होता है, परन्तु आन्तर इन्द्रिय मन प्रत्येक विषय के ग्रहण में साधन है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होगा, उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण आत्मा करेगा। यदि मन इस अन्तराल में सक्रिय न रहे, तो प्रत्येक इन्द्रिय के अपने विषय के साथ उपस्थित होने पर एक समय में सब विषयों का ज्ञान होता रहना चाहिए, जो अव्यवहार्य व अनिष्ट है।

प्रवृत्ति और **दोष** वे हैं, जो शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, अर्थबोध, सुख, दुःख आदि की उत्पत्ति के कारण हैं। शरीर आदि की उत्पत्ति के मूल प्रवृत्ति और दोष हैं।

प्रेत्यभाव—मरकर होना, एक देह को त्यागकर देहान्तर का ग्रहण करना। आत्मा जिस शरीर में विद्यमान है, उससे पूर्व आत्मा किसी अन्य शरीर में नहीं रहा, अर्थात् उसका यह शरीर अपूर्व है, ऐसा नहीं है। न ऐसा है कि इस शरीर के छूट जाने पर आगे अन्य शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध न हो; अर्थात् यह शरीर अनुत्तर भी नहीं है। यह आत्मा के देह-ग्रहण का अनुक्रम अनादि काल से निरन्तर प्रवाहित है। इस प्रवाह के नैरन्तर्य का अवसान अपवर्ग-दशा में होता है। देह-ग्रहण का निरन्तर प्रवाह—प्रेत्यभाव है।

फल—वह उपभोग है, जो साधनों द्वारा सुख, दुःख आदि के रूप में आत्मा को प्राप्त होता है।

दुःख—वस्तुतः सुख का न होना, नहीं है; प्रत्युत सुख-साधनों के साथ जीवन प्राप्त करने—अर्थात् देहधारण करने—के क्षण से ही दुःख इसके साथ लगा रहता है। सुख के क्षणों में भी दुःख इसका पीछा नहीं छोड़ते। सुख के अत्यल्प क्षणों की प्राप्ति के लिए अनेक कष्टों व बाधाओं का सांमुख्य करना पड़ता है। सुख का कोई क्षण दुःखों से घिरा न हो, यह सम्भव नहीं। यह स्थिति विवेकी व्यक्ति को इस पर ध्यान देने की ओर प्रेरित करती है।

अपवर्ग—इसप्रकार सुख-दुःख की परिस्थितियों का एकाग्र मन से चिन्तन करता हुआ व्यक्ति उस दुःखसमूह से छूटने के लिए उद्विग्न होउठता है। यह उद्वेग उसे दुःखबहुल सुख-साधनों की ओर से खिन्न करदेता है। तब वह राग-द्वेषादि से रहित होकर अपवर्ग के पथ का पथिक बनजाता है। यह अपवर्ग जन्म-मरणप्रवाह के नैरन्तर्य का उच्छेद करदेता है। अपवर्गदशा में सबप्रकार के दुःखों का अभाव रहता है।

'आत्मा' आदि ही प्रमेय क्यों ?

यद्यपि 'द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय' नाम के—वैशेषिकप्रसिद्ध तथा प्रस्तुत शास्त्र के अभिमत-अन्य प्रमेय भी हैं; और उनके

अवान्तर भेदों से वे अपरिसंख्येय हैं; परन्तु यहाँ केवल आत्मा आदि का विशेष उपदेश इसीकारण कियागया है कि आत्मा आदि के तत्त्वज्ञान से अपवर्ग और मिथ्याज्ञान से संसार होता है; इसे यथायथ समझलियाजाय। वस्तुतः प्रस्तुत शास्त्र में 'आत्मा' आदि बारह के लिए 'प्रमेय' पद का प्रयोग पारिभाषिक-सा है। वैसे द्रव्यादि प्रमेयों में यहाँ पठित आत्मा आदि सबका समावेश है ॥ ९ ॥

आत्मा के लिंग—आत्मा आदि प्रमेयों में आत्मा का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष नहीं होता। तब क्या केवल आप्तोपदेश से उसका अस्तित्व स्वीकार करलेना चाहिए ? शिष्य की इस जिज्ञासा पर सूत्रकार ने अनुमानप्रमाण द्वारा उसकी प्रतिपत्ति के लिए निर्देश किया—

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् ॥ १० ॥

[इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानानि] इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान, [आत्मनः] आत्मा के [लिङ्गम्] चिह्न हैं, (परिचायक हैं)।

सार्वजनिक व्यवहार में यह देखाजाता है कि जब कोई व्यक्ति किसी पदार्थ के सम्बन्ध से सुख का अनुभव करता है, तो वैसे पदार्थ को पुनः देखकर वह उसको लेना चाहता है। जैसे—एक व्यक्ति ने मीठा आम चूसा, सुख का अनुभव किया। कालान्तर में वैसा आम देखकर उस व्यक्ति को उसे लेने की इच्छा होती है। यदि—पहले का रसास्वाद और अनन्तर का आम्रदर्शन—इन दोनों विषयों के पीछे दोनों का ग्रहण करनेवाला एक आत्मा न हो, तो जैसे देवदत्त के गृहीत विषय का यज्ञदत्त प्रतिसन्धान नहीं करसकता, ऐसे ही रसन इन्द्रिय से गृहीत रस का—आम को देखकर—चक्षु द्वारा प्रतिसन्धान सम्भव नहीं। दोनों इन्द्रिय नियतविषय हैं। रसन रस का, तथा चक्षु रूप का और रूपवाले द्रव्य का ग्राहक है। ये एक-दूसरे के विषय को ग्रहण करने में असमर्थ रहते हैं। ठीक ऐसे ही, जैसे चैत्र के द्वारा अनुभूत अर्थ का मैत्र को स्मरण नहीं होसकता। परन्तु चालू प्रसंग में रसन-इन्द्रिय से गृहीत रस का—चक्षु द्वारा वैसे आम्रफल को देखकर—स्मरण हो आता है, और उस फल को लेने की इच्छा होती है। इसका तात्पर्य है—चक्षु द्वारा फल को देखकर उसे लेने की इच्छा उसीको होती है, जिसने वैसे फल का प्रथम रसास्वाद ग्रहण किया होता है। इससे इन दोनों इन्द्रियों के विषय को ग्रहण करनेवाला, इन दोनों इन्द्रियों से अतिरिक्त जो तत्त्व है, वह आत्मा है। इस रूप में 'इच्छा' का होना आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

ऐसे ही जिस पदार्थ के सम्पर्क से किसी व्यक्ति ने दुःख पाया है, वैसे पदार्थ को जब वह व्यक्ति पुनः देखता है, तो उसके प्रति द्वेष की भावना अभिव्यक्त होजाती है; वह उससे दूर रहने का प्रयत्न करता है। यह सब—अनेक अर्थों के

द्रष्टा एक आत्मतत्त्व को स्वीकार किये विना—सम्भव नहीं। उदाहरण की प्रक्रिया पहले के समान समझलेनी चाहिए। इसप्रकार अनुभूत दुःखहेतु पदार्थ के प्रति द्वेष का उद्भव होना—इन्द्रियादि से अतिरिक्त—आत्मतत्त्व का साधक है।

अनुभूत सुखसाधन पदार्थों को देखकर व्यक्ति उनकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करता है। ऐसा प्रयत्न अनेक विषयों के द्रष्टा एवं प्रतिसन्धाता—एक तत्त्व के स्वीकार किए विना सम्भव नहीं। विभिन्न इन्द्रियाँ अपने नियत एक-एक विषय के ग्रहण कराने में सहयोगी होसकती हैं। स्वयं इन्द्रियों को द्रष्टा मानेजाने पर—एक देह में हुए ज्ञानका अन्य देह से प्रतिसन्धान न होने के समान—एक इन्द्रिय के ज्ञात विषय का अन्य इन्द्रिय द्वारा प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं। अतः यह प्रयत्न अनेक विषयों के द्रष्टा एक आत्मतत्त्व के अस्तित्व को देह में सिद्ध करता है।

सुखसाधन पदार्थों के आदान में प्रयत्न के समान, दुःखसाधन पदार्थों के परित्याग में प्रयत्न भी आत्मा का साधक है।

अनुभूत सुख और दुःख के स्मरण से जब व्यक्ति सुख-दुःखसाधनों को प्रयत्नपूवक जुटा लेता है, तब उनके उपभोग से सुख-दुःख को प्राप्त करता है। उदाहरण-प्रक्रिया पहले के समान समझलेनी चाहिए।

जब किसी विषय में व्यक्ति की जिज्ञासा होती है, तब उस विषय की विभिन्न कोटियों [कॉर्नरों=Corners=पहलुओं] के आधार पर वह विचार करता है, तथा विभिन्न सन्देह-कोटियों को पारकर जानलेता है यह अमुक वस्तु है। वस्तु का ऐसा ज्ञान प्रथम हुई जानने की इच्छा और विभिन्नकोटिक विचार करनेवाले—किसी एक द्रष्टा व कर्त्ता के अस्तित्व को सिद्ध करता है।

इच्छा आदि आत्मा के विशेष गुण—इसप्रकार इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, ये गुण—देहादि से अतिरिक्त—आत्मा के साधक हैं। इसका तात्पर्य है, इच्छा आदि गुण आत्मा के विशेषगुण हैं। प्रत्येक विशेषगुण अपने आधार [समवायी] द्रव्य का लक्षण होता है। जैसे पृथिवी का विशेषगुण गन्ध पृथिवी का लक्षण-ज्ञापक-बोधक-लिङ्ग होता है। इच्छा आदि को आत्मा का लिङ्ग बताकर सूत्रकार ने 'इच्छा आदि का समवायिकारण आत्मा है' यह आत्मा का लक्षण स्पष्ट किया है।

इच्छा आदि गुणों से भिन्न आत्मा—जो विचारक देहादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते, वे भी यह निर्विवाद मानते हैं कि एक देवदत्त-देह में अनुभूत किसी नियत विषय का—अन्य यज्ञदत्त-देह द्वारा—स्मरण व प्रतिसन्धान नहीं होसकता। जैसे भिन्न देहों में अनुभूत नियत विषय का परस्पर एक-दूसरे के द्वारा स्मरण या प्रतिसन्धान नहीं हो सकता, ऐसे ही एक देह में भिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत विषय का एक-दूसरे के द्वारा स्मरण व

प्रतिसन्धान होना सम्भव नहीं; क्योंकि दोनों जगह स्थिति समान है। इसका परिणाम होता है—अपने देखे का स्मरण या प्रतिसन्धान होता है, अन्य के देखे का नहीं; तथा उस विषय का स्मरण या प्रतिसन्धान नहीं होता, जिसको कभी जाना नहीं। जैसे एक व्यक्ति के विषय में यह स्थिति कहीजाती है, वैसे ही समस्त व्यक्तियों के विषय में समझनी चाहिये। अनात्मवादी इन दोनों अवांछित परिस्थितियों [अन्यदृष्ट तथा अदृष्ट दोनों] के समाधान की व्यवस्था करने में अक्षम रहता है। फलतः देह-इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त चेतन आत्मतत्त्व का अस्तित्व सिद्ध होता है ॥१०॥

'शरीर' का लक्षण—आत्मा के भोग के अधिष्ठान क्रमप्राप्त शरीर का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ ११ ॥

[चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः] चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों का आश्रय [शरीरम्] शरीर कहाजाता है।

सूत्र के 'आश्रय' पद का सम्बन्ध चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थ तीनों के साथ है। चेष्टा का आश्रय शरीर है। चेष्टा उस क्रिया व हरकत का नाम है, जो ज्ञान, इच्छा व प्रयत्नपूर्वक होती है। व्यक्ति इस बात को जानता है, कि अमुक वस्तु मेरे लिए सुखद व अमुक दुःखप्रद है। वह सुखद वस्तु को ग्रहण करने और दुःखप्रद को छोड़ने की इच्छा करता है। इसप्रकार से प्रेरित प्रयत्न होने पर जो वस्तु के आदान व परित्याग के लिए क्रिया होती है, उसका आधार 'शरीर' है। आत्मा शरीर में अधिष्ठित है, ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आत्मा के गुण हैं। इनके उभरने पर शरीर में जो क्रिया या हरकत होती है, उसका आश्रय 'शरीर' है।

चेष्टाश्रय—जब शरीर आत्मा से अधिष्ठित रहता है, तभी चेष्टा का होना सम्भव है। आत्मा से अनधिष्ठित देह-मृत देह आदि में, तथा जहाँ कभी आत्मा अधिष्ठित नहीं रहता, ऐसे साधारण जड़ पदार्थों में जो क्रिया होती है, उसका नाम 'चेष्टा' नहीं; वह केवल क्रिया है। वायु चलता है, पानी बहता है, लोक-लोकान्तर भ्रमण करते हैं, वायु-प्रेरित तृण, धूलिकण आदि उड़जाते हैं, मृत देह में परिवर्त्तन होते रहते हैं; यह सब क्रियामात्र है, 'चेष्टा' नहीं। चेष्टा का अस्तित्व आत्मा से अधिष्ठित शरीर में सम्भव होता है; इसी आधार पर शरीर का लक्षण 'चेष्टाश्रय' कहागया। इसीलिए शरीर में प्राण आदि की क्रिया को चेष्टा नहीं मानाजाता, क्योंकि इसमें ज्ञान-इच्छा-प्रयत्नपूर्वकता नहीं है।

'इन्द्रियाश्रय'—शरीर का अन्य लक्षण है। इन्द्रियों की अपने विषयों में प्रवृत्ति, शरीर-आधार के विना सम्भव नहीं। वैसे सूक्ष्म अतीन्द्रिय इन्द्रियाँ—

शरीरसम्बन्ध न होने पर भी—सदा आत्मा के साथ रहती हैं; परन्तु उनकी कार्यक्षमता—भोगसाधनता शरीर में विद्यमान होने पर सम्भव होती है। यदि शरीर-आधार के विना इन्द्रियाँ अपने कार्य में सक्षम होतीं, अर्थात् आत्मा के लिए भोग को सम्पन्न करसकतीं, तो फिर शरीर की अपेक्षा न रहती। कोई आत्मा भोगदशा को अशरीर रहता हुआ प्राप्त नहीं करसकता; सूक्ष्मातिसूक्ष्म कृमि-कीट आदि के भी स्वतन्त्र शरीर रहते हैं; चाहे उन्हें शक्तिशाली सूक्ष्म-वीक्षण यन्त्रों के सहयोग से भी न देखाजासके। क्योंकि इन्द्रियों की भोगसाधनता शरीर में ही सार्थक-सफल होती है, इसी आधार पर शरीर का लक्षण 'इन्द्रियाश्रय' कहागया है।

'अर्थाश्रय' भी शरीर का एक अतिरिक्त लक्षण है। 'अर्थ' पद का तात्पर्य यहाँ सुख-दुःख आदि का उपभोग है। इन्द्रिय और विषयों के सन्निकर्ष से उत्पन्न सुख-दुःख आदि का—जिस आयतन-आश्रय में—आत्मा को अनुभव होता है, वह शरीर है। यदि 'अर्थ' पद से सूत्र [१।१।१४] के अनुसार गन्ध, रस, रूप आदि इन्द्रियविषयों का यहाँ ग्रहण कियाजाय, तो भी भोग्य गन्धादि के सहयोग से होनेवाले सुख-दुःख आदि का अनुभव शरीर में सम्भव होने से पहले के समान ही तात्पर्य आता है। इस शास्त्र में 'भोग' पद का अभिप्राय वैषयिक सुख-दुःख आदि का प्राप्त होना है, जो शरीर में सम्भव मानागया है। इसीके अनुसार 'चेष्टा आदि का आश्रय' शरीरलक्षण सम्पन्न होता है॥ ११ ॥

इन्द्रियाँ-घ्राण आदि—क्रमप्राप्त भोगसाधन इन्द्रियों के विषय में सूत्रकार ने बताया—

घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १२ ॥

[घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणि] घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, ये [इन्द्रियाणि] इन्द्रिय हैं, जो [भूतेभ्यः] भूतों से (उत्पन्न व सम्बद्ध हैं)।

सूत्रकार ने सूत्र में घ्राण आदि इन्द्रियों का केवल नाम-निर्देश किया है, लक्षण नहीं बताया, जो प्रसङ्गानुसार बताना चाहिये था। वस्तुतः इस नाम-निर्देश में उस-उस इन्द्रिय का लक्षण अन्तर्निहित है। यह बात प्रत्येक इन्द्रिय-नाम के निर्वचन द्वारा स्पष्ट होजाती है।

'घ्राण' इन्द्रिय—'घ्राण' पद का निर्वचन है—'जिघ्रति अनेन इति घ्राणम्'—जिससे सूंघता है, अर्थात् गन्ध को ग्रहण करने का साधन। इससे घ्राण का लक्षण हुआ—'गन्धग्राहकं यदिन्द्रियं तद् घ्राणम्'। गन्धको ग्रहण करनेवाला जो इन्द्रिय है, वह घ्राण है। यहाँ 'ग्राहकता' से ग्रहणकर्त्ता होने में तात्पर्य नहीं है, प्रत्युत—इन्द्रिय का अर्थ से सन्निकर्ष होनेपर उसके [अर्थ के] ग्रहण—ज्ञान

होने में सहयोग की क्षमता अभिप्रेत है। घ्राण, गन्ध-ग्रहण अर्थात् गन्ध-ज्ञान का कर्त्ता नहीं है, केवल गन्ध-ज्ञान होने में सहयोग की क्षमता रखता है; यही उसमे गन्धग्राहकता का स्वरूप है।

जैसे घ्राण-इन्द्रिय का गन्ध-अर्थ से सन्निकर्ष होता है, ऐसे चक्षु-इन्द्रिय का गन्ध के साथ सन्निकर्ष सम्भव है, इसमें कोई बाधा नहीं; परन्तु चक्षु-इन्द्रिय में गन्ध-ज्ञान होने के लिए सहयोग की क्षमता नहीं है; इसलिए चक्षु-इन्द्रिय का उससे सन्निकर्ष होने पर भी वह [चक्षु] गन्ध-ग्राहक नहीं होसकता। अपने ग्राह्यविषय के प्रति यह विशेषता प्रत्येक इन्द्रिय में समानरूप से समझनीचाहिये।

'रसन' इन्द्रिय—'रसन' इन्द्रिय का लक्षण पहले के समान उसके नाम-निर्वचन से स्पष्ट होजाता है—'रसयति अनेन इति रसनम्।' चखता है जिससे, वह रसन है। तात्पर्य हुआ—'रसग्राहकमिन्द्रियं रसनम्।' इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर जो इन्द्रिय रस-ज्ञान में साधन होता है, वह 'रसन' है।

'चक्षु' इन्द्रिय—'चक्षु' इन्द्रिय का लक्षण भी उस नाम-पद के निर्वचन से स्पष्ट होजाता है—'चष्टे अनेन इति चक्षुः'। देखता है जिसके द्वारा, वह इन्द्रिय चक्षु है। यह पद 'चक्षिङ्' [अदादिगण] धातु से 'उस्' [उणा० २।११९] प्रत्यय होने पर निष्पन्न होता है। अदादिगणी यह धातु 'व्यक्तवाणी' और 'देखने' अर्थ में पठित है। तात्पर्य हुआ—रूप के देखने का जो इन्द्रिय साधन है, वह 'चक्षु' है—'रूपग्राहकमिन्द्रियं चक्षुः'।

'त्वक्' इन्द्रिय—'त्वक्' इन्द्रिय-नाम के निर्वचन में अन्यों से कुछ अन्तर है। 'त्वक्' पद तुदादिगणी 'त्वच संवरणे' धातु से क्विप् [पा० ३।२।१८०] प्रत्यय करने पर सिद्ध होता है। 'संवरण' का अर्थ है—अच्छी तरह ढकलेना। इस पद की निष्पत्ति तनादिगणी 'तनु विस्तारे' धातु से 'तनोतेरनश्च वः' [२।६३] इस उणादि सूत्र द्वारा निर्दिष्ट प्रक्रिया के अनुसार भी मानीजाती है। 'तन्' धातु के 'अन्' भाग को 'व' आदेश होकर 'चिक्' प्रत्यय का 'च्' अंश रहकर 'त्वक्' पद बनता है। इस धात्वर्थ के अनुसार 'त्वक्' का अर्थ होता है—फैला हुआ। निर्वचन के दोनों प्रकारों में तात्पर्य समान है—समस्त देह को ढकने वाले अथवा सारे देह पर फैले हुए चर्म [चमड़े] का नाम 'त्वक्' है। इसी आधार पर पेड़ की छाल को भी 'त्वक्' कहाजाता है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'त्वक्' एक इन्द्रिय का नाम इस आधार पर है कि उसका स्थान त्वक् अर्थात् देहावरण चर्म है। त्वक् में उसका स्थान होने से औपचारिक रूप में इन्द्रिय का नाम भी त्वक् कहदियाजाता है। जैसे शरीर में घ्राण का स्थान नासिका का अग्रभाग, रसन का स्थान जिह्वा का अग्रभाग, चक्षु का स्थान नेत्रगोलक का मध्यभाग समझाजाता है, ऐसे ही त्वक्-इन्द्रिय का स्थान समस्त-शरीरवर्त्ती त्वक् [चर्म] है।

इसके अतिरिक्त त्वक्-इन्द्रिय का अन्य नाम 'स्पर्शन' है। यह पद तुदादि-गणी 'स्पृश संस्पर्शने' धातु से करण कारक में ल्युट् [पा० ३।३।११७] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'स्पृशति अनेन इति स्पर्शनम्'—छूता है जिस इन्द्रिय के द्वारा, वह 'स्पर्शन' है। तात्पर्य हुआ—'स्पर्शग्राहकमिन्द्रियं स्पर्शनम्'। स्पर्श गुण का ग्राहक इन्द्रिय 'स्पर्शन' है।

'श्रोत्र' इन्द्रिय-'श्रोत्र' पद भ्वादिगणी 'श्रु श्रवणे' धातु से उणादि 'ष्ट्रन्' [४।१५६] प्रत्यय होकर निष्पन्न होता है। 'शृणोति अनेन इति श्रोत्रम्'—सुनता है जिसके द्वारा, वह इन्द्रिय श्रोत्र है। शब्द सुनाजाता है, इसलिए—'शब्दग्राहकमिन्द्रियं श्रोत्रम्' यह लक्षण श्रोत्र का स्पष्ट हुआ।

इस सबका तात्पर्य हुआ—अपने-अपने विषय को ग्रहण करना—प्रत्येक इन्द्रिय का लक्षण है। अर्थात् अपने कार्य के आधार पर उस-उस इन्द्रिय को पहचानलियाजाता है।

इन्द्रियों की रचना भूतों से—'भूतेभ्यः' पद यह प्रकट करता है कि इन्द्रियों की रचना भूतों से होती है। इसका तात्पर्य यह नहीं समझना चाहिये कि सब भूत मिलकर प्रत्येक इन्द्रिय को उत्पन्न करते हैं, अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय के उपादानकारण पाँचों भूत हैं; प्रत्युत प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न-भिन्न भूत से उत्पन्न होती है। नाना इन्द्रियों के नाना भूत उपादान-कारण हैं। सब इन्द्रियों का एक उपादान-कारण नहीं है। इसीके अनुसार प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय के ग्रहण कियेजाने में साधन होता है।

घ्राण इन्द्रिय का उपादानकारण पृथिवी-तत्त्व है, अतः घ्राण पृथिवी के विशेषगुण केवल गन्ध का ग्राहक होता है। इसीप्रकार जलीय इन्द्रिय रसन रस-गुण का, तैजस इन्द्रिय चक्षु रूप का और वायवीय इन्द्रिय त्वक् केवल स्पर्श का ग्रहण करता है।

'श्रोत्र' आकाशस्वरूप—पाँचवाँ इन्द्रिय 'श्रोत्र' उत्पन्न नहीं मानाजाता। समस्त कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में मूल उपादानकारण—पृथिवी आदि के चार प्रकार के—परमाणु होते हैं। आकाश नामक भूत व्यापक अथवा अमूर्त्त द्रव्य होने से किसी कार्य-द्रव्य का उपादानकारण नहीं होसकता। अतः द्रव्य श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न मानाजाकर 'आकाश-स्वरूप' स्वीकार कियागया है। इसीकारण सूत्र के 'भूतेभ्यः' पद का अर्थ करते हुए कोष्ठक में 'सम्बद्ध' पद दियागया है। तात्पर्य है—पृथिवी आदि से घ्राण आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति के समान, श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर केवल सम्बद्ध है। सम्बन्ध 'स्वरूप' ही है। तात्पर्य हुआ—श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशस्वरूप है॥ १२॥

'भूत' पृथिवी आदि—गत सूत्र में इन्द्रियों के उपादानकारण कहे गये भूत कौन-स हैं? सूत्रकार ने बताया—

पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १३ ॥

[पृथिवी] पृथिवी [आपः] जल [तेजः] आग [वायुः] वायु [आकाशम्] आकाश [इति] ये [भूतानि] भूत हैं।

दार्शनिक क्षेत्र में पृथिवी आदि पाँच पदार्थों का पारिभाषिक नाम 'भूत' है। शास्त्रीय परिभाषा के अनुसार सर्वत्र दर्शनों में उक्त पद से इन्हीं पाँच का ग्रहण होता है, दर्शनों के अतिरिक्त अन्य समस्त संस्कृत-वाङ्मय में इस परिभाषा को स्वीकार कियागया है।

सूत्र में भूतों के वाचक 'पृथिवी' आदि पद पृथक्-पृथक् पढ़े हैं। सूत्र की रचना—इन पदों का परस्पर समास करके होसकती थी, परन्तु ऐसा न कर सूत्रकार ने प्रत्येक संज्ञा शब्द को एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्ररूप से पढ़ा है। सूत्रकार इससे यह अभिव्यक्त करना चाहता है—गतसूत्र में 'भूतेभ्यः' पद से जो निर्देश किया गया है, कि घ्राण आदि इन्द्रियों की उत्पत्ति भूतों से होती है; उतने से यह निश्चय नहीं होपाता कि कौन-सी इन्द्रिय की उत्पत्ति किस भूत से होती है। उसमें यह सन्देह होसकता है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति सब भूतों से मिलकर होती हो, अथवा किसी इन्द्रिय की उत्पत्ति एकाधिक भूत से होती हो। इन सन्देहों की व्यावृत्ति और निश्चित अभिव्यक्ति की भावना से सूत्रकार ने 'पृथिवी' आदि वाचक पदों को पृथक् पढ़ा है।

तात्पर्य है, भूतसंज्ञक पृथिवी आदि पाँच तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र हैं। इनकी रचना में परस्पर इनका कोई सम्मिश्रण नहीं होता। इससे गत सूत्र में पठित घ्राण आदि इन्द्रियों के यथाक्रम पृथिवी आदि भूत कारण हैं; यह निश्चित होजाता है। घ्राण का कारण पृथिवी, रसन का कारण जल, चक्षु का कारण तेज, त्वगिन्द्रिय का कारण वायु है। वाचक पदों के पृथक् पाठ से आकाशीय श्रोत्र-इन्द्रिय की भिन्न स्थिति का भी निर्देश सम्भव है। घ्राण आदि इन्द्रियाँ पृथिवी आदि से उत्पन्न होती हैं, परन्तु श्रोत्र-इन्द्रिय आकाश से उत्पन्न न होकर आकाशस्वरूप है।

पृथिवी आदि के पृथक् एवं स्वतन्त्र पाठ में सूत्रकार का यह अभिप्राय भी अभिव्यक्त होता है कि इन भूतों की रचना एक-दूसरे से मिलकर नहीं होती, प्रत्युत अपने-अपने उपादान-तत्त्वों से स्वतन्त्ररूप में होती है। इससे समस्त भूतों में पञ्चीकरण तथा आंशिक सम्मिश्रण के समस्त कथन निराधार व असंगत समझने चाहियें। ॥ १३ ॥

'अर्थ' गन्ध आदि गुण—घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय ये हैं—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थाः ।। १४ ।।

[गन्धरसरूपस्पर्शशब्दाः] गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, यथाक्रम [पृथिव्यादिगुणाः] पृथिवी आदि के गुण हैं, और [तदर्थाः] उन घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं।

गन्ध, पृथिवी का गुण है। वह दो प्रकार का है—सुरभि और असुरभि। पार्थिव वस्तुभेद से इनके अनेक अवान्तर भेद सम्भव हैं।

रस, जल और पृथिवी दोनों में रहता है। जल में केवल मधुर रस, और पृथिवी में छह प्रकार का है—मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त। पार्थिव अंशों के सम्मिश्रण से अनेकत्र जल में भी अन्य खारी, कसैला आदि गुणों की प्रतीति होती है। वस्तुतः वह पार्थिव अंशों के गुणों का जल में प्रतीत होना भ्रम ही समझना चाहिये।

रूप गुण, तेज-जल-पृथिवी तीनों में रहता है। तेज में केवल भास्वर शुक्ल रूप है। जल में अभास्वर शुक्ल, तथा पृथिवी में रूप सात प्रकार का मानाजाता है—श्वेत, रक्त, नील, पीत, हरित, कपिश, चित्र। विभिन्न सम्मिश्रणों से इनके अनेक अवान्तर भेद सम्भव हैं।

स्पर्श गुण, वायु-तेज-जल-पृथिवी चारों में रहता है। वायु में केवल अनुष्णा-शीत-मृदु स्पर्श का अनुभव होता है। तेज में उष्णस्पर्श, जल में शीतस्पर्श तथा पृथिवी में अनुष्णाशीत-कठिन स्पर्श रहता है।

शब्द, केवल आकाश का गुण है। यह वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक दो प्रकार का है। पहला मानव-समाज द्वारा उच्चरित, शेष सब दूसरे प्रकार में आता है।[1]

गन्ध आदि गुण यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों के विषय हैं। सूत्र के 'अर्थ' पद का अर्थ 'विषय' है। तात्पर्य है, गन्ध आदि गुणों के ग्रहण करने में यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियाँ साधन होते हैं। गन्ध-ज्ञान में साधन घ्राण है, रस-ज्ञान में रसन, रूप-ज्ञान में चक्षु, स्पर्श-ज्ञान में त्वक् तथा शब्द-ज्ञान में श्रोत्र ।। १४ ।।

'बुद्धि' प्रमेय—आत्मा आदि चार प्रमेयों के विषय में कहकर सूत्रकार 'बुद्धि' प्रमेय के विषय में निर्देश करता है—

बुद्धिरुपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् ।। १५ ।।

[बुद्धिः, उपलब्धिः, ज्ञानम्] बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान, [इति] ये तीनों पद [अनर्थान्तरम्] एक ही अर्थ के वाचक हैं, विभिन्न अर्थों के नहीं।

---

१. गुणों का यह उल्लेख समानशास्त्र वैशेषिक के अनुसार किया है। इनका विस्तृत विवेचन व विवरण हमारे 'वैशेषिकदर्शन-विद्योदयभाष्य' में देखा जासकता है।

'बुद्धि' पद का निर्वचन दो प्रकार से होता है। एक—भाव अर्थ में क्तिन्' प्रत्यय द्वारा; दूसरा—करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय द्वारा। प्रस्तुत सूत्र में 'बुद्धि' पद भावार्थक क्तिन्-प्रत्ययान्त है—'बोधनं बुद्धिः'—जानना बुद्धि है। इस रूप में यह पद 'ज्ञान' का पर्यायवाचक होजाता है। 'उपलब्धि' पद भी ज्ञान का पर्याय है। इसप्रकार ये तीनों पद समान अर्थ के वाचक हैं। इन्द्रियार्थ-सन्निकर्षरूप प्रत्यक्ष, तथा अनुमानादि प्रमाणों के द्वारा आत्मा को जो विषय का 'बोध' होता है, वही बुद्धि, ज्ञान अथवा उपलब्धि है।

'बुद्धि' पद का निष्पादन अथवा निर्वचन जब करणार्थक 'क्तिन्'-प्रत्ययान्त होता है—'बुद्ध्यतेऽनया सा बुद्धिः'—जानाजाय जिससे, वह बुद्धि है; अर्थात् ज्ञान का साधन, तब 'बुद्धि' पद अन्तःकरण का वाचक होता है। दोनों अर्थों में पद की समान आकृति-भ्रम अथवा संशय की जनक सम्भव है; परन्तु पदों के निर्वचन की पद्धति भ्रम या संशय को टिकने नहीं देती।

अचेतन अन्तःकरण-बुद्धि का व्यापारमात्र है—ज्ञान। व्यापार साधनत्व-रूप है, बोद्धृत्वरूप नहीं। ज्ञान का बोद्धा तो चेतन आत्मा होता है। आत्मा बोद्धा के लिए बोध-ज्ञान का साधन होने से अन्तःकरण बुद्धि के चेतन होने की सम्भावना नहीं है। अन्यथा इन्द्रियादि पर भी यह आपत्ति आरोपित होगी। तब एक देह में अनेक चेतनों का भोक्ता-रूप से विद्यमान होना प्राप्त होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है। इसलिए यह निश्चित सिद्धान्त है—देह, इन्द्रिय आदि के समूह या संघात से अतिरिक्त एकमात्र चेतन आत्मा शरीर में भोक्ता अवस्थित रहता है।

प्रमेयों में पठित क्रमप्राप्त बुद्धि का लक्षण सूत्रकार को यहाँ कहना चाहिये था, पर यह न कहकर केवल पर्याय पदों के निर्देशरूप उपपत्ति-युक्ति के द्वारा सूत्रकार ने यह स्पष्ट किया है कि प्रस्तुत प्रसंग में 'बुद्धि' पद से ज्ञान-विषयी का ग्रहण करना चाहिये, ज्ञानसाधन बुद्धि-करण का नहीं। इससे प्रमेयपठित 'बुद्धि' का स्वरूप स्पष्ट होजाता है॥ १५॥

'मन' प्रमेय का लिङ्ग—प्रमेयपठित क्रमप्राप्त 'मन' को पहचानने के लिए सूत्रकार ने उसके लिङ्ग-लक्षण का निर्देश किया—

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्॥ १६॥

[युगपत्] एक-साथ [ज्ञानानुत्पत्तिः] ज्ञानों की उत्पत्ति न होना [मनसः] मन का [लिङ्गम्] लिङ्ग-चिह्न-लक्षण है।

यद्यपि स्मृति, अनुमान, शब्दप्रमाण, संशय, प्रतिभा (अचानक किसी ज्ञान का उभर आना), स्वप्नज्ञान, ऊहा-तर्क, संकल्प आदि तथा सुख, दुःख, इच्छा आदि के होने में बाह्य घ्राण आदि इन्द्रियों का कोई व्यापार (उपयोग) नहीं

होता, तब स्मृति आदि के होने में कोई साधन अवश्य मानना चाहिये। ऐसा आन्तर साधन केवल 'मन' होसकता है। ये सब परिस्थितियाँ मन के अस्तित्व को सिद्ध करती हैं। तथापि मन की सिद्धि के लिए अबाधित सुगम साधन है—घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा एक-साथ अनेक ज्ञानों का न होना।

तात्पर्य है, ज्ञान आत्मा को होता है। बाह्य अर्थ गन्ध आदि को जानने के लिए साधन हैं—घ्राण आदि इन्द्रियाँ। इन्द्रिय का अपने विषय के साथ सन्निकर्ष होनेपर आत्मा को उस विषय का ज्ञान होजाता है। जिस समय एक इन्द्रिय का अपने ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष रहता है, उसी समय अन्य इन्द्रियों का अपने-अपने विषयों के साथ सन्निकर्ष सम्भव है। ऐसी दशा में प्रत्येक इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान एक समय में होजाना चाहिये। सब इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान एक-साथ होना अनुभव के विपरीत है। गन्धज्ञान के समय रूपज्ञान नहीं होता, रूपज्ञान के समय अन्य रस, स्पर्श आदि का ज्ञान नहीं होता। इससे सिद्ध है, ऐसे ज्ञान के लिए इन्द्रिय से अतिरिक्त अन्य कोई एक साधन है, जो ज्ञान के होने में सहयोगी है। एक समय में जिस इन्द्रिय के साथ उसका सान्निध्य रहता है, उस समय में उसी इन्द्रिय के विषय का आत्मा को ज्ञान होता है; जिनके साथ असान्निध्य है, उन इन्द्रियों के विषय का ज्ञान नहीं होता। वही सहयोगी साधन 'मन' है।

एक समय में एक इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध होना सम्भव है, क्योंकि वह परिमाण की दृष्टि से अत्यन्त अणु है। उसका अनेक इन्द्रियों से एकसाथ संयोग होना सम्भव नहीं। अतः यदि ज्ञान के साधन इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अवसर पर मन-इन्द्रियसंयोग की उपेक्षा करदीजाय, तो एक काल में अनेक ज्ञान आत्मा को होते रहने चाहियें, जो नहीं होते। यह स्थिति 'मन' के अस्तित्व को सिद्ध करती है ॥ १६ ॥

'प्रवृत्ति' का लक्षण—प्रमेय पठित क्रमप्राप्त 'प्रवृत्ति' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥ १७ ॥

[प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति है [वाग्बुद्धिशरीरारम्भः] वाणी, बुद्धि, शरीर से कियागया आरम्भ = क्रिया।

प्रस्तुत सूत्र में 'बुद्धि' पद करणप्रत्ययान्त होने से 'मन' का वाचक है। इस प्रकार वाणी द्वारा, मन द्वारा तथा शरीर द्वारा की जानेवाली पाप-पुण्यरूप क्रियाओं का नाम 'प्रवृत्ति' है। जो कुछ हम वाणी, मन व शरीर द्वारा क्रिया चेष्टा आदि करते रहते हैं, वह सब प्रवृत्ति के अन्तर्गत आता है। ये क्रिया पापरूप या पुण्यरूप दोनों प्रकार की होती हैं, जिनमें दस प्रकार की पापरूप

तथा दस प्रकार की पुण्यरूप क्रियाओं का विवरण गत द्वितीय सूत्र की व्याख्या में कर दिया गया है ।। १७ ।।

'दोष' का लक्षण—प्रमेयपठित क्रमप्राप्त 'दोष' का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः ।। १८ ।।

[प्रवर्त्तनालक्षणाः] प्रवृत्ति के हेतु होना, जिनका लक्षण-स्वरूप है, ऐसे [दोषाः] दोष कहेजाते हैं ।

'प्रवर्त्तना' पद का अर्थ है—प्रवृत्ति का हेतु । प्रवृत्ति का कारण होना, दोष का स्वरूप है । दोष वह है, जो प्रवृत्ति करानेवाला है । मानव प्राणी जो प्रवृत्ति करता है, वह सब राग, द्वेष और मोह से प्रेरित होता है । संसार में कोई ऐसी क्रिया नहीं, जिसकी जड़ में रागादि प्रेरक न हों । जबतक तत्त्व-ज्ञान—अर्थात् आत्मा का साक्षात्कार ज्ञान—नहीं होजाता, ऐसे मिथ्याज्ञान की दशा में राग आदि उभरते हैं, और द्रष्टा आत्मा को पाप व पुण्य की ओर प्रवृत्त कराते रहते हैं । इसप्रकार साधारणरूप में राग-द्वेष-मोह को दोष समझना चाहिये ।

जिज्ञासा—प्रत्येक व्यक्ति राग-द्वेष-मोह के रूप में दोषों को जानता है; इनको लक्षण द्वारा निर्देश करने की क्या आवश्यकता थी ? 'रागद्वेषमोहा दोषाः' इस रूप में सूत्र कहदेना चाहिए था ।

समाधान—कौन व्यक्ति राग, द्वेष अथवा मोह से अभिभूत है, यह उनके कर्मों से जानाजाता है । राग से अभिभूत व्यक्ति वैसे कर्म करता है, जिनसे वह सुख अथवा दुःख भोगता है । वे कर्म राग से अभिभूत होकर किये गये हैं, यह उन कर्मों के द्वारा पहचाना जाता है । इसीप्रकार द्वेष और मोह से अभिभूत होकर कियेगये कर्मों के विषय में समझना चाहिये । तात्पर्य है—राग, द्वेष आदि की पहचान कर्ममूलक है, इसीकारण सूत्रकार ने कर्म-क्रिया-प्रवृत्ति के हेतुरूप में इनका निर्देशन किया है । यदि केवल नाम लेकर 'राग' आदि दोष कहदिये-जाते, तो प्रवृत्ति और रागादि का कार्यकारणभाव अभिव्यक्त न होता, जिससे अपेक्षित बात कहने से रहजाती । वह कथन न्यून होता । अतः सूत्र का उक्तरूप में निर्देशन सर्वथा उपयुक्त व पूर्ण है ।। १८ ।।

'प्रेत्यभाव' का लक्षण—क्रमप्राप्त प्रेत्यभाव प्रमेय का लक्षण कहा—

पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ।। १९ ।।

[पुनः] फिर [उत्पत्तिः] पैदा होना [प्रेत्यभावः] प्रेत्यभाव है ।

स्वयं 'प्रेत्यभाव' पद में यह भाव छिपाहुआ है । इस पद के दो भाग हैं—'प्रेत्य' और 'भाव' । पहला पद 'प्र'- उपसर्गपूर्वक 'इण्' धातु से 'क्त्वा' प्रत्यय

होकर निष्पन्न मानाजाता है। अर्थ है—प्रकृष्टरूप में यहाँ से जाकर। ऐसा जाकर, जो उसीरूप में फिर वापस न आवे; अर्थात् मरकर। दूसरे पद 'भावः' का अर्थ है—होना। तात्पर्य हुआ—मरकर फिर होना। एक शरीर को छोड़कर आत्मा का दूसरे शरीर को धारण करना या ग्रहण करना। आत्मा की ऐसी स्थिति को 'प्रेत्यभाव' पद से कहाजाता है।

आत्मा जन्म-मरण के क्रम में बँधा हुआ है। जन्म-मरण आत्मा का क्या है? किसी एक शरीर का उपादान 'जन्म' और उसका परित्याग 'मरण' है। अथवा कहना चाहिये—आत्मा का एक शरीर के साथ संयोग जन्म, और उस शरीर के साथ वियोग होजाना मरण है। जिस शरीर से आत्मा का वियोग हुआ है, वही शरीर आत्मा को फिर कभी प्राप्त होना असम्भव है। इसीकारण 'प्रेत्य' पद के अर्थ में यह रहस्य अन्तर्हित है कि उस शरीर को प्रकृष्टता के साथ—दृढ़ता के साथ—इसप्रकार छोड़दियाजाता है कि फिर उसे पाजाना सम्भव नहीं। इसप्रकार एक देह को छोड़कर देहान्तर का उपादान 'प्रेत्य-भाव' है।

सूत्र में 'पुनः' पद का पाठ सूत्रकार ने इस अभिप्राय से किया है कि एक देह को छोड़कर देहान्तर को ग्रहण करने का क्रम लगातार चलता रहता है, इसका कोई आदि या अन्त नहीं है। अन्तराल में कभी लम्बे विश्राम का होना सम्भव है। अन्यथा यह क्रम अनादि-अनन्त समझना चाहिए। इसीको 'पुनर्जन्म' कहाजाता है—मरकर फिर जन्म होना। यह निरन्तर जन्म-मरण का सिल-सिला अपवर्ग मिलने पर निश्चित समय के लिए विश्राम पाजाता है। ऐसा प्रेत्यभाव विभिन्न योनियों में कर्मानुसार बराबर चला करता है, यह समझना चाहिये ॥ १६ ॥

'फल' प्रमेय का लक्षण—प्रमेयपठित क्रमप्राप्त फल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ २० ॥

[प्रवृत्तिदोषजनितः] प्रवृत्ति और दोषों से उत्पन्न हुआ, जो [अर्थः] अर्थ-भोग है, वह [फलम्] फल है, 'फल' पद से व्यवहृत होता है।

सत्रहवें और अठारहवें सूत्रों में यथाक्रम प्रवृत्ति और दोषों का स्वरूप बताया है। राग, द्वेष आदि दोष प्रवृत्ति के मूल हैं। रागादि से प्रेरित होकर प्रवृत्त हुआ व्यक्ति पुण्य-पापरूप कर्मों का अनुष्ठान कियाकरता है। उनके अनुसार उसे सुख-दुःखरूप भोग प्राप्त होता है; इसीका नाम 'फल' है। इस-प्रकार के कर्म और उनके फलस्वरूप सुख-दुःख आदि भोग, देह-इन्द्रिय-अर्थ और मन आदि के विद्यमान रहने पर हुआ करते हैं। ऐसी स्थिति में यह

निश्चित समझे रहना चाहिये—फलोपभोग केवल शरीर आदि के साथ सम्भव है। आत्मा को गन्ध-रूप-रस आदि विषयों के संसर्ग से प्राप्त सुख-दुःख आदि का भोग आत्मा की देहरहित अवस्था में सम्भव नहीं। जिन कर्मों का फल प्राप्त कर लिया, वह समाप्त होगया, पूरा होगया, छूटगया; जो अभी छूटा हुआ है, अर्थात् जिन कर्मों का फल अभी प्राप्त नहीं हुआ है, वह अवसर आने पर प्राप्त होना है, वह उपादेय है। इसप्रकार कर्म-फलों के छूटते रहने और ग्रहण होते रहने का कहीं अवसान—अन्त—किनारा नहीं है। कर्मों के अनुष्ठान और फलों की प्राप्ति का यह अनुक्रम सर्वदा चला करता है। समस्त विश्व इसीपर परिचालित है; इस निर्बाध प्रवाह में संसार बहरहा है।

जिज्ञासा—दोष प्रवृत्ति का मूल है; और प्रवृत्ति से जनित अर्थ फल होता है; तब सूत्र में 'दोष' पद का पाठ व्यर्थ-सा लगता है; क्योंकि प्रवृत्ति होती ही दोषमूलक है, तब दोष स्वतः वहाँ उपस्थित होगा।

समाधान—सूत्रकार ने 'दोष' पद का सूत्र में पाठ इस भावना को अभिव्यक्त करने के लिए किया है कि दोष केवल प्रवृत्ति के कारण होकर भोग, आयु, जाति आदि के भी कारण होते हैं। दोषों की कारणता भोग आदि तक समझनी चाहिए। प्रवृत्तिजनन द्वारा दोष भोगादि को उत्पन्न किया करते हैं। भोग मुख्य फल है, शेष गौण हैं। देह-इन्द्रिय आदि की प्राप्ति फलरूप ही समझनी चाहिए। अतः सूत्ररचना साभिप्राय व निर्दोष है॥ २०॥

'दुःख' का स्वरूप—क्रमप्राप्त दुःख का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

बाधनालक्षणं दुःखम्॥ २१॥

[बाधनालक्षणम्] बाधनास्वरूप है [दुःखम्] दुःख।

बाधना, पीड़ा, ताप, दुःख, ये सब शब्द एक अर्थ को कहते हैं। वह अर्थ है—प्रतिकूल अनुभूति का होना। ये अनुभूतियाँ सांसारिक अथवा भौतिक पदार्थों के संसर्ग में आने पर हुआ करती हैं। यद्यपि वैषयिक अनुकूल अनुभूतियाँ भी भौतिक संसर्गों में होती हैं, परन्तु दुःख के हेयपक्ष में होने तथा संसार के दुःखबहुल होने से भौतिक संसर्ग में दुःख का निर्देश हुआ है। दुःखराशि से दृढ़तापूर्वक सम्बद्ध होने के कारण सांसारिक भोगों तथा उनके साधनभूत भोग्य पदार्थों को विवेकी व्यक्ति दुःखरूप समझता हुआ उनकी ओर से खिन्न व विरक्त होजाता है। भौतिक भोग्य पदार्थों की ओर उसका राग-आकर्षण नहीं रहता। इसमें दुःखों से छूटने की भावना प्रबल होजाती है। इसप्रकार अध्यात्म-मार्ग पर चलता हुआ व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार होजाने पर मोक्ष को प्राप्त करलेता है, जो मानव-जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है॥ २१॥

'अपवर्ग' का स्वरूप—जिस अवस्था में दुःखों का पूर्णरूप से अवसान होजाता है, उस अन्तिम प्रमेय अपवर्ग का सूत्रकार ने स्वरूप बताया—

तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ॥ २२ ॥

[तदत्यन्तविमोक्षः] उस दुःख से अत्यन्त छूट जाना [अपवर्गः] अपवर्ग है।

दुःखबहुल संसार में जो कभी सुख-कणिका उपलब्ध होती हैं, उनको भी दुःख की सीमा में समझलिया गया है। कारण यह है कि उस सुख-कण की उपलब्धि के लिए कष्टपूर्ण आयास करने पड़ते हैं। उन दुःखों को गौण कहागया है; सीधी प्रतिकूल अनुभूति मुख्य दुःख हैं। सूत्र में पठित 'तत्' सर्वनाम पद सबप्रकार के दुःखों का अतिदेश करता है। सांसारिक समस्त दुःखों का मोक्षदशा में अत्यन्त अवसान होजाता है। उस दशा में सांसारिक कष्ट की अत्यल्प मात्रा भी मुक्तात्मा को पीड़ित नहीं करती। दुःखों के अत्यन्त छूटजाने का यही तात्पर्य है।

सांसारिक दुःख की जड़ आत्मा का देहादि के साथ सम्बद्ध होना है, जिसे जन्म कहाजाता है। संसारदशा में यह जन्म-मरण का क्रम विना किसी बाधा के निरन्तर चलता रहता है। मोक्षदशा में जन्म-मरण का यह नैरन्तर्य बाधित होजाता है। आत्मसाक्षात्कार होजाने पर प्राप्त देहादि का यथासमय पतन होजाता है; आगे देहादि-प्राप्ति का नैरन्तर्य क्रम रुकजाता है। अपवर्ग के रहस्य को समझनेंवाले तत्त्वज्ञानियों ने इसीकारण इस अवस्था को अन्तहीन बताया है, क्योंकि वह अन्त चिन्तन की सीमा से बाहर चलाजाता है। उस दशा में आत्मा को न कोई भय है, न बुढ़ापा और मौत; ये सब भौतिक संसर्ग में होते हैं। वहाँ केवल परब्रह्म परमात्मा आनन्दमय प्रभु के आनन्दमात्र का अनुभव आत्मा को हुआ करता है।

भाष्यकार वात्स्यायन ने मोक्ष-विषयक एक विवेचन भाष्य में प्रस्तुत किया है—किन्हीं आचार्यों की यह मान्यता है कि परब्रह्म परमात्मा के समान जीवात्मा सर्वव्यापक—महान् तथा नित्य-सुखी—नित्यानन्दस्वरूप होता है। संसारी दशा में उसका नित्यसुख-स्वरूप तथा सर्वव्यापकता-महत्ता तिरोहित रहते हैं। मोक्षदशा में इनकी अभिव्यक्ति होजाती है, जिससे मुक्त दशा में आत्मा अत्यन्त सुखी रहता है। ऐसी मान्यता वेदान्त की किसी प्राचीन शाखा के अनुयायी आचार्यों की है।[1]

---

१. आचार्य शङ्कर ने जिस अद्वैत अथवा जीवात्मस्वरूप व ब्रह्मस्वरूप को उपपादित एवं पुष्ट किया है, उससे इस मान्यता में कुछ अन्तर है। इसके अतिरिक्त यह भी निश्चित है कि भाष्यकार वात्स्यायन आचार्य शङ्कर से पूर्वकालिक है। भाष्यकार के समय मोक्षविषयक जो मान्यता किन्हीं वैदान्तिक आचार्यों की रही होगी, उसीका भाष्य में निर्देश सम्भव है।

भाष्यकार का कहना है कि इस मान्यता में प्रत्यक्ष, अनुमान या शब्द आदि कोई साधक प्रमाण न होने से यह सर्वथा अप्रामाणिक है। भाष्यकार का तर्क है—यदि मोक्ष में आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्ति-संवेदन-ज्ञान आत्मा को होता है, उससे पहले ज्ञान नहीं था, तो उस ज्ञान के होने का हेतु बताना चाहिए, वह ज्ञान उस दशा में किन कारणों से उत्पन्न होजाता है ?

यदि ज्ञान को सुख के समान नित्य कहाजाय, और उसकी उत्पत्ति के कारणों को बताने से बचाजाय, तो संसारी और मोक्ष-दशा में कोई विशेषता नहीं रहती। सुख नित्य है, और उसका ज्ञान भी नित्य है, तो आत्मा को सदा सुख का अनुभव होते रहना चाहिये, चाहे आत्मा संसारीदशा में है, या मोक्ष-अवस्था में। तब संसार और मोक्ष दोनों समान होजाते हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना निरर्थक होगा कि मोक्ष में सुख की अभिव्यक्ति होजाती है; वह [अभिव्यक्ति-ज्ञान] तो नित्य है, उसके सदा बने रहने में कोई बाधा न होगी; तब किसी विशेष दशा में अभिव्यक्ति होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

इसके साथ यह अन्य आपत्ति है कि संसारीदशा में आत्मा को उसके किए कर्मों के अनुसार उसे वैषयिक सुख-दुःख होते रहते हैं। यदि मोक्षसुख और उसके ज्ञान को नित्य मानाजाता है, तो वैषयिक-सुख-दुःखों के साथ मोक्षसुख का अनुभव होते रहना चाहिये। तब संसार और मोक्ष दोनों का साथ-साथ चलना मानना होगा। मोक्ष व संसार का ऐसा यौगपद्य किसी प्रमाण से सिद्ध कियाजाना सम्भव नहीं है।

इस तर्क से बाधित होकर यदि मोक्ष में नित्यसुख के संवेदन-ज्ञान को अनित्य मानाजाता है, तो उसकी उत्पत्ति का कारण बताना चाहिये।

यदि कहाजाय, एक निमित्तविशेष के सहित आत्ममनःसंयोग उस ज्ञान का हेतु है, तो वह निमित्तविशेष भी बताना चाहिये—क्या है जिसके सहयोग से आत्ममनःसंयोग मोक्ष में नित्यसुख को अभिव्यक्त करता है ? यदि वह कोई विशेष धर्म है, तो उसका हेतु बताना चाहिए; वह धर्म कहाँसे आजाता है ?

बतायागया, वह धर्म योगसमाधि से उत्पन्न होता है। योगसमाधि के सिद्ध होजाने पर एक अतिशय शक्ति का उद्भव होजाता है, वही विशेष धर्म है, जिसके सहयोग से मोक्ष में आत्ममनःसंयोग होने पर आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्ति होजाती है।

यह व्यवस्था भी मोक्ष में आत्मा के नित्यसुखसंवेदन को सदा बनाए रखने में सफल नहीं है। कारण यह है कि जगत् के प्रलय होने की दशा में कार्यमात्र का नाश होजाता है; जो उत्पन्न तत्त्व है, वह चाहे कुछ भी हो, प्रलयकाल में उसका क्षय होजाना अवश्यम्भावी है। योगसमाधि से उत्पन्न हुआ वह शक्तिविशेष=धर्मविशेष भी कार्य है; प्रलयकाल में उसका नाश होजायगा।

तव निमित्तान्तर |धर्मविशेष| का सहयोग न रहने पर मोक्ष में आत्ममनःसंयोग आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्ति में असमर्थ होगा। मोक्ष में भी सुख का ज्ञान न होने की दशा में उस सुख के अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न हो जाता है—सुख का ज्ञान न होना, सुख की विद्यमानता में है, अथवा अविद्यमानता में? वस्तु की अनुपलब्धि कभी उसकी विद्यमानता में भी होजाती है, और अविद्यमानता में तो निश्चित है। इसप्रकार मोक्ष में सुख की अनुपलब्धि |असंवेदन-सुख का ज्ञान न होना| उसके अस्तित्व में सन्देह उत्पन्न करदेती है। फलतः इसमें कोई प्रमाण नहीं कि सुख का ज्ञान न होनेपर भी उसके अस्तित्व को स्वीकार कियाजाय।

यदि कहाजाय—योगसमाधिजन्य धर्म का नाश नहीं होता, तो यह सर्वथा अप्रामाणिक होगा; क्योंकि उत्पत्तिधर्मक प्रत्येक पदार्थ अनित्य-नश्वर होता है। मोक्ष में नित्यसुख के ज्ञान को सदा बनाए रखने के लिए यदि उस ज्ञान के हेतु को नित्य मानाजाता है, तो ज्ञानहेतु के नित्य होने से मोक्ष-सुख का ज्ञान सदा बना रहेगा; उस अवस्था में मोक्ष और संसार समान होजायेंगे; यह सर्वथा अप्रामाणिक व अवाञ्छनीय है, जैसा—गत पंक्तियों में प्रकट करदियागया है।

यदि कहाजाय—संसारदशा में आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध उस नित्यसुखज्ञान के हेतु का प्रतिबन्धक है, उसे अपना कार्य करने से रोक देता है, इस कारण संसारी दशा में नित्यसुखज्ञान उभरने नहीं पाता।–यह कथन भी युक्त नहीं है, क्योंकि शरीरादि सम्बन्ध तो उपभोग के लिए है; वही उपभोग में रुकावट डाले, यह कहना सर्वथा निराधार है। अशरीर आत्मा को कोई भोग होता है, इसमें प्रमाण का सर्वथा अभाव है।

कहाजासकता है, प्रमाण का अभाव नहीं है; क्योंकि मोक्ष के लिए प्रवृत्ति, वहाँ इष्टप्राप्ति की भावना से होती है। शास्त्रों में मोक्ष का उपदेश इष्टप्राप्ति की भावना से कियाजाता है। यह सब निरर्थक नहीं है। इस आधार पर मानना चाहिए कि मोक्ष में आत्मा के अशरीर होने पर भी वहाँ नित्यसुखज्ञान का उद्भव होता है। अन्यथा विवेकी व्यक्ति की प्रवृत्ति और शास्त्रीय मोक्षोपदेश दोनों व्यर्थ होंगे।

यह कथन भी पूर्ण प्रामाणिक नहीं है। विवेकी व्यक्ति की मोक्ष की ओर प्रवृत्ति और शास्त्रीय मोक्षोपदेश, दोनों वस्तुतः इष्टप्राप्ति के लिए न होकर अनिष्ट की समाप्ति के लिए होते हैं। कोई इष्ट इसीप्रकार के अनिष्ट से बिंधा हुआ न हो, यह सम्भव नहीं है। प्रत्येक इष्ट के साथ कुछ-न-कुछ अनिष्ट संपृक्त रहता है। अनिष्ट की समाप्ति के लिए प्रयत्न करते हुए पुरुष को इष्ट भी उसके साथ छोड़ना पड़जाता है। इनको अलग छाँटकर इष्ट को पकड़ना और अनिष्ट को छोड़ना सम्भव नहीं। संसार जन्म-दुःख-अनिष्ट है, इसको छोड़ने की

भावना ही मुमुक्षु की प्रबल रहती है, किसीको पकड़ने की नहीं। त्याग की परा-निष्ठा मोक्ष अथवा अध्यात्म का प्रशस्त मार्ग है। तब इष्ट की अभिलाषा स्वतः समाप्त होजाती है। त्याग और अभिलाषा-इच्छा साथ-साथ नहीं चलते।

यदि ऐसी कल्पना कीजाती है कि मुमुक्षु-दशा में इस दृष्ट अनित्य नश्वर क्षणिक सुख को छोड़कर व्यक्ति नित्यसुख की कामना से प्रवृत्त होता है, तो वह दृष्ट अनित्य देह-इन्द्रिय आदि को छोड़कर नित्य देह-इन्द्रिय आदि की कामना भी मुक्तिदशा में क्यों न करेगा? यदि ऐसी कल्पना मोक्षविषयक कीजायेगी, तो मोक्ष की निर्विकल्प एकात्मता के क्या कहने! फलतः मोक्ष में आत्मा के नित्यसुख की अभिव्यक्तिविषयक मान्यता नितान्त अशास्त्रीय है।

यदि कहाजाय कि देह-इन्द्रिय आदि के नित्य होने की कल्पना तो सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है, ऐसी कल्पना नहीं कीजासकती; तो ठीक इसीके समान नित्यसुख की कल्पना को भी प्रमाणविरुद्ध समझना चाहिए। वास्तविकता यह है कि मोक्ष में सांसारिक समस्त दुःखों के अत्यन्त अभाव होजाने की अवस्था को सुख पद से अभिव्यक्त करदियाजाता है। यदि कहीं शास्त्र में मोक्ष के लिए सुख अथवा आनन्दरूप होने का उल्लेख है, तो उसको इसी व्यवस्था के अनुरूप समझना चाहिये। दुःखोंके अभाव में सुख-शब्द का प्रयोग प्रायः लोक में सर्वत्र देखाजाता है।

इस विषय में एक और ध्यान देने की बात है। यदि मुमुक्षु नित्यसुख की कामना से अध्यात्मपथ पर प्रवृत्त होता है, तो यह निश्चित है कि उसे नित्यसुखविषयक राग निरन्तर बना रहेगा, तब उसे मोक्ष का प्राप्त होना असम्भव है; क्योंकि राग बन्ध का कारण होता है, वह मोक्ष के प्रतिकूल है। राग बन्धन का रूप होने से राग के रहते कोई मुक्त हो, यह सर्वथा अप्रामाणिक है, असंगत है।

यदि यह मानलियाजाता है कि मुक्त का नित्यसुखविषयक राग क्षीण होजाता है, और मोक्ष होने में प्रतिकूल नहीं रहता, तो मुक्त आत्मा को नित्यसुख अभिव्यक्त होता है, या नहीं होता; इन दोनों पक्षों में आत्मा की मोक्षप्राप्ति के लिए कोई अन्तर नहीं पड़ता। तात्पर्य है, वहाँ आत्मा यदि किसीप्रकार की अनुकूलता का अनुभव करता है, तो इसमें कोई अड़चन की बात नहीं है।

भाष्यकार ने स्वयं प्रस्तुतसूत्रव्याख्या की प्रारम्भिक पंक्तियों में अपवर्ग के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है—'अभयमजरममृत्युपदं ब्रह्मक्षेमप्राप्तिरिति।' अपवर्ग-अवस्था भय, जरा और मृत्यु से रहित है, तथा वह 'ब्रह्मक्षेम' की प्राप्तिरूप है। 'ब्रह्मक्षेम' ब्रह्मानन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं; उसकी प्राप्ति

होना अपवर्ग का स्वरूप है; यह भाष्यकार का अपना लेख है। इससे भाष्यकार की भावना के अनुरूप मोक्ष का स्वरूप स्पष्ट होता है।

सूत्रकार ने 'समस्त दुःखों की परम्पराओं से अत्यन्त छूटजाना' [तदत्यन्त-विमोक्षः] जो अपवर्ग बताया है, वह केवल इस भावना से है कि इसके विना ब्रह्मानन्दरूप मोक्ष का प्राप्त होना सम्भव नहीं होता, तथा समस्त प्रयत्न दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति के लिए कियाजाता है; यह होजाने पर ब्रह्मानन्द की अनुभूति अनायास होजाती है; उसके लिए अन्य प्रयत्न अपेक्षित नहीं होता। सूत्र-भाष्यकार आचार्यों के कथन में यही रहस्य है। फलतः दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति द्वारा ब्रह्मानन्द की अनुभूति होना अपवर्ग का वास्तविक स्वरूप है।

विभिन्न साम्प्रदायिक आचार्यों ने अपने विचारों के अनुसार विविधरूपों में अपवर्ग का उल्लेख किया है—

चार्वाक— मृत्यु अर्थात् देह का नष्ट होजाना मोक्ष है।

माध्यमिक— (शून्यवादी बौद्ध)—विज्ञानरूप आत्मा का उच्छेद होजाना।

योगाचार— (आदि अन्य बौद्ध)—समस्त दुःखवासनाओं का उच्छेद होनेपर विषयाकार विज्ञानसन्तति की समाप्ति से शुद्धविज्ञान-सन्तति का उदय होजाना।

जैन— आवरण का हट जाना।

शाङ्कर (वेदान्त)—जीवात्मा का अपने सच्चिदानन्दब्रह्मरूप में एकाकार होजाना।

रामानुज— जगत्कर्त्तृत्व को छोड़कर ब्रह्म के सर्वज्ञत्वादि समस्त कल्याण-गुणों की प्राप्ति के साथ वासुदेव के याथात्म्य का अनुभव मोक्ष है।

माध्व— जगत्कर्त्तृत्वादि को छोड़कर भगवज्ज्ञानाधीन दुःखहीन पूर्णसुख का अनुभव।

वाल्लभ— द्विभुज कृष्ण के साथ उसके अंशभूत जीवों का गोलोक में लीलानुभव करना मोक्ष है॥ २२॥

संशय का लक्षण—प्रथम सूत्र में उद्दिष्ट प्रमाणों का तीन से आठ तक सूत्रों में तथा प्रमेयों का नौ से बाईस तक सूत्रों में लक्षण-निर्देशपूर्वक वर्णन कियागया। अब क्रमप्राप्त तृतीय उद्दिष्ट पदार्थ संशय का लक्षण सूत्रकार बताता है—

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुप-लब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः ।। २३ ।।

[समानानेकधर्मोपपत्तेः] समान धर्मोंकी उपपत्ति (स्थिति) से, तथा अनेकधर्मों की स्थिति से, [विप्रतिपत्तेः] विप्रतिपत्ति से -विरुद्ध धर्मों की स्थिति से; [उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातः] उपलब्धि की अव्यवस्था—अनियम—से, अनुपलब्धि की अव्यवस्था से, [च] और [विशेषापेक्षः] विशेष (ज्ञान) की अपेक्षा रहते हुए, जो [विमर्शः] विमर्श = द्विकोटिक ज्ञान होता है, वह [संशयः] संशय कहाजाता है।

सूत्र में 'संशयः' लक्ष्यपद है। जिसका लक्षण सूत्र में कियागया है, वह इस पद से निर्दिष्ट है। यहाँ 'विमर्शः' लक्षण-पद है। यह संशय के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इस पद के 'वि' उपसर्ग का अर्थ है—विरोध। 'मृश्' धातु तुदादिगणी परस्मैपदी 'आमर्शन' अर्थ में पठित है। 'आमर्शन' का अर्थ स्पर्श—छूना है; तात्पर्य है—जानकारी के साथ किसी वस्तु तक पहुँचना, अर्थात् वस्तु को जानना। इसप्रकार उक्त धातु का अर्थ यहाँ 'ज्ञान' समझना चाहिए। फलतः संशय का स्वरूप हुआ—एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों का ज्ञान—द्विकोटिक ज्ञान होना। परन्तु संशय तभी उभरता है, जब विशेष ज्ञान की अपेक्षा हो; इसीलिए 'विशेषापेक्षः' विशेषण दियागया। यदि धर्मिविषयक विशेष को जानने की उत्कण्ठा जागृत नहीं होती, तो संशय के उत्पन्न होने का अवसर नहीं आता।

संशयोत्पत्ति की पाँच अवस्था—संशय उत्पन्न होने की पाँच अवस्था सूत्र में बताई हैं—समानधर्मोपपत्ति, अनेकधर्मोपपत्ति, विप्रतिपत्ति, उपलब्धि-अव्यवस्था, अनुपलब्धि-अव्यवस्था। इनका यथाक्रम विवरण इसप्रकार समझना चाहिये—

समानधर्मोपपत्ति—पुरोवर्त्ती धर्मी में ऐसे धर्मों का दीखना, जो समानरूप से दो धर्मियों में विद्यमान रहते हैं, उन समान धर्मों के दीखने पर व्यक्ति संशय में पड़जाता है कि ये धर्म दोनों धर्मियों में से कौन-से में दिखाई देरहे हैं। सायंकाल का झुटपुटा होजाने पर निर्जन प्रदेश से होकर कोई व्यक्ति चलाजा-रहा है। सामने उसे कुछ खड़ा हुआ दीखा। व्यक्ति के पास कुछ धन आदि वाञ्छनीय वस्तु हैं। सामने दिखाई देरहे धर्मों में पुरुष और स्थाणु (ठूँठ, पेड़ का सूखा खड़ा हुआ तना) दोनों के समानधर्म—'आरोह परिणाह'—चढ़ाव-उतार, लम्बाई-चौड़ाई आदि दीखरहे हैं; पुरुष के विशेषधर्म—हाथ, पैर, सिर आदि; तथा स्थाणु के टेढ़ापन, खोखर आदि दिखाई नहीं देरहे; पर पथिक उनको जानने की इच्छा कररहा है, जिससे स्थाणु-पुरुष दोनों धर्मियों में से एक का निश्चय करसके। यदि पुरुष का निश्चय होजाय; और उससे हानि का भय

हो, तो आगे न जाकर वापस लौटजाय; यदि स्थाणु का निश्चय होजाय, तो निर्भय होकर आगे चलाजाय। व्यक्ति सोचता है, मैं स्थाणु-पुरुष के समान धर्मों को देखरहा हूँ, विशेष धर्मों को नहीं देखसकरहा, ऐसी प्रतीति होना 'अपेक्षा' है। यही अपेक्षा—भय, आशंका आदि का सहयोग पाकर—संशय को जन्म देती है। इसप्रकार समानधर्मों की जानकारी पर विशेष की अपेक्षा होने से संशय का स्वरूप स्पष्ट होता है—यह पुरोवर्त्ती दृश्यमान धर्मी स्थाणु है अथवा पुरुष है? ऐसा द्विकोटिक संशयात्मक ज्ञान समानधर्मों की उपपत्ति—जानकारी से होता है।

अनेकधर्मोपपत्ति—सूत्र में 'अनेक' पद धर्मी का बोधक है। प्रत्येक धर्मी का कोई समानजातीय धर्मी होता है, कोई असमानजातीय। यह किसी धर्म-विशेष के आधार पर मानाजाता है। जैसा 'द्रव्यत्व' धर्म के आधार पर पृथिवी के समानजातीय धर्मी हैं—जल, तेज आदि; और असमानजातीय धर्मी हैं—गुण आदि, क्योंकि इनमें द्रव्यत्व धर्म नहीं रहता। इसप्रकार 'अनेक' पद यहाँ पृथिवी आदि का बोधक है। पृथिवी में एक धर्म है—गन्धवत्त्व। यह पृथिवी का विशेषधर्म है। समान-असमानजातीय सभी धर्मियों से पृथिवी को यह भिन्न रखता है। पृथिवी में गन्धवत्त्व-धर्म 'अनेकधर्म' कहाजायगा, क्योंकि यह पृथिवी को अनेकों (समान-असमानजातीयों) से पृथक् रखता है। पृथिवी में इस धर्म की विद्यमानता पृथिवी के विषय में यह सन्देह उत्पन्न करती है कि पृथिवी को द्रव्य मानाजाय, अथवा गुण या कर्म? क्योंकि 'गन्धवत्त्व का अभाव' जलादि द्रव्यों, गुण और कर्म तीनों में समान रूप से विद्यमान है। इसप्रकार अनेकधर्म अर्थात् किसी धर्मी का असाधारणधर्म उसकी किसी स्थिति के विषय में संशय का जनक होजाता है। यह उसी दशा में होता है, जब उस धर्मी के विषय में विशेष जानकारी की अपेक्षा हो।

भाष्यकार ने दूसरा उदाहरण प्रस्तुत प्रसंग में दिया—जैसे, शब्द में 'विभागजत्व' विशेषधर्म है। अन्य सभी द्रव्यादि से शब्द को यह भिन्न रखता है, द्रव्यादि से शब्द का यह भेदक व व्यवच्छेदक है। तब शब्द के विषय में यह संशय उत्पन्न होता है कि शब्द, द्रव्य-गुण-कर्म तीनों में से कौन-सा है? 'विभागजत्व'-धर्म का द्रव्यादि सभी धर्मियों में अभाव होने से शब्द को द्रव्य मानकर गुण-कर्म से भिन्न कहाजाय? अथवा गुण मानकर द्रव्य-कर्म से भिन्न कहाजाय? या कर्म मानकर द्रव्य-गुण से भिन्न कहाजाय? किसी एक के व्यवस्थापक धर्म को मैं उपलब्ध नहीं करपारहा हूँ, जिसे करना चाहता हूँ; द्रष्टा की ऐसी बुद्धि प्रकृत में 'विशेषापेक्षा' है, जो संशय की उत्पत्ति में प्रयोजक है।

विप्रतिपत्ति—इस पद में 'वि' का अर्थ है—विरुद्ध अथवा विरोधी। 'प्रतिपत्ति' का अर्थ है—ज्ञान। एक अधिकरण में विरोधी ज्ञान होना 'विप्रतिपत्ति'

है, जो संशय को उत्पन्न करता है। जैसे—कोई आचार्य कहते हैं—आत्मा है; अन्य आचार्य का कहना है—आत्मा नहीं है। यहाँ आत्मा एक अधिकरण में 'है और नहीं' ये दो विरोधी ज्ञान जब किसी तीसरे व्यक्ति के सामने आते हैं, तो उसे संशय होजाता है कि आत्मा है या नहीं ? क्योंकि 'होना' और 'न होना' दोनों विरोधी धर्मों का एक अधिकरण में रहना असम्भव है। इनमें से किसी एक धर्म का निश्चायक हेतु जबतक उपलब्ध नहीं होता, विशेष की अपेक्षा होने पर तबतक अनवधारणरूप संशय की स्थिति बनी रहती है।

उपलब्धि-अव्यवस्था—कभी यह देखाजाता है कि न होती हुई अर्थात् अविद्यमान वस्तु की उपलब्धि—प्रतीति होजाती है; जैसे—मरुमरीचिका में जल की प्रतीति; तथा नदी-तड़ाग आदि में विद्यमान जल की उपलब्धि होती है। अनन्तर किसी अवसर पर कोई वस्तु प्रतीत होने पर यह संशय उत्पन्न होजाता है कि यह प्रतीति मरुमरीचिका में जल के समान अविद्यमान की प्रतीति है, अथवा नदी आदि में जल के समान विद्यमान की ? विशेष की अपेक्षा होने पर जबतक विशेष के अवधारण (निश्चय) का कोई हेतु उपलब्ध नहीं होता, यह संशय बना रहता है। विद्यमान-अविद्यमान दोनों प्रकार की वस्तु का उपलब्ध होजाना, उपलब्धिविषयक अव्यवस्था का स्वरूप है।

अनुपलब्धि-अव्यवस्था—पूर्वोक्त के विपरीत कभी ऐसा होता है कि विद्यमान वस्तु की उपलब्धि नहीं होती, अर्थात् अनुपलब्धि रहती है। जैसे—विद्यमान भी वृक्षादि की जड़ दिखाई नहीं देती। दीवार में गढ़ी कील का अथवा भूमि में गड़े खूँटे आदि का बहुत-सा भाग दिखाई नहीं देता। भूमि के भीतर पानी भरा पड़ा है, पर दीखने में नहीं आता। यह विद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि है। अविद्यमान वस्तु, जो उत्पन्न नहीं हुई; अथवा उत्पन्न होकर नष्ट होचुकी है, उसकी अनुपलब्धि यथार्थ है। अनन्तर ऐसा होजाता है कि ढूंढने पर भी कभी वस्तु नहीं मिलरही होती। उस समय यह संशय होजाता है कि वस्तु की यह अनुपलब्धि वस्तु की अविद्यमानता में है, अथवा विद्यमान ही वस्तु दिखाई नहीं देरही ? वस्तु की विद्यमानता-अविद्यमानता दोनों अवस्थाओं में वस्तु की अनुपलब्धि, 'अनुपलब्धि-अव्यवस्था' का स्वरूप है।

प्रत्येक हेतु के अवसर पर विशेष जानकारी की अपेक्षा होना आवश्यक रहता है। इस ओर से व्यक्ति के उदासीन रहने पर संशय अवकाश नहीं पाता। यहाँ यह समझरखना चाहिए कि प्रथम कहे समानधर्म और अनेकधर्म ज्ञेय वस्तुगत रहते हैं, तथा अन्त में कहे गये उपलब्धि और अनुपलब्धि ज्ञाता व्यक्ति में अवस्थित रहते हैं। इन हेतुओं में साधारण समता रहने पर भी इसी विशेषता के कारण इनका पृथक् निर्देश कियागया है॥ २३ ॥

'प्रयोजन' का स्वरूप—अवसरप्राप्त प्रयोजन का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्त्तते तत् प्रयोजनम् ॥ २४ ॥

[यम्] जिस [अर्थम्] अर्थ को [अधिकृत्य] लक्ष्य कर [प्रवर्त्तते] प्रवृत्त होता है (कोई व्यक्ति) [तत्] वह (अर्थ) [प्रयोजनम्] प्रयोजन कहा-जाता है।

प्रत्येक व्यक्ति हानिकर तथा दुःखप्रद स्थिति से बचना चाहता है, तथा लाभकर व सुखजनक वस्तु को प्राप्त करना चाहता है। यह प्रतिकूल को छोड़ना तथा अनुकूल को पकड़ना व्यक्ति की प्रत्येक प्रवृत्ति का लक्ष्य होता है। सूत्र का 'अर्थ' पद इसी [छोड़ने-पकड़ने की] भावना को अभिव्यक्त करता है। इसीका नाम 'प्रयोजन' है, क्योंकि यही प्रवृत्ति का हेतु-प्रयोजक होता है। इसीको उद्देश्य बनाकर व्यक्ति किसी कार्य में प्रवृत्त हुआ करता है। सूत्रगत 'अधिकृत्य' पद के अन्तर्हित 'अधिकार' का तात्पर्य है—इस अर्थ को प्राप्त करूँगा, अथवा इसको छोड़ूँगा, ऐसा निश्चय। इसी निश्चय को उद्देश्य व लक्ष्य बनाकर व्यक्ति उसको सम्पन्न करने में प्रवृत्त होता है। इसप्रकार निश्चय किया हुआ अर्थ प्रवृत्ति का लक्ष्य बनजाता है। वही 'प्रयोजन' है।

संसार में प्रत्येक व्यक्ति सुख को प्राप्त करने और दुःख को छोड़ने के लिए प्रवृत्त रहता है, अतः सुखप्राप्ति व दुःखहानि को प्रयोजन समझना भी अयुक्त नहीं है। इसप्रकार पूर्वोक्त निश्चय के विषय—सुखप्राप्ति, दुःखहानि—को 'प्रयोजन' मानाजाय; यह भी शास्त्र से अनुमोदित है ॥ २४ ॥

'दृष्टान्त' का स्वरूप—क्रमप्राप्त दृष्टान्त का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥ २५ ॥

[लौकिकपरीक्षकाणाम्] लौकिक और परीक्षकों की [यस्मिन्] जिस [अर्थे] अर्थ में—विषय में [बुद्धिसाम्यम्] बुद्धि—जानकारी समान है [सः] वह (अर्थ) [दृष्टान्तः] दृष्टान्त होता है।

सूत्र के 'लौकिक' पद से समाज का साधारण जन विवक्षित है, जिसने स्वभावतः अथवा शिक्षा आदि के द्वारा ज्ञानातिशय प्राप्त नहीं किया। वे जन 'परीक्षक' कहेजाते हैं, जिन्होंने दोनों प्रकार ज्ञानातिशय को प्राप्त किया है; जो प्रमाण और तर्क आदि के द्वारा किसी विषय की परीक्षा करने में समर्थ होते हैं। जिस विषय को लौकिक और परीक्षक दोनों समानरूप से स्वीकार करें, वह दृष्टान्त-कोटि में आता है। तात्पर्य है, ऐसे विषय का उपयोग आगे वर्णित अवयवों [सूत्र ३२-३७] में उदाहरण (दृष्टान्त) रूप से कियाजाता है।

सूत्र के 'लौकिक-परीक्षक' पद दो विभिन्न आधारों का संकेत करते हैं। इससे पारस्परिक चर्चा व कथा-प्रसंगों में वाद-प्रतिवादरूप से उपस्थित दो पक्षों का निर्देश अभिव्यक्त होता है। इसके अनुसार चर्चा-प्रसंगों में वादी और प्रतिवादी दोनों जिस अर्थ को समानरूपसे स्वीकार करें, वही दृष्टान्त—उदाहरणरूप से पञ्चावयव वाक्य में प्रस्तुत कियाजाता है। दृष्टान्त के दो प्रकार हैं—साधर्म्य और वैधर्म्य। ऐसे दृष्टान्त के साथ विरोध होने पर प्रतिपक्ष का निषेध-खण्डन, और दृष्टान्त की अनुकूलता होने पर अपने पक्ष का स्थापन-मण्डन होता है।

स्वयं 'दृष्टान्त' पद से यह भावना अभिव्यक्त होती है। यह 'दृष्ट' और 'अन्त' दो पदों का समवाय है। पहले का अर्थ है—ज्ञात, और दूसरे का है—ऐसा होने का निश्चय, उसकी पूर्णता—इत्थम्भावव्यवस्था। किसी ज्ञात अर्थ को पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों के द्वारा उसीरूप में अर्थात् समानरूप में स्वीकार करना 'दृष्टान्त' है। अवयवों में दृष्टान्त का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है॥ २५॥

सिद्धान्त का लक्षण—अवसरप्राप्त सिद्धान्त का लक्षण सूत्रकार ने किया—

तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः सिद्धान्तः॥ २६॥

[तन्त्राधिकरणाभ्युपगमसंस्थितिः] तन्त्रसंस्थिति, अधिकरणसंस्थिति और अभ्युपगमसंस्थिति [सिद्धान्तः] सिद्धान्त है।

'सिद्धान्त' पद 'सिद्ध' और 'अन्त' दो पदों का समवाय है। पहले का भाव है—यह इसप्रकार का है, इस रूप में जानागया अथवा स्वीकृत कियागया पदार्थ। दूसरे का तात्पर्य है—पूर्णतया, वैसे होने का निश्चय। पदार्थविषयक ज्ञान की पूर्णता; यह ऐसा होसकता है, अन्य प्रकार का नहीं, यह 'सिद्धान्त' का स्वरूप है। ठीक यही भाव सूत्र के 'संस्थिति' पद द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'सम्' उपसर्ग का अर्थ है—सम्यक् प्रकार-अच्छी तरह-पूर्णरूप से। 'स्थिति' ठहराव, जो वस्तु जैसी जानी गई है, उसका पूर्णता से उसीरूपमें होना [इत्थम्भावव्यवस्था] 'संस्थिति' पद का तात्पर्य है। इसके अनुसार सिद्धान्त का स्वरूप या लक्षण केवल 'संस्थितिः' है। सूत्र के शेष पद 'संस्थिति' पद के साथ जुड़कर सिद्धान्त के विभिन्न प्रकारों को अभिव्यक्त करते हैं। उनमें पहला है—

सिद्धान्त के भेद

तन्त्रसंस्थितिः—'तन्त्र' पद शास्त्र का पर्याय है। एक-दूसरे के साथ सम्बद्ध अर्थ-समूह का जो उपदेश कियाजाता है, वह शास्त्र है। वहाँ उपपादित विचार

तन्त्रसंस्थिति अर्थात् तन्त्रसिद्धान्त कहेजाते हैं । सिद्धान्त का दूसरा प्रकार है—

अधिकरणसंस्थितिः—एक अर्थ के सिद्ध होने पर जो उससे सम्बद्ध अर्थ आवश्यकरूप से स्वतः सिद्ध होजाते हैं ; अर्थात् जिनकी सिद्धि के विना पहला अर्थ सिद्ध नहीं होपाता ; उन अर्थों का प्रकरणानुकूल निश्चय 'अधिकरणसिद्धान्त' मानागया है । सिद्धान्त का तीसरा प्रकार है—

अभ्युपगमसंस्थितिः—जो विषय अभी निश्चित नहीं है, उसको किसी प्रसंग के कारण स्वीकार करलेना । किसी विशेष अर्थ की परीक्षा करने के लिए कथाप्रसंगों में कभी किसी अनिश्चित विषय को उतने अवसर के लिए स्वीकार करलियाजाता है । ऐसा स्वीकार 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहाजाता है ॥ २६ ॥

तीनप्रकार के सिद्धान्तों में पहले प्रकार 'तन्त्रसंस्थिति' के दो भेद हैं—सर्वतन्त्रसंस्थिति, प्रतितन्त्रसंस्थिति । इसके अनुसार सूत्रकार ने सिद्धान्त के चार भेदों का निर्देश किया—

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगम-संस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ २७ ॥

[सः] वह सिद्धान्त [चतुर्विधः] चार प्रकार का है [सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात्] सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम संस्थितियों के परस्पर भिन्न होने से (—अर्थान्तरभावात्) ।

'संस्थिति' पद को प्रत्येक के साथ जोड़कर सिद्धान्त के ये चार भेद स्पष्ट होते हैं—सर्वतन्त्रसिद्धान्त, प्रतितन्त्रसिद्धान्त, अधिकरणसिद्धान्त, अभ्युपगम-सिद्धान्त । इस नामनिर्देश में लक्षण-पद 'संस्थिति' के स्थान पर लक्ष्यपद 'सिद्धान्त' का प्रयोग सूत्रकार द्वारा अग्रिम सूत्रों में किये निर्देश के अनुसार है ॥ २७ ॥

सर्वतन्त्रसिद्धान्त—इनमें प्रथम सिद्धान्त का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥ २८ ॥

[सर्वतन्त्राविरुद्धः] सब शास्त्रों में अविरुद्ध–समानरूप से स्वीकृत [तन्त्रे] किसी एक शास्त्र में [अधिकृतः] अधिकृत–विशेषरूप से वर्णित [अर्थः] अर्थ–विषय, [सर्वतन्त्रसिद्धान्तः] सर्वतन्त्रसिद्धान्त मानाजाता है ।

कोई विषय किसी शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य होने के कारण उस शास्त्र में विशेषरूप से वर्णित कियागया हो ; तथा अन्य सब शास्त्रों में उस विषय को—विना किसी विरोध के—स्वीकार करलियाजाता है ; वह सर्वतन्त्रसिद्धान्त है, क्योंकि उसे सब शास्त्रों ने समानरूप से माना है ।

जैसे—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र, ये इन्द्रियाँ हैं। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द, ये सब यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय हैं। पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, ये पाँच भूत हैं। किसी अर्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा कियाजाता है। इन सब विषयों का विशेषरूप से निरूपण न्याय-वैशेषिक शास्त्रों में हुआ है; और अन्य सब शास्त्रों में इन अर्थों को इसी रूप से स्वीकार कियागया है। ऐसी मान्यताएँ 'सर्वतन्त्रसिद्धान्त' की सीमा में आती हैं॥ २८॥

प्रतितन्त्रसिद्धान्त—सिद्धान्त के दूसरे भेद का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः[1] प्रतितन्त्रसिद्धान्तः॥ २९॥

[समानतन्त्रसिद्धः] समानशास्त्र में (सिद्धान्तरूप से जो विषय) सिद्ध-निश्चित-स्वीकृत है, [परतन्त्रासिद्धः] अन्य शास्त्र में स्वीकृत नहीं है, वह [प्रतितन्त्रसिद्धान्तः] प्रतितन्त्रसिद्धान्त है।

गत सूत्र के 'तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः' पदों की अनुवृत्ति इस सूत्र में समझनी चाहिये। एक तन्त्र में जो अर्थ-विषय अधिकृत है, जिस उद्देश्य से शास्त्र का प्रारम्भ कियागया है, उसीके अनुरूप विषय का उपपादन है, उस शास्त्र के समान-शास्त्र में उक्त विषय को उसीरूप में सिद्ध मानलियागया है; परन्तु अन्य शास्त्रों में—जिनका वह विषय प्रतिपाद्य नहीं है—उक्त विषय को उसीरूप में सिद्ध नहीं मानागया, प्रत्युत उसका वर्णन अन्य प्रकार से हुआ है; ऐसे विषय अपने-अपने शास्त्रों के प्रतिपाद्य होने से प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहेजाते हैं।

इस सिद्धान्त के स्वरूप की यह भावना इस नाम से स्वयं अभिव्यक्त होती है। प्रत्येक शास्त्र के अपने प्रतिपाद्य विषय के अनुरूप जो सिद्धान्त-मान्यता हैं, वे 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' हैं; क्योंकि उनका उसीरूप में प्रतिपादन

---

१. वात्स्यायनभाष्य पर सुदर्शनाचार्य द्वारा रचित एवं संवत् १९७८ [१९२२ ई० सन्] में गुजराती मुद्रणालय, बम्बई से प्रकाशित व्याख्या में सूत्र का पाठ—'समानतन्त्रासिद्धः परतन्त्रसिद्धः' दिया है; जो व्याख्याकार की कल्पना प्रतीत होता है। ऐसा पाठ अन्यत्र कहीं उपलब्ध नहीं। इसका अर्थ किया है—"समानतन्त्रे-स्वशास्त्रसदृशशास्त्रेऽसिद्धः=अप्रतिपादितः, परतन्त्रे च सिद्धः=प्रतिपादितो यः सिद्धान्तत्वेन विषयः स प्रतितन्त्रसिद्धान्तः।" अपने समानशास्त्र में जो प्रतिपादित नहीं हुआ, और परशास्त्र में सिद्धान्त-रूप से प्रतिपादित हुआ है, वह प्रतितन्त्रसिद्धान्त कहाजाता है। ऐसा अर्थ कर देने पर दोनों पाठों के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं है।

हमने इस संस्करण में सूत्रपाठ को वाचस्पति मिश्रकृत न्यायसूची-निबन्ध के अनुसार सर्वत्र स्वीकार किया है।

अन्य उन शास्त्रों में नहीं होता, जिनका वह प्रतिपाद्य विषय नहीं है। जैसे सांख्य की मान्यता है—जो असत् है, वह कभी सद्भाव में नहीं आता; जो सत् है, उसके स्वरूप का नाश नहीं होता। चेतन समस्त आत्मतत्त्व निरतिशय हैं, अतिशय से शून्य हैं। अतिशय का अर्थ है—अतिरेक–विशेषता, परस्पर एक-दूसरे से अन्तर होना। आत्माओं में यह बात नहीं है; अर्थात् समस्त आत्मा चैतन्यरूप से समान हैं। निरतिशय का यह भी तात्पर्य है कि राग-द्वेष आदि के आपात से आत्मतत्त्व के चैतन्यस्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, आत्मतत्त्व का अत्रिगुणात्मक स्वरूप उस अवस्था में भी अक्षुण्ण बना रहता है। देह, इन्द्रिय, मन तथा इन्द्रियों के गन्ध, रूप आदि विषयों और उनके कारणों में परस्पर विशेषता–भेद पायाजाता है। देह आदि कार्यों में उपलभ्यमान आपसी भेद उनके कारण-भेद से अभिव्यक्त होता है; इसलिए देहादि कार्य एक-दूसरे से भिन्न हैं, उनके कारण-तत्त्व भी परस्पर भिन्न होते हैं।

इस विचार की प्रतियोगिता में न्याय-वैशेषिक[1] की मान्यता हैं—जगत् की रचना में पुरुषों के शुभाशुभ कर्म कारण होते हैं; कर्मों के कारण दोष हैं, और प्रवृत्तियाँ हैं[2]। चेतन आत्मतत्त्व अपने राग, द्वेष आदि गुणों से युक्त होते हैं; कोई आत्मा रागी है, कोई द्वेषी। इसप्रकार इनका परस्पर वैशिष्ट्य लोक-व्यवहार में जानाजाता है। उत्पत्ति असत् की होती है; यदि वह उत्पत्ति से पूर्व सत् है, तो उत्पन्न होना अनावश्यक है। जो उत्पन्न हुआ है, उसका नाश होजाता है; उत्पन्न वस्तु को सदा बने रहते नहीं देखाजाता, इत्यादि।

---

१. वात्स्यायनभाष्य में इस मत को 'इति योगानाम्' कहकर लिखागया है। कतिपय व्याख्याकारों ने इसका पातञ्जल योग आदि अर्थ समझने में भूल की है। 'सांख्य' नाम से जो सिद्धान्त भाष्य में कहे हैं, पातञ्जल योग उनको ठीक उसीरूप में स्वीकार करता है; सांख्य से उसका कोई विरोध नहीं है। वात्स्यायन ने यहाँ 'योग' पद का प्रयोग 'न्याय-वैशेषिक' के लिए किया है। इसका आधार है—परमाणुओं के संयोग से जगत् की रचना का मानना। पातञ्जल योग के लिए प्रयुक्त 'योग' पद 'युज् समाधौ' धातु से निष्पन्न होता है, तथा न्याय-वैशेषिक के लिए प्रयुक्त 'योग' पद 'युजिर् योगे' धातु से। पदों की आकृति समान है, पर अर्थ भिन्न है। इस पद का प्रयोग इसी अर्थ में कौटलीय अर्थशास्त्र में हुआ है—"सांख्यं योगो लोकायतं चेत्यान्वीक्षकी" [कौट० १ । २ । १०]

२. इसके लिए देखें—गत प्रकरण के सूत्र १७, १८ तथा अ० ३, आ० २, सू० ६०-७२ ॥

ये मान्यताएँ आपाततः एक-दूसरे के विपरीत प्रतीत होती हैं; पर वस्तुतः विभिन्न शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय की सीमाओं का यह चमत्कार है। प्रत्येक शास्त्र उतनी बात को—अपने मुख्य प्रतिपाद्य विषय की—सीमा के अन्दर रहकर कहना चाहता है। उसमें वस्तु का जो स्वरूप उभरकर आता है, उतने को वह कह देता है। वह कथन—अन्य शास्त्र की उस विषय की मान्यता से—मेल खाता दिखाई नहीं देता, क्योंकि विषय के प्रतिपादन की उसकी अपनी सीमा हैं। ऐसी स्थिति में ये मान्यता 'प्रतितन्त्रसिद्धान्त' के नाम से शास्त्र में व्यवहृत होती हैं ॥ २९ ॥

अधिकरणसिद्धान्त—अवसरप्राप्त अधिकरणसिद्धान्त का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥ ३० ॥

[यत्सिद्धौ] जिस अर्थ की सिद्धि होजाने पर [अन्यप्रकरणसिद्धिः] दूसरे—प्रकरण में साथ लगे—अर्थों की जो सिद्धि होजाती है, [सः] वह [अधिकरणसिद्धान्तः] अधिकरणसिद्धान्त मानाजाता है।

मुख्य प्रसंग के सिद्ध होजाने पर उसके साथ लगे जो अर्थ स्वतः अनायास सिद्ध होजाते हैं; उन विषयों का उसप्रकार सिद्ध निश्चय होजाना 'अधिकरणसिद्धान्त' की सीमा में आता है। जैसे—आत्मा की सिद्धि का प्रसंग चल-रहा है; उसमें कहागया कि ज्ञाता आत्मा, देह-इन्द्रिय आदि से भिन्न है। उसमें हेतु दियागया—'दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात्' [३। १। १]। 'दर्शन' चक्षु और 'स्पर्शन' त्वक् इन्द्रिय है। चक्षु के द्वारा रूप का ग्रहण होता है, त्वक् के द्वारा स्पर्श गुण का। चक्षु से स्पर्श का, तथा त्वक् से रूप का जानना सम्भव नहीं। ये इन्द्रियाँ नियत-विषय हैं; अपने-अपने किसी नियत विषय के ग्रहण में साधन होते हैं। एक इन्द्रिय से किसी अन्य इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का ग्रहण कियाजाना शक्य नहीं होता। परन्तु जो ज्ञाता व द्रष्टा है, उसको जो प्रतिसन्धान[1] होता है, उसका स्वरूप है—जिस वस्तु को मैंने चक्षु-इन्द्रिय से देखा था, उसीको अब मैं त्वक् से छूरहा हूँ; अथवा जिसको त्वक् से छुआ था, उसीको अब चक्षु से देखरहा हूँ।

इस प्रतीति में गत अनुभव का—देखने व छूने का—स्मरण और वर्त्तमान अनुभव—छूना व देखना—दोनों भास रहे हैं। इसमें स्पष्ट है—दोनों इन्द्रियों से भिन्न कोई अन्य द्रष्टा व ज्ञाता है, जो अकेला दोनों इन्द्रियरूप साधनों द्वारा

---

१. **'प्रतिसन्धान' वह ज्ञान होता है, जिसमें गत अनुभूत वस्तु का स्मरण और वर्त्तमान में होनेवाला अनुभव दोनों मिले रहते हैं। जैसा उक्त वाक्य से ज्ञात होरहा है।**

ग्राह्य भिन्न विषयों का ज्ञान करता है, तथा पूर्वगृहीत का स्मरण करता है। ऐसी प्रतीति के कर्त्ता—द्रष्टा व ज्ञाता—इन्द्रियाँ नहीं होसकते; क्योंकि एक इन्द्रिय दूसरे इन्द्रिय के विषय को न ग्रहण करसकता है और इसीकारण न उसका स्मरण। परन्तु उक्त प्रतीति में एक कर्त्ता के द्वारा ग्रहण और स्मरण का होना स्पष्ट है। इससे सिद्ध होता है—ज्ञाता, द्रष्टा, स्मर्त्ता आदि के रूप में आत्मतत्त्व इन्द्रिय तथा देह आदि से सर्वथा भिन्न वस्तु है।

शंका कीजासकती है—एक इन्द्रिय अन्य इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ग्रहण या स्मरण न करसके, पर इनका संघात—सब देहेन्द्रियादि का समूह—यह कार्य करसकेगा। समूह में सब विषयों के ग्रहण करने की क्षमता एकत्रित रहेगी।

यह शंका निराधार है। कारण है—उक्त समूह के किन्हीं विशिष्ट अवयवों में ग्राहकता-शक्ति का सीमित रहना। चक्षु आदि इन्द्रियाँ उस समूह के अवयव हैं। अपने-अपने विषय की ग्राहकता-शक्ति उन अवयवों में निहित रहती है; उनको छोड़कर अन्यत्र कहीं उसका संक्रमण असम्भव है। उन अवयवों से अतिरिक्त 'संघात' या 'समूह' नाम का कोई विशिष्ट तत्त्व नहीं है, जिस एक में ये समस्त शक्तियाँ संक्रान्त होगई हों। समूह मानने पर भी रूप का ग्रहण चक्षु द्वारा एवं रस का ग्रहण रसन द्वारा होगा। ऐसी स्थिति में जब पृथक् एक इन्द्रिय द्वारा इन्द्रियान्तर के विषय का ग्रहण-स्मरण नहीं होता, तब संघात मानने पर भी वह सम्भव न होगा। दोनों दशाओं में ग्रहण करने की परिस्थिति सर्वथा समान रहती है। इसप्रकार देह-इन्द्रिय आदि से अतिरिक्त आत्मतत्त्व सिद्ध होता है।

यहाँ मुख्य प्रसंग आत्मा की सिद्धि का है। इसके निर्णीत होजाने पर इसके अनुषङ्गी [साथ में संलग्न] निम्न विषय स्वतः सिद्ध होजाते हैं—इन्द्रियों का नाना होना, एक-एक इन्द्रिय में अपने नियत विषय के ग्रहण करने की क्षमता होना, अपने विषय का ग्रहण करना–इन्द्रिय के अस्तित्व की पहचान होना, ज्ञाता के लिए इन्द्रियों का–ज्ञानसाधनमात्र होना, गन्ध आदि गुणों से द्रव्य का अतिरिक्त होना, द्रव्य को गुणों का अधिकरण मानना, तथा चेतनतत्त्वों का अनियतविषय होना, अर्थात् चेतनतत्त्व किसी एक ही विषय को ग्रहण करे—ऐसा न होना। देहेन्द्रियादि से आत्मा के अतिरिक्त सिद्ध होने पर उक्त सब अर्थ स्वतः सिद्ध होजाते हैं; क्योंकि इनकी सिद्धि के विना, देहादि से अतिरिक्त आत्मतत्त्व की सिद्धि का होना सम्भव नहीं होता। इसप्रकार मुख्य प्रसंग आत्मतत्त्व की सिद्धि होजाने पर उक्त मान्यताओं का सिद्ध होजाना 'अधिकरण-सिद्धान्त' की सीमा में आता है॥ ३०॥

अभ्युपगमसिद्धान्त—अन्तिम 'अभ्युपगमसिद्धान्त' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगम-सिद्धान्तः ॥ ३१ ॥

[अपरीक्षिताभ्युपगमात्] अपरीक्षित अर्थ को स्वीकार कर लेने से [तद्विशेषपरीक्षणम्] उस विषय की विशेष परीक्षा के निमित्त [अभ्युपगम-सिद्धान्तः] अभ्युपगमसिद्धान्त मानाजाता है।

किसी विषय का निश्चय करने के लिए चर्चा चल रही है। उस विषय के किसी विशेष अंश की परीक्षा करनेके लिए जब उसके विना परीक्षा किये हुए किसी अंश को उस अवसर के लिए स्वीकार करलियाजाता है, तब ऐसा स्वीकार करना 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहाजाता है।

शब्द-विषयक चर्चा चलरही है। न्याय-वैशेषिक की मान्यता है—शब्द गुण है, और अनित्य है। प्रतिवादी ऐसा नहीं मानता, वह शब्द को न गुण मानता है, न अनित्य। शब्द का द्रव्यत्व और नित्यत्व दोनों अभीतक अपरीक्षित हैं, शब्द-विषयक इन दोनों बातों की परीक्षा करनी अपेक्षित है। जब वादी यह कहता है—अच्छा, मानलेते हैं थोड़ी देर के लिए कि शब्द द्रव्य है। शब्द के द्रव्य होने पर 'वह नित्य है अथवा अनित्य ?' इस विशेष धर्म की परीक्षा करलेनी चाहिए। ऐसे अवसरों पर शब्द के अपरीक्षित धर्म 'द्रव्यत्व' को चर्चा-प्रसंग में स्वीकार करलेना 'अभ्यूपगमसिद्धान्त' की सीमा में आता है। वादी का ऐसा स्वीकार करना—अपनी बुद्धि व प्रतिभा के अतिशय को, तथा प्रतिवादी की बुद्धि के तिरस्कार को प्रकट करने के लिए होता है।

विभिन्न सिद्धान्तों के जो नाम सूत्रकार ने निर्धारित किए हैं, उनके निर्वचन के आधार पर उस सिद्धान्त का स्वरूप अभिव्यक्त होजाता है ॥ ३१ ॥

'अवयव' प्रतिज्ञा आदि—सिद्धान्त-निरूपण के अनन्तर उद्देश्य-सूत्र के अनुसार क्रमप्राप्त 'अवयव' पदार्थ के विषय में सूत्रकार ने कहा—

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥ ३२ ॥

[प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनानि] प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन (ये पाँच) [अवयवाः] अवयव कहेजाते हैं।

यह 'अवयव' पद सांकेतिक है। किसी समूह के विभिन्न अंशों को 'अवयव' कहाजाता है। यह पद उस समूह का संकेत करता है। वह समूह है—विशिष्ट वाक्य, जिसके उक्त प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयव हैं। इसी आधार पर उस वाक्य को 'पञ्चावयव वाक्य' कहाजाता है। उद्देश्य-सूत्र में सर्वप्रथम 'प्रमाण' का निर्देश है, प्रमाणों में एक 'अनुमान प्रमाण' है, जिसका निरूपण गत-सूत्रों [१।१।३,५] में करदियागया है। उसीका विवरण है—'अवयव'। वस्तु की सिद्धि के

लिए अनुमान-प्रमाण का प्रयोग जिस वाक्यसमूह के द्वारा कियाजाता है, उसीके प्रतिज्ञा आदि पांच अवयव हैं।

अनुमान के भेद—अनुमान-प्रमाण दो प्रकार का मानागया है—एक 'स्वार्थानुमान' दूसरा 'परार्थानुमान'। पहला वह है, जहाँ व्यक्ति स्वयं किसी अर्थ को समझने के लिए उसके साधक हेतु, उदाहरण आदि का चिन्तन करता है, और उसीके अनुसार विषय की यथार्थता को समझलेता है। इसमें प्रतिज्ञा आदि वाक्य के उच्चारण करने की आवश्यकता नहीं होती।

अनुमान का दूसरा प्रकार वह है, जहाँ अन्य व्यक्ति को किसी विषय के समझाने का प्रयास कियाजाता है। वहाँ प्रतिज्ञा आदि वाक्यों का प्रयोग आवश्यक होता है, क्योंकि विना वाक्यप्रयोग के अन्य को समझाया जाना सम्भव नहीं होता। यद्यपि शब्द-प्रमाण में किसी अन्य व्यक्ति को विषय की यथार्थता का समझायाजाना वाक्यप्रयोग द्वारा सम्भव होता है, परन्तु शब्द-प्रमाण का क्षेत्र केवल उतना है जहाँ, श्रोता-बोद्धा उच्चरित अथवा प्रयुक्त शब्द एवं वाक्यसमूह पर श्रद्धा व विश्वास रखता हो। शब्द-प्रमाण में 'प्रतिज्ञा' आदि अवयवों का निर्देश अनपेक्षित है। केवल वाक्योच्चारणमात्र की समानता से अनुमान के क्षेत्र में शब्द-प्रमाण का समावेश नहीं होता। यह परार्थानुमान वहाँ अपेक्षित होता है, जहाँ उच्चरित वाक्यसमूह पर श्रोता की श्रद्धा न हो। शिष्यों के सन्मुख गुरु के द्वारा प्रतिज्ञा आदि अवयवों का निर्देशन उनके स्वरूप को समझाने की भावना से होता है, जिससे अवसर आने पर वह उस अर्थ को उसीप्रकार प्रतिज्ञा आदि अवयवों के प्रयोग द्वारा अन्य व्यक्ति को समझा सके।

अवयवों में न्यूनाधिकता का विचार—समय-समय पर आचार्यों ने इन अवयवों में न्यूनाधिकता की कल्पना की है। किन्हीं का विचार है—प्रतिज्ञा आदि अवयवों में केवल एक 'उपनय' नामक अवयव अर्थ-साधन में उपयोगी है; क्योंकि उसमें हेतुगर्भित उदाहरण की अपेक्षा रखते हुए, 'तथा' या 'न तथा' कहकर साध्य का उपसंहार कियाजाता है। इसमें सभी अपेक्षित अवयव सन्निविष्ट हैं; उनका पृथक् निर्देश व्यर्थ का आडम्बर है।

उपनय में उदाहरण की स्पष्ट अपेक्षा रहती है, अतः उदाहरण और उपनय केवल दो अवयव अर्थ-साधन में पर्याप्त हैं; यह बौद्ध आचार्यों का विचार है।

अर्थ-सिद्धि में मुख्यरूप से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण का प्रयोग आवश्यक रहता है, अतः तीन अवयवों द्वारा अर्थ का निश्चय होजाने से अन्य का प्रयोग अनावश्यक है; कथन को केवल तूल देना है। यह होसकता है कि पहले तीन के स्थान पर अन्तिम तीन—उदाहरण, उपनय, निगमन—का उपयोग करलियाजाय। अर्थ-प्रकाशन की दृष्टि से इनमें कोई विशेष अन्तर नहीं; किन्हीं

वाक्यों को केवल दुहराया जाता है। ऐसा विचार सांख्य-योग का है, तथा पूर्वोत्तर मीमांसा भी इसमें सहमति रखते हैं।

न्याय-वैशेषिक की यह दृढ़ मान्यता है कि स्वार्थानुमान में भले ही दो या तीन अवयवों का उपयोग मानलियाजाय, परन्तु परार्थानुमान में अर्थ के पूर्ण सर्वथा निःसन्दिग्ध निश्चय के लिए प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का उपयोग अत्यन्त आवश्यक है।

कतिपय अज्ञात प्राचीन नैयायिकों ने प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों के अतिरिक्त—अर्थसिद्धि में उपयोगी अन्य पाँच अवयवों की कल्पना की है—जिज्ञासा, संशय, शक्यप्राप्ति, प्रयोजन, संशयव्युदास। पर वस्तुतः अर्थ-साधन में इनका सीधा उपयोग कुछ नहीं है। यह अलग बात है कि परम्परा से अथवा दूरागत कोई सहारा इनका कहीं लगजाय।

इनमें पहला 'जिज्ञासा' है, जिसका तात्पर्य है—किसी अर्थ को जानने की इच्छा। यह केवल उस अर्थ को जानने के लिए व्यक्ति की प्रवृत्ति में प्रयोजक है; अर्थ के साधन में इसका सीधा उपयोग कुछ नहीं। किसी अर्थ को व्यक्ति क्यों जानना चाहता है? केवल इसलिए कि तत्त्वतः उसको जानकर—यदि वह हानिकर है, तो उसे छोड़दे; यदि लाभकर है तो उसे ग्रहण करे; यदि दोनों बातें नहीं हैं, तो उपेक्षा करदे। यह स्थिति अर्थ के साधन में कोई सहारा नहीं देती।

दूसरा अवयव 'संशय' है। यह एक प्रकार से जिज्ञासा का आधार है। किसी एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्मों की संहत प्रतीति होना संशय का जनक है। ऐसी प्रतीति से संशय होने पर—उन दो धर्मों में कौन यथार्थ है–यह जानने की इच्छा होती है। इससे स्पष्ट है, संशय तो जिज्ञासा की अपेक्षा अर्थ-साधक वाक्यों से और अधिक दूर जापड़ा है। फिर भी जिज्ञासा की जड़ होने के कारण आचार्य ने 'संशय' का पृथक् उपदेश करदिया है [१। १। २३]।

तीसरा अवयव जो अतिरिक्त कल्पना कियागया, उसका नाम 'शक्य-प्राप्ति' बताया। इसका स्वरूप है—प्रमाण प्रमाता को प्रमेय का ज्ञान कराने के लिए होते हैं। यह एक साधारण बात है; केवल इतना जानने से—कि प्रमाण प्रमेय का ज्ञान कराने के लिए होते हैं—किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होती। अतः प्रतिज्ञा आदि के समान यह साधकवाक्य का भाग नहीं मानाजाता।

चौथा कल्पना किया अवयव—'प्रयोजन' है। प्रतिज्ञा आदि अवयवों का प्रयोग किसी अर्थ का निश्चय करने के लिए कियाजाता है। वह निश्चय अर्थ-साधक पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग का फल है, साधकवाक्य का एकदेश, भाग या अंश नहीं होसकता।

पाँचवाँ वैसा अवयव—'संशयव्युदास' बतायागया। इसका तात्पर्य केवल–प्रतिपक्ष का वर्णन करना–है। यह इसलिए कियाजाता है कि इसका प्रतिषेध करदेने पर विचार्य विषय अपने वास्तविक रूप में प्रकाशित कियाजासके; तथा यह स्पष्ट होजाय, कि विरोधी कथन यथार्थ नहीं था। प्रतिपक्ष का वर्णनमात्र साधकवाक्य का एकदेश नहीं है।

किसी अर्थ का अवधारण करने के लिए चर्चा चलनेपर जिज्ञासा, संशय आदि का इतना ही उपयोग है; अथवा कहना चाहिए—इनकी सफलता इतने ही में है कि ये चालू प्रसंग की पूर्त्ति में थोड़ा उपकारक होते हैं; चालू प्रसंग में किसी अंश के पूरकमात्र, जैसा कि इनके उक्त विवरण से स्पष्ट होता है, ये साधकवाक्य के भाग नहीं बनते। इसके विपरीत प्रतिज्ञा, हेतु आदि वाक्य साक्षात् विचार्य अर्थ के साधक होने से उस वाक्यसमूह के अवयव-एकदेश मानेजाते हैं; उन्हींका विवरण सूत्रकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है ॥ ३२ ॥

'प्रतिज्ञा' अवयव का स्वरूप—साधक वाक्यसमूह के उन पाँच अवयवों में पहला है—

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥ ३३ ॥

[साध्यनिर्देशः] साध्य का निर्देश-कथन [प्रतिज्ञा] प्रतिज्ञा-नामक प्रथम अवयव है।

जो अर्थ अभी सिद्ध नहीं है, जिसके विषय में सन्देह बना हुआ है। सन्देह की निवृत्तिपूर्वक उस साध्य अर्थ का निश्चय करने के लिए सर्वप्रथम उसका कथन करना 'प्रतिज्ञा' है। जैसे—'शब्द नित्य है या अनित्य?' यह शब्द के 'नित्यत्व-अनित्यत्व' में सन्देह है। अनित्यत्ववादी अपना पक्ष–पाँच अवयववाक्यों के साथ–प्रस्तुत करता है। वे वाक्य यथाक्रम इसप्रकार होंगे—

१. **प्रतिज्ञा**—'शब्दः अनित्यः'। शब्द अनित्य है। इसमें दो पद हैं—'शब्दः' और 'अनित्यः', यहाँ अनित्यत्व धर्म साध्य है, उसका अधिकरण शब्द है। तात्पर्य हुआ—शब्द-धर्मी में अनित्यत्व धर्म साध्य है, क्योंकि शब्द के नित्य-अनित्य होने में सन्देह है। सन्दिग्ध साध्य के अधिकरण को 'पक्ष' कहाजाता है—'सन्दिग्धसाध्यवान्[1] पक्षः'। जो पदार्थ निश्चितरूप से अनित्य हैं, वे शब्द के 'सपक्ष' कहे जायेंगे; जैसे—घट, पट, मठ (मकान) आदि। जो अनित्य नहीं हैं, अर्थात् नित्य हैं, वे शब्द के 'विपक्ष' कहे जायेंगे; जैसे—आत्मा, आकाश आदि।

---

१. **'साध्यवान्' पद में 'मतुप्' प्रत्यय अधिकरण अर्थ में है—संदिग्ध साध्य का अधिकरण 'पक्ष' कहाजाता है। शास्त्रीय प्रसंगों में उक्त अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए यह पद पारिभाषिक समझना चाहिए।**

इनको यथाक्रम 'सधर्मा' और 'विधर्मा' भी कहाजासकता है। प्रतिज्ञा के अनन्तर दूसरा वाक्य है—

२. **हेतु**—'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'। 'यो य उत्पत्तिधर्मकः सः स अनित्यः' (व्याप्ति)।[1] उत्पत्तिधर्मक होने से। जो जो उत्पत्तिधर्मक होता है, वह अनित्य होता है; हेतु की पुष्टि व स्पष्टता के लिए यह व्याप्ति का निर्देश-कथन किया जाता है।

३. **उदाहरण**—'घटादिवत्'। घट आदि के समान।

४. **उपनय**—'तथा शब्दः'। जैसा उत्पत्तिधर्मक घट है, वैसा उत्पत्तिधर्मक शब्द है।

५. **निगमन**—'तस्मात्तथा'। घट के समान उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है॥ ३३॥

हेतु का स्वरूप—प्रतिज्ञा के अनन्तर हेतु का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः॥ ३४॥

[उदाहरणसाधर्म्यात्] उदाहरण के साधर्म्य से [साध्यसाधनम्] साध्य का जो साधन होता है, वह [हेतुः] हेतु ('हेतु' नामक अवयव) कहाजाता है।

उदाहरण—साधर्म्य और वैधर्म्य–दोनों प्रकार का होता है। प्रस्तुत सूत्र में उदाहरण के साधर्म्य से हेतु का स्वरूप बताया है। गतसूत्र की व्याख्या में सपक्ष और विपक्ष का उल्लेख हुआ है। सपक्ष 'समानधर्मा' और विपक्ष 'विरुद्धधर्मा' पदार्थ होते हैं। समानधर्मा उदाहरण की अनुकूलता से जो धर्म साध्य को सिद्ध करनेवाला होता है, वह 'हेतु' नाम से कहाजाता है।

साधर्म्य हेतु—सपक्ष और विपक्ष अथवा सधर्मा और विधर्मा, सन्दिग्ध साध्य के अधिकरण–'पक्ष' की दृष्टि से होते है। चालू प्रसंग में 'शब्द' पक्ष है, और उसमें 'अनित्यत्व' साध्य है। अब देखना है, ऐसा कौन-सा धर्म है, जो शब्द और उदाहरण में प्रस्तुत पदार्थ–दोनों में समानरूप से रहता हो? ऐसा धर्म 'उत्पत्तिधर्मकत्व' है। इसको 'उत्पत्तिमत्त्व' भी कहाजासकता है। उत्पत्तिधर्मवाला होना, अथवा उत्पत्तिवाला होना, एक ही बात है। ऐसे उत्पत्तिवाले पदार्थ 'घट' आदि हैं, उनका कथन 'उदाहरण-अवयव' के रूप में होता है।

हेतु का स्वरूप बताने के लिए सूत्र में 'उदाहरणसाधर्म्य' पद का सन्निवेश इस उद्देश्य से कियागया है कि हेतु-निर्देश के साथ उदाहरण में उसकी विद्यमानता को अभिव्यक्त कियाजाय। यह अभिव्यक्ति 'व्याप्ति' के कथन द्वारा होती है। इसप्रकार 'शब्दः अनित्यः' प्रतिज्ञा के अनन्तर जब 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'

---

१. अधिक विवरण आगे उन-उन सूत्रों की व्याख्या में कियागया है।

अथवा 'उत्पत्तिमत्त्वात्' हेतु का निर्देश कियाजाता है, उसीके साथ व्याप्ति का निर्देश होना चाहिए—'यो य उत्पत्तिधर्मकः सः स अनित्यः'—जो पदार्थ उत्पत्तिवाला होता है, वह अनित्य होता है। आगे उदाहरण कहाजायगा—जैसे घट आदि पदार्थ। व्याप्ति के निर्देश से हेतु की दृढ़ता व बलवत्ता प्रकट होती है। सूत्रकार को व्याप्तिनिर्देश यदि अपेक्षित न होता, तो 'साध्यसाधनं हेतुः' इतना सूत्र पर्याप्त था। व्याप्ति का कथन हेतु के विषय में यह स्पष्ट करता है कि हेतु का सम्बन्ध केवल अनित्यत्व के अधिकरण-पदार्थों के साथ रहता है, उनसे अतिरिक्त अन्य किसी पदार्थ में उक्त हेतु का सम्बन्ध नहीं है ॥ ३४ ॥

वैधर्म्य हेतु—जैसे उदाहरण के साधर्म्य से साध्यसाधन हेतु होता है, वैसे उदाहरण-वैधर्म्य से भी; यह सूत्रकार ने बताया—

तथा वैधर्म्यात् ॥ ३५ ॥

[तथा] वैसे [वैधर्म्यात्] वैधर्म्य से।

गतसूत्र के 'साधर्म्यात्' पद को छोड़कर शेष समस्त सूत्र का यहाँ अनुवर्त्तन समझना चाहिए। इससे पूरा वाक्य होगा—'उदाहरणवैधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः।' जैसे उदाहरणसाधर्म्य से साध्य का साधन हेतु होता है, वैसे [तथा] उदाहरणवैधर्म्य से [वैधर्म्यात्] साध्य का साधन 'हेतु' होता है।

अन्वय-व्यतिरेकव्याप्ति—पञ्चावयव वाक्य के रूप में प्रतिज्ञा है—'शब्दः अनित्यः'। हेतु है—'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'। उदाहरण-साधर्म्य से इस हेतु की व्याप्ति होगी—'जो उत्पत्तिधर्मवाला है वह अनित्य होता है।' इस व्याप्ति को 'अन्वयव्याप्ति' कहाजाता है। उदाहरणवैधर्म्य से व्याप्ति का स्वरूप होगा—'जो उत्पत्तिधर्मक नहीं है, वह अनित्य नहीं होता।' इसका नाम 'व्यतिरेकव्याप्ति' है। अन्वयव्याप्ति में उदाहरण है, जैसे—घट आदि द्रव्य। व्यतिरेकव्याप्ति में उदाहरण होगा, जैसे—आत्मा, आकाश आदि द्रव्य। अन्वयव्याप्तिक अनुमान में घट उदाहरण होने पर आगे 'उपनय' होगा—'तथा चायम्' वैसा यह शब्द है; अर्थात् जैसा घट है, वैसा (उत्पत्तिधर्मक) यह शब्द है। व्यतिरेक व्याप्तिक अनुमान में आत्मा आदि उदाहरण होने पर 'उपनय' होगा—'न तथा चायम्' और यह [शब्द] वैसा [आत्मा आदि जैसा] नहीं है, अर्थात् आत्मा आदि के समान, शब्द अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। इसप्रकार व्यतिरेकव्याप्ति के आधार पर 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु अनुत्पत्तिधर्मक द्रव्य आत्मा आदि से शब्द का वैधर्म्य प्रकट करता हुआ, शब्द के अनित्यत्व का साधक होता है ॥ ३५ ॥

उदाहरण का लक्षण—हेतु के अनन्तर सूत्रकार ने उदाहरण का लक्षण बताया—

साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥ ३६ ॥

[साध्यसाधर्म्यात्] साध्यसाधर्म्य से [तद्धर्मभावी] उस अथवा उसके धर्म को हुआनेवाला [दृष्टान्तः] दृष्टान्त [उदाहरणम्] 'उदाहरण' नामक अवयव है।

अन्वयव्याप्तिक उदाहरण—सूत्र के 'साध्य' पद से साध्य—अनित्यत्व, तथा साध्याधिकरण पक्ष–शब्द, दोनों का निर्देश सम्भव है। पहले निर्देश के अनुसार सूत्र की व्याख्या इसप्रकार समझनी चाहिए—साध्य 'अनित्यत्व' है; जो पदार्थ दृष्टान्तरूप से उपस्थित कियाजाता है, वहाँ भी 'अनित्यत्व' वैसा ही है; पर इतना विशेष है कि दृष्टान्त में 'अनित्यत्व' निश्चित है, पक्ष में सन्दिग्ध है। दृष्टान्त अपने निश्चित-अनित्यत्व के बल पर उस धर्म (अनित्यत्व) को पक्ष में हुआता है, अर्थात् प्रमाणित करता है। दृष्टान्त-घट में अनित्यत्व का साधक है—उत्पत्तिधर्मकत्व, वह पक्ष में भी विद्यमान है। अतः दृष्टान्त-बल पर पक्ष में अनित्यत्व को सिद्ध कियाजाता है।

'साध्य' पद के दूसरे निर्देश के अनुसार सूत्रार्थ होगा—साध्य अर्थात् पक्ष के समानधर्मा होने से दृष्टान्त उसके (पक्ष के) धर्म को हुआनेवाला होता है। पक्ष और दृष्टान्त दोनों में 'उत्पत्तिवाला होना' यह समानधर्म है। शब्द उत्पत्तिधर्मक है और घट भी। इस साधर्म्य से दृष्टान्त, पक्ष–शब्द में उसके 'अनित्यत्व' धर्म को प्रमाणित करता है। देखाजाता है—घट उत्पन्न होता है; उत्पत्ति से पहले वह नहीं था, उत्पन्न होजाने पर कालान्तर में नहीं रहता, नष्ट होजाता है, अतः अनित्य है। इसप्रकार एक धर्मी घट में जब हम अनित्यत्व और उत्पत्तिधर्मकत्व के साध्यसाधनभाव को जानलेते हैं, तब यह निर्धारित होजाता है कि जो पदार्थ उत्पत्तिधर्मक है, वह वश्य अनित्य होता है। शब्द को हम उत्पन्न होता हुआ अनुभव करते हैं; इसलिए उत्पन्न होनेवाले घट एवं निर्मित अन्य पात्र आदि के समान शब्द के अनित्य होने का निश्चय हो-जाता है।

इस तृतीय अवयव का 'उदाहरण' नाम इसीकारण रक्खागया है, क्योंकि इसके द्वारा दो धर्मों के साध्य-साधनभाव का अभिव्यंजन-प्रकाशन होता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने सूत्र के 'साध्य' पद का व्याख्यान द्वितीय निर्देश के अनुसार स्वीकार किया है ॥ ३६ ॥

व्यतिरेक-व्याप्तिक उदाहरण—अन्वयव्याप्तिक अनुमान में उदाहरण का स्वरूप बताकर सूत्रकार ने व्यतिरेकव्याप्तिक अनुमान में उदाहरण का स्वरूप बताया—

तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥ ३७ ॥

[तद्विपर्ययात्] उसके विपर्यय–वैपरीत्य से [वा] अथवा, और [विपरीतम्] विपरीत उदाहरण होता है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनामपद साध्य का परामर्श करता है। 'विपर्यय' का अर्थ वैधर्म्य है। गतसूत्र से 'दृष्टान्त उदाहरणम्' पदों को यहाँ अनुवृत्त समझना चाहिये। सूत्रार्थ होगा–'साध्यवैधर्म्याद् अतद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम्'। जैसे साध्य के साधर्म्य से साध्य के धर्म को उसमें हुआनेवाला–प्रमाणित करनेवाला दृष्टान्त उदाहरण होता है, वैसे ही साध्यवैधर्म्य से साध्य में उस धर्म को न हुआनेवाला दृष्टान्त उदाहरण मानाजाता है।

जैसे–'शब्दः अनित्यः, उत्पत्तिधर्मकत्वात्' शब्द में अनित्यत्व की सिद्धि के लिए 'उत्पत्तिधर्मकत्व' हेतु प्रस्तुत किया। इसकी व्यतिरेकव्याप्ति होगी–'यदनुत्पत्तिधर्मकं भवति तन्नित्यं भवति नानित्यम्, यथा आत्मादि द्रव्यम्' जो अनुत्पत्तिधर्मक होता है, वह नित्य होता है, अनित्य नहीं; जैसे आत्मा आदि द्रव्य। इस व्यतिरेकव्याप्तिक उदाहरण का उपसंहार अगले अवयव–उपनय में इसप्रकार होगा–'यथा आत्मादि द्रव्यमनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टं, न तथा अयं शब्दः अनुत्पत्तिधर्मकः।' जैसे आत्मा आदि द्रव्य अनुत्पत्तिधर्मक नित्य देखाजाता है, यह शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। अतः अन्तिम पञ्चम अवयव निगमन में इसका परिणाम प्रस्तुत करदियाजाता है–'तस्माद् उत्पत्तिधर्मकत्वाद् शब्दः अनित्यः'। इसलिए उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

पक्ष के साधर्म्य से जैसे दृष्टान्त, पक्ष में साध्यधर्म का निश्चायक होकर 'उदाहरण' मानाजाता है; वैसे ही पक्ष के वैधर्म्य से युक्त दृष्टान्त स्ववृत्तिधर्म से विरोधी धर्म का–पक्ष में–निश्चायक होने से 'उदाहरण' होता है। इन दोनों में परस्पर इतना विशेष है कि पहले दृष्टान्त में जिन दो धर्मों के साध्य–साधनभाव को व्यक्ति देखता है, दृष्टान्त के साथ साधर्म्य होने से पक्ष में उन दो धर्मों के साध्यसाधनभाव का अनुमान करलेता है। अगले दृष्टान्त में स्थिति इसके विपरीत इसप्रकार रहती है–दृष्टान्त में जिन दो धर्मों में से एक के अभाव से [उत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव से] अन्य धर्म के अभाव को [अनित्यत्व धर्म के अभाव को] देखता है; उनमें से एक के अभाव से [अनुत्पत्तिधर्मकत्व के अभाव से] अन्य का अभाव [नित्यत्व का अभाव] साध्याधिकरण-पक्ष में अनुमान कर लेता है। इसप्रकार शब्द–पक्ष में अनुत्पत्तिधर्मकत्व का अभाव नित्यत्व के अभाव का साधक होकर शब्द में अनित्यत्व का निश्चय कराता है। यह सब स्थिति हेत्वाभास-प्रसंगों में सम्भव नहीं होती।

वस्तुतः हेतु और उदाहरण की सफलता–यथार्थता अत्यन्त दुरवगाह होती है। साध्य को सिद्ध करने में हेतु और उदाहरण की पूर्ण वास्तविकता को समझने तथा उसका प्रयोग करने के लिए सूक्ष्मबुद्धि एवं प्रतिभा की अपेक्षा रहती है। शास्त्र में प्रशस्त पाण्डित्य एवं गहन अवगाहन ही इसमें पारपाता है॥ ३७॥

'उपनय' का स्वरूप—क्रमप्राप्त चतुर्थ अवयव–'उपनय' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ।। ३८ ।।

[उदाहरणापेक्षः] उदाहरण की अपेक्षा करता हुआ, उदाहरण के अधीन, उदाहरण के अनुसार [तथा] वैसा है [इति] इसप्रकार [उपसंहारः] उपसंहार, कथन करना; [न] नहीं है [तथा] वैसा [इति] इसप्रकार [वा] अथवा [साध्यस्य] साध्य का, साध्याधिकरण–पक्ष का, [उपनयः] 'उपनय' नामक चौथा अवयव है।

उदाहरण दो प्रकार के बताए गये : एक–अन्वयव्याप्तिमूलक; दूसरा–व्यतिरेकव्याप्तिमूलक। उसके अनुसार 'उपनय' के दो प्रकार होजाते हैं: १–"उदाहरणापेक्षः तथा इति साध्यस्य उपसंहारः उपनयः। अथवा, २–उदाहरणापेक्षः न तथा इति साध्यस्य उपसंहारः उपनयः।"

पहला उपनय अन्वयि–उदाहरणमूलक है। वहाँ उदाहरण 'घट' आदि पदार्थ हैं। उसके अनुसार 'तथा' कहकर साध्याधिकरण-पक्ष का पुनः निर्देश करना 'उपनय' है। उसका प्रकार है–'यथा घट उत्पत्तिधर्मकः तथा शब्दः।' जैसा घट उत्पत्तिधर्मक है, वैसा शब्द उत्पत्तिधर्मक है।

दूसरा उपनय व्यतिरेकि–उदाहरणमूलक है। वहाँ उदाहरण 'आत्मा' आदि पदार्थ हैं। उसके अनुसार 'न तथा' कहकर पक्ष का पुनः कथन करना 'उपनय' होता है। उसका प्रकार है–'यथा आत्मा अनुत्पत्तिधर्मकः न तथा शब्दः।' जैसा आत्मा अनुत्पत्तिधर्मक है, शब्द वैसा अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है। यहाँ अनुत्पत्ति-धर्मकता के उपसंहार का प्रतिषेध होने से 'उत्पत्तिधर्मकत्व' का शब्द में पुनः कथन अभिव्यक्त होता है। उपनय के ये दो प्रकार उदाहरण के दो प्रकारों के अनुसार होते हैं। इस सबका मूल–हेतु की अन्वय और व्यतिरेक–दो प्रकार की व्याप्ति है। ये प्रकार इन तीनों अवयवों में समानरूप से समझने चाहियें ।। ३८ ।।

'निगमन' का स्वरूप—उपनय के अनन्तर 'निगमन' अवयव का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ।। ३९ ।।

[हेत्वपदेशात्] हेतु के कथन से, अर्थात् हेतुकथनपूर्वक [प्रतिज्ञायाः] प्रतिज्ञा का [पुनः] फिर [वचनम्] कहना [निगमनम्] 'निगमन' नामक पाँचवाँ अन्तिम अवयव है।

साधर्म्य से कहेगये अथवा वैधर्म्य से कहेगये उदाहरण के अनुसार हेतु के कथनपूर्वक प्रतिज्ञा का पुनः कथन करना 'निगमन' है। यह भाव 'निगमन' पद से

स्वतः अभिव्यक्त होता है। 'निगमन' पद का अर्थ है–निःशेषरूप से जानकारी, पूर्णरूप से प्राप्ति अथवा सम्बन्ध। जिसके द्वारा प्रतिज्ञा आदि अवयवों का एकत्र ज्ञान, सम्बन्ध अथवा सफलता–सार्थकता का बोध करायाजाय, वह पञ्चावयव वाक्यसमूहमें अन्तिम अवयव 'निगमन' है।

अन्वयव्याप्तिक पञ्चावयव वाक्य—साधर्म्य से कहेगये उदाहरण के अनुसार अथवा हेतु–उदाहरण की अन्वयव्याप्ति के अनुसार पञ्चावयव वाक्य को प्रस्तुत करने का प्रकार यह है—

प्रतिज्ञा— 'शब्दः अनित्यः'–शब्द अनित्य है।

हेतु— 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'–उत्पत्तिधर्मवाला होने से। अथवा उत्पत्तिवाला होने से।[1]

उदाहरण—उत्पत्तिधर्मकं द्रव्यमनित्यं दृष्टम्, यथा घटादिकम्' उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य देखाजाता है (व्याप्ति); जैसे–घट आदि।

उपनय —'तथा चायम्' वैसा ही उत्पत्तिधर्मक यह शब्द है।

निगमन— 'तस्मात्तथा' उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

व्यतिरेकव्याप्तिक पञ्चावयव वाक्य—वैधर्म्य से कहेगये उदाहरण के अनुसार, अथवा हेतु–उदाहरण की व्यतिरेकव्याप्ति के अनुसार पञ्चावयव वाक्य निम्न प्रकार बोला जायगा—

प्रतिज्ञा— 'शब्दः अनित्यः'–शब्द अनित्य है।

हेतु— 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्'–उत्पत्तिधर्मवाला होने से।

उदाहरण—'अनुत्पत्तिधर्मकं नित्यं दृष्टम्, यथा आत्मादि द्रव्यम्'[2]–जो उत्पत्तिधर्मक नहीं है, अथवा अनुत्पत्तिधर्मक है, वह नित्य जानाजाता है, जैसे–आत्मा आदि द्रव्य।

उपनय— 'न चायं शब्दः तथाऽनुत्पत्तिधर्मकः'– यह शब्द वैसा–अनुत्पत्तिधर्मक नहीं है।

निगमन— 'तस्मात्–अनुत्पत्तिधर्मकत्वाभावात्, उत्पत्तिधर्मकत्वाद्वा–तथा–अनित्यः शब्दः'—इसलिए–अनुत्पत्तिधर्मक न होनेसे, अथवा उत्पत्तिधर्मक होने से शब्द अनित्य है।

---

१. हेतु का प्रयोग 'उत्पत्तिमत्त्वात्' इतना भी कियाजासकता है। उसी भाव को अभिव्यक्त करता हुआ–'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' हेतु भी युक्त है। शब्दार्थ है–प्रयत्न के अनन्तर होनेवाला। यह वस्तु की उत्पत्ति को बताता है।

२. यह इसप्रकार भी बोलाजाता है–यत् उत्पत्तिधर्मकं न भवति, तद् अनित्यमपि न भवति, यथा आत्माऽऽकाशादि द्रव्यम्।

इसप्रकार अनुमान-प्रमाण के पाँच वाक्यों द्वारा अर्थ का प्रकाशन अथवा अर्थ का निर्णय पूर्णरूप में होजाता है; उसमें किसी सन्देह का अवकाश नहीं रहता।

अनुमान में समस्त प्रमाणों का समावेश—पाँच वाक्यों के रूप में यह अनुमानप्रमाण अर्थनिर्णय के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन है। कारण यह है कि इसमें अन्य समस्त प्रमाणों का समावेश रहता है। तात्पर्य है–अनुमान के रूप में समस्त प्रमाण आपस के सहयोग से अथवा परस्पर मिलकर किसी सन्दिग्ध अर्थ का निश्चय करने के लिए सन्नद्ध रहते हैं। मेल में सदा अतुल बल रहता है। अनुमान-प्रमाण में समस्त प्रमाणों का मेल–सहयोग–समावेश इसप्रकार समझना चाहिये—

'प्रतिज्ञा' शब्दरूप—अनुमान के पाँच अवयव-वाक्यों में पहला वाक्य 'प्रतिज्ञा' शब्दरूप है, अर्थात् शब्द-प्रमाण का प्रतीक है। आप्त–किसी अर्थ के साक्षात्कृतधर्मा उपदेष्टा–का उपदेश 'शब्द'-प्रमाण मानाजाता है। साक्षात्कार का तात्पर्य है–उपदेष्टा द्वारा उपदिश्यमान अर्थ की प्रत्यक्ष से एवं आवश्यकता होने पर अनुमान से परीक्षा करलेना। प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित अर्थ–उपदेष्टा द्वारा कहागया–'शब्द'-प्रमाण है। 'शब्दः अनित्यः' यह प्रतिज्ञावाक्य प्रत्यक्षादि प्रमाणों से परीक्षित होकर वक्ता द्वारा कहाजाता है, अतः प्रतिज्ञा-वाक्य 'शब्द'-स्थानीय समझना चाहिये। प्रतिज्ञावाक्य और लौकिक शब्द–प्रमाणरूप वाक्य में यह समानता है कि दोनों का प्रामाण्य प्रत्यक्षादि से परीक्षित होने पर मानाजाता है। कारण यह है कि अनृषि–अवैदिक वाक्य का प्रामाण्य–प्रत्यक्षादि से परीक्षित हुए विना–स्वतन्त्रता से स्वीकार्य नहीं है। केवल वेदवाक्य का प्रामाण्य स्वतन्त्र–स्वाधीन है, वह स्वतः प्रमाण है, उसके प्रामाण्य के लिए प्रत्यक्षादि द्वारा परीक्षा की आवश्यकता नहीं होती। अतः उक्त समानता के आधार पर 'प्रतिज्ञा' शब्द-प्रमाणस्थानीय है। तात्पर्य है–अनुमान में प्रतिज्ञा-रूप से सहयोगी शब्द-प्रमाण प्रस्तुत अर्थ को सिद्ध करने के लिए उपस्थित हुआ है।

'हेतु' अनुमानरूप—पञ्चावयव वाक्य में दूसरे वाक्य 'हेतु' को अनुमान-स्थानीय अथवा अनुमान का प्रतीक समझना चाहिये। अनुमान के पाँचों अवयवों में 'हेतु' सर्वोत्कृष्ट अथवा सब में प्रधान मानाजाता है। अनुमान के क्षेत्र में प्रधान होने से हेतु को अनुमान-स्थानीय मानागया। तात्पर्य है–अनुमान-प्रमाण हेतु के रूप में उपस्थित होकर प्रस्तुत अर्थ को सिद्ध करने के लिए सन्नद्ध हुआ है। हेतु और अनुमान की समानता उदाहरण में प्रतिफलित होती है, जहाँ एक-धर्मी–उदाहरण में दो धर्मों के साध्य-साधनभाव को व्यवस्थित पायाजाता है। इसप्रकार अनुमान का उज्ज्वल स्वरूप सद्धेतु पर आधारित रहता है, अतः 'हेतु'-वाक्य अनुमानरूप कल्पना कियागया है।

'उदाहरण' प्रत्यक्षरूप—अनुमान के पाँच वाक्यों में तीसरा वाक्य उदाहरण प्रत्यक्ष-स्थानीय है। जिस पदार्थ में दो धर्मों के साध्य-साधनभाव को प्रत्यक्ष करलियाजाता है, वही पदार्थ उदाहरणरूप से प्रस्तुत कियाजाता है। उदाहरण दृष्ट होने से अदृष्ट अर्थ को सिद्ध करता है। जो दृष्ट है, वह प्रत्यक्ष है। अतः पाँच वाक्यों में उदाहरण प्रत्यक्ष का प्रतीक है। मानो—उदाहरणरूप में उपस्थित होकर प्रत्यक्ष प्रमाण अनुमान-साध्य अर्थ को सिद्ध करने में सहयोग देरहा है।

'उपनय' उपमानरूप—चौथा 'उपनय'-वाक्य उपमान-प्रमाण का प्रतीक है। दोनों में 'यथा, तथा' शब्दों के प्रयोग द्वारा अर्थ की अभिव्यक्ति होना समानता है। उपमान-प्रमाण में जैसे 'यथा गौस्तथा गवयः' प्रयोग द्वारा अर्थ का अभिव्यञ्जन होता है; वैसे उपनय-वाक्य में 'यथा घटः तथा शब्दः' कहकर अर्थ का प्रकाशन कियाजाता है।

पाँचवें वाक्य निगमन द्वारा एक अर्थ की सिद्धि में सब प्रमाणों की सफलता को प्रकट करदियाजाता है। इसप्रकार अनुमान के पाँच वाक्यों के रूप में समस्त प्रमाण परस्पर मिलकर किसी एक अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं। अर्थ-सिद्धि में अनुमान-प्रमाण का महत्त्व इससे स्पष्ट होता है।

'प्रतिज्ञा' आदि पाँच अवयवों का परस्पर सम्बन्ध—इसके अतिरिक्त इन पाँच वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध भी अटूट है। ये वाक्य एक-दूसरे से असम्बद्ध अनर्गल हों, ऐसा कदापि नहीं है। यह इनका ऐसा सम्बन्ध है, जिसे तोड़कर इनमें से किसीको अलग नहीं कियाजासकता। पहला वाक्य प्रतिज्ञा है; यदि इसको वाक्यसमूह से निकाल दियाजाय, तो हेतु आदि की प्रवृत्ति का आश्रय न रहेगा, तब हेतु आदि का प्रयोग किस आधार पर होगा, किसके लिए होगा? यदि हेतु को बाहर करदियाजाय, तो उदाहरण में जो साध्य के साधन का निर्देश कियाजाता है, दो धर्मों के साध्य-साधनभाव को अभिव्यक्त कियाजाता है, वह साधन—हेतु के अभाव में कैसे होगा? साध्यसिद्धि के लिए पक्ष में हेतु का आपादन भी न होगा, तथा निगमन में हेतु के कथनपूर्वक जो प्रतिज्ञावाक्य को दुहरायाजाता है, वह भी न हो सकेगा। अतः हेतु को वाक्यसमूह से हटाया-जाना सम्भव नहीं।

यदि वाक्यसमूह में उदाहरण को न रक्खाजाय, तो किसके साधर्म्य और वैधर्म्य से साध्य के साधक हेतु का ग्रहण कियाजायगा? उदाहरण के साथ साधर्म्य या वैधर्म्य को देखकर साध्य के साधक हेतु का निर्देश कियाजाता है [सूत्र, १। १। ३४]। इसीप्रकार उपनय के प्रयोग में उदाहरण के अनुसार 'तथा' एवं 'न तथा' कहकर साध्य का समर्थन कियाजाता है [सूत्र, १। १। ३८]। वह भी उदाहरण के अभाव में सम्भव न होगा। अतः अवयवों में से उदाहरण

को अलग कियाजाना अशक्य है; अन्य अवयवों का प्रयोग इस पर निर्भर करता है। इसप्रकार इनके परस्पर सम्बन्ध की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

उपनय नामक अवयव में उदाहरण के अनुसार साधक धर्म के बल पर साध्य का समर्थन कियाजाता है। यदि उपनय को इन अवयवों में से निकाल दियाजाय, तो साध्य को समर्थन प्राप्त न होने से इन वाक्यों के प्रयोग का उद्देश्य नष्ट होजाता है। इसीप्रकार पञ्चम अवयव 'निगमन' में प्रतिज्ञा आदि अवयवों के परस्पर सम्बन्ध को प्रकट करते हुए उनके फल का निर्देश कियाजाता है। उनके प्रयोग का परिणाम क्या निकला? यही उसमें स्पष्ट कियाजाता है। यदि निगमन को इस वाक्यसमूह में सम्बद्ध न मानाजाय, तो वह सब प्रयोग–फल का निर्देश न कियाजाने से–निष्फल रहजायगा।

तात्पर्य है, प्रत्येक अर्थ-सिद्धि की पूर्णता अनुमानप्रमाण के इन पाँच अवयव-वाक्यों द्वारा सम्पन्न होपाती है। इनका समुचित प्रयोग होने पर वादी, प्रतिवादी एवं श्रोता आदि को प्रस्तुत अर्थसिद्धि में किसीप्रकार की आशंका का अवकाश नहीं रहता। फलतः प्रत्येक अवयव का प्रयोग सार्थक–सप्रयोजन है। प्रतिज्ञावाक्य का प्रयोजन है–साध्य धर्म का धर्मी के साथ सम्बन्ध प्रकट करना। अन्वयि एवं व्यतिरेकि उदाहरण के अनुसार साध्य-धर्म को सिद्ध करने की क्षमता का निर्देश 'हेतु' का प्रयोजन है। दो धर्मों [साध्य और हेतु] के परस्पर साध्य-साधनभाव को एक जगह दिखलाना उदाहरण का प्रयोजन है। साध्य-साधन धर्मों का एक अधिकरण-पक्ष में उपपादन करना उपनय का प्रयोजन है। उदाहरण में जिन दो धर्मों के साध्यसाधनभाव को व्यवस्थितरूप से जानलिया है, उसको साध्य के अधिकरण-पक्ष में निश्चयात्मकरूप से व्यवस्थित व समर्थित करना निगमन का प्रयोजन है, जिससे (साध्यधर्म के) विपरीत प्रसंग का प्रतिषेध कियाजासके।

इन पाँच अवयववाक्यों में आधारभूत एवं महत्त्वपूर्ण हेतु और उदाहरण-वाक्यों का यदि पूर्णरूप से निर्दोष एवं समुचित प्रयोग कियाजाता है, तो उन सबप्रकार के प्रतिषेधों से बचाजासकता है, जो हेतु और उदाहरण के साधर्म्य–वैधर्म्य के आधार पर विविध प्रकारों को लेकर जाति और निग्रहस्थान के रूप में प्रस्तुत कियेजासकते हैं। जाति और निग्रहस्थान के उभरने व प्रयोग कियेजाने का अवसर तभी आता है, जब उन दो धर्मों [साध्य और हेतु] के निर्दोष साध्य-साधनभाव को उदाहरण में व्यवस्थितरूप से देखने-समझने की उपेक्षा करदीजाती है। इसलिए उन दो धर्मों के निर्दोष साध्य-साधनभाव को उदाहरण में व्यवस्थित एवं समुचितरूप से देख-समझलेने पर साधनभूत धर्म का हेतुरूप से प्रयोग कियाजाना चाहिये। उदाहरण में साध्य–हेतु के साधारण साधर्म्य-

वैधर्म्य को आपातमात्र देखकर कियागया हेतु का प्रयोग धोखा देजाता है। इसमें गहरी सावधानता वर्त्तना आवश्यक रहता है ॥ ३९ ॥

'तर्क' का स्वरूप—अवयव-विवरण प्रस्तुत करने के अनन्तर क्रमप्राप्त 'तर्क' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्व-ज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ ४० ॥

[अविज्ञाततत्त्वे] जिस वस्तु की यथार्थता को अभी तक नहीं जाना है, ऐसे [अर्थे] वस्तु के विषय में [कारणोपपत्तितः] कारण–साधक हेतु की सिद्धि–उपस्थिति से [तत्त्वज्ञानार्थम्] तत्त्वज्ञान के लिए–वस्तु के याथार्थ्य को जानने के लिए [ऊहः] ऊहा करना [तर्कः] तर्क का स्वरूप है।

सूत्र में केवल 'ऊहः' पद तर्क के स्वरूप को प्रकट करता है। सूत्र के शेष पद उसकी पृष्ठभूमि तथा संलग्न अपेक्षित विषय का विवरण प्रस्तुत करते हैं। 'ऊहः' पद 'ऊह' धातु से 'अच्' प्रत्यय होकर बना है, जिसका अर्थ है–विविध प्रकार का तर्क। जिस विषय को व्यक्ति तात्त्विकरूप से नहीं जानता, उसके जानने की इच्छा अवसर आने पर पैदा होती है। वह चाहता है–मैं इस विषय को जानूँ। जिस विषय को वह जानना चाहता है, उसमें परस्पर-विरुद्ध दो धर्म उसे प्रतीत होरहे हैं। उनपर वह अलग-अलग विचार करता है–क्या इस पदार्थ को प्रतीयमान इस धर्म के अनुसार मानाजाय, अथवा दूसरे धर्म के अनुसार? जब वह उन दोनों विरुद्ध धर्मों के विषय में इसप्रकार गम्भीरता से मनन व चिन्तन करता है, तब वह जिज्ञासित विषय के प्रतीयमान विरुद्ध धर्मों में से एक धर्म की स्वीकृति के लिए कतिपय तर्कपूर्ण कारणों को देखता है। वह तर्क के आधार पर चिन्तन की इस स्थिति में आजाता है कि अमुक पदार्थ में यह धर्म मानने के लिए कुछ प्रमाण व हेतु उपलब्ध हैं, तब इसको ऐसा मानना चाहिये, अन्य प्रकार का नहीं।

इस प्रसंग को उदाहरण द्वारा स्पष्ट करने व समझने के लिए जिज्ञासा करनेवाले 'ज्ञाता' को प्रथम दृष्टान्तरूप में सामने रखते हैं। जिज्ञासा करनेवाला यह ज्ञाता–आत्मा तात्त्विकरूप से क्या है? यह मैं जानूँ, स्वयं को जिज्ञासा होती है। जिज्ञासा करनेवाले को देह–इन्द्रिय आदि संघात के रूप में देखकर विचार उत्पन्न होता है कि ज्ञाता आत्मा को उत्पत्तिधर्मक मानना चाहिए, अथवा अनुत्पत्तिधर्मक? सामने दीखनेवाले देहेन्द्रियादि तो उत्पत्तिधर्मक हैं। ऐसा मानने पर इस ज्ञाता को यह देहादिरूप फल अपने किये कर्मों का नहीं मिला। कर्म किये विना विभिन्नरूप में देहादि फलप्राप्ति अवाञ्छनीय है। तब ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानना युक्त होगा।

ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानने का तात्पर्य है–ज्ञाता आत्मा नित्य पदार्थ है। वर्त्तमान देहादि की प्राप्ति के पहले ज्ञाता का अस्तित्व था। पूर्वदेहादि-सम्बन्ध में किये कर्मों के अनुसार ज्ञाता को वर्त्तमान देहादिरूप फल प्राप्त हुआ है। ऐसी मान्यता में ज्ञाता अपने किये कर्मों का फल प्राप्त कररहा है; यह वाञ्छनीय स्थिति स्पष्ट होजाती है, जो ज्ञाता के देहादिसम्बन्ध–असम्बन्धरूप जन्म-मरण के अनवरत अनुक्रम का बोध कराती है। यह ज्ञाता का संसारसम्बद्ध-रूप है। श्रेष्ठ कर्म और अध्यात्ममार्ग पर निरन्तर चलते रहने से कालान्तर में जब ज्ञाता को अपने तात्त्विकरूप का साक्षात्कार होजाता है; तब उस तत्त्वज्ञान से वह मिथ्याज्ञान नष्ट होजाता है, जो ज्ञाता को देहादिसम्बन्ध में लाने का कारण है। मिथ्याज्ञान के नाश होजाने से दोष, प्रवृत्ति और आगे देहादिसम्बन्ध-रूप जन्म नहीं रहते। तब सांसारिक दुःखों का उच्छेद होजाता है। यह ज्ञाता की अपवर्ग दशा कहीजाती है। इसप्रकार ज्ञाता को अनुत्पत्तिधर्मक मानने पर संसार और अपवर्ग की व्यवस्था का सामञ्जस्य उपपन्न होता है, जो ज्ञाता को उत्पत्तिधर्मक मानने में कदापि सम्भव नहीं।

यदि ज्ञाता–आत्मा को उत्पन्न हुआ मानाजाता है, तो देह, इन्द्रिय, बुद्धि, सुख, दुःख आदि के साथ उसके सम्बन्ध को, उसके अपने किये कर्मों का फल नहीं कहाजासकता। फिर यह भी है कि जो वस्तु उत्पन्न होती है, उसका नाश अवश्य होता है, उत्पन्न होने के अनन्तर कभी समय आयेगा, जब वह नहीं रहेगी। अपनी विद्यमान अवस्था में उत्पन्न ज्ञाता ने जो कर्म किये हैं, ज्ञाता के न रहने पर उन कर्मों का फल भोगनेवाला कोई न होगा। वे कर्म निष्फल होजायेंगे। शास्त्रीय अथवा बौद्धिक स्थिति पर यह एक बड़ा दोष मानाजाता है कि एक समय विना कर्मों के कुछ प्राप्त होजाय, और दूसरी ओर किये कर्मों का कोई फल न मिले। इस दोष को 'अकृताभ्यागम' और 'कृतहानि' कहाजाता है। अकृत का अभ्यागम–प्राप्ति और कृत की हानि। ऐसी दशा में यह कदापि सम्भव नहीं कि एक नित्य ज्ञाता–आत्मा का अनेक शरीरों के साथ संयोग और वियोग मानाजाय।

इसप्रकार तर्क का प्रयोग जिज्ञासु को इस स्तर पर पहुँचा देता है–दो विरोधी परिस्थितियों में से जिसमें प्रमाण उपपन्न हों, उसे स्वीकार करलेना चाहिए; उससे भिन्न की उपेक्षा करदेनी चाहिए।

प्रथम कहागया–सूत्र में लक्षणपद केवल 'ऊहः' है। लक्ष्यपद 'तर्कः' है। सूत्र के प्रथम पद 'अविज्ञाततत्त्वे अर्थे' तर्क के विषय का निर्देश करते हैं, जिसमें तर्क प्रवृत्त होता है। 'कारणोपपत्तितः' कारण की सम्भावना का और 'तत्त्व-ज्ञानार्थम्' पद तर्क के फल का निर्देश करते हैं। इससे स्पष्ट होता है, तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान का स्तर नहीं है। तत्त्वज्ञान वह स्थिति है, जहाँ वस्तु का निर्धारण

होजाता है। तर्क का क्षेत्र वहीं तक है, जहाँ वस्तु-सिद्धि के लिए उपयुक्त कारण की सम्भावना उभर आती है। तत्त्वज्ञान अथवा वस्तु-विषयक निर्णय तो उपयुक्त प्रमाणों की उपस्थिति पर होता है।

सामने उठता हुआ धुआँ देखकर तर्क जागता है–यदि उस प्रदेश में आग न होती, तो धुआँ उठता हुआ दिखाई न देता। अथवा तर्क का रूप होगा–यदि धुआँ आग के विना होजाया करता, तो आग से उत्पन्न हुआ न होता। तब उस प्रदेश में आग होनी चाहिए। यहाँ तर्क धुआँ और आग के कार्यकारणभाव को अभिव्यक्त करता है। इसीप्रकार व्याख्या में प्रस्तुत तर्क का उदाहरण देहादि फल और कर्म के कार्य-कारणभाव की अभिव्यक्ति करता है।

इसलिए तर्क स्वयं तत्त्वज्ञान न होकर तत्त्वज्ञान के लिए है, तत्त्वज्ञान में सहयोगी है। प्रमाणों को बल देता है। प्रमाणों को अपना कार्य करने के लिए–उनके मार्ग में आये संशयादि कचरे को हटाकर–मार्ग को स्वच्छ करता है; इसी रूप में तर्क तत्त्वज्ञान के लिए सहयोगी मानाजाता है। इसी सहयोग के आधार पर वाद-कथा [सूत्र १।२।१] में अर्थ की सिद्धि एवं प्रतिषेध के लिए प्रमाण के साथ तर्क को पढ़ागया है। इसप्रकार तर्क के सहयोग से जिज्ञासु वस्तु-तत्त्व को जानने के लिए अपना मार्ग प्रशस्त करलेता है॥ ४०॥

'निर्णय' का लक्षण—तर्क-विषयक विवरण के अनन्तर तर्क-क्षेत्र की सीमा से लगे निर्णय के विषय में सूत्रकार ने क्रम का आदर करते हुए बताया—

विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः॥ ४१॥

[विमृश्य] संशयपूर्वक तर्कद्वारा विचार करने के अनन्तर [पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्] पक्ष और प्रतिपक्ष के प्रयोग से [अर्थावधारणम्] एक अर्थ का निर्धारण [निर्णयः] निर्णय कहाजाता है।

एक धर्मी में दो विरुद्ध धर्म प्रतीत होने पर संशय उत्पन्न होजाता है–इस वस्तु का यथार्थ स्वरूप क्या है? तर्क के आधार पर दोनों ओर हेतु की खोज होती है। अनन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष के रूप में उन हेतुओं को प्रस्तुत कर अपने कथन की सिद्धि और दूसरे के कथन का प्रतिषेध कियाजाता है। उनमें से किसी एक के प्रतिषिद्ध होजाने से वह निवृत्त होजाता है, जो शेष रहता है, वह अर्थ का अवधारण–निश्चय है। उसीका नाम है–निर्णय। निर्णय का यह प्रकार उसी अवसर के लिए है, जहाँ पक्ष-प्रतिपक्ष के द्वारा चर्चा करके विषय का अवधारण–निश्चय कियाजाता है। ऐसी चर्चा में अपने पक्ष की स्थापना और दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध–दोनों वादी-प्रतिवादियों द्वारा अनुक्रम [लगातार सिलसिले] से–कियाजाता है।

पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों से निर्णय का विवेचन—आशंका होती है–पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों से अर्थ का अवधारण होना नहीं मानाजाना चाहिये, क्योंकि दोनों में से एक की सिद्धि और दूसरे का प्रतिषेध अवश्यम्भावी है। जिसका प्रतिषेध होगया, वह निवृत्त होजाता है; जो अवस्थित रहगया, निर्णय का स्वरूप उसीसे अभिव्यक्त होता है। इसलिए पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से उस एक को निर्णय का आधार मानना चाहिए, जो अवस्थित रहगया है।

समाधान–सूत्रकार ने 'पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्' कहा है, 'पक्ष-प्रतिपक्षयोरन्य-तरेण' नहीं कहा। इसके अनुसार निर्णय दोनों के द्वारा प्रकाश में आता है। कारण यह है कि पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से जब एक का सम्भव–सिद्ध होना, और दूसरे का असम्भव–असिद्ध होना स्थिर–निश्चित होजाता है, तब एक का सम्भव और दूसरे का असम्भव होना, ये दोनों मिलकर संशय की निवृत्ति करते हैं। यदि दोनों सिद्ध रहें, अथवा दोनों असिद्ध होजायें, तो संशय बना रहता है। संशय की निवृत्ति तभी होती है, जब एककोटिक ज्ञान निर्धारित होजाता है।

यदि किसी धर्मी में हेतु के बल पर दो विरुद्ध धर्मों का होना सिद्ध होता है, तो वहाँ धर्मों का समुच्चय मानलेना चाहिए। जैसे कहागया–'क्रियावद् द्रव्यम्' द्रव्य क्रियावाला होता है। यहाँ सामान्यधर्मी द्रव्य है, उसका धर्म 'क्रियावत्त्व' [क्रियावाला होना] बतलाया। परन्तु प्रत्येक द्रव्य क्रियावाला नहीं होता, जो व्यापक द्रव्य हैं–आकाश आदि, उनमें किसी प्रकार की गति आदि क्रिया का होना सम्भव नहीं। इसलिए द्रव्यत्व सामान्य से युक्त जो धर्मी हैं–द्रव्यमात्र, वहाँ किसी द्रव्य में क्रिया होती है, जो एकदेशी द्रव्य हैं; किन्हीं में क्रिया नहीं होती, जो विभु द्रव्य हैं। फलतः 'द्रव्यत्व' जातियुक्त द्रव्य–धर्मी में व्यक्तिभेद से दो विरुद्ध धर्म 'सक्रियत्व' और 'अक्रियत्व' रहजाते हैं। एकदेशी एक द्रव्य में भी कालभेद से 'अक्रियत्व' एवं 'सक्रियत्व' दोनों धर्म सम्भव हैं। जब द्रव्य में क्रिया होरही हो, तब 'सक्रिय' और जब तक उसमें क्रिया उत्पन्न नहीं हुई, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो चुकी है, तब वही द्रव्य 'अक्रिय' रहता है।

'निर्णय' पक्ष-प्रतिपक्ष के विना—निर्णय के विषय में यह एक बात और समझे रहनी चाहिए–प्रत्येक निर्णय के लिए आवश्यक नहीं होता कि वहाँ संशय के अनन्तर पक्ष-प्रतिपक्ष द्वारा अर्थ का निर्धारण होता हो; ऐसा वहीं होता है, जहाँ दो व्यक्तियों में परस्पर चर्चा द्वारा किसी सन्दिग्ध अर्थ के निर्धा-रण के लिए प्रयास कियाजाता है। इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान में अर्थ का अवधारण–निर्णय, विना संशय व पक्ष-प्रतिपक्ष प्रयोग के होजाता है। इसीप्रकार शास्त्र के अध्ययन से तथा गुरु आदि सदुपदेष्टा के

उपदेश से जो अर्थ का निश्चय होजाता है, वह भी ऐसा ही है। तात्पर्य है–संशय एवं पक्ष-प्रतिपक्ष की अपेक्षा वहीं होती है, जहाँ अनुमान-प्रमाण के द्वारा अर्थ का निर्णय कियाजाता है। जहाँ प्रत्यक्ष अथवा शब्दप्रमाण से अर्थ का अवधारण होता है, वहाँ संशय आदि अनपेक्षित हैं ।। ४१ ।।

इति श्री गौतमीयन्यायसूत्राणां विद्योदयभाष्ये
प्रथमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्।

अथ प्रथमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

[कथाप्रकरणम्]

वाद-कथा—अनुमान-प्रमाण द्वारा किसी अर्थ का निर्णय पारस्परिक कथा-चर्चा पर आधारित है। कथा तीन प्रकार की रहती हैं–वाद, जल्प, वितण्डा। उनमें क्रमप्राप्त वाद-कथा का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः ।। १ ।। (४२)

[प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः] प्रमाण और तर्क से साधन तथा उपालम्भ–प्रतिषेध (जिस कथा में हों) [सिद्धान्ताविरुद्धः] सिद्धान्त के विरुद्ध कथन न हो [पञ्चावयवोपपन्नः] प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से युक्त हों [पक्षप्रतिपक्ष-परिग्रहः] जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष को व्यवस्थानुसार स्वीकार कियागया हो, उस कथा का नाम [वादः] 'वाद' है।

सूत्र में 'परिग्रह' पद का अर्थ है–परस्पर चर्चा के लिए निर्धारित कियेगये नियम आदि का स्वीकार। एक अधिकरण में प्रतीयमान दो विरुद्ध धर्म यहाँ 'पक्ष-प्रतिपक्ष' पदों से ग्राह्य हैं। तात्पर्य हुआ–एक अधिकरण में दो विरुद्ध धर्मों को लक्ष्यकर निर्धारित नियमों के अनुसार जो चर्चा-कथा कीजाती है, वह 'वाद' नामक कथा है। 'वाद' का आपातस्वरूप सूत्र के इतने भाग से प्रतिफलित हो-जाता है। सूत्र का शेष भाग 'वाद' के तीन विशेषण हैं, जो उसकी प्रक्रिया के विषय में निर्देश देते हैं। पहला विशेषण है—

प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः—वाद-कथा में भाग लेनेवाले प्रत्येक व्यक्ति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने पक्ष की स्थापना प्रमाण और तर्क के

आधार पर करे । इसीप्रकार दूसरे के द्वारा कियेगये अपने पक्ष की स्थापना का उपालम्भ-प्रतिषेध भी वह प्रमाण और तर्क के आधार पर करे । इसीके अनुसार दूसरा प्रतिवादी भी अपने मत की स्थापना एवं दूसरे (वादी) के स्थापित मत का प्रतिषेध प्रमाण और तर्क के आधार पर प्रस्तुत करे ।

सिद्धान्ताविरुद्धः—वादी अथवा प्रतिवादी ने जिस सिद्धान्त को स्वीकृत कर वादकथा के रूप में चर्चा प्रारम्भ की है, उस सिद्धान्त के विरुद्ध न कहकर अनुकूल बात कही जानी चाहिए । वादकथा प्रायः गुरु-शिष्य, उपदेष्टा-जिज्ञासु तथा साथ पढ़नेवाले छात्रों में परस्पर होती है । सिद्धान्त के विषय में पूर्ण जानकारी न होने से चर्चा के ऐसे प्रसंगों में कभी सिद्धान्त के विरुद्ध कोई बात कहीजासकती है । सिद्धान्त के विरुद्ध कहेजाने से वह कथन विरुद्ध हेत्वाभास की सीमा में आजाता है, हेत्वाभास निग्रहस्थान में गिनेगये हैं । कथा में छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग से स्वपक्ष-साधन और परपक्ष का प्रतिषेध होना 'जल्प' कथा की कोटि में आता है, वह 'वाद'-कथा का स्वरूप नहीं रहता । सूत्र के इस दूसरे विशेषण के आधार पर सूत्रकार ने यह अभिप्राय प्रकट किया है कि उक्त प्रकार यदि चर्चा में सिद्धान्त के विरुद्ध बात कहीजाय, तो ऐसा कथन वाद कथा की सीमा को लाँघता नहीं । उसे जल्पकथा की कोटि में न लेजाकर वाद-कथा ही समझना चाहिए । इसप्रकार विरुद्ध हेत्वाभासरूप निग्रह-स्थान का प्रयोग होजाना वाद-कथा में स्वीकृत है ।

पञ्चावयवोपपन्नः—स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के प्रतिषेध के लिए ऐसी चर्चाओं में अनुमान-प्रमाण का आश्रय लियाजाता है । वाद के इस तीसरे विशेषण से यह स्पष्ट किया कि अनुमान- प्रमाण का प्रयोग प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों से उपपन्न–युक्त होना चाहिए । इस निर्देश से सूत्रकार ने यह तात्पर्य प्रकट किया कि उक्तप्रकार से यदि शिष्य या जिज्ञासु आदि द्वारा अनुमान के प्रयोग में किसी अवयव का कथन नहीं होता, अथवा किसी अवयव का अधिक कथन होजाता है, तो यह 'हीन' एवं 'अधिक' नामक निग्रहस्थान की कोटि में आजाता है । फिर भी इस कथा को 'जल्प' न मानकर 'वाद' मानना चाहिए । इसप्रकार 'हीन' और 'अधिक' नामक निग्रहस्थान के प्रयोग का होजाना 'वाद' में स्वीकार करलिया गया है ।

इस व्यवस्था के अनुसार प्रमाण एवं तर्क आदि के आधार पर अपने पक्ष की सिद्धि और दूसरे के पक्ष का प्रतिषेध, वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए समानरूप से लागू होते हैं । यह चर्चा उस समय तक चालू रहती है, जबतक दोनों पक्षों में से कोई एक निवृत्त, और दूसरा व्यवस्थित नहीं होजाता । जो निवृत्त हुआ, उसका प्रतिषेध होगया ; जो व्यवस्थित रहगया, वह सिद्ध होगया ।

आशंका होती है–अवयवों में सब प्रमाणों एवं तर्क का समावेश रहता है, जैसा कि अवयव-निरूपण प्रसंग में कहागया है, तब 'पञ्चावयवोपपन्नः' इतना कहने से कार्य चलजाता, सूत्र में पृथक् 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' कथन का क्या प्रयोजन है ?

समाधान—ऐसी चर्चा में प्रत्येक पक्ष के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रमाण व तर्क के आधार पर अपने पक्ष की सिद्धि और दूसरे पक्ष का प्रतिषेध प्रस्तुत करे। यदि सूत्र में इस पद को नहीं रक्खाजाता, तो स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष के प्रतिषेध की भावना अभिव्यक्त नहीं होती; उस दशा में स्थापना की भावना से प्रवृत्त हुए दोनों पक्ष 'वाद' मानलियेजाने चाहिएँ; जो अवाञ्छनीय है। 'वाद'-कथा का स्वरूप तभी सम्पन्न होता है, जब एक का साधन और दूसरे का प्रतिषेध होजाय। यह स्थिति उक्त पद के रखने पर अभिव्यक्त होती है।

इसके अतिरिक्त यह एक बात है कि प्रतिज्ञा आदि अवयवों के प्रयोग के विना–प्रत्यक्ष एवं शब्दप्रमाणों से–अर्थ की सिद्धि होती है। इससे भी वाद-कथा में साधन और उपालम्भ सम्भव हैं। ऐसा प्रसंग उन अवसरों पर आता है, जहाँ शिष्य अथवा जिज्ञासु किसी अर्थ को समझने के लिए गुरु अथवा उपदेष्टा से चर्चा करते हैं। तात्पर्य है–सूत्र के प्रथम पद के अन्तर्गत 'प्रमाण' पद अनुमान के अतिरिक्त प्रत्यक्ष एवं शब्द-प्रमाण का भी संकेत करता है, जो 'पञ्चावयवोपपन्नः' पद के प्रयोगमात्र से सम्भव नहीं।

एक बात और है, आगे जल्प-कथा में छल-जाति-निग्रहस्थान से स्वपक्ष-साधन और परपक्ष के प्रतिषेध का कथन किया है। इससे यह न समझना चाहिए कि जल्प-कथा में केवल छल आदि के द्वारा साधन–उपालम्भ होता है, और प्रमाणतर्क के द्वारा केवल वाद में। प्रत्युत जल्प-कथा में भी प्रमाण और तर्क से साधन व उपालम्भ उसीप्रकार कियेजाते हैं, जैसे वाद-कथा में। यदि प्रस्तुत सूत्र में 'प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः' पद नहीं रक्खाजाता, तो जल्प-कथा में प्रमाण तर्क से साधन-उपालम्भ की उपपत्ति नहीं कीजासकेगी। इसीकेलिए जल्प-लक्षण के सूत्र में 'यथोक्तोपपन्नः' कहा है। तात्पर्य है–वादकथा की समस्त प्रक्रिया का उपपादन जल्प-कथा में होता है। फलतः सूत्र में प्रथम पद का निर्देश आवश्यक है ॥ १ ॥

'जल्प'-कथा का स्वरूप—कथा के दूसरे प्रकार 'जल्प' का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥ २ ॥ (४३)

[यथोक्तोपपन्नः] जैसा कहा है—वाद-कथा में—उससे उपपन्न—युक्त, तथा [छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भः] छल, जाति और निग्रहस्थान के द्वारा जिस कथा में स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का उपालम्भ हो, वह [जल्पः] 'जल्प' नामक कथा है।

गतसूत्र के लक्ष्य पद को छोड़कर शेष समस्त सूत्र यहाँ अनुवृत्त होता है। यह 'यथोक्तोपपन्नः' सूत्र पद से निश्चित है। वादकथा की सब व्यवस्था यथापेक्षित जल्पकथा में लागू होती है। इसके अनुसार जल्पकथा में प्रमाण एवं तर्क से स्वपक्ष का साधन और परपक्ष का प्रतिषेध, अपने स्वीकृत सिद्धान्त के विरुद्ध कोई कथन न कियाजाना, अनुमान के प्रयोग में पाँचों अवयवों का यथायथ उपयोग करना, पक्ष-प्रतिपक्ष की व्यवस्था को स्वीकृत करना—ये सभी बातें जल्पकथा में अपेक्षित रहती हैं। इनके साथ इतना और है कि यहाँ छल, जाति, निग्रहस्थान के द्वारा भी साधन-उपालम्भ होता है।

यद्यपि छल आदि से किसी अर्थ का साधन सम्भव नहीं है, क्योंकि इनके सामान्य लक्षण और विशेष लक्षणों में इनका जो स्वरूप बताया है, उससे इनका प्रयोजन—अर्थ का प्रतिषेध करना ही ज्ञात होता है। जैसे छल के सामान्यलक्षण [१।२।१०] में 'वचनविघातः' पद है, दूसरे के कहे हुए को काटना। जाति के लक्षण [१।२।१८] में 'प्रत्यवस्थानम्' पद है, प्रतिवादी के कथन का प्रतिषेध करना। निग्रहस्थान के लक्षण में 'विप्रतिपत्तिः' और 'अप्रतिपत्तिः' [१।२।१९] पद हैं। विपरीत अथवा निन्दनीय जानकारी का प्रकट करना; तथा अज्ञान का प्रकट करना। प्रतिवादी के कथन को इन रूपों में अभिव्यक्त करना उसके प्रतिषेध को प्रकट करता है। तथापि परपक्ष का प्रतिषेध करने के द्वारा ये छल आदि अपने पक्ष की सिद्धि में सहायक होते हैं; इतने अंश में इनकी साधनता स्वीकार कीजाती है। स्वतन्त्र रूप से ये किसी अर्थ के साधक नहीं होते।

जल्प-कथा में जब प्रमाणों से अर्थ का साधन कियाजाता है, उस समय छल-जाति-निग्रहस्थान के प्रयोग से परपक्ष का प्रतिषेध करने के द्वारा ये छल आदि अपने पक्ष की रक्षा करते हैं। इसप्रकार ये अर्थ-साधक प्रमाणों के सहायक होकर अर्थसिद्धि में औपचारिक रूप से भागीदार समझेजाते हैं। इसी भावना से जल्प और वितण्डा-कथा के विषय में स्वयं सूत्रकार ने आगे कहा है—"तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत्" [४।२।५०]। जैसे खेत में उपजे अंकुरों की रक्षा के लिए काँटेदार झाड़ियों की बाड़ लगादीजाती है, ऐसे ही तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग है। इसप्रकार प्रमाणों के द्वारा जब परपक्ष का प्रतिषेध कियाजाता है, उस समय प्रतिवादी द्वारा कियेगये स्वपक्षप्रतिषेध में प्रयुक्त हुए छल-जाति-

निग्रहस्थान उस प्रतिषेध का विघात कर स्वपक्ष के साधन में सहकारी होते हैं। फलतः जल्पकथा में प्रमाण आदि के अङ्गभूत हुए छल आदि का उपयोग किया-जाता है। स्वतन्त्ररूप से किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करते, परन्तु प्रतिषेध करने में ये अवश्य स्वतन्त्र रहते हैं ॥ २ ॥

'वितण्डा'-कथा का स्वरूप—क्रमप्राप्त वितण्डा-कथा का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥ ३ ॥ (४४)

[सः] वह जल्प [प्रतिपक्षस्थापनाहीनः] प्रतिपक्ष की स्थापना से जब रहित होता है, तब [वितण्डा] 'वितण्डा' कहाजाता है।

जल्पकथा प्रवृत्त होने पर यदि प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष की स्थापना नहीं करता, तो वह 'वितण्डा'- कथा का स्वरूप बनजाता है। जल्प में पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों की स्थापना होती है, परन्तु वैतण्डिक अपने पक्ष की स्थापना किये विना परपक्ष के प्रतिषेध में प्रवृत्त रहता है। यदि ऐसा है, तो सूत्रकार ने 'स प्रतिपक्षहीनो वितण्डा' ऐसा सूत्र क्यों नहीं बनादिया ? इसमें वास्तविकता यह है, कि वैतण्डिक का अपना पक्ष तो अवश्य है–परपक्ष का प्रतिषेध करना; परन्तु वह किसी साध्य की प्रतिज्ञा करके हेतु उदाहरण आदिपूर्वक अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता। दूसरे के कथन का प्रतिषेधमात्र करता रहता है। अतः सूत्र की रचना पूर्ण एवं यथार्थ है।

इन तीनों कथाओं में पहली 'वाद'- कथा वस्तुतत्त्व को यथार्थरूप में समझने की भावना से होती है। शेष दोनों कथा पारस्परिक चर्चा में विजय की भावना से कीजाती हैं ॥ ३ ॥

हेत्वाभास के भेद—क्रमप्राप्त हेत्वाभासों का लक्षण बताने की भावना से सूत्रकार ने उनके विभाग का निर्देश किया—

सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीता[1] हेत्वाभासाः ॥ ४ ॥ (४५)

[सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमसाध्यसमकालातीताः] सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत (ये पाँच प्रकार के) [हेत्वाभासाः] हेत्वाभास हैं।

सूत्र में हेत्वाभास के पाँच प्रकारों का स्पष्ट निर्देश कियागया है। इससे हेत्वाभास के विभाग तो ज्ञात होजाते हैं, परन्तु हेत्वाभास का सामान्य लक्षण या स्वरूप का निर्देश नहीं किया गया, जो होना चाहिये था। वस्तुतः हेत्वाभास का स्वरूप इस पद के निर्वचन से अभिव्यक्त होजाता है, इसलिए यह कहना

---

१. 'साध्यसमातीतकाला' विश्वनाथवृत्तिपाठः।

उपयुक्त न होगा कि यहाँ लक्षण का निर्देश नहीं है, अथवा सूत्रकार ने उसकी उपेक्षा की है।

हेत्वाभास पद का अर्थ है–जो वस्तुतः हेतु न हो, पर हेतु के समान आभास-प्रतीत होरहा हो। हेतु की वास्तविकता है–साध्य को सिद्ध करने का सामर्थ्य। पञ्चम्यन्त आदि पदके रूप में प्रयोग होना–हेतु की समानता है। 'हेतुवद् आभासन्ते इति हेत्वाभासाः' यहाँ 'वति' प्रत्यय हेतुरूप से प्रयुक्त पद को हेतु से भिन्न होना स्पष्ट करता है–जो हेतु के समान दीखता है, पर वस्तुतः हेतु नहीं है, हेतु से भिन्न है। इसप्रकार यह पद स्वयं अपने स्वरूप को स्पष्ट करदेता है॥ ४॥

'सव्यभिचार' हेत्वाभास का लक्षण—विभागसूत्र में प्रथमपठित सव्यभिचार हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अनैकान्तिकः सव्यभिचारः॥ ५॥ (४६)

[अनैकान्तिकः] जो हेतु एकत्र व्यवस्थित न हो, वह [सव्यभिचारः] सव्यभिचार नामक हेत्वाभास होता है।

एक अन्त–सिद्धान्त में जो हेतु व्यवस्थित होता है, वह 'ऐकान्तिक' कहाजाता है। जो ऐसा न हो, वह अनैकान्तिक है। हेतु के व्यवस्थित होने का तात्पर्य है–हेतु का साध्य के अधिकरण में रहना, साध्याभाव के अधिकरण में न रहना। जो हेतु साध्याधिकरण में रहता हुआ साध्याभाव के अधिकरण में भी रहता है, वह एकत्र व्यवस्थित नहीं है। ऐसा हेतु सव्यभिचार हेत्वाभास होगा। यह तात्पर्य स्वयं सव्यभिचार पद से अभिव्यक्त होता है। 'व्यभिचार' पद का अर्थ है–एकत्र व्यवस्थित न रहना–विविधरूप से अथवा विभिन्न स्थानों में यहाँ-वहाँ अभिचरण करना; पक्ष और विपक्ष दोनों जगह रहजाना। इस रूप में यह हेत्वाभास 'अनैकान्तिक' तथा 'सव्यभिचार' दोनों नामों से व्यवहृत होता है।

उदाहरण–'नित्यः शब्दः, अस्पर्शत्वात् आत्मवत्', शब्द-पक्ष में नित्यत्व साध्य है, अस्पर्शत्व हेतु है, आत्मा दृष्टान्त। जैसे आत्मा अस्पर्श–स्पर्शरहित होने से नित्य है, वैसे अस्पर्श होने से शब्द नित्य है। यह अन्वयी दृष्टान्त है। इसीको व्यतिरेकी दृष्टान्त के अनुसार ऐसे कहाजायगा–जो पदार्थ अस्पर्श= स्पर्शरहित नहीं हैं, अर्थात् स्पर्शवाले हैं, वे नित्य नहीं होते, अर्थात् अनित्य होते हैं; जैसे घट-पट आदि पदार्थ; परन्तु शब्द वैसा–स्पर्शवाला नहीं है, अतः अनित्य नहीं, प्रत्युत नित्य है।

उक्त दोनों प्रकार के दृष्टान्तों के अनुसार यह हेतु अनैकान्तिक है। अन्वयी दृष्टान्त में अस्पर्श–स्पर्शरहित भी 'बुद्धि' अनित्य है। बुद्धि का अर्थ यहाँ

ज्ञान है, जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष अथवा अन्य प्रकार से उत्पन्न होता है। व्यतिरेकी दृष्टान्त में स्पर्शरहित न होता हुआ भी परमाणु नित्य होता है। अतः नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए 'अस्पर्शत्व'-हेतु साधनरूप से प्रस्तुत नहीं कियाजासकता; क्योंकि यह नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में रहता है। नित्यत्व और अस्पर्शत्व का परस्पर साध्य-साधनभाव उपपन्न नहीं होता। सपक्ष और विपक्ष दोनों में रहने से अनैकान्तिक है; अतः यह साध्य-साधक हेतु न होकर अनैकान्तिक होने से सव्यभिचार हेत्वाभास है।

सव्यभिचार [अनैकान्तिक] के तीन भेद—यह तीन प्रकार का होता है–साधारण, असाधारण, अनुपसंहारी। पहला वह है, जो सपक्ष-विपक्ष दोनों में रहता है। इसका उदाहरण ऊपर दियाजाचुका है। दूसरा है, जो सपक्ष और विपक्ष दोनों से व्यावृत्त हो, अर्थात् न सपक्ष में रहता हो, न विपक्ष में, जैसे–'शब्दः नित्यः, शब्दत्वात्'। शब्द अधिकरण में नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए 'शब्दत्व'-हेतु 'असाधारण–अनैकान्तिक' है; क्योंकि यह केवल साध्याधिकरण शब्द में रहता है; न सपक्ष-आत्मा आदि में और न विपक्ष-घट आदि में। तीसरा अनुपसंहारी वह है, जो केवलान्वयि पक्षवाला ऐसा ही सपक्ष–विपक्ष से रहित हेतु हो, जैसे–'सर्वं नित्यं, प्रमेयत्वात्'। यहाँ 'सर्व' पक्ष में नित्यत्व साध्य है, प्रमेयत्व हेतु के साथ उसकी व्याप्ति के उपसंहार के लिए कोई पदार्थ सपक्ष या विपक्ष शेष नहीं रहता, जहाँ निश्चित साध्य के साथ हेतु की व्याप्ति को प्रस्तुत कियाजासके। 'सर्व' पक्ष होने से सर्वत्रनित्यत्व संदिग्ध है ॥ ५ ॥

'विरुद्ध' हेत्वाभास लक्षण—क्रमप्राप्त विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः ॥ ६ ॥ (४७)

[सिद्धान्तम्] अपने एक सिद्धान्त को [अभ्युपेत्य] स्वीकारकर [तद्विरोधी] उसीका विरोधी हेतु [विरुद्धः] 'विरुद्ध' नामक हेत्वाभास कहाजाता है।

चर्चा के अवसर पर अभिमत पक्ष में किसी साध्यधर्म की सिद्धि के लिए हेतु का निर्देश कियाजाता है। जैसे किसी ने कहा–'अयं प्रदेशः वह्निमान्' निश्चित प्रदेश–पक्ष में 'वह्निमत्त्व' साध्य है। इसकी सिद्धि के लिए प्रस्तुत कियागया–'ह्रदत्वात्' हेतु 'विरुद्ध' हेत्वाभास होजाता है। ह्रद का अर्थ तालाब-जलाशय है। वहाँ आग का होना सम्भव नहीं। यह हेतु अग्नि का साधक न होकर अग्नि के अभाव का साधक है। अपने प्रतिज्ञात अर्थ का विरोधी होने से विरुद्ध-हेत्वाभास है। इसका परिणाम निकला–जो हेतु साध्य के अधिकरण अर्थात् सपक्ष में न रहकर विपक्ष में रहता है, वह विरुद्ध-हेत्वाभास है।

इसीप्रकार जब एक वादी यह कहता है कि प्रत्येक विकार [परिणामी पदार्थ] अपनी एक अवस्था को छोड़कर अन्य अवस्था में परिणत होजाता है, क्योंकि कोई विकार नित्य नहीं होता, नित्य पदार्थ कभी अवस्थान्तर को प्राप्त नहीं होता— इस मान्यता को स्वीकार कर जब यह कहाजाता है कि अपनी एक अवस्था से अवस्थान्तर में परिणत हुआ भी विकार बनारहता है; क्योंकि किसी पदार्थ का सर्वथा विनाश नहीं होता— यह कथन पहले उस कथन के विरुद्ध होजाता है, जिसमें यह मानागया है कि कोई विकार नित्य नहीं होता। विकार का नित्य न होना, अर्थात् विनाश को प्राप्त होजाना, तथा विनष्ट होने पर भी बने रहना, यह दोनों कथन परस्पर-विरुद्ध हैं। 'बना रहना' वस्तु की विद्यमानता-सद्भाव को बताता है; और 'विकार का नित्य न होना' वस्तु की अविद्यमानता–असद्भाव को प्रकट करता है। किसी पदार्थ में 'होना' और 'न होना' दोनों विरुद्ध धर्म साथ-साथ सम्भव नहीं। इसप्रकार ये हेतु–'विकारो व्यक्तेरपैति, **'नित्यत्वप्रतिषेधात्'** तथा 'अपेतोऽपि विकारोऽस्ति, **विनाशप्रतिषेधात्'** ये हेतु परस्पर-विरुद्ध हैं, जिस सिद्धान्त का आश्रय लेकर प्रवृत्त होते हैं, उसीका व्याघात करते हैं[1] ॥ ६ ॥

'प्रकरणसम' हेत्वाभास का स्वरूप—सूत्रकार ने क्रमप्राप्त प्रकरणसम हेत्वाभास का स्वरूप बताया—

यस्मात् प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥ ७ ॥ (४८)

[यस्मात्] जिससे [प्रकरणचिन्ता] चर्चा–प्रसंग द्वारा जिज्ञासा प्रवृत्त हुई है, [सः] वह, जब [निर्णयार्थम्] निर्णय के लिए [अपदिष्टः] कहदियाजाता है, वह [प्रकरणसमः] 'प्रकरणसम' नामक हेत्वाभास मानाजाता है।

चर्चाओं में संशय के आधार पर पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों का चालू रहना 'प्रकरण' है। संशय से लेकर निर्णय होनेके पहले तक जो विवेचन व विचार कियाजाता है, वह किसी जिज्ञासा के आधार पर प्रवृत्त होता है। वह जिज्ञासा जिस कारण से उभरती है, उसीको यदि निर्णय के लिए हेतु रूप में प्रस्तुत करदियाजाता है, तो यह पक्ष-प्रतिपक्ष दोनों में से किसी एकको न हटासकने के कारण चर्चा–प्रसंग (प्रकरण) को समाप्त नहीं करपाता, क्योंकि वह जिज्ञासा का उत्प्रेरक होने से दोनों पक्षों के लिए समान होता है। ऐसा हेतु 'प्रकरणसम' हेत्वाभास कहाजाता है। यह निर्णय के लिए समर्थ नहीं होता।

---

१. **यह सांख्यसिद्धान्त का विवेचन उसके याथार्थ्य की उपेक्षा करते हुए वात्स्यायन-भाष्य में प्रस्तुत कियागया है।**

जैसे किसीने कहा–'शब्दः अनित्यः, नित्यधर्मानुपलब्धेः'। शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्य के धर्म उपलब्ध नहीं होते। इसीके समान प्रतिवादी ने कहा–'शब्दः नित्यः, अनित्यधर्मानुपलब्धेः', शब्द नित्य है, क्योंकि वहाँ अनित्य पदार्थ के धर्म उपलब्ध नहीं होते। शब्द में नित्य एवं अनित्य का संशय होने पर विशेष निर्णय की अपेक्षा प्रकरण को प्रवृत्त करती है; नित्य एवं अनित्य दोनों धर्मो की शब्द में अनुपलब्धि प्रकरण–प्रवृत्ति का कारण है; उसको निर्णय के लिए प्रस्तुत करना 'प्रकरणसम' हेत्वाभास है, क्योंकि उससे प्रकरण की समाप्ति नहीं होती। यदि इनमें से–नित्य या अनित्य--किसी एक के धर्मों को शब्द में जानलियाजाता है, तो प्रकरण अर्थात् चर्चा का प्रसंग समाप्त होजाता है। अतः उक्त हेतु दोनों पक्षों को प्रवृत्त रखने के कारण किसी एक के निर्णय के लिए समर्थ न होने से प्रकरणसम हेत्वाभास है।

'प्रकरणसम' का 'अनैकान्तिक' से भेद—यद्यपि अनैकान्तिक हेत्वाभास के प्रसंग में प्रस्तुत हेतु किसी एक पक्ष के निर्णय में असमर्थ होता है, क्योंकि वह सपक्ष-विपक्ष दोनों में समानरूप से विद्यमान रहता है। तथापि, अनैकान्तिक से प्रकरणसम का भेद इसप्रकार समझना चाहिये—अनैकान्तिक में सपक्ष-विपक्षवृत्ति एक ही धर्म हेतुरूप से प्रस्तुत होता है। जैसे–'पर्वतो धूमवान्, वह्निमत्वात्'। यहाँ वह्नि हेतु एकमात्र धर्म, धूम के भाव और अभाव दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहता है। काष्ठ आदि ईंधन से संयुक्त होने पर आग के साथ धुआँ रहता है; परन्तु दहकते अंगारे और तप्त लौहपिण्ड आदि के साथ धुआँ नहीं रहता। इसप्रकार वह्नि-हेतु धूम की सिद्धि में अनैकान्तिक है।

इसके विपरीत प्रकरणसम में बराबरी का दूसरा हेतु प्रस्तुत कियाजाता है; एक ही हेतु साध्य एवं साध्याभाव के अधिकरण में अथवा सपक्ष-विपक्ष में उभयत्र विद्यमान रहता हो, ऐसा नहीं है। जैसे उक्त उदाहरण में सपक्ष-विपक्ष के पृथक् दो हेतु–'नित्यधर्मानुपलब्धेः' तथा 'अनित्यधर्मानुपलब्धेः' प्रस्तुत कियेगये हैं। नव्य आचार्यों ने ऐसे आधार पर इस हेत्वाभास को 'सत्प्रतिपक्ष' नाम दिया है। जिस हेतु के साध्याभाव का साधक बराबर का हेतु विद्यमान हो, वहाँ पहला हेतु 'सत्प्रतिपक्ष' हेत्वाभास मानाजाता है। प्रतियोगी शत्रु उपस्थित रहने पर वह अपना कार्य करने में असफल रहता है। ऐसी स्थिति में कभी-कभी सद्धेतु भी हेत्वाभास मानलियाजाता है, जब वादी अपनी असमर्थता के कारण प्रतिवादी के द्वारा प्रस्तुत हेतु का प्रत्याख्यान नहीं करपाता॥ ७॥

'साध्यसम' का लक्षण—क्रमप्राप्त साध्यसम हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

साध्याविशिष्टः[1] साध्यत्वात् साध्यसमः ॥ ८ ॥ (४९)

[साध्याविशिष्टः] जो साध्य से भेद न रखता हो (साध्य के समान हो), ऐसा हेतु स्वयं [साध्यत्वात्] साध्य होने के कारण [साध्यसमः] 'साध्यसम' नामक हेत्वाभास कहाजाता है।

ऐसा धर्म, जो स्वयं अभी साध्य है, उसको यदि साधन के रूप में प्रस्तुत करदियाजाता है, तो वह साधक हेतु न होकर हेत्वाभास रहता है। प्रस्तुत हेत्वाभास का यह नाम–'साध्यसम' स्वतः अपने स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। स्वयं असिद्ध धर्म अन्य का साधन कैसे होगा ? इसी आधार पर नव्य आचार्यों ने इसे 'असिद्ध' हेत्वाभास नाम दिया है।

असिद्ध [साध्यसम] हेत्वाभास के भेद—यह तीन प्रकार का माना है—आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध, व्याप्यत्वासिद्ध।

आश्रयासिद्ध—हेतु का आश्रय अर्थात् पक्ष जहाँ असिद्ध हो, वह हेतु 'आश्रयासिद्ध हेत्वाभास' मानाजाता है। जैसे–'काञ्चनमयः पर्वतो वह्निमान्, धूमवत्त्वात्', सुवर्ण का पहाड़ आगवाला है, यहाँ हेतु का आश्रय 'सोने का पहाड़' असिद्ध है। ऐसा पहाड़ किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। वहाँ अग्नि साध्य के समान स्वयं वह आश्रय भी साध्य है। इसके अन्य उदाहरण–'खपुष्पं सुगन्धि, पार्थिवत्वात्' आदि कल्पना कियेजासकते हैं।

स्वरूपासिद्ध—जो हेतु स्वरूप से असिद्ध है; प्रस्तुत कियागया ऐसा हेतु 'स्वरूपासिद्ध' हेत्वाभास होता है। जैसे—'जलाशयः द्रव्यम्, धूमात्' यहाँ जलाशय पक्ष (आश्रय) में धूम का होना स्वरूप से असिद्ध है। तालाब में धूम का होना किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इस प्रसंग का–वात्स्यायनभाष्य में प्रस्तुत–उदाहरण स्वरूपासिद्ध हेत्वाभास का इस प्रकार है–'छाया द्रव्यम्', गतिमत्वात्'—छाया द्रव्य है, गतिवाला होने से। छाया में गतिमत्त्व स्वरूप से असिद्ध है। छाया गतिवाली है, या चलती है, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। जैसे छाया में द्रव्यत्व साध्य है, ऐसे गतिमत्त्व साध्य है; अतः यहाँ 'गतिमत्त्व' स्वरूपासिद्ध साध्यसम हेत्वाभास है।

देखना चाहिये, छाया वस्तुतः क्या है ? यह स्पष्ट है–चलते हुए आवरक द्रव्य से अथवा चलते प्रकाश के मध्य में आये आवरक द्रव्य से जो भूभाग अथवा भित्ति आदि का भाग आवृत होजाता है, ढकजाता हैं, वहाँ उस-उस प्रदेश के साथ प्रकाश का सान्निध्य–सम्बन्ध नहीं रहता; प्रदेश के साथ प्रकाश का सान्निध्य न रहना छाया है; वह कोई अतिरिक्त द्रव्य नहीं है। छाया में गति का प्रतीत होना स्पष्ट भ्रान्ति है। वह गति प्रकाश अथवा प्रकाश के

---

१. **यहाँ 'च' अधिक पाठ है। न्या० नि०।**

आवरण में होती है। प्रकाश की असन्निधिरूप छाया में उसका आरोप करलियाजाता है। फलतः छाया में गतिमत्व स्वरूप से असिद्ध होनेके कारण यह प्रस्तुत प्रसंग में 'स्वरूपासिद्ध–साध्यसम' हेत्वाभास है।

व्याप्यत्वासिद्ध—यह साध्यसम हेत्वाभास वहाँ है, जहाँ हेतु और साध्य का अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य नहीं होता। जैसे–'पर्वतो धूमवान्, वह्नेः' यहाँ धूम साध्य और वह्नि हेतु है। यह वह्नि-हेतु दहकते अंगार आदि में धूम को छोड़कर भी रहजाता है, इसलिए वह्नि-हेतु, धूम-साध्य का व्यभिचारी है। इनका अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य न होने से धूम-साध्य के लिए वह्नि-हेतु 'व्याप्यत्वासिद्ध' हेत्वाभास है।

अन्य उदाहरण–'स श्यामः, मित्रातनयत्वात्' वह श्याम है, मित्रा का लड़का होने से। यहाँ 'मित्रातनयत्व'-हेतु श्याम का व्यभिचारी है, क्योंकि मित्रा का अन्य तनय श्याम (साँवला) नहीं है। जो मित्रा का तनय है, वह श्याम है, यह व्यभिचरित व्याप्ति है। हेतु-साध्य का अव्यभिचरित सामानाधिकरण्य न होने से प्रस्तुत हेतु, साध्यसम हेत्वाभास है। मित्रा के सब तनय (बालक) साँवले हैं, यह सिद्ध कहाँ है ?

नव्य आचार्यों ने व्याप्यत्वासिद्ध का लक्षण–हेतु-साध्य के व्यभिचरित सम्बन्ध का आश्रयकर–इसप्रकार किया है–'सोपाधिको हेतुर्व्याप्यत्वासिद्धः' जिस हेतु में उपाधि लगजाय, वह व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास है। 'उपाधि' वह धर्म है, जिसकी व्याप्ति साध्य के साथ बनजाय, तथा साधन के साथ न बने–'साध्य-व्यापकत्वे सति साधनाव्यापकत्वमुपाधिः'। ऊपर कहे प्रथम उदाहरण में 'आर्द्रेन्धनसंयोग' उपाधि है। काष्ठ, कोयला आदि ईंधन के साथ आग का सद्यस्क सम्बन्ध धूम को पैदा करता है। इस स्थिति को उक्त उपाधिधर्म से कहागया है। प्रथम उदाहरण में धूम साध्य और वह्नि साधन (हेतु) है। इस उपाधि धर्म की–साध्य-धूम के साथ–व्याप्ति पूर्णरूप से समञ्जस होती है–जहाँ धूम है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग अवश्य रहता है। यह व्यवस्था वह्नि-साधन के साथ नहीं–जहाँ वह्नि है वहाँ आर्द्रेन्धनसंयोग हो, यह आवश्यक नहीं है; जैसे दहकते अंगार आदि में। यहाँ वह्नि है, आर्द्रेन्धन–संयोग नहीं। अतः प्रस्तुत उदाहरण में 'वह्नि' हेतु व्याप्यत्वासिद्ध है।

द्वितीय उदाहरण में 'शाकपाकजन्यत्व' उपाधि है। मित्रा ने जब अपनी गर्भावस्था में हरे साग-सब्जी आदि का आहार में अधिक उपयोग किया, तब बालक साँवला होगया; जब ऐसा नहीं किया, तब साँवला नहीं हुआ। अतः मित्रा का तनय होना श्यामता का साधक नहीं; प्रत्युत श्यामता का हेतु 'शाकपाकजन्यत्व' है। प्रस्तुत प्रसंग में साध्य का व्यापक और साधन का

अव्यापक होने से यह उपाधि धर्म–श्यामता-सिद्धि में 'मित्रातनयत्व' हेतु को–व्याप्यत्वासिद्ध हेत्वाभास प्रमाणित करता है ॥ ८ ॥

'कालातीत' हेत्वाभास का लक्षण—साध्यसम हेत्वाभास के अनन्तर क्रमप्राप्त कालातीत हेत्वाभास का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥ ९ ॥ (५०)

[कालात्ययापदिष्टः] काल के अत्यय (बीतजाने) से कहागया हेतु [कालातीतः] 'कालातीत' नामक हेत्वाभास होजाता है।

जिस किसी अर्थ का विचार चालू रहने पर साध्य की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रयुक्त कियाजाता है, यदि वह साध्य की सिद्धि के अवसर को लाँघजाता है, तो वह कालातीत हेत्वाभास है। साध्य-सिद्धि के अवसर को लाँघजाने का तात्पर्य–साध्य-सिद्धि में हेतु की अक्षमता को प्रकट करना है। हेतु की यह अक्षमता प्रमाणान्तर से साधित होती है। जैसे किसी ने कहा—'वह्निः अनुष्णः, कृतकत्वात्, घटादिवत्'। यहाँ वह्नि पक्ष में 'अनुष्णत्व' साध्य है। प्रत्यक्ष प्रमाण से अनुष्णत्व का अभाव अग्नि में सिद्ध है। प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित होकर 'कृतकत्व' हेतु प्रस्तुत साध्य की सिद्धि के अवसर को खोदेता है। अथवा कहिये–मुँह मोड़कर एक ओर हक्का-बक्का खड़ा रहजाता है। इसीका तात्पर्य है–साधनता के अवसर को खोदेना या लाँघजाना।

भाष्यकार ने उदाहरण दिया–'शब्दः नित्यः, संयोगव्यङ्ग्यत्वात्, रूपादिवत्'। शब्द नित्य अर्थात् अवस्थित है, सुनाई देने से पहले भी विद्यमान रहता है। दारु-परशुसंयोग अथवा भेरीदण्डसंयोग से वह अभिव्यक्त (प्रकट) होजाता है। जैसे घर में रक्खे घट-पट आदि रूपवान् द्रव्य अन्धकार में न दीखने पर भी प्रकाश के आने पर अभिव्यक्त होजाते हैं, दिखाई देने लगते हैं, इसीप्रकार नगाड़े (भेरी) पर डण्डे की चोट (संयोग) देने पर अथवा लकड़ी पर कुल्हाड़ा मारने पर जो ध्वनि सुनाई देती है, वह पहले से विद्यमान है; दारु-परशुसंयोग अथवा भेरीदण्ड-संयोग उसे केवल प्रकट करता है, उत्पन्न नहीं; जैसे प्रकाश पहले से अवस्थित रूपादि को प्रकट करता है। वादी ने इसप्रकार अपना पक्ष प्रस्तुत किया।

सिद्धान्ती कहता है, शब्द की नित्यता को सिद्ध करने के लिए, 'संयोग-व्यङ्ग्यत्व' हेतु न होकर 'कालातीत' नामक हेत्वाभास है। कारण यह है–पहले से अवस्थित रूपादि पदार्थ उसी समय तक प्रकट रहते हैं, जब तक प्रकाश का सम्बन्ध उनके साथ बना रहता है। परन्तु शब्द के विषय में ऐसी स्थिति नहीं है। दारु-परशुसंयोग अथवा भेरीदण्डसंयोग के न रहने पर भी दूरस्थ व्यक्ति के द्वारा शब्द सुनाई पड़ता है। इससे स्पष्ट होता है, दारु-परशुसंयोग शब्द का

अभिव्यञ्जक न होकर उत्पादक है। शब्द पहले से अवस्थित नहीं, संयोग से उत्पन्न होता है, तथा शब्दसन्तति द्वारा दूरस्थ पुरुष को–संयोग के न रहने पर भी–सुनाई देता है। इसप्रकार शब्द का सुनाई देना संयोगकाल को अतिक्रमण करजाता है, इससे ज्ञात होता है, 'संयोग' शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं। इसी आधार पर यह कालातीत हेत्वाभास है।

अनुमान द्वारा अभिमत अर्थ की सिद्धि के लिए अनुमान-प्रमाण के प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का प्रयोग होता है। उनके प्रयोग का एक निर्धारित क्रम है। उस क्रम को लाँघकर अथवा उसका विपर्यय करके प्रयोग करना–सूत्र के कालात्यय पद का–अर्थ नहीं है। क्योंकि प्रतिज्ञा आदि अवयवों को उलट-फेर कर बोलदेने से उनकी अर्थ-साधन-क्षमता में कोई अन्तर नहीं आता। जिस पद या वाक्य का जिस अन्य पद या वाक्य से अर्थ-कृत सम्बन्ध होता है, उस पद या वाक्य के दूर पड़जाने पर भी वह अपने बोध्य अर्थ को प्रकट करने में समर्थ रहता है। जिन पदों का परस्पर अर्थकृत सम्बन्ध नहीं रहता, यदि वे क्रमबद्ध भी पठित हैं, तो भी वे किसी अभिमत अर्थ के बोधक नहीं होते। फलतः यदि हेतु या उदाहरण आदि उचित साधर्म्य या वैधर्म्य के अनुसार क्रमिक स्थान को छोड़कर भी कहेगये हैं, तो इतने से साध्य अर्थ को सिद्ध करने की उनकी क्षमता नष्ट नहीं होजाती। जब साध्य के प्रति साधनता का वह परित्याग नहीं करता, तो वह हेत्वाभास नहीं होसकता।

इसके अतिरिक्त अवयवों का विपर्यास से कथन करना 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान [सूत्र ५। २। ११] में परिगणित करदियागया है। चर्चा के अवसरों पर वादी या प्रतिवादी की घबराहट से ऐसा होजाया करता है। यह स्थिति वक्ता की दुर्बलता को प्रकट करने के कारण निग्रहस्थान का प्रयोजक है। उसीको पुनः हेत्वाभास के रूप में प्रस्तुत करना व्यर्थ है॥ ९॥

'छल' का लक्षण—हेत्वाभास-निरूपण के अनन्तर क्रमप्राप्त छल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्॥ १०॥ (५१)

[वचनविघातः] अन्य के कहेगये कथन की काट करना [अर्थविकल्पोपपत्त्या] अर्थ की विविध अथवा विरुद्ध कल्पना को उभारदेने के द्वारा, [छलम्] 'छल' मानाजाता है।

किसी वक्ता ने एक बात कही, उसके कथित पद या पदों के विविध अर्थ–अथवा वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थ–की कल्पना करके वक्ता के कथन की काट करना 'छल' मानाजाता है। छल तीन प्रकार का होता है। छल के उदाहरण उन भेदों के अनुसार उस-उस विभाग के विवरण-प्रसंग में समझने चाहियें॥ १०॥

'छल' के भेद—छल के तीन भेद या विभाग इसप्रकार हैं—

तत् त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचार-च्छलं च ॥ ११ ॥ (५२)

[तत्] वह छल [त्रिविधम्] तीन प्रकार का है–[वाक्छलम्] वाक्छल, [सामान्यच्छलम्] सामान्यछल, [उपचारच्छलम्] उपचारछल [च] और।

वाक्छल, सामान्यच्छल और उपचारच्छल, बस ये तीन प्रकार के छल चर्चाप्रसंगों में व्यवहृत होते रहते हैं। ११ ॥

'वाक्छल' का लक्षण—उनमें सर्वप्रथम वाक्छल का लक्षण सूत्रकार ने बताया–

अविशेषाऽभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम् ॥ १२ ॥ (५३)

[अविशेषाऽभिहिते] सामान्यरूप से कहेगये [अर्थे] अर्थ–कथन में [वक्तुः] वक्ता के [अभिप्रायात्] अभिप्राय से [अर्थान्तरकल्पना] अन्य अर्थ की कल्पना [वाक्छलम्] वाक्छल है।

उच्चारण में अनेक वाक्य अथवा पद ऐसे होते हैं, जिनके एकाधिक अर्थ रहते हैं। वे सभी अर्थ शक्तिबोध्य हैं, मुख्य हैं। उस पद या वाक्य को बोलकर वक्ता का तात्पर्य किसी एक विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करना होता है। सामान्यरूप से अर्थ का कथन होने पर भी विशेष अर्थ की प्रतिपत्ति के कारण वहाँ विद्यमान रहते हैं। उन कारणों की उपस्थिति में वक्ता के अभिप्राय को समझलेना कठिन नहीं होता, न उसमें किसीप्रकार के सन्देह का अवकाश रहता है। फिर भी जानबूझकर केवल वक्ता के कथन को काटने की भावना से कथित पदों के अन्य अर्थ की कल्पना कर वक्ता के कथन को झुठलाया जाता है।

जैसे किसी ने कहा–'नवकम्बलोऽयं माणवकः'। यह बालक–छात्र 'नव-कम्बल' है। यह पद समासयुक्त है। इसमें 'नव' शब्द के दो अर्थ हैं–नया, और नौ संख्या। इस पद के प्रयोग में वक्ता का तात्पर्य है–'नवः कम्बलोऽस्य' इसका कम्बल नया है। परन्तु छलवादी वक्ता के अभिप्राय को जानता हुआ कहता है–आपने क्या कहा ? इसके पास नौ कम्बल हैं ? नौ कम्बल कहाँ हैं, इसके पास तो एक कम्बल है। इसप्रकार वाणी अर्थात् उच्चरित पद (वाक्) के आधार पर च्छल होने से इसका नाम 'वाक्छल' है। यह केवल वक्ता के उपहास आदि किये-जाने की भावना से प्रवृत्त होता है।

मूल वक्ता के द्वारा इसका उत्तर निम्नप्रकार दियाजाना चाहिए। वक्ता छलवादी से कहता है–आपने कहा कि मैंने इस बालक के पास नौ कम्बल बताये हैं। आपने यह किस हेतु से जाना कि मैंने इसके पास नौ कम्बल बताये हैं?

मैंने तो कहा–इसका नया कम्बल है, सामने दिखाई देरहा है। आपके पास यह सिद्ध करने के लिए कोई प्रमाण नहीं कि मैंने इसके पास नौ कम्बल बताये हैं। इसलिए मेरे ऊपर आपका उक्त आरोप नितान्त मिथ्या है।

लोक में प्रत्येक जानकार इस बात को जानता है कि कौन-सा पद किस अर्थ का वाचक है। व्यवहार में निरन्तर प्रयुक्त होनेवाले पदों का व्यवहार किसी सामान्य या विशेष अर्थ का बोध कराने के लिए लगातार कियाजाता है। अर्थ का ज्ञान कराना शब्द के प्रयोग का प्रयोजन है। प्रयोग के सामर्थ्य से अर्थात् शब्दप्रयोग की सफलता के अनुसार सामान्य शब्द के प्रयोग की व्यवस्था है। प्रयुक्त हुआ सामान्य शब्द भी विशेष अर्थ का बोध कराता है। जैसे किसीने कहा–'अजां ग्रामं नय' अथवा 'सर्पिराहर' अथवा 'ब्राह्मणं भोजय'। इन वाक्यों में अजा, ग्राम, सर्पि [घृत], ब्राह्मण आदि सब सामान्य पद हैं; परन्तु इनसे विशेष अर्थ का ही बोध होता है। प्रथम वाक्य से ऐसा बोध नहीं होता कि चाहे जिस बकरी [अजा] को चाहे जिस गाँव को लेजाया जाय। ये पद सामान्य होते हुए भी विशेष बकरी और विशेष गाँव का बोध कराते हैं। दूसरे वाक्य से भी यह बोध नहीं होता कि चाहे जहाँ से घी उठा लाओ [सर्पिराहर]। कहीं रक्खे हुए विशेष घी का ही बोध कराता है, यद्यपि 'सर्पिः' घृतवाचक सामान्य पद है। इसीप्रकार अन्तिम वाक्य में 'ब्राह्मण' सामान्य पद है; पर किसी विशिष्ट ब्राह्मण को लक्ष्य करके इसका प्रयोग हुआ है। फलतः पदप्रयोग की सफलता को देखकर कथित पद से जिस अर्थ के निर्देश की सम्भावना हो सकती है, उसी अर्थ को ग्रहण करना अभिप्रेत होता है।

ऐसे ही प्रस्तुत प्रसंग में 'नवकम्बलः' सामान्य शब्द है। इसके–नया कम्बल और नौ कम्बल–दोनों अर्थ हैं; पर जिस अर्थ का बोध कराने में प्रसंगानुसार इसकी सफलता–सार्थकता है, उसी अर्थ का बोध सम्भव है। 'नया कम्बल' अर्थ प्रसंगानुसार संगत है। जिस अर्थ 'नौ कम्बल' की सम्भावना नहीं, उस अर्थ को बोध कराने में इस वाक्य की प्रवृत्ति नहीं होगी। इसलिए जिस अर्थ की कल्पना अयुक्त है, उसके आधार पर वक्ता को उलाहना देना असंगत है।

वाक्छल और उसके समाधान की ऊहा के लिए लोकव्यवहार में आये दिन अनेक उदाहरण सामने आते हैं। वाक्छल सर्वत्र प्रायः द्व्यर्थक पदों में उभरता है। 'गो' पद का अर्थ 'गाय' और 'बाण' दोनों हैं। 'गौर्विषाणी' कहने पर–'बाण के सींग [विषाण] कहाँ ?' कहना वाक्छल है। 'विषाण' सींग और सूँड़ दोनों का वाचक है। 'गजो विषाणी' कहने पर–'हाथी के सींग कहाँ ?' वाक्छल है। इसके उदाहरण का प्रसिद्ध वाक्य 'श्वेतो धावति' है। यहाँ सन्धिच्छेद से अर्थान्तर की कल्पना होती है। 'श्वेतः' सफेद घोड़ा दौड़ रहा है, वक्ता का अभिप्राय है। इसमें 'श्वा-इतः' सन्धिच्छेद करके वाक्छल का प्रयोग होता है–

कुत्ता [श्वा] इधर से दौड़ता है! कुत्ता यहाँ कहाँ है? इत्यादि वाक्छल है। अनेक उदाहरण इसीप्रकार कल्पना किये जासकते हैं ॥ १२ ॥

सामान्यच्छल का लक्षण—वाक्छल के अनन्तर सूत्रकार ने सामान्यच्छल का लक्षण बताया—

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम् ॥ १३ ॥ (५४)

[सम्भवतः] सम्भव होनेवाले [अर्थस्य] अर्थ का [अतिसामान्ययोगात्] अत्यन्त सामान्य के साथ सम्बन्ध जोड़देने से [असम्भूतार्थकल्पना] असम्भव (न होसकनेवाले) अर्थ की कल्पना (कर परवाक्य में दोष देना), [सामान्यच्छलम्] 'सामान्यच्छल' है।

एक वक्ता ने किसी अर्थ की कहीं पर सम्भावना व्यक्त की। उस सम्भावना को अत्यन्त सामान्य आधार में लेजाकर जोड़देने से जो एक असम्भव अर्थ की कल्पना करलीजाती है, और उसके अनुसार वक्ता के द्वारा अभिव्यक्त सम्भावना को असत्य ठहरायाजाता है, यह 'सामान्यच्छल' की सीमा में आता है।

किसी व्यक्ति ने अपनी प्रसन्नता को अभिव्यक्त करते हुए कहा—'अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याचरणसम्पन्नः' बड़े हर्ष की बात है, यह ब्राह्मण विद्या और आचरण दोनों से सम्पन्न है, युक्त है। विद्वान् है और सदाचारी है। इस कथन पर वक्ता ने एक सामान्य बात कही—'सम्भवति ब्राह्मणे विद्याचरणसंपत्' ब्राह्मण में विद्या और आचरण की सम्पत्ति का होना सम्भव है। एक कुलीन ब्राह्मण में विद्या और सदाचार-रूप सम्पत्ति की सम्भावना को अभिव्यक्त करते हुए वक्ता का तात्पर्य उस ब्राह्मण व्यक्तिविशेष की प्रशंसा करने में है। ब्राह्मण में ऐसा होना सम्भव है।

इस पर छलवादी इस सम्भावना को अति सामान्य के साथ—अर्थात् जन्म-मात्र के समस्त ब्राह्मण-समुदाय के साथ जोड़देता है, और एक असम्भव अर्थ की कल्पना कर कहता है—यदि ब्राह्मण में विद्या और सदाचार की सम्पत्ति होना सम्भव है, तो व्रात्य में भी वैसा विद्या-ज्ञान और सदाचार होना चाहिए। व्रात्य उस व्यक्ति को कहाजाता है, जो अपने वर्ण-धर्मों पर आचरण न करने के कारण पतित होगया हो। जो अर्थ गुण-कर्मानुसार ब्राह्मण में सम्भव है, उस अर्थ की—केवल जन्मानुगत ब्राह्मण में—कल्पना कर वक्ता के उक्त कथन में दोष देना 'सामान्यच्छल' है। एक विशिष्ट व्यक्ति के लिए कहेगये प्रशंसापरक वाक्य को अतिसामान्य—ब्राह्मणमात्र के साथ जोड़देने से एक असम्भव अर्थ—व्रात्य का विद्याचरणसम्पन्न होना—उभर आता है, जो छलवादी ने वक्ता पर आरोपित किया। विद्या और आचरण की सम्पत्ति कहीं रहती है, कहीं नहीं रहती। जो

परिश्रम करता है, वर्णानुकूल धर्म का पालन करता है, वह सम्पत्ति पाता है; जो नहीं करता, नहीं पाता । यह सामान्यनिमित्तक छल होने से 'सामान्यच्छल' कहाजाता है ।

वक्ता इसका समाधान इसप्रकार करता है—मैंने ब्राह्मण होने [ब्राह्मणत्व] को विद्या और सदाचार का हेतु नहीं बताया । केवल—जहाँ विद्या और सदाचार है, उसकी प्रशंसा के लिए उक्त वाक्य कहागया है । इसलिए यहाँ ऐसे अर्थ की कल्पना करना सर्वथा अनुपपन्न है, जो किसीतरह सम्भव नहीं । जैसे यह कहा-जाता है कि 'सम्भवन्ति अस्मिन् क्षेत्रे शालयः' इस खेत में धान बहुत अच्छे पैदा होने सम्भव हैं । इसका यह तात्पर्य नहीं कि यहाँ बीज बोना अनावश्यक है, खेत अपने-आप धान पैदा करदेगा । यहाँ न तो बीज बोने का निराकरण है, और न उसके कहने की अपेक्षा है; केवल धान की अच्छी फसल होने की सम्भावना को लेकर खेत की प्रशंसामात्र में वक्ता का तात्पर्य है । ऐसा नहीं कि बीज विना बोये खेत धानों को उगा देगा । फसल तो बीज बोने पर होसकती है, पर यहाँ उसकी विवक्षा नहीं है । इसीप्रकार ब्राह्मण-कुल में जन्म लेने मात्र से विद्या एवं सदाचार-सम्पत्ति की प्राप्ति होना आवश्यक नहीं है, न उसकी यहाँ विवक्षा है । ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न होने से वातावरण अनुकूल होने के कारण विद्या-आचरण- सम्पत्ति की सम्भावना प्रकट करते हुए केवल उसके आधार की प्रशंसा में वक्ता का तात्पर्य है । विद्या आदि फलसम्पत्ति की प्राप्ति तो उसके हेतु—गुरुशुश्रूषा, अध्ययनपरिश्रम, ब्रह्मचर्यवास आदि—से होसकती है । उक्त वाक्य से उसका निराकरण नहीं कियागया । फलतः एक असम्भव अर्थ की कल्पना के आधार पर उक्त कथन में दोष का उद्भावन अनुपपन्न है ।। १३ ।।

'उपचारच्छल' का लक्षण—क्रमप्राप्त उपचारच्छल का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम् ।। १४ ।। (५५)

[धर्मविकल्पनिर्देशे] धर्म के विकल्प से शब्द का निर्देश होने पर [अर्थसद्भावप्रतिषेध] अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध करना [उपचारच्छलम्] 'उपचारच्छल' है ।

शब्द का धर्म है, अपने वस्तुभूत अर्थ का बोध कराना । शब्द से अर्थ का बोध कहीं अभिधा-शक्ति के अनुसार होता है, और कहीं लक्षणा-शक्ति के अनुसार । आलङ्कारिक उक्तियों में कहीं व्यञ्जना-शक्ति के अनुसार अर्थबोध होता है । शब्द के अर्थबोधरूप धर्म की यह पद्धति विविध प्रकार की है, यह है—धर्म-विकल्प । अभिधा-शक्ति से अर्थबोध कराने पर, लक्षणा-शक्ति के आधार से उस

अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध तथा लक्षणा-शक्ति से अर्थबोध कराने पर, अभिधा-शक्ति के आधार से उस अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध 'उपचारच्छल' कहाजाता है। उपयुक्त अर्थबोध कराने की भावना से वक्ता द्वारा प्रयुक्त शब्दों को सुनकर यह समझलेने में कोई अधिक कठिनता नहीं होती कि उक्त वाक्यप्रयोग अभिधा-शक्ति के अनुसार कहागया है, अथवा लक्षणा-शक्ति के अनुसार। जिस पद्धति से वाक्यप्रयोग हुआ है, उससे भिन्न पद्धति का आश्रय लेकर वक्ता द्वारा कहेगये अर्थ का प्रतिषेध करना 'उपचारच्छल' है।

जैसे किसीने कहा—'मञ्चा:क्रोशन्ति'—मचान चिल्ला रहे हैं। खेतों की रखवाली के लिए बल्लियाँ या दूसरी मोटी ऊँची लकड़ियाँ ज़मीन में गाड़कर उनके ऊपर बैठने का जो स्थान बनालियाजाता है, उसे संस्कृत में 'मञ्च' तथा हिन्दी में 'मचान' या 'टाँड' कहाजाता है। अभिनयस्थान को भी 'मञ्च' कहा-जाता है। खेत के मचान पर बैठकर व्यक्ति चिड़ियों या अन्य जंगली जानवरों को भगाने के लिए हल्ला मचाता रहता है। इसी अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए वक्ता ने 'मञ्चा: क्रोशन्ति' वाक्य कहा। स्पष्ट है, मचान कभी नहीं चिल्लाते; वह तो लकड़ी, घास-फूँस आदि का ढेर है; उसके ऊपर बैठे व्यक्ति चिल्लाया करते हैं, अत: यह लक्षणामूलक औपचारिक प्रयोग है। 'लक्षणा' अथवा 'उपचार' पद समान अर्थ को कहते हैं। ऐसे कथन का अभिधा-शक्ति के आधार पर प्रतिषेध करना—'मचान कहाँ चिल्लाते हैं? मचान पर बैठे पुरुष चिल्ला रहे हैं'—उपचारच्छल है।

'उपचार' पद का तात्पर्य है—किसी शब्द के अर्थ को उसके समीपसम्बन्धी आदि पर आरोपित करना। प्रस्तुत प्रसंग में 'पुरुष' पद के अर्थ को 'मञ्च' में आरोपित करदियागया है। गुण, भक्ति, लक्षणा, उपचार आदि पद इन प्रसंगों में एकार्थवाचक हैं। गौण-भाक्त-लाक्षणिक-औपचारिक प्रयोग, एक ही बात है। जो जैसा नहीं है, किन्हीं निमित्तों के आधार पर उसको वैसा बतादेना 'उपचार' है। इन निमित्तों का उल्लेख प्रसंगवश सूत्रकार ने आगे [२।२।६२] किया है।

ऐसे प्रतिषेध का समाधान निम्न रूप में करना चाहिए। लोक में अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जनामूलक सभी प्रकार के प्रयोग होते हैं, और वे मान्य हैं। जिस पद्धति से वक्ता ने वाक्यप्रयोग किया है, उसीके अनुसार उसका स्वीकार अथवा प्रतिषेध होना चाहिए, स्वेच्छा से नहीं। यह उचित नहीं है कि वक्ता ने लक्षणा-मूलक प्रयोग किया; उसका प्रतिषेध अथवा स्वीकार अभिधामूलक पद्धति से कियाजाय। इसीप्रकार अभिधामूलक प्रयोग होने पर लक्षणा-मूलक पद्धति से उसका प्रतिषेध आदि अनुचित है॥ १४॥

छल-लक्षण परीक्षा—शास्त्रीय अर्थों का विवेचन–उद्देश, लक्षण, परीक्षा–इन तीन रूपों में कियाजाता है। प्रस्तुत प्रसंग लक्षण-निर्देश का है। परन्तु छल-विषयक परीक्षा अत्यल्प होने के कारण सूत्रकार ने यहीं उसका विवरण देदिया है। इस सन्दर्भ में शिष्य जिज्ञासा करता है—

वाक्छलमेवोपचारच्छलं तदविशेषात् ॥ १५ ॥ (५६)

[वाक्छलम्] वाक्छल [एव] ही है, [उपचारच्छलम्] उपचारच्छल, [तदविशेषात्] उन दोनों में अविशेष–समानता होने से।

उपचारच्छल को वाक्छल से भिन्न नहीं समझना चाहिए। कारण यह है कि वाक्छल में अर्थान्तर की कल्पना से कथित वाक्य का प्रतिषेध कियाजाता है। ऐसा ही उपचारच्छल में है; क्योंकि यहाँ भी गुणभूत प्रयोग में प्रधान की कल्पना करके प्रतिषेध होता है। 'मञ्चाः क्रोशन्ति' वाक्य में 'मञ्च' पद का प्रधान [अभिधाशक्तिबोध्य] अर्थ स्थान है, तथा गुणभूत [लक्षणाशक्तिबोध्य] अर्थ स्थानी [उस स्थान में बैठनेवाला व्यक्ति] है। वक्ता ने इसका प्रयोग गुणभूत अर्थ में किया। परन्तु छलवादी ने प्रधान–अर्थान्तर की कल्पना करके उसका प्रतिषेध किया। इसप्रकार अर्थान्तर की कल्पना से अन्य अर्थ के [वक्ता द्वारा बोध्य अर्थ के] सद्भाव का प्रतिषेध दोनों जगह–वाक्छल, उपचारच्छल में–समान है। अतः उपचारच्छल को पृथक् कहना अनावश्यक है ॥ १५ ॥

सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न तदर्थान्तरभावात् ॥ १६ ॥ (५७)

[न] नहीं, [तदर्थान्तरभावात्] उन दोनों में भेद होने के कारण।

उपचारच्छल का समावेश वाक्छल में सम्भव नहीं है, क्योंकि उन दोनों में परस्पर भेद है। वाक्छल में केवल अर्थान्तर की कल्पना है, लक्षणसूत्र में अर्थान्तर की कल्पना को वाक्छल कहागया है। परन्तु उपचारच्छल के लक्षण में–अर्थसद्भाव के प्रतिषेध को उपचारच्छल बताया है। 'अर्थान्तर की कल्पना' और 'अर्थसद्भाव के प्रतिषेध' में स्वरूपतः भेद है। वाक्छल के उदाहरण से स्पष्ट है, वहाँ अर्थ–कम्बल के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं है, केवल 'नव' पद के अर्थान्तर की कल्पना है; उसी आधार पर वक्ता के कथन में दोष प्रस्तुत कियागया है। परन्तु उपचारच्छल में अर्थसद्भाव का प्रतिषेध स्पष्ट है। क्रोशन या चिल्लाहट के सन्दर्भ में मञ्च–अर्थ के सद्भाव का प्रतिषेध कर उसकी जगह पुरुष को स्वीकार किया–'मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति, न तु मञ्चाः।' इसप्रकार इन दोनों में भेद होने से वाक्छल और उपचारच्छल को एक नहीं समझना चाहिए ॥ १६ ॥

शिष्य की सन्तुष्टि के लिए सूत्रकार ने प्रस्तुत प्रसंग को प्रकारान्तर से स्पष्ट किया—

अविशेषे वा किञ्चित्साधर्म्यादेकच्छलप्रसङ्गः ।। १७ ।। (५८)

[अविशेषे] भेद न मानने पर [वा] तो [किञ्चित्साधर्म्यात्] थोड़े-से साधर्म्य से [एकच्छलप्रसंगः] एक छल का मानलेना प्राप्त होजायगा।

सूत्रकार ने छल के तीन भेदों का उल्लेख किया है। यदि थोड़े-से साधर्म्य से वाक्छल और उपचारच्छल को एक मानकर छल के दो भेद स्वीकार किये-जाते हैं, तो ऐसा थोड़ा साधर्म्य छलमात्र में सम्भव है; तब दो भेद भी क्यों मानेजायें, एक ही छल स्वीकार कर लेना चाहिए। जिज्ञासु जिस हेतु के आधार पर तीन की जगह दो भेद छल के स्वीकार करता है, उसी हेतु के आधार पर–स्वीकृत दो भेद का प्रतिषेध सम्भव है, क्योंकि उन दो भेदों में भी थोड़ा साधर्म्य विद्यमान रहता है। वह साधर्म्य है–किसी के कथित वाक्य के अर्थ-वैविध्य की कल्पना से उस कथन को काटने का प्रयास करना। इससे मिलती-जुलती स्थिति प्रत्येक छल में है। यदि इसप्रकार के थोड़े-से साधर्म्य के रहने पर दो भेद स्वीकार कियेजाते हैं, तो तीन भेद स्वीकार करने में क्या बाधा है? थोड़ा साधर्म्य रहने पर कुछ वैलक्षण्य भी प्रत्येक छल के स्वरूप में हैं, जो लक्षणसूत्रों में स्पष्ट करदिया है। प्रत्येक छल में किञ्चित् साधर्म्य स्वीकार कर लेने से शिष्य जिज्ञासा के आधार की पुष्टि द्वारा शिष्य की सन्तुष्टि को आचार्य ने उपलक्षित किया है ।। १७ ।।

जाति का लक्षण—छल का विवरण प्रस्तुत करदेने के अनन्तर अब क्रम-प्राप्त जाति का सामान्य लक्षण सूत्रकार ने बताया—

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः ।। १८ ।। (५९)

[साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्] साधर्म्य और वैधर्म्य के द्वारा (वादी के उपस्थापित हेतु का) [प्रत्यवस्थानम्] प्रतिषेध करना [जातिः] 'जाति' नामक पदार्थ है।

वादी के द्वारा प्रयुक्त हेतु में जो प्रसंग बाधारूप से प्रस्तुत कियाजाता है, उसका नाम 'जाति' है। 'प्रयुक्ते हेतौ प्रसंगो जायते इति जातिः।' वह प्रसंग क्या है? सूत्रकार ने बताया–'साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानम्' वादी ने अपने पक्ष को–हेतु-साध्य की व्याप्ति से सम्पन्न सोदाहरण–स्थापित किया। प्रतिवादी जब उसका सदुत्तर देने में अपने को असमर्थ पाता है, तो पराजय से बचने और किसी-न-किसी प्रकार वादी को निरुत्तर करने एवं श्रोता-समुदाय को प्रभावित करने की भावना से 'जाति' का प्रयोग करता है। यदि वादी उससे दबजाता है,

जाति के प्रयोग का निराकरण नहीं करपाता; तो प्रतिवादी का प्रयोजन सिद्ध होजाता है; वह चर्चा में विजयी मानलियाजाता है।

इसके विपरीत प्रतिवादी द्वारा अपनी दुर्बलता को छिपाने के लिए जाति का प्रयोग करने पर यदि वादी उस जाति के प्रयोग को उद्घाटित करदेता है, और यह ठीक बतादेता है कि यह अमुक जाति का प्रयोग इस आधार पर है, तो प्रतिवादी पराजित मानलियाजाता है। क्योंकि चर्चा में जाति का प्रयोग करना अपनी दुर्बलता का द्योतक होता है, जो पराजय का निमित्त है।

सूत्रकार ने जाति-प्रयोग के चौबीस भेद अथवा प्रकार बताये हैं, जिनका विवरण पञ्चम अध्याय के प्रथम आह्निक में दियागया है। उनमें साधारण रूप से वादी के कथन में साधर्म्य-वैधर्म्य के आधार पर दोष प्रस्तुत करना लक्ष्य रहता है। यदि वादी उदाहरण के साधर्म्य से साध्य को सिद्ध करने वाले हेतु के साथ अपने पक्ष की स्थापना करता है, तो प्रतिवादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्याभाव को सिद्ध करनेवाले हेतु के द्वारा वादी के कथन में दोष प्रकट करता है। यदि वादी उदाहरण के वैधर्म्य से साध्य को सिद्ध करनेवाले हेतु के साथ अपने पक्ष की स्थापना करता है, तो प्रतिवादी उदाहरण के साधर्म्य से साध्याभाव को सिद्ध करनेवाले हेतु के द्वारा वादी के कथन में दोष का उद्भावन करता है। इसका तात्पर्य हुआ, विरोधी भावना से प्रयुज्यमान प्रसङ्ग—जो अपनी दुर्बलता को छिपाने और सचाई को झुठलाने की भावना से प्रस्तुत कियाजाता है—जाति-प्रयोग की सीमा में आजाता है।

यद्यपि समस्त जातियों के लक्षण और उदाहरणों का विवरण पञ्चमाध्याय के प्रथम आह्निक में विस्तारपूर्वक दियागया है, तथापि दिग्दर्शनमात्र के लिए एक उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कियाजाता है। वादी ने अपने पक्ष की स्थापना की—'अनित्यः शब्दः, कृतकत्वात्, घटवत्' शब्द अनित्य है, कृतक (किया हुआ, उत्पन्न) होने के कारण, घट के समान। जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट। शब्द भी कृतक है, इसलिए अनित्य है। वादी ने यह उदाहरणसाधर्म्य से अर्थात् साधर्म्यव्याप्तिक हेतु के साथ अपने पक्ष की स्थापना की। जातिवादी ने देखा, यह बात ठीक कहीगई है, इसका सदुत्तर देना सरल नहीं, पर भरी सभा में चर्चा के अवसर पर झेंपना भी ठीक नहीं। उसने तत्काल जाति का प्रयोग किया; यदि वादी इसकी लपेट में आगया तो पौ-बारह, अन्यथा पराजय तो दोनों ओर है। दाव लगाकर देखलेना ही ठीक होगा। वह बोला—वादी ने कहा है, कृतक होने से शब्द अनित्य है, घट के समान। हम देखते हैं, घट मूर्त्त पदार्थ है। इसका तात्पर्य हुआ—जो मूर्त्त होता है वह अनित्य होता है; परन्तु जो मूर्त्त नहीं होता, वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आकाश। आकाश मूर्त्त नहीं है, और अनित्य भी नहीं है। शब्द भी मूर्त्त नहीं है, तब वह

घट के साथ 'अमूर्त्तत्व' वैधर्म्य से घट के समान अनित्य नहीं होना चाहिए। फलतः वादी के द्वारा शब्द का अनित्य बतायाजाना दोषपूर्ण है। यह वादी के द्वारा साधर्म्य से प्रयुक्त हेतु का वैधर्म्य से प्रतिषेध जाति-प्रयोग के अनुसार प्रस्तुत कियागया।

पूर्वोक्त उदाहरण में वादी वैधर्म्यव्याप्तिक हेतु के आधार पर अपने पक्ष की स्थापना करता है। प्रतिवादी साधर्म्यव्याप्तिक हेतु से उसका प्रतिषेध करता है। जैसे वादी ने कहा—'शब्दः अनित्यः, कृतकत्वात्, यत्कृतकं न भवति तद् अनित्यमपि न भवति, यथा आकाशः, न चायं शब्दस्तथा आकाशवद् अकृतकः, तस्मात् कृतकत्वात् शब्दः अनित्यः।'

शब्द अनित्य है, कृतक होने से; जो कृतक नहीं होता, वह अनित्य नहीं होता, जैसे आकाश। शब्द क्योंकि आकाश की तरह अकृतक नहीं है, अतः आकाश के साथ 'अकृतकत्व' वैधर्म्य से कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है।

वादी की इस स्थापना पर प्रतिवादी जाति-प्रयोग द्वारा साधर्म्यव्याप्तिक हेतु से उसका प्रतिषेध प्रस्तुत करता है। वह कहता है–यदि आकाश के साथ 'अकृतकत्व' वैधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो आकाश के साथ 'अमूर्त्तत्व' साधर्म्य से शब्द को आकाश के समान नित्य क्यों न मानाजाय? अतः वादी के द्वारा शब्द की अनित्यता को बताना दोषपूर्ण है। वादी ऐसी स्थिति में यह बताकर, कि प्रतिवादी के द्वारा अमुक आधार पर यह जाति का प्रयोग कियागया है, उसे पराजित करदेता है ॥ १८ ॥

निग्रहस्थान का लक्षण—जाति के अनन्तर क्रमप्राप्त निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम् ॥ १९ ॥ (६०)

[विप्रतिपत्तिः] अभिमत से विपरीत अथवा अवाञ्छनीय कथन करदेना, [अप्रतिपत्तिः] अज्ञानता से चुप रहजाना [च] और [निग्रहस्थानम्] 'निग्रह-स्थान' है।

चर्चा के अवसर पर घबराहट के कारण अथवा वादी के कथन का उपयुक्त उत्तर न दे सकने की असमर्थता के कारण अपने अभिमत के विरुद्ध कहजाना, अथवा ऐसी बात कहदेना, जिसका कहना सभास्थल एवं चर्चा के प्रसंगों में निन्दनीय व अवाञ्छनीय हो; ऐसी स्थिति को निग्रहस्थान अर्थात् पराजय का अवसर मानाजाता है। यह 'विप्रतिपत्ति' का विवरण है। इसीप्रकार 'अप्रतिपत्ति' पराजय का स्थान होता है। इस पद का अर्थ है–'अज्ञान'। वादी ने जो अपने पक्ष की स्थापना की है, अथवा प्रतिवादी के कथन का जो प्रतिषेध किया है, अपनी अज्ञानता के कारण उन दोनों में से न तो प्रतिवादी वादी के स्थापित पक्ष

का प्रतिषेध करता है, और न वादी के द्वारा अपने प्रतिषिद्ध पक्ष का उद्धार करता है; सकते में आकर चुपचाप खड़ा रहजाता है; यह अप्रतिपत्तिमूलक निग्रहस्थान है।

सूत्र में 'विप्रतिपत्तिः' और 'अप्रतिपत्तिः' इन पदों को पृथक् स्वतन्त्र रूप से पढ़ा है, इनका समास नहीं किया। समास करने पर सूत्र की रचना 'विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्ती निग्रहस्थानम्' होती। उस दशा में यह भ्रम होसकता था कि निग्रहस्थान केवल दो प्रकार का सम्भव है–विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति-मूलक। परन्तु सूत्रकार ने समास न करके यह तात्पर्य प्रकट किया है कि विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के स्वतन्त्र प्रस्तार (फैलाव) से निग्रहस्थान के अनेक प्रकार होजाते हैं। इस रूप में बाईस निग्रहस्थानों का विवरण पञ्चमाध्याय के द्वितीय आह्निक में दियागया है ॥ १६ ॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, क्या दृष्टान्त के समान जाति और निग्रहस्थान के कोई भेद नहीं होते? अथवा सिद्धान्त के समान जाति और निग्रहस्थान के भेद सम्भव हैं? सूत्रकार ने बताया—

तद्विकल्पाज्जातिनिग्रहस्थानबहुत्वम् ॥ २० ॥ (६१)

[तद्विकल्पात्] उनके विविध प्रकार के आधार पर [जातिनिग्रहस्थान-बहुत्वम्] जाति और निग्रहस्थान के अनेक भेद होजाते हैं।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम पद अठारहवें सूत्र के साधर्म्य और वैधर्म्य पद तथा उन्नीसवें सूत्र के विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति पदों का परामर्श करता है। साधर्म्य और वैधर्म्य के एवं विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विविध तथा परस्पर-विरोधी प्रकारों के आधार पर जाति और निग्रहस्थान के बहुत-से भेद होजाते हैं। साधर्म्य तथा वैधर्म्य के विकल्प से जाति के चौबीस भेदों का, तथा विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विकल्प से बाईस निग्रहस्थानों का विवरण यथाक्रम पञ्चमाध्याय के प्रथम-द्वितीय आह्निकों में विस्तारपूर्वक दियागया है। बाईस निग्रहस्थानों में कुछ विप्रतिपत्तिमूलक और कुछ अप्रतिपत्तिमूलक हैं। अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, ये छह निग्रह-स्थान अप्रतिपत्तिमूलक हैं; शेष सोलह विप्रतिपत्तिमूलक। इनके नाम अन्तिम आह्निक में देख लेवें।

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का नाम-निर्देशपूर्वक प्रथम सूत्र में उल्लेख कियागया। यथाक्रम उन सबके लक्षण और उनके भेद बतायेगये। प्रथम अध्याय में इतना विषय प्रतिपादित कियागया। अगले अध्यायों में लक्षण के अनुसार इनकी परीक्षा कीजायगी। इसप्रकार प्रस्तुत शास्त्र की उद्देश, लक्षण, परीक्षा-

रूप में त्रिविध प्रवृत्ति को समझना चाहिए। शास्त्र का समस्त प्रतिपाद्य विषय इसमें सिमट आता है, समाविष्ट रहता है ॥ २० ॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता' वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन,
बुलन्दशहर मण्डलान्तर्गत 'बनैल' ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना **उदयवीर-शास्त्रिणा** समुन्नीते
गौतमीयन्यायसूत्रविद्योदयभाष्ये प्रथमा-
ध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चायं प्रथमोऽध्यायः ।

अथ द्वितीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

'संशय' लक्षण परीक्षा—गत अध्याय में उद्दिष्ट प्रमाण आदि पदार्थों के कियेगये लक्षणों के क्रम से उनकी परीक्षा यहाँ कीजायगी। परीक्षा की पद्धति के अनुसार प्रथम विचार्य पदार्थ के विषय में संशय प्रस्तुत कियाजाता है। अनन्तर पक्ष और प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करते हुए विचार्य विषय का अवधारण–निर्णय होता है। इसके अनुसार सर्वप्रथम संशय [१। १। २३] की परीक्षा कीजानी चाहिये, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा के लिए इसकी अपेक्षा रहती है। शिष्यों की जिज्ञासा तथा सर्वपरीक्षोपयोगिता की भावना से सूत्रकार ने कहा—

समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः ॥ १ ॥ (६२)

[समानानेकधर्माध्यवसायात्] समानधर्म तथा अनेक धर्म के अध्यवसाय (निश्चय) से, [अन्यतरधर्माध्यवसायात्] दोनों में से किसी एक धर्म के निश्चय से [वा] अथवा [न] नहीं (होता है) [संशयः] संशय।

संशय-लक्षण में दोषोद्भावन—संशयलक्षण सूत्र [१। १। २३] में समानधर्म के निश्चय अथवा अनेकधर्म के निश्चय से जो संशय का होना बतायागया है, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है कि समानजातीय पदार्थों में भिन्न धर्म रहते हैं, तथा समानधर्म भी रहते हैं; उन-उन पदार्थों में किन्हीं धर्मों का केवल निश्चय होना संशय का जनक नहीं होता। स्थाणु और पुरुष समानजातीय द्रव्य पदार्थ हैं, उनमें किन्हीं समान अथवा भिन्न धर्मों के निश्चयमात्र से किसीप्रकार का संशय उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती।

इसीप्रकार अनेक का धर्म संशय का जनक नहीं होता। जैसे 'कृतकत्व' (उत्पन्न होना) धर्म, शब्द के समानजातीय गन्ध आदि गुणों में, तथा असमानजातीय पट-घट आदि द्रव्यों में रहता है, यह निश्चय है। इतने निश्चयमात्र से किसी संशय के उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं होती। न केवल किसी धर्मी में धर्म के होने से संशय हुआ करता है। यदि इतने से संशय होजाया करे, तो सर्वत्र धर्मी पदार्थों में धर्म के विद्यमान रहने से सदा संशय की स्थिति बनी रहे।

किन्हीं दो पदार्थों में समान धर्म की उपलब्धि होना भी संशयजनक नहीं होता, क्योंकि धर्म-धर्मी का ग्रहण होने पर किसी संशय का अवकाश नहीं है। ऐसे ही न यह सम्भव है कि एक धर्मी में समानधर्म का निश्चय अन्य धर्मी में सन्देह का जनक हो। जैसे किसी एक धर्मी में रूप का निश्चय, अन्य धर्मी में स्पर्शविषयक संशय का जनक नहीं होता। मूलभूत बात यह है कि किसी अर्थ का निश्चय अनिश्चयात्मक संशय का जनक नहीं होना चाहिये। क्योंकि ऐसा होने से कार्य-कारण में समानरूपता नहीं रहेगी, जिसका होना आवश्यक है। अन्यथा प्रत्येक कार्य किसी भी कारण से होजाया करे। इसीप्रकार अनेकधर्म के निश्चय से भी संशय का न होना समझलेना चाहिये। विभिन्न धर्मियों में अनेक धर्मों का ग्रहण होना धर्म–धर्मी का निश्चय ही है। इससे संशय क्यों होगा? ऐसे ही दो धर्मी पदार्थों में से किसी एक के धर्म का निश्चय होजाना, स्वयं निश्चय का रूप है, उससे संशय कैसा? फलतः संशयलक्षणसूत्र में जो संशय के हेतु बतायेगये हैं, वे संगत प्रतीत नहीं होते। संशय–लक्षण की परीक्षा के लिए पाँचवें सूत्र तक यह पूर्वपक्ष का विषय प्रस्तुत है; इसका समाधान छठे सूत्र में कियागया है॥ १॥

विप्रतिपत्ति आदि भी संशय के निमित्त नहीं होसकते, पूर्वपक्ष की भावना से सूत्रकार ने बताया—

विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च ॥ २ ॥ (६३)

[विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायात्] विप्रतिपत्ति से, अव्यवस्था से तथा इनके अध्यवसाय–निश्चय से [च] और (संशय नहीं होता)।

पहले सूत्र से 'न संशयः' पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये। केवल 'विप्रतिपत्ति' होने से संशय नहीं होता। इस पद का अर्थ है–परस्पर दो विपरीत अर्थों का जानना। जैसे–'आत्मा है' यह वैदिक दर्शनों का कहना है; 'आत्मा नहीं है' यह चार्वाक-मत है; आत्मविषयक इस विपरीतज्ञानमात्र से संशय नहीं होता, जबतक उनमें से किसी एक के लिए विशेष जिज्ञासा न हो। इसीप्रकार ऐसा निश्चय भी संशय का जनक नहीं होता कि–कतिपय आचार्य ऐसा मानते हैं; और इसके विपरीत दूसरे ऐसा मानते हैं।

उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्थामात्र से संशय नहीं होता; और न इन अव्यवस्थाओं के निश्चय से संशय होता है। संशय तभी होगा, जब उनमें से किसी विशेष की जिज्ञासा हो। उपलब्धि की अव्यवस्था है–वस्तु होती हुई उपलब्ध होती है, जैसे–साधारण घट-पट आदि। कभी न होती हुई उपलब्ध होजाती है, जैसे–मरुमरीचिका में जल। उपलब्धि की इस अव्यवस्था के केवल जानलेने से संशय नहीं होता; प्रत्युत दूर से किसी वस्तु

के दिखाई देने पर विशेष की जिज्ञासा होनेसे संशय होगा कि यह वस्तु मुझे—ठीक होती हुई दिखाई देरही है, अथवा न होती हुई—मरुमरीचिका के जल के समान—दिखाई दे रही है ?

ऐसे ही केवल अनुपलब्धि की अव्यवस्था संशय की जनक नहीं होती। कोई वस्तु खोज करने पर भी न मिलने की अवस्था में विशेष की अपेक्षा होने से ही संशय को उत्पन्न करती है कि यह वस्तु न होती हुई ही नहीं मिलरही; अथवा होती हुई नहीं दिखाई देरही ? केवल अनुपलब्धि की अव्यवस्था का जानलेना संशय का जनक नहीं होता। इसलिए संशयलक्षणसूत्र में विप्रतिपत्ति आदि से संशय होने का कथन युक्त नहीं है ॥ २ ॥

विप्रतिपत्ति संशयहेतु नहीं—विप्रतिपत्ति से संशय बताने में अन्य दोष होने का निर्देश सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से किया—

विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः ॥ ३ ॥ (६४)

[विप्रतिपत्तौ] विप्रतिपत्ति में—विपरीत ज्ञानों में [च] और [संप्रतिपत्तेः] संप्रतिपत्ति होने से—अपना-अपना निश्चय होने से (संशय का अवकाश नहीं)।

जब वादी अथवा प्रतिवादी अपने विचारों को प्रस्तुत करते हैं, तो उन विचारों के परस्पर विपरीत होने पर भी वादी-प्रतिवादी दोनों को अपने विचारों का निश्चय होता है। मध्यस्थ को यह निश्चय होता है कि विभिन्न वादियों का अपना यह विचार है। ऐसा निश्चय होना 'सम्प्रतिपत्ति' है। ऐसी दशा में यदि विप्रतिपत्ति से संशय होना कहाजाता है, तो संप्रतिपत्ति से भी संशय होना मानना चाहिये। वस्तुतः जिसको 'विप्रतिपत्ति' कहाजाता है, वह अपने-अपने पक्ष में निश्चय से 'संप्रतिपत्ति' है। यदि विप्रतिपत्ति से संशय होना कहाजाता है, तो वह संप्रतिपत्ति से ही होना प्राप्त होता है। क्योंकि संप्रतिपत्ति से संशय नहीं हो सकता; तब विप्रतिपत्ति को भी संशय का जनक नहीं मानाजाना चाहिये। पूर्वपक्षी विप्रतिपत्ति को सम्प्रतिपत्ति का रूप देकर संशयहेतु में व्यभिचार-दोष की उद्भावना प्रकट करना चाहता है ॥ ३ ॥

अव्यवस्था व्यवस्था है—उपलब्धि-अनुपलब्धि की अव्यवस्था से जो संशय का उत्पन्न होना बताया, उसमें प्रकारान्तर से पूर्वपक्षी दोष की उद्भावना करता है—

अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्त्वाच्चाव्यवस्थायाः ॥ ४ ॥ (६५)

[अव्यवस्थात्मनि] अव्यवस्थास्वरूप में [व्यवस्थितत्वात्] व्यवस्थित होने से [च] तथा [अव्यवस्थायाः] अव्यवस्था के (अव्यवस्था से संशय-उत्पत्ति कहना असंगत है)।

अव्यवस्था अपने स्वरूप में सदा व्यवस्थित रहती है; यदि ऐसा न हो, तो वह अपने अस्तित्व को खोबैठे। अतः अपने में व्यवस्थित होने से उसे 'व्यवस्था' समझना चाहिये। ऐसी दशा में अव्यवस्था को संशयजनक कहना अयुक्त है। यदि अव्यवस्था स्वरूप में व्यवस्थित नहीं, तो वह अव्यवस्था न रहने से उसे संशय-जनक बताना निराधार है। पहले हेतु के समान यहाँ भी अनैकान्तिक दोष का उद्भावन अभिप्रेत है ॥ ४ ॥

अत्यन्त-संशय दोषोद्भावन--उक्त स्थितियों में यदि निर्दिष्ट हेतुओं से संशय का होना स्वीकार कियाजाता है, तो संशय बना रहना चाहिये, इस रूप में पूर्वपक्ष की भावना से सूत्रकार ने बताया—

तथाऽत्यन्तसंशयस्तद्धर्मसातत्योपपत्तेः ॥ ५ ॥ (६६)

[तथा] उस प्रकार [अत्यन्तसंशयः] निरन्तर एवं सदा संशय होता रहना चाहिये, अथवा बना रहना चाहिये, [तद्धर्मसातत्योपपत्तेः] उन समानधर्म आदि के सतत--निरन्तर विद्यमान रहने से।

पदार्थों में कोई-न-कोई समानधर्म आदि संशय का कारण सदा विद्यमान रहता है। अतः जिसप्रकार से आप इन्हें संशय का कारण मानते हैं, उससे सदा संशय होते रहना प्राप्त होता है। पदार्थों में से समानधर्म आदि कारणों का कभी पूर्ण उच्छेद नहीं होसकता, तब संशय-कार्य का उच्छेद न होने से संशय की स्थिति निरन्तर बनी रहेगी। विचार करने पर कोई धर्मी ऐसा ज्ञात नहीं होता, जिसमें यत्किञ्चित् समानधर्म की विद्यमानता न हो। प्रत्येक धर्मी में कोई-न-कोई समानधर्म आदि सदा बना रहता है।

इन पाँच सूत्रों से--संशयलक्षण सूत्र [१।१।२३] में कहे गये संशय के हेतुओं में--दोष की उद्भावना कीगई। इसका यही प्रयोजन है कि हेतु को निर्दोष उपपादित कर उसके यथार्थ हेतुभाव को स्पष्ट कियाजाय। प्रत्येक पदार्थ की परीक्षा में यही भावना रहती है। आत्मा आदि प्रमेयों की परीक्षा तृतीय-चतुर्थ अध्यायों में कीगई है; जाति और निग्रहस्थानों का विस्तृत विवरण पञ्चम अध्याय में है। छल की परीक्षा लक्षण-प्रसङ्ग में करदीगई है। शेष प्रमाणों की परीक्षा इस द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत है।

सर्वप्रथम संशय की परीक्षा प्रारम्भ में प्रस्तुत करने का कारण यही है कि प्रत्येक परीक्षा में संशय का उपयोग रहता है। वस्तुतः समस्त शास्त्र में मुख्यरूप से प्रमाण-प्रमेयों की परीक्षा कीगई है। प्रयोजन, दृष्टान्त आदि की परीक्षा अनपेक्षित होने से छोड़ दी गई है ॥ ५ ॥

संशयलक्षण-दोष समाधान—गतसूत्रों से संशय-हेतुओं में जो दोषोद्भावन कियागया, उस समस्त प्रतिषेध का संक्षेप से सूत्रकार समाधान करता है—

यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नाऽसंशयो नाऽत्यन्तसंशयो वा ।। ६ ।। (६७)

[यथोक्ताध्यवसायात्] पहले जैसे कहेगये अध्यवसाय–ज्ञान से [एव] ही [तद्विशेषापेक्षात्] उस (ज्ञान) के विशेष (के जानने) की अपेक्षा से [संशये] संशय होना मानने पर [न] नहीं [असंशयः] संशय का अभाव, [न] नहीं [अत्यन्तसंशयः] अत्यन्तसंशय होता है [वा] और।

जैसा पूर्वपक्ष द्वारा कहागया—समानधर्म या अनेकधर्म की केवल विद्यमानता से संशय नहीं होता, प्रत्युत समानधर्म आदि के अध्यवसाय–ज्ञान से संशय होता है। जबतक विभिन्न धर्मियों में समानधर्म आदि का ज्ञान न होगा, तबतक संशय का होना सम्भव नहीं। यह पूर्वपक्ष का कहना ठीक है। इतना होने पर भी यह आवश्यक है कि उन ज्ञानों में से किसी एक विशेष के जानने की अपेक्षा हो, तभी समानधर्म आदि कारणों से संशय उत्पन्न होता है। इस दशा में न संशय का अभाव रहता है, और न अत्यन्तसंशय होने की स्थिति आती है।

पूर्वपक्ष प्रस्तुत करते समय वादी के द्वारा 'तद्विशेषापेक्षः' इन लक्षण-सूत्रपठित पदों की निरन्तर उपेक्षा कीगई है। इस ओर पूर्वपक्षी ने नितान्त ध्यान नहीं दिया। विशेषज्ञान की अपेक्षा तभी होसकती है, जब संशयिता को समानधर्म आदि का साधारणज्ञान प्रथम हो। उसके विना विशेषज्ञान की अपेक्षा होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए लक्षणसूत्र में 'समानधर्माऽध्यवसाय' पद न कहने पर भी 'तद्विशेषापेक्षः' पदों से समानधर्म आदि के साधारण प्रत्यक्षज्ञान का होना लक्षणकार को अभिप्रेत है, यह स्पष्ट होता है।

इसके अतिरिक्त सूत्रकार ने 'उपपत्ति' पद का स्वयं सूत्र में निर्देश किया है–'समानानेकधर्मोपपत्तेः'। 'समानधर्मोपपत्ति' पद का अर्थ–समानधर्म के अध्यवसाय-संवेदन-ज्ञान के अतिरिक्त–और कुछ नहीं है। विद्यमान समानधर्म यदि जाना नहीं गया है, तो वह अविद्यमान के समान है। न जानने पर उसका विद्यमान होना-न होना बराबर है; उससे संशय उत्पन्न होने का अवकाश ही नहीं।

अथवासूत्र में 'समानधर्म' विषय-शब्द से विषयी-ज्ञान का कथन समझना चाहिये। तात्पर्य है–सूत्र का 'समानधर्म' पद समानधर्म के अध्यवसाय–ज्ञान का निर्देश करता है। लोक में ऐसा व्यवहार देखाजाता है। जब हम कहते हैं–धूम से अग्नि का अनुमान होता है–'धूमेनाग्निरनुमीयते', तब उसका तात्पर्य यही होता है कि–धूमदर्शन से, धूम के प्रत्यक्षज्ञान से अग्नि का अनुमान होता है। यद्यपि वाक्य में 'दर्शन-अध्यवसाय-ज्ञान' आदि कोई पद नहीं है, पर बोद्धा उक्त

वाक्य की अर्थबोधकता को इसीरूप में स्वीकार करता है। इसप्रकार विषय-शब्द से विषयी-ज्ञान-प्रत्यय का कथन स्वीकार होने से प्रस्तुत संशयलक्षण-सूत्र में 'समानधर्म' शब्द से 'समानधर्माध्यवसाय' का कथन मान्य होजाता है। इसलिए संशयलक्षणसूत्र में दोष की उद्भावना करना असंगत है।

यह जो कहा-'दो विभिन्न पदार्थों के समानधर्मों का सामने की वस्तु में ग्रहण कररहा हूँ, यहाँ धर्म और धर्मी का ग्रहण होने पर संशय होने का अवसर नहीं रहता' ऐसे प्रसंगों में निश्चय है, यह ज्ञान पहले देखे हुए विषय का होता है। जिन दोनों धर्मी पदार्थों को पहले उनके धर्मसहित मैंने देखा था, सामने की वस्तु में उनके समान धर्मों का ग्रहण कर रहा हूँ; विशेष धर्मों की उपलब्धि नहीं होरही; इसके विशेष धर्मों को कैसे देखूं, जिससे दोनों धर्मियों में से एक का निश्चय कियाजासके ? ऐसी जिज्ञासा केवल धर्म और धर्मी का ग्रहण होजाने से समाप्त नहीं होती। यह जिज्ञासा निवृत्त न होकर आवश्यकरूप से संशय को उत्पन्न करती है-समानधर्मोंवाले उन पूर्वदृष्ट दो धर्मियों में से यह कौन है ? खाली ठूँठ है खड़ा, या कोई आदमी है ?

यह जो कहा-'एक पदार्थ के निश्चय से अन्य पदार्थ-विषयक संशय नही होता' यह आक्षेप उसीपर किया जाना चाहिये, जो ऐसी मान्यता प्रकट करे। संशयलक्षणसूत्र में ऐसा कोई कथन नहीं है, जिसका यह भाव प्रकट होता हो। अतः यह दोष निराधार है।

अनन्तर यह जो कहा-निश्चयात्मक ज्ञान से संशयज्ञान नहीं होसकता, क्योंकि ऐसा मानने से कार्य-कारण का सारूप्य नहीं रहेगा। इस प्रसंग में यह समझने की आवश्यकता है-कार्य-कारण का सारूप्य क्या होता है ? कारण के होने पर कार्य का होना और कारण के न होने पर कार्य का न होना, कार्य-कारण का सारूप्य है। जिसके होने से जो उत्पन्न हो, न होने से उत्पन्न न हो, वह 'कारण' और उत्पन्न होनेवाला 'कार्य' होता है। यह अन्वयव्यतिरेकलक्षण सारूप्य संशय-कार्य और संशय के कारण-समानधर्माध्यवसाय में विद्यमान है। पुरोवर्त्ती द्रव्य में दो धर्मियों के समानधर्मों का ज्ञान होजाने पर विशेष को जानने की इच्छा से संशय का होना आवश्यक है। ऐसी स्थिति में समानधर्म का निश्चयात्मक ज्ञान संशय को उत्पन्न करता है। यहाँ कार्य-कारण का उक्त सारूप्य नष्ट नहीं होता।

इसीप्रकार अनेकधर्म के अध्यवसाय से संशय होने का जो प्रतिषेध किया, वह भी संगत नहीं है। किसी पदार्थ में अनेकधर्मों का ज्ञान होनेपर जब विशेष जानने की इच्छा होती है, तो संशय का होना अनिवार्य है। इसका उदाहरण लक्षणसूत्र के भाष्य में देखलेवें।

इसके अनन्तर विप्रतिपत्ति, अव्यवस्था और इनके अध्यवसाय से संशय न होने का जो निर्देश कियागया है, वह भी संगत नहीं है। इस विषय में आवश्यक

है, प्रथम हमें 'विप्रतिपत्ति' ग्रादि हेतुग्रों का ग्रभिप्राय समभलेना चाहिये। पृथक् प्रवादों के ग्राधार पर किसी धर्मी में दो विपरीत धर्मों का ज्ञान होना 'विप्रतिपत्ति' है। ऐसा जाननेपर जब विपरीत धर्मों में से किसी एक धर्मविशेष को जानने की इच्छा होती है, तो संशय का उत्पन्न होजाना ग्रनिवार्य है। विप्रतिपत्ति को केवल सम्प्रतिपत्ति नाम देकर इस संशय का निवारण नहीं होता। एक कहता है ग्रात्मा है; दूसरा कहता है–ग्रात्मा नहीं है। श्रोता जिज्ञासु को संशय होजाता है, कौन-सा वह हेतु है, जिसके द्वारा इन दोनों में से किसी एक विशेष का ग्रवधारण कियाजासके।

ऐसी स्थिति उपलब्धि ग्रौर ग्रनुपलब्धि की ग्रव्यवस्था से होनेवाले संशय में समभनी चाहिये। उपलब्धि ग्रौर ग्रनुपलब्धि के ग्रव्यवस्थित रहने के कारण जब किसी वस्तु की उपलब्धि या ग्रनुपलब्धि रहती है, तब उसकी प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले व्यक्ति को यह संशय होना ग्रनिवार्य है कि यह वस्तु न होती हुई उपलब्ध होरही है, ग्रथवा होती हुई उपलब्ध नहीं होरही है। ग्रव्यवस्था को ग्रपने स्वरूप में व्यवस्थित रहने के कारण उसे व्यवस्था नाम देदेने से उसकी–संशय उत्पन्न करने की–क्षमता नष्ट नहीं होजाती। फिर ग्रव्यवस्था ग्रपने स्वरूप में व्यवस्थित रहने से ही ग्रव्यवस्था है। वह व्यवस्था तो तभी होसकती है, जब ग्रपने ग्रव्यवस्था-स्वरूप को छोड़ दे। ऐसी दशा में वस्तु के उपलब्ध या ग्रनुपलब्ध होने पर विशेषरूप से वस्तु के ग्रसत् ग्रौर सत् होने की जिज्ञासा संशय को उत्पन्न नहीं करती; ऐसा प्रतिषेध नहीं कियागया। फलतः ग्रव्यवस्था कहदेनेमात्र से कोई ग्रर्थ सिद्ध नहीं होता।

इसीप्रकार विभिन्न धर्मियों में कोई-न-कोई समान धर्म होने से जो ग्रत्यन्त संशय होने ग्रादि की बात कहीगई है, वह युक्त नहीं है। क्योंकि संशय के लक्षण में यह नहीं कहागया कि कहीं समानधर्म होनेमात्र से संशय उत्पन्न होजाता है। वहाँ यह स्पष्ट कहा है कि संशय होने के लिए समानधर्मविषयक ज्ञान तथा पहले देखे हुए उन धर्मियों के विशेष धर्मों का स्मरण होना ग्रावश्यक है। इसके साथ ही उस समय उन विशेष धर्मों को देखलेने की इच्छा भी होनी चाहिये।

वस्तुतः संशयलक्षणसूत्र में कहेगये संशय-हेतुग्रों के विषय में दोष प्रस्तुत करने के ग्रवसर पर दोषवादी ने सूत्र के 'विशेषापेक्षः' पद की ग्रोर ध्यान नहीं दिया। दोष देते समय उसकी उपेक्षा की है। ग्रन्यथा संशयलक्षण में किसी दोष की उद्भावना करना सम्भव न होता। इसीकारण जहाँ यह कहागया है कि दो विपरीतधर्मों में से एक का ग्रवधारण होजाने पर संशय नहीं होता, वह ठीक ही है। जब एक विशेषधर्म का निश्चय होगया, तब वहाँ विशेष की ग्रपेक्षा नहीं रहेगी, फिर संशय क्यों होगा? फलतः संशयलक्षण सर्वथा निर्दोष है॥ ६॥

सूत्रकार संशय-परीक्षा को समाप्त करते हुए कहता है—

यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तरप्रसङ्गः ॥ ७ ॥ (६८)

[यत्र] जहाँ [संशयः] संशय (परीक्ष्य हो) [तत्र] वहाँ [एवम्] उक्त प्रकार से [उत्तरोत्तरप्रसंगः] उत्तर-प्रत्युत्तररूप में प्रसङ्ग (प्रस्तुत करदियाजाना चाहिये)।

जहाँ-जहाँ आगे शास्त्र में प्रमाण आदि पदार्थों के लक्षणों की परीक्षा कीगई है, अथवा वाद, जल्प, वितण्डा-कथाओं में जब कभी ऐसा अवसर आता है कि प्रतिवादी के द्वारा संशय का प्रतिषेध कियाजाय, तो उन सभी अवसरों पर उक्तप्रकार से संशय के पक्ष में समाधान करदेना चाहिये। पदार्थविषयक समस्त परीक्षाओं में व्याप्त रहने के कारण सर्वप्रथम संशय की परीक्षा प्रस्तुत करदी गई है, जिससे शास्त्र के अध्येताओं को इस विषय में किसीप्रकार की असुविधा न हो ॥ ७ ॥

प्रमाण-परीक्षा— अब आगे प्रमाण पदार्थ की परीक्षा प्रस्तुत कीजाती है। सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप में कहा—

प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धेः ॥ ८ ॥ (६९)

[प्रत्यक्षादीनाम्] प्रत्यक्ष आदि का [अप्रामाण्यम्] प्रामाण्य नहीं, [त्रैकाल्यासिद्धेः] तीनों कालों में असिद्ध होने से।

सूत्र के 'आदि' पद से अनुमान, उपमान, शब्द का ग्रहण होजाता है। प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों का प्रामाण्य सम्भव नहीं; क्योंकि प्रत्येक प्रमाण तीनों [भूत, वर्त्तमान, भविष्यत्] कालों में प्रमेय को सिद्ध नहीं करता। प्रमाण का प्रामाण्य इसी बात पर निर्भर है कि वह पहले से किसी न जाने हुए प्रमेय का विना किसी बाधा के बोध करादे। प्रत्यक्ष प्रमाण केवल वर्त्तमानकालिक विषय का बोध करासकता है, वह भी निश्चयपूर्वक अथवा सर्वथा निर्बाध नहीं। भूत-भविष्यत्कालिक अर्थ का बोध कराने में यह सर्वथा अक्षम रहता है। यही दशा उपमान प्रमाण की है। शब्द यद्यपि भूतकालिक घटना के अतिरिक्त कभी-कभी वर्त्तमान व अनागत बोध कराने का दम भरता है, पर उसकी यथार्थता सदा सन्दिग्ध रहती है, जो उसके प्रामाण्य के कदम को उखाड़ देती है। अनुमान-प्रमाण का प्रयोग तीनों कालों के विषय में कियाजाता है, पर वह भी सर्वदा असन्दिग्ध नहीं रहता। दीर्घ अतीत और अनागत काल के विषय में कुछ बोध कराना सर्वथा अनिश्चित रहता है। कथञ्चित् अनुमान-प्रमाण को त्रिकाल-विषयक मान भी लियाजाय, तो उतनेमात्र से शेष प्रमाणों का प्रामाण्य स्वीकार नहीं कियाजासकता।

इसके अतिरिक्त प्रमाण और प्रमेय का परस्पर पूर्वापरभाव एवं सहभाव भी नहीं बनता। यदि प्रमाण पहले है, और प्रमेय पीछे, तो प्रमा का साधन हुए विना ही वह 'प्रमाण' कैसे होजायगा। यदि प्रमेय पहले सिद्ध है, तो प्रमाण का होना अनावश्यक है। यदि दोनों साथ हैं, तो सव्येतर विषाण के समान उनका परस्पर साध्य-साधनभाव सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य हवा होजाता है। इनसे किसी प्रमेय के सिद्ध होने की आशा निराशामात्र है ॥ ८ ॥

प्रमाण का पूर्वभाव—प्रमाण प्रमेय के परस्पर पूर्वापरसहभाव की असम्भावना को क्रमशः सूत्रकार स्वयं पूर्वपक्षरूप में प्रस्तुत करता है—

पूर्वं हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ ९ ॥ (७०)

[पूर्वम्] पहले [हि] क्योंकि [प्रमाणसिद्धौ] प्रमाण की सिद्धि होने पर [न] नहीं [इन्द्रियार्थसन्निकर्षात्] इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से [प्रत्यक्षोत्पत्तिः] प्रत्यक्ष की उत्पत्ति।

यदि प्रमेय से पहले प्रमाण की सिद्धि है, विद्यमानता है; और उस समय प्रमेय (ज्ञातव्य अर्थ) अविद्यमान है; (तो)-जो यह कहागया है कि इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है-वह असंगत होजायगा; क्योंकि ज्ञेय अर्थ (प्रमेय) के अविद्यमान रहने से इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष असम्भव होगा; अर्थ ही नहीं, तो उसके साथ सन्निकर्ष कैसा? इसलिए गन्धादिविषयक प्रत्यक्षज्ञान पहले, और गन्धादि का अस्तित्व अनन्तर काल में होने से यह परिणाम सामने आता है कि यह प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष हुए विना ही होजाता है, जो प्रत्यक्षलक्षण के अनुकूल न होने से अवाञ्छनीय है ॥ ९ ॥

प्रमाण का परभाव—प्रमाण का पीछे होना भी युक्त नहीं, क्योंकि—

पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ॥ १० ॥ (७१)

[पश्चात्] पीछे [सिद्धौ] सिद्ध होने पर (प्रमाण के) [न] नहीं [प्रमाणेभ्यः] प्रमाणों से [प्रमेयसिद्धिः] प्रमेय की सिद्धि।

यदि प्रमेय-ज्ञातव्य अर्थ प्रमाण की उपस्थिति से पहले ही सिद्ध है, निश्चित है, तो यह कहना व मानना असंगत होगा कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाणों से होती है। प्रमाण के न रहने पर यदि प्रमेय-ज्ञातव्य अर्थ जानलियाजाता है, तो प्रमाण का स्वीकार करना व्यर्थ है। वस्तुतः प्रमाण के द्वारा जानागया अर्थ 'प्रमेय'-रूप में सिद्ध-निश्चित होता है। फलतः प्रमाण-प्रमेय की यह स्थिति सम्भव न होने से प्रत्यक्ष का प्रामाण्य लुप्त होजाता है ॥ १० ॥

प्रमाण का सहभाव—प्रमाण-प्रमेय का सहभाव भी सम्भव नहीं; क्योंकि—

युगपत् सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाऽभावो बुद्धीनाम् ।। १६ ।। (७२)

[युगपत्] एक-साथ (प्रमाण और प्रमेय की) [सिद्धौ] सिद्धिः—विद्यमानता मानने पर, [प्रत्यर्थनियतत्वात्] प्रत्येक अर्थ—विषय के लिए इन्द्रियों के नियत होने से [क्रमवृत्तित्वाऽभावः] क्रमपूर्वक वृत्ति का होना नहीं रहेगा [बुद्धीनाम्] बुद्धियों -ज्ञानों की ।

घ्राण आदि इन्द्रियों के ग्राह्य विषय गन्ध आदि अर्थ हैं। यहाँ घ्राण प्रमाण' और गन्ध 'प्रमेय' है। कोई ज्ञान एक काल में एक विषय को ग्रहण करता है, अथवा एक विषय का बोध कराता है। एक काल में एक ज्ञान का कोई एक अर्थविशेष--विषय नियत होने के कारण ज्ञानों का क्रमपूर्वक होना मानाजाता है। यदि प्रमाण और प्रमेय दोनों की युगपत् सिद्धि,अर्थात् एक ही काल में ज्ञान होना मानाजाय, तो ज्ञानों का क्रमपूर्वक होना सम्भव न रहेगा, जो अवाञ्छनीय है। ऐसा मानना उस कथन के विरुद्ध है, जहाँ यह कहा गया है कि—युगपत् ज्ञानों का उत्पन्न न होना मन के अस्तित्व का चिह्न है [१ । १ । १६] ।

इसके अतिरिक्त यह भी समझने की बात है कि घ्राण आदि प्रमाण का ज्ञान अनुमान से होने के कारण अनुमतिरूप है; इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, उनका प्रत्यक्ष नहीं होसकता। परन्तु घ्राण से होनेवाला गन्ध—प्रमेय का ज्ञान प्रत्यक्ष है। ऐसी स्थिति में प्रमाण का अनुमितिरूप ज्ञान तथा प्रमेय का प्रत्यक्षरूप ज्ञान दोनों का एक-साथ होना असम्भव है। दोनों विजातीय ज्ञान हैं, युगपत् नहीं होसकते।

प्रत्यक्ष के समान यही स्थिति अनुमान तथा शब्द-प्रमाण में समझनी चाहिये। अनुमान में व्याप्तिज्ञान प्रमाणान्तर्गत तथा अग्निज्ञान प्रमेयान्तर्गत है। यहाँ प्रमाण व्याप्तिज्ञान स्मृतिरूप तथा प्रमेय अग्निज्ञान अनुभवरूप होने से दोनों विजातीय ज्ञानों का युगपत् होना असम्भव है। इसीप्रकार शब्द-प्रमाण में पदज्ञान प्रमाणान्तर्गत तथा अर्थबोध प्रमेयान्तर्गत आता है। इसमें श्रोत्रेन्द्रिय से पद का ग्रहण होने के कारण पदज्ञान प्रत्यक्ष है, तथा उससे होनेवाला पदार्थ-विषयक शाब्दबोध परोक्षरूप[1] होने से दोनों विजातीय ज्ञान युगपत् नहीं होसकते।

१. यह भाव विश्वनाथ पञ्चानन ने इस सूत्र की वृत्ति में अभिव्यक्त किया है। परन्तु शाब्दबोध को अनुभूतिरूप न मानना कहाँ तक ठीक है, विचारणीय है। आचार्यों ने ज्ञान को स्मृति और अनुभवरूप मानकर अनुभव के चार भेद स्वीकार किये हैं, जिनमें चौथा शाब्दबोध है।

ज्ञान चाहे सजातीय हो अथवा विजातीय, दो ज्ञान एक-साथ नहीं होसकते। प्रस्तुत प्रसंग में प्रमाण–प्रमेय ज्ञानों का वैजात्य कार्य-कारणभाव के आधार पर समझना चाहिये। प्रमाण कारण और प्रमेय कार्य रहता है। कार्य-कारण का युगपत् होना सम्भव नहीं; उस स्थिति में कार्य-कारणभाव नष्ट होजायगा। फलतः प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरभाव एवं सहभाव की व्यवस्था सम्पन्न न होने से प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य स्थापित नहीं कियाजासकता। इससे अतिरिक्त प्रमाण आदि का अन्य कोई क्षेत्र कल्पना कियाजाना सम्भव नहीं; अतः प्रमाणों का उक्त उपपादन असंगत है।

प्रत्यक्ष आदि के अप्रामाण्य का समाधान—प्रमाणविषयक इस विस्तृत पूर्वपक्ष का समाधान निम्नरूप में कियाजाना चाहिये—

१. प्रमाण और प्रमेय के परस्पर पूर्वभाव, अपरभाव और सहभाव के आधार पर आपत्ति उठाईगई है। उपलब्धि (प्रमा) का हेतु 'प्रमाण' और उपलब्धि (प्रमा) का विषय (अर्थ) 'प्रमेय' कहाजाता है। इन प्रमाण और प्रमेय के पूर्व-अपर-सहभाव की कोई नियत व्यवस्था नहीं है कि प्रमाण पहले हो, और प्रमेय पीछे; अथवा प्रमेय पहले हो और प्रमाण पीछे। इनके पूर्वापरभाव में प्रत्येक स्थिति देखीजाती है। कहीं प्रमाण पूर्व है, कहीं पर, और कहीं साथ-साथ। जैसे–उत्पन्न होनेवाले पदार्थों (प्रमेयों) के जानने के लिए आदित्य का प्रकाशरूप प्रमाण पहले विद्यमान रहता है। यहाँ प्रमाण पहले और उत्पन्न होनेवाले प्रमेय पदार्थ पीछे आते हैं। मकान में पहले से विद्यमान पदार्थों को देखने-जानने के लिए उपलब्धि का हेतु प्रमाणरूप प्रदीप पीछे आता है। यहाँ प्रमेय पहले और प्रमाण पीछे है। जहाँ धूम से अग्नि का अनुमान होता है, वहाँ धूम प्रमाण और अग्नि प्रमेय दोनों साथ-साथ विद्यमान रहते हैं। इसलिए इनके पूर्वादिभाव की कोई नियत व्यवस्था न होने से जहाँ जैसा देखाजाय, उसीके अनुसार पूर्व-अपर-सहभाव समझना चाहिये। अतः उक्त आधारों पर प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रतिषेध संगत नहीं है।

२. दूसरी बात यह कहीगई है कि यदि प्रमाण को पीछे और प्रमेय को पहले मानाजाता है, तो पदार्थ को 'प्रमेय' नाम देना निराधार होगा। कोई पदार्थ 'प्रमेय' तभी कहाजासकता है, जब वह प्रमा (ज्ञान) का विषय हो; उपलब्धि (प्रमा) के हेतु प्रमाण की अविद्यमानता में किसी पदार्थ के प्रमा-विषय होने का प्रश्न ही नहीं उठता। तब प्रमाण से पहले कोई पदार्थ 'प्रमेय' कहाजाय,

---

प्रत्यक्ष और अनुमान में प्रमाण अप्रत्यक्षरूप तथा प्रमेय अनुभूतिरूप है; इसके विपरीत शब्द-प्रमाण में प्रमाण प्रत्यक्षरूप तथा प्रमेय अप्रत्यक्ष (परोक्ष अर्थात् शब्द) रूप है; यह वैलक्षण्य भी समाधेय है।

यह सम्भव नहीं। अतः प्रमाण की अविद्यमानता में किसी पदार्थ को 'प्रमेय' कहाजाना असिद्ध होगा।

'प्रमाण-प्रमेय' पदों का प्रवृत्तिनिमित्त—इस विषय में यह समझना चाहिये, कि 'प्रमाण' तथा 'प्रमेय' पद का प्रवृत्तिनिमित्त (इनको यह नाम दियेजाने का कारण) यथाक्रम 'उपलब्धि (प्रमा) का हेतु' तथा 'उपलब्धि (प्रमा) का विषय' होना है। इस प्रवृत्तिनिमित्त का सम्बन्ध तीनों कालों के साथ रहता है। प्रमा का हेतु प्रमाण चाहे प्रमा को अतीत-वर्त्तमान–अनागत काल में कभी उत्पन्न करे, उसमें प्रमाणता सदा बनी रहती है। इसीप्रकार पदार्थ प्रमा का विषय चाहे जब हो, उसकी प्रमेयता नष्ट नहीं होती। इसलिए प्रमाण या प्रमेय के परस्पर आगे-पीछे होने से उनके प्रमाणभाव अथवा प्रमेयभाव में कोई अन्तर नहीं आता।

३. प्रस्तुत प्रसंग में किसी नाम-पद के प्रवृत्तिनिमित्त का तीनों कालों से सम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक है; अन्यथा लोकव्यवहार असम्भव होगा। एक व्यक्ति कहता है–पाचक को लेआओ, वह भोजन पकाया करेगा। यहाँ 'पाचक' पद का प्रवृत्तिनिमित्त 'भोजन पकाना' है। उसकी व्यवस्था भविष्यत् काल में होने पर भी उस व्यक्ति के लिए 'पाचक' पद का प्रयोग पहले ही होता रहता है। इसीप्रकार सब जगह गाँवों में जब फसल काटने का समय समीप आता दीखता है, तभी किसान फसल काटनेवाले व्यक्तियों की खोज में लगजाता है। संस्कृत में फसल काटनेवाले व्यक्ति को 'लावक' कहाजाता है। हिन्दी में आजकल 'लावा' बोलते हैं। फलतः काटेजाने का कार्य प्रारम्भ होने से पहले ही उन व्यक्तियों के लिए उक्त पदों का प्रयोग बराबर कियाजाता है। इससे यह प्रमाणित होता है, कि जिस क्रिया के निमित्त से किसी का कोई नाम रक्खाजाता है, वह क्रिया चाहे भूत-भविष्यत्-वर्त्तमान [पूर्व-सह-पर] किसी काल में सम्भव हो; उस निमित्त से निर्धारित नाम-पद का प्रयोग बराबर होता रहता है; वह सर्वथा संगत है। प्रमाण, प्रमेय आदि पद भी ऐसे ही हैं।

४. इस विषय में एक बात और ध्यान देने की है। वादी ने तीनों कालों में असिद्ध होने से प्रत्यक्ष आदि का अप्रामाण्य बताया। इस कथन से वादी क्या तात्पर्य प्रकट करना चाहता है? यह उससे पूछना चाहिये। इस प्रतिषेध से क्या वह प्रमाणों की सम्भावना को ही हटाना चाहता है, अथवा उनकी असम्भावना को बतलाना चाहता है? यदि पहले कथन के अनुसार वह प्रमाण की सम्भावना को हटाना चाहता है, तो इसका यह तात्पर्य है, कि उसने प्रमाणों की सम्भावना को प्रथम स्वीकार करलिया है। वह प्रतिषेध के द्वारा हटाईजासकेगी, या नहीं; यह अगली बात है। प्रमाणों की सम्भावना को स्वीकार किये बिना प्रतिषेध प्रवृत्त नहीं होसकता।

यदि दूसरे कथन के अनुसार वादी प्रमाणों की असम्भावना का बोध कराना चाहता है, तो बोध-ज्ञान कराने के कारण प्रतिषेध स्वयं प्रमाणभाव को प्राप्त करलेता है। किसी अर्थ के बोध–प्रमा का कारण होना ही तो 'प्रमाण' का स्वरूप है। जब प्रतिषेध स्वयं–प्रमाणों के असम्भव होने की उपलब्धि का हेतु बनगया, तो प्रमाण का प्रतिषेध कहाँ हुआ? प्रतिषेध के प्रमाणस्वरूप होने से प्रमाण स्वतः सिद्ध होजाता है ॥ ११ ॥

अप्रामाण्य के 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु का उसके प्रतिषेध में प्रयोग—सूत्रकार स्वयं–वादी के द्वारा प्रत्यक्षादि के अप्रामाण्य में दियेगये 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु का प्रतिषेध में प्रयोग करके–प्रतिषेध की अनुपपत्ति को बताता है—

त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १२ ॥ (७३)

[त्रैकाल्यासिद्धेः] तीनों कालों में सिद्ध न होने से [प्रतिषेधानुपपत्तिः] प्रतिषेध अनुपपन्न है।

कोई प्रतिषेध वाक्य जिसके प्रतिषेध के लिए प्रवृत्त होगा, वह उसका 'प्रतिषेध्य' होगा। अब देखना चाहिये, यदि प्रतिषेध्य की अविद्यमानता में प्रतिषेध पहले प्रवृत्त होता है, तो वह किसका प्रतिषेध करता है? प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य–तो तबतक है नहीं; ऐसी स्थिति में प्रतिषेध व्यर्थ है। यदि प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य पहले सिद्ध है, पश्चात् प्रतिषेध उपस्थित होता है; तो प्रतिषेध स्वयं असिद्ध होजायगा; क्योंकि पूर्वसिद्ध प्रत्यक्षादि प्रामाण्य का–पश्चात् सिद्ध प्रामाण्य-प्रतिषेध से–प्रतिषेध होना युक्त नहीं मानाजासकता। सिद्ध वस्तु का प्रतिषेध असम्भव है। यदि प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य और उसके प्रतिषेध को युगपत् स्वीकार कियाजाता है, तो प्रतिषेध्य–प्रत्यक्षादिप्रामाण्य की सिद्धि को स्वीकार करलियेजाने से उसका प्रतिषेध व्यर्थ व असंगत होगा। ऐसी स्थिति में प्रतिषेध वाक्य के सर्वथा अनुपपन्न होने से प्रत्यक्षादि का प्रामाण्य सुतरां सिद्ध होजाता है ॥ १२ ॥

प्रमाणों के अभाव में प्रतिषेध की अनुपपत्ति—सूत्रकार ने अन्य प्रकार से प्रतिषेध की अयुक्तता को स्पष्ट किया—

सर्वप्रमाणप्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ १३ ॥ (७४)

[सर्वप्रमाणप्रतिषेधात्] सब प्रमाणों के प्रतिषेध से [च] भी [प्रतिषेधानुपपत्तिः] प्रतिषेध अनुपपन्न–असंगत–अयुक्त होजाता है।

वादी ने प्रत्यक्ष आदि के प्रामाण्य का प्रतिषेध करने के लिए अनुमान का प्रयोग किया–'प्रत्यक्षादीनां अप्रामाण्यम्, त्रैकाल्यासिद्धेः' यहाँ प्रत्यक्षादि पक्ष में अप्रामाण्य साध्य है। हेतु दिया–'त्रैकाल्यासिद्धेः'। वादी ने यहाँ हेतु और साध्य की व्याप्ति को स्पष्ट व पुष्ट करने की दृष्टि से उदाहरण का निर्देश नहीं

किया। उदाहरण का निर्देश करने पर यह स्पष्ट होजाता है कि हेतु अपने साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ है। अनुमान के इन तीन अवयवों के पूर्ण होने पर प्रत्यक्षादि के प्रामाण्य को हटाया नहीं जा सकता। पहले तो यही स्पष्ट है कि अप्रामाण्य की सिद्धि करने के लिए प्रयुक्त अनुमान स्वतः प्रमाण है। यदि उसके प्रामाण्य को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य असिद्ध रहजाता है।

दूसरे बात यह है, अनुमान में प्रयुक्त अवयवों को सब प्रमाणों का प्रतीक[1] मानागया है। प्रतिज्ञा 'शब्द' रूप है, हेतु अनुमान का तथा उदाहरण प्रत्यक्ष का प्रतीक है। प्रामाण्य-प्रतिषेध अनुमान में वादी के द्वारा उदाहरण का निर्देश करदेने पर यह अनुमान का प्रयोग ही अवयवों के रूप में सब प्रमाणों के प्रामाण्य को समर्थित करदेता है। यदि यह अनुमान वास्तविकरूप से प्रत्यक्षादि के अप्रामाण्य को सिद्ध करदेता है, तो उक्त अनुमान में उदाहरण का निर्देश होजाने पर वह अपने अर्थ को सिद्ध करने में स्वतः असमर्थ रहेगा। क्योंकि वह प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कियागया है, जबकि उसका अप्रामाण्य सिद्ध कियाजाचुका है। यदि वादी अपने प्रयुक्त अनुमान में उदाहरण का निर्देश नहीं करता, तो हेतु और साध्य की व्याप्ति के असिद्ध रहने से हेतु अपने साध्य अर्थ को सिद्ध करने में अक्षम रहता है। तब भी प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य सिद्ध न होने से प्रामाण्य स्वतः बना रहता है।

इसके अतिरिक्त, प्रतिषेधवाक्य में प्रयुक्त हेतु वस्तुतः हेतु न होकर हेत्वाभास है। यह सभी प्रमाणों के विपरीत है, तथा जिस सिद्धान्त को स्वीकार कर प्रयुक्त कियागया है, उसीका विरोध करता है। उसका सिद्धान्त यह प्रतिपादन करना है कि–प्रत्यक्षादि किसी अर्थ को सिद्ध नहीं करते, अतः उनका प्रामाण्य स्वीकार नहीं कियाजाना चाहिये। परन्तु प्रतिषेध–अनुमानवाक्य में प्रतिज्ञा आदि अवयवों का निर्देश अपने अभिमत अर्थ को सिद्ध करने के लिए कियागया। यदि वह इसको पूरा करता है, तो अपने स्वीकृत इस सिद्धान्त का व्याघात करता है कि–प्रत्यक्ष आदि प्रमाण अर्थ को सिद्ध नहीं करते। क्योंकि प्रतिषेध-वाक्य स्वयं प्रमाणरूप में प्रस्तुत होकर अर्थ को सिद्ध करता है। यदि प्रतिषेध-वाक्य का किसी अर्थ की सिद्धि के लिए प्रयोग नहीं किया गया, तो उदाहरण में हेतु–बोध्य-अर्थ को न बताने या दिखलाने के कारण यह प्रतिषेध किसी अर्थ का साधक न होने से स्वतः अनुपपन्न–अयुक्त होजाता है। इसप्रकार प्रतिषेध-वाक्य में प्रयुक्त हेतु वस्तुतः हेत्वाभास है; अतः निर्दिष्ट साध्य का साधक न होने से प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य निर्बाध बना रहता है। फलतः सब

---

१. देखें–सूत्र [१।१।३९] का विद्योदयभाष्य।

प्रमाणों के प्रामाण्य का यदि प्रतिषेध कियाजाता है, तो इसका साधक प्रतिषेध स्वतः अनुपपन्न होजाता है ॥ १३ ॥

प्रतिषेध के प्रामाण्य में प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य असंगत—यदि इसका प्रामाण्य फिर भी मानाजाता है, तो समस्त प्रमाणों के प्रामाण्य का प्रतिषेध असम्भव होगा, सूत्रकार ने स्वयं यह बताया—

तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः ॥ १४ ॥ (७५)

[तत्प्रामाण्ये] प्रतिषेधरूपवाक्य के प्रामाण्य को स्वीकार करने पर [वा] अथवा, यदि [न] नहीं [सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः] समस्त प्रमाणों का प्रतिषेध ।

प्रतिषेध अनुमान-वाक्य में प्रयुक्त प्रतिज्ञा आदि अवयवों में आश्रित प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का प्रामाण्य यदि स्वीकार कियाजाता है, तो अन्य वक्ता के द्वारा प्रयुक्त अनुमान-वाक्य के प्रतिज्ञा आदि अवयवों में आश्रित प्रत्यक्ष आदि का प्रामाण्य भी निर्बाधरूप से स्वीकार करना होगा । क्योंकि अनुमानवाक्य सभी समान हैं । वस्तुतः प्रामाण्यप्रतिषेध वाक्य के प्रामाण्य को स्वीकार करना ही प्रामाण्यप्रतिषेध की जड़ को उखाड़ देता है, क्योंकि वह प्रामाण्यप्रतिषेध-वाक्य स्वयं प्रमाण के रूप में प्रस्तुत कियागया है । उसीको दृष्टान्त मानकर सभी प्रमाणों का प्रामाण्य सिद्ध होजाता है ।

सूत्र के 'विप्रतिषेधः' पद में 'वि' उपसर्ग का अर्थ 'विरोध' न समझकर 'विशेष' समझना चाहिये । क्योंकि वैसा अर्थ मानने पर सूत्र का प्रतिपाद्य प्रयोजन उलटजाता है । विरोध अर्थ मानने पर 'विप्रतिषेध' का अर्थ होगा—प्रतिषेध का विरोध अर्थात् प्रतिषेधाभाव । उसका—सूत्रपठित 'न' पद से निषेध होने पर—सब प्रमाणों का प्रतिषेध—सूत्रार्थ प्राप्त होगा, जो प्रतिपाद्य प्रयोजन से विपरीत होने के कारण सम्भव नहीं ॥ १४ ॥

प्रत्यक्षादि-प्रामाण्य त्रिकालसिद्ध—वादी ने प्रामाण्य-प्रतिषेध में 'त्रैकाल्यासिद्धेः' हेतु दिया । परन्तु प्रमाणों की प्रमेयबोधकता यथायथ तीनों कालों में देखी जाती है । इस आधार पर सूत्रकार ने उक्त हेतु के असांगत्य को स्पष्ट करते हुए बताया—

**त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्
तत्सिद्धेः ॥ १५ ॥** (७६)

[त्रैकाल्याप्रतिषेधः] तीनों कालों में प्रमाणों की प्रमेयग्राहकता का प्रतिषेध संगत नहीं [च] तथा [शब्दात्] शब्द—ध्वनि से [आतोद्यसिद्धिवत्] आतोद्य (बाजा) की सिद्धि के समान [तत्सिद्धेः] प्रमाणों की त्रैकाल्यसिद्धि से, अथवा प्रमाणों से तीनों कालों में प्रमेय की सिद्धि होने से ।

प्रमाण और प्रमेय के परस्पर पूर्वापरसहभाव को लक्ष्य कर यहाँ त्रैकाल्य का कथन है। तात्पर्य है, जहाँ जैसा सम्भव हो, प्रमाण प्रमेय के पूर्व, अपर या साथ रहता हुआ उसका बोधक होता है। इसका विवरण प्रथम [२। १। ११] सूत्र की व्याख्या में दियागया है, उसका आधार इसी सूत्र को समझना चाहिये।

प्रमाण प्रमेय का ग्रहण–प्रमेय के पहले, पीछे या साथ रहकर–नहीं कर-सकता; ऐसा प्रतिषेध सर्वथा असंगत है। कारण यह है कि यथासम्भव सभी स्थितियों में प्रमाण द्वारा प्रमेय का ग्रहण कियाजाता है। सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र में उसके एक प्रकार का उदाहरण निर्दिष्ट किया–'शब्दात् आतोद्यसिद्धिवत्'। 'आतोद्य' बाजे को कहते हैं। जब किसी मकान के अन्दर अथवा व्यवहित स्थान में बाजा बजाया जारहा है, दूरस्थित पुरुष उसकी ध्वनि को सुनता है; ध्वनि की विशिष्टता से वह समझलेता है कि यह वीणा बजाई जारही है या बाँसुरी; अथवा सितार बजाया जारहा है या हारमोनियम। यहाँ पर आतोद्य पहले से विद्यमान है, और ध्वनि बाद में कीजाती है। ध्वनि से श्रोता आतोद्य को पहचान लेता है, अथवा अनुमान करलेता है। इसप्रकार आतोद्य साध्य–प्रमेय है, और ध्वनि साधन–प्रमाण। ऐसे प्रसङ्गों में पहले से सिद्ध–विद्यमान साध्य का, पीछे होनेवाले ध्वनिरूप साधन–प्रमाण से बोध होता है। यहाँ साध्य 'पूर्व और साधन' अपर' है।

सूत्रकार ने नमूने के तौर पर एक प्रकार का उदाहरण यहाँ प्रस्तुत कर-दिया है। इसीके अनुसार अन्य विधाओं के उदाहरण गत ग्यारहवें सूत्र के भाष्य में प्रस्तुत करदिये हैं। उत्पन्न होनेवाली वस्तुओं के देखने के लिए आदित्य-प्रकाश पहले से विद्यमान रहता है; यहाँ प्रकाश–प्रमाण पहले और प्रमेय पश्चात् रहता है। धूम से अग्नि के अनुमान में प्रमाण–प्रमेय दोनों साथ रहते हैं। वस्तुभूत अर्थ का उपपादन किसी अपेक्षित अवसर पर करदेना उपयुक्त होता है। प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरसहभाव को–यहाँ वा वहाँ–कहीं से भी समझाजासकता है। यथार्थता को जाननामात्र अभीष्ट है।

'प्रमाण-प्रमेय' व्यवहार प्रवृत्तिनिमित्त के अनुसार—यह आवश्यकरूप से समझरखना चाहिए–प्रमाण, प्रमेय आदि पद अपने प्रवृत्तिनिमित्त के कारण इन नामों से विशिष्ट अर्थों का बोध कराते हैं। उपलब्धि का हेतु 'प्रमाण' और उपलब्धि का विषय 'प्रमेय' मानाजाता है। इन नाम-पदों का यही प्रवृत्तिनिमित्त है। जो वस्तु उपलब्धि की हेतु है, वह 'प्रमाण' कहीजायगी। वही जब उपलब्धि का विषय होजाती है, तब 'प्रमेय' मानीजाती है। कोई भी पदार्थ निर्दिष्ट प्रवृत्तिनिमित्त के कारण 'प्रमाण' अथवा 'प्रमेय' पद से व्यवहृत होता है। चक्षु रूप की उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण कहाजाता है। वही जब उपलब्धि का विषय होजाता है, तब प्रमेय है। एक ही अर्थ प्रवृत्तिनिमित्तवश प्रमाण और

प्रमेय होसकता है; इसमें कोई विरोध नहीं है । यही स्थिति प्रत्यक्ष आदि पदार्थ के विषय में लागू होती है । वह प्रमाण भी होता है और प्रमेय भी ॥ १५ ॥

प्रमाण-प्रमेयभाव तुलाप्रामाण्य के समान—उक्त अर्थ की अधिक स्पष्टता के लिए सूत्रकार ने यह और बताया—

प्रमेयता च तुलाप्रामाण्यवत् ॥ १६ ॥ (७७)

[प्रमेयता] प्रमेय होना [च] तथा [तुलाप्रामाण्यवत्] तुला के प्रमाण होने के समान समझना चाहिए ।

सूत्र में 'तुला' पद का अर्थ—बाट-समेत तराज़ू—है । साधारणतया 'तुला' का अर्थ केवल तराज़ू समझाजाता है । पर मुख्यतया तुला 'बाट' है; क्योंकि किसी वस्तु का भार बाट के आधार पर सन्तुलित होता है । तराज़ू केवल 'बाट' के उपयोग का साधन है । इसलिए प्रस्तुत प्रसङ्ग में तुला की सीमा में से बाट को निकाल देना सम्भव न होगा ।

तराज़ू के एक पलड़े में एक किलो का बाट रख उसके बराबर सोना तोलागया । यहाँ भार के ज्ञान का साधन तुला (बाट सहित तराज़ू) प्रमाण है, और ज्ञान का विषय गुरुद्रव्य सुवर्ण प्रमेय है । जब उसी सन्तुलित एक किलो सुवर्ण पिण्ड को बाट की जगह रखकर अन्य किसी गुरुद्रव्य के किलो-भार का बोध कियाजाता है उस समय पहले का प्रमेय सुवर्णपिण्ड अब प्रमाण होजाता है, तथा जो द्रव्य तोलाजाता है, वह प्रमेय रहता है । इसीप्रकार समस्त शास्त्र-प्रतिपाद्य अर्थ को समझने का प्रयास करना चाहिए ।

इसीके अनुसार आत्मा—उपलब्धि का विषय होने से—प्रमेयों में पढ़ागया है [१ । १ । ६] । उपलब्धि में स्वतन्त्र होने से वह प्रमाता है । इसीप्रकार बुद्धि[1] [अन्तःकरण मन] उपलब्धि का साधन होने से 'प्रमाण' कहाजाता है, यही जब उपलब्धि का विषय होता है, तो 'प्रमेय' रहता है । परन्तु उस समय बुद्धि[2] प्रमिति है, जब न प्रमाण हो न प्रमेय । प्रमाण से होनेवाले ज्ञान का नाम

---

१. 'बुध्यतेऽनया सा बुद्धिः' यहाँ करण अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय समझना चाहिए ।

२. यह पद 'बोधनं बुद्धिः' भाव अर्थ में 'क्तिन्' प्रत्यय होने से निष्पन्न होता है । ये पद दो हैं, इनकी निष्पत्ति भिन्न है और अर्थ भी । केवल आकृति [वर्णानुपूर्वी] समान है । प्रस्तुत प्रसङ्ग में भाष्यकार वात्स्यायन द्वारा उदाहरणरूप से इसका उल्लेख विचारणीय है । ज्ञानसाधन बुद्धि का ज्ञान-रूप होना—न्यायमतानुसार कहाँ तक औचित्य रखता है, यह भी विचार्य है । फिर भी एक ज्ञान अन्य ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त होता है; सविकल्पक ज्ञान के होने में निर्विकल्पक ज्ञान साधन मानाजाता है । अनुभव-ज्ञान स्मृतिज्ञान का जनक होता है । इसीके अनुसार ज्ञानपर्याय 'बुद्धि' पद का उल्लेखकर भाष्य में उदाहरण दियाजाना सम्भव है ।

'प्रमिति' है; वह न प्रमाण होता है, न प्रमेय। इसप्रकार इन पदों का प्रयोग प्रवृत्तिनिमित्त के कारण विभिन्न अर्थों में होता रहता है।

कारक पदों का प्रयोग प्रवृत्तिनिमित्त के अधीन—कारक शब्दों का प्रयोग प्रवृत्तिनिमित्त के अधीन इसीप्रकार विभिन्न अर्थों में बराबर देखाजाता है। जब क्रिया के प्रति कर्त्ता का स्वातन्त्र्य प्रकट करना अभीष्ट होता है, तब कर्त्ता कारक के रूप में पद का प्रयोग होता है–'वृक्षस्तिष्ठति', यहाँ अपनी स्थिति में वृक्ष का स्वातन्त्र्य अभिव्यक्त कियागया। 'वृक्षः' पद कर्त्ता के रूप में प्रयुक्त है। यही कर्तृ-पद उस समय क्रिया का कर्म बनजाता है, जब अन्य कर्त्ता के लिए देखने-जानने आदि क्रियाओं में अभीष्ट रहता है–'चैत्रः वृक्षं पश्यति, वृक्षं जानाति' इत्यादि। जब वही कारक अन्य किसी को बोधन कराने का साधन बनजाता है, तब वह करण-कारक के रूप में प्रयुक्त होता है–'वृक्षेण चन्द्रमसं ज्ञापयति'। दूज का चाँद आसानी से किसीको दिखाई नहीं देरहा। दूसरे व्यक्ति ने–जो स्पष्ट देखरहा था, कहा–देखो, उस वृक्ष के ठीक ऊपर से इस दिशा में नज़र डालो, चाँद की कोर वहाँ दिखाई देगी। वह व्यक्ति इसप्रकार चाँद को देखलेता है। यहाँ चाँद के दीखने में 'वृक्ष' साधन होकर करण-कारक के रूप में प्रस्तुत होता है। जब वृक्ष को जल से सींचना अभिप्रेत हो, तब यही 'वृक्ष'-पद सम्प्रदान-कारक रूप में प्रयुक्त होता है–'वृक्षाय जलमासिञ्चति'। जब स्थिर वृक्ष से पत्ता आदि अलग होकर गिरजाता है, वहाँ यह पद अपादान-कारक में प्रयुक्त होगा–'वृक्षात् पर्णं पतति।' जब यह किन्हीं का आधार बनकर प्रयोग में आता है, तब यह अधिकरण-कारक है–'वृक्षे पक्षिणः वसन्ति'–वृक्ष पर पक्षी बसेरा लेते हैं।

इसके अनुसार स्पष्ट है–केवल क्रिया अथवा केवल द्रव्य कारक नहीं होता, प्रत्युत क्रिया का निमित्त होते हुए क्रिया के साथ सम्बन्ध-विशेष होना कारक का स्वरूप है। यदि ऐसा न हो, तो कर्त्ता आदि कारकों का एक जगह समावेश होना सम्भव न होगा। कोई द्रव्य किसी कारक का रूप तभी पकड़ता है, जब उसका क्रिया के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध हो। सम्बन्ध की विविधता कारक के वैविध्य का उद्भावक है। जब क्रिया को सिद्ध करनेवाला स्वतन्त्रता से–अन्यनिरपेक्ष होकर–क्रिया को करनेवाला होता है, तब वह कर्त्ता कारक है। केवल क्रिया अथवा क्रिया-रहित केवल द्रव्य कर्त्ता-कारक नहीं होता। वही कर्त्ता-कारक उस समय कर्म-कारक होजाता है, जब क्रिया उसपर व्याप्त होकर अपना प्रभाव डालती है। वही कर्म-कारक उस समय करण-कारक बनजाता है, जब वह क्रिया की अभिव्यक्ति में अतिशय साधन के रूप मे उपस्थित होता है। ऐसे ही अन्य कारकों के विषय में समझना चाहिए।

इसप्रकार कारक का कथन जैसे उपपत्ति [पदनिर्वचन आदि] के द्वारा होता है, ऐसे ही उनके शास्त्रोक्त लक्षणों के द्वारा होता है; केवल द्रव्य अथवा

केवल क्रिया मे कारक का स्वरूप उभरना सम्भव नहीं होता। उपपत्ति से कारक का स्वरूप उभरता है। जैसे–क्रिया में स्वतन्त्र होने से कर्त्ता–[क्रियायाँ स्वातन्त्र्यात् कर्त्ता]; तथा ग्रन्य में समवेत क्रिया के फल से प्रभावित होने के कारण कर्म–[परसमवेतक्रियाफलशालित्वात् कर्म] कारक ग्रपना रूप प्राप्त कर लेता है। लक्षण से भी कारक का स्वरूप स्पष्ट होता है; जैसे–कर्त्ता का लक्षण है–क्रिया के सिद्ध करने में स्वतन्त्र होना [क्रियासाधने स्वतन्त्रः कर्त्ता भवति]। कर्म का लक्षण है–ग्रन्य समवेत क्रिया के फल से प्रभावित होना [परसमवेत-क्रियाफलशालि कर्म भवति]। इसप्रकार उपपत्ति तथा लक्षण के द्वारा कारक का स्वरूप स्पष्ट होजाता है। केवल द्रव्य या क्रिया से कारक का स्वरूप उभरता नहीं। तात्पर्य है, 'द्रव्यत्वम्' ग्रथवा 'क्रियात्वम्' यह कारक का लक्षण ग्रथवा स्वरूप सम्भव नहीं। करण ग्रादि कारकों के विषय में भी यह सब व्यवस्था समझलेनी चाहिए।

ठीक इसीप्रकार 'प्रमेय-प्रमाण' ग्रादि भी कारक-पद हैं, ग्रपने धर्म–ग्रपनी विशेषता–को छोड़ नहीं सकते। कारक शब्द विभिन्न प्रवृत्तिनिमित्त से विविध-रूप में सामने ग्राते हैं, यह निश्चित है। इसीकारण 'प्रत्यक्ष' ग्रादि उस समय 'प्रमाण' कहेजाते हैं, जब वे उपलब्धि के साधन होते हैं। वे ही जब उपलब्धि के विषय बनते हैं, तब उनको 'प्रमेय' नाम देदियाजाता है। लोक ग्रादि में ऐसा व्यवहार बराबर होतारहता है। 'प्रत्यक्षेण उपलभे' प्रत्यक्ष से उपलब्ध कररहा हूँ; यहाँ उपलब्धि का साधन होने से प्रत्यक्ष 'प्रमाण' है। तथा 'प्रत्यक्षं मे ज्ञानम्'–मुझे प्रत्यक्ष ज्ञान है, इस प्रतीति में स्वयं प्रत्यक्ष उसके विषयरूप से भासित होरहा है, ग्रतः यहाँ प्रत्यक्ष 'प्रमेय' है। इसीप्रकार प्रत्येक प्रमाण के विषय में यह व्यवस्था लागू होती है। सामान्य 'प्रमाण'-पद से सभी प्रमाणों का ग्रहण होता है। प्रत्येक लक्षण के द्वारा उनका विशेष जानाजाता है। जैसे–इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्न ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षपूर्वक–व्याप्तिज्ञानजनित ग्रनुमान होता है, इत्यादि। फलतः प्रमाण-प्रमेय के पूर्वापरसहभाव के ग्राधार पर किया-गया प्रमाण का प्रत्याख्यान ग्रसंगत है॥ १६॥

प्रमाणज्ञान क्या प्रमाणान्तरापेक्षित है?—जिज्ञासा होती है, क्या यह प्रत्यक्षादि-विषयक ज्ञान किसी ग्रन्य प्रमाण के द्वारा होता है, ग्रथवा विना प्रमाण के होजाता है? सूत्रकार ने जिज्ञासा का परिणाम स्वयं प्रस्तुत किया—

प्रमाणतः सिद्धेः प्रमाणानां प्रमाणान्तरसिद्धि-प्रसङ्गः॥ १७॥ (७८)

[प्रमाणतः] प्रमाण से [सिद्धेः] सिद्धि मानने पर से [प्रमाणानाम्] प्रमाणों की, [प्रमाणान्तरसिद्धिप्रसङ्गः] ग्रन्य प्रमाणों की सिद्धि होना प्राप्त होता है।

यदि प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि अर्थात् प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान होना अन्य किन्हीं प्रमाणों के द्वारा मानाजाता है, तो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त उन प्रमाणों को मानेजाने का प्रसंग प्राप्त होजाता है, जिनके द्वारा प्रत्यक्ष आदि को जानाजाता है। यदि उन्हें स्वीकार कियाजाता है, तो उनके जानने के लिए उनसे अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा होगी। ऐसे आगे-आगे प्रमाण मानने पर अनवस्था-दोष उपस्थित होगा। फिर सूत्रकार ने उद्देशग्रन्थ में चार प्रमाणों का उल्लेख किया है, उसमें न्यूनता-दोष आपन्न होगा। प्रमाणनिर्देश में ऐसे दोषों का होना अवाञ्छनीय है॥ १७॥

यदि इससे बचने के लिए प्रमाणों की सिद्धि, विना अन्य प्रमाणों के मानलीजाती है, तो प्रमेय की सिद्धि भी विना प्रत्यक्षादि प्रमाण के मानलेनी चाहिए; प्रत्यक्षादि का उपपादन निरर्थक है। सूत्रकार ने बताया—

तद्विनिवृत्तेर्वा प्रमाणसिद्धिवत् प्रमेयसिद्धिः॥ १८॥ (७९)

[तद्विनिवृत्तेः] प्रमाणान्तर की निवृत्ति से [वा] अथवा [प्रमाणसिद्धिवत्] प्रमाणों (प्रत्यक्षादि) की सिद्धि के समान [प्रमेयसिद्धिः] प्रमेयों की सिद्धि होजायगी।

अथवा अनवस्था आदि दोष के भय से यह मानलियाजाय कि प्रमाणान्तरों की विनिवृत्ति–अनुपस्थिति–अस्वीकृति में भी प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि–जानलियाजाना सम्भव है, तो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अनुपस्थिति में सकल प्रमेयों का जानना भी सम्भव होगा। ऐसी दशा में प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का मानना व्यर्थ है। इसप्रकार सभी प्रमाणों का विलोप होजाता है। तब 'प्रमाण' पदार्थ का निरूपण असंगत है॥ १८॥

प्रमाणज्ञान में प्रमाणान्तर अनपेक्षित—उक्त जिज्ञासा का समाधान सूत्रकार करता है—

न प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत् तत्सिद्धेः॥ १९॥ (८०)

[न] नहीं, [प्रदीपप्रकाशसिद्धिवत्] प्रदीपप्रकाश की सिद्धि के समान [तत्सिद्धेः] प्रत्यक्षादि प्रमाणों की सिद्धि होने से।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सिद्धि के लिए न तो अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है, और न प्रमाण के विना सिद्ध होजाने से ये निःसाधन हैं। इसलिए प्रमाणों का निरूपण शास्त्र में असंगत नहीं है। प्रदीपप्रकाश का उदाहरण देकर सूत्रकार ने इसको स्पष्ट करदिया है। प्रदीपप्रकाश स्वतः प्रत्यक्षप्रमाण का अङ्ग होता है। किसी रूप या रूपी वस्तु के प्रत्यक्ष में 'प्रकाश' प्रमाण का अङ्ग होता है। इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष प्रकाश के अभाव में वस्तुप्रत्यक्ष के लिए अपूर्ण रहता है। तात्पर्य है, वस्तु के प्रत्यक्षज्ञान के लिए जैसे चक्षु प्रमाण है, वैसे

प्रकाश तथा सन्निकर्ष भी प्रमाण की सीमा में आते हैं। यहाँ प्रदीपप्रकाश दृश्य-वस्तु के दर्शन ज्ञान में प्रमाण है। पर जब वही प्रदीप चक्षु:सन्निकर्ष से स्वयं गृहीत होता है, तब वह प्रमेय की सीमा में आजाता है। एक प्रत्यक्ष-प्रमाण चक्षु के द्वारा प्रत्यक्ष-प्रमाण के अन्य अङ्ग 'प्रकाश' का ग्रहण होजाने से न तो प्रकाश की सिद्धि–उपलब्धि के लिए प्रत्यक्षादि से अतिरिक्त प्रमाण की आवश्यकता रही; और न प्रदीपप्रकाश का ज्ञान विना प्रमाण के नि:साधन रहा। क्योंकि चक्षु–प्रत्यक्षप्रमाण से उसका ग्रहण होजाता है। वस्तु के ज्ञान में प्रदीपप्रकाश हेतु है, यह बात इस स्थिति से सिद्ध होजाती है कि प्रदीप के होने पर वस्तु का ज्ञान होता है, न होने पर नहीं होता। अन्धकार रहने पर वस्तुओं को देखने के लिए प्रदीपप्रकाश का अथवा किसी भी प्रकाश का उपादान आवश्यक होता है। इसलिए जहाँ जैसा देखाजाय, प्रत्यक्षादि प्रमाणों का ज्ञान प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ही होजाता है; उसके लिए अन्य प्रमाणों की अपेक्षा नहीं रहती।

रूप तथा रूपी द्रव्य के प्रत्यक्ष ज्ञान में चक्षु, प्रकाश एवं सन्निकर्ष को प्रमाण-कोटि में बतायागया। प्रकाश का प्रत्यक्षज्ञान चक्षु से होजाता है। चक्षु आदि सब इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, अत: इनका ज्ञान अनुमान से होता है। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय को ग्रहण करने के साधन हैं; विषयों का ग्रहण इन्द्रियों के अस्तित्व का अनुमापक है। विषय प्रत्यक्ष से गृहीत होजाते हैं। आवरणलिंग से इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का अनुमान होता है। यदि इन्द्रिय और अर्थ के अन्तराल में कोई आवरण आजायगा, तो सन्निकर्ष न होगा, और न विषय का ज्ञान होगा। यह ज्ञान आत्मा को होता है, वहाँ इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अतिरिक्त मन और आत्मा का संयोगविशेष अपेक्षित रहता है। आत्मा को वस्तु-विषयक ज्ञान का होना इतने साधनों के विना सम्भव नहीं। इसीप्रकार आत्मा को सुख-दु:ख आदि का अनुभव मन और आत्मा के संयोगविशेष से होता है। जैसे प्रदीपप्रकाश एक अवसर पर स्वयं दृश्य (विषय–प्रमेय) होता हुआ अन्य अवसर पर विभिन्न दृश्यों की उपलब्धि का हेतु होने से दर्शन का विषय और दर्शन का हेतु–दोनों व्यवस्थाओं को प्राप्त करता है, ऐसे ही एक समय कोई पदार्थ प्रमेय होता हुआ, अन्य समय में उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण और प्रमेय दोनों स्थितियों का लाभ करता है। चक्षु रूपग्राहक होने से प्रमाण, और रूपग्रहण से चक्षु का अनुमान होने पर वह प्रमेय रहता है। फलत: प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का ज्ञान यथायथ प्रत्यक्ष आदि से होजाता है, इनके ज्ञान के लिए अन्य प्रमाणों के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। कहीं एक प्रत्यक्ष का अन्य प्रत्यक्ष से, कहीं प्रत्यक्ष का अनुमान से, कहीं अनुमान का प्रत्यक्ष से ज्ञान होजाता है; इसमें कोई बाधा नहीं है। इसीलिए यह समझना ठीक नहीं कि प्रत्यक्ष आदि का ज्ञान विना साधन के होजाता है।

प्रत्यक्ष का ज्ञान प्रत्यक्ष से कैसे—यह आशंका कीजासकती है कि प्रत्यक्ष का ग्रहण प्रत्यक्ष से कैसे होजायगा ? एक पदार्थ एक काल में प्रमाण और प्रमेय दोनों हो, यह सम्भव नहीं। अत्यन्त निपुण भी नट स्वयं अपने कन्धे पर नहीं चढ़ सकता। किसी विषय का ग्रहण किसी अन्य के द्वारा देखाजाता है। वस्तुतः ऐसी आशंका ठीक नहीं है; क्योंकि यह कहीं नहीं कहागया कि कोई प्रत्यक्ष प्रमाणरूप में प्रस्तुत पदार्थ उसीकाल में स्वयं अपना प्रत्यक्ष करता हो। जब एक पदार्थ अन्य पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान का हेतु है, तब वह केवल प्रमाण है। वह प्रमेय तभी होगा, जब किसी अन्य प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय हो। यह सर्वत्र ध्यान रखना चाहिए कि उपलब्धि का हेतु और उपलब्धि का विषय एक काल में एक ही पदार्थ सम्भव नहीं।

प्रत्यक्ष-लक्षण में अनेक अर्थों का समावेश होता है। जैसा–प्रथम कहागया, इन्द्रिय, प्रकाश, सन्निकर्ष, ये सब प्रत्यक्ष-प्रमाण की कोटि में आते हैं। इनमें किसी एक से अन्य का प्रत्यक्ष होजाने में कोई बाधा नहीं है। इसीप्रकार अन्य अनुमान आदि प्रमाणों में समझना चाहिए। एक कुएँ से पानी निकालकर आपने चखा, वह मधुर था। उस समय वह पानी प्रमेय है। उसी पानी से आपने कूपस्थित शेष पानी के माधुर्य का अनुमान किया। इस समय वह चखा हुआ पानी प्रमाण-कोटि में आजाता है। चखा हुआ पानी, और कूपस्थित पानी भिन्न-भिन्न हैं; तथा चखे हुए पानी का–प्रमेय एवं प्रमाणस्थिति का–काल भी भिन्न है। अतः प्रमाण-प्रमेय-व्यवस्था में उक्त आशंका निराधार है।

'प्रमाता-प्रमेय' तथा 'प्रमाण-प्रमेय' का एक होना––प्रमाता और प्रमेय का कहीं एक होना सम्भव है। ज्ञाता अथवा प्रमाता आत्मा स्वयं अपने विषय में अनुभव करता है–'अहं सुखी, अहं दुःखी' आदि। यहाँ प्रमाता अपना अनुभव करते समय उसी काल में प्रमेय भी है। इसीप्रकार एक ही वस्तु के एक काल में प्रमाण और प्रमेय होने का उदाहरण भी देखाजाता है। सूत्रकार ने मन को जानने का लिंग बताया है–'युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिः' [१।१।१६]–एक-साथ अनेक ज्ञानों का उत्पन्न न होना। मन को समझने की इस प्रतीति के होने में जहाँ मन इस प्रतीति का विषय है, वहाँ इस प्रतीति का साधन भी है। प्रत्येक ज्ञान में मन साधन होता है; मन-विषयक उक्त ज्ञान में साधन होने से यहाँ मन प्रमाण और प्रमेय दोनों है। इसीप्रकार यदि किसी अन्य पदार्थ के भी प्रमाण और प्रमेय होने का सम्भव हो, तो वह ग्राह्य समझना चाहिए। उक्त प्रसंगों में ज्ञाता और ज्ञेय का, तथा प्रमाण और प्रमेय का अभेद स्पष्ट है।

यदि कहाजाय कि इन स्थलों में एक पदार्थ ज्ञाता और ज्ञेय तथा प्रमाण और प्रमेय निमित्तभेद के कारण हैं। पदार्थ यद्यपि एक है, पर वह ज्ञाता, ज्ञान का कर्त्ता होने से मानाजाता है, तथा ज्ञेय–ज्ञान का विषय होने से। इसीप्रकार

एक ही पदार्थ प्रमाण मानाजाता है–प्रमा का हेतु होने से; और प्रमेय–प्रमा का विषय होने से। इसप्रकार एक पदार्थ प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से ज्ञाता-ज्ञेय, तथा प्रमाण-प्रमेय कहाजाता है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में ऐसी सम्भावना नहीं है।

यह कथन भी बल नहीं रखता। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में निमित्तभेद क्यों सम्भव नहीं है? उक्त उदाहरणों के समान प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में अभेद रहते भी प्रवृत्तिनिमित्त के भेद से वही पदार्थ प्रमाण व प्रमेय मानाजासकता है। उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण और उपलब्धि का विषय होने से वही पदार्थ प्रमेय होजाता है। फलतः प्रमाण-प्रमेय की इस व्याख्यात व्यवस्था में कोई असांगत्य नहीं है, और न स्वीकृत प्रत्यक्षादि प्रमाणों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों की अपेक्षा है। यदि कोई विषय–अतीत, वर्त्तमान, अनागत में–ऐसा सम्भावन कियाजासके, जिसका प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण न होसकता हो, तो अन्य प्रमाणों की कल्पना करने का अवसर सम्भव है; परन्तु सत्-असत् समस्त विषयों का ग्रहण इन्हीं प्रमाणों से होजाता है। कोई विषय शेष नहीं रहता; अतः प्रमाणान्तर की कल्पना व्यर्थ है।

'प्रदीपप्रकाश' दृष्टान्त का विवरण—सूत्र के 'प्रदीपप्रकाशवत्' पद का अर्थ किन्हीं व्याख्याकारों ने केवल उदाहरण के रूप में किया है, जो हेतु के सहयोग से हीन है। उनका कहना है, जैसे प्रदीपप्रकाश को देखने के लिए अन्य प्रदीपप्रकाश की अपेक्षा नहीं होती, ऐसे ही प्रमाण अन्य प्रमाण के विना गृहीत होता है।

ऐसा अर्थ सूत्रकार की भावना के अनुकूल नहीं है। सूत्रकार प्रत्येक वस्तु की सिद्धि अथवा जानकारी प्रमाण के द्वारा होना मानता है। कोई पदार्थ ऐसा सम्भव नहीं, जो किसी-न-किसी प्रमाण का विषय न होता हो। यदि प्रमाण स्वयं विना किसी प्रमाण के सिद्ध है, अथवा जानाजासकता है, तो प्रमेय भी विना किसी प्रमाण के सहयोग के क्यों नहीं जानाजासकता? यदि प्रमाण वस्तु-सिद्धि के प्रसंग में किसी एक जगह से हटेगा, तो सब जगह से हटने की आपत्ति प्रस्तुत होजायगी। इसप्रकार प्रमाण का विलोप होजायगा। ऐसा कोई हेतु नहीं है, जिसके आधार पर यह कहाजासके कि प्रमेय की सिद्धि प्रमाण से होती है, परन्तु प्रमाण की सिद्धि विना प्रमाण के होजाती है। साथ ही इस बात में भी कोई विशेष हेतु नहीं है कि प्रमाण की सिद्धि विना प्रमाण के होजाती है, और प्रमेय की सिद्धि विना प्रमाण के नहीं होसकती। इसप्रकार विशेष हेतु के विना 'प्रदीपप्रकाशवत्' सूत्रपद का दृष्टान्त के रूप में अर्थ करना केवल एक पक्ष में उपादेय होने से अनेकान्त है, इष्ट का साधक नहीं मानाजासकता। कोई दृष्टान्त उसी अवस्था में अभीप्सित अर्थ का साधक होता है, जब विशेष हेतु से परि-गृहीत हो। ऐसे दृष्टान्त को अस्वीकार नहीं कियाजासकता। वह अवस्था

दृष्टान्त को अनेकान्तता से दूर रखती है। इससे यह सुपुष्ट होजाता है कि जैसे घट-पट आदि पदार्थ प्रमाणों से जानेजाते हैं, ऐसे ही प्रत्यक्षादि प्रमाण यथायथ उन्हीं प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानलियेजाते हैं। सूत्र के 'प्रदीपप्रकाशवत्' पद का यही भाव अभिव्यक्त करने में तात्पर्य है; जैसा प्रथम सूत्रार्थ के अवसर पर करदियागया है।

इस अवस्था में यह कहना संगत न होगा कि प्रत्यक्ष आदि की उपलब्धि प्रत्यक्ष आदि के द्वारा मानने पर अनवस्था-दोष होगा। यह दोष उसी दशा में सम्भव है, जब प्रत्यक्षादि की जानकारी के लिए अन्य अतिरिक्त प्रमाणों की कल्पना कीजाय। यहाँ केवल इतना समझना है कि ये प्रत्यक्षादि प्रमाण परस्पर यथाप्रसंग एक-दूसरे की जानकारी कराते हुए समस्त व्यवहार को पूर्णरूप से सम्पन्न करते हैं। जो पदार्थ एक समय उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण होता है, वही जब अन्य 'प्रमाण' पदार्थ का ग्राह्य विषय होता है, तब वह 'प्रमेय' नाम पाजाता है। ऐसा अन्य कोई व्यवहार शेष नहीं रहजाता, जिसके लिए अनवस्था के प्रयोजक अन्य प्रमाणों की कल्पना का अवसर आये। इन्हीं स्वीकृत प्रमाणों के द्वारा समस्त प्रमाण-प्रमेय की जानकारी का व्यवहार सम्पन्न हो-जाता है ॥ १९ ॥

प्रत्यक्षलक्षण-परीक्षा—सामान्य प्रमाणों की परीक्षा पूरी करके सूत्रकार ने विशेष प्रमाण प्रत्यक्ष की परीक्षा प्रस्तुत करने की भावना से कहा—

प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात् ॥ २० ॥ (८१)

[प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिः] प्रत्यक्ष का लक्षण अनुपपन्न—असिद्ध है [असमग्रवचनात्] अधूरे कथन से।

प्रत्यक्ष के लक्षणसूत्र [१ । १ । ४] में प्रत्यक्षज्ञान के जो कारण बताये गये हैं, उनमें कुछ कारणों का उल्लेख होना रहगया है। प्रत्येक ज्ञान के होने में आत्मा और मन का सन्निकर्ष आवश्यक होता है; उसका उल्लेख सूत्र में नहीं कियागया; केवल इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख किया है, अतः लक्षण अधूरा है। जो गुण किसी द्रव्य में संयोग से उत्पन्न होनेवाला हो, वह द्रव्य के असंयुक्त रहने पर उत्पन्न नहीं होसकता। ज्ञान-गुण आत्म-द्रव्य में समवाय से उभरता है; पर वह तभी, जब अर्थ-संयुक्त इन्द्रिय मन से तथा मन आत्मा से संयुक्त हो। हम जानते हैं कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के अनन्तर आत्मा में वस्तुविषयक ज्ञान उत्पन्न होता है। इससे सिद्ध होता है—आत्ममनःसन्निकर्ष ज्ञान के होने में कारण है। सूत्र में उसका उल्लेख नहीं हुआ। इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष भी ज्ञान के होने में कारण है। यदि ऐसा न मानाजाय, तो अनेक इन्द्रियों का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर सभी विषयों का एकसाथ

ज्ञान होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। इसका यही कारण है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होता है, उसी इन्द्रिय के विषय का ज्ञान हुआ करता है। इससे सिद्ध है–प्रत्यक्षज्ञान के होने में इन्द्रिय-मन का संयोग कारण है। उसका उल्लेख भी सूत्र में नहीं हुआ। यह सब लक्षण में न्यूनता है। फलतः प्रत्यक्ष का लक्षण ठीक नहीं है ॥ २० ॥

प्रत्यक्षलक्षण अपूर्ण—प्रत्यक्षलक्षण की असमग्रता को सूत्रकार स्वतः स्पष्ट करता है—

नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः ॥ २१ ॥ (८२)

[न] नहीं [आत्ममनसोः] आत्मा और मन के [सन्निकर्षाभावे] सन्निकर्ष के अभाव में [प्रत्यक्षोत्पत्तिः] प्रत्यक्ष की उत्पत्ति।

आत्मा और मन का सन्निकर्ष न होने पर प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती। जैसे इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष न होने पर नहीं होती। तात्पर्य है, जैसे इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान के लिए आवश्यक है, वैसे आत्म-मनः सन्निकर्ष भी। लक्षणसूत्र में उसका उल्लेख न होने से प्रत्यक्ष का लक्षण अपूर्ण है। सूत्र की अधिक व्याख्या प्रथम करदीगई है ॥ २१ ॥

यदि यह कहाजाता है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर ही प्रत्यक्षज्ञान होने से वे प्रत्यक्षज्ञान के कारण हैं, तो यह स्थिति दिग्, देश, काल, आकाश में भी प्राप्त होती है। इसी बात को सूत्रकार ने कहा—

दिग्देशकालाकाशेष्वप्येवं प्रसङ्गः[1] ॥ २२ ॥ (८३)

[दिग्देशकालाकाशेषु] दिशा, देश, काल, आकाश के विषय में [अपि] भी [एवम्] इसप्रकार [प्रसङ्गः] असमग्रकथन प्राप्त होता है।

कोई भी ज्ञान होने की दशा में दिशा, देश, काल, आकाश की स्थिति आवश्यक रहती है; तब इनको भी प्रत्यक्षज्ञान का कारण मानना चाहिये। प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इनका उल्लेख न होना लक्षण की असमग्रता का प्रयोजक है।

वस्तुतः प्रत्यक्षलक्षण में यह आपत्ति निराधार है। ज्ञान की उत्पत्ति में दिशा आदि के कारण न होने पर भी उनके सान्निध्य को हटाया नहीं जासकता। इसलिए इनको कारण मानेजाने में कोई विशेष हेतु होना चाहिए, जिससे ज्ञानोत्पत्ति के प्रति इनकी कारणता स्पष्ट होसके। इसके विपरीत दिशा

---

१. हमारे विचार से यह सूत्र न होकर भाष्यवार्त्तिक है, यद्यपि वाचस्पति मिश्र ने इसको 'न्यायसूचीनिबन्ध' में सूत्र माना है। मिश्र ने अन्यत्र भी भाष्यवार्त्तिक का सूत्ररूप में उल्लेख किया है। सूत्रकार ने इस आपत्ति का सूत्रद्वारा निराकरण नहीं किया; यह इसके सूत्र न होने में प्रमाण है।

आदि के रहते यदि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष न हो तो ज्ञान का न होना, यदि हो तो होना, यह सिद्ध करता है कि दिशा आदि की उपस्थिति–वे कारण हों या न हों–अनिवार्य है। अतः वे ज्ञानोत्पत्ति के प्रति अन्यथासिद्धमात्र हैं, कारण नहीं॥ २२॥

प्रत्यक्षलक्षण संगत—यदि ऐसा है, तो प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में आत्म-मनः-सन्निकर्ष का उल्लेख होना चाहिए था। इस विषय में सूत्रकार कहता है—

ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नाऽनवरोधः॥ २३॥ (८४)

[ज्ञानलिङ्गत्वात्] ज्ञान के लिङ्ग होने से [आत्मनः] आत्मा का [न] नहीं [अनवरोधः] असंग्रह (प्रत्यक्षलक्षण में आत्ममनःसन्निकर्ष का)।

आत्मा का विशेषगुण होने से ज्ञान आत्मा का लिंग है। आत्मा ज्ञान से ज्ञाप्य–बोध्य होता है आत्मा के अस्तित्व का यह बोधक है। ज्ञान का उत्पन्न होना यह स्पष्ट करता है कि ज्ञान का समवायिकारण आत्मा यहाँ विद्यमान है। आत्मा के ऐसे गुण की उत्पत्ति विना असमवायिकारण के हो नहीं सकती। उसका असमवायिकारण आत्ममनःसंयोग है। इसलिए आत्मा एवं आत्ममनः-संयोग के–प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में अपठित होने पर भी उनका संग्रह होजाता है। फलतः सूत्र में न पढेजाने पर भी प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इनकी कारणता निश्चित है॥ २३॥

यदि ऐसा है, तो इन्द्रिय-मनःसंयोग का उल्लेख तो लक्षणसूत्र में होना चाहिये था। इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

तदयौगपद्यलिंगत्वाच्च न मनसः॥ २४॥ (८५)

[तदयौगपद्यलिंगत्वात्] उसका अयौगपद्य–एकसाथ ज्ञान का न होना–लिंग होने से [च] तथा अथवा भी [न] नहीं [मनसः] मन का (असंग्रह)।

गत सूत्र से यहाँ 'अनवरोधः' पद की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। एकसाथ ज्ञानों का न होना मन का लिंग है। यह इसीकारण होपाता है कि जिस इन्द्रिय के साथ मन का संयोग होता है, उसी इन्द्रिय से ग्राह्य विषय का ज्ञान होता है, अन्य का नहीं। एक विषय का प्रत्यक्षज्ञान होने की दशा में यह स्पष्ट है कि उस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होरहा है। इसप्रकार प्रत्यक्षज्ञान के प्रति मन-इन्द्रियसन्निकर्ष की कारणता अनायास प्राप्त होजाती है। यदि प्रत्यक्षलक्षण में उसका उल्लेख नहीं कियागया, तो यह कोई दोषावह नहीं है; क्योंकि उक्त प्रकार से प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियमनःसन्निकर्ष का संग्रह होजाता है॥ २४॥

प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख क्यों?—आत्ममनःसन्निकर्ष और मनइन्द्रियसन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान में कारण हैं, यह स्वीकृत है। निमित्तान्तर

से उनका संग्रह भी लक्षण में स्वीकार किया। फिर सूत्र में उनका उल्लेख क्यों नहीं कियागया ? तथा इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का केवल क्यों कियागया ? सूत्रकार ने बताया—

प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम् ॥ २५ ॥ (८६)

[प्रत्यक्षनिमित्तत्वात्] प्रत्यक्ष का निमित्त होने से [च] केवल [इन्द्रियार्थयोः] इन्द्रिय और अर्थ के [सन्निकर्षस्य] सन्निकर्ष का [स्वशब्देन] स्व शब्द से ('इन्द्रिय' और 'अर्थ' इन अपने साक्षात् पदों से) [वचनम्] कथन है (लक्षण सूत्र में)।

प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का साक्षात् अपने वाचक पदों से कथन इसी कारण है कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष केवल प्रत्यक्षज्ञान का निमित्त होता है, अन्य अनुमिति आदि ज्ञान का नहीं। आत्ममनःसन्निकर्ष आदि–प्रत्यक्ष, अनुमिति, उपमिति, शाब्द आदि–सभी ज्ञानों में कारण होते हैं। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष केवल प्रत्यक्षज्ञान में कारण हैं। जो ज्ञानसामान्य में कारण हैं, उनका उल्लेख प्रत्यक्ष-ज्ञानविशेष के लक्षण में करना अनुपयुक्त था। उल्लेख न करने पर भी प्रत्यक्षज्ञान के प्रति उनकी कारणता में कोई बाधा नहीं आती। वे तो सभी ज्ञानों में बराबर कारण हैं। जो केवल प्रत्यक्षज्ञान में कारण हैं, अन्यत्र कारण नहीं; उनका निर्देश लक्षणसूत्र में कियागया है। यही उपयुक्त था; क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान का विशेष कारण यही है। फलतः प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में कोई न्यूनता नहीं ॥ २५ ॥

प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की प्रधानता—प्रत्यक्षलक्षण में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के ग्रहण के लिए सूत्रकार अन्य उपपत्ति प्रस्तुत करता है। अथवा प्रत्यक्षज्ञान के प्रति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कारणता के प्राधान्य को सूत्रकार ने प्रकारान्तर से बताया—

सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात् ॥ २६ ॥ (८७)

[सुप्तव्यासक्तमनसाम्] सोये हुए तथा व्यासक्त मनवाले व्यक्तियों के [च] और [इन्द्रियार्थयोः] इन्द्रिय और अर्थ के [सन्निकर्षनिमित्तत्वात्] सन्निकर्ष-निमित्त होने से (प्रबोध तथा विषयान्तर प्रवृत्ति में)।

प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ग्रहण कियागया है, आत्ममनः-सन्निकर्ष का नहीं। इसका कारण यही है कि प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष प्रधान कारण होता है, आत्ममनःसन्निकर्ष गौण कारण हैं। इस वास्तविकता को इस प्रकार समझना चाहिये।

जब व्यक्ति यह संकल्प करके सोता है कि मुझे ठीक अमुक समय अवश्य उठजाना है, ऐसा अनुभव में बराबर देखागया है कि वह व्यक्ति ठीक समय उठजाता है। ऐसे अवसर पर दृढ़ संकल्पवाले आत्मा में ठीक समय पर वह भावना उभर आती है; आत्मा मन को प्रेरित करता है, मन इन्द्रिय से संयुक्त होकर उन्हें सचेत करता है, और व्यक्ति ठीक संकल्पित समय पर उठबैठता है। ऐसे प्रसंग में आत्मा की प्रेरणा से प्रबोध होता है। यहाँ आत्ममनःसन्निकर्ष को प्रबोध में प्रेरक कारण कहाजासकता है।

परन्तु जब व्यक्ति किसी ऐसे संकल्प से नहीं सोता गहरी नींद में सोया हुआ है—बाहर तीव्र ध्वनि होती है, घण्टा बजता है, गोला छूटजाता है, अथवा आवश्यकता होने पर अन्य व्यक्ति सोये पुरुष को वेगपूर्वक झंझोड़कर उठाता है,—ऐसे अवसर पर सर्वप्रथम बाह्यध्वनि और श्रोत्र- इन्द्रिय अथवा तीव्र स्पर्श और त्वक्-इन्द्रिय का सन्निकर्ष सर्वप्रथम होता है। प्रबोधज्ञान की उत्पत्ति का वहाँ यही मुख्य कारण रहता है। ऐसे अवसरों पर आत्मा और मन के सन्निकर्ष का प्राधान्य नहीं होता। क्योंकि वहाँ आत्मा जिज्ञासा रखता हुआ प्रयत्नपूर्वक मन को प्रेरित नहीं करता। प्रत्युत ज्ञान होने की प्रवृत्ति इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की ओर से प्रारम्भ होती है।

ऐसे ही जब व्यक्ति किसी एकमात्र विषय में दत्तचित्त होकर लगा नहीं रहता, तब अपने संकल्प के अनुसार अन्य विषय को जानने की इच्छा रखता हुआ प्रयत्नप्रेरित मन से इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष कर अभिलषित विषय को जानलेता है। परन्तु इसके विपरीत जब संकल्प एवं विषयान्तर की जिज्ञासा से रहित होकर एकमात्र विषय में दत्तचित्त हुआ रहता है, उस समय सामने होनेवाली घटनाओं का भी उसे पता नहीं लगता। उसका ध्यान उधर से हटाकर दूसरी ओर खींचने के लिए किसी बाह्य आपात की अपेक्षा होती है। बाहर की ओर से तीव्र ध्वनि या स्पर्श आदि होने पर वह अन्य विषय का ग्रहण करपाता है। यहाँ भी इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्राधान्य रहता है। क्योंकि ऐसे अवसर पर आत्मा प्रथम जिज्ञासा रखता हुआ प्रयत्नपूर्वक मन को प्रेरित नहीं करता। प्रत्युत प्रथम इन्द्रिय–अर्थ का सन्निकर्ष होकर विषयज्ञान की प्रवृत्ति का प्रारम्भ होता है। फलतः ऐसे प्रसंगों के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्राधान्य होनेसे प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में उसका निर्देश कियागया है; गौण होनेसे आत्ममनःसन्निकर्ष का नहीं।

इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्राधान्य में स्वारस्य इतना है कि वह केवल प्रत्यक्षज्ञान में उपयोगी व सावकाश है। आत्ममनःसंयोग अनुमिति आदि अन्य सभी ज्ञानों में समानरूप से कारण रहता है, इसलिए केवल प्रत्यक्षज्ञान में उसका प्राधान्य नहीं है। उसकी कारणता ज्ञानमात्र में समान है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष

केवल प्रत्यक्षज्ञान में कारण रहता है, इसलिए यहाँ उसका प्राधान्य है ॥ २६ ॥

प्रत्यक्षज्ञान का निर्देश इन्द्रियाधीन—प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्राधान्य को पुष्ट करने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

तैश्चापदेशो ज्ञानविशेषाणाम् ॥ २७ ॥ (८८)

[तैः] उनके द्वारा [च] तथा [अपदेशः] कथन होता है [ज्ञान-विशेषाणाम्] ज्ञानविशेषों का ।

उन इन्द्रिय और अर्थों के द्वारा प्रत्यक्षीभूत विभिन्न ज्ञानों का कथन–निर्देश होता है । जैसे–'घ्राणेन जिघ्रति' घ्राण से सूंघता है । यहाँ गन्धग्रहण–गन्धज्ञान का निर्देश घ्राण-इन्द्रिय से है । ऐसे ही अन्य इन्द्रियों के विषय में समझना चाहिये । जैसे–'चक्षुषा पश्यति, रसनया रसयति, त्वचा स्पृशति, श्रोत्रेण शृणोति' आदि—चक्षु से देखता है, रसना से चखता है, त्वक् से छूता है, श्रोत्र से सुनता है, इत्यादि । यहाँ देखना, चखना, छूना, सुनना आदि ज्ञान का निर्देश चक्षु आदि इन्द्रियों से होता है । इसीप्रकार का–'घ्राणविज्ञानम्, चक्षुर्विज्ञानम्, रसनविज्ञानम्' इत्यादि व्यवहार है । यहाँ भी–'घ्राण से जाना हुआ, चक्षु से जाना हुआ, रसन से जाना हुआ' इत्यादि निर्देश घ्राण आदि इन्द्रियमूलक है। इसीप्रकार–'गन्धविज्ञानम्, रूपविज्ञानम्, रसविज्ञानम्, स्पर्शविज्ञानम्, शब्दविज्ञानम्' इत्यादि निर्देश है । यहाँ 'गन्धविषयक ज्ञान, रूपविषयकज्ञान, रसविषयकज्ञान, स्पर्श-विषयकज्ञान, शब्दविषयक ज्ञान' इत्यादि रूप में ज्ञान का निर्देश गन्धादि अर्थमूलक है । इन्द्रियों के अर्थ–विषय विभिन्न होने से वह ज्ञान उक्त पाँच प्रकार से कहाजाता है । इस सर्वमान्य शास्त्रीय व लोक-व्यवहार के अनुसार प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रिय एवं अर्थ का प्राधान्य स्पष्ट होता है । इसी आधार पर प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में 'इन्द्रियार्थसन्निकर्ष' का निर्देश है, अन्य कारणों का नहीं ॥ २७ ॥

प्रत्यक्षलक्षण में मनइन्द्रियसन्निकर्ष का निर्देश आवश्यक—शिष्य आशंका करता है, प्रत्यक्षलक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का उल्लेख किया; आत्ममनः-सन्निकर्ष का नहीं किया; क्योंकि सुप्त और व्यासक्तचित्त व्यक्तियों को ज्ञान होने का निमित्त इन्द्रियार्थसन्निकर्ष रहता है । यह कथन अन्य शास्त्रीय कथन का विरोधी होने से ठीक नहीं है । सूत्रकार ने इसी आशंका को सूत्रद्वारा प्रस्तुत किया —

व्याहतत्वादहेतुः ॥ २८ ॥ (८९)

[व्याहतत्वात्] विरोधी होने से ('सुप्तव्यासक्त०' आदि सूत्र द्वारा कहागया) [अहेतुः] हेतु ठीक नहीं है ।

गत २६वें सूत्र में प्रत्यक्षज्ञान के लिए इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का प्राधान्य बताया है; आत्ममनःसन्निकर्ष की कारणता का निषेध नहीं किया। परन्तु आशंकावादी शिष्य उस कथन की यथार्थ पूर्णता को न समझ विरोध की उद्भावना करता है। यदि आत्मा और मन का सन्निकर्ष ज्ञान के प्रति कारण होना अभीष्ट नहीं है, तो मन का जो लिङ्ग बतायागया है–युगपत् अनेक ज्ञानों का न होना, उसके साथ उक्त कथन का विरोध होगा। ज्ञान की उत्पत्ति में मनःसन्निकर्ष को कारण मानने पर–युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति–मन का लिङ्ग कहाजासकता है। यदि प्रत्यक्षज्ञान में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को मनःसन्निकर्ष की अपेक्षा न हो, तो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष होने पर युगपत् अनेक ज्ञान होजाया करें, परन्तु ऐसा नहीं होता, इससे स्पष्ट है, प्रत्यक्षज्ञान में मनःसन्निकर्ष कारण है। २६वें सूत्र से मनःसन्निकर्ष की कारणता को हटाना, इसके विरुद्ध जाता है। यह विरोध न रहे, इस भावना से सब ज्ञानों में मन-इन्द्रियसन्निकर्ष तथा आत्ममनःसन्निकर्ष को कारण अवश्य स्वीकार करना चाहिये। फलतः ज्ञान का कारण होने से इनके सन्निकर्ष का प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में उल्लेख होना आवश्यक है ॥ २८ ॥

इन्द्रियमनःसन्निकर्षनिर्देश प्रत्यक्षलक्षण में अनपेक्षित—सूत्रकार ने आशका का समाधान किया–

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ २९ ॥ (९०)

[न] नहीं (विरोध), [अर्थविशेषप्राबल्यात्] अर्थ-विशेष की प्रबलता से (कभी सुप्त तथा व्यासक्तचित्त व्यक्ति को ज्ञानोत्पत्ति होने के कारण)।

ज्ञान की उत्पत्ति में आत्ममनःसन्निकर्ष कारण है, इसका किसी ने प्रतिषेध नहीं किया। ज्ञानोत्पत्ति में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कारणता का प्राधान्य बतायागया है। एक समय पर सुप्त और व्यासक्तमन व्यक्ति को ज्ञानोत्पत्ति बाह्य अर्थविशेष की प्रबलता के कारण होती है। बाहर की तीव्र ध्वनि अथवा पटु-स्पर्श आदि को अर्थविशेष की प्रबलता समझनी चाहिये। बाह्य तीव्र ध्वनि अथवा पटु-स्पर्श का सम्बन्ध उस अवसर पर इन्द्रिय के साथ प्रथम होता है, आत्मा और मन का सन्निकर्ष उसके अनन्तर होपाता है। यद्यपि ज्ञान की उत्पत्ति तभी होगी, जब आत्ममनःसन्निकर्ष होचुका होगा; परन्तु इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष प्रथम होने से प्रधानकारण कहागया है। वैसे भी सर्वत्र प्रत्यक्षज्ञान की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष कारण की प्रधानता रहती है, और आत्ममनः-सन्निकर्ष की गौणता; अन्यथा प्रत्यक्ष और अनुमानादिजन्य ज्ञान में कोई अन्तर न रहेगा। प्रधान होने के कारण प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में केवल इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का निर्देश है; अन्य कारणों का नहीं।

मनःप्रेरक अदृष्ट—सुप्त और व्यासक्तमन व्यक्तियों के–इन्द्रियार्थ-सन्निकर्ष से उत्पन्न होनेवाले–ज्ञान के विषय में एक जिज्ञासा रहजाती है। संकल्प और प्रणिधान आदि के अभाव में जब सुप्त अथवा व्यासक्तमन व्यक्ति के श्रोत्र अथवा त्वक्-इन्द्रिय के साथ बाह्य तीव्र ध्वनि एवं पटु-स्पर्श का सन्निकर्ष होता है, उस अवसर पर आत्मा के प्रयत्न से इन्द्रिय के साथ संयुक्त होने के लिए मन प्रेरित नहीं होता, क्योंकि आत्मा में उस समय ज्ञानोत्पत्ति के लिए कोई संकल्प या प्रणिधान आदि नहीं रहता। तब इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होने के लिए क्या कारण रहता है? इन्द्रिय के साथ मन का संयोग उस ज्ञान में कारण है, अतः मनःसंयोग की उपेक्षा नहीं कीजासकती। इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष के लिए मन में क्रिया होने का क्या कारण है? यह जानना चाहिये।

संकल्प या प्रणिधान की स्थिति में जब ज्ञाता आत्मा किसी विषय का ज्ञान करना चाहता है, तब आत्मा की इच्छा से जैसे आत्मगुण प्रयत्न उभरकर मन को क्रिया के लिए प्रेरित करता है, ऐसे ही संकल्प आदि के अभाव में आत्मा का एक और विशेषगुण 'अदृष्ट' है, जो ऐसे अवसरों पर मन को उपयुक्त क्रिया के लिए प्रेरित कियाकरता है। वह 'अदृष्ट' नामक आत्मा का गुण पुण्य-अपुण्यरूप प्रवृत्ति एवं दोषों से उत्पन्न होकर आत्मा में समवेत रहता है, और सभी कार्यों में यह प्रयोजक रहता है। इसीका अन्य नाम 'धर्म-अधर्म' है। सुप्त आदि पूर्वोक्त दशा में इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष के लिए मन इसीसे प्रेरित होकर क्रियाशील होता है। यदि मन को यह प्रेरित न करे, तो इन्द्रिय के साथ मन का संयोग न होने पर ज्ञान की उत्पत्ति न होगी। इससे–आत्मा को जो भोग होनेवाला था–वहभी न होगा। तथा सब कार्यों में अदृष्ट को जो प्रयोजक मानाजाता है, वह मान्यता भी ध्वस्त होजायगी।

द्रव्य, गुण, कर्म आदि समस्त कार्यों की उत्पत्ति में अदृष्ट का कारण होना अत्यन्त अपेक्षित है। आत्माओं के पुण्यापुण्य कर्मों से धर्माधर्मरूप अदृष्ट बनता है। समस्त संसार की रचना आत्माओं के भोग को सम्पन्न करने के लिए होती है। इसलिए आवश्यक है, भोग की अनुकूलता के लिए जगद्रचना में अदृष्ट को प्रयोजक मानाजाय। जब परमात्मा सर्ग के लिए जगत् के परम सूक्ष्म उपादान तत्त्वों को प्रेरित करता है; तब विविध जगत् की रचना में आत्माओं के धर्म-अधर्म [अदृष्ट] प्रयोजक कारण रहते हैं, जिससे द्रव्यादि कार्यों की उस प्रकार की रचना कीजासके, जिससे आत्माओं के कर्मानुरूप भोगों में आनुकूल्य रहे। यदि ऐसा न मानाजाय, तो मूल उपादान-तत्त्वों में क्रिया का कोई अन्य प्रयोजक निमित्त न होने से शरीर, इन्द्रिय और दूसरे विविध भोग्य विषयों की उत्पत्ति का होना असम्भव होजायगा। इसप्रकार कार्यमात्र में अदृष्ट को कारण

मानाजाता है। अतः सुप्त आदि दशाओं में मन की अपेक्षित क्रिया का हेतु अदृष्ट को मानने में कोई बाधा नहीं है ॥ २९ ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान से अतिरिक्त नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, प्रत्यक्ष को अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानाजाना चाहिये। क्योंकि घट, पट, पेड़, मकान आदि जिस पदार्थ को हम चक्षु आदि के द्वारा देखते हैं, वह हमें पूरा कभी दिखाई नहीं देता, उसका कुछ भाग दीखता है, शेष का अनुमान करते हैं, तब प्रत्यक्ष को अनुमान मानलेना ठीक होगा। सूत्रकार ने जिज्ञासा को सूत्र द्वारा प्रस्तुत किया—

प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः ॥ ३० ॥ (९१)

[प्रत्यक्षम्] प्रत्यक्षप्रमाण [अनुमानम्] अनुमान है, [एकदेशग्रहणात्] एकदेश के ग्रहण से, (शेष की) [उपलब्धेः] उपलब्धि से।

पुरोवर्त्ती पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो ज्ञान उत्पन्न होता है–यह वृक्ष है, घट है, पट है, मकान है, इत्यादि; उसको प्रत्यक्ष कहाजाता है। पर वस्तुतः उस समस्त पदार्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता नहीं। मान लीजिये, सामने पेड़ खड़ा है। उसका केवल वह भाग दिखाई देता है, जो देखनेवाले की ओर है। दूसरी ओर का भाग दिखाई नहीं देता। पर एक ओर के भाग को देखकर देखनेवाला कहता है कि मैं पेड़ को देखरहा हूँ। वस्तुतः जितना भाग दीखरहा है, केवल उतनामात्र पेड़ नहीं है, उसमें और भाग हैं, जो दिखाई नहीं देरहे। जो नहीं दिखाई देरहा, उसका अनुमान द्वारा ज्ञान होना मानना होगा। तब 'यह पेड़ है' ऐसा ज्ञान प्रत्यक्ष न होकर अनुमान मानना चाहिये। यह ऐसा है, जैसे प्रथम धूम का ग्रहण करके उससे अग्नि का अनुमान होता है। यहाँ भी एकदेश के ग्रहण से उस वस्तु या पदार्थ, वृक्षादि का अनुमान होता है। अतः प्रत्यक्ष को अलग प्रमाण न मानकर उसे अनुमान समझना उपयुक्त होगा ॥ ३० ॥

प्रत्यक्ष, अनुमान नहीं—सूत्रकार आचार्य उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

न, प्रत्यक्षेण यावत्तावदप्युपलम्भात् ॥ ३१ ॥ (९२)

[न] नहीं, [प्रत्यक्षेण] प्रत्यक्ष से [यावत्] जितना (उपलब्ध होता है) [तावत्] उतना [अपि] भी [उपलम्भात्] उपलब्ध होने से।

प्रत्यक्ष को अनुमान बताना ठीक नहीं है। पुरोवर्त्ती एकदेश का ज्ञान इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से होने के कारण आशंकावादी ने भी उसे प्रत्यक्ष स्वीकार किया। तब जितना प्रत्यक्ष से जाना, उतने से प्रत्यक्ष प्रमाण का अस्तित्व तो सिद्ध होजाता है। प्रत्यक्ष से देख रहा हूँ, ऐसा ज्ञान विना विषय के नहीं

होसकता, कोई भी ज्ञान निर्विषय नहीं होता। जितना अर्थसमूह उस ज्ञान का विषय है, उतना प्रत्यक्ष की स्थापना को निश्चित करदेता है। अब यह विचार करना आवश्यक है कि जो प्रत्यक्ष होरहा है, उससे अतिरिक्त और क्या है ? अथवा उतना ही प्रत्यक्षीभूत पदार्थ है ? क्योंकि उस एकदेश के ग्रहण [प्रत्यक्षज्ञान] को अनुमानजन्य ज्ञान सिद्ध करनेवाला कोई हेतु दृष्टिगोचर नहीं है।

विचारना चाहिए, प्रत्यक्षगृहीत उस एकदेश से अन्य अनुमेय क्या है ? इस विषय में दो विचार हैं। एक हैं–पुरोवर्त्ती वृक्ष आदि पदार्थ–गृहीत और अगृहीत विविध अवयवों के समूह से अतिरिक्त–अन्य कुछ नहीं। दूसरा विचार है–गृहीत और अगृहीत अवयवों में समवाय-सम्बन्ध से एक द्रव्य उत्पन्न होजाता है, जिसको 'अवयवी' कहाजाता है। वही 'एक वृक्ष' के रूप में गृहीत होता है। इन दोनों विचारों के अनुसार यह समझने की आवश्यकता है कि प्रत्यक्ष किसका होता है ? और क्या उस प्रत्यक्ष को अनुमान मानाजाना चाहिए ?

पहले विचार के अनुसार 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान होना सम्भव नहीं। क्योंकि न तो केवल गृहीत भाग वृक्ष है, और न केवल अगृहीत भाग। इनमें गृहीत भाग का प्रत्यक्ष ज्ञान है, तथा दूसरे भाग के ज्ञान को अनुमिति कहाजासकता है। ऐसी स्थिति में 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान को न प्रत्यक्ष कहाजासकेगा, न अनुमिति। क्योंकि पूरा समूह न प्रत्यक्ष से जानागया, न अनुमान से। कुछ भाग प्रत्यक्ष से जानागया, कुछ अनुमान से। इसलिए उस ज्ञान को प्रत्यक्ष या अनुमान किसी एक प्रमाण से हुआ मानाजाना सम्भव नहीं है।

यदि कहाजाय कि प्रत्यक्षगृहीत भाग से अन्य अगृहीत भाग का अनुमान से ज्ञान होजायगा; और इन दोनों ज्ञानों से समुदाय का प्रतिसन्धान होने पर 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान का होना सम्भव होगा। ऐसी स्थिति में 'यह वृक्ष है' इस ज्ञान को केवल अनुमान-प्रमाण से हुआ नहीं कहाजासकता। क्योंकि इस प्रतिसन्धिज्ञान में एक अंश प्रत्यक्ष है। तब भी प्रत्यक्ष का अस्तित्व अबाध बना रहता है।

यदि दूसरा विचार स्वीकार कियाजाता है, जहाँ अवयवी नामक द्रव्यान्तर की उत्पत्ति को उन समस्त अवयवों में मानागया है, तो 'यह वृक्ष है' इस अवयवी-विषयक ज्ञान को अनुमान-प्रमाण से हुआ नहीं मानाजासकता। कारण यह है कि एकदेश के ग्रहण के साथ उससे सम्बद्ध एकमात्र पूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष से ग्रहण होजाता है; उसे अनुमेय कहना सर्वथा असंगत है। फलतः 'वृक्षज्ञान' अनुमानप्रमाणजन्य नहीं है; वह केवल प्रत्यक्षज्ञान है।

एक अन्य प्रकार से भी प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं मानाजासकता। अनुमान के लक्षणसूत्र [१।१।५] में बतायागया है–अनुमान प्रत्यक्षपूर्वक होता है।

अनुमान के प्रयोग में प्रत्यक्ष की अपेक्षा रहती है। यदि प्रत्यक्ष को अस्वीकार कियाजाता है, तो अनुमान की प्रवृत्ति ही न होगी। अनुमान को स्वीकार करने का तात्पर्य है कि पहले प्रत्यक्ष को स्वीकार करना चाहिए। धूम-अग्नि का परस्पर सम्बन्ध है, यह पहले प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। कालान्तर में धूम-हेतु का प्रत्यक्ष से ज्ञान होनेपर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान होता है। धूम-हेतु का प्रत्यक्षज्ञान हुए विना अनुमान की प्रवृत्ति नहीं होसकती। प्रत्यक्ष धूमज्ञान को अनुमेयज्ञान नहीं कहाजासकता; क्योंकि यह इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। अनुमेय पदार्थ का इन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होने से अनुमिति-ज्ञान कभी नहीं होता। प्रत्यक्ष और अनुमान के स्वरूप का यह परस्पर महान् भेद सदा ध्यान में रखना चाहिए ॥ ३१ ॥

अर्थ या वस्तु 'अवयवी' इकाई है—यह जो प्रथम कहागया—पुरोवर्ती वृक्ष आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष से केवल एक भाग गृहीत होता है, अतः वृक्षज्ञान को अनुमानजन्य मानना चाहिए। सूत्रकार उस विषय में अपना निर्णय देता है—

न चैकदेशोपलब्धिरवयविसद्भावात् ॥ ३२ ॥ (६३)

[न] नहीं [च] तथा, केवल [एकदेशोपलब्धिः] एक देश की उपलब्धि [अवयविसद्भावात्] अवयवी के विद्यमान होने से।

पुरोवर्त्ती वृक्ष आदि पदार्थों के प्रत्यक्षज्ञान में पदार्थ के केवल एक भाग का ग्रहण होता हो, ऐसा नहीं है। क्योंकि उन अवयवों में एक द्रव्यरूप से 'अवयवी' विद्यमान रहता है। इसलिए उस भाग की उपलब्धि के साथ उन अवयवों में समवेत अवयवी का ग्रहण होजाता है। क्योंकि अवयवी उस एकदेश से अतिरिक्त है, और वहीं समवेत है। जब पुरोवर्ती पदार्थ के एकदेश के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होता है, तब वहीं समवेत अवयवी के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होजाता है; तब जैसे इन्द्रियसन्निकर्ष से उस एकदेश की उपलब्धि होती है, वैसे इन्द्रियसन्निकर्ष से अवयवी का प्रत्यक्ष होता है। ऐसा नहीं हो-सकता कि पुरोवर्ती पदार्थ के एकदेश के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष हो, और उस एकदेश में सहचारी (समवेत) अवयवी इन्द्रिय से असन्निकृष्ट रहजाय। इन्द्रियसन्निकृष्ट एकदेशरूप अवयवों में अवयवी समवेत है, तथा उपलब्धि के कारण इन्द्रियसन्निकर्ष से सम्बद्ध है; तब एकदेश (इन्द्रियसन्निकृष्ट अवयवों) की उपलब्धि होनेपर अवयवी की उपलब्धि न हो, यह सर्वथा अनुपपन्न है। क्योंकि अवयवी—उस एकदेश के समान—इन्द्रियसन्निकृष्ट है। एक स्थिति में रहते हुए अवयव का ग्रहण होजाय, अवयवी का न हो, यह सम्भव नहीं।

पुरोवर्ती अवयवों में समवेत अवयवी पूर्ण नहीं—इस विषय में यह आशंका उठाईजासकती है कि अवयवी, सम्पूर्ण अवयवों में समवेत रहता है, किन्हीं

सीमित अपूर्ण अवयवों में नहीं। पुरोवर्ती पदार्थ के सम्पूर्ण अवयवों का कभी ग्रहण होता नहीं। सामने के अवयवों से पीछे के अवयवों का व्यवधान रहता है। इसलिए पूर्ण अवयवी का ग्रहण होना कभी सम्भव नहीं; क्योंकि केवल उपलब्ध अवयवों में अवयवी पूरा समाप्त नहीं होजाता। यदि उतने में पूर्ण अवयवी रहता, तो एकदेश की उपलब्धि होनेपर अवयवी की उपलब्धि होजाना मानाजासकता था। पर उतने एकदेश में पूर्ण अवयवी समवेत नहीं हैं, उसके आश्रयभूत अन्य अवयव भी शेष हैं, जो व्यवहित होने से अनुपलब्ध हैं। किसी वस्तु की सम्पूर्णता तभी होती है, जब उसका कुछ शेष न रहा हो। शेष रहने पर तो पदार्थ अपूर्ण मानाजायगा। प्रस्तुत प्रसंग में यही बात है; जिन बहुत अवयवों में अवयवी समवेत है, वहाँ जो अवयव अव्यवहित हैं, वहाँ अवयवी का प्रत्यक्ष से ग्रहण होने; एवं व्यवहित अवयवों में न होने से अवयवी के प्रत्यक्ष के विषय में एकदेश की उपलब्धि की स्थिति बनी रहती है। तब यही मानना चाहिए कि प्रत्यक्ष से अगृहीत भाग का तथा सम्पूर्ण अवयवी का ज्ञान अनुमान से होता है।

पुरोवर्त्ती अवयवों के ग्रहण के साथ पूर्ण अवयवी का ग्रहण—उक्त आशंका का समाधान इसप्रकार समझना चाहिए। अवयवों में समवेत परन्तु उनसे अतिरिक्त एक इकाई के रूप में जब अवयवी को स्वीकार कियाजाता है, और यह मानाजाता है कि पुरोवर्त्ती पदार्थ के सम्मुखीन अव्यवहित भाग को इन्द्रिय-सन्निकृष्ट होने के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत कियाजाता है; उसके साथ वहाँ समवेत अवयवी का इन्द्रियसन्निकृष्ट होने से प्रत्यक्ष होजाता है। इस स्थिति में अवयवी का क्या अगृहीत रहजाता है? जिसके कारण यह कहाजाय कि अवयवी के एकदेश की उपलब्धि हुई है। वस्तुतः कारणभूत अवयवों के अतिरिक्त अवयवी का अन्य कोई एकदेश-अंश-भाग या टुकड़े नहीं होते। अवयवी सदा एक इकाई के रूप में अभिन्न–अच्छिन्न रहता है। उस इकाई में अवयव-व्यवहार अनुपपन्न है।

यह कहना युक्त न होगा कि जिन अवयवों का इन्द्रियसन्निकर्ष से ग्रहण होता है, उनके साथ उतना अवयवी गृहीत होजाता है; और जिन अवयवों का व्यवधान के कारण ग्रहण नहीं होता, उतने अवयवों के साथ का अवयवी गृहीत नहीं होता। ऐसे कथन की अयुक्तता का कारण यह है–अवयवों में भेद होने पर भी उनमें समवेत अवयवी एकमात्र है। अवयवों के भेद के साथ उन्हीं अवयवों में अवयवी का भेद नहीं होता। ऐसा सम्भव भी नहीं; क्योंकि पदार्थ में एकता का नियामक वही एकमात्र अवयवी है। यदि अवयवों की अनेकता के समान गृहीत और अगृहीत अवयवों में अवयवी अनेक माने जायें, तो पुरोवर्ती घट, पट, पेड़, मकान आदि पदार्थों में एकत्व का बोध सर्वथा असम्भव होगा;

अथवा उसे नितान्त भ्रान्त कहाजायगा। परन्तु ऐसा नहीं है; एकत्व का अस्तित्व व व्यवहार पूर्णरूप में यथार्थ है।

यदि कहाजाय–अनेक अवयवों में एकमात्र अतिरिक्त अवयवी को स्वीकार न कर अवयवों के समूह अथवा समुदाय के आधार पर एकत्व का व्यवहार सम्पन्न होसकता है। ऐसी मान्यतावाले व्यक्ति से पूछाजासकता है कि वह समुदाय किसको कहता है? क्या अवयवों की अशेषता–सम्पूर्णता का नाम समुदाय है; अथवा उन अवयवों की परस्पर प्राप्ति–संम्बन्ध, अर्थात् समस्त अवयवों का संश्लेषणपूर्वक सन्निवेश का नाम समुदाय एवं समूह है?

दोनों अवस्थाओं में समुदाय का ग्रहण असम्भव है। क्योंकि वृक्ष, घट, पट आदि किसी पदार्थ के सम्पूर्ण अवयवों का एकसाथ ग्रहण नहीं होसकता; व्यवहित अवयव सर्वदा अगृहीत रहेंगे। तब अवयवों की सम्पूर्णता को समुदाय मानकर सम्पूर्ण अवयवों के कभी ग्रहण न होने से समुदाय का ग्रहण कभी सम्भव न होगा। यदि अवयवों के सम्बन्ध अथवा सन्निवेश को समुदाय मानाजाता है, तो समस्त सम्बन्ध अथवा सन्निवेश पूर्णरूप से कब दिखाई देता है? ऐसे समुदाय-भूत वृक्ष का ग्रहण कभी सम्पन्न न होगा। किसी भी पदार्थ के कुछ अवयवों से अन्य अवयव सदा व्यवहित रहते हैं। ऐसी दशा में न सम्पूर्ण अवयवों का ग्रहण सम्भव है, और न उनकी प्राप्ति अथवा सम्बन्ध का। जब सम्बन्धी का ग्रहण नहीं, तो उसके आश्रित सम्बन्ध का ग्रहण कैसे होगा? फलतः एकदेश के ग्रहण के साथ 'यह वृक्ष है' ऐसा ज्ञान तभी संगत होता है, जब अवयवों में अवयवी नामक द्रव्यान्तर की उत्पत्ति स्वीकार कीजाती है। तात्पर्य है, सम्पूर्ण अवयवों में एकमात्र अवयवी समवेत रहता है, पर वह अवयवों से अतिरिक्त है। इसीलिए यत्किञ्चित् अवयवों के दीखने पर पूर्ण अवयवी इकाई का प्रत्यक्ष होजाता है। अवयवसमूहमात्र की कल्पना में 'वृक्षः, घटः, पटः' आदि ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता॥ ३२॥

अवयवी के अस्तित्व में सन्देह—गत सूत्र में 'वृक्षः, घटः, पटः' आदि प्रत्यक्षज्ञान की उपपत्ति के लिए अवयवी की सत्ता को स्वीकार कियागया। इस विषय में शिष्यद्वारा उद्भावित सन्देह को सूत्रकार ने सूत्रद्वारा प्रस्तुत किया—

साध्यत्वादवयविनि सन्देहः॥ ३३॥ (९४)

[साध्यत्वात्] साध्य होने से [अवयविनि] अवयवी के विषय में [सन्देहः] सन्देह है।

गत सूत्र में 'अवयविसद्भावात्' जो हेतु दियागया है, वह वस्तुतः युक्त नहीं है; क्योंकि इस बात को अभी प्रमाणों के आधार पर सिद्ध नहीं किया-

गया कि अवयवसमुदाय के रूप मे प्रतीयमान पदार्थ उन अवयवों से अतिरिक्त है, उन अवयवों से उत्पन्न होता और उन्हींमें समवेत रहता है। इसप्रकार साध्य होने से अवयवी 'है, या नहीं ?' यह सन्देह बना रहता है। साध्य को ही सिद्ध समझकर हेतुरूप में प्रस्तुत करदियागया, यह केवल विप्रतिपत्ति है; एक विरुद्ध पक्ष को उठाकर निराधार बात हेतुरूप में कहदीगई है। यह विप्रतिपत्ति ही अवयवी के विषय में सन्देह का जनक है। अतः उक्त हेतु अहेतुमात्र है, अपने अभिलषित को सिद्ध नहीं करता ॥ ३३ ॥

वस्तुग्रहण 'अवयवी' का साधक—सूत्रकार ने–अवयवी को स्वीकार न करने की दशा में–दोष का उद्भावन करते हुए बताया—

सर्वाग्रहणमवयव्यसिद्धेः ॥ ३४॥ (६५)

[सर्वाग्रहणम्] सबका अग्रहण होजायगा, [अवयव्यसिद्धेः] अवयवी के असिद्ध मानेजाने से।

यदि अवयवी को असिद्ध मानाजाता है, अवयवी की अवयवातिरिक्त सत्ता स्वीकार नहीं कीजाती, तो किसी वस्तु का प्रत्यक्षज्ञान न होपायेगा। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि भेदों में सभी पदार्थों का समावेश है। अवयवी के अस्वीकार में किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं। कारण यह है कि पदार्थ की रचना उसके मूल उपादान-तत्त्व परमाणु से प्रारम्भ होती है। यदि परमाणु-समुदाय द्रव्यान्तर को उत्पन्न नहीं करता, तो वह परमाणुरूप में अवस्थित रहेगा। परमाणु कभी दृष्टि का विषय नहीं होता। तत्त्व की वह अवस्था अतीन्द्रिय है। परन्तु प्रत्येक आँख रखनेवाला व्यक्ति विविध पदार्थों को लोक में दृष्टिगोचर करता है। इस दर्शन (ज्ञान) का विषय यदि अवयवों से अतिरिक्त कोई अवयवी नहीं है, तो ये द्रव्यादि पदार्थ कैसे गृहीत होजाते हैं ? केवल परमाणुसमुदाय मानने पर इनका चक्षु आदि से ज्ञान होना सम्भव नहीं। परन्तु ज्ञान होता, स्पष्टरूप में जानाजाता है–यह पात्र है, वृक्ष है; काला है, हरा है; छोटा है, बड़ा है; जुड़ा है, अलग है; सक्रिय है, सत्तावाला है; मृद्विकार अथवा स्वर्ण आदि का विकार है, इत्यादि रूप में द्रव्यादि पदार्थों का प्रत्यक्ष बराबर होता है। मृद्विकार मृदवयवों में तथा स्वर्णादिविकार स्वर्णादि-अवयवों में समवेत रहकर द्रव्यभाव से गृहीत होते हैं। गुणादि धर्मों का भी इसीप्रकार स्वरूप में अस्तित्व जानाजाता है। इन सभी द्रव्यादि पदार्थों का ग्रहण होने से स्पष्ट होता है–अवयवों से अतिरिक्त-अवयवी अवश्य है, जो उन्हीं अवयवों से उत्पन्न होकर उन्हींमें समवेत रहता है। यदि ऐसा न हो, तो किसी पदार्थ का ग्रहण न होगा; क्योंकि उस दशा में परमाणुसमुदाय अतीन्द्रिय परमाणु से अतिरिक्त कुछ नहीं है ॥ ३४ ॥

अवयवी के अन्य साधक—सूत्रकार ने अवयवी के सद्भाव में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

धारणाकर्षणोपपत्तेश्च ।। ३५ ।। (९६)

[धारणाकर्षणोपपत्तेः] धारण और आकर्षण की उपपत्ति–सिद्धि से [च] तथा (अवयवी का अस्तित्व निश्चित होता है)।

घड़े के एक किनारे को पकड़कर जब उठायाजाता है, तो पूरा घड़ा उठा-चला आता है (–धारण)। ऐसे ही जब कपड़े के एक छोर को पकड़कर खींचा-जाता है, तो सारा कपड़ा खिचा चला आता है। यह स्थिति तिनका, पत्ता, पत्थर, लकड़ी आदि सभी पदार्थों में देखीजाती है। विचारना चाहिए, ऐसा क्यों होता है. वस्तु का जो देश पकड़ में है, उतने का धारण–आकर्षण होना चाहिए; पर ऐसा न होकर वह क्रिया सम्पूर्ण द्रव्य में होजाती है। तब विचारणीय है–उसका आधार क्या है ?

धारण और आकर्षण किसी वस्तु में तभी होते हैं, जब उन अवयवों को संगृहीत–इकट्ठा करदियाजाता है। यह संग्रह अवयवों के दृढ़ संयोग के कारण होता है। कच्चे घड़े आदि में अवयवों का ऐसा दृढ़ संयोग–स्नेह और द्रवत्व गुणवाले–जलों के संयोग से होता है। पक्के घड़े आदि में उसका कारण अग्नि-संयोग है। अवयवों का परस्पर साधारण संयोग द्रव्य में वैसी स्थिति को उत्पन्न नहीं करता। यदि ऐसा न मानाजाय, तो बालू के ढेर से बालू को मुट्ठी-भर उठाने पर बालू का ढेर उठाचलाआना चाहिए। पर ऐसा कभी नहीं होता। इससे स्पष्ट है, बालू के कणों का वह परस्पर साधारण संयोग उन अवयवों में संग्रह को उत्पन्न नहीं करता, जो घट आदि द्रव्यों के अवयवों में देखाजाता है। ऐसा संग्रह अवयवों में द्रव्यान्तररूप अवयवी की उत्पत्ति का प्रयोजक है। यह प्रक्रिया द्व्यणुक आदि की रचना से प्रारम्भ होजाती है। यदि उस अवस्था में द्रव्यान्तर की उत्पत्ति नहीं मानीजाती, तो किन्हीं एकाधिक वस्तुओं को–लाख अथवा अन्य किसी जोड़नेवाली सामग्री से–परस्पर जोड़ देनेपर, वहाँ धारण-आकर्षण न होने चाहिएँ। क्योंकि अवयव-स्थानीय उन वस्तुओं में–जोड़े जाने पर भी–द्रव्यान्तरोत्पत्तिरूप एकता न मानेजाने से बालुकणों के समान धारण-आकर्षण न होगा। पर ऐसा होता है, अर्थात् दृढ़ संयुक्त वस्तुओं में धारण-आकर्षण देखे-जाते हैं। यह उनके एकाकार बनादेने का फल है। यह स्थिति इस बात को स्पष्ट करती है कि धारण-आकर्षण वस्तु की एकता पर आधारित हैं। अनेक अवयवों में वह एकता द्रव्यान्तर (अवयवी) की उत्पत्ति को माने विना सम्भव नहीं।

कहाजासकता है कि वस्तुओं में धारण-आकर्षण की अनुभूत स्थिति को वास्तविक व युक्त मानते हुए भी यह आवश्यक नहीं कि अवयवातिरिक्त

अवयवी को स्वीकार कियाजाय। 'वृक्षः, घटः, पटः' आदि ज्ञान का विषय अवयवी न होकर 'परमाणुसञ्चय' अर्थात् परमाणुओं का समूह मानाजासकता है। अवयवसमूह में वृक्षादि बुद्धि होती है।

यह कथन तर्क की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। परमाणुसमूह यदि परमाणुओं से अतिरिक्त है, और परमाणुओं में विद्यमान रहता है; तो 'समूह' के नाम से 'अवयवी' को स्वीकार करलियाजाता है। नाम चाहे कुछ रखलिया-जाय, पर वह स्वरूप से एकमात्र है, और अवयवों में रहता है; यह अवयवी का स्वरूप है। यदि समूह अवयवों से अतिरिक्त अपना कोई अस्तित्व नहीं रखता, वह परमाणुरूप है; तो वृक्षादि पदार्थों में न तो एकत्व की प्रतीति सम्भव होगी, और न विभिन्न पदार्थों के विलक्षण स्वरूप में उभरने का कोई कारण बताया जासकता है। यदि अनेकात्मक परमाणुओं में एकत्व की प्रतीति मानीजायगी, तो वह स्पष्टरूप से भ्रान्त होगी। अनेक परमाणुओं में एकत्व की प्रतीति को यथार्थ मानने के लिए कोई प्रमाण नहीं है। तात्पर्य है, 'यह एक पेड़ है, यह एक घड़ा है' इत्यादि में एकत्व का विषय क्या एक ही अर्थ है, या अनेक हैं ? यदि पहला है, तो अवयवी को स्वीकार करलिया। यदि दूसरा है, तो अनेक में एक ज्ञान होना विषय-विरुद्ध ज्ञान होने से वह भ्रान्तिपूर्ण है। फलतः धारण-आकर्षण के आधार पर समस्त व्यवहार की सम्पन्नता के लिए अवयवी को स्वीकारना अनिवार्य है ॥ ३५ ॥

अनेक में एकत्व-बुद्धि वस्तुभूत नहीं—प्रकारान्तर से अनेक में एकत्व-बुद्धि का उपपादन कर साथ ही सूत्रकार उसका समाधान करता है—

सेनावनवद् ग्रहणमिति चेन्नातीन्द्रियत्वादणूनाम् ॥ ३६ ॥ (९७)

[सेनावनवत्] सेना और वन के समान [ग्रहणम्] ज्ञान (होता है, अनेक में एक का), [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो वह ठीक) [न] नहीं, [अतीन्द्रियत्वात्] अतीन्द्रिय होने से [अणूनाम्] परमाणुओं के।

सेना में अनेक व्यक्ति होते हैं। पर पंक्ति में खड़े हुए उनको दूर से देखने पर उनमें एकत्व की बुद्धि होती है, यह एक सेना है, और दिखाई भी एक देती है। अनेक होते हुए भी वे व्यक्ति पृथक्-पृथक् दिखाई नहीं देते। यह अनेक में एकत्व-प्रतीति है, और इसे अयथार्थ नहीं मानाजाता।

इसीप्रकार जंगल में अनेक पेड़ खड़े होते हैं। वे एक पंक्ति में नहीं होते, और प्रत्येक पेड़ एक-दूसरे से अलग होता है, यह वन में समीप जाने पर स्पष्ट होजाता है। दूर से देखने पर वह एक घना जंगल दिखाई पड़ता है। उसमें 'यह एक वन है' प्रतीति यथार्थ मानीजाती है। इन उदाहरणों में यह ध्यान देने की बात है कि सेना में प्रत्येक व्यक्ति, और वन में प्रत्येक पेड़, एक-दूसरे से

अलग होते हैं; वहाँ वे नियम लागू नहीं होते, जो अवयवी की उत्पत्ति के लिए बतायेगये हैं–अवयवों का परस्पर संश्लिष्ट होजाना–आदि। इसलिए सेना, वन आदि में एकत्व-बुद्धि का आश्रय अवयवी को नहीं मानाजासकता। फलत उक्त उदाहरणों में जैसे अनेकों में एकत्व-बुद्धि यथार्थ है, ऐसे अनेक परमाणुओं में एकत्व-बुद्धि की यथार्थता का उपपादन सम्भव है। एकत्व-बुद्धि के लिए अवयवी की कल्पना आवश्यक नहीं।

इस कथन पर आचार्य ने बताया, यह ठीक है–सेना, वन आदि व्यवहार के आधार पर अनेक में- एक बुद्धि का होना कहाजासकता है, परन्तु यह बुद्धि यथार्थ न होकर भाक्त होती है, और गौण मानीजाती है। इसे गम्भीरतापूर्वक इसप्रकार समझना चाहिए—

सेना व वन आदि उदाहरणों में व्यक्ति तथा वृक्षों के अलग-अलग होने का ग्रहण दूर रहने के कारण नहीं होता। यह ढाक है, या खैर का पेड़ है, इसप्रकार उनकी जाति की पहचान भी दूरी के कारण नहीं होपाती। वायु से उनके पत्तों व शाखाओं का हिलना-डुलना भी दिखाई नहीं देता। व्यक्तियों के दूर से हाथ-पैर आदि हिलते नहीं दीखते, केवल व्यक्तियों तथा विविध वृक्षों के झुण्ड-झुरमुट दिखाई देते हैं, इसका कारण है–दूरी का होना। इसी आधार पर सेना, वन आदि में एकत्व की प्रतीति को यथार्थ न मानकर गौण मानागया है। परन्तु परमाणुओं के विषय में ऐसी स्थिति नहीं है। सेना और वन के सब पृथक्-पृथक् अङ्ग समीप जाने पर ठीक दिखाई देते हैं; परमाणु अतीन्द्रिय होने से–दूर या समीप कहीं हों–दिखाई नहीं देसकते। इसलिए उनके विषय में यह नहीं कहाजासकता कि दूरी के कारण उनके पृथक्त्व का ग्रहण नहीं होता, उनके समूह का ग्रहण होजायगा; और उसके आधार पर पदार्थ में एकत्व-प्रतीति का होना सम्भव होगा।

फिर इस विषय में यह भी विचारणीय है कि जो अतिरिक्त अवयवी के सद्भाव को स्वीकार नहीं करता, केवल परमाणु-पुञ्ज के आधार पर सब व्यवहार का सम्पन्न होना स्वीकार करता है, उसके विचार से सेना व वन के अङ्ग भी तो सब परमाणुओं का ही ढेर हैं; तब यह परीक्ष्य विषय की सीमा में आजाता है। यही तो विचार कियाजारहा है कि एकत्व का विषय परमाणुपुञ्ज होसकता है, या नहीं? सेना और वन आदि भी परमाणुओं के पुञ्ज हैं। वे स्वयं साध्यकोटि में हैं, उन्हींको साध्यसिद्धि के लिए उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करदियागया। जो स्वयं साध्य है, उसीको साध्यसिद्धि के लिए हेतु या उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करना अयुक्त है।

यदि कहाजाय, सेना–वन आदि में 'एकत्व' का होना देखाजाता है; उसका अनुभव होता है। देखेहुए या अनुभूत विषय का अपलाप नहीं कियाजासकता।

इसलिए सेना आदि में 'एकत्व' का ज्ञान साध्यकोटि में नहीं डालाजाना चाहिये।

यह कथन भी संगत नहीं है। कारण यह है कि 'दर्शन का विषय क्या है ?' इसीकी तो परीक्षा कीजारही है। जिसको कहते हो—यह देखाजाता है, अथवा अनुभूत होता है—वह है क्या ? वह क्या केवल परमाणुपुञ्ज है ? अथवा परमाणुओं से अतिरिक्त कोई द्रव्य है ? यहाँ केवल 'देखाजाना' इन दोनों विकल्पों में से किसी एक का साधक नहीं होता। परमाणु अनेक हैं, यदि उनके पृथक्त्व का ग्रहण न होने के कारण उनमें अभेद मानकर 'एकत्व' का ग्रहण होना स्वीकार कियाजाता है, तो यह ज्ञान यथार्थ होगा। अनेक परमाणुओं में 'एकत्व' का ज्ञान विपरीत ज्ञान है; जैसे स्थाणु में पुरुष का ज्ञान, सीप में चाँदी का ज्ञान, रस्सी में साँप का ज्ञान। ऐसा ज्ञान तभी होता है, जब पुरुष में पुरुष का ज्ञान, चाँदी में चाँदी का ज्ञान, साँप में साँप का ज्ञान मुख्यरूप से पहले होचुका है। इसीके अनुसार अनेक में एकता का ज्ञान तभी सम्भव है, जब कहीं मुख्यरूप से एक में एकता का ज्ञान पहले होचुका हो। परन्तु उसके मत में ऐसा ज्ञान होना असम्भव है, जो परमाणुओं से अतिरिक्त द्रव्यान्तर के रूप में अवयवी को नहीं मानता। एकत्व के मुख्यज्ञान [एक में एकत्व का ज्ञान—'तस्मिंस्तत्' ज्ञान] के लिए उस मत में प्रत्यक्षग्राह्य एक वस्तु का मिलना सम्भव नहीं। एक परमाणु सदा अतीन्द्रिय रहता है; वह कभी प्रत्यक्षग्राह्य नहीं। फलतः यह 'एकत्व' का ग्रहण [यह एक पेड़ है, एक घड़ा है इत्यादि ज्ञान] अभिन्न—एकमात्र विषय में होना मानाजाना चाहिये। वही 'एकत्व' का विषय 'अवयवी' है, जो अपने कारण अवयवों में समवेत हुआ उत्पन्न होजाता है। उसका अस्तित्व अवयवों से अतिरिक्त रहता है। किसी वस्तु के दीखने पर वह अवयवी पूर्ण इकाई के रूप में दीखता है; अवयव पूरे कभी नहीं दीखते।

अवयवि-निरासवादी एकत्व के मुख्यज्ञान के लिए अन्य उदाहरण प्रस्तुत करता है। उसका कहना है—विभिन्न इन्द्रियों के विषय शब्द आदि में 'एकत्व' का ज्ञान मुख्यज्ञान है। 'यह एक शब्द है' ऐसा ज्ञान—एक में एकत्व का ज्ञान होने से—मुख्यज्ञान है। इसके आधार पर 'अनेक परमाणुओं में एकत्व का ज्ञान' गौणरूप में होजाना युक्त माना जासकता है। गौण ज्ञान के लिए जो पहले मुख्यज्ञान होने की अपेक्षा—आवश्यकता बताई गई, वह शब्द आदि के ग्रहण में पूरी होजाती है।

वस्तुतः शब्द आदि के उदाहरण परमाणुसमूह-मात्र माननेवाले वादी के अभीष्ट को सिद्ध नहीं करते। कारण यह है कि शब्द आदि के उदाहरण के आधार पर वस्तु के ग्रहण—प्रत्यय—ज्ञान होने की दो स्थितियाँ सामने आती हैं। एक है—अयथार्थ [गौण] ज्ञान की स्थिति; जैसे—स्थाणु में पुरुष का ज्ञान

आदि। दूसरी है–यथार्थ [मुख्य–प्रधान] ज्ञान की स्थिति; जैसे–एक शब्द में 'एकत्व' का ज्ञान। पहला ज्ञान–'अतस्मिंस्तत्' है, अर्थात् जो वैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होना। दूसरा ज्ञान है–'तस्मिंस्तत्' अर्थात् जो जैसा है, उसमें वैसा ज्ञान होना। अब हमारे सामने विचार के लिए एक ज्ञान आता है—'अनेक परमाणुओं में एकत्व का ज्ञान'। पूर्वोक्त ज्ञान के दो उदाहरणों के आधार पर यह संशय होजाता है कि प्रस्तुत ज्ञान [अनेक परमाणुओं में एकत्व के ज्ञान] को पहले उदाहृत ज्ञान के समान–'अतस्मिंस्तत्'–अयथार्थ (गौण) मानाजाय; अथवा दूसरे उदाहृत ज्ञान के समान–'तस्मिंस्तत्'–यथार्थ (मुख्य) ज्ञान मानाजाय ? इस संशय की निवृत्ति के लिए कोई विशेषहेतु दिखाई नहीं देता, जिसके आधार पर वादी का अभीष्ट सिद्ध होता हो।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि विभिन्न इन्द्रियों के विषय शब्द, गन्ध, रूप आदि को–वादी घट, पट आदि के समान–परमाणुओं का सञ्चय–समूह-मात्र मानता है। ऐसी स्थिति में गन्ध, शब्द आदि को उदाहरण के रूप में साध्यसिद्धि के लिए प्रस्तुत नहीं कियाजासकता; क्योंकि यह स्वयं परीक्ष्य कोटि में आजाता है। यदि गन्ध, शब्द आदि परमाणुसमूह नहीं हैं, तो परमाणुपुञ्ज से अतिरिक्त वस्तुतत्त्व की सिद्धि होजाती है, जो वादी को अभीष्ट नहीं।

इसीप्रकार [धारण, आकर्षण, एकत्वप्रत्यय आदि के समान] परिमाण, संयोग, स्पन्दन तथा जाति के आधार पर अवयवी की सिद्धि होती है। यथाक्रम इस विषय का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत कियाजाता है।

परिमाण

पेड़, घड़ा, कपड़े आदि वस्तुओं में 'एकत्व' का ज्ञान–स्थाणु में पुरुषज्ञान के समान अयथार्थ न होकर–यथार्थज्ञान है। क्योंकि अवयवी–इकाई इस ज्ञान का विषय है। यह एक में एकत्व का ज्ञान है। इसमें विशेषहेतु है–एकत्व के साथ महत्परिमाण का सामानाधिकरण्य। 'यह एक बड़ा पेड़ है' ऐसा ज्ञान होता है [–अयमेको महान् वृक्षः]। परमाणु-समूह के परमाणुरूप होने से उसमें महत्परिमाण का ज्ञान असंगत होगा। क्योंकि यह अमहत् में महत् प्रत्यय होने से अयथार्थ ज्ञान होगा; ऐसा ज्ञान प्रधानज्ञान की अपेक्षा रखता है, जहाँ महत् में महत् प्रत्यय हो। केवल परमाणुसमूहवादी के लिए ऐसा स्थल कहीं उपलब्ध न होसकेगा। फलतः महत् प्रत्यय के सामानाधिकरण्य से एकत्व-प्रत्यय का विषय 'अवयवी' को स्वीकार करलेना आपत्तिरहित है।

यदि कहाजाय कि शब्द में अणु और महान् प्रतीति होती है–'अणुः शब्दो महान् शब्दः' इत्यादि। अवयवीवादी शब्द को अवयवी नहीं मानता,

परन्तु शब्द में महत् प्रत्यय होता है, और वह यथार्थ होने से प्रधानप्रत्यय है। इससे–परमाणुपुञ्ज में अयथार्थ महत् प्रत्यय के लिए–प्रधानप्रत्यय की अपेक्षा पूरी होजाती है; तब अवयवी का स्वीकार करना अनावश्यक है।

उक्त कथन वास्तविकता की कसौटी पर ठीक नहीं उतरता। शब्द में जो अणु व महान् प्रतीति कही गई, वह वस्तुतः शब्द की इयत्ता [नाप=लम्बाई-चौड़ाई आदि] का अवधारण नहीं करती, प्रत्युत वह केवल शब्द के मन्द व तीव्र होने का बोध कराती है। महत् प्रत्यय वस्तु की इयत्ता को प्रकट करता है, जो शब्द में सम्भव नहीं। ध्वनि का मन्द या तीव्र होना उसके निमित्तों पर आधारित है, जो ध्वनि में लम्बाई-चौड़ाई आदि को अभिव्यक्त नहीं करते। द्रव्य वस्तु में वह लम्बाई-चौड़ाई देखीजाती है। बेर से बेल बड़ा है; तरबूज़ से बेल छोटा है, यह वस्तु के परिमाण अर्थात् इयत्ता का अवधारण करता है। उस इयत्ता व परिमाण का आश्रय कोई इकाईरूप धर्मी–द्रव्य सम्भव है। परमाणुसमूह में यह स्थिति नहीं होसकती; क्योंकि न वह एक-रूप है, और न उसका प्रत्यक्ष होना सम्भव है। यदि 'परमाणु-समूह' को परमाणुओं से अतिरिक्त एकरूप मानाजाता है, तो यही अवयवी का स्वरूप है; फिर उसका अस्वीकार कैसा? वह समूह एक ही स्थिति में–अनेक परमाणुरूप और एक समूहरूप कहाजाना–परस्पर व्याहत होने से अमान्य होगा। फलतः एकत्व प्रत्यय के साथ महत् प्रत्यय का सामानाधिकरण्य अवयवी के अस्तित्व को स्पष्ट करता है।

संयोग

संयोग के आधार पर अवयवी सिद्ध होता है। जब कहाजाता है–'संयुक्ते इमे द्रव्ये' वे दो द्रव्य परस्पर संयुक्त हैं, इस प्रतीति में संयोग के आश्रय जो द्रव्य हैं, वे द्वित्व संख्या के आश्रय हैं। संयोग और द्वित्व का सामानाधिकरण्य यह स्पष्ट करता है कि वे द्रव्य अपनी-अपनी इकाई के रूप में विद्यमान हैं; अन्यथा उनमें द्वित्व का ज्ञान सम्भव न होगा। दो द्रव्यों के संयोग का प्रत्यय अवयवी के सद्भाव को स्पष्ट करता है।

यदि यह कहाजाय कि परमाणुओं का समुदाय संयोग का आश्रय मानाजासकता है; अवयवी की मान्यता के लिए आग्रह करना अनावश्यक है। तब प्रश्न सामने आता है कि 'समुदाय' का स्वरूप क्या है? दो विकल्प सन्मुख हैं–क्या अनेकों का संयोग–अर्थात् अनेकों का मिलजाना–समुदाय है? अथवा एक-एक परमाणु के अर्थात् प्रत्येक परमाणु के अनेक संयोगों का नाम समुदाय है?

दोनों विकल्पों के अनुसार 'समुदाय' का स्वरूप 'संयोग' है; अनेकों का एक संयोग अथवा प्रत्येक के अनेक संयोग। तब उभयत्र एक आपत्ति यह है

कि जब वादी के द्वारा कहाजाता है–संयोग का आश्रय समुदाय है, तो इसका तात्पर्य होता है–संयोग का आश्रय संयोग है। ऐसा संयोग कहीं उपलब्ध नहीं, जो संयोग का आश्रय हो। संयोगाश्रित संयोग कभी नहीं जानाजाता, यह स्थिति असम्भव है। जब कहाजाता है–'संयुक्ते इमे वस्तुनी' ये दो वस्तु संयुक्त हैं; इस प्रतीति में दो संयोग परस्पर संयुक्त गृहीत नहीं होते। फलतः समुदाय संयोगरूप नहीं होसकता। तब ऐसे समुदाय को संयोग का आश्रय कहना असंगत होगा।

दूसरे विकल्प में एक और आपत्ति है। प्रत्येक के संयोग को समुदाय कहने पर संयोग का द्वित्व के साथ सामानाधिकरण्य सम्भव न होगा। पर प्रतीति यही होती है–'द्वौ इमौ अर्थौ संयुक्तौ' ये दो पदार्थ संयुक्त हैं, अर्थात् संयोग के आश्रय हैं। संयोग के जो आश्रय हैं, वे द्वित्व संख्या के आश्रय हैं। जो अनेक हैं, बहुत हैं, उन्हें दो किस आधार पर कहाजायगा? या तो उन समूहों को दो इकाई के रूप में पृथक् मानाजाय; तब अवयवी की सिद्धि होगी। अन्यथा बहुतों में द्वित्व का ज्ञान विपरीतज्ञान होगा। यदि मात्र दो परमाणुओं का संयोग कहाजाय, तो उसका प्रत्यक्ष ग्रहण होना सम्भव नहीं। प्रत्यक्षज्ञान महत् द्रव्य का सम्भव है, इसलिए द्वित्व का आश्रय जो महत् द्रव्य है, वही संयोग का आश्रय है। द्रव्य के ऐसे स्वरूप को अवयवी कहाजाता है।

इस विषय में अवयविनिरासवादी का पुनः यह कहना है कि विरोधी के अभिमत गुणस्वरूप संयोग को हम नहीं मानते। हमारे विचार से परमाणुओं का ऐसा अव्यवहित सामीप्य 'संयोग' है, जिसका–प्रतीघात-आघात-चोट से नाश होजाय। परमाणु जब परस्पर इतने समीप आजाते हैं, जिसमें कोई व्यवधान नहीं रहता, और वह सामीप्य आघात से नष्ट होजानेवाला हो, परमाणु की ऐसी स्थिति को हम संयोग कहते हैं। वह आपके अभिमत गुणरूप संयोग के समान अर्थान्तर नहीं है। 'संयुक्तौ अर्थौ' इत्यादि प्रतीति में परमाणुओं की वह स्थिति संयोग का आश्रय मानीजासकती है। उसके लिए अवयवी की कल्पना व्यर्थ है।

वादी का उक्त कथन भी युक्त नहीं है। संयोग को अर्थान्तर न मानना अप्रामाणिक व असंगत है; क्योंकि संयोग अन्य अनेक पदार्थों की उत्पत्ति में कारण होता है। यदि उसका अपना अस्तित्व न हो, तो वह अन्य पदार्थों की उत्पत्ति में कारण कैसे होगा? शब्द (ध्वनि), रूप-रस आदि तथा स्पन्दन (क्रिया) की उत्पत्ति में संयोग कारण होता है। मुख में जिह्वा-दन्त आदि के संयोग, तथा बाहर भेरी-दण्ड आदि संयोग से, एवं ढोलक व तबला आदि पर हाथ की थाप पड़ते ही शब्द अभिव्यक्त होता है। रूप, रस आदि भी विभिन्न पदार्थों के संयोग से उन-उन द्रव्यों में उत्पन्न होते जानेजाते हैं। पत्तों से वायु

का संयोग होने पर वहाँ क्रिया उत्पन्न होजाती है। इसप्रकार जब संयोग अनेक अन्य पदार्थों की उत्पत्ति में कारण रहता है, तब उसे अर्थान्तर न मानना अप्रामाणिक है। मिले हुए (अव्यवहित सामीप्यवाले) दो द्रव्यों में गुणान्तर (संयोग) की उत्पत्ति के विना शब्दादि के प्रति उसकी कारणता का उपपादन नहीं कियाजासकता। फलतः वादी के द्वारा अभिहित संयोग का स्वरूप असंगत होने से अवयवी की मान्यता में कोई बाधा नहीं आती।

इसके अतिरिक्त संयोग एक विशेष गुणरूप में ज्ञान का विषय होता है। उसके अभाव को ग्रहण कियाजाता है। प्रतियोगी के विना किसी अभाव का कथन नहीं होता। संयोग के अभाव का ग्रहण अभाव के प्रतियोगी संयोग के अस्तित्व को सिद्ध करता है। जब कहाजाता है–'कुण्डली गुरुः, अकुण्डलश्छात्रः' गुरु ने कानों में कुण्डल धारण किये हैं, और छात्र कुण्डलरहित है। यहाँ गुरु के कानों में कुण्डल-संयोग गृहीत होता है, और छात्र के कानों में कुण्डल-संयोग का अभाव। यह स्थिति गुणान्तररूप में संयोग के अस्तित्व को सिद्ध करती है। फलतः परमाणुओं के अव्यवहित सामीप्यमात्र को 'संयोग' नहीं मानाजासकता।

यदि संयोगज्ञान का विषय अर्थान्तरभूत [अतिरिक्त गुण के रूप में स्वीकृत] संयोग को नहीं मानाजाता, तो क्या अर्थान्तर के प्रतिषेध को विषय मानाजायगा? यदि ऐसा है, तो उस प्रतिषेध से प्रतिषिध्यमान वस्तु क्या है? यह बताना चाहिये। प्रतिषिध्यमान [प्रतियोगी] वस्तु के विना प्रतिषेध [अभाव] का अभिलापन नहीं होता। जब अन्य किसी जगह–'संयुक्ते द्रव्ये' ये दो द्रव्य परस्पर संयुक्त हैं–इसप्रकार गृहीत किसी अर्थान्तर का–'अकुण्डलश्छात्रः' छात्र कुण्डल-संयोगरहित है–यहाँ प्रतिषेध कियाजाता है; तो बताना चाहिये, वह प्रतिषिध्यमान वस्तु क्या है? निश्चित है, वह गुणभूत अर्थान्तर संयोग है, जिसका अन्यत्र ग्रहण कियागया, और यहाँ उसीके अभाव का ग्रहण कियाजारहा है। उस संयोग-गुण का ग्रहण उसी अवस्था में होता है, जब वह दो महत् द्रव्यों में आश्रित हो। महत् न होने से परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने के कारण उनमें आश्रित संयोग का ग्रहण नहीं होसकता। वे महत् द्रव्य–जिनमें आश्रित संयोग का ग्रहण होता है–अवयवी से अतिरिक्त और कोई नहीं।

स्पन्द-स्पन्दन (क्रिया)

किसी वस्तु के हिलने-डुलने का नाम स्पन्द या स्पन्दन है। यह एक क्रिया है। इसको स्पष्टरूप से प्रत्यक्ष कियाजाता है। हवा के झोंके से पेड़-पौधों के पत्ते-टहनियाँ हिलने-काँपने लगते हैं, इसीका नाम स्पन्दन है। प्रत्येक आँखवाला व्यक्ति इस स्पन्दन को देखता है। विचारणीय है, इस स्पन्दन का आश्रय क्या है? स्पष्ट है, इसके आश्रय पत्ते-टहनियाँ आदि हैं। यहाँ पत्ते आदि और उनमें

होनेवाली क्रिया दोनों को स्पष्ट देखाजाता है। यदि पत्ते आदि वस्तुतः केवल परमाणुओं के पुञ्जमात्र होते, तो उनके अतीन्द्रिय होने से पत्ते आदि का प्रत्यक्ष होना सम्भव न था। उनके अप्रत्यक्ष रहने से उनमें होनेवाली क्रिया का प्रत्यक्ष होना भी असम्भव था। परन्तु क्रिया का प्रत्यक्ष होता है; उसका अपलाप नहीं कियाजासकता। क्रिया का प्रत्यक्ष होना तभी सम्भव है, जब वह महत् द्रव्य में आश्रित हो। वह महत् द्रव्य केवल परमाणु या परमाणुपुञ्ज नहीं होसकता। वही अवयवी पदार्थ है;-जो अपने कारण अवयवों में समवेत रहता है, पर उनसे अतिरिक्त है।

जाति (सामान्य)

अनेक व्यक्तियों में समान ज्ञान होने का अनुवर्त्तन (सिलसिला) देखाजाता है। दो-चार प्राणियों को पहले पहचानकर फिर समान आकृतिवाले उन समस्त प्राणियों को जानने-समझने में कभी कहीं बाधा नहीं आती। इस जानने-समझने का जो आधार है-धर्म, उसीको 'जाति' या 'सामान्य' कहाजाता है। इस परिस्थिति या व्यवस्था का अपलाप नहीं कियाजासकता। क्योंकि इसे यदि न मानाजाय, तो वस्तुज्ञानविषयक व्यवहार अनुपपन्न होजायगा। गाय को गाय कहाजाता है, घोड़े या घड़े को गाय नहीं कहाजाता। इस व्यवस्था का नियामक समस्त अतीत-अनागत-वर्त्तमान गायों में रहनेवाला 'गोत्व' धर्म है। इसका बोध प्रत्येक प्राणी को होजाता है। यह व्यवस्था प्रत्येक वर्ग के लिए समानरूप से समझलेनी चाहिये। प्रत्येक समान वर्ग में वह 'धर्म' व्यवस्थित रहता है। उसी के आधार पर गाय, घोड़ा, घड़ा, पेड़, हाथी, ऊँट, बकरी, मानव आदि का ज्ञान होना अवलम्बित रहता है। इस जातिरूप धर्म के आश्रय जो गाय, घोड़ा आदि समान आकृतिवाले अनन्त व्यक्ति हैं, वे अवयवीरूप हैं। केवल परमाणुपुञ्ज गाय या घोड़ा की आकृति में नहीं पहचाना जासकता। इसप्रकार 'जाति' के आधार पर यह लोकव्यवस्था व्यक्ति के रूप में अवयवी के अस्तित्व को सिद्ध करती है।

यदि कहाजाय-गोत्व आदि धर्म का आश्रय परमाणुसमूह होसकता है, अवयवी मानना अनावश्यक है; तो यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि परमाणुसमूह का प्रत्यक्ष=इन्द्रियसन्निकर्ष=होने पर उसमें आश्रित जातिधर्म का ग्रहण होता है; अथवा अप्रत्यक्ष-इन्द्रियसन्निकर्ष न-रहने पर ग्रहण हो-जाता है? यदि पहला विकल्प मानाजाता है, तो परमाणुपुञ्ज के सामने होने पर उसके पुरोवर्ती अणुओं का ग्रहण होगा; उनसे व्यवहित जो मध्यभाग के अथवा दूसरी ओर के अणु हैं, उनका ग्रहण न होने से पूरे समूह की अभिव्यक्ति नहीं होसकेगी। जब समूह के पूरे अवयव गृहीत न होंगे, तो उनमें आश्रित

जातिधर्म भी अभिव्यक्त न होपायेगा। यदि दूसरे विकल्प को मानाजाता है, तो जो परमाणुसमूह सर्वथा व्यवहित हैं, इन्द्रिय-असन्निकृष्ट हैं, उनका और उनमें रहनेवाले जातिविशेष का ग्रहण होजाना चाहिए।

यदि प्रथम विकल्प के अनुसार जितने अवयव गृहीत होते हैं, उतने ही में जाति की अभिव्यक्ति को मानलियाजाय, तो सामने खड़े एक वृक्ष में अनेक वृक्षों का होना स्वीकार करना पड़ेगा। जितने परमाणु एक ओर से गृहीत होते हैं, उतना एक वृक्ष मानलियाजायगा। अन्य ओर से देखने पर दूसरे परमाणु गृहीत होंगे; उतने में जातिविशेष का ग्रहण होने से वह उतना ही एक अन्य वृक्ष मानाजायगा। तब एक पेड़ बहुत पेड़ों के रूप में प्रतीत होना चाहिए। पर ऐसा कभी होता नहीं है। इससे स्पष्टरूप में यह परिणाम निकलता है कि जो अवयव विशेष सन्निवेश के साथ समुदित होगये हैं, उनमें आश्रित अथवा समवेत एक पदार्थ है, जो उन कारण–अवयवों से भिन्न है, अतिरिक्त है, वही जाति-विशेष की अभिव्यक्ति का आश्रय है; उसीमें जातिधर्म समवेत रहता है। वह पदार्थ अवयवी है।

कारण–अवयवों से अतिरिक्त अवयवी मानने पर थोड़े अवयवों के दीखने से उस समस्त अवयवी पदार्थ का प्रत्यक्ष होजाता है। अवयवी के प्रत्यक्ष के लिए समस्त अवयवों का प्रत्यक्ष होना आवश्यक नहीं है; क्योंकि अवयवी उनसे अतिरिक्त है; इसलिए जितने भी अवयव गृहीत होजायें, उन्हींके साथ पूर्ण अवयवी गृहीत होजाता है; क्योंकि उन समस्त कारण-अवयवों में एक ही अवयवी समवेत है। कुछ अवयव दीखने से अवयवी का प्रत्यक्ष होजाता है॥ ३६॥

अनुमान का अप्रामाण्य—प्रत्यक्ष की परीक्षा समाप्त होगई। अब अनुमान की परीक्षा प्रारम्भ कीजाती है। शिष्यों की भावना के अनुसार अनुमानलक्षण में व्यभिचार-दोष की आशंका प्रकट करने के लिए सूत्रकार ने कहा—

रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम्॥ ३७॥ (६८)

[रोधोपघातसादृश्येभ्यः] रोध–रुकावट, उपघात–तोड़-फोड़, सादृश्य–समानता के कारण [व्यभिचारात्] व्यभिचार-दोष से [अनुमानम्] अनुमान [अप्रमाणम्] प्रमाण–अर्थ का साधक नहीं रहता।

अनुमान-प्रमाण के लक्षणसूत्र में अनुमान के तीन भेद बताये–पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट। इनमें कारण से कार्य का अनुमान होना पहला भेद है। जैसे–उमड़ते-घुमड़ते बादलों को उठते देखकर, अथवा चींटियों को अण्डे लेकर आते-जाते देखकर भविष्यत् में होनेवाली वृष्टि का अनुमान कियाजाता है। यह स्थिति व्यभिचार-दोष से दूषित है। क्योंकि बादल आने पर कभी-कभी वर्षा

नहीं होती, तथा चीटियों का भिटा तोड़ देने पर चींटियाँ अण्डे लेकर चल पड़ती हैं, उससे वर्षा का अनुमान करना मिथ्या होगा।

जहाँ कार्य से कारण का अनुमान कियाजाय, वह अनुमान का 'शेषवत्' नामक भेद है। नदी की बाढ़ से ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान कियाजाता है। परन्तु ऊपर किसी कारण पानी रुकजाने से फिर खुलकर एकसाथ अधिक पानी आने पर नदी में बाढ़ आजाती है। उससे ऊपर वृष्टि होने का अनुमान व्यभिचारी–मिथ्या होगा।

तीसरा 'सामान्यतोदृष्ट' अनुमान वह है, जहाँ कार्य-कारणभाव न होने पर साधक से साध्य का अनुमान कियाजाता है। जैसे–मोरों की ध्वनि से आने-वाली वर्षा का अनुमान कियाजाता है। परन्तु किसी व्यक्ति के द्वारा मयूर की ध्वनि का अनुकरण करने पर, ध्वनि के समान होने से उसके आधार पर, वृष्टि का अनुमान कियाजाना मिथ्या होगा। इन स्थितियों में अर्थ का साधक न होने से अनुमान अप्रमाण है। इसीके अनुसार अन्यत्र उसके अप्रमाण होने की संभावना बनी रहती है ॥ ३७ ॥

अनुमान के अप्रामाण्य का कथन निराधार—सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया—

नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् ॥ ३८ ॥ (९९)

[न] नहीं (उक्त आशंका ठीक नहीं, क्योंकि) [एकदेशत्राससादृश्येभ्यः] किसी एक नदी में ऊपर रोक के हटजाने से अधिक पानी आजाना; त्रास–चींटियों के भिटे का टूटजाना, व्यक्ति के द्वारा मयूरसदृश ध्वनि का करना–इन अवस्थाओं से [अर्थान्तरभावात्] अनुमान के वास्तविक साधन भिन्न हैं।

ऊपर हुई वर्षा से जब नदी-नालों में इधर-उधर बाढ़ आती है, उस समय उनका पानी मट्टी से मिला या घुला रहता है, झाग उठते रहते हैं, बहाव बड़ा तेज़ होता है, जंगली फल, पत्ते, टहनियाँ, पेड़, झाड़-झंखाड़ उसमें बहते आते हैं, किनारों के बाहर पानी फैलजाता है। इससे ऊपर हुई वर्षा का अनुमान होता है। यह स्थिति–रुके हुए पानी के खुलजाने पर एक-आध नदी में अधिक पानी आने से–सर्वथा भिन्न है। केवल पानी बढ़जाने से ऊपर हुई वृष्टि का अनुमान नहीं होता।

चींटियों के अण्डे लेकर चलने से भी आनेवाली वर्षा का अनुमान तभी होता है, जब जगह-जगह चींटियाँ इसप्रकार चल-फिर रही हों। यह प्रायः वर्षा ऋतु के आगमन का चिह्न होता है। भूमि के अन्दर रहनेवाले विशेष कृमि उस ऊष्मा (घमस) को समझते हैं, जो वर्षा ऋतु के आने से पूर्व भभकने लगती है। कहीं एक-आध जगह चींटियों का भिटा टूटजाने से उनका इधर-उधर जाना वर्षा का अनुमान नहीं कराता; क्योंकि इसका कारण ऋतु-परिवर्तन नहीं होता।

जहाँ व्यक्ति के द्वारा मयूर की ध्वनि का अनुकरण होता है, वह वस्तुतः मयूर की ध्वनि नहीं है। वर्षा का अनुमान तो मयूर-ध्वनि से संभव है। उसके सदृश मानव की अनुकरण-ध्वनि से जो वर्षा का अनुमान करेगा, वह मिथ्या ही होगा। मयूर आनेवाले वर्षा-ऋतु को समझते हैं। घुमड़ते बादलों को देखकर मयूर केकावाणी उच्चारण करते हुए नृत्य में लीन होजाते हैं। बादलों के न दीखने पर भी जब आने की संभावना रहती है, मयूर जाति उसको समझती है, उस दशा में उनकी थिरकन चालू रहती है। यह स्थिति वर्षा का अनुमान कराने में ठीक साधन है। जो व्यक्ति मयूर की वास्तविक ध्वनि और उसके अनुकरण के भेद को समझता है, उसके लिए वास्तविक ध्वनि साध्य का साधन होता है। सर्प आदि कीट मयूर की ध्वनि को ठीक पहचानते हैं। अनुकरण-ध्वनि से उनको कोई भय नहीं होता। फलतः अनुकरण-ध्वनि से वर्षा का अनुमान करना अनुमाता (अनुमान करनेवाले) का दोष है, जो असंबद्ध साधारण साधन से विशिष्ट अर्थ को जानना चाहता है। अनुमान-प्रमाण अपनी जगह निर्दोष है ॥ ३८ ॥

वर्त्तमानकाल का अभाव—अनुमान के विषय में शिष्य अन्य आशंका करता है। कहता है–अनुमान त्रिकालविषय कहागया है, क्योंकि अनुमान से तीनों कालों में होनेवाले पदार्थों का ग्रहण होजाता है। तीन कालों की पहचान क्रिया के आधार पर होती है, उसके अनुसार तीन काल बनते नहीं। शिष्य के आशय को समझते हुए सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

वर्त्तमानाभावः पततः पतितपतितव्य-
कालोपपत्तेः ॥ ३९ ॥ (१००)

[वर्त्तमानाभावः] वर्त्तमान का अभाव है, [पततः] गिरते हुए (फल आदि के) [पतितपतितव्यकालोपपत्तेः] पतित तथा पतितव्य काल के उपपन्न होने से।

अनुमान त्रिकाल-विषय नहीं—काल के व्यावहारिक विभाजन का आधार 'क्रिया' है। कोई क्रिया कहीं से प्रारम्भ होकर किसी जगह समाप्त होजाती है। क्रिया की चालू दशा में कुछ अंश पूरा या समाप्त होता है, कुछ अंश आगे होने के लिए शेष रहता है। जो होचुका, वह अतीत [भूत] काल है; जो आगे होना है, वह अनागत [भविष्यत्] काल है। वर्त्तमान काल कहीं नहीं रहता। समझने के लिए उदाहरण लें, पेड़ के डण्ठल से टूटकर फल गिरा। किसी केन्द्रबिन्दु पर फल का जितना मार्ग अभीतक तै होचुका है, वह अतीतकाल है। जितना मार्ग आगे तै करना शेष है, वह अनागतकाल है। वर्त्तमानकाल का यहाँ कहीं पता नहीं लगता, जहाँ 'पतति' क्रिया का प्रयोग संभव हो। ऐसी दशा में अनुमान को त्रिकालविषय बताना निराधार है ॥ ३९ ॥

वर्त्तमान के अभाव में अतीत-अनागत असिद्ध—सूत्रकार आशंका का समाधान करता है—

तयोरप्यभावो वर्त्तमानाभावे तदपेक्षत्वात् ॥ ४० ॥ (१०१)

[तयोः] उन दोनों (अतीत-अनागत) का [अपि] भी [अभावः] अभाव (प्राप्त होता है), [वर्त्तमानाभावे] वर्त्तमान के न रहने पर [तदपेक्षत्वात्] उस–वर्त्तमान की अपेक्षा होने से (अतीत-अनागत के अस्तित्व में)।

गतसूत्र में जो कहागया कि चालू क्रिया का जितना मार्ग तै होचुका, वह भूत; और जो आगे तै होने को है, वह भविष्यत् है; वर्त्तमानकाल का यहाँ पता नहीं लगता। यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि कालविभाजन की अभिव्यक्ति क्रिया पर आश्रित है, मार्ग पर नहीं। जब कहाजाता है–'फलं पतति'—फल गिररहा है; यह गिरने की क्रिया प्रारम्भ से लगाकर जबतक चालू रहती है, वह वर्त्तमानकाल है। क्रिया चालू होने से पहले का काल–जबतक क्रिया उत्पन्न नहीं हुई है, वह–पतन (गिरना) क्रिया का अनागत–भविष्यत्–पतितव्य काल है। जब पतन-क्रिया पूरी होजाती है, समाप्त होजाती है, वहाँ से क्रिया का भूतकाल होजाता है। इसप्रकार जब द्रव्य में चालू रहती हुई पतनक्रिया गृहीत होती है, वह क्रिया का वर्त्तमानकाल है। यदि द्रव्य में चालू रहते पतन के ग्रहण को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो उत्पन्न होना और समाप्त होना किसका मानाजायगा? वह क्रिया ही तो है, जो प्रारम्भ होकर समाप्त होती है। उसकी समाप्ति उसका भूतकाल है; जब तक उत्पन्न न हुई, वह भविष्यत् काल रहा। उन दोनों दशाओं में द्रव्य क्रियाहीन रहता है। जब द्रव्य सक्रिय है, क्रिया से सम्बद्ध है, वही वर्त्तमानकाल है। यह वर्त्तमानकाल क्रिया और द्रव्य के सम्बन्ध को ग्रहण कराने का प्रयोजक है। उसीके आश्रय पर अतीत और अनागतकाल हैं। यदि अन्तराल में से सक्रिय द्रव्यस्थिति–काल की उपेक्षा कीजाय, तो अतीत-अनागत भी अपना अस्तित्व खोबैठते हैं ॥ ४० ॥

अतीत-अनागत की सिद्धि परस्परापेक्ष नहीं—यह भी नहीं कहाजासकता, कि वर्त्तमान के अभाव में अतीत-अनागत परस्पर एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होजायेंगे। इसी तथ्य को सूत्रकार ने बताया—

नातीतानागतयोरितरेतरापेक्षा सिद्धिः ॥ ४१ ॥ (१०२)

[न] नहीं [अतीतानागतयोः] अतीत और अनागत की [इतरेतरापेक्षा] एक-दूसरे की अपेक्षा–सहायता से [सिद्धिः] सिद्धि।

वर्त्तमान को माने विना अतीत और अनागत की सिद्धि परस्पर एक-दूसरे की सहायता से नहीं होसकती। यदि वस्तुतः अतीत–अनागत एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध होसकें, तो वर्त्तमान के अभाव को स्वीकार करने में कोई अड़चन

नहीं रहती। पर अतीत की अपेक्षा से अनागत का–और अनागत की अपेक्षा से अतीत का–सिद्ध होना किसप्रकार सम्भव नहीं है, यह समझना चाहिये।

यह एक निर्धारित तथ्य है–काल के विभाजन की अभिव्यक्ति किसी क्रिया अथवा अर्थ के सद्भाव पर आधारित है। वर्त्तमानकाल वह है, जब कोई क्रिया चालू रहती है, अथवा जबतक कोई पदार्थ विद्यमान रहता है। क्रिया अथवा पदार्थ की विद्यमानता से सम्बद्ध काल वर्त्तमान है। यदि इसे स्वीकार नहीं कियाजाता, तो अतीत-अनागत दोनों अन्योन्याश्रित रहने से असिद्ध होजायेंगे। अतीत अनागत के विना न होगा, और अनागत अतीत के विना। एक-दूसरे के अभाव में दोनों किसीप्रकार आत्मलाभ नहीं करसकते। चालू क्रिया में जो केन्द्रबिन्दु उस क्रिया को अतीत–अनागत दो भागों में बाँटता है, वहाँ भी वह केन्द्रबिन्दु वर्त्तमानकाल का प्रतीक है।

वस्तुस्थिति यही है–जबतक कोई क्रिया एवं पदार्थ उत्पन्न नहीं होता, वह उसका अनागतकाल है। उत्पन्न होकर जबतक चालू रहता है, वह वर्त्तमानकाल है। क्रिया के पूरे होजाने तथा पदार्थ के विघटित होजाने पर उनका अतीतकाल कहाजाता है। क्रिया और अर्थ के सद्भावरूप से अभिव्यक्त वर्त्तमानकाल अतीत और अनागत को अलग फाँटता है। इसलिए वर्त्तमान को स्वीकार किये विना अतीत-अनागत का अभिव्यञ्जन अशक्य है।

यदि यह मानाजाय, कि ह्रस्व-दीर्घ, ऊँच-नीच, प्रकाश-अन्धकार के समान अतीत-अनागत अन्योन्य की अपेक्षा से सिद्ध होसकते हैं। इस दीर्घ वस्तु से यह ह्रस्व है, और इस ह्रस्व की अपेक्षा यह दीर्घ है; इत्यादि लोकव्यवहार यथार्थ है। ऐसे ही परस्पर की अपेक्षा से अतीत-अनागत की सिद्धि सम्भव है; तब उन दोनों के अन्तरालवर्त्ती वर्त्तमानकाल को स्वीकार करना व्यर्थ है।

यह मान्यता तर्क की कसौटी पर ठीक नहीं उतरती। पहली बात तो यह है कि उक्त मान्यता की सिद्धि के लिए कोई विशेष हेतु प्रस्तुत नहीं कियागया। हेतु के विना केवल दृष्टान्त के आधार पर साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं होती। फिर दृष्टान्त की बराबरी में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत कियाजासकता है, जो उक्त मान्यता से विपरीत अर्थ का साधक हो। जैसे रूप-रस अथवा गन्ध-स्पर्श एक-दूसरे की अपेक्षा करके सिद्ध नहीं होते; ऐसे ही अतीत-अनागत भी एक-दूसरे की अपेक्षा से सिद्ध न होंगे। इस कथन में स्वारस्य केवल इतना है कि ह्रस्व-दीर्घ अथवा प्रकाश-अन्धकार का जैसा परस्पर सापेक्षभाव है, वह स्थिति अतीत-अनागत में स्वीकार नहीं कीजासकती। क्योंकि उस दशा में प्रत्येक क्रिया अथवा पदार्थ केवल अतीत-अनागत के रूप में प्रस्तुत होने से क्रिया व पदार्थ के सद्भाव का विलोप होजायगा। किसी भी अर्थ की प्रतीति होना सम्भव न

होगा, क्योंकि प्रत्येक वस्तु या तो अतीत होगी, या अनागत, जिसका ग्रहण असम्भव है। फलतः वर्त्तमानकाल की उपेक्षा नहीं कीजासकती ॥ ४१ ॥

वर्त्तमान के अभाव में सबके सद्भाव का विलोप—स्पष्ट है, वर्त्तमान-काल अर्थ के सद्भाव (विद्यमान होने) से अभिव्यक्त होता है। द्रव्य, गुण, कर्म आदि का जब सद्भाव है, तभी कहाजाता है—"विद्यते द्रव्यम्, विद्यते गुणः, विद्यते कर्म" इत्यादि। जो इस व्यवस्था को स्वीकार नहीं करता, सूत्रकार उसके मत में आपत्ति प्रस्तुत करता है—

वर्त्तमानाभावे सर्वाग्रहणं प्रत्यक्षानुपपत्तेः ॥ ४२ ॥ (१०३)

[वर्त्तमानाभावे] वर्त्तमान के अभाव में [सर्वाग्रहणम्] सबका अग्रहण होगा, [प्रत्यक्षानुपपत्तेः] प्रत्यक्ष के उपपन्न न होने से।

प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से होता है। इन्द्रिय का सन्निकर्ष विद्यमान पदार्थ के साथ होसकता है। अतीत और अनागत पदार्थ अविद्यमान होते हैं। अतीत उत्पन्न होकर नष्ट होचुका है, और अनागत अभी उत्पन्न नहीं हुआ। पदार्थ की यह दोनों अवस्था असद्रूप हैं। असत् [अविद्यमान] के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष सम्भव नहीं। सद्रूप [विद्यमानरूप] किसी पदार्थ को वह [वर्त्तमाननिरासवादी] स्वीकार नहीं करता। तब न तो प्रत्यक्ष का निमित्त [इन्द्रिय तथा घटादि पदार्थ का] सन्निकर्ष रहता है, न प्रत्यक्ष का विषय [घटादि] और न प्रत्यक्ष ज्ञान का होना सम्भव है। जब प्रत्यक्ष न होगा, तो प्रत्यक्षपूर्वक होने से अनुमान और शब्द-प्रमाण भी उपपन्न न होसकेंगे। सब प्रमाणों के अभाव में किसी वस्तु का ग्रहण होना असम्भव होजायगा, जो सर्वथा अव्यवहार्य, अनभिवाञ्छनीय एवं अनिष्ट है। फलतः वर्त्तमानकाल का स्वीकार करना अत्यावश्यक है।

क्रियाबोध्य वर्त्तमानकाल—वर्त्तमानकाल का ग्रहण दोनों प्रकार से होता है, जैसा गत पंक्तियों में कहागया है। उसकी अभिव्यक्ति कहीं पदार्थ के सद्भाव (विद्यमान रहने) से होती है। 'घटः अस्ति, द्रव्यं वर्त्तते'—घड़ा है, द्रव्य है—इत्यादि ग्रहण वर्त्तमानकाल का अभिव्यञ्जक है, बोधक है। घड़ा या कोई अन्य द्रव्यादि पदार्थ जबतक विद्यमान रहता है, वह अपने सद्भाव से वर्त्तमानकाल का बोध कराता है।

इसके अतिरिक्त कहीं पर वर्त्तमानकाल की अभिव्यक्ति क्रिया के चालू रहने से होती है। क्रिया के चालू रहने का तात्पर्य है—किसी कार्य को सम्पन्न करने के लिए विविध प्रकार की क्रियाओं का सिलसिला; अथवा उसी क्रिया का अभ्यास। 'पचति'—पकाता है, एक क्रिया है। 'पकाना' यह कार्य सम्पन्न करना है। इसके लिए अनेक क्रियाओं का सिलसिला चालू रखना होता है। बटलोई

को साफ़कर चूल्हे पर रखना, उसमें अपेक्षित जल डालना, चावलों को धोकर उसमें छोड़ना, चूल्हे में अग्नि प्रज्वलित करना, आवश्यकता होने पर करछी से उन्हें चलाना, माँड निकालना, पकजाने पर नीचे उतारना। इसीसे सम्बद्ध और अनेक क्रिया बीच में चलती रहती हैं। चूल्हे पर बटलोई के चढ़ाने से उतारने तक 'पचति' क्रियापद से वर्त्तमानकाल अभिव्यक्त होता है।

ऐसे ही एक 'छिनत्ति' क्रिया है। एक व्यक्ति लकड़ी काटरहा है। वह बार-बार उचक-उचक कर कुल्हाड़े को उठाता और लकड़ी पर बलपूर्वक चोट करता है। जबतक लकड़ी कट नहीं जाती, तबतक उसका यही क्रम चलता रहता है। यह क्रिया का अभ्यास उतने काल को अभिव्यक्त करता है, जितने में लकड़ी कटपाती है। वही 'छिनत्ति' क्रिया से बोधित वर्त्तमानकाल है॥ ४२॥

अर्थसद्भावबोध्य एवं क्रियाबोध्य का वैशिष्ट्य—इसी आधार पर सूत्रकार ने समझाया—जो यह 'पकायाजाना' और 'काटाजाना' है, वह क्रियमाण है, अर्थात् क्रिया का चालूरहना है। क्रिया की उस दशा में—

कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेस्तूभयथा ग्रहणम्॥ ४३॥ (१०४)

[कृतताकर्त्तव्यतोपपत्तेः] कृतता और कर्त्तव्यता की उपपत्ति–सिद्धि से [तु] तो [उभयथा] दोनों प्रकार से [ग्रहणम्] ग्रहण होता है (वर्त्तमानकाल का)।

पकाना या काटना आदि किसी क्रिया के चालू रहने पर वहाँ विविध प्रकार की अनेक अवान्तर क्रिया चलती रहती हैं। इसमें मुख्य क्रिया की कुछ अवान्तर क्रिया होचुकी होती हैं; कुछ आगे होनेवाली रहती हैं। जो होचुकी हैं, वे 'कृत' हैं; वे भूतकाल में चलीगईं। जो आगे होनेवाली हैं, उनका भविष्यत्-काल है। वे 'कर्त्तव्य' हैं। जैसे 'पचति' में बटलोई चूल्हे पर चढ़ाना, उसमें पानी डालना, चावल छोड़ना, आग जलाना आदि जितनी अवान्तर क्रिया होचुकी हैं, वे 'कृत'- कोटि में अर्थात् भूतकाल की कोटि में आजाती हैं। जो अवान्तर क्रिया–करछी चलाना, चावल-दाने का जाँचना आदि आगे होनेवाली हैं, वे 'कर्त्तव्य' हैं; अर्थात् भविष्यत्-काल की कोटि में आती हैं। परन्तु मुख्य क्रिया 'पचति' आरम्भ से अन्त तक निरन्तर चालू रहती है। इसप्रकार जब 'पचति' का अवान्तर क्रियाओं के आधार पर अभिलापन कियाजाता है, तब वर्त्तमान-काल भूत [कृत] और भविष्यत् [कर्त्तव्य] दोनों से सम्बद्ध हुआ अभिहित होता है। परन्तु जब केवल मुख्य क्रिया को अभिलक्ष्य कर वर्त्तमान का अभिलापन होता है, तब वहाँ विशुद्ध वर्त्तमानकाल अभिहित होता है। इसप्रकार क्रिया की चालू अवस्था में वर्त्तमानकाल का ग्रहण–भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध तथा असम्बद्ध–दोनों प्रकार से होता है। सम्बन्ध में तीनों कालों का समाहार है; असम्बन्ध में विशुद्ध वर्त्तमान रहता है।

अर्थसद्भावबोध्य वर्त्तमान—यह वही स्थल है, जहाँ वर्त्तमानकाल स्थितिशील द्रव्यादि पदार्थ के द्वारा अभिव्यक्त होता है। 'विद्यते द्रव्यम्, विद्यते घटः' द्रव्य विद्यमान है, घट विद्यमान है, इत्यादि प्रतीति में जबतक घट आदि द्रव्य विद्यमान रहता है, यही स्थिति रहती है। इसमें विशुद्ध वर्त्तमानकाल का ग्रहण होता है। क्योंकि द्रव्य की स्थिति में किसी अवान्तर क्रिया एवं क्रियासन्तान के न होने से यहाँ भूत-भविष्यत् का प्रवेश नहीं होता। जहाँ क्रियासन्तान के नैरन्तर्य का कथन होता है–'पचति, छिनत्ति'–पकाता है, काटता है–इत्यादि प्रतीति में, वहाँ तीनों कालों का समाहार रहता है, अर्थात् भूत-भविष्यत् से सम्बद्ध वर्त्तमानकाल गृहीत होता है, जैसा गत पंक्तियों में कहागया।

आसन्न भूत-भविष्यत् में वर्त्तमान प्रयोग—आसन्न भूत अथवा आसन्न (समीप) भविष्यत् आदि अर्थ की विवक्षा होने पर लोकव्यवहार में वर्त्तमानकाल का प्रयोग देखाजाता है। आजाने के अनन्तर किसी के द्वारा पूछे जाने पर व्यक्ति कहता है–'एष आगच्छामि' बस आता ही हूँ। यहाँ आगमनक्रिया यद्यपि समाप्त होजाने से भूतकाल की कोटि में चलीगई है, पर यहाँ भूतसामीप्य में वर्त्तमान काल का प्रयोग होरहा है। ऐसे ही भविष्यत् के सामीप्य में वर्त्तमान का प्रयोग होता है। दो साथी कहीं जानेवाले हैं। एक ने कहा–जल्दी चलो, देर क्यों कररहे हो? दूसरे ने कहा–बस तुम चलो, मैं अभी आता हूँ, तुम्हें पकड़लेता हूँ। 'आना' और 'पकड़ना' क्रिया भविष्यत् में होनेवाली हैं; सामीप्य होने से वर्त्तमानकालिक प्रयोग होजाता है–'प्रयातु भवान्, अहं एष आगच्छामि, प्राप्नोमि च भवन्तम्'। व्याकरणशास्त्र में ऐसे विविध प्रयोगों की व्यवस्था कीगई है। इस सब विवेचन से वर्त्तमानकाल का अस्तित्व निर्धारित होजाता है ॥ ४३ ॥

उपमान-परीक्षा—अनुमान-प्रमाण के त्रैकाल्य-विषय होनेके कारण, अनुमान-प्रमाण की परीक्षा के प्रसंग से वर्त्तमानकाल का विवेचन होजाने पर अनुमान की परीक्षा पूर्ण होजाती है। क्रमप्राप्त उपमान-प्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ करते हुए सूत्रकार ने पूर्वपक्षरूप से कहा—

अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः ॥ ४४ ॥ (१०५)

[अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यात्] अत्यन्त साधर्म्य से, प्रायःसाधर्म्य से तथा एकदेशसाधर्म्य से [उपमानासिद्धिः] उपमान की सिद्धि नहीं होती।

उपमान-प्रमाण साधर्म्य के आधार पर अर्थबोध कराता है। पदार्थों में साधर्म्य तीन प्रकार का सम्भव है–अत्यन्तसाधर्म्य, प्रायःसाधर्म्य, एकदेश-साधर्म्य। साधर्म्य का कोई प्रकार उपमान को सिद्ध नहीं करपाता। अत्यन्तसाधर्म्य समानजातीय पदार्थों में सम्भव है, ऐसा प्रयोग कभी कोई नहीं करता–'यथा घटस्तथा घटः, यथा गौरेवं गौः'–जैसा घट है वैसा घट है;

अथवा जैसी गाय है वैसी गाय है। अत्यन्तसाधर्म्य में जैसे उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती, ऐसे ही 'प्राय:साधर्म्य' में नहीं होती। प्राय:साधर्म्य का तात्पर्य है–कतिपय चिह्नों का समान होना। कान, सींग, पूँछ आदि चिह्न अनेक पशुओं के समान होते हैं। ऐसा उपमान का प्रयोग कभी कोई नहीं करता–'यथा अनड्वान् तथा महिष:'–जैसा बैल है वैसा भैंसा है। इसीप्रकार एकदेशसाधर्म्य से उपमान कभी नहीं सिद्ध होता; ऐसा होने पर प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक को उपमित कियाजासके, जो सर्वथा असम्भव है। एक-आध धर्म प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक अन्य वस्तु से मिलजाता है। फलत: उपमान प्रमाण का क्षेत्र न बनने से वह असिद्ध समझना चाहिये ॥ ४४ ॥

उपमान-लक्षण में दोष नहीं—सूत्रकार उपमानविषयक उक्त आशंका का समाधान करता है—

प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः ॥ ४५ ॥ (१०६)

[प्रसिद्धसाधर्म्यात्] प्रसिद्ध साधर्म्य से [उपमानसिद्धे:] उपमान-प्रमाण की सिद्धि होनेके कारण [यथोक्तदोषानुपपत्ति:] पूर्वोक्त दोष अनुपपन्न है।

उपमानप्रमाण के लक्षणसूत्र [१। १। ६] में 'प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्' कहा है। प्रसिद्ध साधर्म्य से जहाँ साध्य का साधन हो, वह उपमान है। जिन पदार्थों का परस्पर साधर्म्य लोकप्रसिद्ध है, अथवा जिनका साधर्म्य प्रकृष्ट–निर्धारित–रूप से ज्ञात होजाता है, वहीं उपमान-प्रमाण प्रवृत्त होता है। अत्यन्त अर्थात् पूर्ण साधर्म्य, प्राय:साधर्म्य–कतिपय धर्मों की समानता, एवं अत्यल्प साधर्म्य के आधार पर उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती। तात्पर्य है–अत्यन्तसाधर्म्य आदि उपमान के प्रयोजक नहीं हैं। उसका प्रयोजक केवल 'प्रसिद्धसाधर्म्य' है, जो उपमान-प्रमाण के रूप में साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है।

ऐसा साधर्म्य गो-गवय का प्रसिद्ध है। यहाँ 'गवय' पद का गवय [नीलगाय] पशु में शक्तिग्रह साध्य है। नागरिक यह नहीं जानता, 'गवय' पद किस पशु का वाचक है। उसको बतायागया, जैसी गाय है वैसा गवय होता है, जो जंगलों में रहता है। नागरिक कभी जंगल में जाकर जब अपने सन्मुख गाय-सदृश पशु को देखता है, तो उसे पहले बतायागया 'गो-गवय' का साधर्म्य स्मरण होआता है। उस संस्मृत प्रसिद्ध साधर्म्य से वह इसका निश्चय करलेता है–गो-सदृश होने से यह पशु 'गवय' पदवाच्य है। इसप्रकार उपमान-प्रमाण का फल है–'गवय' पद का गवय-पशु में शक्तिग्रह होजाना। लोकव्यवहार में उपमान का बहुत प्रयोग चलता है। ऐसे प्रयोगों में–जहाँ दो पदार्थों का 'प्रसिद्धसाधर्म्य' है–

उपमान की प्रवृत्ति का प्रतिषेध नहीं कियाजासकता। फलतः उपमानप्रमाण के विषय में गत सूत्रद्वारा निर्दिष्ट दोष असंगत है ॥ ४५ ॥

उपमान, अनुमान है—शिष्य आशंका करता है, उपमान-प्रमाण भले रहे, पर इसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानाजाना चाहिये। यह अनुमान में अन्तर्गत होजाता है। सूत्रकार ने शिष्यों के आशय को सूत्रित किया—

प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः ॥ ४६ ॥ (१०७)

[प्रत्यक्षेण] प्रत्यक्ष से [अप्रत्यक्षसिद्धेः] अप्रत्यक्ष अर्थ की सिद्धि होने से (उपमान को अनुमान समझना चाहिये)।

जैसे प्रत्यक्ष जाने हुए धूम लिङ्ग से अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना अनुमान है, ऐसे ही प्रत्यक्ष जानी हुई गाय से अप्रत्यक्ष गवय का ग्रहण होता है। पूर्वोक्त अनुमान से इसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता; अतः यह अनुमान के अन्तर्गत आजाता है। उपमान-प्रमाण को पृथक् मानना व्यर्थ है ॥ ४६ ।

अनुमान से उपमान का भेद—आशंका के समाधान के लिए सूत्रकार अनुमान से उपमान-प्रमाण का भेद बताता है—

नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः ॥ ४७ ॥ १०८

[न] नहीं [अप्रत्यक्षे] अप्रत्यक्ष–न दीखते हुए [गवये] गवय में [प्रमाणार्थम्] प्रमाण के प्रयोजन को [उपमानस्य] उपमान [पश्यामः] देखते हैं (जानकार लोग)।

अप्रत्यक्ष गवय में उपमान-प्रमाण के प्रयोजन को जानकार लोग नहीं देखते। तात्पर्य है–गवय के अप्रत्यक्ष रहने पर उपमान-प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती; जबकि अनुमान की प्रवृत्ति अग्नि के अप्रत्यक्ष रहने पर होती है। अतः उपमान अनुमान से भिन्न है।

जब–'यथा गौस्तथा गवयः' जैसी गाय है वैसा गवय होता है, इस–उपमान का उपयोग करनेवाला गाय का जानकार नागरिक जंगल में जाकर गाय के समान पशु को देखता है, उस समय दोनों के पूर्वज्ञात साधर्म्य का स्मरणकर यह समझलेता हैं–'गवय' इस संज्ञाशब्द का संज्ञी [वाच्य] यह पुरोवर्त्ती पशु है। तात्पर्य है, 'गवय' पद और गवय पशु के संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध को व्यवस्थितरूप से जानलेता है। अनुमान-प्रमाण की यह प्रक्रिया नहीं है। अनुमान में अनुमेय अर्थ अप्रत्यक्ष रहता है; पर उपमान में उपमेय–गवय सामने प्रत्यक्ष रहता है।

इसके अतिरिक्त अनुमान-उपमान के भेद को यह स्थिति स्पष्ट करती है कि अनुमान-प्रमाण अपने और दूसरे दोनों के लिए [स्वार्थ और परार्थ] होता है; परन्तु उपमान-प्रमाण केवल परार्थ होता है। जिसके लिए उपमेय अज्ञात है,

उसीके लिए उपमान-प्रमाण का उपयोग बतायाजाता है। बतानेवाला वह व्यक्ति होता है, जो उपमेय को अच्छीतरह जानता है। उसके लिए उपमान का उपयोग कभी आवश्यक नहीं होता। अतः उपमान केवल परार्थ होता है।

शङ्का–उपमान केवल परार्थ होता है, यह कहना ठीक नहीं; क्योंकि स्वयं उपमान का उपयोग करनेवाले नागरिक को भी–'यथा गौस्तथा गवयः'–जैसी गाय है, वैसा गवय होता है,–इसका निश्चित ज्ञान रहता है। इसलिए जांगलिक और नागरिक के ऐसे ज्ञान में कोई अन्तर न होने से नागरिक को भी उपमेय गवय का ज्ञान रहता है, तब उपमान को केवल परार्थ नहीं कहना चाहिये।

समाधान–नागरिक को 'जैसी गाय है वैसा गवय है'–ऐसा ज्ञान होने का कोई प्रतिषेध नहीं करता। पर यह ध्यान देने की बात है कि नागरिक को ऐसा ज्ञान केवल शाब्दिक है, पर-बोध्य है; दूसरे के द्वारा बतलाया गया है। जिसने बतलाया है, उसका यह ज्ञान उपमान और उपमेय [गौ-गवय] दोनों के विषय में प्रत्यक्ष है, शाब्द नहीं। इसलिए नागरिक और जाङ्गलिक के 'यथा गौस्तथा गवयः' इस ज्ञान को समान नहीं कहाजासकता। फलस्वरूप नागरिक का वह ज्ञान जबतक केवल शाब्द है, उपमान-प्रमाण के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता। वह तभी प्रामाण्य का लाभ करता है, जब जंगल में उसके सन्मुख गवय प्रत्यक्ष होता है। उस समय वह ज्ञान साधक-प्रमाण होकर संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध का बोध कराता है। इसलिए नागरिक को साधर्म्य का ज्ञान होने पर भी उपमान की केवल परार्थता नष्ट नहीं होती ॥ ४८ ॥

उपमान का अनुमान से भेद—अनुमान से उपमान के भेद का सूत्रकार ने एक अन्य कारण बताया—

तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः ॥ ४८ ॥ (१०६)

[तथा] तथा [इति] इसप्रकार [उपसंहारात्] उपसंहार से [उपमान-सिद्धेः] उपमान की सिद्धि होने से [न] नहीं है [अविशेषः] अविशेष—समानता (अनुमान और उपमान में)।

उपमान में अनुमान से यह भी भेद है, कि उपमान-प्रमाण में 'यथा गौः तथा गवयः' इसप्रकार 'तथा' पद का प्रयोग कर प्रतिपाद्य अर्थ का उपसंहार होता है। यह प्रक्रिया अनुमान-प्रमाण में नहीं बरतीजाती। यह इन दोनों प्रमाणों में परस्पर भेद है ॥ ४८ ॥

शब्द-प्रमाण-परीक्षा—उपमान की परीक्षा पूर्ण हुई। अब क्रमप्राप्त शब्द-प्रमाण की परीक्षा प्रारम्भ कीजाती है। शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानने में उठाईगई आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् ॥ ४६ ॥ (११०)

[शब्दः] शब्द प्रमाण [अनुमानम्] अनुमान है, [अर्थस्य] अर्थ के [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के कारण [अनुमेयत्वात्] अनुमेय होने से।

शब्द-प्रमाण, अनुमान है—शब्द-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान में मानलेना चाहिये, उसको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है। क्योंकि शब्द से जो अर्थ जानाजाता है, वह अनुपलब्ध अर्थात् अप्रत्यक्ष रहता है। शब्दरूप हेतु से वह अनुमेय है, यही समझना चाहिये। जैसे जाने हुए धूम आदि लिङ्ग से अप्रत्यक्ष अग्नि आदि लिङ्गी का अनुमान होता है, ऐसे जाने हुए शब्दरूप हेतु से अप्रत्यक्ष अर्थ का अनुमान होता है। शब्द से अनुमान के समान अर्थप्रतीति होने के कारण शब्द-प्रमाण को अनुमान से अतिरिक्त नहीं मानना चाहिये ॥ ४९ ॥

शब्द को अनुमान से अतिरिक्त न मानने में यह भी कारण है—

उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् ॥ ५० ॥ (१११)

[उपलब्धेः] उपलब्धि की [अद्विप्रवृत्तित्वात्] दो प्रकार की प्रवृत्ति न होने के कारण।

यदि शब्द और अनुमान पृथक् प्रमाण हों, तो इनकी प्रवृत्ति का प्रकार भिन्न होना चाहिये। पर देखाजाता है, अर्थबोध के लिए दोनों का प्रकार समान है। जैसे अनुमान में धूम-हेतु अग्नि-अर्थ का बोध कराता है; ऐसे शब्दप्रमाण में वाक्य-हेतु घट आदि अर्थों का बोध कराता है।

चैत्र ने भृत्य को कहा—'घटमानय'। मैत्र ने भी पहले ऐसा कहा था। यहाँ भृत्य को अर्थबोध जिसप्रकार से होता है, उसे निम्नप्रकार कहसकते हैं—'चैत्रः घटानयनविषयकाभिप्रायवान्' उच्चारणसंबन्धेन घटमानयेतिवाक्यविशिष्टत्वात्, मैत्रवत्' चैत्र घड़ा मँगाने के अभिप्रायवाला है, अर्थात् घड़ा मँगाना चाहता है, क्योंकि यह उच्चारण-सम्बन्ध से 'घटमानय' इस वाक्य से युक्त है, अर्थात् इसने 'घटमानय' इस वाक्य का उच्चारण किया है। इसी अभिप्राय से मैत्र ने इस वाक्य का उच्चारण किया था। यह समझकर भृत्य घड़ा ले आता है। तात्पर्य यही है, कि वाक्य अर्थबोध में अनुमान के हेतु के समान है। फलतः दोनों जगह अर्थबोध का प्रकार एक होने से शब्दप्रमाण को अनुमान के अन्तर्गत मानलेना चाहिये ॥ ५० ॥

शब्द के अनुमानरूप होने में अन्य कारण यह है—

सम्बन्धाच्च ॥ ५१ ॥ (११२)

[सम्बन्धात्] सम्बन्ध से [च] भी (शब्द-अनुमान से अभिन्न है)।

गत सूत्र से 'शब्दोऽनुमानम्' पदों की यहाँ अनुवृत्ति समझनी चाहिये। शब्द अनुमान है, अतिरिक्त प्रमाण नहीं। कारण यह कि शब्द और अर्थ का परस्पर नियत सम्बन्ध देखाजाता है। जब किसीको यह सम्बन्ध निश्चितरूप से

ज्ञात होता है, तभी सम्बन्धज्ञाता को शब्द से अर्थ का बोध होता है। ठीक ऐसी स्थिति अनुमान में देखीजाती है। वह लिङ्ग-लिङ्गी का नियत सम्बन्ध जिसको ज्ञात होता है, वह लिङ्ग-हेतु से लिङ्गी-साध्य का अनुमान करता है। इसप्रकार लिङ्ग-लिङ्गी में और शब्द-अर्थ में परस्पर-सम्बन्ध मानाजाना भी दोनों जगह समान है। इन आधारों पर शब्द-प्रमाण को अनुमानान्तर्गत मानाजासकता है ॥ ५१ ॥

शब्दप्रमाण, अनुमान नहीं—सूत्रकार उक्त आशंका का समाधान करता हुआ समझाता है कि यह आशंका निराधार है, क्योंकि—

आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः ॥ ५२ ॥ (११३)

[आप्तोपदेशसामर्थ्यात्] आप्त के उपदेश-सामर्थ्य से [शब्दात्] शब्द के द्वारा [अर्थसंप्रत्ययः] अर्थ का निश्चित ज्ञान होता है।

शब्द अथवा वाक्य से जो अर्थ का बोध होता है, वह अनुमेय है, अर्थात् अनुमान-प्रमाण से होनेवाले ज्ञान के समान है; यह कथन युक्त नहीं है। अनुमान-प्रमाण में हेतु और साध्य का परस्पर व्याप्यव्यापकभाव-सम्बन्ध होता है, हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक होता है। शब्द और अर्थ में यह सम्बन्ध असम्भव है। शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध होता है। इस शब्द का अमुक अर्थ वाच्य है, अथवा इस अर्थ का अमुक शब्द वाचक है, इस सम्बन्ध के मूल में आप्तोपदेश रहता है। वेद के रूप में ईश्वर द्वारा, एवं अन्य लौकिक शब्दों के विषय में आप्त-पुरुषों के द्वारा कीगई यह व्यवस्था रहती है कि कौनसा शब्द किस अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है। शब्द में विशिष्ट अर्थ का बोधन कराने की शक्ति का आधान आप्तोपदेशमूलक है। शब्द से अर्थ का बोध इसी सामर्थ्य से होता है। यह शब्द अमुक अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए बताया है, इसी आधार पर शब्द से अर्थ का बोध होता है। ऐसे अर्थबोध में योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति आदि सहकारी कारण रहते हैं। अर्थबोध का यह सब प्रकार अनुमान में नहीं होता। जैसे शब्द का अर्थ में शक्तिग्रह होता है; वैसे धूम का वह्नि में शक्तिग्रह होना कदापि सम्भव नहीं। अतः शब्द-प्रमाण अनुमान से विलक्षण है, एवं प्रमाणान्तर है, यह स्पष्ट होता है।

कोई अर्थ सर्वथा अतीन्द्रिय होते हैं। कुछ इन्द्रियग्राह्य होने पर भी व्यवधान आदि के द्वारा प्रत्यक्षतः गृहीत नहीं होते। पहले प्रकार के पदार्थों का बोध केवल शब्द-प्रमाण के द्वारा होना सम्भव है। यदि शब्द को अनुमानरूप मानाजाता है, तो अर्थ के अतीन्द्रिय होने से शब्द-लिङ्ग और अर्थ-लिङ्गी का व्याप्तिग्रह कभी नहीं होसकता। हेतु-साध्य के व्याप्तिज्ञान के अभाव में अनुमान की प्रवृत्ति असम्भव है। इसलिए आप्तोपदेशमूलक शब्द को यदि स्वतन्त्र प्रमाण

नहीं मानाजाता, तो अतीन्द्रिय पदार्थों के विषय में जानकारी होना सम्भव न होगा। इससे शब्द और अनुमान के द्वारा अर्थबोध होने में प्रकार का भेद स्पष्ट होजाता है। फलतः दोनों प्रमाणों की प्रवृत्ति के समान होने अथवा उनमें वैलक्षण्य न होने के लिए जो विशेष हेतु का अभाव बतायागया, वह असंगत है।

शब्द-अर्थ का प्राप्तिरूप सम्बन्ध प्रत्यक्ष से अग्राह्य—शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के आधार पर शब्दप्रमाण को जो अनुमान बतायागया है, वह भी ठीक नहीं है। शब्द-अर्थ का परस्पर सम्बन्ध क्या है ? यह समझना चाहिये। शब्द-अर्थ का वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध स्वीकृत है; तथा प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध प्रतिषिद्ध मानागया है। 'प्राप्ति' दो पदार्थों के संयोग को कहते हैं। शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध आचार्यों को स्वीकार नहीं है; और न यह सम्भव है; जिससे धूम के समान शब्द को लिङ्ग मानकर उससे अर्थबोध होने की आपत्ति प्रस्तुत कीजाय। शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध किसी प्रमाण से उपलब्ध न होने के कारण ही अस्वीकार मानागया है।

पहले प्रत्यक्ष को लीजिये। शब्द और अर्थ का संयोग-सम्बन्ध प्रत्यक्ष-प्रमाण से उपलब्ध नहीं होता। जिस इन्द्रिय से शब्द का ग्रहण होता है, उसी इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण नहीं होता। 'घट' शब्द श्रोत्र-इन्द्रिय से गृहीत होता है; परन्तु 'घट' अर्थ (वस्तु) का ग्रहण श्रोत्र से नहीं होसकता। फिर अतीन्द्रिय अर्थ भी बहुत हैं; उनका ग्रहण किसी इन्द्रिय से नहीं होता। परन्तु उनके वाचक शब्दों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से होता है। किन्हीं दो पदार्थों के संयोग का ग्रहण तभी होसकता है, जब वे दोनों पदार्थ समान इन्द्रिय से गृहीत हों। श्रोत्र-इन्द्रिय केवल शब्द, शब्दगत जाति तथा शब्दाभाव का ग्रहण करसकता है; किसी द्रव्य एवं शब्दातिरिक्त गुण आदि का ग्रहण नहीं करसकता। इसलिए 'घट' आदि शब्दों का श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्रहण होने पर भी 'घट' आदि द्रव्यभूत वस्तुओं का ग्रहण श्रोत्र से नहीं होसकता। अतः प्रत्यक्ष से शब्द-अर्थ के संयोग (प्राप्ति-लक्षणसम्बन्ध) की उपलब्धि होना असम्भव है; इसीकारण इसको प्रतिषिद्ध (अस्वीकार्य) मानागया है।

इसके अतिरिक्त यह ध्यान देने की बात है कि संयोग-सम्बन्ध केवल दो द्रव्यों का होता है। शब्द गुण है, और उसके वाचक द्रव्यादि पदार्थ हैं। शब्द के साथ इनका संयोग-सम्बन्ध सम्भव नहीं। इनके संयोग अथवा प्राप्ति का तात्पर्य है—जैसे ही शब्द का उच्चारण हो, अर्थ [वस्तु-द्रव्यादि] उससे वहीं सम्बद्ध होना चाहिये। यदि इसको स्वीकार कियाजाता है, तो जिज्ञासा होती है—शब्द और अर्थ के प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध के गृहीत होने पर शब्द के समीप अर्थ होता है, या अर्थ के समीप शब्द; अथवा दोनों दोनों के समीप। सामीप्य का तात्पर्य है—सम्बन्ध। शब्द के उच्चरित होते ही शब्द के प्रदेश में अर्थ पहुँचजाता है,

या अर्थ के प्रदेश में शब्द, अथवा दोनों, दोनों जगह पहुँचते हैं ? इनमें से कोई भी स्थिति देखी नहीं जाती। जब प्रत्यक्ष से इनका संयोग उपलब्ध नहीं, तो अनुमान आदि से उसका प्रत्यक्ष होना असम्भव है। अतः शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध स्वीकार्य नहीं मानागया ॥ ५२ ॥

प्राप्ति-सम्बन्ध शब्द-अर्थ का अनुमेय नहीं—अन्य कारणों से भी शब्द-अर्थ का यह सम्बन्ध अग्राह्य है। सूत्रकार ने बताया—

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः ॥ ५३ ॥ (११४)

[पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेः] पूरण–भरजाना, प्रदाह–जलजाना, पाटन–कटजाना आदि की अप्राप्ति से [च] तथा [सम्बन्धाभावः] सम्बन्ध का अभाव है (शब्द-अर्थ के प्राप्तिलक्षण)।

गतसूत्र में बताया, शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होता। अनुमान से भी उसका ग्रहण नहीं होता, यह प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट कियागया है। यदि शब्द के उच्चरित होते ही शब्द के समीप अर्थ उपस्थित होजाता हो, तो मुख में पूरण, प्रदाह और पाटन उपलब्ध होना चाहिये। शब्द का उच्चारण मुख से होता है, यथायथ शब्द के उच्चारण के लिए मुख में विशिष्ट स्थान, करण, प्रयत्न आदि का उपयोग होता है, अतः शब्द का उच्चारण मुख में सम्भव है। अब यदि इस बात को मानाजाय कि शब्द-अर्थ का परस्पर प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध है, तो 'मोदक' (लड्डू) शब्द का उच्चारण होते ही मोदक वहाँ उपस्थित होजाय और उससे मुँह भरजाना चाहिये। ऐसे ही 'अग्नि' शब्द का उच्चारण होने पर मुँह जलजाय। 'असि' (तलवार) शब्द का उच्चारण होते ही मुँह कटजाना चाहिये। पर यह सब-कुछ नहीं होता। इससे स्पष्ट है, शब्द के समीप अर्थ नहीं आता; तब उनकी प्राप्ति [एक-दूसरे से संयुक्त होजाने] का प्रश्न ही नहीं उठता।

सूत्र में पठित 'च' पद से शब्द के उच्चारण में कारणीभूत स्थान, करण, प्रयत्न आदि को उपलक्षित कियागया है। शब्दोच्चारण में कण्ठ, तालु आदि स्थानों तथा करण आदि के कारण होने से जहाँ वे स्थान आदि हैं, वहीं शब्द का उच्चारण सम्भव है। इसलिए यह कहना भी असंगत होगा कि अर्थ-प्रदेश में शब्द का उससे (अर्थ से) संयोग होता है। घट आदि अर्थ के स्थितिप्रदेश में शब्द का उच्चरित होना असम्भव है। तब उनकी प्राप्ति कैसी ? इसप्रकार न शब्द के समीप अर्थ का होना सम्भव है, और न अर्थ के समीप शब्द का होना। इसके अनुसार दोनों का दोनों के समीप जाने का प्रश्न समाप्त होजाता है। फलतः शब्द और अर्थ के प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध का किसी प्रमाण से ग्रहण न होने के कारण इनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध अमान्य है ॥ ५३ ॥

शब्द-अर्थ का सम्बन्ध व्यवस्थित—शिष्य जिज्ञासा करता है, शब्द-अर्थ का परस्पर व्यवस्थित सम्बन्ध प्रतीत तो होता है, तब उसका प्रतिषेध न होना चाहिये। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया—

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः ॥ ५४ ॥ (११५)

[शब्दार्थव्यवस्थानात्] शब्दार्थ की व्यवस्था से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होनाचाहिये (शब्दार्थ-सम्बन्ध का)।

'घट' आदि विशेष शब्द से विशेष वस्तु घड़ा आदि का ही ग्रहण होता है, कपड़ा, घोड़ा आदि का नहीं। इससे शब्द और अर्थ के परस्पर-सम्बन्ध का बोध होता है। यदि शब्द-अर्थ का कोई निश्चित-व्यवस्थित सम्बन्ध न हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध होजाना चाहिये; पर ऐसा नहीं है। किसी शब्द से किसी अर्थ का बोध कराने में एक व्यवस्था देखीजाती है। इस व्यवस्था का कारण उनका सम्बन्ध ही है। अतः शब्द-अर्थ के सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं होना चाहिये ॥ ५४ ॥

शब्द-अर्थ-सम्बन्ध सांकेतिक—सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य ॥ ५५ ॥ (११६)

[न] नहीं, [सामयिकत्वात्] सामयिक होने से [शब्दार्थसंप्रत्ययस्य] शब्द द्वारा अर्थ-प्रत्यय (बोध–ज्ञान) के।

किसी विशेष शब्द से जो विशिष्ट अर्थ का बोध होता है, इसका कारण शब्द-अर्थ का प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध नहीं है; यह समयकारित होता है। इसका कारण 'समय' है। इसलिए शब्द-अर्थ के प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं करना चाहिये, ऐसा समझना ठीक नहीं। शब्द से अर्थ-बोध में इनके प्राप्ति-सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है। वह 'समय' के कारण होता है।

अब यह समझलेना चाहिये कि 'समय' का तात्पर्य क्या है? अमुक शब्द का यह अर्थ वाच्य या अभिधेय है, इसप्रकार का 'निर्धारित संकेत' समय है। आचार्यों ने वेद शब्द के अर्थों के लिए 'ईश्वरेच्छा' को संकेत माना है। अन्य सभी लौकिक शब्दों के अर्थ यथाकाल विभिन्न आभिधानिक आचार्यों, लोककर्त्ता पुरुषों तथा पृथक् भाषा-भाषी जनता की इच्छा व व्यवहार के अनुसार निर्धारित होते रहते हैं। कौन-सा शब्द किस अर्थ को अभिव्यक्त करता है, ऐसे संकेत अपनी-अपनी भाषाओं के निर्धारित रहते हैं। उसीके अनुसार शब्द के उच्चारण से अर्थबोध होता है। जो व्यक्ति उस संकेत व समय को समझता है, शब्द सुनने पर उसीको अर्थबोध होपाता है। जो किसी भाषा के निर्धारित संकेत को नहीं जानते, उस भाषा के शब्दों को सुनने पर भी उन्हें अर्थबोध नहीं होपाता। जो वादी शब्द-अर्थ के प्राप्तिलक्षण-(संयोग)-सम्बन्ध को स्वीकार करता है, वह भी

शव्द-अर्थ-विषयक उक्त व्यवस्था की उपेक्षा नहीं करसकता; क्योंकि इसके विना लोकव्यवहार चलना सम्भव नहीं है।

बोल-चाल में प्रयुक्त होनेवाले शव्दों और उनके अर्थों को साधारण जनता अपने बड़ों के व्यवहार से सीखलेती है। यह परम्परा बराबर चलती रहती है। अनेक बार इसमें थोड़े या बहुत शव्दों के संकेत बदलते रहते हैं। कालान्तर में शव्दों की ध्वनियों में भी अन्तर पड़ता रहता है, और भाषाओं [शव्द-समुदाय] का इतना रूप बदलजाता है कि उसी परम्परा में होनेवाली जनता अपनी वर्त्तमान भाषा की मूलभूत ध्वनियों के संकेतों को नितान्त भी नही समझपाती। इसीकारण उन संकेतों की रक्षा के लिए उस पदात्मक वाणी का विवरण प्रस्तुत करनेवाले व्याकरणशास्त्र का यथाकाल निर्माण कियाजाता है।[1] उन पदों के समूह–वाक्यों के द्वारा अभिमत अर्थों का बोध होता है। वाक्य अर्थबोध की पूर्णता में पर्यवसित रहता है। इस सब विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है कि शव्द-अर्थ का परस्पर प्राप्तिलक्षण-सम्बन्ध किसीप्रकार सम्भव नहीं। इससे शव्द-अर्थ के सम्बन्धमात्र का निषेध नहीं कियागया। इनका वाच्य-वाचकभाव-सम्बन्ध पूर्णरूप से अभिमत है॥ ५५॥

शव्द-अर्थ का सम्बन्ध नियत नहीं—शव्द से अर्थ का बोध निर्धारित संकेत के अनुसार होता है, इस व्यवस्था को सूत्रकार ने अन्य प्रकार से पुष्ट किया—

जातिविशेषे चानियमात्॥ ५६॥ (११७)

[जातिविशेषे] जातिविशेष में [च] तथा [अनियमात्] नियम न होने से (शव्दार्थ-प्रत्यय के लिए)।

अमुक शव्द से उसी अर्थ का बोध होसकता है, ऐसा नियम मानवसमाज के किसी वर्ग में नहीं है। मानव-समाज में ऋषि, आर्य, म्लेच्छ आदि सभीप्रकार के वर्ग होते हैं। फिर विभिन्न देशों में विभिन्न भाषा बोली जाती हैं। उनके

---

१. संस्कृत भाषा का वर्त्तमान पाणिनीय व्याकरण महाभारत-युद्ध के अनन्तर ऐसे ही अवसर पर बनायागया था, जब तात्कालिक पश्चिमोत्तर भारत की साधारण जनता में बोली जानेवाली संस्कृत भाषा में विकार की सम्भावना उत्पन्न होगई थी। ऐसा समय महाभारत-युद्ध के अनन्तर सौ-डेढ़ सौ वर्ष के अन्तराल में आया। जब युद्ध के कारण ध्वस्त एवं जर्जर राष्ट्र में महान् प्रयत्नों के होने पर भी साधारण जनता को प्रमाद, आलस्य, अनैतिकता आदि दुर्बलताओं की ओर बढ़ने से पूर्णरूप में न बचायाजासका। यदि उस समय पदरूप वाणी के संकेतों की रक्षा के लिए यह व्याकरण न बनाया जाता, तो आज संस्कृत भाषा को समझना दुरूह होता।

अपने-अपने संकेत हैं। एक अर्थ का बोध कराने के लिए ध्वनि-संकेत विभिन्न रहते हैं। इसी आधार पर भाषाओं का भेद है। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ऐसा स्वाभाविक होता कि अमुक शब्द अमुक नियत अर्थ का बोध करायेगा, तो विभिन्न वर्गों में शब्द से अर्थबोध के लिए इच्छानुसार संकेत का होना सम्भव न होता। तब मनुष्यमात्र अपने भावों को प्रकट करने के लिए एक ही प्रकार की ध्वनियों का उपयोग करनेवाला होता; जैसा पशु-पक्षियों में प्रायः देखाजाता है। जो जिसका स्वाभाविक कार्य होता है, वह किसी जातिविशेष के लिए कभी बदलता नहीं है। सूर्य का कार्य सबको गरमी व प्रकाश प्रदान करना है; अथवा तैजस प्रकाश, रूप के ज्ञान में कारण होता है; यह स्वभाव से प्राप्त है, और सबके लिए समान है। सूर्य किसी एक वर्ग को प्रकाश दे, अन्य को न दे; अथवा प्रकाश में कोई एक वर्ग रूप का प्रत्यक्ष करे, अन्य न करे; ऐसा सम्भव नहीं; क्योंकि यह स्थिति इच्छानुसार नहीं है, निसर्गप्राप्त है। परन्तु शब्द से अर्थबोध होने में ऐसा नियम नहीं है। इसलिए शब्द से अर्थ का बोध सामयिक है, निर्धारित संकेत के अनुसार होता है, स्वाभाविक नहीं ॥ ५६ ॥

वैदिक शब्द का अप्रामाण्य—गत लम्बे प्रसंग से यह निर्धारित कियागया कि शब्दप्रमाण का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं होता। शब्द स्वयं में अतिरिक्त प्रमाण है। इस तथ्य को समझकर शिष्य के द्वारा–वैदिक साहित्य में प्रतिपादित पुत्रकामेष्टि, हवन तथा अभ्यास (एक मन्त्र को अनेक वार बोलने का विधान) आदि के प्रसंगों को लक्ष्यकर शब्द के प्रामाण्य के विषय में–कीगई आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः ॥ ५७ ॥ (११८)

[तदप्रामाण्यम्] उस शब्द–वाक्य का प्रामाण्य नहीं मानाजाना चाहिये, [अनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः] अनृत-मिथ्या, व्याघात-विरोध तथा पुनरुक्त-दोष होने से (शब्द में)।

वेद का अप्रामाण्य क्यों—जिस शब्द को प्रमाण मानाजाता है, उसमें अनृत आदि दोष दिखाई देते हैं, अतः उसके प्रामाण्य को स्वीकार नहीं कियाजाना चाहिये। सूत्र में पठित 'तत्' पद सामान्य शब्दमात्र का निर्देश न कर केवल किन्हीं विशिष्ट वाक्यों का निर्देश करता है।

वैदिक वाक्य मिथ्या—उनमें वैदिक साहित्य का एक वाक्य है–'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्यायजेत' पुत्र की कामना करनेवाला व्यक्ति पुत्रेष्टि से यजन करे। पुत्रकामेष्टि का अनुष्ठान करने से पुत्र प्राप्त होजाता है। परन्तु अनेकवार ऐसा देखाजाता है कि इष्टि का अनुष्ठान करने पर भी यजमान (इष्टिकर्त्ता दम्पती) को पुत्रलाभ नहीं होता। फलतः उक्त वाक्य मिथ्या होजाता है। जब इस दृष्टफल

वाले वाक्य को मिथ्या होते देखते हैं, तो इसके अनुसार वे अदृष्टफलवाले वैदिक वाक्य भी मिथ्या होने सम्भव हैं, जिनमें स्वर्ग की कामना करनेवाले व्यक्ति के लिए अग्निहोत्र होम करने का विधान कियागया है–'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' इत्यादि। यह स्थिति प्रमाण मानेजानेवाले शास्त्र के विषय में विश्वास को उखाड़देती है।

वैदिक वाक्यों में विरोध—इसीप्रकार शास्त्रीय वाक्यों में परस्पर-विरोध पायाजाता है। दैनिक हवन का विधान करते हुए बताया है–'उदिते होतव्यम्, अनुदिते होतव्यम्, समयाऽध्युषिते होतव्यम्' इत्यादि। सूर्योदय होजाने पर हवन करना चाहिये, अनुदित-सूर्यकाल में हवन करना चाहिये, अध्युषित[1] समय में हवन करना चाहिये। प्रातः दैनिक हवन के ये तीन काल बतलाये। पहले तो इन्हीं में परस्पर-विरोध है। उदित काल में हवन करना बताकर, उसका विरोध करते हुए अनुदित काल में बताया; उन दोनों कालों का विरोध कर तीसरा अध्युषित काल में हवन का विधान किया। ये सब काल एक-दूसरे के विरुद्ध हैं। यदि इसे कालविषयक विकल्प बताकर विरोध से बचा भी जाय, तो आगे विधि का विरोध कियागया स्पष्ट दीखता है। वहाँ लिखा है—

१. "श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति।
२. शबलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति।
३. श्यावशबलावस्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति।"

१. श्याव उसकी आहुति को खाजाता है, जो उदित में हवन करता है।
२. शबल उसकी आहुति को खाजाता है, जो अनुदित में हवन करता है।
३. श्याव-शबल दोनों मिलकर उसकी आहुति को खाजाते हैं, जो समयाध्युषित में हवन करता है।

पहले हवन का विधान किया। अनन्तर श्याव आदि के द्वारा हुत आहुति को खाजाने के रूप में विधि की व्यर्थता बतलादीगई। यह विधि और उसको व्यर्थ बताने के रूप में परस्पर-विरोध स्पष्ट है।

---

१. उदित काल वह है, जब सूर्य का उदय (दर्शन) होजाय। अनुदित काल वह है, जब तक सूर्योदय से पहले नक्षत्रमण्डल दिखाई देता रहता है। जब नक्षत्रमण्डल दिखाई देना बन्द होजाता है, और सूर्योदय भी नहीं होता, वह अध्युषित-काल मानाजाता है। इस काल के विषय में एक प्राचीन उक्ति है—

तथा प्रभातसमये नष्टे नक्षत्रमण्डले।
रविर्यावन्न दृश्येत समयाध्युषितं हि तत्॥

वेद में पुनरुक्त-दोष—पुनरुक्त-दोष भी शास्त्रीय निर्देशों में देखाजाता है। अनेक स्थलों पर मन्त्रों के पुनः-पुनः उच्चारण का विधान किया है–'त्रिः प्रथमामन्वाह, त्रिरुत्तमाम्' पहली ऋचा को तीन वार पढ़े, और अन्तिम ऋचा को तीन वार पढ़े। यह एक ही ऋचा को कई वार पढ़ने के रूप में पुनरुक्त-दोष है। यह वक्ता के प्रमाद को स्पष्ट करता है। फलतः अनृत, व्याघात और पुनरुक्त-दोषों के कारण ऐसे शब्द को प्रमाण मानना युक्त नहीं ॥ ५७ ॥

वैदिकवाक्य में मिथ्या दोष नहीं—शिष्यों की उक्त आशंका का सूत्रकार यथाक्रम समाधान करता है—

न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ॥ ५८ ॥ (११९)

[न] नहीं (आशंका ठीक) [कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्] कर्म, कर्त्ता और साधनों के विगुण (गुणहीन) होने से।

गत सूत्र से यहाँ 'अनृत-दोषः' पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। शब्द-प्रमाण में पहला दोष 'अनृत' बतायागया, जिसमें पुत्रेष्टि–अनुष्ठान का फल न देखेजाने से उसे मिथ्या कहा है। आचार्य बताता है, पुत्रकाम-इष्टि में अनृत-दोष की आशंका करना व्यर्थ है। जहाँ पुत्रेष्टि का अनुष्ठान होने पर उसके फल पुत्र का लाभ नहीं होता, वहाँ उस शास्त्रीय वाक्य का कोई दोष नहीं है। इष्टि के अनुष्ठान से सम्पन्न पति-पत्नी ऋतुकाल में संयुक्त होकर पुत्र को उत्पन्न करते हैं। इस प्रसंग में पति-पत्नी का संयोग 'कर्म' है, इष्टि और संयोग के करनेवाले पति-पत्नी दोनों 'कर्त्ता' हैं। इष्टि पुत्रजन्म का 'साधन' है। ये तीनों –कर्म, कर्त्ता और साधन अपने गुणों से युक्त रहते हैं; अर्थात् इनमें कहीं किसी तरह की कमी नहीं रहती, तब पुत्रजन्म अवश्य होता है। यदि किसीमें कहीं कुछ न्यूनता–विगुणता होजाय, तो पुत्रजन्म न होगा।

पुत्रजन्म का साधन इष्टि है। इसमें कर्मवैगुण्य है–अनुष्ठान की प्रक्रिया का ठीक-ठीक न होना। शास्त्र में इष्टि-क्रिया की जो पद्धति बताई है, उसका पूर्णरूप में पालन न कियाजाना–इष्टिविषयक कर्मवैगुण्य है। इसमें कर्तृवैगुण्य है–इष्टि के करानेवाले ऋत्विजों का अविद्वान्, मन्त्रों का ठीक उच्चारण न करनेवाले तथा निन्दित आचरणवाले होना। इष्टिविषयक साधनवैगुण्य है–हवि-द्रव्य का असंस्कृत (अशुद्ध–अपवित्र) होना, मन्त्रों का न्यून व अधिक बोलाजाना एवं स्वर तथा वर्ण आदि से हीन होना, दीजानेवाली दक्षिणा का कम होना, निन्दित होना तथा पाप से कमाईगई होना आदि। ये सब इष्टिविषयक कमियाँ हैं; इनमें कोई कमी होजाय, तो अनुष्ठान निष्फल होजायगा।

पति-पत्नी इष्टि व संयोग के कर्त्ता हैं। कर्त्ता के विषय में कर्मवैगुण्य है–पति-पत्नी के संयोग का विधिपूर्वक न होना; उपयुक्तकाल एवं शास्त्रीयविधान

का ध्यान न रख परस्पर संयुक्त होजाना मिथ्यासंप्रयोग होगा, जो फल देने में कारगर नहीं रहता। इस विषय में कर्त्तृवैगुण्य है–पत्नी के योनिरोग आदि होना, तथा पति के शुक्रसम्बन्धी रोग एवं शुक्र में उपयुक्त जीवाणुओं का न होना आदि। कर्त्ता-विषयक साधनवैगुण्य है–उस चरु आदि का सुसंस्कृत न होना, जो संयोग से पूर्व दम्पती के उपयोग के लिए इष्टि–अनुष्ठान के प्रसंग में तैयार कियाजाता है। इष्टि आदि में इन कमियों के होजाने से उसके फल–पुत्र का लाभ नहीं होपाता, इसमें शास्त्रीय शब्द का कोई दोष नहीं है।

वैदिक वाक्य की सत्यता में लौकिक उदाहरण—लोकमें इसप्रकार के कार्य देखेजाते हैं। शिल्पी कोई मकान अथवा नदी आदि पर कोई बाँध बनाते हैं। उसके लिए उपयुक्त साधन-सामग्री एकत्र कर योग्य शिल्पियों द्वारा सुयोग्य अभियन्ताओं की देखरेख में यदि उसका विधिपूर्वक निर्माण होजाता है, तो वह कार्य सदियों सुरक्षित रहता हुआ सुफल प्रदान करता रहता है। यदि कार्य-अनुष्ठान के अवसर पर अभियन्ता निरीक्षण में प्रमाद करता है, अनुकूल निर्देश देने में अक्षमता रखता है, शिल्पी ईंट-प्रस्तर आदि का यथोचित सन्निवेश नहीं करता, साधन–सामग्री का यथाविधि उपयोग नहीं होता, सीमन्ट की जगह रेत या काली मिट्टी डालदीजाती है, और अव्वल ईंट की जगह दोयम-सोयम भरदी जाती हैं, तो वह कार्य फलप्रद न होकर सद्यः नष्ट होजाता है।

ऐसे ही अन्य लौकिक अनुष्ठानविषयक एक वाक्य है–'अग्निकामो दारुणी मथ्नीयात्' आग की चाहनावाला दो विशिष्ट काष्ठों को आपस में मथे। यदि यहाँ कर्म, कर्त्ता और साधन में वैगुण्य न होकर यथाविधि काष्ठों का मन्थन होता है, तो उसके फल–अग्नि का अवश्य लाभ होता है। यदि मन्थन ठीक न होने से उसमें कर्मवैगुण्य होजाय, कर्त्ता प्रमादी और बुद्धिहीन हो, मन्थनविधि का जानकार न हो, प्रयत्न में शिथिलता करे—यह कर्त्तृवैगुण्य रहे, और काष्ठ गीले हों अथवा कीड़े के खाये घुनेहुए हों, यह साधनवैगुण्य होगा। इन कमियों–दोषों के रहने पर मन्थन होने से भी अग्नि की प्राप्ति न होगी। इसमें मन्थन से अग्नि-प्राप्ति बताने वाले काव्य का कोई दोष नहीं है। प्रत्युत इसका कारण है–कर्त्ता, साधन तथा प्रक्रिया-सम्बन्धी कमियाँ। यही स्थिति 'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत' इस वाक्य की है। शास्त्र और लौकिक वाक्य ऐसे प्रसंगों में परस्पर कोई भेद नहीं रखते ॥ ५८ ॥

वैदिकवाक्य में विरोध नहीं—दूसरे दोष–'व्याघात' का समाधान सूत्रकार बताता है—

अभ्युपेत्य[1] कालभेदे दोषवचनात् ।। ५६ ।। (१२०)

१. कौषीतकिब्राह्मण [२ । ६] तथा जैमिनीयब्राह्मण [१ । ६] में पाठ है—'अहर्वै शबलो रात्रिः श्यामः' दिन का नाम 'शबल' और रात्रि का नाम 'श्याम' है। वात्स्यायनभाष्य में 'श्याव' पाठ दिया है। उदित का प्रतीक शबल (दिन) तथा अनुदित का प्रतीक श्याम (रात्रि) है। अध्युषितकाल के प्रतीक श्याम (व)–शबल दोनों हैं।
उदितकाल—सूर्योदय होने पर।
अनुदितकाल—प्रातः नक्षत्रमण्डल दिखाईदेते रहने तक।
अध्युषितकाल—दोनों के अन्तराल का काल, जब नक्षत्रमण्डल दिखाई देना बन्द हो गया हो, और सूर्योदय भी न हुआ हो।

जिस व्यक्ति ने उदितकाल में हवन करने की प्रतिज्ञा की है, अथवा वैसा व्रत स्वीकार किया है, वह व्यक्ति यदि प्रतिज्ञात उदितकाल को छोड़कर अनुदित अथवा अध्युषितकाल में हवन करता है, तो वह असमय (अप्रतिज्ञात समय) में होने से स्वीकृत प्रतीक के अनुकूल नहीं है। वह होम-कर्म निष्फल होजाता है। इसी भाव को उदितकाल के प्रतीक शबल द्वारा आहुति के अभ्यवहरण (खाजाने) के रूप में अभिव्यक्त किया है। प्रतिज्ञात उदितकाल का प्रतीक शबल है।

यदि प्रतिज्ञात उदितकाल को छोड़कर व्यक्ति अध्युषितकाल में हवन करता है, तो श्याम-(व)- शबल दोनों उस आहुति को खाजाते हैं। अध्युषितकाल, उदित-अनुदित दोनों के अन्तराल में रहता है। इसी भावना से 'श्यावशबलौ वास्याहुतिमभ्यवहरतो यः समयाध्युषिते जुहोति' निर्देश किया गया है। प्रतिज्ञात अनुदितकाल को छोड़कर अध्युषितकाल में हवन करने वाले के लिए भी यही व्यवस्था है।

जो व्यक्ति प्रतिज्ञात अनुदितकाल को छोड़कर उदितकाल में हवन करता है, उसकी आहुति को श्याम (व) खाजाता है। अनुदितकाल का प्रतीक श्याम है। प्रतिज्ञा करनेवाले व्यक्ति का उसी प्रतिज्ञात काल में किया हवन सफल–श्रेयस्कर होता है।

इन सब वाक्यों का—प्रतिज्ञातकाल को छोड़देने की—निन्दा में तात्पर्य है। स्वीकृत व्रत को तोड़ना निश्चित दोष है। परस्पर-विरोध की भावना इन वाक्यों में कोई नहीं है।

इस विषय में तैत्तिरीयसंहिता [२ । १ । ८ । ५] का यह वाक्य अनुसन्धेय है—"कृष्णो भवत्येतद्वै वृष्ट्यै रूपं रूपेणैव वृष्टिमवरुन्धे; शबलो भवति विद्युतमेवास्मै जनयित्वा वर्षयत्यवाभृंगो भवति वृष्टिमेवास्मै नियच्छति"

[अभ्युपेत्य] स्वीकार करके [कालभेदे] काल का उल्लंघन करने पर [दोषवचनात्] दोष के कथन से

गत सूत्रों से 'न, व्याघात' पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये। जो व्यक्ति प्रारम्भ में यह प्रण करलेता है कि मैं उदित में हवन किया करूँगा, अथवा अनुदित में कियाकरूँगा, यदि वह अपने प्रतिज्ञात–स्वीकृतकाल का उल्लंघन करता है— उदितकाल में हवन की प्रतिज्ञा कर, उसे छोड़ अनुदित अथवा अध्युषित में हवन करता है, उसके लिए यह कार्य दोषपूर्ण बतायागया है–'श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति' इत्यादि। इसलिए हवन का विधान करनेवाले इन वाक्यों में परस्पर कोई व्याघात–विरोध नहीं है।

हवन-कार्य किसी भी समय कियाजाय, वह पुण्य ही है; पर दोषवचन में रहस्य यही है कि प्रतिज्ञात समय के छोड़देने में कर्त्ता व्यक्ति का प्रमाद, आलस्य तथा अनुष्ठान के प्रति उपेक्षा व शिथिलता के भाव प्रकट होते हैं। इसी भावना से स्वीकृत समय के उल्लंघन को दोष बतायागया है, जिससे हवन करनेवाला व्यक्ति अपने इस सत्कार्य में सदा सन्नद्ध व सतर्क रहे ॥ ५९ ॥

पुनरुक्ति-दोष नहीं वैदिक वाक्यों में—पुनरुक्तविषयक तीसरी आशंका का समाधान करने की भावना से सूत्रकार ने बताया—

अनुवादोपपत्तेश्च ॥ ६० ॥ (१२१)

[अनुवादोपपत्तेः] अनुवाद की उपपत्ति–सिद्धि–संभावना से (पूर्वोक्त वाक्य में पुनरुक्ति-दोष नहीं है), [च] तथा।

गत सूत्रों से 'न, पुनरुक्तदोष' इन पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये। पूर्वोक्त जिन वाक्यों में पुनरुक्त-दोष की उद्भावना कीगई है, वस्तुतः वहाँ पुनरुक्तदोष नहीं है; क्योंकि उन वाक्यों में अनुवाद का होना संभावित है, अथवा सिद्ध है। जो वाक्य विना प्रयोजन के बार-बार निरर्थक कहेजाते हैं, वहाँ पुनरुक्तदोष मानाजाता है। परन्तु जहाँ शब्द अथवा शब्दसमूह का पुनः-पुनः अभ्यास किसी विशेष प्रयोजन से कियाजाता है, वह 'पुनरुक्त' न होकर 'अनुवाद' कहाजाता है। ब्राह्मण[1] में कथन है–'इदमहं भ्रातृव्यं पञ्चदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे'–मैं इस विरोधी को पन्द्रह अरोंवाले वाग्वज्र से बाधित करता हूँ। इसके अनुसार पन्द्रह अरोंवाला वह वाणीरूपी वज्र पन्द्रह ऋचा हैं, जिनका उच्चारण कर पन्द्रह सामिधेनी-आहुतियाँ दीजाती हैं। परन्तु जिन ऋचाओं से आहुति देने का विधान है, वे केवल ग्यारह हैं। उन्हींसे पन्द्रह आहुतियाँ देने के लिए पहली और अन्तिम ऋचा की तीन आवृत्ति कीजाती हैं। इसप्रकार दो

१. द्रष्टव्य, कौषी०, १२।२॥३।२, ३।७॥२॥ २. ऋ० ३।२१।२॥६।१६।१०-१२॥३।२७।१३-१५॥१।१२।१॥३।२७।४॥५।२८।५-६॥

ऋचाओं से छह आहुतियाँ, तथा शेष नौ ऋचाओं से एक-एक आहुति देकर पन्द्रह संख्या पूरी कीजाती है। मन्त्रों का यह अभ्यास सप्रयोजन होने से अनुवाद माना है, जो दोषावह नहीं ॥ ६० ।

अनुवादवाक्य सार्थक—अनुवादवाक्यों की सार्थकता को सूत्रकार ने बताया—

वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् ॥ ६१ ॥ (१२२)

[वाक्यविभागस्य] वाक्यविभाग के [च] तथा [अर्थग्रहणात्] अर्थ-ग्रहण से (शब्द-प्रमाण है, यह समझना चाहिए)।

ब्राह्मण-ग्रन्थों के वाक्यों का कई प्रकार से विभाग आचार्यों ने किया है। वह किन्हीं विशेष प्रयोजनों के आधार पर है। उनमें एक विभाग 'अनुवाद' है, जिसको शिष्ट पुरुषों ने प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' [श० ब्रा० १।३।५।६] इत्यादि वाक्य ऐसा ही है। अतः इसका प्रामाण्य निर्बाध है, इसमें पुनरुक्त जैसे किसी दोष की सम्भावना नहीं ॥ ६१ ॥

ब्राह्मणवाक्य-विभाग— ऐसे ब्राह्मणवाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है; सूत्रकार ने बताया—

विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् ॥ ६२ ॥ (१२३)

[विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात्] विधिवचन, अर्थवादवचन, अनुवाद-वचन के विनियोग–समन्वय–से।

ब्राह्मण-वाक्यों का तीन प्रकार से विनियोग होता है, अर्थात् ब्राह्मण-वाक्यों का तीन भागों में समन्वय होजाता है। वे भाग हैं–विधिवचन, अर्थवाद-वचन, अनुवादवचन। कर्मकाण्डसम्बन्धी समस्त ब्राह्मण-साहित्य इन्हीं भागों में समन्वित है ॥ ६२ ॥

विधिवाक्य—उनमें विधिवचन कौन-से हैं, सूत्रकार ने बताया—

विधिर्विधायकः ॥ ६३ ॥ (१२४)

[विधिः] विधि है [विधायकः] विधायक=प्रेरक वाक्य।

जो शास्त्रीय वाक्य किसी कर्मानुष्ठान के लिए प्रेरणा देता है, वह विधि-वाक्य कहाजाता है। भाष्यकार ने विधि के दो अर्थ बताये–'नियोग' और 'अनुज्ञा'। नियोग का अर्थ है–व्यक्ति को कार्य के लिए प्रवृत्त करना। जिस वाक्य से 'इदं कुर्यात्'–यह करे–इसप्रकार प्रेरणा मिलती हो, वह नियोगविधि-वाक्य है। जैसे–'स्वर्गकामो यजेत'–स्वर्ग की कामनावाला याग करे। जो वाक्य जानते हुए व्यक्ति को कुछ विशेष जनाता है, वह अनुज्ञाविधिवाक्य है। जैसे–'अग्निहोत्रं जुहुयात्' यहाँ पर वाक्य अग्निहोत्र के साधनों की प्राप्ति के लिए

व्यक्ति को प्रेरित कर अग्निहोत्र के लिए प्रवृत्त करता है। साधनों के विना अग्निहोत्र सम्भव नहीं, अतः उसके लिए द्रव्योपार्जन आदि में प्रवृत्ति को जगाता है; यद्यपि ऐसा व्यक्ति अग्निहोत्र में प्रवृत्ति की भावना स्वतः रखता है। इसमें यह रहस्य समझना चाहिए जब ये विधिवाक्य अग्निहोत्र आदि में अप्रवृत्त पुरुष को प्रवृत्त करते हैं, तब 'नियोगविधि' हैं; और जब प्रवृत्ति की भावना को रखते हुए पुरुष को साधनों के अर्जन की ओर सचेत करते हैं, तब 'अनुज्ञा-विधि' कहेजाते हैं ॥ ६३ ॥

अर्थवाद-वाक्य—क्रमप्राप्त अर्थवादवचनों के विषय में सूत्रकार बताता है—

स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः ॥ ६४ ॥ (१२५)

[स्तुतिः] स्तुति–प्रशंसा, [निन्दा] निन्दा, [परकृतिः] अन्य के किये कार्य का विवरण देना, [पुराकल्पः] पुरानी घटना को बताना [इति] यह सब [अर्थवादः] अर्थवादवचन मानाजाता है।

ऐसे सब वाक्य–जो किसी कार्य की स्तुति या निन्दा करते हों, दूसरे के किये कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हों, एवं पुरानी घटनाओं का उल्लेख करते हों–'अर्थवाद' नाम से कहेजाते हैं।

स्तुति-अर्थवाद—जब किसी विधि–कर्मानुष्ठान से मिलनेवाले फलों की प्रशंसा कीजाती है, वह उस विधि की प्रशंसा है, स्तुति है। इससे उस विधि के अनुष्ठान के प्रति लोगों को विश्वास उत्पन्न होता है। फल के विषय में इस-प्रकार सुनने से व्यक्ति उस ओर श्रद्धान्वित होकर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्तिशील होजाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक कर्मविषयक स्तुतिवाक्य इसप्रकार पायेजाते हैं–'सर्वजिता[1] वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्त्यै सर्वस्य जित्यै, सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयति य एतेन यजते' इत्यादि। सब की प्राप्ति और सबके विजय के लिए देवों–विद्वानों ने 'सर्वजित्' नामक याग से यजन किया; और उन्होंने सबको जीतलिया। वह व्यक्ति सब-कुछ प्राप्त करलेता है, और सबको जीत लेता है, जो इस 'सर्वजित्' नामक याग से यजन करता है। ऐसे स्तुतिवाक्य व्यक्ति को कर्मानुष्ठान के प्रति श्रद्धान्वित कर प्रवृत्त करते हैं।

निन्दा-अर्थवाद—कर्म के अनिष्ट फलों का विवरण देनेवाले वाक्य निन्दा-वचन कहेजाते हैं। ये निन्दावाक्य उन निन्दनीय कर्मों को छोड़ देने की प्रवृत्ति को जगाते हैं। इससे अन्य अनुष्ठेय कर्मों में प्रवृत्ति जागृत होती है। इसप्रकार का वाक्य है–"स[2] एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्ज्योतिष्टोमः, य एतेना-

---

१. तुलना करें, तां० १६ । ७ । २ ॥
२. तुलना करें, तां० १६ । १ । १ ॥

निष्ट्वाऽन्येन यजते गर्त्ते पतति, अयमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा" इत्यादि— यज्ञों में यह प्रथम यज्ञ है, जो ज्योतिष्टोम है ; इससे यजन न कर जो अन्य याग से यजन करता है, वह पतित होजाता है, जीर्ण-शीर्ण होकर नष्ट होजाता है। सोमप्रधान यज्ञों में सबसे प्रथम ज्योतिष्टोम याग का अनुष्ठान करना चाहिये। जो इसकी उपेक्षा कर सबसे प्रथम अन्य याग का अनुष्ठान करता है, वह पतित होजाता है। यह सोमप्रधानयागों में सर्वप्रथम ज्योतिष्टोम को छोड़कर अन्य याग के अनुष्ठान की निन्दा कीगई है, जिससे कोई ऐसा न करे।

परकृति-अर्थवाद—अन्य कर्त्ताओं के द्वारा अनुष्ठित परस्पर-विरुद्ध विधि का कथन करना 'परकृति' नामक अर्थवाद है। ऐसा वाक्य है—"हुत्वा[1] वपामेवाग्रेऽभिघारयन्ति, अथ पृषदाज्यम्; तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्रेऽभिघारयन्ति अग्नेः[2] प्राणाः पृषदाज्यं स्तोममित्येवमभिदधति" इत्यादि—कतिपय होता हवन प्रारम्भ करके वपा का ही प्रथम अग्नि में सेचन करते हैं ; परन्तु चरकशाखा के अध्वर्यु लोग दधिमिश्रित घृत [पृषदाज्यम्[3]] की ही प्रथम आहुति अग्नि में देते हैं। स्तुत्य दधि-घृत अग्नि के प्राण हैं, ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्तृक परस्पर-विरोधी दो विधियों का उल्लेख कियागया है; यह 'परकृति' नामक अर्थवाद कहाजाता है।

पुराकल्प-अर्थवाद—चौथा अर्थवाद 'पुराकल्प' है, जिसमें इतिहास के समान बीते हुए अर्थों का विवरण प्रस्तुत कियाजाता है। इस विषय का सन्दर्भ है—"तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा बहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन्—'योने यज्ञं प्रतनवामहे' इत्यादि।" इस कारण उक्त क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान[4]

१. तुलना करें, मा० श० ३। ८। २। २४॥
२. मूल ब्राह्मण में 'अग्नेः' पद नहीं है, तथा 'प्राणः' एकवचनान्त पाठ है।
३. पृषदाज्यमिति प्रोक्तं दधिसर्पिरिति द्वयम्। द्रष्टव्य, मा० श० ३। ८। ४। ७॥ का० श० ४। ८। ४। ४॥ 'पृषदाज्य' पद के अर्थ के लिए द्रष्टव्य है—मा० श० ३। ८। ४। ८॥
४. 'बहिष्पवमान' नामक स्तोत्र क्या है? इस विषय में कात्यायन श्रौतसूत्र की भूमिका [लेखक :—वेदाचार्य विद्याधर शर्मा; ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, काशी संस्करण; संवत् १९८७ विक्रमी] के ज्योतिष्टोम प्रकरण में दीगई टिप्पणी इसप्रकार है—

"ज्योतिष्टोमस्य प्रातःसवनानुष्ठाने 'उपास्मै गायता नरः' [ऋ० ९। ११। १॥ साम० ६५१; ७६३॥ यजु० ३३। ६२], "दविद्युतत्या" [ऋ० ९। ६४। २८॥ साम ६५४], "पवमानस्य ते" [ऋ० ९। ६१। ४॥ साम ७८७], इति त्रिषु सूक्तेषु गायत्रं साम गातव्यम्। तदिदं सूक्तत्रयगानसाध्यं स्तोत्रं बहिष्पवमानमित्युच्यते।"

नामक साम-स्तोत्र के द्वारा स्तुति की। यह इतिहास के समान प्रतीत होनेवाला बीते हुए अर्थ का विवरण है।

शंका—अर्थवाद में स्तुति और निन्दा की गणना करना तो युक्त प्रतीत होता है, क्योंकि विधि के ग्राह्य व त्याज्य होने में वह प्रयोजक है। परकृति और पुराकल्प की गणना अर्थवाद में करना व्यर्थ है। वैसा विवरण विधि के विषय में कोई अनुकूल-प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता।

समाधान—परकृति पुराकल्प की अर्थवाद में गणना करना युक्त है; क्योंकि किन्हीं स्तुतिवाक्यों अथवा निन्दावाक्यों के साथ इनका सम्बन्ध रहता है। विधि-सम्बन्धी किसी-न-किसी अर्थ को ऐसे सन्दर्भ अवश्य प्रकाशित करते हैं; अतः ब्राह्मण-ग्रन्थों के अर्थवाद-वाक्यों में इनकी गणना उपयुक्त है ॥ ६४ ॥

'अनुवाद' का स्वरूप—तीसरे प्रकार के ब्राह्मण-सन्दर्भ 'अनुवाद' कहे-जाते हैं। सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया—

विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः ॥ ६५ ॥ (१२६)

[विधिविहितस्य] विधि-विहित अर्थ का [अनुवचनम्] पुनः कथन करना (किसी प्रयोजन से), [अनुवादः] अनुवाद (नामक विभाग है ब्राह्मण-ग्रन्थों का)।

विधिविहित पदार्थ का—विधान के अनन्तर किसी प्रयोजन से—कथन करना 'अनुवाद' है। जैसे— "दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत"[1] इस वाक्य से दर्शयाग और पौर्णमासयाग का विधान कियागया है। इसके अनन्तर कहागया है—"एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी यद्दर्शपूर्णमासौ, य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासौ यजते, ताभ्यामेव सुवर्गं लोकमनुपश्यति"[2] स्वर्ग की चाहनावाला व्यक्ति दर्श-पूर्णमास याग करे। इस विधि के अनन्तर उसकी विशेषता अभिव्यक्त करने के प्रयोजन से 'एते वै संवत्सरस्य' इत्यादि सन्दर्भ पूर्वोक्त का अनुवाद है।

"बहिष्पवमानं नाम स्तोत्रं गायन्त ऋत्विजो धावन्ति, यथा लोके पराजित्य पलायन्ते तद्वत्।"

ज्योतिष्टोम याग के प्रातःसवन-अनुष्ठान में ऋग्वेद आदि की गायत्री छन्द में पठित निर्धारित ऋचाओं से जो स्तुतिगान कियाजाता है, उसका नाम 'बहिष्पवमान' स्तोत्र है।

बहिष्पवमान स्तोत्र को गाते हुए ऋत्विज वेदि से बाहर की ओर इस तरह भागते हैं, जैसे लोक में पराजित होकर पुरुष भागा करते हैं। सम्भवतः वेदि से बाहर की ओर जाकर गाने के कारण इस स्तोत्र का नाम 'बहिष्पवमान' है।

१. तुलना करें, तै० सं० २।५।४।१॥ (स त्वै दर्शपूर्णमासौ यजेत)।

२. तै० सं० २।५।६।१॥

यह अनुवाद दो प्रकार का है। एक–विधिवाक्य को उन्हीं शब्दों द्वारा दुहरादेना। यह 'शब्दानुवाद' कहाजाता है। दूसरा–'अर्थानुवाद' है, जिसमें शब्दों को न दुहराकर विहित अर्थ का कथन होता है। लोक में जैसे पुनरुक्त दो प्रकार का होता है, ऐसे अनुवाद भी। 'अनित्यः अनित्यः' यह शब्दपुनरुक्त है; 'अनित्यः विनाशी' यह अर्थपुनरुक्त। ऐसे वैदिक साहित्य में अनुवाद दोनों प्रकार का है। शब्दानुवाद पूर्वोक्त सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। "दर्शपूर्णमासौ यजेत" यह विधि है। इस विधि को प्रयोजनवश शब्दों द्वारा "एते वै संवत्सरस्य···य एवं विद्वान्···' इत्यादि सन्दर्भ से दुहराया है। विहित अर्थ के पुनः कथन का उदाहरण इसप्रकार समझना चाहिए —'अग्निहोत्रं जुहोति' यह एक विधान किया। इस विहित अग्निहोत्र के दधि–साधन को बताने के लिए जब इसका पुनः कथन कियाजाता है–'दध्ना जुहोति' यह अर्थानुवाद अथवा विहितानुवाद है।

अनुवाद का प्रयोजन—विहित का अनुवाद क्यों कियाजाता है, इसके तीन मुख्य प्रयोजन होते हैं। १. विहित को लक्ष्यकर उसकी स्तुति का बताना; २. निन्दा बताना; ३. विधिशेष का कथन करना। स्तुति और निन्दा के उदाहरण पहले दिये जाचुके हैं–'सर्वजित्ता वै देवाः' 'स एष वाव प्रथमो यज्ञः' इत्यादि। विधिशेष का उदाहरण 'दध्ना जुहोति' विहितानुवाद के रूप में प्रथम दियागया है। सामान्य अग्निहोत्र का 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' विधान करके शेषविधि के रूप में उसके साधन-द्रव्य दधि के विधान के लिए यह है। साधन-द्रव्य के विना होम सम्भव नहीं, अतः यह दधि का विधान मुख्य अग्निहोत्र-विधि का शेष है।

इनके अतिरिक्त विहितानुवाद के अन्य प्रयोजन भी कल्पना कियेजासकते हैं। उनमें एक यह है, मुख्य विधि-निर्देश के अनन्तर उसमें अनुष्ठेय अवान्तर विधियों का कथन। अनन्तर आनेवाली प्रत्येक अवान्तर विधि के निर्देश के साथ विहितानुवाद होता रहता है। जैसे–सोमयाग विहित है–'सोमेन यजते' दर्श–पौर्णमास भी विहित है–'दर्शपौर्णमासाभ्यां यजेत'। इनमें आनन्तर्य बताने के लिए इनका अनुवाद कियाजाता है–'दर्शपौर्णमासाभ्यामिष्ट्वा सोमेन यजेत' इत्यादि। अन्य उदाहरण देखें–'तरसाः सवनीयाः पुरोडाशा भवन्ति' यह सवनीय पुरोडाश का विहितानुवाद है, इसमें तरसत्व [–विशिष्ट वानस्पत्य रसमिश्रण] के नियम के लिए। सवनीय पुरोडाश 'तरस' विशिष्ट वनस्पतियों के रस से मिश्रित होने चाहिएँ; इस व्यवस्था के विधान के लिए यह विहितानुवाद है।

लोक में भी–विधि, अर्थवाद, अनुवाद–तीन प्रकार के वाक्यों का प्रयोग देखाजाता है–'ओदनं पचेत्, ग्रामं गच्छेत्' इत्यादि विधिवाक्य हैं। 'आयुर्वर्चो बलं सुखं प्रतिभानं चान्ने प्रतिष्ठितम्, आयुर्वै घृतम्, आपोमयः प्राणः' इत्यादि अर्थवादवाक्य हैं। 'पचतु पचतु भवान्, लिखतु लिखतु भवान्' इत्यादि अनुवाद-वाक्य हैं; इनमें क्रियापद का अभ्यास है। यह कार्य में शीघ्रता करने, प्रोत्साहन

देने तथा अवधारण के लिए कियाजाता है। जैसे लौकिक वाक्यों में विविध प्रकार से अर्थग्रहण कराने के कारण प्रमाणता का निश्चय है; ऐसे ही वैदिक वाक्य-विभाग के साथ अर्थबोध कराने से प्रमाण हैं। इसप्रकार शब्द का प्रामाण्य सुनिश्चित होता है ॥ ६५ ॥

अनुवाद-पुनरुक्त एकसमान—शिष्य पुनः आशंका करता है—

नानुवादपुनरुक्तयोर्विशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः ॥ ६६ ॥ (१२७)

[न] नहीं [अनुवादपुनरुक्तयोः] अनुवाद और पुनरुक्त में [विशेषः] भेद, [शब्दाभ्यासोपपत्तेः] शब्द का अभ्यास—पुनः कथन होने से (दोनों जगह= अनुवाद और पुनरुक्त में)।

अनुवाद और पुनरुक्त दोनों में शब्द का अभ्यास समान रहता है। अभ्यस्त शब्द का अर्थ भी उभयत्र जानाजाता है। तब यह कहना अयुक्त है कि अनुवाद संगत और पुनरुक्त असंगत होता है। दोनों का प्रकार समान होने से दोनों को युक्त मानाजाय; अथवा दोनों को अयुक्त मानाजाय ॥ ६६ ॥

अनुवाद-पुनरुक्त भिन्न हैं—आचार्य सूत्रकार आशंका का समाधान करता है—

शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः ॥ ६७ ॥ (१२८)

[शीघ्रतरगमनोपदेशवत्] अतिशीघ्र जानेकेलिए उपदेश के समान [अभ्यासात्] अभ्यास—पुनः उच्चारणमात्र की समानता—से, अथवा अभ्यास से—पुनरुक्त से [न] नहीं है [अविशेषः] अभेद—समानता (अनुवाद का)।

अनुवाद—पुनरुक्त दोनों में केवल शब्द दुहराने की समानता से इन्हें अभिन्न समझना ठीक नहीं है। अथवा सूत्र में 'अभ्यास'-पद 'पुनरुक्त' के लिए प्रयुक्त हुआ है। तब सूत्रार्थ होगा—पुनरुक्त से अनुवाद का अभेद नहीं है। परन्तु इस अर्थ में हेतु अनिर्दिष्ट रहता है; अतः सूत्रार्थ का पहला प्रकार उपयुक्त है। अभ्यास से अर्थात् शब्द के पुनः उच्चारणमात्र की समानता से अनुवाद और पुनरुक्त का अभेद मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः सूत्र के हेतु-पद—'अभ्यासात्' का अर्थ 'सार्थक अभ्यास' समझना चाहिए। ऐसा भाव सूत्रगत उदाहरण से अभिव्यक्त होता है। अनुवाद और पुनरुक्त में अभेद इसीकारण नहीं है, क्योंकि अनुवाद में शब्द का अभ्यास सार्थक होता है, पुनरुक्त में निरर्थक। जाने में शीघ्रता करने के लिए 'शीघ्रं शीघ्रं गम्यताम्'—'जल्दी-जल्दी चलो' कहाजाता है। यहाँ 'चलना' क्रिया में अतिशय लाने के प्रयोजन से 'शीघ्र' पद का पुनः उच्चारण है, अतः यह अनुवाद है, पुनरुक्त नहीं। जहाँ शब्द का पुनः उच्चारण निरर्थक होगा, वह पुनरुक्त होगा।

लोक में अनेक प्रयोजनों से ऐसा व्यवहार बराबर होता रहता है। 'पचति-पचति' कहने से यह भाव प्रकट होता है कि वह निरन्तर पकाता रहता है; क्रिया में कोई व्यवधान नहीं आपाता। इसीप्रकार 'ग्रामो ग्रामो रमणीयः' गाँव-गाँव रमणीय है; तात्पर्य है, प्रत्येक ग्राम रमणीय है; सर्वत्र ग्रामों में रमणीयता व्याप्त है। 'परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः'– त्रिगर्त देशों से परे वर्षा हुई है। त्रिगर्तदेशों को बिल्कुल बचागई है। यहाँ 'परि' पद का अभ्यास त्रिगर्त देशों के सर्वथा परिवर्जन को अभिव्यक्त करता है। त्रिगर्त में बूंद नहीं पड़ी, दूर-दूर बरसगया है। 'अध्यधि कुड्यं निषण्णम्'–दीवार के बिल्कुल पास रक्खा है। यहाँ 'अधि'-पद का अभ्यास सामीप्य[1] अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इसीप्रकार 'तिक्त तिक्तम्' यह प्रयोग वस्तु एवं व्यक्ति के प्रकार को अभिव्यक्त करता है। किसी पदार्थ के विषय में कहने पर तात्पर्य है–यह तीखा-ही-तीखा है, बहुत तीखा है। क्रोधी व असहनशील व्यक्ति के विषय में कहने पर उसके स्वभाव-प्रकार को बतलाता है। लोक में ऐसे व्यक्ति को प्रायः कहाजाता है–यह बड़ा कड़वा है। दो वार उच्चारण में–"तीखा ही तीखा है; कड़वा ही कड़वा है" ऐसे प्रयोग प्रायः होते रहते हैं। ऐसे प्रयोगों का–विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करना–प्रयोजन होने से इन्हें निरर्थक नहीं मानाजाता। अतः ये पुनरुक्त न होकर अनुवाद की कोटि में आते हैं। इसीप्रकार वैदिक सन्दर्भों में अनुवाद-वाक्य हैं, जो स्तुति, निन्दा, शेषविधियों में अधिकार व आनन्तर्य आदि प्रयोजनों को अभिव्यक्त करने के कारण सार्थक होने से प्रमाण हैं ॥ ६७ ॥

वेद-शब्दप्रामाण्य में अन्य साधन—शिष्य जिज्ञासा करता है, शब्द प्रमाण के प्रतिषेध के लिए उठाई गई आपत्तियों का पूर्ण समाधान करदियागया, क्या इसीकारण शब्द का प्रामाण्य स्वीकार करलेना चाहिये ? अथवा उसके लिए और भी कोई साधन हैं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया, और भी साधन हैं; सुनो—

**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्त-
प्रामाण्यात् ॥ ६८ ॥** (१२६)

[मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्] मन्त्रप्रामाण्य, आयुर्वेदप्रामाण्य के समान [च] और [तत्प्रामाण्यम्] वेद का प्रामाण्य है, [आप्तप्रामाण्यात्] आप्तप्रामाण्य से।

किसी विषय का साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति आप्त होता है। शब्द-प्रमाण के लक्षण-सूत्र [१ । १ । ७] की व्याख्या में कहागया है कि आप्त का यह लक्षण ऋषि, आर्य, म्लेच्छ आदि मानवमात्र के लिए समान है। आप्तों का आप्त परमात्मा

---

१. यहां निर्दिष्ट प्रयोगों की साधुता के लिए द्रष्टव्य–अष्टाध्यायी, ८ । १ । ४–७ ॥

है, जो अनन्त विश्व का सार्वदिक साक्षात्कृतधर्मा है। ऐसे व्यक्ति का कहा हुआ शब्द प्रमाण होता है। इसीके अनुसार सूत्र में 'आप्तप्रामाण्यात्' हेतु दिया है। आप्तोक्त वाक्यों के प्रमाण मानेजाने के कारण समस्त ऐसा शब्द-प्रमाण है, जो आप्त द्वारा कथित है। सूत्र के 'तत्प्रामाण्यम्' पद में 'तत्' सर्वनाम से समस्त वेद का ग्रहण होता है। उक्त हेतु के आधार पर उसको सिद्ध करना अपेक्षित है। इसकेलिए सूत्र में दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं–'मन्त्रप्रामाण्यवत्' तथा 'आयुर्वेदप्रामाण्यवत्'।

'मन्त्रप्रामाण्य' पद का विवरण—पहले उदाहरण 'मन्त्रप्रामाण्यवत्' के 'मन्त्र' पद का अर्थ–प्रायः जादू-टोना आदि के रूप में उच्चरित शब्द–कियाजाता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है–'मन्त्रपदानां च विषभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभावः।' विष-(ज़हर)-रूप वज्र का प्रतिषेध (रोकना) जिनका प्रयोजन है, ऐसे 'मन्त्र'-पदों का प्रयोग करने पर वैसा प्रयोजन सिद्ध होजाता है; अर्थात् मन्त्रप्रयोग से विष का प्रभाव रुकजाता या दूर होजाता है।

'मन्त्र' पद की यह व्याख्या पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होती। जादू-टोने के रूप में स्यानों के द्वारा जो पद या वाक्य उच्चरित होते हैं, वे सर्वथा मनघड़न्त व पूर्णरूप से असंस्कृत होते हैं। फिर ऐसे प्रसंगों में निश्चितरूप से यह कहना कठिन है कि तात्कालिक कष्ट के दूर होने में उन पदों का साक्षात् प्रभाव होता है। वहाँ यह अधिक मान्य व संगत होसकता है कि प्रयोक्ता के मनोबल से प्रयोज्य पर मानसिक प्रभाव होकर तात्कालिक कष्ट दूर होजाता हो। विष के प्रसंग में तो जादू-टोने का प्रयोग असफल ही देखागया है। ऐसे जादू-टोने के मनघड़न्त ऊटपटाँग पदों के कल्पित तथाकथित प्रामाण्य के आधार पर वेद-शब्द के प्रामाण्य को सिद्ध करना उपहास्य प्रतीत होरहा है।

वात्स्यायन के पाठ में 'विष' पद के स्थान पर हमारी गुरुपरम्परा में 'विषय' पद बतायाजातारहा है। भाष्य के उपलब्ध पाठ की व्याख्या के कोई संकेत इस सूत्र के न्यायवार्त्तिक व तात्पर्यटीका आदि में उपलब्ध नहीं हैं।[1] इसके

---

१. इससे यह सन्देह कियाजासकता है कि कदाचित् यह पंक्ति भाष्य के मूल पाठ में न रही हो। कालान्तर में किसी विद्वान् ने अध्यापन के समय अपनी भावना के अनुसार सूत्र के 'मन्त्र' पद का यह अर्थ छात्रों की हस्तलिखित पुस्तकों के हाशिये [प्रान्त] पर लिखवादिया हो, जो सामयिक लोक-व्यवहार के अनुसार सुगम व उपयोगी समझा जाकर अनायास स्वीकार करलियागया; पूर्व-पुस्तकों से अन्य प्रतिलिपि होने पर मूल में अन्तर्निविष्ट करदियागया। इसमें यह भी एक उपोद्बलक सम्भव है–सूत्र में 'मन्त्र' पद प्रथम पठित है; परन्तु भाष्यकार ने व्याख्या आयुर्वेद के प्रामाण्य से प्रारम्भ की है, आगे उसीका विशद विवरण है।

साथ ऐसे संकेत इन व्याख्याग्रन्थों में उपलब्ध हैं, जिनसे यह प्रकट होता है कि 'मन्त्रप्रामाण्यवत्' का अर्थ–मन्त्र के एकदेश के प्रामाण्य के समान–ऐसा समझना चाहिये। 'मन्त्र' पद से तात्पर्य 'वेद' है। वेद के एकदेश के प्रामाण्य से समस्त वेद का प्रामाण्य सिद्ध होता है। वेद का ऐसा एकदेश वह है, जो दृष्टफल है, अर्थात् जिसका फल इसी जन्म में प्राप्त होजाता है। उसके उदाहरण के लिए व्याख्याकारों ने–'ग्रामकामो यजेत, पुत्रकामो यजेत' इत्यादि का उल्लेख किया है। ये वैदिक अनुष्ठान दृष्ट फलवाले हैं।

इस विचार के अनुसार वात्स्यायनभाष्य की उस पंक्ति का संगत अर्थ होजाता है. यदि वहाँ 'विष' पद के स्थान पर 'विषय' पाठ मानाजाता है। तब भाष्यपंक्ति होगी–'मन्त्रपदानां च विषयभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य तथाभावः, एतत् प्रामाण्यम्।' मन्त्रपदों के प्रयोग होने पर उनके प्रयोग के फल का वैसा ही होजाना, यह उनका प्रामाण्य है। उनका प्रयोग और उसका फल क्या है? उन मन्त्रपदों में जो अनुष्ठेय प्रतिपादित है, उसके अनुष्ठान पर वैसा फल मिलजाना। वह है–सांसारिक विषयभोगरूपी अशनि [वज्रप्रहार–बिजली गिरना जैसे महान् कष्ट] का प्रतीकार। अनेक मन्त्रपदों[1] में विवेक-वैराग्य, योगसमाधि आदि प्रयोजन की सिद्धि के लिए उपदेश है; उसका प्रयोग-अनुष्ठान करने पर व्यक्ति निःसन्देह उस स्थिति को प्राप्त करलेता है। उस सफलता से उसका प्रामाण्य सिद्ध होजाता है। वेद के उतने भाग का प्रामाण्य सिद्ध होजाने पर उसीके अनुसार शेष के प्रामाण्य का अनुमान करलियाजाता है। यही स्थिति 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि की सफलता पर पुष्ट होती है। इनके प्रामाण्य से समस्त वेद का प्रामाण्य निश्चित होता है।

प्राचीन व्याख्याग्रन्थों में 'मन्त्रप्रामाण्य' की पृथक् स्वतन्त्र व्याख्या नहीं है। 'मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवत्' का विवरण इस रीति पर दियागया है, जैसे उन व्याख्याकारों ने इसको एक उदाहरण माना हो। उसके अनुसार प्रस्तुत पद की व्याख्या इसप्रकार होनी चाहिये–'मन्त्रगत आयुर्वेद के प्रामाण्य के समान'। मन्त्र का तात्पर्य 'वेद' है; वेद के अन्तर्गत जो आयुर्वेद- भाग है, उसके अनुसार कार्यानुष्ठान से अनुकूल फल की प्राप्ति होजाती है। इससे उतने वेदभाग का प्रामाण्य सिद्ध होने पर 'आप्तप्रामाण्य' हेतु को बल मिलता है; उसके आधार पर समस्त वेद का प्रामाण्य निश्चित होजाता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने सम्भवतः इसीकारण आयुर्वेद के प्रामाण्य से सूत्रार्थ का प्रारम्भ किया है।

आयुर्वेद में यह उपदेश कियागया है–ऐसा आचरण करके अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है, और इन-इन बातों को छोड़कर अनिष्ट से बचाजासकता है।

१. देखें–ऋ० ५। ८१। १॥ यजु० ११। १-३॥

उन उपदेशों का यथायथ पालन करने पर वैसा फल प्राप्त होता है, यह उन उपदेशों की यथार्थता है; यही उनका प्रामाण्य है। इसमें 'आप्तप्रामाण्य' हेतु है। उसका उपदेष्टा आप्त है, यह उपदेश के प्रामाण्य में कारण है। आप्त के प्रामाण्य का आधार है–"साक्षात्कृतधर्मा होना, (१) प्राणियों के प्रति दयाभाव होना, (२) साक्षात्कार से जाने हुए वस्तु के यथार्थस्वरूप को प्रकट करने की इच्छा होना (३)।"

'आप्त'-पद-विवरण—आप्त वे व्यक्ति होते हैं, जिन्होंने उस विषय का साक्षात्कार किया होता है। यह छोड़ने योग्य है, क्योंकि यह हानि का हेतु है; यह प्राप्त करने योग्य है, इसकी प्राप्ति के साधन ये हैं; इसप्रकार सब प्राणियों पर जो दयाभाव रखते हैं। स्वयं साधारण प्राणी इन सचाइयों को नहीं जानपाते; उपदेश के अतिरिक्त और कोई साधन उनको तथ्य का ज्ञान कराने के लिए नहीं है; जब तक व्यक्ति किसी सचाई को जानता नहीं, तबतक उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति का होना सम्भव नहीं; विना प्रवृत्ति आदि के कल्याण की आशा रखना व्यर्थ होता है। अन्य कोई उपकारक इनका है नहीं; तब हमारा यह कर्त्तव्य है–हमने जैसा जाना है, और जो सचाई है, उसका उपदेश करें। साधारण जन उसको सुनकर सचाई को समझ सकेंगे; छोड़ने योग्य को छोड़ेंगे, तथा प्राप्त करने योग्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। इन भावनाओं से आप्त व्यक्तियों द्वारा यथार्थ का उपदेश कियाजाता है। ये तीन बातें हैं, जो आप्तों के प्रामाण्य का आधार हैं। उसके अनुसार कियागया अनुष्ठान अभीष्ट अर्थका साधक होता है; इसी आधार पर आप्त एवं आप्तोपदेश को प्रमाण मानाजाता है।

इस दृष्टफलवाले वेदैकदेश आयुर्वेद के प्रामाण्य से अदृष्ट फलवाले वेदभाग के प्रामाण्य का यथार्थ ज्ञान करलियाजाता है; क्योंकि आप्तप्रामाण्य-हेतु उभयत्र समान है। वेद का अन्य एक भाग–जो 'ग्रामकामो यजेत' इत्यादि अनुष्ठानों का मूल है, दृष्टफलवाला है; उससे भी शेष समस्त वेद के प्रामाण्य का बोध होजाता है। समस्त वेद का उपदेष्टा एकमात्र चेतन-तत्त्व परमात्मा है। जब उसके किसी एक भाग का प्रामाण्य निश्चित है; तब समस्त वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती।

लोक में बहुत व्यवहार तथ्य के उपदेश पर आश्रित रहता चला करता है। वहाँ पर भी पूर्वोक्त आप्तविषयक तीनों परिस्थितियों अथवा भावनाओं का होना आवश्यक रहता है, तभी वे उपदेश प्रमाण मानेजाते हैं। एकप्रकार से उनका मूल वेद को समझना चाहिये; क्योंकि आयुर्वेद तथा अन्य लौकिक शास्त्रों के प्रवक्ता वे ही ऋषि, मुनि, आचार्य होते हैं, जो वेदों के द्रष्टा हैं। इसप्रकार आयुर्वेदादि दृष्ट फलवाले शब्द-प्रामाण्य के समान वेद-शब्द का प्रामाण्य निर्बाध होजाता है।

आशङ्का—वेद-शब्दों का प्रामाण्य आप्तोक्त होने से बताया गया। वेद प्रमाण है, क्योंकि वह आप्त का उपदेश है। यह अनावश्यक है, वेद तो नित्य होने से प्रमाण मानाजासकता है।

समाधान—किसी शब्द का प्रामाण्य, उसके द्वारा उपयुक्त अर्थ का बोध कराने में निहित है। नियत अर्थ का वाचक होने से उस अर्थज्ञान में शब्द का प्रामाण्य है। शब्द के नित्य होने से उसका प्रामाण्य बताना असंगत है। यदि शब्द से अर्थ का बोध होने में उसका नित्य होना आधार हो, तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध होजाना चाहिये। यह सर्वथा आपत्तिजनक है; ऐसा मानने पर समस्त शब्दार्थ-व्यवस्था अनुपपन्न होजायगी। इसलिए शब्द के प्रामाण्य का प्रयोजक शब्द का नित्य होना नहीं मानाजासकता।

आशङ्का—शब्द को अनित्य मानने पर शब्द की वाचकता–अर्थबोधकता सम्पन्न न होसकेगी; क्योंकि किसी पद का उच्चारण करने पर पदगत वर्णों का क्रमिक उच्चारण होता है; ऐसे क्रमिक उच्चरित पदों से वाक्य बनता है। ऐसी स्थिति में जो वर्ण या पद उच्चरित होगये वे नष्ट होगये, जो शेष हैं उनका उच्चारण अभी हुआ नहीं। अर्थबोधकता न उतने उच्चरित अंश में है, और न आगे उच्चारण कियेजानेवाले अंश में। इसप्रकार शब्द को अनित्य मानकर शब्द में अर्थबोधकता सम्पन्न न होपायेगी। क्योंकि अर्थबोधक पद या वाक्य उच्चारण के रूप में कभी संघटित नहीं होता; और वही अर्थ का बोधक होता है। शब्द के नित्य मानेजाने पर यह बाधा न होगी; क्योंकि तब शब्द के स्थायी होने से शब्द का संघटन सम्भव होगा, और वह अर्थ का बोध करा देगा। अतः वेद-शब्द का प्रामाण्य उसके नित्य होने से स्वीकार करना चाहिये।

समाधान—यदि वेद-शब्द नित्य होने से अर्थ के बोधक मानेजाते हैं, तो लौकिक शब्दों से अर्थ-बोध न होना चाहिये। परन्तु लौकिक शब्दों से उसीप्रकार अर्थ-बोध होता है, जिसप्रकार वैदिक शब्दों से। अतः शब्द से अर्थ-बोध होने में 'नित्यत्व' हेतु अनैकान्तिक है। लौकिक शब्द में नित्यत्व न होने पर उससे अर्थ-बोध होजाता है।

आशङ्का—लौकिक शब्दों को भी नित्य मान लेना चाहिये। तब हेतु अनैकान्तिक न होगा।

समाधान—यदि लौकिक शब्द नित्य होने से प्रमाण मानेजायें; तो अनाप्त व्यक्ति का उपदेश भी प्रमाण मानाजासकेगा,। जो सर्वथा अनिष्ट एवं अवाञ्छनीय है।

आशङ्का—अनाप्त के उपदेश–शब्द को अनित्य मानलियाजायगा; इसलिए उसके प्रामाण्य की सम्भावना नहीं रहेगी।

समाधान—यह तो अपने घर की मनमानी होगई–किसी शब्द को नित्य मानो, किसीको अनित्य। अनाप्त का शब्द अनित्य है और आप्त का नित्य, इसमें क्या प्रमाण है ? किसी हेतु से यह सिद्ध नहीं कियाजासकता कि अनाप्त का उपदेशरूप लौकिक शब्द अनित्य है, और आप्त का नित्य; जबकि शब्द की स्थिति में कभी किसी प्रकार का कोई अन्तर नहीं होता। इसलिए शब्द के प्रामाण्य का हेतु उसका नित्य होना नहीं है।

आशङ्का—तब शब्द के प्रामाण्य का हेतु क्या मानना चाहिये ?

समाधान—प्रत्येक शब्द किसी विशिष्ट अर्थ का बोध कराने में नियत है। इस नियम व व्यवस्था का मूल आधार ईश्वरेच्छा है। क्योंकि लोक में शब्दार्थ-व्यवस्था सर्वप्रथम वेदानुसार अवतरित हुई।[1] वेद ईश्वरोपदेश है, जो सर्वोच्च सर्वाङ्गपूर्ण महान् आप्त है। अनन्तर शब्दशास्त्र में निष्णात आभिधानिक आचार्यों द्वारा शब्दार्थव्यवस्था के लिए संकेत समयानुसार निर्धारित कियेजातेरहे हैं। यह क्रम आवश्यकतानुसार सदा चालू रहता है। इसमें बहुत बड़ी देन लोकव्यवहार की है। सर्वसाधारण जनता के द्वारा विशिष्ट अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए दैनिक व्यवहार में प्रयुक्त शब्दों का कलेवर–यथाकाल यथापेक्ष परिवर्त्तित होते रहने पर भी–उतने समय की स्थायिता के अनुसार विशिष्ट अर्थ का बोध कराने में नियत रहता है। अर्थ और शब्द के वाच्य-वाचकभाव का यह नियम शब्दार्थव्यवस्था को सन्तुलित रखता है। इसलिए शब्द के प्रामाण्य में आप्तोपदेश निर्दोष हेतु है; शब्द का नित्य होना नहीं।

वेद का नित्यत्व, शब्द या ध्वनि के नित्यत्व पर आधारित नहीं है। प्रत्युत मन्वन्तर और युगान्तरों के अतीत और अनागत कालों में वेद का सम्प्रदाय, वेद का अभ्यास, वेद का प्रयोग निरन्तर रहता है; उसकी आनुपूर्वी में कोई व्यवच्छेद–विपर्यय–उलट-पलट नहीं होता। यही वेद का नित्यत्व है। आप्तप्रामाण्य से उसका प्रामाण्य है। लौकिक शब्दों में भी प्रामाण्य का वही आधार है ॥ ६८ ॥

इति गौतमीयन्यायदर्शनस्य विद्योदयभाष्यविभूषिते
द्वितीयेऽध्याये प्रथममाह्निकम्।

---

१. द्रष्टव्य मनुस्मृति [१ । २१]—
सर्वेषां तु स नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक्संस्थाश्च निर्ममे ॥
उस परमात्मा ने सर्गादि काल में सब पदार्थों के नाम उनक पृथक्-पृथक् कार्य तथा लौकिक व्यवस्थाओं को वेद शब्दों से ही एवं वेदशब्दानुसार बनाया।

अथ द्वितीयाऽध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

प्रमाण-संख्या परीक्षा—प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों की परीक्षा गत आह्निक में कीगई। उद्देश सूत्र [१।१।३] में चार प्रमाणों का उल्लेख है। शिष्य आशंका करता है, प्रमाणों की चार संख्या मानाजाना यथार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐतिह्य आदि अन्य प्रमाण सुनेजाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्यों की आशंका को सूत्रित किया—

न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाऽभावप्रामाण्यात् ॥ १ ॥ (१३०)

[न] नहीं [चतुष्ट्वम्] चार होना (प्रमाणों का, क्योंकि इनके अतिरिक्त) [ऐतिह्यार्थापत्तिसम्भवाऽभावप्रामाण्यात्] ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव के प्रमाण होने से।

प्रमाण आठ होने चाहियें—उद्देश-सूत्र में चार प्रमाणों का निर्देश ठीक नहीं है; क्योंकि उनसे अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव एवं अभाव, ये चार प्रमाण और हैं। तब प्रमाण आठ मानेजाने चाहियें। इनका निर्देश न किया-जाना उद्देश-सूत्र में न्यूनता है।

ऐतिह्य—ऐसे पुराने प्रवादों (–कथानकों) की परम्परा का नाम 'ऐतिह्य' है, जिसके प्रथम प्रवक्ता का निर्देश कियाजाना शक्य नहीं होता। लोग ऐसा कहते चले आये हैं–इसीरूप में वे परम्परा प्रचलित रहती हैं।

अर्थापत्ति—वह प्रमाण है, जहाँ एक कथन से न कहा हुआ अर्थ प्राप्त होजाता है, अर्थात् जानलियाजाता है। किसी ने कहा–'पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते'–देवदत्त मोटा-ताज़ा तन्दुरुस्त है, पर दिन में खाना नहीं खाता। इस कथन से यह जानलियाजाता है कि जब देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता, और ठीक तन्दुरुस्त है, तो अवश्य रात में खालेता है। 'रात्रिभोजन' कहा नहीं गया; पर पहले कथन से इसका बोध होजाता है। बोध-ज्ञान-प्रमा का साधन प्रमाण है। तब अर्थापत्ति को प्रमाण मानना आवश्यक है। अर्थापत्ति के अनेक उदाहरण लोकव्यवहार में प्रयुक्त होतेरहते हैं। किसीने कहा–बादलों के न रहने पर वर्षा नहीं होती। इससे जानागया–बादलों के होने पर वर्षा होती है। आजकल तो आप ग़ाज़ियाबाद रहते हैं। इससे ज्ञात हुआ–कुछ समय पूर्व कहीं अन्यत्र रहते थे, इत्यादि।

सम्भव—वह प्रमाण है, जहाँ किसी ऐसे अर्थ का बोध हो, जिसके विना अन्य अर्थ का सद्भाव सम्भव न हो। एक सेर भार के कहने पर उसमें पाव-

भर भार के अस्तित्व का बोध अवश्य होजाता है; क्योंकि पाव-भर भार के सद्भाव के विना सेर भार का सद्भाव सम्भव नहीं होता। धड़ी कहने से अथवा एक धड़ी भार के सद्भाव का ग्रहण होने से सेर भार की सत्ता का ग्रहण हो-जाता है[1]। इसप्रकार सम्भव से अर्थज्ञान होने के कारण उसे प्रमाणों में गिनना आवश्यक है।

अभाव—से विरोधी अर्थ का ज्ञान होजाता है। बादल गहरे उठे हैं, पर वर्षा नहीं होरही। वर्षा की अविद्यमानता–वर्षा का न होना अपने विरोधी अर्थ का ज्ञान करा देता है। पुरोवात [MONSOON = मॉनसून] वर्षा के बादलों को तैयार करता है, बादल गहरे होआते हैं। पर 'विधारक-वात' के प्रबल होने पर वर्षा नहीं होपाती। बादलों के साथ इस 'वात' का संयोग वर्षा का विरोधी होता है। बादलों के भारी होने पर भी यह पानी को नीचे नहीं गिरने देता। इसप्रकार अभाव अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिनाजाना चाहिए। फलतः प्रमाणों के उद्देश-सूत्र में जो केवल चार प्रमाणों का निर्देश है, वह अधूरा रहजाने से यथार्थ नहीं है ॥ १ ॥

प्रमाण केवल चार—आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान करते हुए कहा–यह ठीक है, ऐतिह्य आदि से किसी अर्थ का ज्ञान होने के कारण ये प्रमाण तो कहे जा सकते हैं, परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है। क्योंकि—

शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेऽर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्था-न्तरभावाच्चाप्रतिषेधः ॥ २ ॥ (१३१)

[शब्दे] शब्दप्रमाण में [ऐतिह्यानर्थान्तरभावात्] ऐतिह्य का अन्तर्भाव होने से [अनुमाने] अनुमान-प्रमाण में [अर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावात्] अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव का अन्तर्भाव होने से [च] और [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध (उद्देशसूत्रगत प्रमाणनिर्देशविषयक आशंका) ठीक नहीं है।

ऐतिह्य आदि का शब्द आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव—ऐतिह्य, शब्दप्रमाण से भिन्न नहीं है। शब्द का जो लक्षण कियागया है–'आप्तोपदेशः शब्दः'। ऐतिह्य आप्त का उपदेश है, यह असम्भावित नहीं है। इसमें केवल इतना अन्तर है–ऐतिह्य में प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता। परन्तु इतने से उसके आप्तोपदेश होने में कोई सन्देह की बात नहीं है। इसलिए ऐतिह्य को–शब्दरूप होने से–पृथक् नहीं पढ़ागया।

---

१. वात्स्यायन-भाष्य में भार का निर्देश करने के लिए द्रोण, आढक और प्रस्थ का उल्लेख किया है। इनमें प्रस्थ–एक सेर, आढक–धड़ी (पाँच सेर), तथा द्रोण=धौंन (दस सेर) समझना चाहिए।

अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अनुमान के लक्षण से बाहर नहीं जाते। अनुमान में यही विशेषता है, कि प्रत्यक्ष अर्थ से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है। अर्थापत्ति में इसीप्रकार एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उस विरोधी अर्थ का ज्ञान होजाता है, जो कहा नहीं गया है। बात यह कही गई कि 'बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती।' इससे अकथित विरोधी अर्थ का ज्ञान हुआ—'बादलों के रहने पर ही वर्षा होती है। इसमें पहला कथन हेतु और दूसरा अकथित अर्थ साध्य है। यही अनुमान का स्वरूप है।

यही स्थिति सम्भव में है। दो सम्बद्ध पदार्थों में जो एक-दूसरे के विना नहीं होसकता, वह अपनी स्थिति से दूसरे के अस्तित्व का बोध करादेता है। समुदाय [द्रोण] समुदायी [प्रस्थ] के विना नहीं होसकता। यदि समुदाय का ग्रहण होरहा है, तो वह समुदायी के अस्तित्व का बोधक होता है; क्योंकि समुदायी के विना समुदाय हो नहीं सकता।

ऐसा ही अभाव में है। बादल गहरे होरहे हैं, पर वर्षा नहीं होरही। वर्षा का यह अभाव अपने विरोधी अर्थ के अस्तित्व का अनुमान कराता है। इसका प्रतिबन्धक विरोधी है—विधारक वायु का बादलों से संयोग। बादलों के रहने पर विधारक वायु बादलों से संयुक्त होकर वर्षा को नहीं होने देता। यहाँ वर्षा का अभाव अपने विरोधी प्रतिबन्धक के अस्तित्व का अनुमापक है। पुरोवात वर्षा लाता है, विधारकवात रोकता है। अभाव से ज्ञान होने का यह प्रकार अनुमान से भिन्न नहीं है। इसलिए ऐतिह्य आदि को प्रमाण भले कहाजाय; पर ये अतिरिक्त प्रमाण नहीं हैं। इन सबका शब्द एवं अनुमान में यथायथ अन्तर्भाव होजाता है। फलतः प्रमाणों के उद्देशसूत्र में प्रमाणविषयक निर्देश सर्वथा यथार्थ है ॥ २ ॥

अर्थापत्ति प्रमाण नहीं—शिष्य आशंका करता है—ठीक है, ये प्रमाणान्तर न हों, पर अर्थापत्ति को जो प्रमाण की श्रेणी में रक्खाजाता है, वह युक्त प्रतीत नहीं होता। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य के आशय को सूत्रित किया—

अर्थापत्तिरप्रमाणमनैकान्तिकत्वात् ॥ ३ ॥ (१३२)

[अर्थापत्तिः] अर्थापत्ति [अप्रमाणम्] प्रमाण नहीं है, [अनैकान्तिकत्वात्] अनैकान्तिक होने से।

अर्थापत्ति का उदाहरण दिया—बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती। यहाँ अर्थापत्ति से प्रमाणित हुआ—बादलों के रहने पर वर्षा होती है। यह कथन अनैकान्तिक—व्यभिचारी होने से दोषपूर्ण है; क्योंकि अनेक बार बादलों के रहने पर भी वर्षा नहीं होती। बादलों का होना-मात्र वर्षा होने के लिए आवश्यक नियम नहीं है। जैसे बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती, ऐसे अनेक

वार बादलों के होने पर भी वर्षा नहीं होती। अतः अर्थापत्ति को प्रमाण नहीं मानाजाना चाहिए ।। ३ ।।

अर्थापत्ति का प्रामाण्य—आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया, तुमने अर्थापत्ति के स्वरूप को ठीक समझा नहीं। सूत्रकार ने कहा—

अनर्थापत्तावर्थापत्त्यभिमानात् ।। ४ ।। (१३३)

[अनर्थापत्तौ] जो अर्थापत्ति नहीं है, उसमें [अर्थापत्त्यभिमानात्] अर्थापत्ति के अभिमान से (अर्थापत्तिविषयक आशंका निर्मूल है)।

अर्थापत्ति का जो उदाहरण दिया–बादलों के न होनेपर वर्षा नहीं होती, इसका तात्पर्य यही है कि कारण के न होनेपर कार्य नहीं होता। यहाँ अर्थापत्ति से बोध होता है–कारण के होने पर ही कार्य उत्पन्न होता है। दूसरा उदाहरण है–मोटा-ताज़ा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता। यहाँ भी मोटा-ताज़ा रहना कार्य है, भोजन उसका कारण है। कारण के विना कार्य नहीं होसकता; इस व्यवस्था के अनुसार भोजन के विना मोटा-ताज़ापन नहीं रहसकता। जब दिवा-भोजन का निषेध कियागया, तो उसके विरोधी रात्रिभोजन का अर्थापत्ति से ज्ञान होजाता है। इसप्रकार किसी कार्य की उत्पत्ति कारण के विना सम्भव नहीं होती। कोई कार्य अपने कारण की सत्ता का व्यभिचार नहीं करसकता। यह तभी सम्भव है, जब विना कारण के कार्य होजाता हो। पर ऐसा नहीं होता, अतः अर्थापत्ति में अनैकान्तिकता का दोष देना निराधार है।

यह जो कहागया–कारण के रहते कभी-कभी कार्य नहीं होता, ऐसी स्थिति उसी समय आती है, जब कार्योत्पत्ति का कोई प्रतिबन्धक कारण वहाँ उपस्थित हो। यह तो कार्योत्पत्ति के पूरे कारणों का उपस्थित न होना है। प्रत्येक कार्य के कारणों में एक कारण–प्रतिबन्धकाभाव होता है। प्रतिबन्धक की उपस्थिति में प्रतिबन्धकाभाव कारण के न रहने पर कारणसामग्री में न्यूनता होजाने से वहाँ कार्य उत्पन्न नहीं होता। ऐसी दशा में कार्य न होना, कारण का धर्म है; कारणविषयक परिस्थिति है। यह अर्थापत्ति का विषय नहीं है; अतः अर्थापत्ति में इससे कोई दोष नहीं आता।

यदि अर्थापत्ति का यह विषय नहीं है, तो अन्य क्या विषय है? अरे भोले! बताया तो सही, अर्थापत्ति का विषय है–कारण के होते हुए ही कार्य का उत्पन्न होना; यह कार्य का उत्पाद कारण के सद्भाव का कभी व्यभिचार नहीं करता। अर्थात् ऐसा कभी नहीं होता कि कारण के विना कार्य होजाय। यही अर्थापत्ति का विषय है। इससे स्पष्ट होजाता है–अर्थापत्ति के वास्तविक स्वरूप को न समझने के कारण उक्त आशंका उभारी गई। अब अर्थापत्ति का स्वरूप स्पष्ट होजाने पर उक्त आशंका का कोई अवकाश नहीं रहता। कारण

की विद्यमानता में जहाँ कार्य नहीं होता, वहाँ प्रतिबन्धक का सद्भाव स्पष्ट दिखाई देता है। उसकी सत्ता से नकार नहीं कियाजासकता। वह कारणधर्म है, अर्थापत्ति से उसका कोई सम्बन्ध नहीं ॥ ४ ॥

शिष्यों को सिखाने के लिए आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का प्रतिवन्दी[1] समाधान किया—

प्रतिषेधाप्रामाण्यं चानैकान्तिकत्वात् ॥ ५ ॥ (१३४)

[प्रतिषेधाप्रामाण्यम्] प्रतिषेध का अप्रामाण्य है [च] तथा, वैसे ही [अनैकान्तिकत्वात्] अनैकान्तिक होने से।

'अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, अनैकान्तिक होने से' यह प्रतिषेधवाक्य है। इस वाक्य से अर्थापत्ति के प्रामाण्य का प्रतिषेध कियागया; इससे अर्थापत्ति के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं हुआ। तात्पर्य है, इस प्रतिषेध का विषय अर्थापत्ति का सद्भाव नहीं है। फलतः अर्थापत्ति का अस्तित्व अक्षुण्ण बनारहा। अर्थापत्ति जब है, तो उसके प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं होता। फिर उसके प्रामाण्य का उपपादन गत सूत्र से करदियागया है। फलतः प्रतिषेध अपने लक्ष्य को पूरा न करने से अनैकान्तिक है, और इसीकारण वह अप्रमाण है। अप्रमाणभूत वाक्य से किसीका प्रतिषेध नहीं कियाजासकता ॥ ५ ॥

यदि आशंकावादी यह मानता है कि प्रत्येक वाक्य के अपने प्रतिपाद्य विषय नियत होते हैं; उसी विषय में व्यभिचार आदि दोष दिखाना वाक्य को दूषित कर सकता है। भिन्न विषय में दोष दिखाने से मूलवाक्य का कुछ नहीं बिगड़ता। प्रतिषेध-वाक्य का विषय अर्थापत्ति का प्रामाण्य है, उसका सद्भाव नहीं। सद्भाव को लक्ष्यकर उक्त वाक्य में दोष देना असंगत है। इस उट्टंकना पर सूत्रकार ने उसी रूप में उत्तर दिया—

तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्त्यप्रामाण्यम् ॥ ६ ॥ (१३५)

[तत्प्रामाण्ये] प्रतिषेध-वाक्य के प्रामाण्य में [वा] अथवा, भी [न] नहीं, [अर्थापत्त्यप्रामाण्यम्] अर्थापत्ति का अप्रामाण्य।

यदि उक्त प्रतिषेध का—अपने विषय में व्यभिचार न होने से—प्रामाण्य स्वीकार कियाजाता है, तो अर्थापत्ति का भी अपने विषय में व्यभिचार न होने

---

१. **वादी के द्वारा किसी विषय में उठाई गई आपत्ति, अथवा प्रस्तुत प्रतिषेध का उसीके दियेगये तर्क के अनुसार उसका उत्तर देना प्रतिबन्दी उत्तर कहाजाता है। प्रस्तुत प्रसंग में ऐसा ही उत्तर है। आशंकावादी ने अनैकान्तिक हेतु से अर्थापत्ति के प्रामाण्य का प्रतिषेध किया। उसके उत्तर में उसी हेतु से उक्त प्रतिषेध का अप्रामाण्य बताया।**

से अप्रामाण्य सिद्ध नहीं कियाजासकता। अर्थापत्ति का विषय है–कार्योत्पत्ति द्वारा अपने कारणों की सत्ता को न छोड़ना। तात्पर्य है, कोई कार्य अपने कारणों के सद्भाव में उत्पन्न होसकता है। जहाँ कारणों के सद्भाव में कार्योत्पत्ति का न होना बताकर अर्थापत्ति के प्रामाण्य में दोष दियागया है, वह असंगत है। क्योंकि वहाँ कार्य की अनुत्पत्ति कारणों के सम्पूर्ण न होने से रहती है। मेघ आदि कारण तो उपस्थित हैं, परन्तु कार्य को न होनेदेनेवाले प्रतिबन्धक की उपस्थिति में प्रतिबन्धकाभाव कारण का अभाव रहता है। प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्र में कारण मानाजाता है। उस दशा में कतिपय कारण–बादलों के रहने पर भी कुछ कारणों के न होने से वर्षा-कार्य नहीं होपाता। यह कारणों की न्यूनता कारण का धर्म है; अर्थापत्ति का विषय नहीं। यदि कारण के असद्भाव में कार्य उत्पन्न होजाय, तो अर्थापत्ति में अप्रामाण्य-दोष का आपादन कियाजासकता है। यह सम्भव न होने से अर्थापत्ति का प्रामाण्य अक्षुण्ण समझना चाहिये ॥ ३ ॥

अभाव का अप्रामाण्य—शिष्य आशंका करता है, अर्थापत्ति का प्रामाण्य समझ में आगया; परन्तु अभाव को प्रमाण कैसे स्वीकार कियागया? यह समझ नहीं आया। जो स्वतः अभाव है, वह प्रमाण कैसे होगा? शिष्य की भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः ॥ ७ ॥ (१३६)

[न] नहीं [अभावप्रामाण्यम्] अभाव का प्रामाण्य [प्रमेयासिद्धेः] उसके प्रमेय की सिद्धि न होने से।

अभाव का प्रामाण्य इसीकारण अस्वीकार्य है, क्योंकि उससे जानाजानेवाला कोई प्रमेय सिद्ध नहीं। जिसका ज्ञातव्य विषय नहीं, उसके ज्ञान-साधन का होना अनावश्यक व निराधार है। जहाँ भूतल आदि में घटादि का अभाव बतायाजाता है, वहाँ केवल भूतल आदि का ग्रहण होता है, और वह प्रत्यक्षादि का विषय है। ऐसी स्थिति में 'अभाव' नामक प्रमाण का मानना व्यर्थ है।

वस्तुस्थिति को देखाजाय, तो अभाव का बहुत-सा प्रमेय लोकसिद्ध है। यह केवल हठ व दुराग्रह से मानो कहागया है कि प्रमेय के न होने के कारण अभाव को प्रमाण न मानना चाहिये ॥ ७ ॥

अभाव-प्रमाण का प्रमेय—अभाव का बहुतेरा प्रमेय लोकसिद्ध होने पर सूत्रकार ने उसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया—

लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां
तत्प्रमेयसिद्धिः ॥ ८ ॥ (१३७)

[लक्षितेषु] छींटवाले कपड़ों के बीच [अलक्षणलक्षितत्वात्] छींट के न होने के कारण पहचानेजाने से–[अलक्षितानाम्] विना छींट के कपड़ों के, [तत्प्रमेयसिद्धिः] अभाव का प्रमेय सिद्ध होता है।

छींटवाले कपड़ों के बीच–विना छींट के कपड़ों को–उनपर छींट के अभाव से पहचानेजाने के कारण अभाव के प्रमेय की सिद्धि होती है।

एक व्यक्ति को आदेश दियागया, बाज़ार जाकर विना छींट का कपड़ा ले आओ। दूकान पर उसके सामने छींट और विना छींट के सब तरह के कपड़े होते हैं। वह जिन कपड़ों में छींट का अभाव देखता है, उससे वह अपने उपादेय कपड़े को पहचान लेता है। लक्षण (छींट) के अभाव से अलक्षित वस्त्रों को पहचानाजाता है। लक्षणों का अभाव उस प्रमा (ज्ञान–पहचानना) का हेतु है। प्रमा का हेतु प्रमाण मानाजाता है। फलतः अभाव का प्रामाण्य स्पष्ट है।

अभाव के अस्तित्व की आशंका उठाकर स्वयं सूत्रकार ने समाधान किया—

असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः ॥ ६ ॥ (१३८)

[असति] न होने पर [अर्थे] अर्थ के–प्रतियोगी[1] के [न] नहीं होसकता [अभावः] अभाव; [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो) [न] नहीं (यह युक्त), [अन्यलक्षणोपपत्तेः] अन्यों (वस्त्रों) में लक्षण (प्रतियोगी) की विद्यमानता से।

जो वस्त्र लक्षण-(चिह्न-छींट)- रहित हैं, उनमें लक्षण का अस्तित्व कभी नहीं रहा। तात्पर्य है, वे लक्षण कभी अपने अस्तित्व में नहीं आये। तब उनके अभाव का कथन असंगत होगा; क्योंकि अभाव अपने प्रतियोगी के विना नहीं होसकता; जब वस्तु का अस्तित्व होगा, तभी कहीं पर उसका अभाव कहाजा-सकता है। अप्रतियोगिक अभाव असम्भव है। इसलिए जिन वस्त्रों में लक्षण कभी नहीं हुए, उनमें लक्षणाभाव कैसे होगा? जो वस्तु उत्पन्न होकर कहीं नहीं रहती, उसका अभाव कहना ठीक है। पर लक्षणरहित वस्त्रों में ऐसा नहीं है कि वहाँ लक्षण उत्पन्न होकर फिर न रहे हों। अतः उनमें लक्षण का अभाव कहना अनुपपन्न है।

यह आशंका प्रागभाव को न समझने के कारण उठाई गई। उसका निर्देश सूत्रकार ने बारहवें सूत्र में किया है। प्रकारान्तर से सूत्रकार ने आशंका का समाधान किया–यह ठीक है, जो लक्षणरहित वस्त्र हैं; उनमें लक्षण कभी नहीं हुए; परन्तु अन्य वस्त्रों में लक्षण विद्यमान हैं। वस्त्रों का ग्राहक जिनमें लक्षणों को देखता है, उनको छोड़देता है; जिनमें लक्षण नहीं देखता, उन्हें लेलेता है।

---

१. **जिस वस्तु का अभाव कहाजाय, वह अभाव का 'प्रतियोगी', और जिसमें अभाव बतायाजाय, वह अभाव का 'अनुयोगी' कहाता है। जैसे–'भूतले घटाभावः' भूतल में घट का अभाव है। यहाँ अभाव का प्रतियोगी घट, और अनुयोगी भूतल हैं।**

लक्षित वस्त्रों में दीखतेहुए लक्षणों का अलक्षित वस्त्रों में अभाव है। उस अभाव से वह उन वस्त्रों को आदेयरूप में जानलेता है। इससे अभाव-प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह समाधान अत्यन्ताभाव के आधार पर है। लक्षित वस्त्रों में जो लक्षण हैं, उनका सर्वथा-अत्यन्त अभाव अलक्षित वस्त्रों में रहता है॥ ९॥

अभाव विद्यमान का नहीं—अभाव की इस स्थिति को न समझता हुआ शिष्य पुनः आशंका करता है-जो लक्षण विद्यमान हैं, उनका अभाव कैसे मानाजासकता है? सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः॥ १०॥ (१३९)

[तत्सिद्धेः] लक्षणों की सिद्धि-विद्यमानता से (लक्षित वस्त्रों में), [अलक्षितेषु] लक्षणरहित वस्त्रों में (उनका अभाव है, यह कथन) [अहेतुः] हेतुरहित है।

लक्षित वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान हैं, उन लक्षणों का अलक्षित वस्त्रों में अभाव कहना असंगत है; क्योंकि विद्यमान का अभाव बताना परस्पर-विरुद्ध कथन है। ऐसे कथन में कोई हेतु न होने से यह अप्रमाण है॥ १०॥

विद्यमान का अन्यत्र अभाव संगत—यह आशंका अन्योऽन्याभाव को न समझने के कारण उठाई गई। उसके अनुसार सूत्रकार ने समाधान किया—

न लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः॥ ११॥ (१४०)

[न] नहीं (आशंका ठीक) [लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः] लक्षण जो अवस्थित हैं, उनकी अपेक्षा से (अन्यत्र अभाव की) सिद्धि-होने के कारण।

लक्षित वस्त्रों में लक्षण अवस्थित हैं। यह कोई नहीं कहता कि उनका-नाश-ध्वंस होजाने से-अभाव होगया। कहा यह जारहा है कि किन्हीं वस्त्रों में लक्षण अवस्थित हैं, किन्हीं में अवस्थित नहीं हैं। जिनमें अवस्थित हैं, उनकी अपेक्षा से अन्य वस्त्रों में लक्षणों का अभाव है। तात्पर्य है, लक्षित वस्त्रों से अलक्षित वस्त्र भिन्न हैं। जो लक्षित वस्त्र हैं, वे अलक्षित नहीं; जो अलक्षित हैं, वे लक्षित नहीं। अलक्षित वस्त्रों की चाहना रखता हुआ व्यक्ति लक्षित वस्त्रों से भिन्न वस्त्रों का आदान करलेता है; क्योंकि उसने लक्षित वस्त्रों की अपेक्षा से-अलक्षित वस्त्रों में लक्षणाभाव का ज्ञान करलिया है; उस अभाव-ज्ञान से वह उन अलक्षित वस्त्रों को पहचानगया है। इस पहचान का हेतु लक्षणाभाव होने से अभाव का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह समाधान लक्षित-अलक्षित वस्त्रों के परस्पर अन्योऽन्याभाव का आश्रय लेकर कियागया है॥ ११॥

प्रागभाव की उपपत्ति—अलक्षित वस्त्रों में लक्षण उत्पन्न नहीं कियेगये, यह उन वस्त्रों में लक्षणों का प्रागभाव है। इसी अभाव के कारण अलक्षित वस्त्रों की वस्तुगत्या पहचान होती है। सूत्रकार ने प्रागभाव की स्थिति को समझाया—

प्रागुत्पत्तेरभावोपपत्तेश्च ।। १२ ।। (१४१)

[प्राक्] पहले [उत्पत्तेः] उत्पत्ति से [अभावोपपत्तेः] अभाव की उपपत्ति–सिद्धि होने के कारण (पूर्वोक्त आशंका का अवकाश नहीं रहता)।

उत्पत्ति-विनाश के आधार पर अभाव दो प्रकार का मानागया हैं। किसी कार्य पदार्थ के उत्पन्न होने से पहले जो उसका अविद्यमान होना है, वह अभाव है। दूसरा अभाव वह है, जो उत्पन्न कार्य के कालान्तर में नष्ट होजाने से अविद्यमानता है। अलक्षित वस्त्रों में पहला अभाव रहता है, जिसको 'प्रागभाव' कहते हैं—प्राक्-अभाव; उत्पत्ति से पहले वस्तु का न होना। घट आदि किसी पदार्थ के टूट-फूट जाने, नष्ट होजाने पर जो उसका अभाव है, वह 'ध्वंसाभाव' अथवा 'प्रध्वंसाभाव' कहाजाता है। इसप्रकार अभाव के प्रमेय की लोक में कमी नहीं है। फलतः अभाव का प्रामाण्य मान्य होने पर भी वह अतिरिक्त प्रमाण नहीं मानागया; क्योंकि वह अनुमान-प्रमाण के प्रकार में अन्तर्निविष्ट है ।। १२ ।।

शब्द-प्रमाण परीक्षा—यहाँ तक प्रमाणों की संख्या के विषय में परीक्षा करदीगई, प्रमाण चार स्वीकार कियेगये। अब शब्द-प्रमाण के प्रसंग से शब्द के नित्य-अनित्य होने का विचार प्रस्तुत कियाजाता है। इस शास्त्र का सिद्धान्त है–शब्द अनित्य है। सूत्रकार ने इस मान्यता के लिए हेतु प्रस्तुत किये—

आदिमत्त्वादैन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च ।। १३ ।। (१४२)

[आदिमत्त्वात्] आदि-(उत्पत्ति)-वाला होने से [ऐन्द्रियकत्वात्] इन्द्रियसन्निकर्ष से ग्राह्य होने के कारण [कृतकवदुपचारात्] अनित्य के समान व्यवहार-प्रयोग होने से (शब्द अनित्य है) [च] तथा।

शब्द अनित्य है—उत्पत्तिवाला होने से, इन्द्रियसन्निकर्षग्राह्य होने से तथा अन्य अनित्य रूपादि के समान शब्द में अनित्य व्यवहार होने से शब्द को अनित्य मानना चाहिये। शब्द के अनित्य होने में सूत्रकार ने तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं। उनमें पहला है—

आदिमत्त्वात्—'आदि' पद का अर्थ है-योनि–कारण। 'आदि' आङ्-उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से निष्पन्न होता है–'आदीयते यस्मादिति आदिः'–जिससे कार्य का आदान कियाजाय, कार्य को जिससे लियाजाय, जहाँ से कार्य उत्पन्न हो। यह कारण-उपादान अथवा समवायी के अतिरिक्त असमवायी और निमित्त कारण भी होते हैं। ये कारण किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं; तभी इन्हें 'कारण' कहाजाता है। स्पष्ट है–उत्पन्न हुआ कार्य अनित्य होगा। इसका तात्पर्य होता है–शब्द अनित्य है, उत्पत्तिवाला अर्थात् उत्पत्तिधर्मक होने से, रूप आदि गुणों के समान।

यह हेतु असंदिग्धरूप से उस समय शब्द की अनित्यता को स्पष्ट करदेता है, जब यह देखाजाता है कि विभिन्न व्यक्तियों व प्राणियों द्वारा उच्चरित शब्दों का स्वरूप विभिन्न होता है। शब्द में वर्ण व आनुपूर्वी समान रहती है, पर ध्वनि में स्पष्ट भेद होता है। एक ही वर्ण व पद का विभिन्न व्यक्ति तथा शुक, सारिका (तोता, मैना) आदि के द्वारा उच्चारण करने पर सुननेवाले व्यक्ति को उच्चरित ध्वनि में स्पष्ट भेद गृहीत होता है। ध्वनि-भेद के आधार पर यह तथ्यरूप में कहाजासकता है कि यह चैत्र, मैत्र आदि कौन व्यक्ति बोल रहा है; अथवा तोता या मैना आदि में से कौन बोल रहा है। यदि शब्द उत्पत्तिधर्मक न होकर नित्य होता, तो उसका यह श्रूयमाण स्वरूपभेद न रहता। इससे शब्द का अनित्य होना स्पष्ट होता है।

इसे पूर्ण असन्दिग्ध नहीं कहाजासकता; यहाँ संशय का अवकाश है। शब्द के नित्य होने पर ध्वनिभेद शब्द के विभिन्न अभिव्यक्तिकारणों के आधार पर सम्भव है। जिनको शब्द की उत्पत्ति का कारण बतायाजाता है, वस्तुतः वे शब्द की अभिव्यक्ति के कारण हैं। शब्दध्वनि में स्वरूपभेद अभिव्यञ्जक की विभिन्नता से होता है। मुख तथा मुख से बाहर शब्दाभिव्यक्ति-साधनों के विभिन्न होने से—शब्द तीव्र है, मन्द है, अमुक द्वारा उच्चरित है, इत्यादि रूप में—ध्वनिभेद प्रतीत होता है; वस्तुतः शब्द नित्य व एकरूप है। इस संशय की निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने हेतु दिया—

ऐन्द्रियकत्वात्—ऐन्द्रियक होने से अर्थात् शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर, ग्रहण होने से शब्द का अनित्यत्व स्पष्ट होजाता है। इसे समझने के लिए यह विचारना अपेक्षित है—कुछ दूरी पर किन्हीं निमित्तों से शब्द होरहा है। दूर बैठा व्यक्ति उसे सुनरहा है। इस परिस्थिति पर विचारणीय है—क्या यह शब्द व्यञ्जक-निमित्त के उसी देश में होरहा है, जहाँ व्यञ्जक स्थित है? जैसे रूपादि की प्रतीति उसी प्रदेश में होती है, जहाँ रूप का व्यञ्जक प्रकाश व घटादि द्रव्य उपस्थित रहता है? अथवा संयोग आदि से उत्पन्न शब्द, आगे शब्दसन्तति द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष होजाने पर गृहीत होता है?

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है, दोषपूर्ण है। पहला दोष यह है—यदि शब्द व्यञ्जक-निमित्त के प्रदेश में अभिव्यक्त होकर वहीं रहजाता है, तो दूरस्थित इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष सम्भव न होने के कारण शब्द का ग्रहण न होसकेगा। रूपादि के विषय में यह आपत्ति न होगी, क्योंकि रूप का ग्रहण करनेवाला चक्षु-इन्द्रिय अपनी रश्मियों के द्वारा व्यञ्जक-प्रदेशस्थित रूपादि से सन्निकृष्ट होकर उनके ग्रहणसाधन होने में सफल रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय में यह क्षमता न होने से व्यञ्जक-प्रदेश में उसका शब्द से सन्निकर्ष होना सम्भव नहीं।

तथा शब्द व्यञ्जक-प्रदेश में अभिव्यक्त होकर रहजाता है; ऐसी स्थिति में शब्द का ग्रहण न होसकेगा ।

दूसरा दोष इसमें यह है—व्यंग्य पदार्थ उसी समय तक अभिव्यक्त रहता है, जबतक व्यञ्जक की विद्यमानता रहे । व्यञ्जक प्रकाश एवं घट आदि की विद्यमानता में रूप व्यंग्य का ग्रहण होता है; व्यञ्जक की अनुपस्थिति में यह बात नहीं देखीजाती । थोड़ी दूर पर कोई व्यक्ति कुल्हाड़े से लकड़ी काटरहा है; अथवा धोबी, कपड़े को पटड़े पर पटक-पछाड़कर धोरहा है । जब लकड़ी पर कुल्हाड़ा ज़ोर से चोट देता है, अथवा पटड़े पर कपड़ा पटकाजाता है, उस समय उनके संयोग से शब्द अभिव्यक्त होता है । उसका अभिव्यञ्जक है—लकड़ी-कुल्हाड़ा-संयोग, अथवा पटड़ा-कपड़ा-संयोग । व्यंग्य-व्यञ्जकभाव की व्यवस्था के अनुसार व्यञ्जककाल में व्यंग्य का प्रतीत होना सम्भव है, परन्तु यहाँ शब्द के व्यञ्जक-संयोग के न रहने पर भी शब्द का ग्रहण होता है । दूरस्थित व्यक्ति उस शब्द को उस समय सुनपाता है, जब कुल्हाड़ा व कपड़े को दुबारा चोट करने व पटकने के लिए उठालियाजाता है । ऐसी स्थिति में संयोग के न रहने पर शब्द का गृहीत होना यह प्रकट करता है कि संयोग शब्द का व्यञ्जक न मानाजाकर उत्पादक मानाजाना चाहिये ।

संयोग को शब्द का उत्पादक मानने पर संयोगजन्य शब्द से अन्य शब्द उत्पन्न होता है, उससे अन्य; इसप्रकार शब्दसन्ततिद्वारा उसका श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर ग्रहण होता है । फलतः संयोग को शब्द का उत्पादक मानने पर शब्द के ग्रहण में कोई बाधा नहीं रहती ।

शब्द को इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा गृहीत होने के कारण अनित्य बतायागया; परन्तु घटत्व, द्रव्यत्व आदि जाति का ग्रहण इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा होता है, और जाति को नित्य मानागया है । इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक होजाता है । तब सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

कृतकवदुपचारात्—कृतक-अनित्य पदार्थ के समान शब्द में व्यवहार होने से शब्द को अनित्य मानाजाता है । अनित्य सुख-दुःख आदि में तीव्र-मन्द होने का व्यवहार होता है—तीव्र सुख है, तीव्र दुःख है, मन्द सुख है, मन्द दुःख है, इत्यादि । ठीक ऐसा व्यवहार शब्द के विषय में होता है—तीव्र शब्द है, मन्द शब्द है, इत्यादि । इससे सुखादि के समान शब्द की अनित्यता स्पष्ट होती है ।

शब्द को नित्य माननेवाला आशंका करता है—यह तीव्रता-मन्दता शब्द का धर्म नहीं है, शब्द तो नित्य एकसमान है, उसमें कभी कोई भेद नहीं होता । शब्द के अभिव्यञ्जक संयोग के तीव्र-मन्द होने से शब्दग्रहण में यह तीव्र-मन्दता प्रतीत होती है । जैसे रूप के व्यञ्जक प्रकाश की तीव्र-मन्दता से रूप के ग्रहण में तीव्र-मन्दता रहती है । प्रकाश अच्छा है, तो रूप अच्छा दीखता है; प्रकाश

धीमा है तो रूप धीमा दिखाई देता है। यह अच्छा या धीमा, दिखाई देने के साथ है, रूप के साथ नहीं; रूप तो वैसा ही रहता है। ऐसे ही शब्द में भेद न होकर व्यञ्जक के अनुसार शब्द के ज्ञान में भेद रहता है।

यह आशङ्का अनुभवविरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। यह अनुभवसिद्ध है, जब एक काल में तन्त्री [वीणा] और भेरी [नगाड़ा] दोनों को बजायाजाता है, तब भेरी का शब्द तन्त्री के शब्द को दबादेता है, उसको अभिभूत करदेता है। यह अभिभव एक शब्द से दूसरे शब्द का होता है। तीव्र शब्द, मन्द शब्द को दबाता है। यह व्यवहार शब्द की तीव्र-मन्दता को स्पष्ट करता है, शब्दज्ञान की नहीं। भेरीशब्द तन्त्रीशब्द का अभिभावक है; भेरीशब्द-ज्ञान अभिभावक नहीं है। ऐसी दशा में यदि शब्दगत भेद नहीं मानाजाता, तो अभिभव अनुपपन्न होगा। तीव्र भेरी-शब्द के साथ मन्द तन्त्रीशब्द भी सुनाई देना चाहिये। पर सुनाई न देने के कारण शब्द का भिन्न होना सिद्ध होता है। उस दशा में अभिभव संगत होजाता है। शब्दभेद तभी सिद्ध होसकता है, जब शब्द को अनित्य–उत्पत्तिवाला मानाजाता है।

यदि फिर भी शब्द को नित्य मानकर संयोग आदि निमित्तों से उसे अभिव्यक्त हुआ मानाजाता है, तो भी अभिभव अनुपपन्न होगा। क्योंकि व्यंग्य पदार्थ व्यञ्जक के प्रदेश को छोड़कर नहीं रहसकता। इसलिए व्यंग्य शब्द, व्यञ्जक-संयोग के समानदेश में अभिव्यक्त होगा। इस दशा में तन्त्रीशब्द भेरीशब्ददेश में तथा भेरीशब्द तन्त्रीशब्ददेश में पहुँचना असम्भव है। यह स्थिति भेरीशब्द से तन्त्रीशब्द के अभिभव को अनुपपन्न बनादेती है। उन शब्दों के परस्पर-प्राप्ति के विना अभिभव हो नहीं सकता। शब्द को अभिव्यक्त हुआ मानकर प्राप्ति का होना सम्भव नहीं; क्योंकि उस दशा में शब्द अपने व्यञ्जक के देश को छोड़ नहीं सकता। अतः शब्द को उत्पन्न होनेवाला–अनित्य मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

यदि तन्त्रीशब्द को प्राप्त हुए विना भेरीशब्द के द्वारा उसका अभिभव मानाजाता है; तो एक जगह भेरी बजने पर संसार में सर्वत्र तन्त्रीशब्द का अथवा उन सभी शब्दों का अभिभव होजाना चाहिये; जो भेरीशब्द की अपेक्षा मन्द हैं, क्योंकि अप्राप्ति सर्वत्र समान है। पर ऐसा होना कभी सम्भव नहीं। फलतः यह मानना सर्वथा निर्दोष है कि शब्द अपने निमित्त - संयोग आदि से उत्पन्न होकर शब्दसन्तति द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकृष्ट होनेपर तीव्र-शब्द मन्द-शब्द का अभिभव करदेता है।

समझना चाहिये, 'अभिभव' का तात्पर्य क्या है? क्योंकि यदि भेरीशब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष हुआ है, तो उस समय भेरीशब्द सुनाई देगा। कोई इन्द्रिय एक काल में एक विषय का ग्रहण करसकता है। भेरीशब्दश्रवणकाल में

स्वभावतः अन्य किसी शब्द के सुनेजाने का प्रश्न नहीं उठता। फिर यह 'अभि-भव' का हल्ला क्या है ? समझिये, भेरीशब्द और तन्त्रीशब्द दोनों समानरूप से श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होते हैं, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने से दोनों ग्राह्यसमानजातीय हैं। जब एक काल में दोनों शब्द होरहे हैं, तब श्रोत्र तक केवल भेरीशब्द पहुँचपाता है; क्योंकि वह तीव्र होने से मन्द तन्त्रीशब्द को श्रोत्र तक नहीं पहुँचने देता। यही भेरीशब्द के द्वारा तन्त्रीशब्द का अभिभव है। जैसे–सूर्य का प्रकाश और उल्का [रात्रि में कदाचित् तीव्र चमकती प्रकाश-रेखा] तथा तारा-गण आदि का प्रकाश, दोनों चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। परन्तु अतितीव्र सूर्यप्रकाश के काल में उल्का व तारागण के प्रकाश का अभिभव होजाता है। सूर्यप्रकाशकाल में उल्का आदि का प्रकाश कभी दिखाई नहीं देता। यही सूर्य-प्रकाश से उनका अभिभव होजाना है। इसप्रकार 'आदिमत्वात्' आदि हेतुओं से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है ॥ १३ ॥

शब्दानित्यत्व-हेतु अनैकान्तिक—स्थूणानिखनन-न्यायानुसार अर्थ को गम्भीरता के साथ समझने व पूर्ण पुष्टि की भावना से शिष्य ने उट्टंकना की–शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत 'आदिमत्वात्'- प्रभृति हेतु अनैकान्तिक हैं। सूत्रकार ने उसी भावना को समझकर सूत्रित किया—

न घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च ॥ १४ ॥ (१४३)

[न] नहीं (शब्द अनित्य, आदिमत्त्वादि हेतुओं से) [घटाभावसामान्य-नित्यत्वात्] घटाभाव और घटत्व आदि सामान्य के नित्य होने से, [नित्येषु] नित्य पदार्थों में [अपि] भी [अनित्यवत्] अनित्य पदार्थों के समान [उप-चारात्] उपचार-व्यवहार होनेसे [च] तथा।

शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के लिये अभी जो हेतु बतायेगये हैं, वे सब अनैकान्तिक हैं, व्यभिचारी हेतु हैं, अतः वे साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं। पहला हेतु–'आदिमत्वात्' है। कहागया–उत्पत्तिवाला होने से शब्द अनित्य है। परन्तु घटादि पदार्थों का प्रध्वंसाभाव उत्पत्तिवाला होने पर भी नित्य होता है। घटावयवों के छिन्न-भिन्न होजाने पर अर्थात् किसी कारण से घट के टूट-फूट जानेपर उसका ध्वंसरूप-अभाव आदिवाला है, उत्पन्न तो होता है; पर फिर वह घट-व्यक्ति कभी अपने भावरूप में नहीं आता, इसलिये वह ध्वंसाभाव नित्य है; उस ध्वंसाभाव का अभाव फिर कभी न होने से वह नित्य रहता है। साध्याभाव के अधिकरण में रहनेवाला हेतु अनैकान्तिक होता है। साध्य-अनित्यत्व के अभाव–नित्यत्व के अधिकरण–घटध्वंसाभाव में 'आदि-मत्वात्' हेतु विद्यमान है; अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास होने से प्रस्तुत साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं मानाजासकता।

दूसरा हेतु 'ऐन्द्रियकत्वात्' है। यह एक व्यवस्था है-जो पदार्थ जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसमें रहनेवाली जाति (सामान्यधर्म, जैसे द्रव्य में 'द्रव्यत्व' घट में 'घटत्व' आदि) का ग्रहण भी उसी इन्द्रिय से होता है। जाति को नित्य मानाजाता है। इसप्रकार यह ऐन्द्रियक हेतु भी अपने साध्याभाव-नित्यत्व के अधिकरण 'घटत्व' आदि सामान्य में विद्यमान होने से अनैकान्तिक है।

तीसरा हेतु 'कृतकवदुपचारात्' प्रस्तुत कियागया। बतायागया-शब्द में अनित्य पदार्थों के समान व्यवहार होने से उसे अनित्य मानना चाहिये। परन्तु नित्य पदार्थों में भी अनित्य के समान व्यवहार देखा जाता है। आकाश, आत्मा आदि नित्य पदार्थ हैं। वृक्ष, कम्बल आदि अनित्य हैं। अनित्य पदार्थों में-'वृक्षस्य प्रदेशः, कम्बलस्य प्रदेशः' यह वृक्ष का एक भाग है; यह कम्बल का एक भाग है-ऐसा व्यवहार यथार्थरूप में होता है। ठीक ऐसा व्यवहार नित्य पदार्थों में होता है-यह आकाश का प्रदेश है, आकाश के एक प्रदेश में पृथिवी अवस्थित है, अन्य प्रदेश में सूर्य है, इत्यादि। ऐसे ही हाथ, पैर, सिर आदि को लक्ष्य कर आत्मा के प्रदेश का निर्देश कियाजाता है। इसप्रकार नित्य पदार्थों में अनित्य के समान व्यवहार होने से तीसरा हेतु भी अनैकान्तिक है। फलतः शब्द का अनित्यत्व असिद्ध रहजाता है ॥ १४ ॥

अनैकान्तिक नहीं 'आदिमत्व' हेतु—आचार्य सूत्रकार पूर्व-प्रदर्शित आशंका का समाधान हेतुक्रम निर्देश के अनुसार प्रस्तुत करता है—

तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभा[1]गादव्यभिचारः ॥ १५ ॥ (१४४)

[तत्त्वभाक्तयोः] तत्त्व-यथार्थ-वास्तविक और भाक्त-गौण, औपचारिक इन दोनों के [नानात्वविभागात्] नाना होने से परस्पर भिन्न होने के कारण [अव्यभिचारः] व्यभिचार-दोष नहीं है (प्रथम हेतु में)।

उत्पन्न होनेवाले प्रध्वंसाभाव को नित्य बताकर-शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत प्रथम हेतु को अनैकान्तिक कहागया। इस विषय में यह समझना चाहिये-नित्य का तात्त्विक स्वरूप क्या है? और वह प्रध्वंसाभाव में उपयुक्त है, या नहीं? वास्तविकरूप से नित्य पदार्थ वह है, जो न कभी उत्पन्न होता और न उसके स्वरूप का कभी नाश होता। यह बात ध्वंसाभाव में पूर्णरूप से नहीं घटती। ध्वंसाभाव का नाश तो फिर कभी नहीं होता, पर वह उत्पन्न अवश्य होता है; इसलिये उसे वास्तविक नित्य नहीं मानाजासकता। वह एक अंश में नित्य के समान है, अतः वहाँ भाक्त नित्यत्व है। जो उत्पन्न हुआ पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़ देता है, उत्पन्न होकर फिर नहीं रहता, नष्ट

---

१. 'नानात्वस्य विभागा०' न्या० नि०।

होजाता है; यह वस्तु का नाश होना अभाव की उत्पत्ति है। क्योंकि वह वस्तु फिर अपने अस्तित्व में कभी नहीं आती, इसलिये अभाव आगे सदा बना रहता है। इसे नित्य के समान कहसकते हैं, वास्तविक नित्य नहीं; क्योंकि इसमें–वास्तविक नित्य होने की एक शर्त्त–'उत्पन्न न होना', नहीं घटती। शब्द की जो स्थिति है, वैसा कोई कार्य नित्य नहीं देखाजाता। अनैकान्तिक-दोष हेतु में तभी संभव था, जब ठीक शब्द के समान किसी कार्य में हेतु को दिखाकर उसे नित्य मानाजाता। ऐसा कहीं संभव न होने से उक्त हेतु में व्यभिचार-दोष नहीं है ॥ १५ ॥

'ऐन्द्रियकत्व' हेतु अनैकान्तिक नहीं—नित्य सामान्य (जाति-घटत्व आदि) के इन्द्रियग्राह्य होने से 'ऐन्द्रियक' हेतु को जो अनैकान्तिक कहागया, सूत्रकार उसका समाधान करता है—

सन्तानानुमानविशेषणात् ॥ १६ ॥ (१४५)

[सन्तानानुमानविशेषणात्] शब्दसन्तान के अनुमान की विशेषता से (शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है)।

गत सूत्रों से 'नित्येषु' और 'अव्यभिचारः' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। 'ऐन्द्रियक' पद का अर्थ केवल इन्द्रिय से ग्राह्य होना नहीं; प्रत्युत 'इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर गृहीत होना' है। निमित्त-संयोग के प्रदेश में शब्द होता है; पर वह श्रोत्रेन्द्रियप्रदेश में गृहीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के साथ–दूर देश में उत्पन्न हुए–शब्द का सन्निकर्ष होना इस बात का अनुमान कराता है कि शब्द सन्तानोत्पत्तिक्रम से श्रोत्र तक पहुँचा है। शब्द का निमित्त संयोग जहाँ होता है, शब्द वहाँ हुआ; उस शब्द से सब ओर सजातीय शब्द उत्पन्न हुआ, उससे फिर अन्य सजातीय शब्द हुआ। इसप्रकार शब्दसन्तानक्रम से शब्द श्रोत्र से सन्निकृष्ट होनेपर सुनाजाता है। यह श्रोत्रप्रत्यासत्ति से ग्राह्य होना शब्द के सन्ततिक्रम का अनुमान करादेता है। यह सन्ततिक्रम शब्द के अनित्य मानेजाने पर संभव है। इसलिये सामान्य नित्य में 'ऐन्द्रियक' हेतु अनैकान्तिक नहीं है। अनैकान्तिक तब होता, जब इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द को अनित्य कहाजाता। यहाँ तो इन्द्रियग्राह्यता शब्दसन्तति का अनुमान कराती है। उससे शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है ॥ १६ ॥

अनैकान्तिक नहीं 'कृतकवदुपचार' हेतु—अन्तिम हेतु में दियेगये अनैकान्तिक दोष का सूत्रकार परिहार करता है—

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वप्यव्यभिचार[1] इति ॥ १७ ॥ (१४६)

---

१. 'इति' पद नहीं है, न्या० नि०।

[कारणद्रव्यस्य] कारण द्रव्य का [प्रदेशशब्देन] 'प्रदेश' इस शब्द के द्वारा [अभिधानात्] कथन होने से [नित्येषु] नित्य पदार्थों में [अपि] भी [अव्यभिचारः] व्यभिचार-दोष नहीं, [इति] बस (प्रसङ्ग समाप्त हुआ)।

"कम्बल का प्रदेश, वृक्ष का प्रदेश" इस लोकव्यवहार में 'प्रदेश'- पद उस पदार्थ के कारणद्रव्य का कथन करता है। किसी कार्य-द्रव्य के अवयव उसके कारण होते हैं, यह पद उस कार्यद्रव्य के किसी या किन्हीं अवयव-भाग-अंश का निर्देश करता है। परन्तु आकाश आदि द्रव्य कार्यद्रव्य नहीं हैं। उनके किसी कारणद्रव्य का होना संभव नहीं। आकाश के साथ 'प्रदेश'-पद का प्रयोग उस दशा में होता है, जब किसी परिच्छिन्न द्रव्य के साथ आकाश के संयोग का कथन कियाजाय। किन्हीं दो द्रव्यों का संयोग सदा अव्याप्यवृत्ति होता है। जो दो द्रव्य परस्पर संयुक्त होते हैं, वे एक-दूसरे के साथ सर्वांश में संयुक्त नहीं होपाते। उनका कुछ भाग परस्पर संयुक्त होता है। किसी एकदेशी द्रव्य के साथ आकाश का संयोग होने पर, जैसे अन्यत्र संयोग एकदेशी द्रव्य को व्याप्त नहीं करता, ऐसे ही यह आकाश का संयोग समस्त आकाश में व्याप्त नहीं रहता; इसी भावना से आकाश के साथ 'प्रदेश'-पद का प्रयोग कर दिया-जाता है। यह पद का मुख्य प्रयोग न होकर गौण प्रयोग है। कार्यद्रव्यों में 'प्रदेश'-पद का मुख्य अथवा प्रधान प्रयोग है। क्योंकि वहाँ वास्तविक रूप से कार्यद्रव्य के 'प्रदेश अर्थात् उसके कारणद्रव्य अवयव विद्यमान रहते हैं।

'शब्द'-आकाशगुण अव्याप्यवृत्ति—संयोग के समान आकाश का शब्दगुण भी अव्याप्यवृत्ति होता है। आकाश में एक जगह जो शब्द किन्हीं निमित्तों से उत्पन्न होता है, वह समस्त आकाश में व्याप्त नहीं रहता। जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ अपने निमित्तों की क्षमता के अनुसार जहाँतक संभव होता है, सजातीय शब्दों की उत्पत्तिपरम्परा चलती है, वहाँ तक वह शब्द सुनाई देता है। इससे स्पष्ट होजाता है–तीव्रता व मन्दता शब्द के धर्म हैं, जो शब्द की वैसी उत्पत्ति को प्रकट कर उसकी अनित्यता को सिद्ध करते हैं।

यद्यपि सूत्रकार ने ऐसा पूर्वपक्ष स्वयं स्थापित नहीं किया कि शब्द में तीव्रता-मन्दता औपचारिक धर्म हैं; और न उसके परिहार के लिये स्वयं उत्तरपक्ष की व्यवस्था की है कि इन कारणों से तीव्रता-मन्दता शब्द के अपने धर्म हैं। तथापि सूत्रकार द्वारा अकथित वास्तविक तथ्य का शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार निश्चय करलियाजाता है। ऐसा निश्चय करने के साधन प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं। दूरस्थित निमित्त से उत्पन्न शब्द का श्रोत्र से गृहीत होना, शब्द-सन्तान का अनुमान कराता है, यह बात गत पंक्तियों में कहीजाचुकी है। दूर रहने पर शब्द का सुनाजाना, और न सुनाजाना शब्द के तीव्र-मन्द

होने को प्रमाणित करता है। सूत्र में 'इति' पद इस प्रसंग की समाप्ति का द्योतक है ॥ १७ ॥

शब्द के अनित्यत्व में अन्य हेतु—सूत्रकार अन्य प्रकार से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करता है। प्रश्न है–कोई वस्तु है, या नहीं है, इसको कैसे जानना चाहिये? उत्तर होगा–प्रमाण से जानना चाहिये। यदि ऐसा है, तो उच्चारण से पहले शब्द अविद्यमान रहता है; यह निश्चितरूप से कहाजासकता है। इसी वास्तविकता को सूत्रकार ने बताया—

प्रागुच्चारणादनुपलब्धेरावरणाद्यनुपलब्धेश्च ॥ १८ ॥ (१४७)

[प्राक्] पहले [उच्चारणात्] उच्चारण से [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होनेसे (शब्द की), [आवरणाद्यनुपलब्धेः] आवरण आदि के उपलब्ध न होने से [च] तथा; (शब्द का 'न होना' मानना चाहिये)।

उच्चारण से पहले शब्द का अस्तित्व नहीं है; यदि रहता, तो अवश्य उपलब्ध होता। यह कहना ठीक नहीं कि शब्द है तो सही, पर बीच में किसी आवरण–रुकावट के कारण सुनाई नहीं देरहा। श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द के बीच में कोई व्यवधान आजाने से शब्द का सन्निकर्ष श्रोत्र के साथ नहीं होपाता, इसलिये विद्यमान शब्द सुनाई नहीं देता। इस बात को मानलियाजाता, यदि कोई ऐसा आवरण उपलब्ध होजाता, जिसने शब्द के इन्द्रियसन्निकृष्ट होने में बाधा डाली है। उच्चारण से पहले न शब्द है; और न उसकी अनुपलब्धि का कोई कारण आवरण आदि गृहीत होता है, जो विद्यमान शब्द को सुनाई देने से रोक दे। इससे स्पष्ट है, संयोग आदि निमित्तों से शब्द उत्पन्न होता है।

जब व्यक्ति कुछ बोलना या कहना चाहता है, तब आत्मप्रयत्न से प्रेरित आन्तर वायु मुख में पहुँचकर कण्ठ, तालु, दन्त, ओष्ठ आदि स्थानों से टक्कर खाता हुआ विभिन्न वर्णों की उत्पत्ति में कारण होता है। यह वायु का कण्ठ आदि स्थानों में प्रतिघात [टक्कर] एक संयोगविशेष है, जो वर्णों की उत्पत्ति में निमित्त होता है। इस बात का प्रथम विवेचन करदियागया है कि संयोग शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं है। इसलिये यह नहीं कहाजासकता कि शब्द तो उच्चारण से पहले विद्यमान है, पर अभिव्यञ्जक के न होने से सुनाई नहीं देता। इसलिये यही तथ्य है कि उच्चारण से पहले शब्द के सुनाई न देने में उसका अभाव कारण है। सीधी बात है, शब्द नहीं है, इसलिये सुनाई नहीं देता। फलतः उच्चारण के रूप में उत्पन्न हुआ शब्द सुनाई देता है; इससे अनुमान कियाजाता है, उच्चारण से पहले शब्द नहीं था, उच्चारण के रूप में उत्पन्न हुआ है। उच्चारण के अनन्तर जब सुनाई नहीं देता, तब नष्ट होजाता है। अपने अभाव के कारण ही सुनाई नहीं देता। इसलिये शब्द को उत्पत्ति-विनाश-शील होने के कारण अनित्य मानना युक्त है ॥ १८ ॥

शब्द के आवरण का विवेचन—इस सचाई को धूल से ढाँपने का विचार रखते हुए मानो वादी की भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादावरणोपपत्तिः ॥ १९ ॥ (१४८)

[तदनुपलब्धेः] उस (आवरण की) अनुपलब्धि के [अनुपलम्भात्] उपलब्ध न होने से [आवरणोपपत्तिः] आवरण का होना उपपन्न (सिद्ध) होता है।

सूत्र का 'तत्' सर्वनाम-पद आवरण का बोधक है। कहागया–विद्यमान शब्द के सुनाई न देने में कोई आवरण उपलब्ध नहीं होता, इसलिये उच्चारण से पूर्व शब्द को अविद्यमान मानना चाहिये। इसपर वादी कह उठा–आवरण की अनुपलब्धि भी तो कहीं दिखाई नहीं देती, तब आवरण की अनुपलब्धि के अभाव में आवरण का होना स्वीकार करना चाहिये। उसी कारण उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द सुनाई नहीं देता। तब शब्द की अनित्यता असिद्ध रह-जाती है, तथा शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है।

इस विषय में वादी से पूछना चाहिये–यह आपने कैसे जाना कि आवरणा-नुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती? वादी कहसकता है–इसमें ज्ञातव्य क्या है? प्रत्येक व्यक्ति इस बात को जानता है। यह सर्वजनप्रसिद्ध है कि शब्द के आवरण की अनुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती। इससे आवरण की उपलब्धि सिद्ध होजाती है, जो विद्यमान शब्द के सुनेजाने में बाधक है। इससे शब्द का नित्यत्व सिद्ध होजाता है।

वादी के इस कथन पर शब्द को अनित्य माननेवाले व्यक्ति का प्रतिबन्दी उत्तर सामने आता है–यदि यही बात है कि आवरणानुपलब्धि की अनुपलब्धि को प्रत्येक व्यक्ति जानता है, तो ठीक उसीके समान यह कहाजासकता है–आवरण को उपलब्ध न करता हुआ प्रत्येक व्यक्ति आवरणानुपलब्धि को जानता है–मैं आवरण को उपलब्ध नहीं कररहा। जैसे भींत से ढके पदार्थों के इस भींत-आवरण को प्रत्येक व्यक्ति उपलब्ध करता है; इस आवरण की उपलब्धि के समान–यदि शब्द का कोई आवरण होता तो उसे अवश्य उपलब्ध कियाजाता; पर वह उपलब्ध नहीं होता, इसप्रकार–आवरणानुपलब्धि को प्रत्येक व्यक्ति जानता है। इसप्रकार वादी का प्रतिपाद्य विषय–आवरणानुपलब्धि उपलब्ध नहीं होती, अतः आवरण सिद्ध है–जड़ से उखड़जाता है ॥ १९ ॥

यद्यपि गतसूत्र द्वारा 'अनुपलम्भ'-हेतु से आवरण की सिद्धि को शब्द-नित्यत्ववादी ने प्रकट करदिया है, फिर भी हठपूर्वक जातिप्रयोग द्वारा पुनः प्रस्तुत करता है। आचार्य सूत्रकार ने उसी भाव को सूत्रित किया—

अनुपलम्भादप्यनुपलब्धिसद्भाववन्नावरणा-
नुपपत्तिरनुपलम्भात् ॥ २० ॥ (१४९)

[अनुपलम्भात्] उपलब्ध न होने से [अपि] भी [अनुपलब्धिसद्भाववत्] अनुपलब्धि के सद्भाव के समान [न] नहीं [आवरणानुपपत्तिः] आवरण की असिद्धि [अनुपलम्भात्] अनुपलम्भ से–उपलब्ध न होने से ।

यदि उपलब्ध न होती हुई आवरणानुपलब्धि है, तो उपलब्ध न होते हुए आवरण का अस्तित्व भी मानना चाहिये । अनुपलब्धि-हेतु दोनों के लिए समान है । शब्दनित्यत्ववादी अनित्यत्ववादी से कहता है–यदि आप यह स्वीकार करते हैं, कि आवरणानुपलब्धि अनुपलब्ध होती हुई नहीं है– यह स्वीकार करके फिर आपका कहना है कि आवरण नहीं है, अनुपलब्ध होने से । आपका ऐसा स्वीकृत कथन नियमपूर्वक व व्यवस्थित नहीं है । कारण यह है–यदि आवरणानुपलब्धि अनुपलब्धि के कारण नहीं है, तो आवरणोपलब्धि होने से आवरण का सद्भाव सिद्ध होजाता है । यदि आवरणानुपलब्धि–अनुपलभ्यमान होती हुई भी–है, तो आवरणानुपलब्धि के समान अनुपलभ्यमान भी आवरण का अस्तित्व स्वीकार करना चाहिये । इसप्रकार आवरण के सिद्ध होने से विद्यमान शब्द उच्चारण से पूर्व सुनाई नहीं देता । फलतः शब्द नित्य है, अनित्य नहीं ।

वादी के द्वारा यह अनुपलब्धिसम जाति का प्रयोग सूत्रकार ने बताया है । इसकेलिए सूत्र [५ । १ । २९-३१] द्रष्टव्य हैं ॥ २० ॥

गत दो सूत्रों द्वारा प्रदर्शित वाक्पाटव का सूत्रकार समाधान करता है—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ २१ ॥ (१५०)

[अनुपलम्भात्मकत्वात्] अनुपलम्भ-स्वरूप होने से [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के, [अहेतुः] हेतुरहित है (पूर्वकथन) ।

वादी ने अपने कथन के फलस्वरूप जो यह बताया कि आवरणानुपलब्धि और आवरणानुपपत्ति दोनों के न होने में समान हेतु है–अनुपलम्भ । इससे आवरण का अस्तित्व सिद्ध होजाता है; यह सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है । क्योंकि जो पदार्थ प्रमाणों से उपलब्ध होता है, उसका अस्तित्व स्वीकार कियाजाता है । जो प्रमाणों से उपलब्ध नहीं होता, उसे असत्–अविद्यमान–अभावरूप समझना चाहिये । इसका तात्पर्य हुआ–जो अनुपलम्भात्मक है, उपलब्ध नहीं होरहा, वह असत् है । अनुपलम्भ अथवा अनुपलब्धि उपलब्धि का अभाव है; अभाव होने से उसकी भावरूप में उपलब्धि नहीं होसकती । परन्तु आवरण अभावरूप न होकर सद्रूप है, भावरूप है; उसकी उपलब्धि भावरूप में होनी चाहिये, यदि वह विद्यमान है । परन्तु उसकी उपलब्धि नहीं होती । इसलिए यह सर्वथा निश्चित है कि वह अविद्यमान है । इसप्रकार आवरण के असिद्ध होने पर यदि शब्द को नित्य मानकर उच्चारण से पूर्व विद्यमान कहाजाता है, तो वह अवश्य सुनाई देना चाहिये । परन्तु ऐसा कभी नहीं होता । फलतः उच्चारण शब्द का उत्पन्न

होना है, इसलिए अपनी उत्पत्ति (–उच्चारण) से पूर्व न होने के कारण शब्द सुनाई नहीं देता । यह स्थिति शब्द के अनित्य होने को सिद्ध करती है ॥ २१ ॥

शब्दनित्यत्व में हेतु—जो वादी शब्द को नित्य मानता है, पूछना चाहिये, वह किस हेतु से ऐसा स्वीकार करता है ? वादी के द्वारा प्रस्तुत हेतु को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अस्पर्शत्वात् ॥ २२ ॥ (१५१)

[अस्पर्शत्वात्] स्पर्शरहित होने से (शब्द नित्य है) ।

शब्द नित्य है; यहाँ शब्द-पक्ष में नित्यत्व साध्य है। इसकी सिद्धि के लिए हेतु दिया–'अस्पर्शत्वात्'–स्पर्शरहित होने से। जो स्पर्शरहित होता है, वह नित्य होता है । इसमें दृष्टान्त आकाश है । आकाश स्पर्शरहित है, और नित्य है । इसीप्रकार शब्द स्पर्शरहित है । शब्द गुण है, स्पर्श भी गुण है; गुण में गुण समवेत नहीं रहता, यह नियम है। इसलिए स्पर्शरहित होने से आकाश के समान शब्द नित्य है ॥ २२ ॥

शब्दनित्यत्व-हेतु का प्रत्याख्यान—सूत्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से उक्त हेतु में व्यभिचार-दोष प्रस्तुत करता है। पहले साध्यसाधर्म्य अर्थात् अन्वय के अनुसार हेतु को अनैकान्तिक बताया—

न कर्मानित्यत्वात् ॥ २३ ॥ (१५२)

[न] नहीं (संगत उक्त हेतु) [कर्मानित्यत्वात्] कर्म के अनित्य होने से (अस्पर्श रहते हुए भी) ।

हेतु का साध्य के साथ साधर्म्य के अनुसार उदाहरण है–'कर्म'। जैसे गुण में गुण समवेत नहीं रहता, वैसे कर्म में गुण समवेत नहीं रहता। फलतः उत्क्षेपण आदि प्रत्येक क्रिया (कर्म) का गुणरहित होना निश्चित है । स्पर्श गुण है, वह कर्म में न रहने से कर्म अस्पर्श–स्पर्शरहित है । यह 'अस्पर्शत्व'-हेतु–साध्याधिकरण के अतिरिक्त साध्याभाव (अनित्यत्व) के अधिकरण–कर्म में विद्यमान रहने से अनैकान्तिक है । अतः साध्य (शब्द के नित्यत्व) को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ २३ ॥

साध्यवैधर्म्य (व्यतिरेक) से सूत्रकार हेतु की अनैकान्तिकता बताता है—

नाणुनित्यत्वात् ॥ २४ ॥ (१५३)

[न] नहीं (संगत उक्त हेतु) [अणुनित्यत्वात्] अणुओं के नित्य होने से (स्पर्शवाला होते हुए भी) ।

पृथिवी आदि के परमाणु स्पर्शगुणवाले होते हैं, स्पर्शरहित नहीं; फिर भी नित्य होते हैं। अस्पर्शत्व-हेतु से शब्द का नित्य सिद्ध होना सम्भव नहीं;

क्योंकि अस्पर्शत्वरहित (स्पर्शसमवेत) भी परमाणु नित्य होता है । 'जो नित्य है वह अस्पर्श है' इस अन्वयव्याप्ति की व्यतिरेकव्याप्ति इसप्रकार होगी–'जो अस्पर्श नहीं है, वह नित्य नहीं है' इस व्याप्ति का परमाणु में व्यभिचार है । परमाणु अस्पर्श नहीं है, पर नित्य है । फलतः शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक उभयव्याप्ति के अनुसार अनैकान्तिक होने से 'अस्पर्शत्व'-हेतु साध्य को सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है ।। २४ ।।

शब्दनित्यत्व में अन्य हेतु—वादी के द्वारा प्रस्तुत इस विषय के अन्य एक हेतु को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

सम्प्रदानात् ।। २५ ।। (१५४)

[सम्प्रदानात्] सम्प्रदान से (शब्द नित्य सिद्ध होता है) ।

वादी कहता है, यदि शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए 'अस्पर्शत्व'-हेतु अनैकान्तिक है, तो यह अन्य हेतु है–'सम्प्रदानात्' । जो पदार्थ एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे को दियाजाता है, वह स्थिर होता है; कतिपय क्षणों में उसका नाश नहीं होता । शब्द आचार्य के द्वारा छात्र को दियाजाता है । आचार्य शब्दों का उच्चारण करता है, छात्र उसको ग्रहण करता है । अतः शब्द को स्थिर मानना चाहिये–'शब्दः नित्यः, सम्प्रदानात्, गवादिवत्' । जैसे गौ, घट, वस्त्र आदि पदार्थ सम्प्रदान का कर्म–विषय हैं, और स्थिर रहते हैं; दो या तीन, क्षण में नष्ट नहीं होजाते; इसीप्रकार शब्द सम्प्रदान का कर्म होने से स्थिर–नित्य मानना चाहिये ।। २५ ।।

शब्दनित्यत्व में 'सम्प्रदान' हेतु दूषित—आचार्य सूत्रकार ने शब्द के नित्यत्व में उक्त हेतु का प्रतिषेध किया—

तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः ।। २६ ।। (१५५)

[तदन्तरालानुपलब्धेः=तद्-अन्तराल-अनुपलब्धेः] आचार्य और छात्र उन दोनों के मध्य में उपलब्ध न होने से (शब्द के) [अहेतुः] उक्त हेतु युक्त नहीं है ।

जो पदार्थ किसी व्यक्ति के द्वारा दूसरे को सम्प्रदान कियाजाता है, वह देनेवाले और लेनेवाले दोनों के बीच बराबर देखाजाता है, प्रत्येक आँखवाला वहाँ उपस्थित व्यक्ति उसे उपलब्ध करता है । परन्तु आचार्य और छात्र के अन्तराल में शब्द विद्यमान रहता है, इसमें क्या प्रमाण है ? वह कौन-सा हेतु है, जिससे आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द का–आचार्य और छात्र के अन्तराल में–स्थिर होना स्वीकार कियाजाय ? स्थिर वस्तु के विषय में यह निश्चित बात है कि प्रदाता के द्वारा जो वस्तु दीजाती है, आदाता उसी वस्तु को ग्रहण करता है । यह स्थिति शब्द के विषय में मानने के लिए कोई हेतु नहीं है ।। २६ ।

'सम्प्रदान' का पोषक अध्यापन—वादी के द्वारा इस विषय में प्रस्तुत हेतु को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २७ ॥ (१५६)

[अध्यापनात्] अध्यापन से (अन्तराल में शब्द का विद्यमान होना स्पष्ट होता है, अतः) [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध करना असंगत है ('सम्प्रदान' हेतु का)।

आचार्य द्वारा उच्चरित शब्दों को कुछ दूर बैठा छात्र सुनता है, और उससे अभिमत अर्थ का ग्रहण करता है। यही 'अध्यापन' का स्वरूप है। यदि दोनों के अन्तराल में शब्द को विद्यमान न मानाजाय, तो अध्यापन असम्भव होगा। इसको झुठलाया नहीं जासकता। आचार्य के सन्मुख छात्रों की बड़ी संख्या आगे-पीछे दूरतक बैठी रहती है। आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द सबसे अन्तिम छात्र तक यथावत् सुनाई देता है। इससे आचार्य और छात्रों के मध्यगत अवकाश में शब्द की स्थिति निश्चित होती है। फलतः 'अध्यापन'-हेतु शब्द की स्थिरता को स्पष्ट करता हुआ शब्द की नित्यता को सिद्ध करता है। आचार्य और छात्र के अन्तराल में शब्द की अनुपलब्धि तो वहाँ कण्ठ-तालु आदि के साथ वायु के अभिघातरूप व्यञ्जक के न होने से है। यदि वहाँ शब्द का अभिव्यञ्जक रहेगा, तो शब्द अवश्य उपलब्ध होगा ॥ २७ ॥

'अध्यापन' शब्दसम्प्रदान का साधन नहीं—आचार्य सूत्रकार ने कहा—शब्द को नित्य अथवा अनित्य कैसा भी मानकर 'अध्यापन' दोनों अवस्थाओं में समानरूप से होसकता है। इसी भाव को सूत्रित किया—

उभयोःपक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः ॥ २८ (१५७)

[उभयोः] दोनों [पक्षयोः] पक्षों में (अध्यापन के समानरूप से सम्भव होने के कारण) [अन्यतरस्य] दोनों पक्षों में से किसी एक का [अध्यापनात्] अध्यापन-हेतु से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होसकता।

शब्द को चाहे नित्य मानाजाय अथवा अनित्य, दोनों पक्षों में अध्यापन-कार्य सम्भव है। अनित्य पक्ष में आचार्य के मुख से उच्चरित शब्द सन्ततिक्रम द्वारा छात्र के श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है। आचार्य-छात्रों के अन्तराल में आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द स्थिर रहता हुआ, अर्थात् वही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है, ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत उच्चरित शब्द का सन्ततिक्रम से उत्पन्न होता हुआ सजातीय शब्द श्रोत्र तक पहुँचता है। इससे अर्थग्रहण में कोई बाधा नहीं आती; अध्यापन सम्पन्न होजाता है। अतः अध्यापन इन दोनों [शब्द का नित्यत्व-अनित्यत्व] पक्षों में से किसी एक का निश्चायक न होने के कारण संशय [नित्यानित्यविषयक] को निवृत्त नहीं करपाता।

'अध्यापन' का स्वरूप—इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि वस्तुतः 'अध्यापन' का स्वरूप क्या है ? क्या आचार्य के मुख से उच्चरित शब्द छात्र को साक्षात् प्राप्त होजाता है, –यह अध्यापन है ? अथवा जैसे गुरु नृत्य का उपदेश करता है–विशिष्ट अङ्गसंचालन क्रिया का अभिनय करता है, और छात्र उसको समझकर उस क्रिया का अनुकरण करता है, – यह अध्यापन है ? पहले पक्ष में आचार्यस्थित शब्द छात्र को प्राप्त होता है। दूसरे विकल्प में क्रिया के समान आचार्य–उच्चरित शब्द का–छात्र केवल–अनुकरण करता है। जैसे दोनों की नृत्यक्रिया भिन्न हैं, पर समानजातीय हैं। ऐसे गुरु से उच्चरित शब्दों का शिष्य द्वारा उच्चारण कियेजाने में साजात्य होने पर भी दोनों के शब्द भिन्न हैं। अङ्गचालन-क्रिया जैसे अनित्य है; चालन के अनन्तर नष्ट होजाती है; ऐसे उच्चारण के अनन्तर शब्द नष्ट होजाता है। शब्द का उच्चारण शब्द का उत्पन्न होना है। उत्पत्ति और विनाश होने से शब्द अनित्य है। फलतः 'अध्यापन' नित्य और अनित्य दोनों पक्षों में समान होने से 'सम्प्रदान' का साधक नहीं होसकता। अतः 'सम्प्रदान'-हेतु शब्द की नित्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ २८ ॥

'अभ्यास'-हेतु शब्दनित्यत्व में—शब्दनित्यत्ववादी ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया, सूत्रकार उसे सूत्रित करता है—

अभ्यासात् ॥ २९ ॥ (१५८)

[अभ्यासात्] अभ्यास से (शब्द को नित्य मानाजाना चाहिये)।

किसी कार्य को दुहराया-तिहरायाजाना, बार-बार करना 'अभ्यास' कहाजाता है। ऐसे अभ्यास का विषय स्थिर देखागया है। यदि वह स्थिर न हो, तो बार-बार होनेवाली क्रिया का वह विषय नहीं होसकता। जैसे कोई कहता है–मैंने इस रूप अथवा घटादि पदार्थ को पाँच बार देखा है; उसने दस वार देखा था। इस दर्शनक्रिया का विषय यदि स्थिर न हो, तो उसका अनेक वार देखाजाना सम्भव नहीं। यह देखने का अभ्यास दर्शन-विषय को स्थिर सिद्ध करता है। ऐसा अभ्यास शब्द के विषय में सर्वविदित है। छात्र आचार्य से कहता है–मैंने इस अनुवाक का दस वार अध्ययन या पाठ किया है; और मेरे उस साथी ने बीस वार। आये दिन शिक्षा-केन्द्रों में अध्यापक छात्रों से उन्हीं पाठों की अनेक वार आवृत्ति करवाते रहते हैं। ये अनुवाक और पाठ सब शब्दरूप हैं; इनका अभ्यास बराबर कियाजाता है। फलतः अभ्यास का विषय वही सम्भव है, जो स्थिर हो। शब्द अभ्यास का विषय होने से स्थिर [अक्षणिक-नित्य] मानाजाना चाहिये ॥ २९ ॥

'अभ्यास' शब्दनित्यत्व का साधक नहीं—गत हेतु के उत्तर के समान आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत हेतु के विषय में बताया—

नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् ।। ३० ।। (१५६)

[न] नहीं (उक्त हेतु ठीक), [अन्यत्वे] अन्य-अस्थिर में [अपि] भी [अभ्यासस्य] अभ्यास का [उपचारात्] व्यवहार होने से ।

वादी ने कहा–अभ्यास स्थिर में देखाजाता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया–स्थिर से अन्य–अस्थिर में भी अभ्यास का व्यवहार देखाजाता है। तात्पर्य है, अभ्यास स्थिर में ही होता हो, ऐसा नहीं है; वह अस्थिर में भी सम्भव है। जैसे किसी क्रिया के स्थिर विषय के लिए अभ्यास का प्रयोग होता है, वैसे साक्षात् क्रिया के लिए अभ्यास का प्रयोग होता है, क्रिया के अनित्य व अस्थिर होने के विषय में किसीका विरोध नहीं है। क्रिया सर्वसम्मति से अस्थिर है; पर उसके लिए अभ्यास का प्रयोग होता है। दो वार नाचता है, तीन वार नाचता है; दो वार हवन करता है; अथवा दो वार खाता है; इन व्यवहारों में नाचना–हवन करना–खाना आदि सब क्रिया हैं; इनके लिए दो वार, चार वार, दस वार, आदि अभ्यास का प्रयोग लोकसिद्ध तथ्य है। फलतः स्थिर और अस्थिर दोनों में अभ्यास-व्यवहार समान है। दोनों में से किसी एक का निश्चायक न होने से यह अभ्यास हेतु संशय को निवृत्त नहीं करता कि अभ्यास स्थिर में होता है या अस्थिर में ? अतः यह शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है ।। ३० ।।

अनैकान्तिक दोष से उक्त हेतु के प्रतिषिद्ध होजाने पर शब्दनित्यत्ववादी झल्लाकर 'अन्य' शब्द पर टूट पड़ता है, और उसीका प्रतिषेध करने लगता है। सूत्रकार ने उसके भाव को सूत्रित किया—

अन्यदन्यस्मादनन्यत्वादनन्यदित्यन्यताऽभावः ।। ३१ ।। (१६०)

[अन्यत्]अन्य [अन्यस्मात्] अन्य से [अनन्यत्वात्] अनन्य होने के कारण [अनन्यत्] अनन्य है, [इति] इस कारण [अन्यताऽभावः] अन्य होने का अभाव है।

शब्द–अनित्यत्ववादी ने कहा–शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत 'अभ्यास' हेतु का स्थिर वस्तु से अन्य अस्थिर में भी व्यवहार देखाजाता है, अतः 'अभ्यास' हेतु ऐकान्तिकरूप से शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं करता। इस कथन में 'अन्य' शब्द के प्रयोग को लक्ष्यकर शब्दनित्यत्ववादी का कहना है कि 'अन्य' कोई नहीं; क्योंकि 'अन्य' स्वयं अपनी अपेक्षा से 'अनन्य' होता है। 'अन्य' अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, इसप्रकार 'अन्य' अपने से अन्य न होने के कारण 'अनन्य' है। जब 'अन्य' कोई अस्तित्व नहीं रखता, तो यह कहना असंगत है कि अन्य में 'अभ्यास' का व्यवहार होता है।

यही बात शब्द के विषय में देखनी चाहिये, शब्द स्वरूप से भिन्न न होने के कारण अभेदरूप है। तब विभिन्न काल में तथा विभिन्न व्यक्तियों द्वारा उच्चरित शब्द के अभिन्न होने के कारण उसका 'स्थिर होना' सिद्ध होता है। शब्द की यह स्थिति शब्द के नित्य होने में साधक है ॥ ३१ ॥

वादी ने 'अन्य' पद के प्रयोग का प्रतिषेध कर 'अनन्य' की स्थापना की। आचार्य सूत्रकार कहता है–यदि 'अन्य' का प्रतिषेध करते हो, तो 'अनन्य' का स्वतः प्रतिषेध होजाता है। सूत्रकार ने बताया—

तदभावे नास्त्यनन्यता तयोरितरेतरापेक्षसिद्धेः ॥ ३२ ॥ (१६१)

[तदभावे] अन्य के अभाव में [न] नहीं [अस्ति] सम्भव है [अनन्यता] अनन्य का होना, [तयोः] उन दोनों (अन्य और अनन्य) में [इतरेतरापेक्ष-सिद्धेः] इतर (=एक अनन्य) के इतर (=दूसरे–अन्य) की अपेक्षा से सिद्धि होने के कारण।

'अन्यदन्यस्मात्' इन गत सूत्र के पदों द्वारा वादी ने स्वयं 'अन्य' का उपपादन करदिया है; फिर भी वह 'अन्य' का प्रत्याख्यान करता है, तथा 'अनन्य' पद के प्रयोग को स्वीकार करता है। स्पष्ट है कि 'अनन्य' समासयुक्त पद है। 'नञ्' के साथ 'अन्य' पद का समास हुआ है–'न अन्यः–अनन्यः'। यदि इन दो [न–अन्यः] पदों में उत्तरपद 'अन्य' नहीं है, तो नञ् का समास किसके साथ होता है? इसका कोई उत्तर नहीं है। फलतः 'अन्य' पद के प्रयोग और उसके अर्थ की उपेक्षा नहीं कीजासकती; क्योंकि 'अनन्य' पद 'अन्य' की अपेक्षा से सिद्ध होसकता है। इसलिए 'अन्य' के व्यवस्थित रहने पर–स्थिर से अन्य अर्थात् अस्थिर में 'अभ्यास' हेतु के देखेजाने से हेतु की अनैकान्तिकता स्पष्ट होजाती है, जिससे उक्त हेतु शब्द का नित्यत्व सिद्ध करने में असमर्थ रहता है ॥ ३२ ॥

शब्दनित्यत्व में हेतु-'विनाशकारणानुपलब्धि'—ऐसी स्थिति में शब्द-नित्यत्ववादी अन्य हेतु प्रस्तुत करता है। सूत्रकार ने हेतु को सूत्रित किया—

विनाशकारणानुपलब्धेः ॥ ३३ ॥ (१६२)

[विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाश के कारण उपलब्ध न होने से (शब्द को अविनाशी–नित्य मानना चाहिये)।

किसी अनित्य पदार्थ का विनाश उसके कारणों से होता है। घट-पट आदि अनित्य द्रव्यों का विनाश–उनके कारण द्रव्यों का विभाग होजाने पर–होजाता है। यदि शब्द अनित्य है, तो उसका विनाश जिन कारणों से होता है,

वे कारण उपलब्ध होने चाहियें; परन्तु ऐसा कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः शब्द को नित्य मानना उपयुक्त है ॥ ३३ ॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का उसी रीति पर उत्तर दिया—

अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः ॥ ३४ ॥ (१६३)

[अश्रवणकारणानुपलब्धेः] न सुनने के कारणों की अनुपलब्धि से शब्द का [सततश्रवणप्रसङ्गः] निरन्तर सुनाजाना प्राप्त होना चाहिये।

यदि कहाजाता है-शब्द के विनाश-कारणों की उपलब्धि न होने से शब्द अविनाशी-नित्य है, तो शब्द के न सुनेजाने के कारणों की उपलब्धि न होने से शब्द निरन्तर सुनाजाना चाहिये।

यदि कहाजाय-व्यञ्जक के न होने से शब्द सुनाई नहीं देरहा। जैसे ही व्यञ्जक उपस्थित होता है, शब्द सुनाई देनेलगता है। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम इस बात का सप्रमाण प्रतिषेध कियाजाचुका है कि अभिघात आदि संयोग शब्द के अभिव्यञ्जक नहीं हैं। यदि विद्यमान शब्द का अश्रवण विना निमित्त के मानाजाता है, तो विद्यमान शब्द का विनाश भी विना निमित्त क्यों न मानाजाय? विना निमित्त के कोई कार्य होताहुआ देखा नहीं जाता; यह कथन शब्द के विनाश और अश्रवण दोनों में समान है। इस निराधार कथन के लिए कोई एक पक्ष दूसरे पर आपत्ति नहीं करसकता ॥ ३४ ॥

'विनाशकारणानुपलब्धि' हेतु शब्दनित्यत्व का असाधक—अपने प्रतिबन्दी उत्तर से असन्तुष्ट सूत्रकार 'विनाशकारणानुपलब्धेः' हेतु का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है—

उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः ॥ ३५ ॥ (१६४)

[उपलभ्यमाने] उपलब्ध होजाने पर (शब्दविनाशकारण के) [च] तथा [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के (शब्दविनाशकारण की) [असत्त्वात्] न रहने से [अनपदेशः] उक्त-हेतु-कथन (विनाशकारणानुपलब्धेः) असंगत है।

शब्द की उत्पत्ति का कारण अभिघात आदि संयोग है। उत्पत्तिकारण संयोग का नाश होजाना शब्द के विनाश का कारण है। यह प्रतिपादित कियाजाचुका है कि संयोग शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं है, प्रत्युत उत्पादक है। क्योंकि व्यञ्जक की अनुपस्थिति में व्यंग्य का ग्रहण नहीं होता; परन्तु शब्द के उत्पादक संयोग के न रहने पर भी शब्द का ग्रहण होजाता है। यह स्थिति इस तथ्य का अनुमान कराती है कि शब्द के कारण-संयोग के न रहने पर शब्द के ग्रहण होने या सुनेजाने का आधार 'शब्दसन्तान' है। संयोग या विभाग किसी भी निमित्त से उत्पन्न होकर शब्द आगे अपने सजातीय अन्य शब्द को

उत्पन्न करता है, वह आगे अन्य शब्द को। इसीप्रकार पहले शब्द से अगला सजातीय शब्द उत्पन्न होता चलाजाता है।

यह शब्दसन्तान तबतक चालू रहता है, जबतक शब्दसन्तान का निरोध करनेवाली कोई बाधा सामने न आजाय। बाधा न आने पर भी शब्दोत्पत्ति के इस क्रम का अन्त, आद्य शब्द के उत्पादक संयोग आदि की क्षमता पर निर्भर रहता है। जितनी अधिक तीव्रता से अभिघातरूप संयोग होकर शब्द की उत्पत्ति होगी, उसके अनुसार शब्दसन्तति का क्रम समीप या दूरतक चलताजायगा। क्षमता समाप्त होने पर अन्तिम शब्द आपस में टकराकर नष्ट होजायेंगे।

शब्दसन्तति का क्रम बाधा आजाने पर अवरुद्ध होजाता है, इसका प्रत्यक्ष अनुभव होता है। दो व्यक्तियों के परस्पर वार्त्तालाप करने पर अथवा एक व्यक्ति के द्वारा कुछ कथन कियेजाने पर जिस दिशा में खुला वातावरण रहता है—कोई दीवार आदि की बाधा नहीं रहती, उस ओर शब्द दूरतक सुनाई देता रहता है; जिस ओर बाधा हो, उसे लाँघकर या पार कर शब्द दूसरी ओर सुनाई नहीं देता। इससे स्पष्ट होता है—शब्दसन्तति का क्रम बाधा आजाने पर रुद्ध व नष्ट होजाता है।

कभी-कभी शब्दसन्तति का प्रत्यक्ष से अनुभव होता है। घण्टा बजायेजाने पर अतिसमीप, समीप, दूर, अधिकदूर स्थित व्यक्तियों के द्वारा शब्द तारतर, तार, मन्द, मन्दतर आदि विभिन्न रूपों में सुनाई देता है। यह शब्दभेद शब्द-सन्तान को सिद्ध करता है। अन्यथा शब्द के नित्य व एक होने पर वह सबको समानरूप में सुनाई देना चाहिये। उस दशा में शब्द के तार मन्द आदि भेदों का होना सम्भव नहीं है। शब्दभेद से शब्दसन्तति का होना सिद्ध होता है, उससे शब्द का विनाशी होना निश्चित है। ऐसी दशा में शब्द के विनाशकारणों को अनुपलब्ध बताना असंगत है।

यदि फिर भी शब्द को नित्य मानाजाता है, तो उसके तार, तारतर, मन्द, मन्दतर आदि भेदों की अभिव्यक्ति के कारण बताने चाहियें। क्या वे कारण घण्टा में अवस्थित रहते हैं? अथवा अन्यत्र श्रोत्र आदि में? जहाँ से शब्द होरहा है, या जहाँ सुनाई देरहा है, वहीं शब्दभेद के कारणों की सम्भावना होसकती है। फिर इसका भी समाधान होना चाहिये कि वह कारण अवस्थित है? अर्थात् एकरूप में विद्यमान रहता है? अथवा सन्तानवृत्ति है? अर्थात् सन्तान के समान-भिन्नरूप में सुनाई देनेवाले शब्द के समान अनवस्थित है? फिर यह भी विचारणीय है कि वह तार, मन्द आदि शब्द का अभिव्यञ्जक कारण अवस्थित मानेजाने पर नित्य है? अथवा शब्दसन्तान के समान वह व्यञ्जक भी तार, मन्द आदि रूप में उपस्थित होता है? शब्दभेद प्रत्यक्ष से गृहीत होता है, उसका अपलाप नहीं कियाजासकता। शब्दनित्यत्ववादी के द्वारा

उक्त परिस्थितियों में शब्द की नित्यता व एकता को मानकर तार-मन्द आदिरूप में श्रुतिभेद का उपपादन करना सम्भव नहीं है।

शब्द को अनित्य एवं उत्पन्न होनेवाला मानने पर श्रुतिभेद का समाधान अनायास मिलजाता है। शब्द की उत्पत्ति के लिए घण्टा में मुग्दर आदि अन्य निमित्त का अभिघात तीव्र या मन्द जैसा होगा, उसके अनुसार घण्टा में शब्दोत्पत्ति के साथ वेगाख्य संस्कार उत्पन्न होजाता है। वेग-सन्तान के अनुरूप शब्दसन्तान होने से तार-मन्द आदि शब्दभेद उपपन्न होजाता है। वेग का आश्रय वहाँ स्थानीय वातावरण को समझना चाहिये। शब्दोत्पत्ति में यह निमित्तकारण रहता है। वेग की पटुता-तीव्रता शब्द के तार-मन्द श्रुतिभेद में निमित्त है। अतः शब्द को अनित्य मानना निर्दोष है ॥ ३५ ॥

शब्दसन्तान में 'वेग' संस्कार निमित्त--शिष्य जिज्ञासा करता है, वेगाख्य संस्कार की पटुता-मन्दता से शब्द तार या मन्द सुनाई देता है; परन्तु निमित्त के विना संस्कार आ कहाँ से जायगा? वहाँ संस्कार की उपलब्धि–विद्यमानता को स्पष्ट करना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

पाणिनिमित्तप्रश्लेषाच्छब्दाभावे नानुपलब्धिः ॥ ३६ ॥ (१६५)

[पाणिनिमित्तप्रश्लेषात्] हाथ का शब्द-निमित्त के साथ सम्पर्क होने से [शब्दाभावे] शब्द के न रहने पर [न] नहीं है [अनुपलब्धिः] अनुपलब्धि (वेग-संस्कार की)।

जब घण्टे पर मुग्दर की चोट पड़ती है, तब कुछ देर तक झनझनाहट के साथ ध्वनियाँ प्रवाहित होती रहती हैं। यदि एक वार चोट देकर छोड़दियाजाय, तो ध्वनि का प्रवाह तीव्रता से मन्दता की ओर बहता अनुभव होता है। यदि चोट देते ही घण्टे को हाथ से छू लियाजाय, तो वह प्रकम्पन-जैसा ध्वनिप्रवाह तत्काल बन्द होजाता है। तब वह शब्दसन्तान उपलब्ध नहीं होता, न शब्द सुनाई देता है। इससे अनुमान होता है, घण्टे से हाथ का संस्पर्श शब्द के निमित्तविशेष वेग-संस्कार को रोकदेता है। उसके रुकजाने से शब्दसन्तान उत्पन्न नहीं होता, अतः शब्द का सुनाई देना बन्द होजाता है। शब्द जब उत्पन्न न होगा, तो सुनाई कैसे देगा? यह ऐसा है, जैसे धनुष से छोड़े बाण की गति–आगे दीवार या लक्ष्य आदि के साथ बाण के टकराजाने पर–रुकजाती है।

वेग-संस्कार सन्तति के रूप में प्रवाहित होता है, इसे समझने के लिए एक साधारण प्रकार और है। प्रत्येक व्यक्ति इसका अनुभव करसकता है। एक कांसे की थाली को कुछ अधर में टिकाकर उसे साधारण झटके के साथ हिला दीजिये। उसमें एक कम्पन पैदा होजायगा। बहुत धीरे से थाली के साथ हाथ का स्पर्श होनेपर उस कम्पन का अनुभव कियाजासकता है। यदि थाली को

कम्पन के समय किसी स्तर पर बलपूर्वक रोकदियाजाय, तो कम्पसन्तान समाप्त होजायगा। इसीप्रकार शब्द के निमित्त घण्टा आदि के साथ हाथ का सम्पर्क होनेपर वेग-संस्कार का प्रवाह रुकजाता है, जिसको घण्टे पर मुग्दर आदि के अभिघात ने उत्पन्न किया था। फलतः हाथ के संपर्क से वेग के प्रवाह का रुक-जाना, वेग-संस्कार के अस्तित्व का बोधक है। तब शब्दसन्तान के उत्पादक संस्कार की अनुपलब्धि कहना असंगत है ॥ ३६ ॥

पीछे कहेगये 'विनाशकारणानुपलब्धेः' हेतु का उक्त प्रकार से प्रतिषेध कर, उसकी पुष्टि के लिए प्रतिबन्दी उत्तर सूत्रकार ने दिया—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व-प्रसङ्गः ॥ ३७ ॥ (१६६)

[विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाशकारण की उपलब्धि न होने से [च] तथा शब्द के [अवस्थाने] नित्य होनेपर [तन्नित्यत्वप्रसङ्गः], शब्दश्रवण का नित्य होना प्राप्त होता है।

शब्दनित्यत्ववादी का कहना है–शब्द के विनाश का कारण उपलब्ध न होने से शब्द नित्य है। परन्तु शब्दनित्यत्ववादी ने शब्दश्रवण के विनाशकारण का उपपादन नहीं किया। उसके अनुसार शब्दश्रवण के विनाशकारण की उपलब्धि न होने पर भी नित्यत्ववादी शब्दश्रवण को नित्य नहीं मानता, अनित्य कहता है; अन्यथा शब्द निरन्तर सुनाई देता। तब उसीप्रकार शब्द के विनाश-कारण की उपलब्धि न होने पर भी शब्दश्रवण के समान शब्द को भी अनित्य क्यों न मानाजाय ? विनाशकारणानुपलब्धि शब्दश्रवण और शब्द,दोनों में समान है। उभयत्र हेतु समान होने पर या तो दोनों को अनित्य कहाजाय, तब शब्द का नित्यत्व दूरापेत होजाता है; अथवा दोनों को नित्य कहाजाय। इस दशा में शब्दश्रवण के नित्य होने से वह सतत सुनाई देता रहना चाहिये, जो सर्वथा प्रमाणविरुद्ध है।

चौंतीसवें सूत्र से इसका इतना भेद है–वहाँ शब्द के सतत श्रवण की आपत्ति दीगई है। यहाँ शब्द के अनित्यत्व का आपादन कियागया है ॥ ३७ ॥

शिष्य जिज्ञासा करता है, घण्टे में मुग्दर के अभिघात से जैसे कम्पन उत्पन्न होता है, ऐसे शब्द उत्पन्न होता है। ध्वनि का प्रवाह कम्पन के प्रवाह का अनुगमन करता है। तात्पर्य है–कम्पनसन्तान से ध्वनिसन्तान उत्पन्न होती जाती है। इस बीच यदि घण्टे से हाथ आदि का संपर्क होजाता है, तो वेग-संस्कार के अवरुद्ध होजाने से कम्पन समाप्त होजाता है, और उसकी समाप्ति से ध्वनिसन्तान का उपरम होजाता है। इससे यह परिणाम सामने आता है कि कम्पन का जो आश्रय है, वही ध्वनि का आश्रय होजाना चाहिये। यदि ध्वनि

कम्पसमानाश्रय न हो, तो कम्प के आश्रय घण्टा के साथ हाथ का सम्पर्क होने पर कम्प समाप्त होजाने पर भी ध्वनि की समाप्ति न होनीचाहिये; क्योंकि ध्वनि का अधिकरण कम्प के अधिकरण से भिन्न है; उसके साथ हाथ का सम्पर्क नहीं है। ऐसी स्थिति में कम्प और ध्वनि का आश्रय एक होना चाहिये। कम्प का आश्रय घण्टा है, यह स्पष्ट है। ध्वनि का भी वही आश्रय मानने पर ध्वनि अथवा शब्द का आश्रय आकाश है, यह शास्त्र का सिद्धान्त अमान्य होजाता है। आचार्य सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया—

अस्पर्शत्वादप्रतिषेधः ॥ ३८ ॥ (१६७)

[अस्पर्शत्वात्] स्पर्शवाला द्रव्य (शब्द का) आश्रय न होने के कारण [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध संगत नहीं है (शब्द के आकाशाश्रय होने का)।

ध्वनि का आश्रय आकाश—पूर्वोक्त जिज्ञासा में—'शब्द का आश्रय आकाश है' इस तथ्य का जो प्रतिषेध कियागया, वह अप्रामाणिक है; किसी प्रमाण से उसे सिद्ध नहीं कियाजासकता। क्योंकि शब्द का आश्रय स्पर्शरहित मानागया है। पृथिवी, जल, तेज, वायु, चारों द्रव्य स्पर्शवाले हैं, इसलिए इनसे अतिरिक्त स्पर्शरहित आकाश द्रव्य शब्द का आश्रय सम्भव है। यदि शब्द को स्पर्शसमान-देश मानाजाता है, तो शब्द का ग्रहण होना असम्भव होगा। घण्टादेश में उत्पन्न शब्द श्रोत्रप्रदेश में सुना नहीं जासकता। घण्टादेश को छोड़कर श्रोत्र तक पहुँचने के लिए शब्दसन्तति जिस व्यापी द्रव्य के आश्रय से प्रवाहित होती है, वही व्यापी आकाश द्रव्य शब्द का आश्रय है। शब्द कम्पसमानाश्रय नहीं होता ॥ ३८ ॥

स्पर्श अथवा रूप आदि के समान-अधिकरण में शब्द अभिव्यक्त होता है; अतः रूपादि के साथ वह उन्हीं द्रव्यों में सन्निविष्ट माननाचाहिये, जिनमें रूपादि सन्निविष्ट हैं। इस विचार को अयुक्त बताते हुए सूत्रकार ने प्रकारान्तर से उसका समाधान प्रस्तुत किया—

विभक्त्यन्तरोपपत्तेश्च समासे ॥ ३९ ॥ (१६८)

[विभक्त्यन्तरोपपत्तेः] भिन्न विभागों की उपपत्ति-सिद्धि से, जो [च] तथा [समासे] समुदाय में (रूप आदि के साथ शब्द के सामानाधिकरण्य में सम्भव नहीं)।

घण्टा एवं अन्य पार्थिवादि द्रव्यों में जैसे रूपादि का सन्निवेश है, ऐसे यदि शब्द का सन्निवेश उन्हीं द्रव्यों में मानाजाता है, तो तीव्र-मन्द आदि विभागों के साथ शब्द का जो ग्रहण होता है, वह न होना चाहिये। क्योंकि प्रत्येक द्रव्य में रूप-गन्ध आदि जिस एक स्थिति में सन्निविष्ट रहते हैं, ठीक उसी स्थिति में वे गृहीत होते हैं। यदि रूपादि के समान शब्द का सन्निवेश

उन्हीं द्रव्यों में होता, तो रूप आदि के समान शब्द एक स्थिति में सन्निविष्ट रहता, तथा उसीके अनुसार गृहीत होता; उसमें तीव्र, तीव्रतर अथवा मन्द, मन्दतर आदि विभागों का गृहीत होना सम्भव न रहता।

देखते हैं—वीणा आदि एक द्रव्य से अभिव्यक्त होता—नानारूप षड्ज, ऋषभ, गान्धार आदि विभिन्न विभागों के साथ—शब्द सुनाजाता है। ये शब्द परस्पर एक-दूसरे से भिन्न होते हैं। यह सब रूपादि की स्थिति से विलक्षण है। इससे स्पष्ट होता है—शब्द रूपादि के साथ पार्थिवादि प्रत्येक द्रव्य में समुदित नहीं रहता। उसका आश्रय रूपादि के आश्रय से भिन्न है।

इसके अतिरिक्त न केवल षड्ज, गान्धार आदि भेद से शब्दों का विभाग है; अपितु जो शब्द षड्ज-रूप में होते हुए समान हैं, समान सुनाई देरहे हैं, समानधर्मा हैं, वे भी तीव्रता-मन्दता आदि के कारण भिन्न सुनाईदेते हैं, इसलिए वस्तुतः वे एक-दूसरे से भिन्न हैं। जहाँ समानश्रुति में तीव्रता-मन्दता नहीं है, वहाँ भी कालभेद से शब्दों का भेद रहता है। यह सब स्थिति उसी पदार्थ में सम्भव है, जो नानारूप में उत्पन्न होता है। एक अवस्थित पदार्थ की अभिव्यक्ति में यह सब सम्भव नहीं। क्योंकि शब्द में यह सब विभाग आदि देखाजाता है; अतः यह कहना सर्वथा असंगत एवं अमान्य है कि—शब्द रूपादि के साथ प्रत्येक पार्थिवादि द्रव्य में सन्निविष्ट हुआ अवस्थित है, तथा प्रकाश से रूपादि के समान उपयुक्त निमित्तों की उपस्थिति में अभिव्यक्त होजाता है।

सूत्र में पठित 'च' पद से पूर्वोक्त 'सन्तानोपपत्तेः' हेतु का यहाँ पुनः स्मरण कराया है। यदि शब्द का आश्रय वही मानाजाता है, जो रूपादि का आश्रय है, तो जैसे रूपसन्तति नहीं होती, ऐसे शब्दसन्तति न होने से शब्द का अभिव्यक्ति-देश से श्रोत्रदेश के साथ सम्बन्ध न होने के कारण उसका ग्रहण कभी न होपायेगा। इस हेतु का व्याख्यान प्रथम करदियागया है।

शब्द के अनित्यत्व का निगमन—आचार्य सूत्रकार ने तेरहवें सूत्र से यहाँतक पूरे सत्ताईस सूत्रों द्वारा शब्द की अनित्यता का विविध प्रकार से विवरण प्रस्तुत किया है। तेरहवें सूत्र की अवतरणिका में भाष्यकार वात्स्यायन ने शब्दविषयक कतिपय विभिन्न मान्यताओं का उल्लेख किया है। वे चार मान्यता इसप्रकार हैं—

१. शब्द आकाश का गुण है, विभु है, नित्य है, अभिव्यक्तिधर्मक है। यह मान्यता वृद्ध मीमांसक आचार्यों की है।[1]

---

१. **'विप्रतिपत्तिं दर्शयन् जरन्मीमांसकानां मतमाह'। तात्पर्यटीका। वात्स्यायन-भाष्य के आधुनिक व्याख्याकार सुदर्शनाचार्य ने इस मत को प्रभाकर का लिखा है। सूत्रकार अथवा भाष्यकार के काल में प्रभाकर नाम से प्रचलित मान्यता रही हो; यह नितान्त चिन्त्य है।**

२. जहाँ गन्ध, रूप आदि रहते हैं, उन्हीं पृथिवी आदि में शब्द रहता है। गन्ध आदि के समान अवस्थित है; अभिव्यक्तिधर्मक है। तात्पर्यटीका में इसे सांख्य का मत बताया है।

३. शब्द आकाश का गुण है; उत्पत्ति-विनाशधर्मक है। ज्ञान जैसे उत्पन्न होता और नष्ट होता रहता है, वैसा ही शब्द है। यह मान्यता वैशेषिक-की बताईगई है।

४. पार्थिव आदि भौतिक पदार्थों के परस्पर प्रतिघात से उत्पन्न होता है। यह किसीके आश्रित नहीं रहता; अर्थात् किसी द्रव्य का गुण नहीं है। उत्पत्तिविनाशधर्मक है शब्द। तात्पर्यटीका में इसे बौद्धमत बताया है।

इन सभी मान्यताओं का विवेचन दो बातों में आजाता है–शब्द अनित्य है, तथा आकाश का गुण है। इन सत्ताईस सूत्रों में इन्हीं बातों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत कर सूत्रकार ने सभी मान्यताओं में जो यथार्थ है, उसका उपपादन करदिया है। भाष्यकार द्वारा प्रस्तुत कीगईं मान्यताओं को वाचस्पति मिश्र ने तात्पर्यटीका में जिन विशिष्ट नामों के साथ निर्दिष्ट किया है, उस रूप में वे सब मान्यता सूत्रकार के काल में विचारणीय होने पर भी भाष्यकार के काल में सम्भव हैं। इस प्रकरण में तथा अन्य प्रकरणों में भी सूत्रकार ने अनेक प्रसंग शिष्यों को तर्क करने के–तथा कियेगये तर्क का उत्तर देने के–दावपेंच सिखाने की भावना से प्रस्तुत किये हों, ऐसा सम्भव है ॥ ३९ ॥

वर्णात्मक शब्द-विचार—शब्द की अनित्यता का निर्णय कर सूत्रकार वर्ण के स्वरूप के विषय में विवेचन करने की भावना से प्रकरण प्रारम्भ करता है। लोक में शब्द का स्वरूप दो प्रकार का अनुभव में आता है–एक ध्वनिरूप, दूसरा वर्णरूप। ध्वनिरूप अव्यक्त शब्द है। वर्णात्मक वह है, जिसे संस्कृत मानव-समाज पारस्परिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त करता है। वर्णात्मक शब्द को लक्ष्यकर जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत संशय को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

विकारादेशोपदेशात् संशय: ॥ ४० ॥ (१६६)

[विकारादेशोपदेशात्] विकार और आदेश दोनों के कथन से (वर्ण में) [संशय] संशय है–(वर्ण में विकार मानाजाय अथवा आदेश ?)।

वर्णों में विकार है या आदेश ?—व्याकरणशास्त्र में व्यवहार्य पदों की सिद्धि की भावना से उनमें आये वर्णों की उलट-फेर के लिए अनेक नियमों की व्यवस्था कीगई है। जैसे–'दध्यत्र' पद है। यह 'दधि+अत्र' इन दो पदों की सन्धि करके सिद्धहोता है। सन्धिके नियम के अनुसार 'दधि' पद के 'इकार' की जगह 'यकार' आजाता है। यहाँ संशय होता है–एक वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण के प्रयोग को वर्ण का विकार मानाजाय, अथवा आदेश ?

विकार वह है–जहाँ एक वस्तु विनष्ट होती हुई, अथवा विनष्ट न होती हुई ही दूसरी वस्तु के रूप में परिणत होजाती है। जैसे–दूध का विकार दही, बीज का विकार अंकुर, सुवर्ण का विकार कुण्डल रुचक आदि, मृत्तिका का विकार घट, दो धातुकपालों का विकार कलश। इन विकार के उदाहरणों में दूध व बीज का नाश होकर वह अन्य द्रव्य के रूप में परिणत होजाता है। सुवर्ण व मृत्तिका का भी प्रथमपिण्डरूप कुट-पिट कर नष्ट होजाता है, वह अन्य द्रव्य के रूप में अथवा अन्य आकार में चलाजाता है। दो धातुकपाल स्वरूप से नष्ट न होते हुए भी जोड़ेजाकर कलश के आकार को प्राप्त कर-लेते हैं।

आदेश का स्वरूप यह है कि एक की जगह दूसरा आजाता है, पहला हटजाता है। जैसे पूर्वोक्त 'दध्यत्र' उदाहरण में 'इ' के स्थान पर 'य' आजाता है, 'इ' हटजाता है, जब दोनों पदों का सन्धि करके प्रयोग करना अपेक्षित हो। यहाँ संशय यह है कि वर्णों के इस परिवर्त्तन को दूध-दही और बीज-अंकुर के समान विकार मानाजाना चाहिये; अथवा आदेश ? आदेश ऐसा होता है, जैसे देवदत्त पहरेदार के स्थान पर समयानुसार यज्ञदत्त आजाता है; और यज्ञदत्त के स्थान पर विष्णुमित्र; अथवा पुनः देवदत्त आजाता है। विकार और आदेश इन दोनों प्रकार के परिवर्त्तनों में से वर्णों के विषय में कौन-सा परिवर्त्तन यथार्थ है, इसका निश्चय कियाजाना चाहिये।

वर्णों में विकार नहीं—इस विषय में आचार्य सूत्रकार का अभिमत है–वर्णों में विकार नहीं मानाजाना चाहिये, आदेश मानना यथार्थ है। पहली बात यह है कि पूर्वोक्त विकार प्रायः द्रव्य पदार्थों में देखाजाता है। इसके अतिरिक्त विकारों में सर्वत्र कोई अन्वयी धर्म विद्यमान रहता है। अन्वयी धर्म का तात्पर्य है, कारण से कार्य-विकार में आनेवाला अनुगत धर्म; जो कारण-कार्य दोनों में प्राप्त रहता है। विकारस्थल में कुछ धर्म निवृत्त होजाते हैं, कुछ नये उत्पन्न होजाते हैं, कुछ अवस्थित रहते हैं। जो अवस्थित रहता है, वह अन्वयी धर्म है। वर्णों के परिवर्त्तन में ऐसा अन्वयी धर्म विकारगत कोई नहीं जानाजाता; अतः वर्णों में विकार नहीं होता, यह समझना चाहिये।

'इ' और 'य' के उच्चारण में प्रयत्न का भेद रहता है। व्याकरण में 'इ' के उच्चारण के लिए 'विवृतप्रयत्न' और 'य' के उचचारण के लिए 'ईषत्स्पृष्ट-प्रयत्न' बताया है। इनमें एक ('इ') का प्रयोग न होने पर दूसरे ('य') का प्रयोग होपाता है। जिसका प्रयोग नहीं होता, वह निवृत्त होगया। निवृत्त हुआ वर्ण आनेवाले का प्रकृति (–उपादानकारण) नहीं है। इसलिए वर्णों में प्रकृति-विकारभाव कहना असंगत है। यदि इनमें प्रकृति-विकारभाव मानाजाय, तब पहले प्रयुक्त वर्ण की निवृत्ति नहीं होसकती; जैसे कटक-कुण्डल आदि विकारों

में सुवर्ण की, तथा घट-मटका आदि विकारों में मृत्तिका की निवृत्ति नहीं होती। परन्तु वर्णों में 'इ' की निवृत्ति होजाने पर 'य' का प्रयोग सम्भव होता है। वर्णों की यह स्थिति इनके परस्पर-विरोध को प्रकट करती है। विरोधी अर्थों में प्रकृति-विकारभाव नहीं होता, सजातीय में हुआ करता है। इसलिए वर्णों में विकार मानना संगत नहीं।

इसके अतिरिक्त वर्णों के आदेशपक्ष में यह एक अनुकूल बात है कि जिन प्रयोगों में 'इ' और 'य' विकारभूत नहीं हैं, अर्थात् परिवर्त्तित होकर प्रयोग में नहीं आते, जैसे–'यतते, यच्छति, प्रायंस्त' इत्यादि में 'य'; तथा 'इकारः, इदम्' इत्यादि में 'इ'; और जहाँ विकारभूत हैं, अर्थात् परिवर्त्तित होकर प्रयोग में आये है, जैसे–'इष्ट्या' पद में 'इ' और 'य' दोनों, तथा 'दध्याहर' पद में 'य'; इन दोनों प्रकार के (अपरिवर्त्तित और परिवर्त्तित) प्रयोगों में 'इ' और 'य' का उच्चारण सर्वथा समान होता है। परिवर्त्तित या अपरिवर्त्तित 'इ' तथा 'य' के उच्चारण में किसीप्रकार का कोई अन्तर नहीं रहता। वर्ण का उच्चारण वर्ण का स्वरूप है। जिन पदार्थों का परस्पर प्रकृति-विकारभाव होता है, वहाँ प्रकृति और विकार के स्वरूप में कुछ-न-कुछ अन्तर अवश्य होजाता है। यह सर्वथा असम्भव है कि प्रकृति और विकार पूर्णरूप से समान हों। परन्तु परिवर्त्तित, अपरिवर्त्तित दोनों अवस्थाओं के 'इ' में तथा दोनों अवस्थाओं के 'य' में कोई अन्तर नहीं होता। प्रयोक्ता के द्वारा दोनों 'इ' और दोनों 'य' के उच्चारण में पूर्णरूप से समानता रहती है, तथा श्रोता के द्वारा सुनने में। अतः वर्णों में आदेश का मानना युक्त है, विकार का नहीं।

वर्णों में आदेश मानेजाने का पक्ष इससे भी पुष्ट होता है–वर्णों के प्रयोगों के समय ऐसा कभी नहीं जानाजाता कि 'इ' यकार के आकार में अथवा 'य' इकार के आकार में परिवर्त्तित होरहा है। तात्पर्य है–जब 'इ' के स्थान पर 'य' का प्रयोग, अथवा 'य' के स्थान पर 'इ' का प्रयोग अपेक्षित होता है, तब 'इ' का 'य' तथा 'य' का 'इ' बनतेजाना किसीको गृहीत नहीं होता। प्रत्युत एक के प्रयोग के स्थान पर दूसरे का प्रयोग करदियाजाता है। विकार में ऐसा नहीं है। वहाँ प्रकृति को विकार के रूप में परिणत व परिवर्त्तित होते हुए अनुभव कियाजासकता है।

वर्णों में विकार न मानने पर यदि यह कहाजाय कि इस अवस्था में व्याकरणशास्त्र व्यर्थ होजायगा, क्योंकि वहाँ वर्णों के विकार का विवरण प्रस्तुत कियाजाता है; वस्तुतः यह कहना संगत नहीं है। व्याकरणशास्त्र के द्वारा शब्दों के विषय में जो विवरण प्रस्तुत कियाजाता है, वह वर्णों में विकार को सिद्ध नहीं करता। एक वर्ण किसी अन्य वर्ण का कार्य है, यह उससे कदापि सिद्ध नहीं होता। 'य' से 'इ' उत्पन्न होता है, अथवा 'इ' से 'य', इसका उपपादन

व्याकरण नहीं करता। व्याकरण का विषय केवल यह बताना है कि अपने विभिन्न स्थान–प्रयत्नों से वर्ण उत्पन्न होकर उनमें से किस वर्ण का अन्य के स्थान पर प्रयोग सम्भव है, तथा उसकी व्यवस्था का प्रकार क्या है। वर्णों के इस परिवर्त्तन को न विकार कहाजासकता है, और न यह वर्णों का परस्पर कार्यकारणभाव है।

व्याकरण की यह व्यवस्था न केवल वर्णों के लिए है, प्रत्युत वर्णसमुदायों के लिए भी है। धातुरूप वर्णसमुदाय के स्थान पर अन्य वर्णसमुदाय के प्रयोग का विधान व्याकरण में उपलब्ध होता है। जैसे–'अस्तेर्भूः, ब्रुवो वचिः' यहाँ 'अस्' के स्थान पर 'भू' के, तथा 'ब्रू' के स्थान पर 'वच्' के प्रयोग का–किसी विशेष विषय की विवक्षा होने पर–विधान है। यह न शब्दों का विकार या कार्य है, न परिणाम। यह केवल एक वर्णसमुदाय के स्थान पर अन्य वर्णसमुदाय का प्रयोग है। यही व्यवस्था एक-एक वर्ण के विषय में कहीजासकती है। व्याकरण में इस व्यवस्था को 'आदेश' नाम से कहागया है। प्रयोग में वर्णों के परिवर्त्तन को लक्ष्यकर जो संशय प्रस्तुत कियागया–वर्णों के परिवर्त्तन को विकार मानाजाय या आदेश ?–उसमें निर्णय कियागया—इसे विकार न मानकर 'आदेश' मानना चाहिये ॥ ४० ॥

वर्णों में विकार न होने का अन्य हेतु—वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः ॥ ४१ ॥ (१७०)

[प्रकृतिविवृद्धौ] प्रकृति की विशेष वृद्धि पर [विकारविवृद्धेः] विकार में विशेष बढ़ोतरी से (वर्णों में विकार सम्भव नहीं)।

जहाँ पर अर्थों में प्रकृतिविकारभाव होता है, वहाँ प्रकृति अर्थात् उपादान-तत्त्वों की वृद्धि के अनुसार विकार में बढ़ोतरी देखीजाती है। जितने तन्तु होंगे, उन्हींके अनुसार वस्त्र का विस्तार होगा। सेरभर तन्तुओं से जितना कपड़ा बनेगा, सवासेर से उसकी अपेक्षा अधिक बनेगा, आधा सेर से कम। प्रकृति-विकारभाव स्थलों में प्रकृति के अनुसार विकार का होना देखाजाता है। परन्तु यह व्यवस्था वर्णों में नहीं है। 'ग्रामणी' पद का कर्त्ताकारक बहुवचन में 'ग्रामण्यः' रूप होता है। यहाँ 'ग्रामणी' पद के अन्तिम 'ई' वर्ण के स्थान में 'य' का प्रयोग हुआ है। यदि इनमें प्रकृतिविकारभाव मानाजाय, तो प्रकृति 'ई' दीर्घवर्ण के स्थान में प्रयुक्त होनेवाला 'य' वर्ण दीर्घ होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त 'दध्यत्र' प्रयोग में 'दधि' के ह्रस्व इकारस्थानीय 'य' में दीर्घ ईकारस्थानीय 'य' से कोई भेद नहीं है। इसलिए यहाँ तथाकथित विकार में प्रकृतिवृद्धि की अनुकूलता न होने से वर्णों में प्रकृतिविकारभाव अमान्य है ॥ ४१ ॥

विकारों में न्यूनाधिकभाव—शिष्य आशंका करता है–विकार भी न्यूनाधिक होते देखेजाते हैं, यही स्थिति वर्णों में सम्भव रहे; सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः ॥ ४२ ॥ (१७१)

[न्यूनसमाधिकोपलब्धेः] न्यून, सम, अधिक उपलब्धि से [विकाराणाम्] विकारों की, [अहेतुः] हेतु उपयुक्त प्रतीत नहीं होता (पूर्वसूत्रगत)।

यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र विकार प्रकृति के अनुकूल हों, द्रव्यों में न्यून, सम, अधिक तीनों प्रकार के विकार देखेजाते हैं। रुई से जब धागा बनायाजाता है, तो उसमें से कुछ अंश छीज जाने के कारण रुई के भार की अपेक्षा धागे कम (न्यून) बनते हैं। सुवर्ण से आभूषण बनाने पर दोनों का भार बराबर (सम) देखाजाता है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है; यहाँ विकार प्रकृति से बहुत अधिक होजाता है। इसप्रकार द्रव्यविकारों में प्रकृति से न्यून, सम, अधिक विकार देखाजाता है। वर्णों में भी ऐसा सम्भव है। अतः गतसूत्र में वर्णविकार के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु साध्य का असाधक है। एकमात्रिक 'इ' या द्विमात्रिक 'ई' का विकार अर्धमात्रिक 'य्' न्यून विकार होसकता है।

यह आशंका युक्त नहीं है। केवल द्रव्यों के न्यून, सम, अधिक विकार का दृष्टान्त देकर विचार को प्रस्तुत किया है। हेतु की व्याप्ति के विना केवल दृष्टान्त अर्थ का साधक नहीं होता। पर यहाँ न अन्वयव्याप्ति बनती है, न व्यतिरेक। न्यून, सम, अधिक के साथ विकार का साहचर्यनियम नहीं है। 'जो विकार है वह न्यून होता है', ऐसी अन्वयव्याप्ति नहीं बनती; इसका सम, अधिक विकार के साथ व्यभिचार होगा। ऐसे ही सम के साथ विकार की व्याप्ति कहने में न्यून-अधिक के साथ; तथा अधिक के साथ कहने में न्यून-सम के साथ व्यभिचार होगा। इसप्रकार अन्वयव्याप्ति नहीं बनसकती। व्यतिरेकव्याप्ति भी नहीं बनती, क्योंकि–'जहाँ विकारत्व नहीं है, वहाँ न्यूनत्व आदि भी नहीं है' ऐसा नियम नहीं है। हाथी और घोड़ा एकदूसरे का विकार नहीं है, पर न्यूनता–अधिकता यहाँ रहती है। इसको उलटकर भी व्यतिरेकव्याप्ति नहीं कहीजासकती–'जहाँ न्यूनता आदि नहीं है, वहाँ विकारता नहीं है'। सम आदि द्रव्यों में इसका व्यभिचार होगा।

इसके अतिरिक्त जैसे वर्णविकार की सिद्धि के लिए दृष्टान्त दिया, ऐसे वर्णविकार के अभाव की सिद्धि के लिए प्रतिदृष्टान्त दियाजासकता है। यदि बैल के स्थान पर भार ढोने के लिए गाड़ी में घोड़े को जोत दियाजाय, तो घोड़े को बैल का विकार नहीं कहाजासकता, वर्णों में ऐसा ही होता है–'इ' के स्थान

पर 'य्' का प्रयोग करदियाजाता है। तब दृष्टान्त को स्वीकार कियाजाय, प्रतिदृष्टान्त (मुक़ाबले के दृष्टान्त) को न कियाजाय, ऐसा कोई नियामक हेतु नहीं है। अतः वर्णों में विकार का मानाजाना असंगत है ॥ ४२ ॥

विकार वर्णों में नहीं—सूत्रकार ने उक्त आशंका का स्वयं समाधान प्रस्तुत किया—

नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् ॥ ४३ ॥ (१७२)

[न] नहीं, [अतुल्यप्रकृतीनाम्] भिन्न प्रकृतिवाले [विकारविकल्पात्] विकारों का विकल्प–भेद देखेजाने से।

किसी भी कार्य के उपादान कारणों में भेद होने पर उसके विकार में भेद अवश्य होता है। तात्पर्य है–विकार अपने उपादान कारण के अनुसार हुआ करता है। यदि किन्हीं विकारभूत कार्यों की प्रकृति [उपादानकारण] भिन्न हैं, तो उनके विकार भिन्न होंगे। परन्तु वर्णों में ऐसा नहीं देखाजाता। ह्रस्व इकार के स्थान में जो 'य्' का प्रयोग होता है, और दीर्घ ईकार के स्थान में जो 'य्' प्रयुक्त होता है, वे दोनों 'य्' अर्द्धमात्रिक एक-समान हैं। यदि वर्णों में विकार होता, तो ह्रस्व और दीर्घ 'इ' वर्ण के विकार 'य्' में अवश्य भेद होता। क्योंकि विकार अपनी प्रकृति की अनुकूलता को छोड़ नहीं सकता। इसलिए द्रव्यविकार का उदाहरण देकर वर्णों में विकार बताना असंगत है॥ ४३ ॥

आशंकावादी पुनः कहता है—

द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः ॥ ४४ ॥ (१७३)

[द्रव्यविकारे] द्रव्य के विकार में [वैषम्यवत्] वैषम्य-वैलक्षण्य होने के समान (उपादान द्रव्य से), [वर्णविकारविकल्पः] वर्णों के विकार में विकल्प-वैलक्षण्य सम्भव है।

यह जो कहागया–विकार अपनी प्रकृति के अनुरूप होता है, युक्त नहीं है। बीज प्रकृति है, और वृक्ष विकार; बीज अत्यन्त छोटा और वृक्ष महान् होता है। यहाँ प्रकृति की अनुरूपता विकार में नहीं देखीजाती। फलतः यह आवश्यक नहीं कि विकार सदा अपनी प्रकृति के अनुरूप हो। इसप्रकार ह्रस्व या दीर्घ वर्ण का विकार अर्द्धमात्रिक रूप में अपनी प्रकृति से विलक्षण होना सम्भव है। यदि इस बात का आग्रह हो कि विकार अपनी प्रकृति की अनुरूपता को नहीं छोड़सकता, तो बीज और वृक्ष दोनों द्रव्यत्व सामान्य से तुल्य हैं। तात्पर्य है–जैसे द्रव्यत्व सामान्य से वृक्ष बीज के अनुरूप है; वैसे वर्णत्व सामान्य से 'य्' वर्ण 'इ, ई' वर्णों के अनुरूप है। फलतः वर्णों में विकार का मानाजाना कोई आपत्तिजनक नहीं है॥ ४४ ॥

विकार-धर्म वर्णों में असिद्ध—आचार्य सूत्रकार ने आशंकावादी के उक्त कथन का समाधान किया—

न विकारधर्मानुपपत्तेः ॥ ४५ ॥ (१७४)

[न] नहीं (युक्त, आशंकावादी का कथन) [विकारधर्मानुपपत्तेः] विकार-धर्म की अनुपपत्ति–असिद्धि से (वर्णों में)।

विकार का यह निश्चित धर्म है कि वह अपनी प्रकृति [उपादान कारण] के अनुरूप हो। द्रव्यविकार के विषय में यह देखाजाता है कि उपादान द्रव्य सोना या मिट्टी जैसा हो, उसका विकार तद्रूप होता है। विकारमात्र में उपादान के अन्वयी धर्म का होना आवश्यक है। उपादान द्रव्य वही रहता है, विकार होने पर केवल आकृति अथवा अवयव-सन्निवेश परिवर्त्तित होजाता है। यही विकार का स्वरूप है। मृत्तिका व सुवर्णभाव उनके विकारों में बराबर बनारहता है। परन्तु वर्णों के विषय में कोई ऐसा अन्वयी धर्म प्रतीत नहीं होता, जिसको लक्ष्यकर अथवा आधार मानकर यह कहाजासके कि इसने इकार-पने को छोड़-कर यकार-पना प्राप्त करलिया है, जैसे द्रव्यविकार में कहाजाता है–मिट्टी या सोने ने अपना पिण्डभाव छोड़कर घटभाव अथवा कुण्डल–रुचक आदि भाव को ग्रहण करलिया है।

बीज और वृक्ष में अन्वयीधर्म रहता है। वह उसकी जातिविशेष है। आम-बीज आम-विकार को उत्पन्न कर सकता है। वह आम-पना बीज-भाव को छोड़-कर अंकुर-वृक्षभाव को प्राप्त करलेता है; आम-पना प्रत्येक अवस्था में वहाँ पूर्णरूप से विद्यमान है। यदि इनमें यह अन्वयीधर्म न मानाजाय, तो आम के बीज से बबूल और जामुन के बीज से कैथ होजाने चाहियें। तात्पर्य है–तब किसी बीज से कोई भी वृक्ष होजाया करे। वर्णों में वर्णत्व सामान्य होने पर भी कोई शब्दात्मा अन्वयी धर्म ऐसा नहीं है, जो प्रकृति से विकार में अनुवृत्त होता हुआ इकार-पने को छोड़कर यकार-पने को प्राप्त करता हो। यदि वर्णत्व सामान्य को ऐसा धर्म कहाजाय, तो द्रव्यविकार में द्रव्यत्व सामान्य को लेकर बैल के स्थान में घोड़ा जोतेजाने पर क्या घोड़ा बैल का विकार मानाजायगा? वस्तुतः विकार के प्रसंग में इसे अन्वयीधर्म नहीं मानाजासकता। फलतः 'य्' वर्ण 'इ' अथवा 'ई' वर्ण का विकार नहीं है; क्योंकि प्रकृति से विकार में अनुवृत्त होने-वाला अन्वयी धर्म यहाँ किसी प्रमाण से उपपन्न नहीं है ॥ ४५ ॥

विकार पुनः पूर्वरूप में नहीं आता—वर्णों में विकार नहीं होता; इसके लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः ॥ ४६ ॥ (१७५)

[विकारप्राप्तानाम्] विकार को प्राप्त होजानेवालों के [अपुनरापत्तेः] पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त न होने से (वर्णों में विकार अमान्य है)।

जो प्रकृति-द्रव्य विकार को प्राप्त होजाता है, वह पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं करता, यह व्यवस्था प्रकृतिविकारभाव में देखीजाती है। दूध का दही विकार होजाने पर वह पुनः दूध नहीं होसकता। कपास का फोला धागा व कपड़ा बनजाने पर पुनः कपास का फोला नहीं बनपाता। परन्तु वर्णों में यह व्यवस्था नहीं है। 'इ' अथवा 'ई' को 'य्' होजाने पर वह पुनः 'इ' भाव को प्राप्त करलेता है। 'दधि+अत्र' के स्थान पर 'दध्यत्र' प्रयोग होने पर पुनः 'दधि+अत्र' के प्रयोग में कोई बाधा नहीं रहती। सन्धि के अवसर पर 'इ' के स्थान पर 'य्' होजाता है; ऐसा 'य्' सम्प्रसारण के समय 'इ' बोलाजाता है। तात्पर्य है–वर्णों में 'इ' का 'य्' और 'य्' का 'इ' परिवर्त्तन होता रहता है। यह एक के स्थान में दूसरे का आदेश है, विकार नहीं। क्योंकि विकार पुनः अपने प्रकृतिभाव में वापस नहीं आसकता। परन्तु वर्णों में ऐसा होजाना, वर्णों में विकार न होने का साधक है ॥ ४६ ॥

विकार का पुनः प्रकृतिभाव—इसके विपरीत आशंकावादी विकार के पुनः प्रकृतिभाव में आने का उदाहरण प्रस्तुत करता है—

सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः ॥ ४७ ॥ (१७६)

[सुवर्णादीनाम्] सुवर्ण आदि के विकारों के [पुनरापत्तेः] पुनः प्रकृति-भाव में प्राप्त होजाने से [अहेतुः] पूर्वोक्त हेतु संगत नहीं है।

विकार को प्राप्त होकर पदार्थ पुनः अपने प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं होता, यह जो हेतु [अपुनरापत्तेः] वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए गतसूत्र में प्रस्तुत कियागया, वह असंगत है; क्योंकि सुवर्णपिण्ड के रुचक-कुण्डल आदि रूप में विकार को प्राप्त होजाने पर वह पुनः रुचक आदि विकारभाव को छोड़-कर सुवर्णपिण्ड के रूप में प्राप्त होजाता है। फलतः जहाँ पदार्थों में प्रकृति-विकारभाव है, वहाँ विकार जैसे पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त करलेता है; ऐसे ही वर्णों में मानेजाने से वर्णों में विकार सम्भव है ॥ ४७ ॥

विकार का पुनः प्रकृतिभाव अयुक्त—सूत्रकार समाधान करता है—

न तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् ॥ ४८ ॥ (१७७)

[न] नहीं है (युक्त-सुवर्ण का उदाहरण इस विषय में), [तद्विकाराणाम्] सुवर्ण-विकारों का [सुवर्णभावाऽव्यतिरेकात्] सुवर्णस्वरूप से व्यतिरेक-भेद न होने के कारण है।

इस प्रसंग में सुवर्ण के उदाहरण की उपयोगिता सम्भव नहीं है। कारण यह है–कुण्डल, रुचक आदि विकार की अवस्था में रुचक आदि का सुवर्णभाव

बराबर उसी रूप में बनारहता है। तात्पर्य है–सुवर्ण अवस्थित है, रुचक आदि विकार-दशा होने या न होने की दोनों अवस्थाओं में सुवर्णभाव समानरूप से विद्यमान रहता है। वह पिण्डभाव को छोड़कर रुचक-अवस्था को प्राप्त करलेता है; रुचक को गलाकर कुण्डल बनालियाजाता है, तथा कुण्डल फिर पिघलाकर पिण्ड बनजाता है। इन सभी अवस्थाओं में परिवर्त्तन रहते भी सुवर्णात्मा अन्वयी एक-धर्मी बराबर बना रहता है। परन्तु वर्णों के प्रसंग में कोई शब्दात्मा अन्वयी धर्मी ऐसा नहीं रहता, जो इ-भाव को छोड़कर य्-भाव को प्राप्त करता हो। इसलिए वर्णों के प्रसंग में सुवर्णादि द्रव्य का उदाहरण उपयुक्त नहीं है।

यदि कहाजाय, जैसे सुवर्णविकारों में सुवर्णत्व [सुवर्णभाव] अनुवृत्त रहता है, ऐसे वर्णविकारोंमें वर्णत्व [वर्णरूप बनारहना] अनुवृत्त रहता है। सुवर्णपिण्ड में सुवर्णत्व है, उसके विकार रुचक में सुवर्णत्व है, ऐसे ही 'इ'-कार में वर्णत्व है, उसके विकार 'य्' में वर्णत्व है। इसप्रकार वर्णविकारों में 'वर्णत्व' अन्वयी धर्मी अनुवृत्त रहता है, अतः वर्णों में विकार मानना आपत्तिजनक नहीं होना चाहिये।

यह कथन वर्णों में विकार सिद्ध करनेकेलिए कोई सहायता नहीं देता। क्योंकि सुवर्णत्व-सामान्य के अधिकरण का धर्म के साथ योग-सम्बन्ध रहता है, सीधे सामान्य का नहीं। रुचक, कुण्डल आदि विकाररूप धर्म सुवर्ण-धर्मी के हैं, सुवर्णत्व-सामान्य के नहीं। जैसे कुण्डल, रुचक आदि सुवर्णात्मा धर्मी के धर्म हैं, ऐसे इकार-यकार आदि विकार किस वर्णात्मा के धर्म हैं? यह देखना है। 'वर्णत्व' सामान्य है, वह स्वयं वर्णगत धर्म है, इकार-यकार उसके धर्म नहीं होसकते। 'वर्णत्व'-सामान्यवाला कोई धर्मी इकार से यकार में अथवा यकार से इकार में अनुवृत्त हुआ प्रमाणित नहीं होता। कोई निवर्त्तमान धर्म उत्पन्न होनेवाले धर्म का प्रकृति नहीं होता। कुण्डल को गलाकर जब रुचक बनायाजाता है, वहाँ रुचक का प्रकृति कुण्डल नहीं है, प्रत्युत कुण्डल के रूप में विद्यमान सुवर्णप्रकृति है। यहाँ सुवर्णात्मा धर्मी का कुण्डलधर्म निवृत्त होकर रुचक-धर्म उभर आता है; ऐसा वह कौन-सा वर्णात्मा धर्मी है, जिसका 'इ'-धर्म निवृत्त होकर 'य्'-धर्म उभर आता हो। यह स्थिति क्योंकि वर्णों में असम्भव है, अतः वर्णों में विकार मानाजाना सर्वथा अप्रामाणिक है ॥ ४८ ॥

वर्णों में अविकार का अन्य हेतु—वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् ॥ ४९ ॥ (१७८)

[नित्यत्वे] नित्य होने पर (वर्णों के) [अविकारात्] विकार न होने से, [अनित्यत्वे] अनित्य होने पर (वर्णों के) [च] तथा [अनवस्थानात्] अवस्थित न रहने से (वर्णों में विकार की सम्भावना नहीं)।

वर्णों को नित्य मानाजाय, अथवा अनित्य, दोनों अवस्थाओं में वर्णों में विकार होना सम्भव नहीं। यदि वर्ण नित्य हैं, तो 'इ' और 'य्' दोनों वर्ण होने से नित्य होंगे; नित्य में विकार होना असम्भव है। कारण यह है कि नित्य पदार्थ अविनाशी होता है; जो अविनाशी हैं, उनमें कौन किसका विकार होगा?

यदि वर्णों को अनित्य मानाजाता है, तो वर्णों के अवस्थित न रहने के कारण उनमें परस्पर एक-दूसरे का विकार होने की सम्भावना नहीं रहती। वर्णों के अवस्थित न रहने का तात्पर्य है—उत्पन्न होकर नष्ट होजाना। इकार उत्पन्न होकर जब नष्ट होजाता है, तब यकार उत्पन्न होता है। ऐसे ही यकार के उत्पन्न होकर नष्ट होजाने पर इकार उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में इकार यकार का, अथवा यकार इकार का विकार हो, यह कैसे मानाजासकता है? दोनों वर्णों की उत्पत्ति एक-दूसरे के अभाव में होपाती है, तो कौन किसका विकार हो? अविद्यमान वस्तु किसीको उत्पन्न नहीं करसकती। वर्ण द्विक्षणावस्थायी मानाजाता है। एक क्षण उत्पत्ति का, दूसरा स्थिति का; अगले तीसरे क्षण में वह नष्ट होजाता है। अपने प्रथम उत्पत्ति-क्षण में अन्य किसी को उत्पन्न करने का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे स्थिति-क्षण में यदि 'इ' 'य्' के रूप में विकृत होजाय, तो 'इ' का श्रवण ही न होना चाहिए। वह इन्द्रिय का विषय अपने द्वितीय क्षण में होसकता है, उसी क्षण में विकृत होजाने से वह रहा नहीं, तो सुनाई कहाँ से देगा? तीसरे क्षण में वह स्वयं नहीं रहता, तब उसके विकृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसका अस्तित्व नहीं, वह विकृत होरहा है, यह कथन निराधार है। विकृत होने के लिए वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए।

इकार-यकार की उत्पत्ति व निरोध (नाश) का प्रसंग उस समय स्पष्ट होजाता है, जब पृथक् दो पदों की सन्धि कीजाती है, अथवा सन्धि करने के अनन्तर पुनः उन दो पदों का अवग्रह (सन्धिच्छेद) कियाजाता है ॥ ४९ ॥

विकारोपपत्ति नित्य वर्ण में—वर्णविकारवादी वर्णों के नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में वर्णविकार की उपपत्ति प्रस्तुत करता है। सूत्रकार ने वादी की भावना को दो सूत्रों में सूत्रित किया। नित्य पक्ष को लेकर पहला सूत्र है—

नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः ॥ ५० ॥ (१७९)

[नित्यानाम्] नित्यों के [अतीन्द्रियत्वात्] अतीन्द्रिय होने से [तद्धर्मविकल्पात्] उनमें (नित्यों में) धर्मों का विकल्प-वैविध्य होने से [च] और [वर्णविकाराणाम्] वर्णों में विकार होने का [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असङ्गत है।

वर्णों के नित्य मानेजानेपर वर्णों में विकार का प्रतिषेध अयुक्त है। क्योंकि नित्य पदार्थों में विविध प्रकार के धर्म देखेजाते हैं। आकाश आदि नित्य पदार्थ

अतीन्द्रिय हैं; पर दूसरे गोत्व, अश्वत्व आदि 'सामान्य' नामक पदार्थ नित्य होते हुए इन्द्रियग्राह्य हैं। इससे स्पष्ट हुआ–नित्य पदार्थों में धर्म की विविधता है। एक अतीन्द्रिय है, दूसरा इन्द्रियग्राह्य है। ऐसी दशा में यह सम्भव है–किन्हीं नित्य पदार्थों में विकार न हो; पर नित्य वर्णों में विकार होजाय। वर्ण इन्द्रिय-ग्राह्य हैं; यह आकाश आदि से वर्णों में वैषम्य है; तब विकारलक्षण वैषम्य वर्णों में सम्भव है। अतः वर्णों के नित्य मानेजाने पर भी वर्णों में विकार का प्रतिषेध अयुक्त है।

वस्तुतः विकारवादी का इस प्रसङ्ग में 'धर्मविकल्प'- हेतु सद्धेतु न होकर 'विरुद्ध हेत्वाभास' है, यह अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ है। क्योंकि जो नित्य पदार्थ है, वह न उत्पन्न होता है न नष्ट। उत्पत्ति-विनाश वाला पदार्थ आवश्यकरूप से अनित्य होता है। उत्पत्ति-विनाश हुए विना किसी पदार्थ में विकार होना सम्भव नहीं। यदि वर्णों में विकार मानाजाता है, तो उनका नित्य होना असम्भव है। यदि वर्णों को नित्य मानाजाता है, तो उनमें विकार माना-जाना समाप्त होजाता है। इसप्रकार 'धर्मविकल्प' हेतु न होकर स्पष्ट विरुद्ध हेत्वाभास है। वर्णों में विकार को सिद्धकर वर्णों की नित्यता को उखाड़देता है, जिसे स्वीकार कर हेतु प्रस्तुत कियागया ॥ ५० ॥

विकारोपपत्ति अनित्य वर्ण में—अनित्य पक्ष में वर्णविकारवादी की भावना को सूत्रकार ने द्वितीय सूत्र में सूत्रित किया—

अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारो-पपत्तिः ॥ ५१ ॥ (१८०)

[अनवस्थायित्वे] अनवस्थायी–अनित्य होने पर (वर्णों के) [च] तथा, [वर्णोपलब्धिवत्] वर्णों की उपलब्धि के समान [तद्विकारोपपत्तिः] उनमें (वर्णों में) विकार उपपन्न-सिद्ध हो जाता है।

वर्णों के द्विक्षणावस्थायी मानेजाने पर जैसे वर्णों की उपलब्धि–उनका ग्रहण-श्रवण होता है, उसीप्रकार उनमें विकार होना सम्भव है। अनित्य मानने पर यदि सुनाई देने के लिए वर्णों को अवसर मिलजाता है, तो उनमें विकार के लिए अवसर मिलने में क्या बाधा है? उच्चरित 'इ' वर्ण को प्रत्यक्ष से सुना-जाता है। विद्यमान पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय होता है। विद्यमान पदार्थ में ही विकार सम्भव है। तब विद्यमान इकार अपने सुनेजाने के समान यकार को उत्पन्न कर विकार का लक्ष्य होसकता है। इस प्रकार अनित्य पक्ष में भी वर्णों में विकार का होना उपपन्न होता है।

वस्तुस्थिति यह है कि वर्णों की उपलब्धि अर्थात् वर्णों के ग्रहण या श्रवण का वर्णविकार के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए वर्णों की उपलब्धि से

वर्णों में विकार को सिद्ध करने का प्रयास निराधार है। सम्बद्ध पदार्थ अन्य सम्बन्धी का साधक होता है। शब्द के सुनेजाने का प्रयोजन है–अर्थविशेष का बोध होना। यदि वर्णविकार के विना यह प्रयोजन सिद्ध न होसके,–वर्णों की उपलब्धि वर्णविकार के विना अर्थबोध कराने में असमर्थ हो, तो शब्दश्रवण (वर्णोपलब्धि) विकार का अनुमापक होसकता है। पर शब्दश्रवण से अर्थबोध में वर्णविकार कोई सहयोग नहीं देता। फलतः वर्णों की उपलब्धि से वर्णों में विकार को सिद्ध करने का प्रयास ऐसा ही है, जैसे कोई कहे–पृथिवी गन्ध-गुण-वाली है, तो शब्द या सुख आदि गुणवाली भी होनी चाहिये; जबकि गन्ध का शब्द, सुख आदि से ऐसा सम्बन्ध नहीं है कि एक के विना दूसरा न रहसकता हो।

कहा जा सकता है, वर्णोपलब्धि का वर्णविकार से सीधा सम्बन्ध न हो; पर विकार आदेश का विरोधी है; यदि आदेश कहीं प्राप्त नहीं है, अथवा उसकी निवृत्ति होगई है, तो आदेश के अभाव में उसका विरोधी होने से विकार वहाँ उपस्थित होजायगा। इसप्रकार प्रकृत में विकार की सिद्धि सम्भव है।

वस्तुतः यह कथन भी युक्त नहीं। कारण यह है कि वर्णोपलब्धि–पहले वर्णों के निवृत्त होजाने पर वर्णान्तर के प्रयोग की उत्पादिका नहीं है। यदि ऐसी होती, तो वर्णविकार का अनुमान करासकती थी। प्रस्तुत प्रसङ्ग के अनुसार 'इ' वर्ण की निवृत्ति होजाने पर 'य्'- वर्ण का प्रयोग होता है। यदि 'इ'-वर्ण की उपलब्धि से 'य्' वर्ण उत्पन्न कियाजाता होता, तो उपलब्धि के समान वह विकार अवश्य गृहीत होता। तात्पर्य है, 'इ' से विकृत होता हुआ 'य्' गृहीत होता। ऐसा किसी प्रकार प्रमाणित न होने से वर्णविकार में वर्णोपलब्धि को हेतु नहीं कहाजासकता ॥ ५१ ॥

वर्णों में विकारोपपत्ति निराधार—गत दो सूत्रों से वर्णविकार के पक्ष में प्रस्तुत कीगई उपपत्ति का सूत्रकार प्रत्याख्यान करता है—

विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चा-प्रतिषेधः ॥ ५२ ॥ (१८१)

[विकारधर्मित्वे] विकारधर्मी होने पर [नित्यत्वाभावात्] नित्यत्व के अभाव से [कालान्तरे] अन्य काल में [विकारोपपत्तेः] विकार की उपपत्ति-सिद्धि से [च] और [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध युक्त नहीं है।

शब्द को नित्य अथवा अनित्य मानते हुए, नित्य पक्ष में गतसूत्र [५०] से 'तद्धर्मविकल्प' हेतु के द्वारा वर्णों में विकार को सिद्धकर जो न्यायसिद्धान्त (वर्णों में विकार नहीं होता) का प्रतिषेध कियागया है, वह असंगत है। क्योंकि वर्ण (शब्द) को नित्य मानकर उसमें विकार बताना सर्वथा अप्रामाणिक

है। जो विकारधर्मक है, वह नित्य नहीं होसकता। जो नित्य है, उसमें विकार असम्भव है।

शब्द के अनित्य-पक्ष में वर्ण की उपलब्धि के समान वर्ण में विकार होने का जो गतसूत्र [५१] द्वारा कथन कियागया, वह भी ठीक नहीं है। कारण यह है—जब पदों को 'दधि+अत्र' इसप्रकार अलग-अलग कहने की इच्छा रहती है, तब ऐसा प्रयोग कर देने के अनन्तर 'दध्यत्र' का सन्धियुक्त प्रयोग कियाजाता है। वर्ण के अनित्य होने से 'दधि' का उच्चारण कर देने पर 'इ'-वर्ण नष्ट होगया। कालान्तर में जब सन्धियुक्त उच्चारण किया, उससे अव्यवहित पूर्व-काल में 'इ' वर्ण के न रहने से 'दध्यत्र' में उच्चरित 'य्' किसका विकार होगा? विकारपक्ष में 'य्' का कारण 'इ' तो तब रहा नहीं, फिर कारण के अभाव में कार्य का होना कैसे सम्भव है? फलतः वर्णों में विकार का होना प्रमाणसिद्ध नहीं है ॥ ५२ ॥

वर्णों में विकार असिद्ध—वर्णविकार की असिद्धि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् ॥ ५३ ॥ (१८२)

[प्रकृत्यनियमात्] प्रकृति का नियम न होने से [वर्णविकाराणाम्] वर्णों के विकारों का, (वर्णों में विकार का बाधक है)।

वर्णों में प्रकृति-विकारभाव का नियम नहीं—जिन पदार्थों में परस्पर प्रकृति-विकारभाव होता है, वहाँ किसी विशिष्ट विकार के लिए प्रकृति का नियम होता है; अमुक विकार अमुक प्रकृति [उपादान-तत्त्व] से होसकता है; जैसे दही दूध का विकार, मृद्घट मिट्टी का विकार। ऐसा नियम वर्णों में नहीं देखाजाता। कभी इकार के स्थान में यकार बोलाजाता है; फिर कभी (सम्प्रसारण-स्थल में) यकार के स्थान पर इकार का उच्चारण कियाजाता है। अतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव मानाजाना युक्त नहीं है। क्योंकि दूध दही का प्रकृति है, विकार नहीं। तथा दही दूध का विकार है, प्रकृति नहीं। पर वर्णों में 'इ' का 'य्' और 'य्' का 'इ' होता हुआ देखाजाता है। यह स्थिति वर्णों में प्रकृति-विकारभाव की बाधक है ॥ ५३ ॥

अनियम, नियम है—वर्णविकारवादी छल का आश्रय लेकर यथार्थ की उपेक्षा करता हुआ उक्त हेतु का उत्तर देता है—

अनियमे नियमान्नानियमः ॥ ५४ ॥ (१८३)

[अनियमे] अनियम में [नियमात्] नियम से [न] नहीं है [अनियमः] अनियम।

यह जो गत सूत्र में वर्णविषयक प्रकृति का अनियम कहागया है, वस्तुतः उसको अपने क्षेत्र में, अपनी सीमा में नियत समझना चाहिए। तात्पर्य है—अनियम की जो स्थिति है, वह उसमें नियत है, व्यवस्थित है; अपनी सीमा, अपने क्षेत्र को छोड़कर वह इधर-उधर नहीं हटता; इस आधार पर उसे नियत होने से नियम कहना ठीक है। तब अनियम के लिए कोई ठिकाना, कोई अवकाश नहीं रहता। अतः 'प्रकृति के अनियम से' (प्रकृत्यनियमात्) हेतु का निर्देश निरवकाश होने के कारण वर्णों में विकार को नहीं रोक सकता ॥ ५४ ॥

नियम-अनियम परस्पर-विरोधी—आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का प्रत्याख्यान करते हुए कहा—

नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चा-
प्रतिषेधः ॥ ५५ ॥ (१८४)

[नियमानियमविरोधात्] नियम और अनियम के परस्पर-विरोध से [अनियमे] अनियम में [नियमात्] नियत होने से (अनियम के) [च] तथा [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है।

नियम और अनियम का परस्पर भिन्न अस्तित्व है। नियम है—किसी पदार्थ के व्यवस्थित अस्तित्व को स्वीकार करना। अनियम है—उसके अस्तित्व का प्रतिषेध करना। स्वीकार और प्रतिषेध परस्पर-विरोधी हैं; इनकी एकात्मता होना सम्भव नहीं है। अतः जो अनियम है, वह नियम नहीं होसकता। फिर इस कथन पर ध्यान देना चाहिये—वर्णविकारवादी पूर्वपक्षी अनियम को स्व-रूप में व्यवस्थित—नियत होने से नियम बताता है, यह उसका 'वदतो व्याघात' है। अर्थात् बात को ठीक कहकर साथ ही उसे उलटरहा है। सोचिये—अनियम जबतक स्व-रूप में अर्थात् अनियम में व्यवस्थित है, तभी तक वह अनियम रहसकता है, नियम कदापि नहीं होसकता। उसके नियम होने की तभी संभावना की जासकती है, जब वह स्व-रूप को छोड़ दे। जब अनियम न रहे, तभी वह नियम होगा। जब वादी कहता है—अनियम अपने रूप में अवस्थित है, तब उसका तात्पर्य है—अनियम अनियम ही है, नियम नहीं; फिर भी अनियम को नियम कहे, तो यह अपने ही कथन का विरोधी है। इसलिए वादी के द्वारा कियागया—वर्णों में प्रकृति के अनियम का—प्रतिषेध अयुक्त है।

वर्णों में विकार न माननेवाला सिद्धान्ती वर्णों में प्रकृति के अनियम को व्यवस्थित मानेजाने का प्रतिषेध नहीं कररहा; वह उस अनियम को व्यवस्थित—नियत—निश्चित स्वीकार करता है। क्योंकि ऐसा स्वीकार करने पर अनियम का अस्तित्व सम्भव है। सिद्धान्ती के कथन का केवल इतना तात्पर्य है कि 'नियम'-पद से प्रतिपाद्य अर्थ का—प्रकृति-विकारभाव स्थलों में अव्यभिचरित रूप से—

निश्चय रहता है, जो वर्णों में नहीं देखाजाता। उस नियम से वर्णों में प्रकृति-अनियम-विषयक प्रतिषेध अयुक्त है। वर्णविकारवादी को-यदि वर्णों में प्रकृति-विकारभाव है, तो-वर्णों में प्रकृति-नियम को दिखलाना चाहिये था। दूध दही का केवल प्रकृति है, यह नियम वर्णों में नहीं। वहाँ 'इ' के स्थान में 'य्' तथा 'य्' के स्थान में 'इ' का प्रयोग होतारहता है। अतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव अमान्य है ॥ ५५ ॥

वर्णों में व्यवहार्य विकार का स्वरूप—वर्णों में विकार न होने की उपपत्ति के इस लम्बे प्रसंग से केवल यह स्पष्ट कियागया है कि वर्णों में परिणामरूप अथवा कार्य-कारणभावरूप विकार नहीं होता। न कोई वर्ण अन्य वर्ण का परिणाम, और न ऐसा कार्य है, जैसा मट्टी का घड़ा। वर्णों में एक के स्थान पर जो अन्य का प्रयोग कियाजाता है, वर्णों में उसीको 'विकार'-पद से कहदियाजाता है। आचार्य सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया—

गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्ण-विकाराः ॥ ५६ ॥ (१८५)

[गुणान्तरापत्त्युपमर्दह्रासवृद्धिलेशश्लेषेभ्यः] गुणान्तर-अन्य गुण की प्राप्ति, उपमर्द, ह्रास, वृद्धि, लेश, श्लेष आदि विशेषताओं से [तु] तो [विकारोपपत्तेः] विकार की उपपत्ति-सिद्धि होने से (वर्णों में), [वर्णविकाराः] वर्णों में विकार होते हैं, (ऐसा समझना चाहिये)।

वर्णों में परिणाममूलक विकार नहीं होता; फिर भी वर्णों में विकार होने का व्यवहार गुणान्तरापत्ति आदि विशेषताओं के आधार पर होता है। इनका विवरण इसप्रकार है—

गुणान्तरापत्ति—एक गुण के हटजाने पर उसकी जगह अन्य गुण का आजाना। जैसे–उदात्त के स्थान पर अनुदात्त अथवा स्वरित होजाना; अथवा अनुदात्त के स्थान पर उदात्त आदि का होजाना।

उपमर्द— एक का नाश, दूसरे का उपजन (प्रादुर्भाव); जैसे–'दध्यत्र' प्रयोग में मूल पद 'दधि+अत्र' हैं। यहाँ दोनों पदों की सन्धिविवक्षा में 'दधि' पद के 'इ'-वर्ण को हटा दियाजाता है, उसका उपमर्द होजाता है; उसके स्थान पर 'य' का उपजन-प्रादुर्भाव होजाता है।

ह्रास—क्षीण होजाने को कहते हैं; अपनी मात्रा से कम होजाना, अर्थात् दीर्घ वर्ण के स्थान पर ह्रस्व का प्रयोग होना। जैसे–'चित्र' और 'गो' पद पृथक् हैं। जब इनका बहुव्रीहि समास कियाजाता है–'चित्रा गावो यस्य'; तब 'गो' पद के दीर्घ वर्ण 'ओ' के स्थान में ह्रस्व वर्ण 'उ' होजाता है, 'गोस्त्रियोरुप-सर्जनस्य' [१।२।४८] पाणिनीय नियम के अनुसार। इसके फलस्वरूप 'चित्र+गो' पदों के स्थान पर 'चित्रगुः' पद का प्रयोग होता है।

वृद्धि—का अर्थ बढ़ना है। जब ह्रस्व वर्ण को दीर्घ अथवा इन दोनों के स्थान पर यथायथ प्लुत होजाता है; यह वर्ण का वृद्धि नामक विकार कहाजाता है। जैसे–'गर्ग' पद से गोत्रापत्य अर्थ में 'गर्गादिभ्यो यञ् [४।१।१०५] सूत्रानुसार 'यञ्' प्रत्यय होकर 'गर्ग' पद के आदि ह्रस्व अकार के स्थान में 'तद्धितेष्वचामादेः' [७।२।११७] सूत्र से दीर्घ 'आ' के रूप में वृद्धि होजाती है। ऐसे ही ह्रस्व-दीर्घ के स्थान में प्लुत होजाता है। जैसे–'देवदत्त३' यहाँ पर अन्तिम ह्रस्व अकार के स्थान में 'दूराद्धूते च' [८।२।८४] सूत्र से प्लुत अकार का प्रयोग होता है। इसीप्रकार 'हे ३ देवदत्त' इस प्रयोग में 'हे' पद के दीर्घ 'ए' को 'हैहेप्रयोगे हैहयोः' [८।२।८५] सूत्र से प्लुत 'ए३' होजाता है।

लेश—लाघव को कहते हैं। पद का छोटा होजाना। वर्ण के लोप होकर प्रयोग में न आने से पद लघु होजाता है। जैसे–'अस्' धातु के वर्त्तमानकाल द्विवचन-बहुवचन में 'स्तः, सन्ति' आदि प्रयोग होते हैं। यहाँ धातु के प्रथम वर्ण 'अ' का 'श्नसोरल्लोपः' [६।४।१११] सूत्र से लोप होजाता है; 'अस्' केवल 'स्' रहजाता है।

श्लेष—पद में किसी वर्ण के अधिक आजाने से पद का बढ़जाना 'श्लेष' है। यह प्रकृति अथवा प्रत्यय के साथ 'आगम' आजाने से होता है। जैसे–'स्कुन्दते' प्रयोग में 'स्कुदि' इदित् धातु प्रकृति है। यहाँ 'इदितो नुम् धातोः' [७।१।५८] सूत्र से 'स्कुद' प्रकृति को 'नुम्' आगम होकर 'स्कुद्' का 'स्कुन्द' होजाने से पद में–अन्य वर्ण का श्लेष–आलिङ्गन–जुड़जाना होने से बढ़ोतरी होगई। इसीप्रकार 'राम' पद के षष्ठी बहुवचन में 'राम+आम्' इस स्थिति पर प्रत्यय 'आम्' को 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' [७।१।५४] सूत्र से 'नुट्' आगम होगया। इससे 'राम-आम्' के स्थान पर 'रामाणाम्' प्रयोग होता है। यह 'नुट्' के श्लेष का फल है।

वर्णों में जो विकार का व्यवहार होता है, वह इन्हीं गुणान्तरापत्ति आदि विशेषताओं पर आधारित है। न्यायवादी आचार्य वर्णों में इसप्रकार के विकार को स्वीकार करते हैं॥ ५६॥

वर्णों की 'पद' संज्ञा—कोई अर्थ किसी पूरे पद का होता है, पद के अंश वर्ण का नहीं। अतः पदार्थ-विवेचन के प्रसंग में पद के स्वरूप को स्पष्ट करना आवश्यक है। इसी भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

ते विभक्त्यन्ताः पदम्॥ ५७॥ (१८६)

[ते] वे वर्ण (अपनी अभिमत आनुपूर्वी के साथ प्रस्तुत होकर) [विभक्त्यन्ताः] जब उनके अन्त में विभक्ति लगजाती है, तब [पदम्] 'पद' कहेजाते हैं।

शब्दशास्त्र के विधानानुसार जब अभिमत आनुपूर्वीयुक्त वर्णसमुदाय के अन्त में विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय लगजाता है, तब वह वर्णसमुदाय 'पद' कहाजाता है।

व्याकरणशास्त्र में विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय दो प्रकार के बतायेगये हैं। एक–नामिक प्रत्यय; दूसरे–आख्यातिक प्रत्यय। जो नाम-पद के अन्त में लगते हैं वे नामिक प्रत्यय, तथा जो आख्यात-धातु के अन्त में लगते हैं वे आख्यातिक कहेजाते हैं। सु-औ-जस् आदि विभक्ति-प्रत्यय नामिक; तथा तिप्-तस्-झि आदि विभक्ति-प्रत्यय आख्यातिक हैं। इनके उदाहरण यथाक्रम 'वृक्षः, ब्राह्मणः' आदि; तथा 'पठति, पचति' आदि हैं।

ऐसी व्यवस्था के अनुसार 'उपसर्ग' और 'निपात' संज्ञक वर्णसमुदायों की 'पद' संज्ञा प्राप्त नहीं होती; क्योंकि उनके अन्त में विभक्ति लगी दिखाई नहीं देती। जैसे–'प्र, परा, वि, अव' आदि उपसर्ग; तथा 'च, वा, ह, अह' आदि निपात हैं। ये भी पद कहेजाते हैं। तब इनको पद की श्रेणी में लाने के लिए कोई अन्य पद का लक्षण बताना चाहिये।

वस्तुतः इसके लिए अन्य पद-लक्षण की आवश्यकता नहीं है। व्याकरणशास्त्र में निपात की विशेष संज्ञा 'अव्यय' बताईगई है [१ । १ । ३७]। उपसर्ग भी निपात के अन्तर्गत हैं। निपात के आगे नामिकी विभक्ति लगने का विधान है। पर विशेष नियम [अव्ययादाप्सुपः (२ । ४ । ८२)] के अनुसार निपात के अन्त में लगी विभक्ति का लोप होजाने से वह दिखाई नहीं देती; परन्तु इसके अनुसार निपातों की पद संज्ञा के लिए अन्य लक्षण की आवश्यकता नहीं रहती। उक्त लक्षण में इनका समावेश होजाता है। इसप्रकार समस्त विभक्त्यन्त वर्णसमुदाय 'पद' कहलाता है। पद के द्वारा अर्थ का ज्ञान होता है। वर्णसमुदाय के 'पद' संज्ञाविधान का यही प्रयोजन है ॥ ५७ ॥

पद के अर्थ का विवेचन—पद का निरूपण करने के अनन्तर पदबोध्य अर्थ का निरूपण करना प्रसंगप्राप्त है। तदनुसार नाम-पद को लक्ष्यकर परीक्षा करना अपेक्षित है, कि 'गो' नाम-पद से किस अर्थ का बोध होता है? परीक्षा के आधार को संशय के रूप में सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

तदर्थे व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्
संशयः ॥ ५८ ॥ (१८७)

[तदर्थे] पद के अर्थ में [व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधौ] व्यक्ति, आकृति और जाति इन तीनों के सान्निध्य,अनिवार्य उपस्थिति में [उपचारात्] पद का व्यवहार-प्रयोग होने से [संशयः] सन्देह होता है (कि इन तीनों में से कौन-सा अर्थ प्रयुक्त-पद का समझाजाय ?)।

'गो' पद का प्रयोग करने पर एक प्राणिविशेष का बोध होता है। परन्तु उस प्राणिविशेष में अनिवार्य रूप से तीन अर्थ उपस्थित रहते हैं–व्यक्ति, आकृति और जाति। संशय होता है–इन तीनों में से 'गो' पद का कौन-सा अर्थ समझना चाहिये ? अथवा तीनों 'गो' पद का अर्थ हैं ? प्रसंग में विवेचनपूर्वक इसका निर्णय करना परीक्षा का विषय है ॥ ५८ ॥

'व्यक्ति' पद का अर्थ—शब्द के प्रयोग-सामर्थ्य से पदार्थ का निश्चय कियाजाना चाहिये। 'सामर्थ्य' का तात्पर्य है–सफलता। शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में सफल होता दीखे, वही उसका अर्थ उपयुक्त है। इस भावना से सूत्रकार ने कहा—

याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्ध्यपचयवर्णसमासाऽनुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः ॥ ५९ ॥ (१८८)

[याशब्दसमूह०···समासाऽनुबन्धानाम्] याशब्द, समूह, त्याग, परिग्रह, संख्या, वृद्धि, अपचय, वर्ण, समास और अनुबन्ध का [व्यक्तौ] व्यक्ति में [उपचारात्] उपचार–प्रयोग–व्यवहार से [व्यक्तिः] व्यक्ति (अर्थ है, गो पद का; जाति आकृति नहीं)।

गो-पद के साथ 'या शब्द' आदि का प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि गो पद का अर्थ व्यक्ति है, जाति आदि नहीं।

याशब्द—याशब्द का प्रयोग गो-पद के साथ है–'या गौस्तिष्ठति, या गौर्गच्छति' इत्यादि। जो गाय बैठी है, उसे यह रोटी खिला देना। यह गो पद का प्रयोग व्यक्ति के लिए सम्भव है। द्रव्यरूप गाय बैठती या जाती है; जाति आदि में बैठना-चलना असम्भव है।

समूह—झुण्ड या गिरोह को कहते हैं। 'गवां समूहः' गायों का झुण्ड कहने से गाय व्यक्तियों का झुण्ड कहना अभिमत होता है। जाति आदि में ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं।

त्याग—का अर्थ है–छोड़ना, देना। वैद्य के लिए अथवा ब्राह्मण के लिए गाय देता है–'वैद्याय विप्राय वा गां ददाति'। यहाँ देना–त्याग करना गाय व्यक्ति का होता है। अतः वही 'गो' पद का अर्थ है।

परिग्रह—ग्रहण करना, अथवा अपने अधिकृत पदार्थ का प्रकट करना। 'चैत्रस्य गौः, मैत्रस्य गौः' यह गाय चैत्र की है, और यह मैत्र की। यहाँ द्रव्यरूप व्यक्ति पर अधिकार प्रकट कियाजारहा है; क्योंकि भेद द्रव्य का है; जाति उभयत्र एक है।

संख्या—गिनती करना। दस गाय, बीस गाय आदि कथन व्यक्ति में सम्भव है। जाति गोमात्र में एक ही रहती है।

वृद्धि—बढ़ना । 'गौर्वर्द्धते' गाय बढ़रही है, अथवा 'अवर्द्धत गौः' गाय बड़ी हो चुकी है, अवयवों का उपचय होना वृद्धि है; वह द्रव्यात्मक व्यक्ति में सम्भव है । जाति आदि में नहीं ।

अपचय—ह्रास अथवा अवयवों के क्षय होने को कहते हैं । यह द्रव्य का धर्म है, द्रव्यरूप व्यक्ति में सम्भव है ।

वर्ण—का अर्थ रूप है । 'शुक्ला गौः, कपिला गौः' धौली गाय, गोरी गाय, आदि वर्णमूलक प्रयोग व्यक्तिरूप द्रव्यात्मक देह में सम्भव है; अतः व्यक्ति गो पद का अर्थ उपयुक्त है ।

समास—दो पदों का योग है । 'गोहितम्, गोसुखम्' इस समासयुक्त पद से गाय देह के लिए हितकारी या सुखकारी साधन का कथन कियाजाता है । अतः गो पद का वही व्यक्तिरूप अर्थ समझना चाहिये ।

अनुबन्ध—साजात्य-प्रजनन को कहते हैं । समानजातीय सन्तान का उत्पन्न करना । 'गौर्गां जनयति'–गाय गाय को पैदा करती है । यहाँ एक द्रव्यात्मक गाय-देह से अन्य गाय उत्पन्न होती है । यह उत्पत्ति व्यक्ति की सम्भव है; जाति आदि की नहीं ।

फलतः 'याशब्द' आदि का 'गो' पद के साथ प्रयोग व व्यवहार से यह स्पष्ट होजाता है कि गो पद का अभिधेय व्यक्ति है; अतः व्यक्ति को पद का अर्थ मानना चाहिये, जाति आदि को नहीं ॥ ५९ ॥

पद के अर्थ में जाति का होना आवश्यक—आचार्य सूत्रकार उक्त कथन में दोष बताकर उसका प्रतिषेध करता है—

न तदनवस्थानात् ॥ ६० ॥ (१८९)

[न] नहीं (पद का अर्थ व्यक्ति), [तदनवस्थानात्] उस व्यक्ति के अनवस्थान-व्यभिचार-अनैकान्तिक दोष से ।

गतसूत्र में पद का अर्थ व्यक्ति बतायागया है, वह युक्त नहीं है; क्योंकि व्यक्ति का अवस्थान जाति को छोड़कर केवल व्यक्ति के रूप में उपलब्ध होना सम्भव नहीं । ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ केवल व्यक्तिमात्र अवस्थित हो, और वहाँ जातिरूप धर्म का अस्तित्व न हो । तात्पर्य है–पद का अर्थ में शक्तिग्रह जाति के विना केवल व्यक्ति में होना यदि स्वीकार कियाजाय, तो गो पद का जिस व्यक्ति-विशेष के साथ प्रथम शक्तिग्रह हुआ है, उसीका बोध गो पद से होसकेगा, अन्य व्यक्ति का नहीं । क्योंकि वाच्य-वाचकरूप से जिस अर्थ में जिस पद का शक्तिग्रह होता है, वह पद उसी अर्थ का शाब्दबोध करासकता है, अन्य का नहीं । इसलिए केवल व्यक्ति को पद का वाच्य मानने की दशा में उस पद से यदि वाच्य व्यक्तिविशेष से अतिरिक्त का बोध होता है, तो यह अनैकान्तिक दोष है, क्योंकि जो पद का वाच्य नहीं है, उसका भी वह बोध करारहा है ।

इस विषय में यह समझना चाहिये कि जाति के विना समस्त व्यक्तियों का शक्तिग्रह कराने के लिए व्यवस्था का होना सर्वथा असम्भव है। अतः यह मानना आवश्यक है कि पद का अर्थ में शक्तिग्रह जातिविशिष्ट व्यक्ति में होता है। इसीकारण एक जगह व्यक्तिरूप अर्थ में पद का शक्तिग्रह होने पर दृष्ट-अदृष्ट समस्त उन व्यक्तियों का उस पद से बोध होना सम्भव होता है, जो उस जातिधर्म से युक्त हैं; अथवा जहाँ वह जातिधर्म समवेत रहता है। इसलिए पद के अर्थविवेचन में जाति को छोड़ा नहीं जासकता ॥ ६० ॥

व्यक्ति में 'याशब्द' आदि व्यवहार गौण—शङ्का होती है, यदि केवल व्यक्ति पद का वाच्य अर्थ नहीं है, तो गतसूत्रद्वारा 'याशब्द' आदि से पद-सम्बन्धी समस्त व्यवहार जो व्यक्ति में सम्भव होना कहा है, उसका क्या समाधान होगा? सूत्रकार ने बताया, वह औपचारिक अर्थात् गौण व्यवहार है। ऐसा व्यवहार निमित्तविशेष के कारण उन पदार्थों में होजाता है, जो वस्तुतः वैसे नहीं हैं। आचार्य सूत्रकार ने इसप्रकार उपचार (गौणव्यवहार) के कतिपय उदाहरणस्थल प्रस्तुत किये—

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽऽधि-पत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गाशाकटान्नपुरुषेष्व-तद्भावेऽपि तदुपचारः ॥ ६१ ॥ (१६०)

[सहचरणस्थान०···साधनाऽऽधिपत्येभ्यः] सहचरण, स्थान, तादर्थ्य, वृत्त, मान, धारण, सामीप्य, योग, साधन, आधिपत्य इन निमित्तों से [ब्राह्मण-मञ्च०···शाकटान्नपुरुषेषु] ब्राह्मण, मञ्च, कट, राजा, सक्तु, चन्दन, गङ्गा, शाटक, अन्न, पुरुष इनमें [अतद्भावे] वैसा न होने पर [अपि] भी [तदुप-चारः] वैसा व्यवहार-शब्दप्रयोग होता है।

जो अर्थ जिस पद या शब्द का वाच्य नहीं है, उस अर्थ के लिए भी उस पद का प्रयोग विशेष कारण से होजाता है। सूत्र के पहले आधे भाग में 'सहचरण' आदि निमित्तों का निर्देश है; अगले सूत्रभाग में 'ब्राह्मण' आदि अर्थ निर्दिष्ट हैं, जिनका कथन निमित्तविशेष से व्यवहार में ऐसे पदों के द्वारा होता है, जो उस अर्थ के वाचक नहीं हैं। उनको यथाक्रम प्रस्तुत कियाजाता है।

सहचरण—सहचारी होना, आवश्यक रूप से साथ में रखना, या रहना। कोई ब्राह्मण नियमितरूप से यष्टिका (लाठी) अपने साथ रखता है, उन दोनों का सहचार इतना व्यवस्थित है कि उसमें कभी विपर्यय नहीं आता। ऐसी स्थिति में लोग उस व्यक्ति का वही नाम पुकारने लगते हैं। यह उदाहरण ऐसा ही है। किसी ने कहा—'यष्टिकां भोजय' लाठी को जिमा दो, यहाँ 'यष्टिका' पद

सहचरण-निमित्त से उस ब्राह्मण का बोधक है, जो यष्टिका साथ रखता है। यष्टिका का वाच्य अर्थ ब्राह्मण नहीं है; फिर भी उसके लिए उक्त पद का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रयोग गौण मानाजाता है। इसीप्रकार 'गो' पद का मुख्य वाच्य-अर्थ केवल व्यक्ति न होने पर भी व्यक्ति-अर्थ में उसका प्रयोग गौणरूप से होना सम्भव है। वह नितान्त असमञ्जस नहीं है।

स्थान—यह पद किसी जगह को कहता है। सूत्र में उसके लिए विशेष पद 'मञ्च' दिया है, इसका अर्थ मचान या टांड है। यह खेतों में फ़सल की रखवाली के लिए चार ऊँची मज़बूत लकड़ियाँ गाड़कर उन पर बैठने आदि की जगह बनालीजाती है। रखवाले व्यक्ति उसपर बैठकर ज़ोर से आवाज़ देते हुए पक्षियों आदि को हटाकर फ़सल की रखवाली करते हैं। उसीको लक्ष्यकर किसीने कहा—'मञ्चाः क्रोशन्ति'—मचान चिल्लारहे हैं। यहाँ 'मञ्च' शब्द मञ्च पर बैठे पुरुषों के लिए प्रयुक्त कियागया है। मञ्च उन पुरुषों का 'स्थान' है, इस निमित्त से 'मञ्च'-पद का प्रयोग वहाँ बैठे पुरुषों के लिए हुआ है। यद्यपि 'मञ्च'-पद का वाच्य-अर्थ पुरुष नहीं है।

तादर्थ्य—किसी निर्माण के लिए कारणभूत अवयवों की विद्यमानता। कट (चटाई) के निर्माण के लिए वीरण [पटेरे] एकत्रित हैं। उनको व्यवस्थित-रूप में फैलाकर चटाई का बुनाजाना प्रारम्भ करदिया है, परन्तु अभी कारण-सामग्री अपने-पटेरे के रूप में है; कट (चटाई) का अस्तित्व नहीं है। फिर भी कहाजाता है—'कटं करोति'—कट को बनाता है। वस्तुतः निर्माण के लिए जो क्रिया होरही है, उसका विषय या कर्म वीरण हैं; पर वीरण क्योंकि कट के निर्माण के लिए हैं, इसलिए वीरण में 'कट' पद का प्रयोग होरहा है।

वृत्त—व्यवहार व आचरण को कहते हैं। जो राजा व कोई व्यक्ति यम के समान अति कठोर क्रूर व्यवहार व आचरण करनेवाला होता है; उसके लिए 'यम' पद का प्रयोग करदियाजाता है—'यमो राजा' यह राजा क्या है, पूरा यम है। यम मृत्यु का देवता मानाजाता है, जो उदार दानी राजा है, उसे कुबेर कहदियाजाता है—'कुबेर राजा'। लोक में इस प्रकार के अनेक प्रयोग बराबर होतेरहते हैं।

मान—परिमाण, नाप-तोल का नाम है। एक सेर बाट से तुले धान को—एक सेर धान कहाजाता है, जबकि धान स्वयं सेर-परिमाण नहीं हैं। 'आढकं सक्तवः'-ढाई सेर सत्तू। सत्तू स्वयं आढक नहीं हैं; ढाई सेर के बाट से परिमित हैं। परिमाणवाचक पद का प्रयोग द्रव्य के लिए होजाता है। यह गौण प्रयोग है।

धारण—रखाजाना, तुला में जो चन्दन रखा है, उसे 'तुलाचन्दनम्' कहदेते हैं। यहाँ 'तुला'-पद का चन्दन में प्रयोग करदियागया है।

सामीप्य—समीप में अवस्थित होना। प्रयोग होता है–'गङ्गायां गावश्चरन्ति'–गङ्गा में गायें चररही हैं। 'गङ्गा'-पद बहती हुई विशिष्ट जलधारा अथवा जलप्रवाह का नाम है। पर यहाँ गङ्गा-पद का प्रयोग जलप्रवाह के समीपवर्ती प्रदेश के लिए हुआ है; जबकि मुख्यतः गङ्गा-पद प्रदेश का वाचक नहीं है।

योग—सम्बद्ध होना। काले रंग से सम्बद्ध कपड़ा, 'काला कपड़ा' कहा-जाता है–'कृष्णेन रागेण युक्तः शाकटः[1] कृष्ण-इत्युच्यते'–काली जाकट। यहाँ कृष्ण-रूपवाचक पद का प्रयोग योग-निमित्त से शाकट (जाकट) द्रव्य के लिए कियागया है।

साधन—सिद्ध किये रखना, बनाये रखना। अन्न प्राणों को–जीवन को बनाये रखता है, जीवन का साधन है। प्राणों का साधन होने से अन्न को प्राण कहदियाजाता है—'अन्नं वै प्राणाः'।

आधिपत्य—मिल्कियत, हुकूमत, शासन-निमित्त से प्रशास्य-वाचक पद का प्रयोग प्रशासक, मालिक या हाकिम व्यक्ति के लिए होजाता है। अपने कुल-खानदान-परिवार का मालिक प्रशासक संचालक देवदत्त व्यक्ति के लिए 'कुल' पद का प्रयोग होजाता है–'देवदत्तः कुलम्'। इसीप्रकार ग्राम, प्रदेश, राष्ट्र तथा विशिष्ट संस्थाओं के वाचक पदों का प्रयोग उनके प्रधान व्यक्तियों, नेताओं तथा संचालकों के लिए लोक में बराबर होता रहता है।

ये सब प्रयोग औपचारिक गौण होते हैं; मुख्य अभिधावृत्ति के अनुसार नहीं। 'याशब्द' आदि के आधार पर उदाहरणरूप से 'गो' पद का व्यक्ति अर्थ में जो प्रयोग व व्यवहार गतसूत्र द्वारा प्रस्तुत कियागया है, वह सब इसीप्रकार गौण समझना चाहिये। उन स्थलों में ऐसे प्रयोग का निमित्त 'सहचरण' अथवा 'योग' होसकता है। व्यक्ति के साथ जाति का नियत साहचर्य है एवं जाति व्यक्ति में आश्रित-समवेत रहती है, अतः उनका आश्रयाश्रित सम्बन्ध-योग है। अतः पद का अर्थ केवल व्यक्ति है, ऐसा समझना ठीक नहीं ॥ ६१ ॥

'आकृति' पद का अर्थ रहे—यदि पद का अर्थ व्यक्ति नहीं है, तो आकृति अर्थ मानलेना चाहिये; जिज्ञासु ने कहा। आचार्य सूत्रकार ने उसकी भावना को सूत्रित किया—

आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः ॥ ६२ ॥ (१६१)

[आकृतिः] आकृति पदार्थ है [तदपेक्षत्वात्] उस-आकृति की अपेक्षा होने से [सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः] प्राणी की व्यवस्था के सिद्ध होने के कारण।

---

१. **कतिपय संस्करणों में 'शाटक' पद के स्थान पर उपलब्ध 'शाकट' पाठ अधिक संगत प्रतीत होता है।**

प्राणि-शरीर के अवयव तथा उनके अन्य अवान्तर अवयवों का विशेष सन्निवेश–अथवा रचनाविशेष–का नाम आकृति है। आकृति को पदार्थ मानना अधिक उचित है; क्योंकि प्राणी की व्यवस्था अर्थात् विभिन्न प्राणि-विषयक व्यवहार प्राणी की विशिष्ट आकृति पर निर्भर करता है। आकृतिविशेष के आधार पर लोक में किसी प्राणी को गाय तथा अन्य को घोड़ा, कुत्ता, हाथी, ऊँट आदि कहाजाता है। आकृति के ग्रहण होने पर 'यह अमुक प्राणी है–गाय या घोड़ा आदि' ऐसा निश्चय कियाजाता है। यदि आकृति स्पष्ट दिखाई नहीं देती, तो 'यह अमुक प्राणी है' ऐसा निश्चित ज्ञान नहीं होसकता। पद के उच्चारण करने पर प्राणि-सम्बन्धी यह व्यवहार जिसके ग्रहण होने से सम्पन्न होपाता है, उसीको पद का अर्थ मानना चाहिये। फलतः 'आकृति' को पदार्थ मानना युक्त है।

विचारने पर ज्ञात होता है, केवल आकृति को पद का अर्थ मानाजाना प्रामाणिक नहीं है। कारण यह है–इन्द्रिय के द्वारा सामने जिस अर्थ को देखा व ग्रहण कियाजाता है, वह व्यक्तिविशेष पद द्वारा जातिविशिष्ट ही कहाजाता है। अवयवसन्निवेश साधारणरूप से प्रत्येक प्राणिदेह में समान है। कोई देह ऐसा नहीं, जहाँ अवयवसन्निवेश न हो। नियत-अवयवसन्निवेश, जिसके आधार पर व्यक्ति को पहचानने की बात कहीगई है, वह जाति से रहित उपलब्ध होना असम्भव है। तात्पर्य है, नियत-अवयवसन्निवेश जाति-सम्बन्ध के विना सम्भव नहीं। अतः केवल आकृति को पदार्थ मानाजाना प्रामाणिक नहीं कहा-जासकता ॥ ६२ ॥

'जाति' को क्यों न पदार्थ मानाजाय—जिज्ञासु कहता है, तब जाति को पदार्थ मान लेना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया—

व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः ॥ ६३ ॥ (१९२)

[व्यक्त्याकृतियुक्ते] व्यक्ति और आकृति से युक्त होने पर [अपि] भी [अप्रसंगात्] प्रसंग-प्राप्ति न होने से [प्रोक्षणादीनाम्] प्रोक्षण आदि की [मृद्गवके] मिट्टी से बनी गाय में, [जातिः] जाति (पदार्थ मान्य होना चाहिये)।

मिट्टी से बनी गाय की मूर्ति में आकृति और व्यक्ति दोनों गाय-प्राणी के समान विद्यमान हैं; फिर भी उसमें–'गां प्रोक्षय, गामानय, गां दोग्धि' आदि व्यवहार नहीं होता। गाय को स्नान कराओ, गाय को यहाँ लेआओ, एवं गाय को दुहता है; इत्यादि व्यवहार मिट्टी की गाय में सम्भव नहीं होता, यद्यपि वहाँ व्यक्ति और आकृति विद्यमान हैं। वहाँ जाति के न रहने से यह स्थिति है, अतः जाति को पदार्थ मानना अधिक युक्त है ॥ ६३ ॥

जाति की अभिव्यक्ति व्यक्ति-आकृति के विना नहीं—उक्त कथन में आपत्ति प्रस्तुत करनेवाले जिज्ञासु के भाव को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः ।। ६४ ।। (१६३)

[न] नहीं (केवल जाति पदार्थ), [आकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वात्] आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से [जात्यभिव्यक्तेः] जाति की अभिव्यक्ति होने के कारण ।

जाति का ग्रहण आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से होता है। यदि व्यक्ति एवं आकृति का ग्रहण न हो, तो जाति की प्रतीति होना सम्भव नहीं । क्योंकि जाति की अभिव्यक्ति व्यक्ति और आकृति के ग्रहण पर निर्भर है, अतः केवल शुद्ध जाति को पद का अर्थ मानाजाना प्रामाणिक नहीं ।। ६४ ।।

व्यक्ति-आकृति-जाति तीनों पद के अर्थ—ऐसा तो सम्भव नहीं कि पद का कोई अर्थ न हो; तब पदार्थ क्या है ?–स्पष्ट होना चाहिये । सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः ।। ६५ ।। (१४६)

[व्यक्त्याकृतिजातयः] व्यक्ति, आकृति और जाति, ये सब [तु] तो [पदार्थः] पद के अर्थ होते हैं ।

सूत्र में पठित 'तु' पद एक विशेषता का बोध कराता है । वह विशेषता है–जाति, व्यक्ति, आकृति का परस्पर प्रधान-गौणभाव । व्यवहार के अनुसार जहाँ जैसा सम्भव हो, इनमें से एक पदबोध्य-अर्थ प्रधान होता है, शेष दोनों गौण रहते हैं । ऐसा नियम नहीं है कि सर्वत्र इनमें से कोई एक प्रधान रहे, और शेष दो गौण रहे । जैसे प्रथम जहाँ 'याशब्द' आदि का प्रयोग बतायागया है, जिसमें भेद की विवक्षा व विशेष स्थिति का बोध कराना अपेक्षित रहता है; वहाँ पद का प्रधान अर्थ व्यक्ति है; जाति, आकृति गौण हैं । जब भेद की विवक्षा न हो, और सामान्य स्थिति का बोध कराना अपेक्षित हो, वहाँ पद का प्रधान अर्थ जाति रहता है; व्यक्ति, आकृति गौण । जैसे–गौ बड़ा सीधा जानवर है गाय का दूध सर्वोत्तम होता है; यहाँ 'गो' पद का मुख्य अर्थ जाति, शेष गौण हैं । जब गाय के क्रय आदि का अवसर होता है, तब उसके देह और देहावयवों पर विशेष दृष्टि रहती है, जो आकृतिरूप है । यहाँ आकृति की प्रधानता है; जाति, व्यक्ति गौण । इसप्रकार पद के अर्थ तीनों हैं; यथावसर उनमें केवल प्रधान-गौणभाव रहता है ।। ६५ ।।

व्यक्ति का लक्षण—शिष्य जिज्ञासा करता है, जाति-व्यक्ति-आकृति को अनेक क्यों मानाजाता है ? इनको एकरूप स्वीकार कर उसीको पदार्थ मान-लियाजाय ? सूत्रकार ने समाधान किया, इन सबके लक्षण-स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, इसी कारण इन्हें अनेक मानाजाता है । इसके अनुसार सूत्रकार व्यक्ति-आकृति-जाति के लक्षण यथाक्रम प्रस्तुत करता है–

व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्त्तिः ।। ६६ ।। (१६५)

[व्यक्तिः] व्यक्ति है [गुणविशेषाश्रयः] गुण-विशेषों का आश्रय [मूर्त्तिः] मूर्त्ति–संघटित अवयवों वाला द्रव्य ।

व्यक्ति पद का अर्थ है, व्यक्त(प्रकट)हुआ द्रव्य; अर्थात् इन्द्रियग्राह्य द्रव्य । प्रत्येक द्रव्य को 'व्यक्ति' नहीं कहाजाता । गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व, वेग एवं स्थितिस्थापक संस्कार, अव्यापी परिमाण आदि गुणों का आश्रय यथासम्भव ऐसा द्रव्य–जो उपचित-संघटित अवयवों वाला हो–'व्यक्ति' पद से व्यवहृत होता है । ऐसी स्थिति प्रायः मध्यमपरिमाण द्रव्यों की सम्भव होती है । यह स्वरूप जाति-आकृति में घटित नहीं होता; अतः व्यक्ति को उनसे भिन्न मानाजाता है ।। ६६ ।।

आकृति का लक्षण—क्रमप्राप्त आकृति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या ।। ६७ ।। (१६६)

[आकृतिः] आकृति है (वह, जो) [जातिलिङ्गाख्या] जाति के लिङ्गों-चिह्नों को प्रख्यापित-प्रकट करती है ।

जिसके द्वारा जाति एवं जाति के चिह्नों को प्रकट कियाजाता है, वह आकृति है । किसी कार्य-द्रव्य के अवयवों की एवं अवान्तर अवयवों की एक नियत रचनाविशेष के अतिरिक्त आकृति और कुछ नहीं है । प्राणिदेह के अवयवों की नियत रचना जाति का चिह्न होती है । सिर, पैर (खुर आदि), सींग, पूँछ आदि से गाय, भैंस, कुत्ता आदि का पता लगजाता है । प्राणि-देह के अवयवों एवं अवान्तर अवयवों की नियत रचना-विशेष होनेपर उससे गोत्व, अश्वत्व आदि जाति का स्पष्ट बोध होजाता है । द्रव्य की जिस अवस्था में विशेष आकृति अभिव्यक्त नहीं होपाती, जैसे–मिट्टी, सोना, चाँदी आदि की साधारण द्रव्यस्थिति, उस अवस्था में मृत्, सुवर्ण एवं रजत पद के प्रयोग से द्रव्य में जाति व व्यक्ति का बोध होता है, आकृति का नहीं । ऐसी दशा में आकृति पदार्थ नहीं रहता ।। ६७ ।।

जाति का लक्षण—अन्त में जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

समानप्रसवात्मिका जातिः ।। ६८ ।। (१६७)

[समानप्रसवात्मिका] समान ज्ञान को उत्पन्न करनेवाली [जातिः] जाति होती है ।

अनेक अधिकरणों में समानबुद्धि को उत्पन्न करनेवाला धर्म 'जाति' कहलाता है । इसको शास्त्रीय परिभाषा में 'सामान्य' पद से कहा है । इस नामकरण का आधार–अनेक व्यक्तियों में समान ज्ञान का जनक–होना है । इस सामान्य धर्म के द्वारा अनेक अर्थ एक-दूसरे से व्यावृत्त न होकर एक वर्ग–एक

श्रेणी–में आजाते हैं। अनेक अधिकरणों में इससे एक-समान ज्ञान का अनुवर्त्तन होता रहता है। एक गाय को देख-समझकर संसार में जितनी गाय दृश्य–अदृश्य एवं अतीत-वर्त्तमान-अनागत में सम्भव हैं, सबका ज्ञान–'यह गौ है, यह गौ है' इसप्रकार अनुवृत्तिपूर्वक–होजाता है। ऐसे ज्ञान का कारण 'गोत्व' सामान्य धर्म है।

यह धर्म केवल गो प्राणी में रहता है; उससे अतिरिक्त कहीं नहीं। इस कारण गोमात्र से अतिरिक्त जो कुछ है, उस सबसे गोवर्ग को यह धर्म व्यावृत्त रखता है; अथवा गोवर्ग से अन्य समस्त विश्व को हटाकर रखता है। इसप्रकार यह धर्म प्रत्येक समान व्यक्तियों में रहता है। जैसे–गोमात्र में 'गोत्व' धर्म है, ऐसे अश्वमात्र में 'अश्वत्व', घटमात्र में 'घटत्व' द्रव्यमात्र में 'द्रव्यत्व', मनुष्यमात्र में 'मनुष्यत्व' आदि धर्म समझने चाहियें।

यह जाति दो प्रकार की है–परा और अपरा। 'परा' जाति केवल एक है–'सत्ता' जाति, जो समस्त द्रव्य, गुण और कर्मों में समवेत रहती है। 'अपरा' जाति अनेक हैं। इनको 'सामान्यविशेष जाति' भी कहाजाता है। सत्ता जाति का सबकी अपेक्षा अधिक क्षेत्र होने से वह केवल 'सामान्य' अथवा 'परजाति' मानीजाती है। यह जातिवाले पदार्थों में किसी के भेद का जनक नहीं है। अन्य जातिधर्म जो सीमित अथवा अल्प क्षेत्र में रहते हैं, वे अपने वर्ग में समान बुद्धि के जनक, तथा भिन्न वर्गमें व्यावृत्त-भेद बुद्धि के जनक होने से 'सामान्य-विशेष' कहेजाते हैं, जैसे–'द्रव्यत्व'-धर्म द्रव्यमात्र में समान बुद्धि का जनक है, द्रव्य से अतिरिक्त गुणादि मेंव्यावृत्त बुद्धि का जनक होता है। 'द्रव्यत्व' गुणादि में नहीं रहता; वह द्रव्यमात्र को गुणादि से भिन्न रखता है। सामान्य और भेदक दोनों रूप होने से 'सामान्य-विशेष' कहाजाता है। एकमात्र सत्ता-जाति को छोड़कर शेष समस्त जाति-धर्म 'सामान्य-विशेष' की कोटि में आते हैं।

प्राणिजगत् के प्रत्येक वर्ग में साजात्यप्रजनन की विशेषता देखीजाती है। यह साजात्य-प्रजनन जाति-धर्म का नियामक है। विजातीय सांकर्य होनेपर प्रजनन की क्षमता क्षीण होजाती है। इसका विस्तृत विवेचन 'विकासवाद'-प्रसंग से 'सांख्यसिद्धान्त' [३१६-३५] में कियागया है॥ ६८॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन बलियामण्डलान्तर्गत-
'छाता' वासि-श्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्धविद्योदयेन,
बुलन्दशहर-मण्डलान्तर्गत 'बनैल' ग्रामवास्तव्येन,
विद्यावाचस्पतिना–**उदयवीर-शास्त्रिणा** समुन्नीते
गौतमीयन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये द्वितीया-
ध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

सम्पूर्णश्चायं द्वितीयोऽध्यायः।

अथ तृतीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम्

प्रमेय परीक्षा— गत अध्याय में प्रमाणों की परीक्षा कीगई। प्रस्तुत तृतीय अध्याय में प्रमेय-परीक्षा का प्रारम्भ कियाजाता है। ये प्रमेय 'आत्मा' आदि पदार्थ हैं, जिनका निर्देश सूत्र [१ । १ । ६] में कियागया है। उनमें सर्वप्रथम आत्मा प्रमेय है, उसका विवेचन प्रस्तुत कियाजाता है।

विचार्य है, क्या देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वेदना आदि का संघातमात्र आत्मा है; अथवा इनसे कोई व्यतिरिक्त तत्त्व है-आत्मा? ऐसे संशय का कारण यह है कि लोक में आत्म-सम्बन्धी व्यवहार दोनों प्रकार का देखाजाता है। व्यवहार से तात्पर्य है-कर्त्ता के साथ कार्य एवं कारण के सम्बन्ध का कथन करना। कथन के दो प्रकारों में पहला है-अवयव से समुदाय का कथन। जैसे कहाजाता है-'मूलैर्वृक्षस्तिष्ठति'-जड़ों के सहारे से पेड़ खड़ा है। अथवा-'स्तम्भैः प्रासादो ध्रियते'-खम्भों के द्वारा महल टिका हुआ है। इस प्रयोग में जड़ पेड़ के और खम्भे महल के अवयव हैं; जो वृक्ष और महल से अलग नहीं। अवयवों के आधार पर समुदाय के खड़े रहने एवं टिकने का यहाँ निर्देश है।

दूसरे प्रकार में अन्य से अन्य का कथन कियाजाता है। जैसे-'परशुना वृश्चति'-कुल्हाड़े से काटता है; अथवा-'प्रदीपेन पश्यति'-प्रदीप से देखता है। इन प्रयोगों में काटने या देखनेवाला कर्त्ता, काटने या देखने के साधन (करण) परशु और प्रदीप, तथा काटीजानेवाली और देखीजानेवाली वस्तु, ये एक-दूसरे से भिन्न हैं। कर्त्ता, करण और कार्य परस्पर भिन्न पदार्थ हैं।

इसीके समान लोक में यह व्यवहार देखाजाता है-'चक्षुषा पश्यति'- चक्षु से देखता है; अथवा 'मनसा विजानाति'-मन से जानता है; तथा 'बुद्धया विचारयति'-बुद्धि से विचारता है। ऐसे ही-'शरीरेण सुखदुःखमनुभवति'-शरीर से सुख-दुःख का अनुभव करता है। यहाँ निश्चय कियाजाना चाहिए कि यह कथन अवयव से-देहादिसंघातरूप-समुदाय का समझाजाय, अथवा अन्य से अन्य का?

आत्मा, देह आदि से भिन्न है—आचार्य सूत्रकार बताता है, यह अन्य से अन्य का कथन समझना चाहिए। इसमें हेतु प्रस्तुत किया—

दर्शनस्पर्शनाभ्यामेकार्थग्रहणात् ।। १ ।। (१९८)

[दर्शनस्पर्शनाभ्याम्] दर्शन-चक्षु तथा स्पर्शन-त्वक् इन्द्रियों के द्वारा [एकार्थग्रहणात्] एक अर्थ के ग्रहण से (इन्द्रियादिसंघात से अतिरिक्त है–आत्मा)।

लोक में यह स्पष्ट व्यवहार देखाजाता है कि एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत अर्थ अन्य इन्द्रिय के द्वारा गृहीत होता है। एक व्यक्ति अनुभव करता है–जिस आम (फल) को मैंने चक्षु से देखा, उसीको हाथ में लेकर त्वक् से छूरहा हूँ। तथा जिसको त्वक् से छुआ, उसीको रसन-इन्द्रिय से चखरहा हूँ। यहाँ देखने, छूने और चखने का विषय एक है, तथा इनका कर्त्ता भी एक है, जो विभिन्न इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञान का प्रतिसन्धान करता है। प्रतिसन्धान अथवा प्रत्यभिज्ञान उसको कहते हैं, जहाँ एक कर्त्ता के द्वारा विभिन्न ज्ञानों का एकत्र व्यपदेश हो। देहादि संघात को कर्त्ता आत्मा मानने की भावना से यहाँ इन्द्रिय को एक-कर्त्ता मानाजाना संभव नहीं। क्योंकि चक्षु के द्वारा स्पर्श का, तथा त्वक् के द्वारा रूप का ग्रहण नहीं होसकता; और इन दोनों के द्वारा रस का ग्रहण अशक्य है। यदि कोई एक इन्द्रिय कर्त्ता हो, तो विभिन्न ज्ञानों का एकत्र प्रतिसन्धान होना असम्भव है। इसलिए विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा गृहीत एक विषय के विभिन्न ज्ञानों का प्रतिसन्धान करनेवाला कर्त्ता इन्द्रियों से अतिरिक्त होना चाहिए; वह आत्मा है।

इन्द्रिय को कर्त्ता इसलिए नहीं मानाजासकता; क्योंकि प्रत्येक इन्द्रिय अपने विषय का ग्रहण व प्रतिसन्धान करसकती है; अन्य इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का नहीं। चक्षु रूप का ग्रहण व प्रतिसन्धान करसके; स्पर्श व रस का नहीं। त्वक् स्पर्श का करसके, न रूप का न रस का।

एक इन्द्रिय को कर्त्ता न मानकर संघात को कर्त्ता मानाजाय, तो उसमें सभी इन्द्रियों का समावेश होने से प्रतिसन्धान सम्भव होसकेगा; यह कहना भी ठीक नहीं है। कारण यह है कि देह, इन्द्रिय, मन आदि का संघात देहादि से अतिरिक्त नहीं है; प्रत्युत वह देह, इन्द्रियादिरूप है। उस अवस्था में चक्षु और त्वक् आदि भिन्न इन्द्रियों द्वारा हुए ज्ञानों का प्रतिसन्धान किसको होगा? चक्षु द्वारा हुए ज्ञान का त्वक् को, एवं त्वक् द्वारा हुए ज्ञान का चक्षु को प्रतिसन्धान होना असम्भव है। क्योंकि इन्द्रियों द्वारा स्वग्राह्य विषय का ज्ञान और उसका प्रतिसन्धान होसकता है, इन्द्रियान्तर के विषय का नहीं। परन्तु यहाँ उन ज्ञानों का प्रतिसन्धान करनेवाला कर्त्ता एक है, जो विभिन्न ज्ञान-साधनों (इन्द्रियादि) से अतिरिक्त होसकता है, वही भिन्ननिमित्तक ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। यह स्थिति संघात में सम्भव नहीं।

यदि संघात को देह, इन्द्रिय, मन आदि से अतिरिक्त मानाजाता है; तो आत्म-तत्त्व को देहादि से अतिरिक्त मानने में क्या बाधा है? फलतः देह, इन्द्रिय आदि जड़ तत्त्वों–एवं जड़भूत उनके संघात–से अतिरिक्त चेतन आत्म-तत्त्व सिद्ध होता है, जो ज्ञान–और विभिन्न ज्ञानों के प्रतिसन्धान–का कर्त्ता है ।। १ ।।

इन्द्रियाँ चेतन आत्मा हैं—अनात्मवादी अथवा इन्द्रियचैतन्यवादी द्वारा उक्त कथन में प्रस्तुत आपत्ति को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न विषयव्यवस्थानात् ।। २ ।। (१९९)

[न] नहीं (उक्त कथन ठीक), [विषयव्यवस्थानात्] विषय के व्यवस्थान-निर्धारण से ।

देहादि संघात से अन्य कोई चेतन आत्म-तत्त्व नहीं है। देहादि संघात में प्रधानरूप से यहाँ विभिन्न इन्द्रियाँ ग्राह्य हैं, यह हेतुनिर्देश से स्पष्ट होता है। देह में ज्ञान के साधन इन्द्रियाँ हैं; उनका ग्राह्य विषय व्यवस्थित है। चक्षु इन्द्रिय न हो, तो रूप का एवं रूपी द्रव्य का ग्रहण नहीं होता; चक्षु के होने पर होता है। यह एक नियम है कि जो जिसके होने पर हो, न होने पर न हो; वह उसका अपना (आत्मीय) समझना चाहिए। इसके अनुसार रूपज्ञान चक्षु का अपना है, क्योंकि चक्षु रूप को देखती है। इसीप्रकार गन्ध घ्राण का, रस रसन का, स्पर्श त्वक् का, शब्द श्रोत्र का अपना विषय है। ये इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय को ग्रहण करती हैं; वे उस ज्ञान की कर्त्ता हैं, इसलिए वे चेतन हैं। क्योंकि इन्द्रियों के होने पर विषय का ग्रहण होता है, न होने पर नहीं होता। अतः इन्द्रियों से अतिरिक्त किसी अन्य चेतन का मानना व्यर्थ है।

इन्द्रियचैतन्यवादी का–अपने पक्ष की पुष्टि के लिए प्रस्तुत–'विषयव्यवस्थानात्' हेतु वस्तुतः सन्दिग्ध है। इन्द्रियों के होने-न-होने पर विषयग्रहण का होना-न-होना जो बतलायागया है, वह क्या इन्द्रियों के चेतन होने से ऐसा है? अथवा अन्य चेतन आत्म-तत्त्व का–इन्द्रियों के उपकरण-साधन होने से ऐसा है? इन्द्रियों के द्वारा ग्राह्य विषय की व्यवस्था का निमित्त यह होसकता है कि इन्द्रियाँ–चेतन आत्मा को होनेवाले–विभिन्न ज्ञानों के लिए साधनमात्र हैं। वे आत्मा को ज्ञान कराने में ज्ञानोत्पत्ति के लिए साधनरूप से उपस्थित होती हैं। उनका ग्राह्यविषय एक-दूसरे से भिन्न रहता है। अतः इन्द्रियों के साधनरूप में मानेजाने पर विषय की व्यवस्था अबाधित रहने के कारण उक्त हेतु सन्दिग्ध होने से इन्द्रियों को चेतन-कर्त्ता सिद्ध करने में अक्षम होजाता है ।। २ ।।

इन्द्रियाँ चेतन आत्मा नहीं—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान किया—

तद्व्यवस्थानादेवात्मसद्भावादप्रतिषेधः ।। ३ ।। (२००)

[तद्व्यवस्थानात्] इन्द्रियों के विषय की व्यवस्था से [एव] ही [आत्म-सद्भावात्] आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होने के कारण [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध (आत्मविषयक) असंगत है।

विभिन्न इन्द्रियों के अलग-अलग ग्राह्य विषय की व्यवस्था के कारण सब विषयों का ज्ञान करनेवाले एक चेतन आत्म-तत्त्व का सद्भाव सिद्ध होता है। यदि कोई एक इन्द्रिय विषयव्यवस्था से अलग रहकर सब विषयों का ग्रहण करनेवाला होता, तो उससे अतिरिक्त अन्य चेतन आत्मा का अनुमान करना अशक्य एवं व्यर्थ होता। क्योंकि विभिन्न इन्द्रियों का अलग-अलग एक-एक ग्राह्य विषय निर्धारित है, इसलिए कोई एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण करने में असमर्थ रहता है। इसीकारण इन्द्रियों से अतिरिक्त सब विषयों को ग्रहण करनेवाले ऐसे एक चेतन का अनुमान कियाजाता है, जो विषय की व्यवस्था को लाँघकर उससे ऊपर उठाहुआ है।

उसके सद्भाव को प्रमाणित करने में प्रत्यभिज्ञान एक ऐसा चेतनोपयोगी व्यवहार है, जो सब प्रकार अबाध्य है। जिस व्यक्ति ने आम-फल को पहले देखा, सूँघा और चखा है, वह पुनः आम को देखनेमात्र से उसके पूर्वगृहीत गन्ध और रस को समझलेता है। इसीप्रकार गन्ध का ज्ञान होनेपर–पूर्व-अनुभव किए हुआ व्यक्ति फल के रस और रूप को जानलेता है। एक वह ज्ञाता रूप को देखकर गन्ध को पहचान लेता है; गन्ध को सूँघकर रूप को समझ लेता है; रूप-गन्ध को देख-सूँघकर रस को जान लेता है। इसप्रकार के ज्ञान होने में कोई क्रम निर्धारित नहीं होता। सब विषयों का ज्ञान एक चेतन ज्ञाता को होता रहता है; वही विभिन्न ज्ञानों का प्रतिसन्धान करता है। प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द-प्रमाणों से होनेवाले विविध ज्ञानों का तथा संशय आदि के रूप में होनेवाले ज्ञानों का वही एकमात्र आत्मा कर्त्ता एवं प्रतिसन्धाता है, प्रतिसन्धान कर विषय की यथार्थता को जानता है। सब विषयों का प्रतिपादन करनेवाले शास्त्र को वह आत्मा समझता है।

श्रोत्र-इन्द्रिय का विषय केवल शब्द का ग्रहण करना है; शब्द का अर्थ श्रोत्र का विषय नहीं। परन्तु क्रम से उच्चरित वर्णों को सुनकर उनसे पदों और वाक्यों का प्रतिसन्धानपूर्वक यथायथ संयोजन करके शब्दों से अर्थ की व्यवस्था को जानता हुआ वह चेतन ज्ञाता ऐसे उन समस्त अनेक विषयों को ग्रहण करता है, जिनका ग्रहण किसी एक-एक इन्द्रिय के द्वारा होना असम्भव है। सब विषयों को ग्रहण करनेवाले उस ज्ञाता की–ज्ञेय-विषयक इस अव्यवस्था को एक झटके में तोड़ा या लाँघा नहीं जासकता। तात्पर्य है–इन्द्रियाँ व्यवस्थित विषय हैं, परन्तु इन्द्रियादिव्यतिरिक्त सर्वविषयग्राही चेतन आत्मा अव्यवस्थितविषय है। यह स्थिति

सर्वानुभवसिद्ध है। फलतः यह कहना सर्वथा अयुक्त है कि–इन्द्रियों को चेतन मानलेने पर उनसे अतिरिक्त चेतन का मानना व्यर्थ है ॥ ३ ॥

देहादि संघात आत्मा नहीं—देहादि से अतिरिक्त है–आत्मा, केवल देहादि संघात आत्मा नहीं; इसके लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

शरीरदाहे पातकाभावात् ॥ ४ ॥ (२०१)

[शरीरदाहे] शरीर के जलाये जाने पर [पातकाभावात्] पातक–पाप के अभाव की प्रसक्ति से।

यदि भौतिक देहादि संघात को आत्मा मानाजाता है, तो जीवित देह को जला देने पर जलानेवाले को पाप न होने की आपत्ति आती है। सूत्र में 'शरीर' पद का तात्पर्य–शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि का संघात–समुदाय है, जो जीवित प्राणी के रूप में मानाजाता है। जीवित शरीर के जलानेवाले व्यक्ति को प्राणी की हिंसा से जो पाप लगता है, वह केवल देहादि संघात को आत्मा मानलेने की दशा में प्राप्त नहीं होता; जो कि अवाञ्छनीय है। यहाँ अवाञ्छनीयता यही है कि जो पाप करता है, उसको उस पाप का फल नहीं मिलता; और जिसे पाप का फल भोगना पड़ता है, उसने पाप नहीं किया होता। पाप करनेवाला फलप्राप्ति से बचजाता है; तथा जिसने पाप नहीं किया, वह उसका फल भोगता है।

इसमें रहस्य यह है, देह-इन्द्रिय आदि संघात का जो प्रवाह चलरहा है, वह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता रहता है, दिये की लौ के समान। देह आदि का बनना, बढ़ना, टिकना आदि सब खान-पान आदि आहार पर अवलम्बित है। जो आहार लियाजाता है, वही रस आदि रूप में परिणत होकर शरीर को बनाता, बढ़ाता व स्थिर रखता है। शुक्र-शोणितसम्पर्क के प्रथम क्षण से लेकर आयु के अन्तिम क्षण तक देह में निरन्तर परिवर्त्तन का आधार है–उपयुक्त आहार आदि का रस आदि के रूप में परिणत होना। देह में यह क्रिया प्रतिक्षण चलती है। उसमें शरीर के कुछ अंश नष्ट होते, और कुछ उत्पन्न होते रहते हैं। यह प्रवाह निरन्तर चलते रहने से एक क्षण में देह की जो स्थिति है, वह अनन्तर क्षण में बदलजाती है। इसप्रकार प्रत्येक क्षण में यह शरीर अन्य-अन्य होता रहता है। ऐसी स्थिति में जिस शरीर के द्वारा एक जीवित शरीरादि-संघात को जलादिया-गया है, उस जलानेवाले शरीर ने पाप किया; परन्तु वह देहादि-संघात आनेवाले क्षणों में–परिवर्त्तित होकर–अन्य होजाता है। इसप्रकार पूर्वकृत पाप के फल को अब उस देहादि-संघात के द्वारा भोगाजाता है, जिसने पाप नहीं किया। इसप्रकार देहादि-संघातमात्र को आत्मा मानने पर देहादि प्राणी का प्रतिक्षण भेद होते रहने से कृतहानि और अकृताभ्यागम-दोष प्राप्त होता है।

देहादि-संघात को आत्मा मानने पर एक अन्य दोष यह है–कर्म-कारण के विना संसार की सृष्टि अथवा देहादि की प्राप्ति होना। इस सब रचना में अनन्त विविधता देखीजाती हैं। इनका कारण होता है–अनन्त प्राणियों के अपने-अपने विविध कर्म। उन्हींके अनुसार विविध योनियों में देहादि की प्राप्ति, तथा अन्य भोग्य-सामग्री की रचना एवं उपलब्धि होती है। यदि देहादि-संघात को आत्मा मानाजाता है, तो उसके उत्पाद-विनाशशील होने से जीवन समाप्त होजाने पर सब-कुछ यहीं समाप्त होजाता है; फिर मोक्ष आदि की प्राप्ति के लिए ब्रह्मचर्य आदि का पालन तथा व्रत-उपासना आदि सब व्यर्थ होजाता है। इन दोषों की विद्यमानता में देहादि-संघात को आत्मा न मानकर देहादि से अतिरिक्त नित्य चेतन आत्मतत्त्व को स्वीकार करना प्रामाणिक व निर्दोष है ॥ ४ ॥

आत्मा के नित्य होने से शरीरदाह में पातक नहीं—देहात्मवादी जिज्ञासु नित्य आत्मा मानने पर पातक न होने के दोष की उद्‌भावना करता है। सूत्रकार ने उसकी भावना को सूत्रित किया—

तदभावः सात्मकप्रदाहेऽपि तन्नित्यत्वात् ॥ ५ ॥ (२०२)

[तद्-अभावः] उस पातक का अभाव है [सात्मकप्रदाहे] आत्मा के सहित देहादि के जलादेने पर [अपि] भी [तद्-नित्यत्वात्] उस आत्मा के नित्य होने के कारण।

देहादि से अतिरिक्त आत्मा को चेतन व नित्य मानने पर जीवित (–सात्मक = आत्मा-सहित) देह को जलादेने से, जलानेवाले को हिंसाकृत पाप नहीं होना चाहिये, क्योंकि आत्मा के नित्य होने के कारण उसे अग्नि आदि से जलायाजाना असम्भव है। ऐसी दशा में न उसकी हिंसा होती है, और न उससे कोई पातक होने की सम्भावना है। यदि नित्य आत्मा की हिंसा होना सम्भव है, तो वह नित्य नहीं मानाजासकता। जहाँ देहात्मवाद में हिंसा निष्फल है; क्योंकि हिंसा करनेवाले को फल प्राप्त नहीं होसकता, वहाँ नित्यात्मवाद में हिंसा होना सर्वथा अनुपपन्न-अयुक्त है। अतः उक्त हेतु के आधार पर आत्मा का–देहादि से अतिरिक्त–सिद्ध होना सन्दिग्ध रहजाता है ॥ ५ ॥

शरीरदाह से पातक का आधार—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान किया—

न कार्याश्रयकर्त्तृवधात् ॥ ६ ॥ (२०३)

[न] नहीं (नित्य आत्मा का नाश, वध, हिंसा, अपितु) [कार्याश्रयकर्तृ-वधात्] कार्य के आश्रय शरीर तथा कार्य के करनेवाली इन्द्रियों के वध-आघात-पीडन से (हिंसा होती है)।

देहादि से अतिरिक्त आत्मा को माननेवाले सिद्धान्तपक्ष का कहना है कि हिंसा नित्य आत्मा के वध से होती हो, ऐसा नहीं है। प्रत्युत नित्य आत्मा के समस्त कार्यों का आश्रय यह शरीर है, और उन कार्यों को साधनरूप से सम्पादन करनेवाली इन्द्रियाँ हैं। किसीके शरीर व इन्द्रियों को पीड़ा पहुँचाना, चोट देना, या काट-पीट देना वध अथवा हिंसा कहाजाता है।

आत्मा का कार्य है–सुख, दुःख आदि का अनुभव करना, उनके साधनों की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना। इनका आश्रय शरीर है। आत्मा अपने समस्त भोग–एवं भोग तथा मोक्ष के सब साधनों–का सम्पादन शरीरप्राप्ति पर करसकता है। शरीर के साथ सम्बद्ध हुई इन्द्रियाँ अपने विषयों को उपलब्ध करने में समर्थ होती हैं। आत्मा के समस्त भोग एवं मोक्षसाधन, शरीर एवं इन्द्रियों के सहयोग पर निर्भर हैं। इनका वध होना हिंसा है; नित्य आत्मा का वध कभी नहीं होता। आत्मा के इन शरीरादि साधनों को नष्ट करना, पीड़ा पहुँचाना हिंसा है, पाप है। इसलिए गत सूत्र द्वारा जो आपत्ति प्रस्तुत कीगई है–आत्मा को नित्य मानने पर उसका वध सम्भव न होने से हिंसारूप पातक का अभाव होगा–वह सर्वथा अयुक्त है।

यदि देह, इन्द्रिय, बुद्धि आदि सबके संघात को आत्मा के कार्यों का आश्रय मानाजाता है, तो 'कार्याश्रय' पद का 'कर्त्तृ' पद के साथ कर्मधारय समास करके कार्याश्रय जो कर्त्ता हैं, उनके वध से हिंसा होती है, नित्य आत्मा के वध से नहीं; ऐसा सूत्रार्थ समझना चाहिये। आत्मा के सुखानुभव आदि का सम्पादन देहादि-संघात पर निर्भर है, उसके विना नहीं होसकता। अतः आत्मा के भोगादि के साधन देहादिसंघात का वध हिंसारूप पातक है; आत्मा का उच्छेद हिंसा नहीं; क्योंकि वह नित्य है, उसका उच्छेद असम्भव है।

इस विवेचन के अनुसार–यदि केवल देहादिसंघात को आत्मा मानाजाता है, देहादि से अतिरिक्त कोई नित्य चेतन आत्मतत्त्व स्वीकार नहीं कियाजाता, तो देहादि के प्रतिक्षण परिवर्तनशील होने के कारण शरीर के दाह व वध से जो आपत्ति हिंसा एवं पातक के अभाव होने के रूप में चौथे सूत्र से प्रस्तुत कीगई है–वह निर्बाध बनी रहती है; अतः देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा को न मानना सर्वथा अयुक्त है ॥ ६ ॥

आत्मा देहादिसंघात से भिन्न—देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि के लिए आचार्य सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

सव्यदृष्टस्येतरेण प्रत्यभिज्ञानात् ॥ ७ ॥ (२०४)

[सव्यदृष्टस्य] बाईं आँख से देखे पदार्थ का [इतरेण] अन्य (दाईं) आँख से [प्रत्यभिज्ञानात्] प्रत्यभिज्ञान होने के कारण (स्पष्ट होता है–आत्मा इन्द्रियादि से भिन्न है)।

गत प्रकरण [सूत्र ४–६] में देह से आत्मा का भिन्न होना सिद्ध किया-गया। प्रस्तुत प्रसङ्ग [सूत्र ७–११] में इन्द्रियों से आत्मा का भेद सिद्ध किया गया है।

पहले और अनन्तर होनेवाले दो ज्ञानों का एक विषय में जो मिलाहुआ ज्ञान होता है, उसे 'प्रत्यभिज्ञान' कहते हैं। किसी ने देवदत्त को मथुरा में देखा, उसीको कालान्तर में वह दिल्ली में देखकर कहता है–'यह वही देवदत्त है, जिसको पहले मैंने मथुरा में देखा था।' यह ज्ञान 'प्रत्यभिज्ञान' है। इसमें पहले मथुरा में देखे का ज्ञान और इस समय दिल्ली में देखे का ज्ञान दोनों सम्मिलित हैं। इसीप्रकार व्यक्ति बाईं आँख से देखे पदार्थ को दाईं आँख से प्रत्यभिज्ञान करता है–'जिस अर्थ को मैंने पहले बाईं आँख से देखा था, उसीको मैं अब दाईं आँख से देख रहा हूँ' व्यवहार में ऐसा प्रत्यभिज्ञान होता देखाजाता है।

यदि इन्द्रियों को चेतन आत्मा मानाजाता है, तथा उनसे अतिरिक्त द्रष्टा अन्य कोई नहीं है, ऐसा कहाजाता है, तो व्यवहार में उक्त प्रत्यभिज्ञान का होना सर्वथा अनुपपन्न होजायगा; क्योंकि चेतन के विषय में यह एक निर्धारित व्यवस्था है कि एक चेतन को हुए ज्ञान का अन्य चेतन को प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता। अर्थ को देखा चैत्र ने, उसका प्रत्यभिज्ञान मैत्र को होजाय, यह असम्भव है। पर यहाँ बाईं आँख से देखे अर्थ का दाईं आँख से देखने पर प्रत्यभिज्ञान का होना, यह सिद्ध करता है कि आँख स्वयं चेतन द्रष्टा नहीं है; प्रत्युत इन दोनों से अतिरिक्त चेतन द्रष्टा है, जो अकेला स्वयं दोनों साधनों (दाईं-बाईं आँख) से हुए ज्ञान का प्रत्यभिज्ञान करता है। विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा हुए ज्ञान का प्रत्य-भिज्ञान होना व्यवहार में बराबर देखाजाता है–'जिस घट को अन्धेरे में मैंने हाथ से छुआ था, उसीको अब प्रकाश होने पर आँख से देख रहा हूँ'। इन्द्रियों को चेतन आत्मा मानने पर यह सब असम्भव है; क्योंकि एक चेतन के ज्ञान का अन्य चेतन को प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता ॥ ७ ॥

चक्षु एक है—इस हेतु में–इन्द्रियात्मवादी की–आपत्ति को आचार्य सूत्र-कार सूत्रित करता है—

नैकस्मिन्नासास्थिव्यवहिते द्वित्वाभिमानात् ॥ ८ ॥ (२०५)

[न] नहीं (युक्त उक्त हेतु), [एकस्मिन्] एक [नासास्थिव्यवहिते] नाक की हड्डी से व्यवहित (आँख में) [द्वित्वाभिमानात्] दो का भ्रम होने से।

इन्द्रियों से आत्मा को अतिरिक्त सिद्ध करने के लिए जो हेतु गत सूत्र में दियागया, उसका आधार–आँखों का दो होना है। पर वस्तुतः यह ठीक नहीं; क्योंकि चक्षु-इन्द्रिय एक है। बीच में नाक की हड्डी का व्यवधान आजाने के कारण वह एक चक्षु दो-जैसा दिखाई देता है। यह ऐसा है, जैसे कोई लम्बी

वस्तु बीच में व्यवधान आजाने से–एक होती हुई–दो-जैसी दिखाई देती है। दाएँ-बाएँ केवल ऊपर के दो गोलक हैं; चक्षु उनमें एक होने से प्रत्यभिज्ञान सम्भव है। यह अन्य के ज्ञान का अन्य को प्रत्यभिज्ञान होने का प्रसंग नहीं, प्रत्युत चक्षु को अपने ही पूर्वज्ञान का कालान्तर में प्रत्यभिज्ञान होता है। अतः इन्द्रिय को चेतन आत्मा मानने में कोई दोष नहीं ॥ ८ ॥

चक्षु इन्द्रिय दो हैं—आचार्य सूत्रकार ने दो नेत्रों के होने में तर्क प्रस्तुत किया—

एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशान्नैकत्वम् ॥ ९ ॥ (२०६)

[एकविनाशे] एक के नष्ट होजाने पर [द्वितीयाऽविनाशात्] दूसरे चक्षु का विनाश न होने से [न] नहीं [एकत्वम्] एक होना (चक्षु का)।

एक चक्षु के फूट जाने पर, न रहने पर दूसरा चक्षु बराबर बना रहता है। क्योंकि उस दशा में रूप अथवा रूपी द्रव्य के ग्रहण करने में कोई बाधा नहीं होती। रूपादि विषय का ग्रहण होना चक्षु के अस्तित्व का प्रमाण है। यदि एक चक्षु होता, तो उसका नाश होजाने पर दूसरा चक्षु उपलब्ध न होता; तथा संसार में काणा कोई व्यक्ति न होता। परन्तु ऐसा नहीं है। अतः चक्षु दो होने पर एक चक्षु के द्वारा देखे का अन्य के द्वारा देखने पर प्रत्यभिज्ञान का होना यह सिद्ध करता है कि चेतन द्रष्टा आत्मा इन्द्रियों से अतिरिक्त है॥ ९ ॥

काणा, अवयवनाश से—इन्द्रियात्मवादी के द्वारा पुनः प्रस्तुत आपत्ति को सूत्र ने सूत्रित किया—

अवयवनाशेऽप्यवयव्युपलब्धेरहेतुः ॥ १० ॥ (२०७)

[अवयवनाशे] एक अवयव के नाश होने पर [अपि] भी [अवयव्युपलब्धेः] अवयवी के उपलब्ध रहने-बने रहने से [अहेतुः] उक्त हेतु अयुक्त है।

गत सूत्र में चक्षु को दो बताने के लिए जो हेतु–'एकविनाशे द्वितीयाऽविनाशात्' एक के नाश होने पर दूसरा बना रहता है–प्रस्तुत कियागया, वह असंगत है। कारण यह है–किसी अवयवी का एक-आध अंश नष्ट होजाने पर अवयवी बनारहता है। एक वृक्ष की किन्हीं शाखाओं के कट-फट जाने पर वृक्ष वैसा ही उपलब्ध रहता है। ऐसे ही एक चक्षु का कुछ अंश न रहने पर चक्षु बना रहता है। अतः चक्षु को दो कहना युक्तियुक्त नहीं है ॥ १० ॥

चक्षु दो स्पष्ट देखेजाते हैं—आचार्य सूत्रकार ने इस आपत्ति का समाधान किया—

दृष्टान्तविरोधादप्रतिषेधः ॥ ११ ॥ (२०८)

[दृष्टान्तविरोधात्] दृष्टान्त के विरोध से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (उक्त हेतु का)।

अवयव के नाश से अवयवी का नाश आवश्यक है। अवयवी कार्य, और अवयव उसका कारण होता है; कारण का नाश होने पर कार्य का नाश अवश्यम्भावी है। शाखा का नाश होजाने पर उस वृक्ष का नाश सिद्धान्तपक्ष को स्वीकृत है, जो शाखायुक्त था। अतः प्रस्तुत प्रसंग में यह दृष्टान्त प्रतिपाद्य-अर्थ के विरुद्ध है। इसलिए चक्षु के अवयव का नाश होने पर अवयवी चक्षु का नाश आवश्यक है। इसलिए दो चक्षु होने का प्रतिषेध करना अयुक्त है।

कारणद्रव्य—अवयव के विच्छिन्न होजाने पर यदि कार्य-द्रव्य को अवस्थित मानाजाता है, तो उसे नित्य मानना होगा; जो अनिष्ट है। एक महान् अवयवी जिन अनेक अवयवों से उत्पन्न होता है, वे अवयव अपने रूप में अवयवी हैं। इस-प्रकार एक बड़े अवयवी के कारणभूत अवयव भी बहुत-से अवयवी हैं। उनमें से जिस अवयवी के कारणभूत अवयव विभक्त होकर बिखरजाते हैं, उसका नाश होजाता है; तथा जिनके कारण—अवयव अपनी यथावस्थिति में बने रहते हैं, वे अवयवी अवस्थित रहते हैं। पर वे जिस बड़े अवयवी के अवयवरूप हैं; किसी एक अवयव का नाश होजाने पर वह अवयवी विद्यमान नहीं रहसकता; अन्यथा कारण का विनाश होजाने पर कार्य को अवस्थित मानने से कार्य को नित्य मानना होगा, जो सर्वथा आपत्तिजनक है। ऐसी स्थिति में चक्षु के अवयव नष्ट होजाने पर काणे व्यक्ति को रूप का ज्ञान नहीं होना चाहिये। परन्तु रूपज्ञान होता है, इससे स्पष्ट है, रूपज्ञान का साधन एक चक्षु विद्यमान है। जो चक्षु नष्ट होगया, वह इससे पृथक् था। अतः दो चक्षुओं का अलग-अलग होना सिद्ध होता है।

सूत्र के 'दृष्टान्तविरोध' पद का एक अन्य अर्थ भी सम्भव है। दृष्टान्त का अभिप्राय देखाहुआ अर्थ। मरे हुए व्यक्ति की खोपड़ी में चक्षुओं के स्थान पर अलग-अलग दो गड्ढे देखेजाते हैं, जिनके बीच में नाक की हड्डी का व्यव-धान रहता है। शरीर के इस अंग की ऐसी प्रत्यक्ष बनाबट चक्षु को एक माने-जाने के विरुद्ध है। अतः चक्षु दो हैं, यह स्पष्ट होता है।

इस प्रसङ्ग में यह ध्यान रखना चाहिये, यदि चक्षु वस्तुतः एक हो, तो लोकव्यवहार में यह कहाजाता है कि अमुक व्यक्ति की आँख फूटगई, तो उसमें दाएँ-बाएँ का नियम नहीं होना चाहिये; और न यह व्यवहार सम्भव है कि एक आँख फूटी या दोनों। एक आँख फूटने पर व्यक्ति 'काणा' कहाजाता है, चाहे दाईं आँख फूटी हो या बाईं। दोनों आँखें फूटने पर 'अन्धा' कहाजाता है। यह सब व्यवहार व स्थिति चक्षुओं का दो होना सिद्ध करते हैं।

इसके अतिरिक्त एक बात और है–जब कोई व्यक्ति एक आँख को अंगुली या हाथ से मलता है, तो इन्द्रियसन्निकृष्ट दृश्य–अर्थ दो तरह का दिखाई देता है–एक हिलता हुआ और दूसरा स्थिर। दृश्य विषय सामने रक्खा घड़ा एक है; पर कोई-सी एक आँख मलने पर घट की एक आकृति स्थिर और दूसरी चलती-काँपती-हिलती प्रतीत होती है। इस दशा में मली जाती हुई आँख का दृश्य चल, तथा दूसरी आँख का वही दृश्य स्थिर दिखाई देता है। जब एक आँख का अव-पीडन (मलना) नहीं कियाजाता, तब दोनों आँखों का वह दृश्य एक स्थिररूप में दीखता है। यह प्रयोग चक्षु के दो होने को सिद्ध करता है ॥ ११ ॥

इन्द्रियान्तरविकार, देहातिरिक्त आत्मा का साधक—चेतन आत्मतत्त्व देहादिसंघात से अतिरिक्त है, इस विषय में आचार्य सूत्रकार ने अन्य प्रमाण प्रस्तुत किया—

इन्द्रियान्तरविकारात् ॥ १२ ॥ (२०६)

[इन्द्रियान्तरविकारात्] अन्य इन्द्रिय में हुए विकार से (इन्द्रियाद्यतिरिक्त है आत्मा)।

किसी व्यक्ति ने एक अम्ल (खट्टे) फल के रस (स्वाद) को चखा; रस-ग्रहण के साथ उसने फल के रूप और गन्ध का अनुभव किया। कालान्तर में वैसे फल को जब वह व्यक्ति दूर से देखता है, अथवा उसके गन्ध का ग्रहण करता है, तब पहले अनुभव किये रस की याद आने पर मुँह में पानी भर आता है। इस समय फल के 'रूप' अथवा 'गन्ध' का उस व्यक्ति ने ग्रहण किया है। रूप को देखकर अथवा गन्ध को सूँघकर पूर्वानुभूत रस के स्मरण से जीभ में पानी भर आता है, या लार टपकने लगती है। फल का रूप चक्षु का तथा गन्ध घ्राण-इन्द्रिय का ग्राह्य विषय है; परन्तु पूर्वानुभूत रस की स्मृति से पानी जीभ में भरता है, जो रसन-इन्द्रिय का ग्राह्य विषय है। यदि इन्द्रियों को चेतन आत्मतत्त्व मानाजाता है, तो चक्षु द्वारा रूप को देखकर रसन-इन्द्रिय को–रूप और रस के साहचर्य के आधार पर–रस का स्मरण नहीं होसकता। क्योंकि चेतन के विषय में यह व्यवस्था है कि एक के देखे हुए को अन्य स्मरण नहीं करसकता। चक्षु द्वारा रूप को देखकर इन्द्रियान्तर रसन में रस की लालसा से पानी का छूटना-विकार यह सिद्ध करता है–इन इन्द्रियों से भिन्न चेतन है, जो विभिन्न इन्द्रियरूप साधनों द्वारा अकेला सब विषयों को ग्रहण करता है। अपने गृहीत विषय का स्मरण होना उपपन्न है। अतः देहादिसंघात से–आत्मा को–अतिरिक्त मानना प्रामाणिक है ॥ १२ ॥

इन्द्रियान्तरविकार, आत्मा का साधक नहीं—इन्द्रियात्मवादी के द्वारा इस विषय में प्रस्तुत आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात् ।। १३ ।। (२१०)

[न] नहीं (युक्त, इन्द्रियान्तरविकार हेतु) [स्मृतेः] स्मृति का [स्मर्त्तव्य-विषयत्वात्] स्मर्त्तव्य विषय होने से ।

स्मर्त्तव्य वह है–जिसका स्मरण कियाजाय । मुँह में पानी–रस का स्मरण होने से–भर आता है; इसलिए रस स्मृति का विषय है । तात्पर्य है, स्मृति एक धर्म है, रस उसका विषय है । किसी निमित्त से वह उभर आती है । पहले कभी रसन-इन्द्रिय से रस का अनुभव कियागया । किसी संस्कार आदि विशेष कारण से अवसर आने पर रसन-इन्द्रिय को रस की स्मृति होने में कोई बाधा दिखाई नहीं देती । आकाश में चमकता चाँद नायक को अपनी प्रेयसी के मुख का स्मरण करादेता है, तो चक्षु द्वारा देखेगये फल-रूप से रसन को रस का स्मरण होआने में क्या आपत्ति है । रस का इसप्रकार स्मरण होआना सब रसन-इन्द्रिय का कार्य है, इन्द्रियातिरिक्त किसी आत्मा का इससे क्या सम्बन्ध ? अतः इन्द्रियान्तर-विकार हेतु किसी अतिरिक्त आत्मतत्त्व का साधक सम्भव नहीं ।। १३ ।।

स्मरण इन्द्रिय-धर्म नहीं, आत्मधर्म है—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान किया—

तदात्मगुणसद्भावादप्रतिषेधः ।। १४ ।। (२११)

[तदात्मगुणसद्भावात्] रसादि स्मृति के आत्मा का गुण होने से [अप्रति-षेधः] प्रतिषेध असंगत है (इन्द्रियातिरिक्त आत्मा के अस्तित्व का) ।

मैं स्मरण करता हूँ (-अहं स्मरामि), अथवा 'विविधविषयकस्मृतिमानहम्' अनेक विषयों की स्मृति मुझे है, इत्यादि सर्वजनप्रसिद्ध अनुभव से यह सिद्ध है कि स्मृति आत्मा का गुण-धर्म होसकता है । किसी एक इन्द्रिय को न विविध विषयों का अनुभव होसकता है, न स्मरण । रसादि स्मृति को आत्मा का गुण मानना होगा । चक्षु के द्वारा फल के दीखने पर फलगत रूप के साहचर्य से रसन-इन्द्रिय को रस की स्मृति का होना सर्वथा अनुपपन्न है; क्योंकि इन्द्रियों को चेतन मानने पर–अन्य के देखे से अन्य स्मरण नहीं कर सकता (–नान्यदृष्टमन्यः स्मरति)–इस चेतनसम्बन्धी व्यवस्था के अनुसार चक्षु के देखे से रसन को स्मृति होना असम्भव है । परन्तु स्मृति होती अवश्य है; इससे देहेन्द्रियादिभिन्न आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है, जो एक रहकर चक्षु व रसन आदि विभिन्न इन्द्रिय-रूप साधनों के द्वारा विविध विषयों का ग्रहण कियाकरता है । उसको रूप के दीखने से रस की स्मृति का होना सर्वथा उपपन्न है ।

इसप्रकार स्मृति को आत्मा का गुण मानने पर स्मृति का होना सम्भव है । इन्द्रियों को चेतन आत्मा के स्थानीय मानने पर रूपज्ञान, रसज्ञान, गन्धज्ञान आदि के कर्त्ता एक-दूसरे से भिन्न होंगे; तब इन विभिन्न विषयक ज्ञानों का

एकत्र प्रतिसन्धान नहीं होसकता। यदि इस स्थिति में प्रतिसन्धान मानाजाता है, तो इन्द्रियों के अपने-अपने विषयों को ग्रहण कियेजाने की जो व्यवस्था है, वह अनुपपन्न होजायगी। चक्षु रूप का ग्रहण करता है, रसादि का नहीं; रसन केवल रस का ग्रहण करता है, अन्य रूपादि का नहीं; यह सब इन्द्रियों के विषयग्रहण की व्यवस्था को तिलाञ्जलि देनी होगी, जो सर्वथा अनुभवविरुद्ध है।

फलतः एक चेतन विभिन्न साधनों से अनेक अर्थों का द्रष्टा अपने पूर्वानुभूत अर्थ का स्मरण करता है, यही मानना प्रामाणिक है। इससे स्पष्ट होता है–अनेक अर्थों के द्रष्टा एक आत्मा को अपने पूर्वानुभव का प्रतिसन्धान होने से आत्मा का गुण मानने पर स्मृति का सद्भाव सम्भव है; अन्यथा नहीं। स्मृति के सहारे पर सब प्राणियों के व्यवहार चलते हैं। इसलिए इन्द्रियान्तरविकार आत्मा के–इन्द्रियादि से अतिरिक्त–अस्तित्व का साधक है। यह एक उदाहरण-मात्र है, केवल एक नमूना। आत्मा के साधक अनेक हेतुओं का विस्तारभय से यहाँ उल्लेख करना उपेक्षित कर दिया है ॥ १४ ॥

गतसूत्र [१३वें] से प्रदर्शित इन्द्रियात्मवादी की भावना में आचार्य सूत्रकार अन्य दोष प्रस्तुत करता है—

अपरिसंख्यानाच्च स्मृतिविषयस्य ॥ १५ ॥ (२१२)

[अपरिसंख्यानात्] परिसंख्यान–परिगणना न करने से [च] तथा (उसप्रकार) [स्मृतिविषयस्य] स्मृति के विषयों की, (उक्त कथन करदियागया है)।

तेरहवें सूत्र से उसप्रकार जो बात इन्द्रियात्मवादी के विचार की कहीगई है, वह स्मृति के विषयों की परिगणना न करने के कारण है। यदि स्मृति के विषयों को यथायथ समझलियाजाता, तो वैसे कथन का अवसर न आता।

स्मृति होने की परिस्थितियाँ दो हैं। पहली है–जहाँ स्मर्यमाण अर्थ का प्रत्यक्ष नहीं होरहा होता। दूसरी इसके विपरीत वह है–जहाँ स्मर्यमाण अर्थ का प्रत्यक्ष होरहा होता है। स्मृति की पहली दशा को–स्मृतिविषय का बोध करानेवाले समानार्थक–चार प्रकार के वाक्यों द्वारा अभिव्यक्त कियाजाता है। उनका विवरण इसप्रकार समझना चाहिये—

१. 'अज्ञासिषमहममुमर्थम्'–जाना था मैंने उस अर्थ को। इस भूतकालिक अर्थज्ञान के स्मरण में ज्ञाता, भूतकालिक ज्ञान तथा पूर्वज्ञात अर्थ, तीनों की प्रतीति होती है। प्रत्येक ज्ञान में ज्ञाता आत्मा भासित रहता है; क्योंकि प्रत्येक ज्ञान आत्मा को होना सम्भव है। अतः ज्ञान होने पर आत्मा स्वभावतः भासित रहता है। इसलिए यहाँ स्मृति का विषय केवल अर्थ नहीं है, प्रत्युत ज्ञाता, ज्ञान

और अर्थ, तीनों स्मृति के विषय हैं। इसीप्रकार स्मृति का अभिव्यञ्जक अन्य वाक्य है—

२. 'ज्ञातवानहममुमर्थम्'–जाना मैंने उस अर्थ को। इस स्मृतिवाक्य में ज्ञाता प्रधान है; वाक्य में प्रथमान्त पद से कहा अर्थ प्रधान स्वीकार कियाजाता है। इसप्रकार तीसरा स्मृतिवाक्य—

३. 'असावर्थो मया ज्ञातः'–वह अर्थ मुझसे जाना गया–अर्थप्रधान है। तथा चौथा स्मृतिवाक्य—

४. 'अस्मिन्नर्थे मम ज्ञानमभूत्'–उस अर्थ के विषय में मेरा ज्ञान हुआ–ज्ञान प्रधान है।

स्मृति के अभिव्यञ्जक इन चारों प्रकार के वाक्यों की समानार्थकता का आधार यह है कि ये सभी वाक्य समानरूप से ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय (अर्थ) तीनों को विषय करते हैं। तात्पर्य है, स्मृतिवाक्य से बोध्य ये तीनों होते हैं, केवल अर्थ नहीं।

जब अर्थ के प्रत्यक्ष होने पर पूर्वानुभव की स्मृति होती है, यह स्मृति की दूसरी परिस्थिति है। इसे 'प्रत्यभिज्ञान' अथवा 'प्रतिसन्धान' कहाजाता है—एक प्रतीति में अनेक ज्ञानों का संघटित होजाना। ऐसे स्मृतिवाक्य का स्वरूप होता है–'अद्राक्षममुमर्थं यमेव एतर्हि पश्यामि'–देखा था मैंने उस अर्थ को, जिसको ही अब देखरहा हूँ। इस प्रतिसन्धज्ञान का कर्त्ता एक है; न यह ज्ञान विना कर्त्ता के हो-जाता है, और न इसके अनेक कर्त्ता हैं। उक्त वाक्य का 'अद्राक्षम्' क्रियापद भूतकालिक अनुभव और उस अनुभवात्मक ज्ञान की स्मृति को अभिव्यक्त करता है। उस अतीतकालिक ज्ञान का स्मृतिरूप ज्ञान हुए विना 'अद्राक्षम्' क्रियापद का प्रयोग सम्भव नहीं। इसप्रकार ये दो ज्ञान हैं। यहाँ भूतकालिक अनुभवात्मक ज्ञान इस समय होनेवाली स्मृति का विषय है। तात्पर्य हुआ–इन दो ज्ञानों में वर्त्तमानकालिक स्मृत्यात्मक ज्ञान विषयी और भूतकालिक अनुभवात्मक ज्ञान उसका विषय है।

उक्त वाक्य के उत्तर-अर्द्ध में कहा–'यमेव एतर्हि पश्यामि'–उसी अर्थ को मैं अब देखरहा हूँ। इस समय होरहा अर्थ का प्रत्यक्ष तीसरा ज्ञान है। इसप्रकार प्रतिसन्धिज्ञान में स्मर्यमाण अर्थ तीन ज्ञानों से युक्त रहता है; अर्थात् तीन ज्ञानों का विषय रहता है। पूर्वानुभव, पूर्वानुभूत की स्मृति तथा इस समय हो रहे प्रत्यक्ष ज्ञान–इन तीनों ज्ञानों का विषय एक अर्थ है। एकार्थविषयक ज्ञानों की यह स्थिति देहादि से अतिरिक्त आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि ये सब ज्ञान न अकर्तृक हैं, न अनेककर्तृक; इनका एक ही कर्त्ता सम्भव है। वही चेतन नित्य आत्मा है। नाना इन्द्रिय आदि नहीं।

इसप्रकार स्मृति का विषय केवल अर्थ है, यह निर्धारित या सीमित नहीं

है; प्रत्युत स्मर्त्तव्य अर्थ के साथ स्मर्त्ता-ज्ञाता एवं पूर्वानुभवात्मक ज्ञान स्मृति का विषय रहते हैं। स्मृति के प्रसिद्ध विषय होते हुए भी ज्ञाता आत्मा का यह कहकर प्रतिषेध कियाजाता है–'आत्मा नास्ति' स्मृतेः स्मर्त्तव्यविषयत्वात्'–आत्मा नहीं है, क्योंकि स्मर्त्तव्य अर्थ स्मृति का विषय है। यह प्रतिषेध प्रत्यक्षविरुद्ध होने से अमान्य है।

इस विवेचन के अनुसार स्मृति का विषय होने से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। यदि इन्द्रिय से अतिरिक्त आत्मा को न मानाजाय, तो पूर्वोक्त इन्द्रियान्तरविकार की घटना सम्पन्न नहीं होसकती। ऐसा विकार प्रत्यक्ष देखा-जाता है, इसलिए इन्द्रियों से अतिरिक्त आत्मा सिद्ध होता है।

'अद्राक्षम्' इत्यादि पदों से कथित ज्ञान केवल स्मृति है, तथा स्मृति का विषय पूर्वानुभूत केवल रस आदि अर्थ है, ऐसा नहीं समझना चाहिये। वास्त-विकता यह है कि जैसे ज्ञानों का प्रतिसन्धान होता है, ऐसे यह स्मृति का प्रतिसन्धान-प्रत्यभिज्ञान है। यदि 'स्मृति' पद से यहाँ 'प्रत्यभिज्ञान' अर्थ समझ-लियाजाय, तो अधिक उपयुक्त है; क्योंकि प्रत्यभिज्ञान में स्मृति की छाया अवश्य रहती है। स्मृति के प्रमाणरूप न मानेजाने से स्मृति के आधार पर आत्मा की सिद्धि को अब अप्रामाणिक न कहाजासकेगा। प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण कोटि में स्वीकार कियाजाता है। फलतः 'अद्राक्षम्' इत्यादि से अभिव्यक्त ज्ञान केवल स्मृति न होकर स्मृति का प्रत्यभिज्ञान है।

सब विषयों का ग्रहण करनेवाला एक ज्ञाता अपने गृहीत विषयों का प्रति-सन्धान करता है–मैंने अमुक अर्थ को जाना था, अब जानता हूँ, अथवा आगे जानूंगा; तथा कभी स्मरण करने की इच्छा रखता हुआ अचानक स्मरण नहीं करपाता; फिर अकस्मात् उसका स्मरण होआता है। इसप्रकार स्मरण की इच्छा के साथ तीनों कालों में होनेवाले स्मृतिज्ञान का प्रतिसन्धान हुआ करता है। यह सब प्रत्यक्ष व्यवहार चेतन नित्य आत्मा के स्वीकार करने पर सम्भव है।

संस्कार-संक्रमण आत्मस्थानीय—गतसूत्रों [४-६] में कहागया–देहादि पदार्थ प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील हैं, इसीलिए धीरे-धीरे क्षीण होते हुए कालान्तर में नष्ट होजाते हैं। अतः देहादि को आत्मा मानाजाना असंगत है। परन्तु यदि मानलियाजाय कि एक क्षण का देहादि समुदाय अगले क्षण में होनेवाले देहादि समुदाय को अपने समस्त संस्कार संक्रान्त करदेता है, और ऐसा क्रम देहादि-समुदाय की अन्तिम क्षीण अवस्था तक चलता रहता है, तो देहादि से अतिरिक्त आत्मा न मानने पर भी स्मृति एवं प्रतिसन्धान आदि का होना सम्भव होसकता है। देहादिगत संस्कारसमुदाय के उसीप्रकार आगामी देहादि में संक्रान्त होते रहने से–हिंसा करने पर पातक के अभाव की आपत्ति का भी अवकाश नहीं

रहता; क्योंकि हिंसा का निमित्त संस्कार-समुदाय हिंसा का फल भोगने के लिए उसीरूप में बना रहता है। ऐसी स्थिति में देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा मानना व्यर्थ है।

संस्कार अस्थिर है, आत्मस्थानीय नहीं—विचारना चाहिए—प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील देहादिसंघात में स्थिर संस्कारसमुदाय की कल्पना कहाँतक प्रामाणिक है? वस्तुतः संस्कार उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं। संस्कारों के स्थिर रहने की कल्पना सर्वथा निराधार है। ऐसी दशा में कोई एक संस्कार सम्भव नहीं, जो तीनों कालों में होनेवाले स्मृति, ज्ञान का अनुभव व प्रत्यभिज्ञान कर सके। इसके फलस्वरूप यही अनुमान होता है कि सर्वविषयग्राही एक आत्मतत्त्व है, जो प्रत्येक देह में पृथक्-पृथक् रहता हुआ अपने ज्ञान एवं स्मृति की क्रमानुक्रमिकता से प्रतिसन्धान कियाकरता है। एक आत्मा के एक देह में रहने एवं देहान्तरों में न रहने से एक आत्मा के ज्ञान का अन्य आत्मा द्वारा प्रतिसन्धान नहीं होपाता। फलतः देहादिसंघात से अतिरिक्त चेतन नित्य आत्मा का अस्तित्व निश्चित है॥ १५॥

मन आत्मस्थानीय—गत प्रकरण में देह और इन्द्रियों का आत्मा न होना सिद्ध कियागया। शिष्य जिज्ञासा करता है, देह इन्द्रिय न सही; पर मन को आत्मा क्यों न मानलियाजाय? आत्मा के उक्त धर्म मन में सम्भव हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्य-भावना को सूत्रित किया—

नात्मप्रतिपत्तिहेतूनां मनसि सम्भवात्॥ १६॥ (२१३)

[न] नहीं (देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा), [आत्मप्रतिपत्तिहेतूनाम्] आत्मा के साधक हेतुओं का [मनसि] मन में [सम्भवात्] सम्भव होने से।

देहादि से अतिरिक्त आत्मा की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, वे सब मन में घटित होजाते हैं; तथा मन देहादिसंघात में परिगणित है। अतः उन हेतुओं के आधार पर मन को आत्मा मानलेने से आत्मा का अस्तित्व देहादिसंघात से अतिरिक्त नहीं रहता। आत्मा एक, और सब विषयों का ग्रहण करने वाला होसकता है, यह कहागया। ये दोनों बातें मन में हैं। इन्द्रियाँ अनेक हैं, अपने-अपने अलग विषयों को ग्रहण करती हैं; परन्तु मन एक है, और सर्वविषयग्राही है। अतः मन को आत्मा मानकर देहादिसंघात से अतिरिक्त आत्मा मानने की आवश्यकता नहीं रहनी चाहिये॥ १६॥

मन, आत्मा नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

ज्ञातुर्ज्ञानसाधनोपपत्तेः संज्ञाभेदमात्रम्॥ १७॥ (२१४)

[ज्ञातुः] ज्ञाता-आत्मा के [ज्ञानसाधनोपपत्तेः] ज्ञानसाधनों की उपपत्ति-सिद्धि से [संज्ञाभेदमात्रम्] केवल नाम का भेद है (आत्मा को मन कहना)।

ज्ञाता आत्मा सब अर्थों का जाननेवाला है; परन्तु ज्ञान के साधनों के विना बाह्य एवं आन्तर अर्थों का उसे ज्ञान नहीं होपाता। बाह्य अर्थों के ज्ञान-साधन चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ हैं। चक्षु के द्वारा रूप एवं रूपसमवेत द्रव्यों को देखता है। घ्राण से सूँघता है; त्वक् से छूता है, रसन से चखता है, श्रोत्र से सुनता है। इन इन्द्रियरूप बाह्य साधनों के द्वारा ज्ञाता आत्मा बाह्य अर्थों का ग्रहण किया करता है। आन्तर अर्थ हैं–मनन, चिन्तन, स्मरण, संकल्प आदि। इनका ग्रहण करने के लिए आत्मा को एक आन्तर साधन-करण की अपेक्षा रहती है। उस आन्तर करण का नाम 'मन' है। यदि उसे आत्मा के स्थान पर मानलियाजाता है, तो उसके स्थान पर एक अन्य आन्तर करण स्वीकार करना होगा; क्योंकि 'मन' नामक आत्मा को आन्तर अर्थों के ज्ञान के लिए एक आन्तर करण की आवश्यकता होगी। ऐसी स्थिति में केवल नाम का भेद होगा, आत्मा का नाम 'मन' और मनःस्थानीय साधन का अन्य कुछ नाम, जो रखना चाहें। इससे स्वीकृत तत्त्वों की स्थिति में कोई अन्तर नहीं आता।

मन को सर्वविषयग्राही मानाजाता है। आत्मा से अतिरिक्त आन्तर साधन रूप में स्वीकृत मन का यह वक्ष्यमाण एक विशेष कार्य है। आत्मा के साथ पाँचों बाह्य इन्द्रियों का सदा सम्पर्क रहता है; फिर भी एक समय में एक बाह्य इन्द्रिय द्वारा ज्ञान होता है, अनेक इन्द्रियों द्वारा नहीं। इसका कारण है–बाह्यार्थ का ज्ञान होते समय आत्मा और बाह्य इन्द्रिय के मध्य में मन की अवस्थिति। मन का सम्बन्ध जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ होगा; उस समय उसी इन्द्रिय से ग्राह्य बाह्य विषय का ज्ञान होपायगा, अन्य इन्द्रियग्राह्य विषय का नहीं। इसप्रकार विभिन्न बाह्य इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होते समय प्रत्येक इन्द्रिय के साथ मन का सम्पर्क स्वीकार कियाजाना मन का एक विशेष कार्य है; सूत्रकार ने स्वयं इसको मन का स्वरूप बताने के लिए मन के लक्षणरूप (१।१।१६) सूत्र में प्रस्तुत किया है।

यदि चिन्तन, मनन, स्मरण आदि के साधनरूप में मन को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो रूप आदि ज्ञान के साधन अन्य इन्द्रियों को स्वीकार करने के लिए किसी को बाधित नहीं कियाजासकेगा; तब सभी इन्द्रियों का विलोप प्राप्त होजायगा, जो सर्वथा अवाञ्छनीय एवं अमान्य है॥ १७॥

मन-आन्तर साधन आवश्यक—यदि कोई कहे कि बाह्य इन्द्रियों की स्थिति का स्पष्ट अनुभव होता है, अतः रूपादि का ग्रहण करने के साधन चक्षु आदि का स्वीकार करना ठीक है; पर मनन, स्मरण आदि के साधन की आवश्यकता नहीं। करुणापूर्ण भावना से सूत्रकार इस विषय में समझाता है—

नियमश्च निरनुमानः॥ १८॥ (२१५)

[नियमः] नियम [च] तथा (ऐसा) [निरनुमानः] अनुमान-युक्ति-रहित है (जो रूपादि ग्रहण का साधन मानाजाय, स्मरणादि ग्रहण का नहीं)।

रूपादि ज्ञान के करण चक्षु आदि का अस्तित्व रहे, आन्तर स्मरण, मनन आदि का साधन अन्तःकरण न रहे; ऐसा नियम अयुक्त है। कोई ऐसा हेतु नहीं, जिसके आधार पर रूपादि का ग्रहण करनेवाले चक्षु आदि साधनों को स्वीकार करलियाजाय, और मनन-स्मरण आदि के साधन सर्वविषयग्राही अन्तःकरण की उपेक्षा करदीजाय। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द आदि विषय भिन्न हैं, जिनका ग्रहण घ्राण आदि इन्द्रियों द्वारा होता है। सुख, दुःख, स्मरण, मनन आदि विषय रूपादि से सर्वथा भिन्न हैं, जिनका ग्रहण चक्षु आदि साधनों से सम्भव नहीं। उनके ज्ञान के लिए अन्य करण का सद्भाव अपेक्षित है, ऐसा सर्वविषयग्राही अन्तःकरण मन है।

समस्त बाह्य विषय जैसे किसी एक इन्द्रिय द्वारा गृहीत नहीं होते; विभिन्न विषयों के लिए अलग-अलग साधन देखेजाते हैं। चक्षु से गन्ध का ग्रहण नहीं होता, उसके लिए अन्य करण घ्राण है। चक्षु और घ्राण दोनों से रस का ग्रहण नहीं होता, उसके लिए भिन्न इन्द्रिय रसन है। इन तीनों इन्द्रियों से स्पर्श, व शब्द का ग्रहण नहीं होता; उनके ग्रहण के लिए त्वक् और श्रोत्र इन्द्रिय हैं। इसीप्रकार चक्षु आदि समस्त बाह्य इन्द्रियों से सुख दुःख आदि का ग्रहण नहीं होता; उनके ग्रहण के लिए अन्य करण होनाचाहिये। वह अन्तःकरण मन है; जिसका साधक हेतु—ज्ञानों का एकसाथ न होना—अन्यत्र [१।१।१६] बताया है। वही सुखादि ज्ञान का करण है। जिस इन्द्रिय के साथ उसका सान्निध्य हो, उस इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होजाता है; जिसके साथ सान्निध्य न हो, उसका नहीं होता। इसप्रकार मन अनेक ज्ञानों के युगपत् उत्पन्न न होने देने का प्रयोजक है। फलतः यह कथन कि—आत्मा के साधक हेतुओं का सामञ्जस्य मन में होने से अतिरिक्त आत्म-तत्त्व अनावश्यक है—सर्वथा अप्रामाणिक एवं असंगत है॥ १८॥

आत्मा नित्य है—देहादिसंघात से अतिरिक्त है—चेतन आत्मतत्त्व, यह सबप्रकार सिद्ध होगया; पर आत्मा के विषय में अब यह विचार करना अपेक्षित है कि उसे नित्य मानाजाना चाहिये, अथवा अनित्य? इस संशय का कारण है—विद्यमान पदार्थ का नित्य-अनित्य दोनों प्रकार का होना। आत्मा का सद्भाव उपपादित होजाने पर उसके नित्य-अनित्य होने का संशय बनारहता है। आत्मा के अस्तित्व में जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, उनसे इतना सिद्ध होजाता है कि देह छूटने से पहले आत्मा का अस्तित्व देहादि से भिन्नरूप में रहता है। देह छूट-जाने के अनन्तर भी आत्मा अवस्थित रहता है, इस विषय में सूत्रकार ने बताया—

पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धाज्जातस्य हर्षभयशोक-सम्प्रतिपत्तेः ॥ १९ ॥ (२१६)

[पूर्वाभ्यस्तस्मृत्यनुबन्धात्] पहले जीवन के अभ्यास की स्मृति के कारण, [जातस्य] उत्पन्न हुए बालक के [हर्षभयशोकसंप्रतिपत्तेः] हर्ष, भय, शोक आदि प्रकट होने की सम्भावना से (आत्मा नित्य होनाचाहिये)।

जातमात्र बालक के हर्ष आदि का कारण—बालक जन्म के तत्काल अनन्तर ऐसे भाव प्रकट करते देखाजाता है, जिनसे बालक के हर्षोत्फुल्ल व भय-युक्त तथा दुःखी होने की स्थिति का पतालगता है। परन्तु इस जन्म में बालक ने अभी हर्ष, भय, शोक आदि के कारणों का अनुभव नहीं किया होता। वह नहीं जानता कि किन कारणों से हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं, एवं उनको अभिव्यक्त किसप्रकार कियाजाना चाहिये। बालक पैदा होते ही रोता है, और जल्दी स्तन्य (मातृदुग्ध) पान के लिए ललकता है। इससे अनुमान होता है, पूर्व-जीवन में पैदा होते ही माता के स्तन्यपान और उससे प्राप्त सन्तुष्टि का जो इसने अनुभव किया था, उसकी स्मृति के कारण बालक ऐसी चेष्टा करता है। पूर्व-जीवन में जन्म के तत्काल अनन्तर ऐसी चेष्टा उससे पूर्वजीवन के स्तन्यपान अभ्यास को सिद्ध करती है। इससे अन्य पूर्व-पूर्व जीवन का सिद्ध होना आत्मा की अनादि स्थिति का द्योतक है।

आत्मा का अनादि होना आत्मा के नित्यत्व का साधक है; क्योंकि आत्मा की यह स्थिति--पूर्व-पूर्व जन्मों में अनुष्ठित कर्मों के अनुसार विविध प्रकार के शरीरों को धारण करना, ऊँच-नीच योनियों में जन्म होना, मानवजन्म पाकर धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख, सबल-दुर्बल, नीरोग-सरोग आदि अनेकानेक वैविध्यों के रूप में जीवन प्राप्त करना आदि–जीवन-सम्बन्धी विचित्रताएँ आत्मा की अनादि जन्म-कर्म-परम्परा को सिद्ध करती हैं। फलतः आत्मा एक देह छूटने से पहले और पीछे सदा विद्यमान रहता है ॥ १९ ॥

हर्ष आदि बालक के अनिमित्तक—जातमात्र बालक के हर्ष, भय, शोक आदि के जनक पूर्वजन्माभ्यास की स्मृति के विषय में जिज्ञासु द्वारा उठाई गई आपत्ति को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

पद्मादिषु प्रबोधसंमीलनविकारवत् तद्विकारः ॥ २० ॥ (२१७)

[पद्मादिषु] पद्म-कमल तथा अन्य फूलों में [प्रबोधसम्मीलनविकारवत्] खिलने और मुँदजाने आदि विकार के समान [तद्विकारः] जातमात्र बालक में हर्ष आदि विकार सम्भव हैं।

कमल तथा अन्य फूल आदि सब अनित्य हैं; उनमें प्रबोध-खिलना और सम्मीलन-मुँदना आदि विकार होते रहते हैं। जातमात्र बालक के हर्ष-शोक आदि

फूलों के प्रबोध-संमीलन आदि विकार के समान निर्निमित्तक हैं। इनके लिए पूर्वजन्म में किये अभ्यास की स्मृति को कारण के रूप में प्रस्तुत करना व्यर्थ है। इसलिए हर्षादि-सम्प्रतिपत्ति हेतु आत्मा को नित्य सिद्ध करने में अक्षम है।

जिज्ञासु ने अपनी बात को यहाँ केवल दृष्टान्त देकर सिद्ध किया, पर हेतु कोई नहीं दियागया। हेतु के अभाव में केवल दृष्टान्त कभी साध्य का साधक नहीं होता; वह सर्वथा निरर्थक है।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि केवल दृष्टान्त के बल पर जातमात्र बालक को होनेवाले हर्ष, शोक आदि के कारणों को क्या झुठलायाजासकता है? प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन में सुखादिजनक भोगों को भोगकर उनकी स्मृति से हर्षोल्लास आदि का अनुभव किया करता है। प्रत्यात्मवेदनीय इस परिस्थिति को पद्मादि-संमीलन दृष्टान्त से हटाया नहीं जासकता। जैसे अपने चालू जीवन में प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुकूल दिनों का स्मरण कर हर्ष आदि का अनुभव करता है, ऐसे जातमात्र बालक के विषय में समझना चाहिये।

फूलों में पंखुड़ियों का विभाग 'प्रबोध' तथा पंखुड़ियों का परस्पर संयुक्त रहना 'संमीलन' क्रिया के कारण होता है। पंखुड़ियों में अनुकूल-प्रतिकूल क्रिया फूलों की ऐसी स्थिति की जनक है। कोई क्रिया विना हेतु के नहीं होसकती। क्रिया से उसके हेतु का निश्चित ज्ञान होजाता है। यह व्यवस्था जैसे फूलों में है, वैसे जातमात्र बालक के हर्ष, शोक आदि की जनक चेष्टाओं में है। तब केवल दृष्टान्त व्यर्थ होजाता है॥ २०॥

पद्म आदि में प्रबोध-संमीलन सनिमित्तक—यदि कहाजाय, फूलों में प्रबोध आदि विकार विना निमित्त के होता है, ऐसे ही बालक के हर्ष आदि विना कारण सम्भव हैं। सूत्रकार ने बताया—

नोष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात् पञ्चात्मक-विकाराणाम्॥ २१॥ (२१८)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [उष्णशीतवर्षाकालनिमित्तत्वात्] उष्ण-शीत-वर्षाकाल निमित्तक होने से [पञ्चात्मकविकाराणाम्] पृथिव्यादि पञ्च-भूतात्मक विकारों के।

पृथिवी आदि पाँच भूतों के पारस्परिक सहयोग से होनेवाले विकारों-परिवर्त्तनों में उष्णकाल आदि कारण हुआ करते हैं। फूलों का खिलना या मुरझाना गरमी-सरदी-वर्षा आदि ऋतुओं पर निर्भर करता है। अनुकूल ऋतु होने पर फूल-फल आदि खिलते-पकते हैं। जब अनुकूल ऋतु नहीं रहता, तब ये नहीं रहते। ऋतु के अनुसार इनमें प्रबोध-संमीलन आदि विकार हुआ करते हैं, अतः वनस्पति आदि में ऐसे विकारों का निमित्त ऋतुकाल है; ये विकार

विना निमित्त के नहीं होते। ऐसे ही जातमात्र बालक के हर्ष आदि का कोई निमित्त होना आवश्यक है। उस अवस्था में पूर्वाभ्यास की स्मृति के विना अन्य कोई कारण सम्भव नहीं। पूर्व-अनुभव उस स्मृति का कारण है। जातमात्र बालक को वैसा अनुभव पूर्वजन्म में होना सम्भव है। इसप्रकार देहादि के न रहने पर आत्मा के विद्यमान रहने से उसका नित्य होना सिद्ध होता है।

देहादि के समान उसके साथ आत्मा के उत्पाद और विनाश को स्वीकार करना सर्वथा अप्रामाणिक है। अनादि भावरूप पदार्थ के उत्पत्ति और विनाश को सिद्ध करनेवाला न कोई हेतु है, न दृष्टान्त। फलस्वरूप आत्मा को अनित्य नहीं मानाजासकता। जातमात्र बालक के हर्ष आदि विना निमित्त के नहीं हो सकते, ऐसा सर्वथा निश्चित होजाने पर आत्मा को अनित्य नहीं कहाजासकता; क्योंकि हर्ष आदि के निमित्त की उपपत्ति के लिए आत्मा का पूर्व-देहादि से सम्पर्क स्वीकार करना अनिवार्य है। प्रबोध-संमीलन के उष्णकाल आदि प्रत्यक्ष निमित्त के समान बालक के हर्ष आदि का कोई अन्य दृष्ट कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः निर्बाधरूप से उसका कारण पूर्वजन्मानुभवजनित स्मृति को मानना पड़ता है। यह स्थिति आत्मा को नित्य माने विना सम्भव नहीं। फलतः आत्मा को अनित्य बताना नितान्त असंगत है॥ २१॥

आत्मा के नित्यत्व में अन्य हेतु—आचार्य सूत्रकार ने आत्मा के नित्य होने में अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

प्रेत्याहाराभ्यासकृतात् स्तन्याभिलाषात्॥ २२॥ (२१६)

[प्रेत्य] मरकर, पूर्वदेह त्यागने के अनन्तर (देहान्तर के ग्रहण करने पर जातमात्र बालक को) [आहाराभ्यासकृतात्] पूर्व-आहार के अभ्यास के कारण [स्तन्याभिलाषात्] स्तन्य की अभिलाषा से (आत्मा नित्य जानाजाता है)।

बालक उत्पन्न होते ही क्षुधा से पीड़ित होकर पूर्वानुभूत आहार के अभ्यास के कारण माता का दूध पीने की अभिलाषा से रोता हुआ देखाजाता है। जातमात्र बालक के रोने व हाथ-पैर चलाने से स्तन्य [मातृदुग्ध] आहार के लिए उसकी अभिलाषा का पता लगता है। ऐसी अभिलाषा पूर्वानुभूत आहार के अभ्यास के विना सम्भव नहीं। कारण यह है—चालू जीवन में जब व्यक्ति क्षुधा से पीड़ित होता है, उस समय क्षुधापीड़ा की निवृत्ति के लिए पहले अनेक बार ऐसी दशा में ग्रहण कियेगये आहार का उसे स्मरण होआता है; उससे आहार की अभिलाषा होती है, तथा आहार लेकर क्षुधा को निवृत्त करता है। जातमात्र बालक की ऐसी अभिलाषा पूर्वदेह में हुए इसप्रकार के अभ्यास के विना सम्भव नहीं। इससे अनुमान होता है—चालू देह ग्रहण करने के पहले इस आत्मा का देहान्तर से सम्बन्ध रहा है, जहाँ यह आवश्यकता होने पर आहार बराबर लेता

रहा है। वही आत्मा पहले शरीर को छोड़कर अन्य नये शरीर को जब ग्रहण करता है, तब क्षुधा से पीड़ित हुआ पहले अभ्यास का स्मरण कर स्तन्य आहार की अभिलाषा करता है। फलतः एक देह नष्ट होकर अन्य देह मिलने से देह-भेद होने पर भी आत्मा में कोई भेद नहीं होता। वह चालू देह मिलने के पहले जैसा था, वैसा अब है, और आगे वैसा ही बना रहेगा॥ २२॥

बालक (जातमात्र) की चेष्टा चुम्बक के समान—जातमात्र बालक की प्रवृत्ति में–जिज्ञासु शिष्य द्वारा आशंकारूप से उद्भावित–अन्य कारण की सम्भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अयसोऽयस्कान्ताभिगमनवत्तदुपसर्पणम्॥ २३॥ (२२०)

[अयसः] लोहे की [अयस्कान्ताभिगमनवत्] अयस्कान्त-चुम्बक की ओर प्रवृत्ति के समान [तदुपसर्पणम्] बालक का स्तन्य की ओर प्रवृत्त होना सम्भव है।

प्रवृत्ति के लिए पूर्वाभ्यास आवश्यक नहीं है। अनेक बार विना पूर्वाभ्यास के प्रवृत्ति देखीजाती है। लोहा चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, पर इस प्रवृत्ति में पूर्वाभ्यास का संकेत कहीं प्रतीत नहीं होता। इसीप्रकार जातमात्र बालक की स्तन्यपान आदि की ओर अभिलाषा व प्रवृत्ति विना आहाराभ्यास के सम्भव है। ऐसी दशा में आत्मा के नित्यत्व-साधन के लिए प्रस्तुत कियागया उक्त हेतु शिथिल रहजाता है॥ २३॥

बालक की चेष्टा चुम्बक के समान नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त आशंका का समाधान करने की भावना से विकल्प करता है–लोहे की चुम्बक की ओर प्रवृत्ति किसी निमित्त से होती है, अथवा विना ही निमित्त के? इस आधार पर सूत्रकार ने कहा—

नान्यत्र प्रवृत्त्यभावात्॥ २४॥ (२२१)

[न] नहीं है (प्रवृत्ति, विना निमित्त), [अन्यत्र] अन्य किसी ओर [प्रवृत्त्यभावात्] प्रवृत्ति के न होने से।

लोहे का चुम्बक की ओर प्रवृत्त होना विना किसी निमित्त के नहीं है, इसका कोई विशेष कारण अवश्य रहता है। क्योंकि केवल लोहा चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, मट्टी का ढेला या लकड़ी का टुकड़ा आदि नहीं। अथवा चुम्बक की ओर लोहा प्रवृत्त होता है, मट्टी के ढेले या अन्य काष्ठ आदि की ओर नहीं। यह स्थिति प्रकट करती है–चुम्बक की ओर लोहे की प्रवृत्ति का कोई निमित्त अवश्य है। वहाँ किसी निमित्त का अस्तित्व कैसे जानाजाता है? इसे इसप्रकार समझना चाहिये।

कोई क्रिया विना निमित्त के नहीं होसकती। कहीं भी क्रिया का होना उसके निमित्त के अस्तित्व का चिह्न है। फिर लोह-चुम्बकसान्निध्य से होनेवाली

क्रिया में यह नियम देखाजाता है कि केवल लौहधातु चुम्बक की ओर प्रवृत्त होता है, न लोह अन्य के प्रति और न अन्य कोई चुम्बक के प्रति प्रवृत्त होता है; यह नियम उनमें नियम-हेतु के अस्तित्व का द्योतक है। क्रिया क्रियाहेतु के–तथा क्रियानियम क्रियानियमहेतु के अस्तित्व को वहाँ प्रकट करते हैं। यही कारण है–उनकी अन्यत्र प्रवृत्ति नहीं होती। वह निमित्त है–चुम्बक में लोहे को अपनी ओर आकर्षण करने की शक्ति। इसके अस्तित्व का निश्चय क्रिया के द्वारा होजाता है।

बालक की स्तन्यपान की ओर नियत प्रवृत्ति देखीजाती है। भूख से पीड़ित होने पर आहार के अभ्यास और उसके स्मरण के विना जातमात्र बालक का स्तन्यपान की अभिलाषा को हाथ-पैर मारकर और रोकर प्रकट करना सम्भव नहीं होसकता। इस जन्म में अभीतक उसने आहार का अभ्यास किया नहीं। इससे पूर्व के जन्मान्तर की साधार कल्पना कीजाती है। पूर्वदेह में रहते हुए चेतन आत्मा ने आहार का अभ्यास किया है; उसीका स्मरण कर इस समय स्तन्यपान की ओर बालक की प्रवृत्ति होती है। प्रत्येक देहधारी आत्मा के साथ यह व्यवस्था देखीजाती है कि पूर्वानुभूत आहाराभ्यास का स्मरण होने से क्षुधा लगने पर आहार की अभिलाषा होती है।

इस प्रवृत्ति का कोई निमित्त अवश्य है; इस बात का निश्चय अयस्कान्त-दृष्टान्त से होजाता है, क्योंकि विना निमित्त किसी क्रिया का होना असम्भव है। अयस्कान्त के प्रति लौहधातु की प्रवृत्ति में निमित्त के विद्यमान होने से यह दृष्टान्त स्तन्यपान की प्रवृत्ति के निमित्त का बाधक नहीं होसकता। वह निमित्त-आहाराभ्यास है। इस जीवन में अभीतक उसकी सम्भावना न होनेसे पूर्व-पूर्व जन्मों में स्तन्यपान का अनुभव स्वीकार करना पड़ता है, जो आत्मा के नित्य होने का साधक है। फलतः उसके बाधकरूप में अयस्कान्त का दृष्टान्त प्रस्तुत करना असंगत होजाता है ॥ २४।

आत्मा के नित्यत्व में हेत्वन्तर—आत्मा के नित्य होने में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

वीतरागजन्मादर्शनात् ॥ २५ ॥ (२२२)

[वीतरागजन्मादर्शनात्] वीतराग का जन्म न देखे जाने से।

वीतराग व्यक्ति का पुनः जन्म नहीं होता, इसका तात्पर्य है–जन्म सराग व्यक्ति का होता है। प्राणी का जन्म है–देहादि से आत्मा का सम्बन्ध होना। यह रागादियुक्त आत्मा का सम्भव है। देहादि की स्थिति विविधप्रकार की है, समान जाति में भी देहादि की विभिन्नता-विशिष्टता प्रकट रहती है। यह सब रागादिमूलक है; विविध विषयों के प्रति सामान्य आसक्ति को 'राग' कहते हैं।

पहले अनुभव किये विषयों का निरन्तर चिन्तन करना राग (आसक्ति) का कारण होता है। जन्म सराग का सम्भव है, यह स्थिति स्पष्ट करती है–विषयों का पूर्वानुभव पूर्वजन्म में देहप्राप्ति के विना नहीं होसकता। इससे ज्ञात होता है, पूर्व-देहों में अनुभूत विषयों का चिन्तन करता हुआ आत्मा उन विषयों में आसक्त रहता है। वही आसक्ति अन्य देह की प्राप्ति का निमित्त बनजाती है।[1] इस आधार पर जन्म सराग का मानाजाता है।

पहले परित्यक्त शरीर और दूसरे अभिनव-प्राप्त शरीर के मध्य यह आत्मा शृंखला के समान दोनों से सम्बद्ध रहता है। इसीप्रकार पूर्वदेह और उससे पूर्वतर देह के मध्य आत्मा दोनों में सम्बन्ध को स्थापित रखता है। पूर्वतर देह से और पूर्वतम देह के साथ यही व्यवस्था रहती है। इसप्रकार अनादिकाल से शरीर-परम्परा के साथ आत्मा का सम्बन्ध रहना ज्ञात होता है। इसीके अनुसार आत्मा के साथ राग का अनुबन्ध (सिलसिला-क्रमानुक्रमिक सम्बन्ध) अनादि है। इससे आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है॥ २५॥

आत्मा की सराग उत्पत्ति—शिष्य जिज्ञासा करता है यह कैसे जानाजाय कि पूर्वानुभूत विषयों को निरन्तर चिन्तन करना राग का कारण है? आत्मा की उत्पत्ति के साथ राग की उत्पत्ति क्यों न मानलीजाय? सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया—

सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्तदुत्पत्तिः॥ २६॥ (२२३)

[सगुणद्रव्योत्पत्तिवत्] सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान [तदुत्पत्तिः] सराग आत्मा की उत्पत्ति मानलेनी चाहिये।

घट आदि द्रव्य रूपादि गुणों के सहित उत्पन्न होते देखेजाते हैं। गुणसहित घटादि की उत्पत्ति जैसे अपने कारणों से होती है, ऐसे राग से सहित आत्मा की उत्पत्ति अपने किन्हीं कारणों से सम्भव है। इसप्रकार आत्मा को उत्पत्तिधर्मक क्यों न मानलियाजाय?

यद्यपि चालू प्रसंग के प्रारम्भ में (२० तथा २३ सूत्रों से) आत्मा के नित्यत्व को लेकर जो आशंकामूलक जिज्ञासा प्रस्तुत कीगई है, उसीके अनुरूप कथन इस सूत्र में है, कोई नई बात नहीं कहीगई। पहले कथनों में पद्मादि तथा

---

१. गीता [८। ६] में बताया है—

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

जिन भावनाओं से अभिभूत हुआ आत्मा पहले देह को छोड़ता है, उन्हींका स्मरण करता हुआ उनके अनुकूल अन्य देहों को प्राप्त करता है।

अयस्कान्त दृष्टान्त हैं; यहाँ सगुण घटादि; इतना कथनमात्र में प्रकार-भेद समझना चाहिये ॥ २६ ॥

रागादि का कारण संकल्प--आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न संकल्पनिमित्तत्वाद्रागादीनाम् ॥ २७ ॥ (२२४)

[न] नहीं होसकती (सराग आत्मा की उत्पत्ति), [संकल्पनिमित्तत्वात्] संकल्पनिमित्त वाले होने से [रागादीनाम्] रागादि के।

राग, द्वेष ईर्ष्या, मात्सर्य आदि की उत्पत्ति संकल्पनिमित्तक होती है। 'संकल्प' का तात्पर्य है–इष्टसाधनता का ज्ञान होना। अमुक वस्तु इष्ट का साधन है, अमुक नहीं; ऐसा ज्ञान उन वस्तुओं के प्रति राग, द्वेष आदि को उत्पन्न करता है। जो वस्तु जिसके लिए अभीष्ट है, अनुकूल है, उसमें राग और जो अनिष्ट है, प्रतिकूल है, उसमें द्वेष उत्पन्न होजाता है। इसी संकल्प (इष्ट-साधनताज्ञान) से रागादि की उत्पत्ति होती है। जातमात्र बालक को स्तन्य (मातृदुग्ध) में इष्टसाधनता का ज्ञान रहता है, इसीलिए उसमें राग–उस ओर को प्रवृत्ति–होना सम्भव है। इसप्रकार का संकल्प अथवा इष्टसाधनताज्ञान पूर्वानुभव के विना नहीं होसकता। वह पूर्वानुभव जातमात्र बालक के लिए उसके पूर्वजीवन में सम्भव है। यह स्थिति–इस देह के साथ सम्बन्ध होने से पहले आत्मा का अन्य देहके साथ सम्बन्ध होना प्रकट करती है। इसप्रकार पूर्व, पूर्वतर, पूर्वतम देहों के साथ सम्बन्ध मानेजाने से आत्मा का नित्य होना सिद्ध होता है।

इसके विपरीत यदि सगुण द्रव्य की उत्पत्ति के समान सराग आत्मा की उत्पत्ति मानीजाती है, तो राग की उत्पत्ति में इष्टसाधनताज्ञान के निमित्त न रहने के कारण अनिष्ट पदार्थों के प्रति भी राग उत्पन्न होजाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता; इसलिए सराग आत्मा की उत्पत्ति होना असम्भव है।

चालू जीवन में सर्वत्र यह व्यवहार देखाजाता है कि प्राणी जिन विषयों का उपभोग करता है, उनमें अनुकूल विषयों के प्रति संकल्पजनित राग का होना जानाजाता है। इससे निश्चित है–पहले अनुभव किये विषयों का स्मरण रहना संकल्प की सीमा में आता है, जो जातमात्र बालक के स्तन्यपान के प्रति राग से पूर्वानुभूत विषय के स्मरण होने का परिचायक है। वह पूर्वानुभव पूर्वजन्मों को माने विना सम्भव नहीं। यदि संकल्प से अन्य कोई राग का कारण होसकता हो, तो उत्पद्यमान आत्मा में रागोत्पत्ति की कल्पना कहीजासकती है; परन्तु न तो संकल्प से अन्य कोई राग का कारण उपलब्ध है, और न आत्मा का उत्पन्न होना किसीप्रकार सिद्ध है। इसलिए सगुण द्रव्य के समान सराग आत्मा की उत्पत्ति का कहना सर्वथा अयुक्त है।

यद्यपि संकल्प से अन्य धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट को राग का निमित्त मानना अयुक्त नहीं है, तथापि धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट का होना—आत्मा का पूर्वशरीरों के साथ सम्बन्ध के विना—असम्भव है ; क्योंकि उन पूर्वजन्मों में आत्मा कर्त्ता द्वारा शुभ-अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट का सम्पादन होता है ! जातमात्र बालक के चालू जीवन में अभी तक उनका होना सम्भव नहीं। फलतः राग की उत्पत्ति में अदृष्ट के साधारण कारण होने पर भी राग का असाधारण कारण विषयों के प्रति तन्मयता—विषयपरायणता—विषयों का निरन्तर अभ्यास, उनका धारावाहिक अनुचिन्तन—ही है। यही संकल्प का स्वरूप है, जो विषयों के प्रति राग को उत्पन्न करता रहता है। यह प्रवाह अनादि होने से आत्मा के नित्यत्व को सिद्ध करता है।

यह सर्वथा युक्त है—सामान्य रागमात्र की उत्पत्ति में संकल्प असाधारण कारण होता है; परन्तु रागविशेष की उत्पत्ति में धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट की कारणता अनिवार्य है। अदृष्ट निमित्त से कोई आत्मा गवादि पशु-योनियों में देहधारण करते हैं, अन्य मानव-योनि में। योनिविशेष अथवा जातिविशेष में उत्पन्न होने से प्राणी का विभिन्न खाद्य आदि पदार्थों में रागविशेष देखाजाता है। गाय, घोड़ा आदि घास चुगना पसन्द करते हैं, अन्य कतिपय प्राणी सिंह, भेड़िया आदि मांस में अधिक रुचि रखते हैं। इन जातिविशेषों में आत्मा के सम्बन्ध का कारण अदृष्ट [धर्म-अधर्म] है; जातिविशेष के अनुसार खाद्य आदि में रागविशेष का होना अदृष्ट-निमित्तक है। उन प्राणियों में भी संकल्प कारण रहता है। इसीलिए संकल्प को राग का असाधारण कारण मानागया है; उसका अन्य कारण कहना अयुक्त है ॥ २७ ॥

शरीर की परीक्षा—नित्य चेतन आत्मा का शरीर के साथ सम्बन्ध अनादि प्रवाह से चला आ रहा है, इसका विवेचन गत प्रसंग में कियागया। आत्मा का विविध शरीरों के साथ सम्बन्ध आत्मा के अपने शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार होता है, जहाँ वह अपने किये कर्मों का सुख-दुःखरूप फल भोगता है। प्रमेयों में पठित [१।१।९] आत्मा की परीक्षा के अनन्तर क्रमप्राप्त 'शरीर' की परीक्षा करना अपेक्षित है। परीक्ष्य विषय है—क्या इस शरीर का उपादान कारण कोई एक पृथिवी या जल आदि तत्त्व है ? अथवा पृथिवी आदि अनेक तत्त्व इसके उपादान कारण हैं ? इस संशय का कारण है—विभिन्न वादियों द्वारा दो, तीन, चार या पाँच भूतों से शरीर की उत्पत्ति का बताना। इनमें यथार्थ क्या है ? यह परीक्षणीय है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः ॥ २८ ॥ (२२५)

[पार्थिवम्] पार्थिव-पृथिवी से बना है (शरीर, इस भूलोक में)

[गुणान्तरोपलब्धेः] गन्ध के अतिरिक्त अन्य गुणों की उपलब्धि से (मानुष आदि भूलोकीय शरीरों में)।

आत्मा का शरीर पार्थिव—विचारणीय है, भूलोकीय विविध योनियों के जो शरीर मनुष्य से लेकर पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतंग आदि के हैं, उनका उपादानकारण तत्त्व क्या है? सूत्रकार ने बताया, उनका उपादानकारण तत्त्व केवल पृथिवी है। इसीलिए वे सब शरीर पार्थिव हैं। सूत्रकार ने हेतु दिया–पृथिवी गन्ध वाली है, विशेषगुण गन्ध केवल पृथिवी का है; विविध योनियों के जितने भूलोकीय शरीर हैं, वे सब गन्ध वाले हैं, अतः इन शरीरों का उपादान-कारण पृथिवीतत्त्व है। जल आदि अन्य भूततत्त्व–जो द्रव्य कार्यों के उपादानकारण हो सकते हैं–सब गन्धरहित हैं। यदि वे भूलोकीय शरीर के उपादानकारण रहे होते, तो ये सब शरीर गन्धरहित होते। कारण के गुण कार्य में गुणों को उत्पन्न करते हैं। जलादि के गन्धरहित होने से इन शरीरों में गन्ध की उत्पत्ति असंभव होती।

गन्ध के अतिरिक्त जो अन्य गुण–रूप, रस, स्पर्श आदि–शरीरों में उपलब्ध होते हैं, वे वस्तुतः पृथिवीगत गुण हैं। यद्यपि शरीर की रचना में जल आदि अन्य सब भूतों का सहयोग संभव है, आवश्यक भी कहाजासकता है, परन्तु वह निमित्तकारणमात्र रहता है, उपादानकारण नहीं। यह शरीर समस्त चेष्टा, इन्द्रिय और अर्थों (गन्ध, रस आदि भोगों) के आश्रयरूप से उपयोग में आता है, उसकी रचना में पाँचों भूतों का सहयोग रहता है; निमित्तरूप से भूतों के सहयोग का निषेध यहाँ अभिप्रेत नहीं है। प्रत्येक कार्यद्रव्य की उत्पत्ति में उपादानकारण अथवा समवायिकारण समानजातीय अनेक अवयवद्रव्य रहते हैं, विजातीय अवयव नहीं ; द्रव्यसर्ग में यह एक निश्चित व्यवस्था है। इसलिये भूलोकीय शरीरों का उपादान कारण केवल पृथिवी होने से ये पार्थिव हैं।

इसीके अनुसार जलीय, तैजस, वायव्य शरीरों की कल्पनामूलक संभावना अन्य लोकों में हो सकती है, लोक-लोकान्तर मानव की दृष्टि से असंख्यात-जैसे हैं। उनमें से कहीं जलीय आदि शरीरों का होना संभव है। वहाँ भी अन्य भूतों के संयोग-सहयोग को उपेक्षित नहीं समझना चाहिये। यह सब पुरुष के प्रयोजन की सिद्धि के अधीन व अनुकूल रहता है। पुरुष के भोग, अपवर्ग आदि प्रयोजन जहाँ जिस रूप में संपन्न होने संभव हों, उसीके अनुकूल शरीर आदि की रचना मान्य रहती है। लोक में अन्य पात्र वस्त्र आदि की रचना में यही स्थिति देखीजाती है। मिट्टी, तांबा, पीतल, धागा आदि विविध उपादानों से अलग-अलग बनाये-जानेवाले पात्रों व वस्त्रों में उन उपादानों से अतिरिक्त अनेक तत्त्वों का सहयोग अपेक्षित रहता है, और पूर्णरूप से उनका उपयोग होता है; परन्तु वह कार्य उपादानतत्त्व के रूप में व्यवहृत होता है, जो यथार्थ है।

शरीर पाञ्चभौतिक आदि नहीं—भूलोकीय शरीर द्वैभौतिक, त्रैभौतिक चातुर्भौतिक, पाञ्चभौतिक होसकता है; क्योंकि उनके गुण शरीर में उपलब्ध होते हैं (–तद्गुणोपलब्धेः)—ऐसी मान्यता अनेक वादियों के द्वारा प्रस्तुत कीगई हैं। परन्तु 'गुणों की उपलब्धि' हेतु के सन्दिग्ध होने से सर्वथा उपेक्षणीय हैं। गुणों का उपलब्ध होना दोनों अवस्थाओं में सम्भव है; जब उन भूतों को चाहे उपादानकारण माना जाय, अथवा केवल सहयोगी निमित्तमात्र मानाजाय; जैसा अन्य घट-पट आदि द्रव्यों की रचना में देखाजाता है। इसलिए अनेकभूतप्रकृतिक शरीर को बतानेवाले हेतु किसी एक स्थिति के निश्चायक न होने से हेत्वाभास समझने चाहियें।

वस्तुस्थिति यह है–यदि शरीर को अनेकभूतप्रकृतिक मानाजाय, अर्थात् यह स्वीकार कियाजाय कि शरीर के उपादानकारण तत्त्व अनेकभूत हैं, तो शरीर अगन्ध, अरस, अरूप, अस्पर्श रहेगा। न उसमें गन्ध उत्पन्न होसकेगा, न अन्य कोई रसादि गुण। कार्यद्रव्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगत गुणों से उनके अनुकूल हुआ करती है। यह कहने में तो बड़ा सरल लगता है कि सभी भूत कारण रहेंगे, तो सभी गुण कार्य में उत्पन्न होजायेंगे, परन्तु यह सम्भव नहीं है। पहले यह निर्देश कियाजाचुका है कि किसी कार्यद्रव्य के समवायिकारण समान-जातीय अवयव हो सकते हैं, विजातीय नहीं। यदि पृथिवी और जल के उपादान-भूत अवयवों से संहत होकर कोई एक कार्य द्रव्य उत्पन्न कियाजाता है, तो वह न पृथिवीजातीय होगा, न जलजातीय; इसलिये उसमें न गन्धगुण उत्पन्न होसकेगा, न रस; वह अगन्ध, अरस होगा।

इस तथ्य को एक लौकिक उदाहरण से समझना चाहिये। एक स्थान पर दो गाय, तीन घोड़े, दो ऊँट, चार कुत्ते, दो बकरी और दो आदमी सामूहिकरूप में खड़े हैं। उस समूह को क्या कहाजायेगा? उसे गाय, घोड़ा, बकरी आदि में से क्या नाम दियाजायगा? यह स्पष्ट है, जिन विजातीय अवयवों के साहत्य से वह समूह बना है, उनमें से किसी एक का नाम उस समूह को नहीं दियाजासकता। यह स्पष्ट है, उनमें से कोई जातीय धर्म, समूह में उभरकर नहीं आता। ठीक यही स्थिति पृथिवी आदि विजातीय भूतों के संहत होने में है।

यद्यपि गाय, घोड़ा आदि विजातीयों के समूह को एक नाम न दियाजासके, ऐसी बात नहीं है। समानजातीयता के आधार पर उन्हें एक नाम दियाजासकता है। यदि उनमें कोई मनुष्य नहीं है, तो उसे पशुओं का समूह कहाजासकता है। ये पशु हैं, अथवा ये पशु खड़े हैं; ऐसा कहने में कोई अवास्तविकता नहीं है। यदि उनके किसी धर्म या गुण का कथन करना अभीष्ट है, तो ऐसे गुण का कथन कियाजाना वास्तविक व संगत होगा, जो सामान्यरूप से पूरे समूह में पायाजाता है। उस समूह के किसी एक अवयव के गुण को समस्त समूह के लिये प्रयोग

करना वास्तविक न होगा। ऐसे समूह के लिये यह नहीं कहाजासकता, कि यह मिमियाता है, या हिनहिनाता है; क्योंकि यह विशेषता या गुण समूह के किसी एक अंश का है। हाँ ! यह कहा जा सकता है, कि यह घास खाता है।

यदि उस समूह में दो-चार मनुष्य सम्मिलित हैं, तो साधारणरूप से उसे पशु-समूह नहीं कहाजाएगा; प्राणी-समूह कहसकते हैं। उसके विषय में ऐसे धर्म या गुण का कथन कियाजासकता है, जो प्राणीमात्र में सम्भव हो। जैसे—यह समूह स्वयं चलता-फिरता; या सुख-दुःख का अनुभव करता है। यह कहना उचित न समझा जायेगा कि यह समूह घास खाता है। घास का तात्पर्य विशुद्ध हरित,शुष्क तृण आदि है, वनस्पति-समुदाय नहीं।

इस स्थिति को पाँच भूतों के समूह पर विचारिये। जब दो, तीन, चार या पाँच भूत संहत होकर किसी समूह को बनायेंगे, तो जो उन भूतों के सामान्य धर्म या गुण हों, उन्हींका अस्तित्व अथवा उत्पन्न होना समूह में सम्भव है, किसी एक अवयव के विशेष धर्म का नहीं। अनेकभूतप्रकृतिक समूह या कार्य कोई एक विशेषभूतरूप नहीं है, इसीकारण उसमें किसी एक भूत के गुण उत्पन्न नहीं हो सकते। समूह के सामान्य धर्मों का उत्पन्न होना सम्भव है। यह कहा जा सकता है कि भूतों का वह समूह अनित्य है, परिमाणवाला है, इत्यादि। फलतः अनेक भूतों से उत्पन्न कोई एक द्रव्यविशेष सम्भव नहीं है; अतः भूलोकीय शरीर को पृथिवीप्रकृतिक मानना युक्त है। इसी दशा में शरीरगत गन्ध की उपलब्धि पृथिव्युपादान तथा गुणान्तरों की उपलब्धि भी पृथिवीगत गुणों के कारण है। जलादि का सहयोग निमित्तमात्र रूप में सम्भव है॥ २८॥

शरीर पार्थिव में श्रौत प्रमाण—इसी विषय में आचार्य सूत्रकार ने श्रौत प्रमाण का निर्देश किया—

श्रुतिप्रामाण्याच्च ॥ २९ ॥ (२२६)

[श्रुतिप्रामाण्यात्] श्रुति-प्रमाण होने से [च] भी (इस विषय में)।

श्रुतिप्रामाण्य से भी ज्ञात होता है–भूलोकीय प्राणी-शरीर पार्थिव हैं। 'सूर्यं ते चक्षुर्गच्छताम्' इस वैदिक सन्दर्भ में कार्य का अपने उपादान-कारण में लय होना बतायागया है। चक्षु-इन्द्रिय की रचना सूर्य से अर्थात् तैजस उपादान तत्त्वों से होती है। इसीप्रकार आगे कहा है–'पृथिवीं ते शरीरम्'–शरीर पृथिवी में लय होजावे। देहपात के अनन्तर शरीर तथा अन्य अङ्गों का अपने कारणो मे लय होने का निर्देश स्पष्ट करता है–शरीर की प्रकृति (उपादान कारण) पृथिवी है।

आगे उत्पत्तिविषयक वाक्य है–'सूर्यं ते चक्षुः स्पृणोमि'–सूर्य को तेरा चक्षु बनाता हूँ। तात्पर्य है, चक्षु की रचना में तैजस तत्त्व प्रकृति है। इसीप्रकार

आगे वाक्य है–'पृथिवीं ते शरीरं स्पृणोमि'–पृथिवी को तेरा शरीर बनाता हूँ। तात्पर्य है–शरीर की रचना में पृथिवी प्रकृति है। इसप्रकार यहाँ अपने उपादानकारण से कार्य (विकार) की रचना का निर्देश कियागया है। इससे शरीर का पार्थिव होना स्पष्ट होता है।

घट-पट आदि पदार्थों की रचना में समानजातीय उपादानकारणों से किसी एक कार्य की उत्पत्ति होना देखाजाता है। किसी एक निर्धारित कार्य के भिन्नजातीय उपादानकारण नहीं होते; यह गत पंक्तियों में स्पष्ट करदियागया है ॥ २९ ॥

इन्द्रिय प्रमेय परीक्षा—शरीर की परीक्षा के अनन्तर अब प्रमेयक्रम से पठित [१ । १ । ९] इन्द्रियों के विषय में विचार प्रस्तुत कियाजाता है। जिज्ञासा है–इन्द्रियाँ अव्यक्त–अहंकार से उत्पन्न होती हैं, अथवा पृथिवी आदि भूतों से ? आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा के मूल संशय का कारण बताया—

कृष्णसारे सत्युपलम्भाद् व्यतिरि ्य चोपलम्भात् संशयः ॥ ३० ॥ (२२७)

[कृष्णसारे] चक्षु की काली पुतली के [सति] होने पर [उपलम्भात्] उपलब्ध होने से (रूपादि विषय के), [व्यतिरिच्य] छोड़कर (अपने प्रदेश को) [च] भी [उपलम्भात्) उपलब्धि से (विषय की) [संशयः] संशय होता है (चक्षु आदि इन्द्रियों के उपादान-तत्त्वों के विषय में)।

इन्द्रियकारणविषयक संशय—काली पुतली जो आँख के गोलक में दिखाई देती है, यह भौतिक है। जबतक यह ठीक बनी रहती है, रूपादि विषय की उपलब्धि होती रहती है। यदि यह न रहे, अथवा इसमें कोई विकार आजाय, तो विषय की उपलब्धि नहीं होती। यह स्थिति चक्षु को भौतिक सिद्ध करती है। रूप आदि भूतगुण हैं, उनसे चक्षु का युक्त होना, चक्षु के भूतकार्य होने का साधक है। कृष्णसार–चक्षु के रूपादि गुण अपने कारणगत गुणों से उत्पन्न हो सकते हैं। ये गुण क्योंकि भूतों में रहते हैं, अतः चक्षु आदि इन्द्रियों को भौतिक मानाजासकता है।

इसके अतिरिक्त कृष्णसार–चक्षु में एक विशेषता देखीजाती है—वह अपने से दूर अवस्थित विषय का ग्रहण करता है, तथा विषय के अतिसमीप आने पर उसे ग्रहण नहीं कर पाता। इन्द्रियों का अपने विषयों से सम्बन्ध न होने पर वे विषय को ग्रहण कर लें, ऐसा नहीं होता। यह उसी दशा में सम्भव है, जब दूरस्थित विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध स्वीकार कियाजाय। क्योंकि इन्द्रियाँ विषय से असम्बद्ध हुई कभी विषय को ग्रहण नहीं कर सकतीं। दूरस्थित विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध इन्द्रिय के विभु मानेजाने पर सम्भव है। इन्द्रिय का विभु होना उसके अभौतिक होने को सिद्ध करता है। इसप्रकार इन्द्रियों में

भौतिक-अभौतिक दोनों प्रकार के धर्म उपलब्ध होने से संशय होता है कि इन्हें भौतिक मानाजाय, अथवा अभौतिक ? ॥ ३० ॥

इन्द्रियाँ अभौतिक—प्रथम अभौतिकवादी के विचार को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

महदणुग्रहणात् ॥ ३१ ॥ (२२८)

[महदणुग्रहणात्] महत्–बड़ा और अणु–छोटा (दोनों प्रकार का विषय) ग्रहण करने से (इन्द्रियाँ अभौतिक सिद्ध होती हैं)।

चक्षु-इन्द्रिय बड़े-से-बड़े पदार्थ को ग्रहण करती है–सामने खड़े मकान, बरगद आदि महान् वृक्ष और उनसे भी बड़े पर्वत आदि को समानरूप से ग्रहण करती है। ऐसे ही छोटे-से-छोटे पदार्थ को ग्रहण करती है। मकान के अन्दर सामने रक्खी मेज़, मेज़ पर पुस्तक, पुस्तक में छोटे-छोटे अक्षरों की आकृतियाँ, उनसे भी छोटे सरसों और पोस्त के दाने आदि। फिर समीप अवस्थित घट-पट आदि और दूर से दूरस्थित चन्द्र-तारागण आदि को चक्षु समानरूप से ग्रहण कर लेता है। यह स्थिति चक्षु के भौतिक होने की बाधक है। क्योंकि भौतिक पदार्थ जितना है, उतने विषय को व्याप्त करपाता है; तथा जहाँ है, वहीं सम्बद्ध होकर विषय को ग्रहण करसकता है। अभौतिक पदार्थ विभु होने से सर्वत्र छोटे-बड़े और दूर-समीप के विषयों को ग्रहण करने में समर्थ रहता है। अतः इन्द्रियों का अभौतिक मानाजाना उचित है ॥ ३१ ॥

इन्द्रियाँ भौतिक हैं—अभौतिकवादी के कथन पर विवेचन करते हुए आचार्य कहता है–केवल महत् और अणु विषय के ग्रहण करने से इन्द्रिय का अभौतिक और विभु होना सिद्ध नहीं किया जा सकता। यह सब किसप्रकार होता है; सूत्रकार ने बताया—

रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्तद्ग्रहणम् ॥ ३२ ॥ (२२९)

[रश्म्यर्थसन्निकर्षविशेषात्] चक्षु-रश्मि का अर्थ-विषय के साथ सन्निकर्षविशेष से [तद्ग्रहणम्] उस (छोटे बड़े, दूर-समीप) विषय का ग्रहण होता है।

अणु-महत् ग्रहण में चक्षुरश्मि निमित्त—छोटे-बड़े या दूर-समीप के विषय का ग्रहण, चक्षु की रश्मियों का विषय के साथ सन्निकर्ष होने पर होता है, इन्द्रिय के अभौतिक होने से नहीं। प्रायः प्रत्येक तैजस पदार्थ रश्मियों किरणों का प्रसारण करता है। चक्षु की ऐसी स्थिति उसके तैजस होने को स्पष्ट करती है। प्रदीप के प्रकाश में विषय का ग्रहण इस तथ्य को प्रकट करता है–तैजस पदार्थ रश्मियों को प्रसारित कर घटादि पदार्थों को प्रकाशित करता है। प्रदीप से रश्मियाँ फूटकर विषय तक पहुँचती हैं, यह बात उन दोनों के अन्तराल में

कभी ग्रावरण ग्राजाने से स्पष्ट होजाती है। मकान के ग्रन्दर रक्खा हुग्रा प्रदीप भींत का ग्रावरण ग्रन्तराल में होने से बाहर के विषय को प्रकाशित नहीं करपाता। इसीप्रकार चक्षु भित्ति ग्रादि से ग्रावृत पदार्थ को देखने में ग्रसमर्थ रहता है, क्योंकि बीच में ग्रावरण रहने से चक्षु का ग्रपनी रश्मियों द्वारा पदार्थ के साथ ग्रपेक्षित सम्बन्ध नहीं होपाता। महत् या ग्रणु पदार्थ के ग्रहण होने न होने का यही कारण है; इन्द्रिय का ग्रभौतिक होना नहीं ॥ ३२ ॥

चक्षुरश्मि उपलब्ध नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, चक्षु की रश्मियाँ दिखाई तो देती नहीं; उन्हें क्यों स्वीकार कियाजाय? सूत्रकार ने जिज्ञासु-भावना को सूत्रित किया—

तदनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३३ ॥ (२३०)

[तद्-ग्रनुपलब्धेः] उस (चक्षुरश्मि) के उपलब्ध न होने से [ग्रहेतुः] हेतु (गतसूत्र में निर्दिष्ट) युक्त नहीं है।

तेज ग्रथवा तैजस पदार्थ रूप ग्रौर स्पर्श गुणवाला होता है। उसका प्रत्यक्ष उस ग्रवस्था में होजाता है, जब वह महत्परिमाणवाला हो, ग्रनेक ग्रवयवों के संयोग से उत्पन्न हो, तथा रूपगुणयुक्त हो। प्रदीप में यह सब स्थिति विद्यमान रहती है; उसका प्रत्यक्ष से ग्रहण होजाता है। चक्षु-रश्मि यदि तैजस पदार्थ है, तो उसके रूप-स्पर्शवाला तथा महत्परिमाणवाला होने में कोई बाधक दिखाई नहीं देता। ऐसी दशा में यदि वस्तुतः उसका ग्रस्तित्व होता, तो वह प्रदीप के समान प्रत्यक्ष दिखाई देता। परन्तु उसके न दीखने से स्पष्ट है, चक्षु-रश्मि जैसी कोई वस्तु नहीं। तब रश्मि ग्रौर ग्रर्थ के सन्निकर्ष से महत्–ग्रणु विषय के ग्रहण होने का कथन ग्रयुक्त है ॥ ३३ ॥

चक्षुरश्मि ग्रनुमान से ज्ञात—ग्राचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान किया—

नानुमीयमानस्य प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धिरभावहेतुः ॥ ३४ ॥ (२३१)

[न] नहीं [ग्रनुमीयमानस्य] ग्रनुमान से जानेगये पदार्थ का [प्रत्यक्षतः] प्रत्यक्ष से [ग्रनुपलब्धिः] उपलब्ध न होना [ग्रभावहेतुः] ग्रभाव का कारण।

जो पदार्थ ग्रनुमान-प्रमाण से जानलियागया है, प्रत्यक्ष से उसका उपलब्ध न होना, उस पदार्थ के ग्रभाव का हेतु नहीं कहाजासकता। चक्षु-रश्मि का ग्रस्तित्व ग्रावरणलिङ्ग से ग्रनुमित होता है। ग्राह्य पदार्थ वहाँ से दूर-स्थित रहता है, जहाँ ग्रर्थग्राहक चक्षु-इन्द्रिय ग्रपने गोलक में ग्रवस्थित है। इन्द्रिय का ग्रर्थ के साथ सन्निकर्ष हुए विना ग्रर्थ का ग्रहण होना सम्भव नहीं। दूरस्थित विषय के साथ चक्षु का सन्निकर्ष चक्षुरश्मियों के द्वारा होता है। चक्षुरश्मियों के ग्रस्तित्व का निश्चय उस समय होजाता है, जब चक्षु ग्रौर ग्राह्य विषय के

मध्य में आवरण आजाने से उस विषय का ग्रहण नहीं होपाता। मध्य में आये आवरण से चक्षु-रश्मियों का ग्राह्य विषय तक पहुँचने में अवरोध होजाता है। यह स्थिति चक्षु-रश्मियों के अस्तित्व की बोधक है। ऐसी स्थिति में प्रत्यक्ष से चक्षु-रश्मियों का उपलब्ध न होना उनके अभाव को सिद्ध नहीं करसकता। यह आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वस्तु का बोध प्रत्यक्ष से हो। अन्यथा अनुमान आदि प्रमाणों का स्वीकार करना व्यर्थ होजायेगा। चन्द्रमा के परभाग का पृथिवी पर रहते कभी प्रत्यक्ष नहीं होता। इसीप्रकार पृथिवी के एक भाग पर रहनेवाले को दूसरी ओर के भाग का प्रत्यक्ष नहीं होता। इसका यह तात्पर्य नहीं कि चन्द्रमा के परभाग और पृथिवी के दूसरी ओर के भाग का अस्तित्व नहीं। अन्य प्रमाणों से उनका अस्तित्व सिद्ध है, और वह स्वीकार कियाजाता है। यही स्थिति चक्षु-रश्मियों की समझनी चाहिये ॥ ३४ ॥

चक्षुरश्मि का प्रत्यक्ष क्यों नहीं—यदि चक्षु-रश्मि है, तो उसका प्रत्यक्ष क्यों नहीं होता ? इसका कारण आचार्य सूत्रकार ने समझाया—

द्रव्यगुणधर्मभेदाच्चोपलब्धिनियमः ॥ ३५ ॥ (२३२)

[द्रव्य-गुणधर्मभेदात्] द्रव्यधर्म और गुणधर्मों के भेद से [च] तथा [उपलब्धिनियमः] उपलब्धि का नियम (देखाजाता है, विभिन्न पदार्थों के विषय में)।

द्रव्य और गुण आदि पदार्थों में कुछ ऐसी विशेषता रहती हैं, जो उनके प्रत्यक्ष होने का प्रयोजक हैं। सूत्र का 'धर्म'-पद उन्हीं विशेषताओं का निर्देश करता है। जहाँ वे विशेष-धर्म रहते हैं, उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण होता है; जिन द्रव्यादि में वे नहीं रहते, उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण नहीं होता। द्रव्य के प्रत्यक्ष के लिये उसका विशेष-धर्म महत्त्व तथा अनेकद्रव्यवत्त्व है। उस द्रव्य का प्रत्यक्ष होता है, जो महत्परिमाण वाला हो, और अनेक अवयव जिसके समवायिकारण हों। गुण के प्रत्यक्ष के लिये उसका उद्भूत होना आवश्यक है।

जाड़े के मौसम में प्रत्येक व्यक्ति वायु लगने से अतिशीतस्पर्श का अनुभव करता है। यह स्पष्ट है–वायु का अपना गुण शीतस्पर्श नहीं है। वायु में अपना गुण अनुष्णाशीत स्पर्श मानागया है। यह शीतस्पर्श का अनुभव वायु से सम्बद्ध जलीय अंशों के कारण होता है। वे जलीय अंश यद्यपि महत्परिमाण वाले तथा अनेकावयव-समवायिकारणवाले हैं, परन्तु उस समय वे बिखरे हुए-से रहते हैं; उनमें तब रूपगुण का उद्भव नहीं होपाता; अर्थात् रूप के रहते भी उसमें उद्भूतत्व धर्म नहीं उभर पाया, इसलिये रूप का प्रत्यक्ष नहीं होता; परन्तु स्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह उद्भूत है। जितने समय ऐसे द्रव्य का अनुभव होता है, उस समय को ऋतुओं में हेमन्त-शिशिर नाम दिया जाता है।

ऐसा अनुभव कालान्तर में तैजस द्रव्य का होता है। जब गरम लू चलती हैं, उस समय वायु के झुलसाने वाले थपेड़ों का अनुभव होता है। स्पष्ट है, उष्णस्पर्श वायु का गुण नहीं, तेजस् का गुण है। सूर्य की प्रखर किरणों के कारण उस समय तैजस अंश वायु के साथ सम्बद्ध होजाते हैं। उनमें रूप के अनुद्भूत रहने से उसका प्रत्यक्ष नहीं होता; उष्णस्पर्श का प्रत्यक्ष होता है, क्योंकि वह उद्भूत है। ऐसा अनुभव जितने समय किया जाता है, उस ऋतु को ग्रीष्म कहते हैं। ये अनुभव स्पष्ट करते हैं—गुण के प्रत्यक्ष के लिये उसका उद्भूत होना आवश्यक है। चक्षु-रश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों गुण अनुद्भूत रहते हैं, इसलिये उनका प्रत्यक्ष से ग्रहण होना सम्भव नहीं ॥ ३५ ॥

इसी वास्तविकता को आचार्य सूत्रकार ने अग्रिम सूत्र से स्पष्ट किया—

अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च
रूपोपलब्धिः ॥ ३६ ॥(२३३)

[अनेकद्रव्यसमवायात्] अनेक द्रव्य-अवयवों में समवाय से, [रूपविशेषात्] रूपविशेष से [च] और [रूपोपलब्धिः] रूप की उपलब्धि होती है।

चक्षु-इन्द्रिय द्वारा द्रव्य का प्रत्यक्ष तभी होता है, जब वह अनेक द्रव्यावयवों में समवेत हो और रूपवाला हो। रूप की उपलब्धि चक्षु से उस समय सम्भव है, जब उद्भूतत्व धर्म-विशेष उसमें उभर आता है। तात्पर्य है—प्रत्यक्ष होने के लिये रूप उद्भूत होना चाहिये। उसके होने से रूप की उपलब्धि होती है, न होने से नहीं होती। चक्षु-रश्मियों में रूप अनुद्भूत रहता है, इसलिये उनका चक्षु से प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं।

तैजस द्रव्य की विभिन्न विशेषतायें पृथक्-पृथक् देखीजाती हैं। सूर्यरश्मियों में रूप और स्पर्श दोनों गुण-धर्म प्रत्यक्ष होते हैं। प्रदीपरश्मियों में केवल रूप का प्रत्यक्ष होता है; अनुद्भूत होने से स्पर्श का प्रत्यक्ष नहीं होपाता। उबलता हुआ जल तैजस अवयवों से संयुक्त रहता है; वहाँ तैजस द्रव्य का स्पर्श धर्म उद्भूत होने से प्रत्यक्ष का विषय है; परन्तु अनुद्भूत रहने से रूप का प्रत्यक्ष वहाँ नहीं होता। इन उदाहरणों से स्पष्ट है, तैजस द्रव्य के रूप-स्पर्श धर्म कहीं दोनों उद्भूत रहते हैं, कहीं उनमें से कोई एक उद्भूत रहता है, और दूसरा अनुद्भूत। कहीं दोनों धर्म अनुद्भूत रहते हैं; ऐसा स्थल चाक्षुष रश्मियाँ हैं। इनमें न रूप उद्भूत रहता है, न स्पर्श। फलतः न चक्षु-रश्मि के रूप का ग्रहण होपाताहै न चक्षु-रश्मियों का। अनेक द्रव्यावयवों में समवेत रहने पर भी चक्षु-रश्मियों में रूपविशेष [रूपगत उद्भूतत्व] के न उभरने से उनका प्रत्यक्ष नहीं होपाता, यद्यपि अनुमान से उनका अस्तित्व प्रमाणित है ॥ ३६ ॥

चक्षुरश्मि की रचना प्रयोजनानुसार—चक्षु-रश्मियों की ऐसी रचना का आचार्य सूत्रकार ने कारण बताया—

कर्मकारितश्चेन्द्रियाणां व्यूहः पुरुषार्थतन्त्रः ॥ ३७ ॥ (२३४)

[कर्मकारितः] कर्मों (अपने पूर्वानुष्ठित धर्म-अधर्मों) के अनुसार कीगई [च] और [इन्द्रियाणाम्] इन्द्रियों की [व्यूहः] रचना [पुरुषार्थतन्त्रः] पुरुष (जीवात्मा) के प्रयोजनों के अधीन होती है।

प्रत्येक आत्मा अपने पूर्व-अनुष्ठित कर्मों के अनुसार जिस योनि को प्राप्त होता, अथवा जिस योनि में जन्म लेता है, वहाँ उसके भोग आदि प्रयोजनों की सिद्धि जिस रूप में अथवा जिसप्रकार सुविधा से हो,उसीके अधीन उसके शरीर-इन्द्रिय आदि की रचना हुआ करती है। संसार में चेतन आत्मा का प्रयोजन—कर्मानुसार सुख-दुःखप्राप्तिरूप–विषयोपभोग है। उसीके अनुसार देह-इन्द्रिय आदि की रचना होती है। चक्षु-रश्मियों की रचना अपने विषय की प्राप्ति के लिए है।

इनमें रूप और स्पर्श के अनुद्भूत रहने का विशेष प्रयोजन है—लोकव्यवहार का निर्बाध सम्पन्न होना। यदि चक्षु-रश्मियों के रूप और स्पर्श उद्भूत हों, तो व्यवहारसिद्धि में बाधा का होना सम्भव है। रूप के उद्भूत होने से गोलक के साथ उसका निरन्तर सम्पर्क निद्रा के अभाव को उत्पन्न कर देगा; निद्रा का होना कठिन होजायगा। तैजस स्पर्श सदा उष्ण रहता है; यह नियम है। यदि वह तैजस स्पर्श चक्षु-रश्मियों में उद्भूत हो, तो गोलक के साथ निरन्तर संपर्क रहने से उसे जला डाले। ग्राह्यविषय के साथ चक्षु-रश्मि का सम्पर्क होने पर उसके जलजाने की, अथवा ज्वलनशील विषय के साथ सम्पर्क होने पर उनमें तत्काल विस्फोट होकर व्यवहार में नितान्त बाधा उत्पन्न हो सकती है। अतः चक्षु-रश्मियों की रचना में रूप-स्पर्श का अनुद्भूत रहना व्यवहार में अत्यन्त अनुकूल व उपयोगी है। यदि ऐसा न होता, तो रूप के उद्भूत होने से चक्षु-रश्मि द्वारा अन्धकार में घटादि द्रव्य दिखाई देता रहता; स्पर्श के उद्भूत होने पर ग्राह्यविषय यदि दग्ध न होता, तो थोड़ा-बहुत गरम तो हो ही जायाकरता। इसीप्रकार चक्षु-रश्मियों का प्रतीघाती द्रव्य से आवरण भी व्यवहार का साधक है। अन्यथा सन्दूक आदि में बन्द पदार्थों का प्रत्यक्ष होजाने से सुरक्षा-साधन सर्वथा व्यर्थ होते।

तात्पर्य है, न केवल देह, इन्द्रिय आदि की रचना; अपितु समस्त विश्व की रचना आत्माओं के कर्मानुसार होती है। अतः वह उस प्रक्रिया के अधीन समझनी चाहिये, जो आत्मा के भोग एवं सुख-दुःखानुभव आदि प्रयोजनों को सिद्ध करती है। चेतन आत्मा अपने शुभ-अशुभ कर्मानुष्ठान द्वारा जिन धर्म-अधर्म का सञ्चय करता है, वही उसके सुख-दुःख आदि भोग का प्रयोजक रहता है ॥ ३७ ॥

इन्द्रियाँ भौतिक क्यों है ?—इन्द्रियाँ भौतिक हैं, अभौतिक नहीं; इस तथ्य का आचार्य सूत्रकार उपपादन करता है--

अव्यभिचाराच्च[1] प्रतिघातो भौतिकधर्मः ॥ ३८ ॥ (२३४)

[अव्यभिचारात्] अव्यभिचार–निर्दोष होने से [च] तथा [प्रतिघातः] रुकावट होजाना [भौतिकधर्मः] भौतिकधर्म है।

किसी पदार्थ की–सामने बाधा आजाने से–रुकावट होजाना भौतिकधर्म है। पृथिवी आदि भूतों से निर्मित पदार्थ का सामने बाधा से प्रतिधात होजाता है; भौतिक पदार्थ बाधा को पार नहीं करपाता। सामने दीवार होने पर घट, पट, काष्ठ आदि पदार्थों की आगे जाने से रोक होजाती है; अतः घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्षतः भौतिक होना स्पष्ट है। चक्षु-रश्मियाँ भी दीवार सामने होने पर रुकजाती हैं, दीवार को छेद-भेद कर पार नहीं जासकतीं, इसी कारण दीवार से आवृत पदार्थ चक्षु से दिखाई नहीं देता। चक्षु-रश्मियाँ प्रतिघात के कारण आवृत विषय के साथ सन्निकृष्ट नहीं होपातीं, इसलिये वहाँ विषय का ग्रहण नहीं होता। ऐसा प्रतिघात अभौतिक पदार्थ में कहीं नहीं देखाजाता। यह अव्यभिचरित-सर्वथा निर्दोष-व्यवस्था है—प्रतिघात केवल भौतिक द्रव्य में सम्भव है। चक्षु-रश्मियों का भींत आदि से प्रतिघात चक्षु-रश्मियों के भौतिक होने को सिद्ध करता है।

दूसरी ओर 'अप्रतिघात' भौतिक-अभौतिक दोनों में समानरूप से देखे जाने के कारण अव्यभिचारी–निर्दोष नहीं है। तात्पर्य है, भौतिक पदार्थों में प्रतिघात-अप्रतिघात दोनों समानरूप से देखेजाते हैं; परन्तु अभौतिक पदार्थ में केवल अप्रतिघात रहता है, प्रतिघात की वहाँ सम्भावना नहीं। अतः चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात होना उनकी भौतिकता का साधक है।

यदि अप्रतिघात के भौतिक–अभौतिक दोनों में रहने से कोई यह कहे कि प्रतिघात होने से इन्द्रियाँ भौतिक कहीजाती हैं, तो अप्रतिघात होने से उन्हें अभौतिक मानाजाना चाहिये। काच, अभ्रपटल (अभरक का पतला-सा पत्ता) और स्फटिक (बिल्लौर पत्थर) में चक्षु-इन्द्रिय का अप्रतिघात देखाजाता है। काचादि से आवृत पदार्थ को चक्षु द्वारा देखलेने में काच आदि से कोई बाधा नहीं होती।

यह कथन युक्त नहीं है। वस्तुतः काच आदि द्रव्य पारदर्शी होते हैं। इनमें–न केवल अभौतिक, प्रत्युत–भौतिक पदार्थ का भी प्रतिघात नहीं होता। प्रदीपप्रकाश भौतिक है, यह सर्वमान्य है; उसका काच आदि से अप्रतिघात

---

१. **वाचस्पति मिश्र के 'न्यायसूचीनिबन्ध' में यह सूत्र नहीं है; पर अन्य उपलब्ध समस्त संस्करणों में यह सूत्ररूप से निर्दिष्ट है।**

देखाजाता है। काच आदि से आवृत हुई प्रदीपरश्मियाँ काच आदि से बाहर के दूरस्थित पदार्थों को प्रकाशित करती हैं। अतः काच आदि से इन्द्रियों का अप्रतिघात इन्द्रियों की अभौतिकता का साधक नहीं होसकता। फिर न केवल काच आदि में, अपितु धातु व मिट्टी के पात्रों में भी तेज का अप्रतिघात सर्वविदित है। रसोई में समस्त पाक इसीप्रकार होता है ॥ ३८ ॥

चक्षुरश्मि उपलब्ध क्यों नहीं—चक्षु-रश्मियों की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि का कारण उदाहरणपूर्वक सूत्रकार ने बताया—

मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत् तदनुपलब्धिः ॥३९॥ (२३६)

[मध्यन्दिनोल्काप्रकाशानुपलब्धिवत्] दोपहर में उल्काओं के प्रकाश की अनुपलब्धि के समान [तद्-अनुपलब्धिः] चक्षु-रश्मियों की अनुपलब्धि समझनी चाहिये।

लोकभाषा में जिसे 'रात में तारा टूटना' कहाजाता है, उसे संस्कृत में 'उल्का' कहते हैं। रात को किसी समय आकाश में तेज़ प्रकाश की धारा दूरतक चलती हुई दिखाई देजाती है। यह उल्का तैजस द्रव्य है। इसमें चाक्षुष प्रत्यक्ष होने के 'महत्, अनेक द्रव्यों में समवेत होना तथा रूपवाला होना' ये सब कारण विद्यमान रहते हैं, इसीलिये रात में इनका प्रत्यक्ष होजाता है। रात की तरह दिन में भी उल्कापात होते रहते हैं; परन्तु दिन में उल्कापात दिखाई नहीं देता। इसका कारण है—सूर्य का तीव्र प्रकाश। यह प्रकाश उल्का के प्रकाश को दबा देता है। इस कारण होता हुआ भी वह प्रकाश दिखाई नहीं देता।

चक्षु-रश्मियाँ उल्का-प्रकाश के समान तैजस द्रव्य हैं। इसमें प्रत्यक्ष होने के पूर्वोक्त महत् आदि सब निमित्त विद्यमान रहते हैं; फिर भी इनके न दीखने का विशेष कारण है। जैसे उल्का-प्रकाश के दिन में न दीखने का कारण तीव्र सूर्यप्रकाश है, इसीप्रकार चक्षु-रश्मियों के न दीखने का कारण है—उनमें उद्भूत रूप और उद्भूत स्पर्श का न होना। अर्थात् चक्षु-रश्मियों में रूप और स्पर्श अनुद्भूत रहते हैं, इसी कारण उनका प्रत्यक्ष नहीं होता; गत सूत्रों में इसका उपपादन करदियागया है। चक्षु-रश्मियों की प्रत्यक्ष से उपलब्धि न होना, उनके अभाव का कारण नहीं होसकता। आवरणानुपलब्धि से चक्षु-रश्मियों के अस्तित्व का उपपादन प्रथम करदियागया है। किसी भी प्रमाण से वस्तु की उपलब्धि न होना उसके अभाव का कारण माना जाता है ॥ ३९ ॥

शङ्का की जा सकती है—यदि न दीखते हुए भी चक्षु-रश्मिरूप प्रकाश का अस्तित्व स्वीकार कियाजाता है, तो एक मिट्टी के डले में प्रकाश क्यों न मानलियाजाय? उसके दिखाई न देने का कारण है—तीव्र सूर्यप्रकाश। आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न रात्रावप्यनुपलब्धेः ॥ ४० ॥ (२३७)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [रात्रौ] रात में [अपि] भी [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होने से (मिट्टी के डले के प्रकाश की)।

न केवल–दिन में सूर्यप्रकाश से अभिभूत होकर लोष्ट-प्रकाश दिखाई न देता हो–इतनी बात है; प्रत्युत रात में–जब सूर्यप्रकाश के द्वारा अभिभव होने की कोई आशंका नहीं है–लोष्टप्रकाश दिखाई नहीं देता। सूत्र का 'अपि' पद हेत्वन्तर का समुच्चायक है। लोष्टप्रकाश न केवल प्रत्यक्ष द्वारा दिखाई नहीं देता, अपितु अनुमान आदि प्रमाण से भी उसकी सिद्धि किसी प्रकार नहीं होती। अतः लोष्टप्रकाश का सर्वथा अभाव मानाजाना युक्त है। परन्तु चक्षु-रश्मि ऐसा नहीं है। प्रत्यक्ष से न दीखने पर भी अनुमान से उसकी सिद्धि स्पष्ट है ॥ ४० ॥

चक्षुरश्मि की अनुपलब्धि न्याय्य है—चक्षुरश्मि की अनुपलब्धि सर्वथा युक्ति-युक्त है, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

बाह्यप्रकाशानुग्रहाद् विषयोपलब्धेरनभिव्यक्तितोऽनुपलब्धिः ॥ ४१ ॥ (२३८)

[बाह्यप्रकाशानुग्रहात्] बाहरी प्रकाश के अनुग्रह (सहयोग) से [विषयोपलब्धेः] विषय का प्रत्यक्ष होने के कारण [अनभिव्यक्तितः] अभिव्यक्ति (रूपादि की द्रव्य में) न होने से [अनुपलब्धिः] उपलब्धि (प्रत्यक्ष प्रमा) नहीं होती (वैसे द्रव्य की)।

चक्षु द्वारा विषय का ग्रहण करने के लिये बाहरी प्रकाश का रहना आवश्यक होता है। वह न हो, तो चक्षु से विषय का ग्रहण नहीं होपाता। परन्तु बाहरी प्रकाश का अनुग्रह होने पर यह आवश्यक है कि द्रव्य के रूप और स्पर्श का इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होरहा हो, तभी उस द्रव्य का चक्षु से ग्रहण होपाता है। रूप का ग्रहण चक्षु से तभी होता है, जब वह उद्भूत हो। रूप के उद्भूत न होने की दशा में उसकी अभिव्यक्ति न होने से रूपाश्रय द्रव्य की उपलब्धि नहीं होती। चक्षु-रश्मि में यही स्थिति है। वहाँ रूप के उद्भूत न होने से वह अभिव्यक्त(चक्षुग्राह्य) नहीं होपाता; इसी कारण उस रूप का आश्रय द्रव्य चक्षु-रश्मि प्रत्यक्ष का विषय नहीं होता। ऐसी स्थिति में 'तदनुपलब्धेः' [३।१।३३] हेतु निराधार होने से असंगत है ॥ ४१ ॥

चक्षुरश्मि-अनुपलब्धि अभिभव से नहीं—चक्षु-रश्मियों की अनुपलब्धि का कारण–उनके रूप का अनुद्भूत होना बतायागया। पर उल्काप्रकाश की अनुपलब्धि के समान अभिभव को उसका कारण क्यों न मानलियाजाय? सूत्रकार ने बताया—

अभिव्यक्तौ चाभिभवात् ॥ ४२ ॥ (२३९)

[अभिव्यक्तौ] अभिव्यक्ति होने पर (पदार्थ की) [च] तथा [अभिभवात्] अभिभव (की सम्भावना) से ।

किसी पदार्थ [प्रकाश] के अभिभव की सम्भावना तभी होती है, जब वह अभिव्यक्त हो; तथा प्रत्यक्ष के लिये बाह्यप्रकाश के साहाय्य की अपेक्षा न रखता हो। उल्काप्रकाश ऐसा है, वहाँ अभिभव सम्भव है। परन्तु चक्षु-रश्मि अभिव्यक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ रूप उद्भूत नहीं होता। यही चक्षु-रश्मियों की प्रत्यक्ष से अनुपलब्धि का कारण है। फलतः चक्षु-रश्मियों की अनुपलब्धि में अभिभव को कारण मानना अयुक्त है। इससे रश्मियों के अस्तित्व में कोई बाधा नहीं आती ॥ ४२ ॥

विशेष प्राणियों की चक्षुरश्मि का रूप उद्भूत—जिन प्राणियों की चक्षु-रश्मियों का रूप उद्भूत रहता है, उनको प्रत्यक्ष से देखाजासकता है। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनाच्च ॥ ४३ ॥ (२४०)

[नक्तञ्चरनयनरश्मिदर्शनात्] रात में विचरने वाले प्राणियों की नेत्ररश्मि के (प्रत्यक्ष द्वारा) देखे जाने से [च] तथा।

नेत्ररश्मियों का अस्तित्व न केवल अनुमान से सिद्ध है, अपितु प्रत्यक्ष से भी सिद्ध है। रात में विचरने वाले बिलाव, भेड़िया, बघेरा आदि के नेत्रों की रश्मियाँ रात में प्रत्यक्ष देखीजाती हैं। बैल आदि पशुओं की चक्षु-रश्मियों को भी अँधेरी रात में प्रत्यक्ष से देखाजासकता है। विभिन्न योनियों में अपेक्षित प्रयोजन की सिद्धि के लिए शरीरादि रचना का अंशतः वैशिष्ट्य होना स्वाभाविक है। चक्षु-रश्मि में कहीं रूप उद्भूत है, कहीं अनुद्भूत; यह स्थिति मनुष्य की चक्षुरश्मि का अभाव सिद्ध नहीं करती। चक्षु होने से, पशुओं के चक्षुओं में रश्मि देखेजाने के कारण मनुष्य-चक्षु की रश्मियों का होना सिद्ध होता है।

यदि कहाजाय, मनुष्य और मार्जार आदि का जातिभेद स्पष्ट है, तब चक्षु का भेद भी सम्भव होसकता है। मार्जार आदि का चक्षु रश्मियुक्त रहे, मनुष्य का रश्मिरहित जातिभेद में ऐसा होना सम्भव है।

यह कथन युक्त नहीं। धर्मी के समान होने पर धर्मभेद होना अप्रामाणिक है। भिन्न जाति होने का आधारभूत धर्मी शरीर है; शरीरभेद से मार्जार व मनुष्य आदि जातिभेद-युक्त हैं, जबकि मनुष्य और मार्जार आदि के चक्षु-धर्मी में कोई विलक्षणता नहीं है, क्योंकि विषय का देखना आदि सब धर्मों की वहाँ समानता है। तब मार्जार आदि का चक्षु रश्मियुक्त रहे, और मनुष्य का रश्मिरहित, ऐसा धर्मभेद सम्भव नहीं। धर्मभेद सदा धर्मी के भेद पर आश्रित रहता है। चक्षुरूप धर्मी सर्वत्र समान है; उनमें भेद प्रमाणित नहीं होता।

इसके विपरीत सर्वत्र चक्षु की समानता का साधक आवरण देखाजाता है। जैसे मनुष्य भित्ति आदि का आवरण सामने होने पर उससे आवृत–दूसरी ओर रक्खे–पदार्थों का प्रत्यक्ष नहीं कर सकता, इसीप्रकार मार्जार आदि आवृत पदार्थ का प्रत्यक्ष नहीं करपाते। दोनों जगह समानरूप से चक्षु-रश्मियों का आवरण से अवरोध होजाने के कारण ग्राह्य विषय के साथ उनका सन्निकर्ष न होने से विषय का प्रत्यक्ष नहीं होपाता। यह स्थिति मार्जार आदि की चक्षु-रश्मियों के समान मानव-चक्षुरश्मियों के अस्तित्व को सिद्ध करती है। क्योंकि प्रत्यक्षज्ञान इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के विना सम्भव नहीं होता ॥ ४३ ॥

प्रत्यक्ष में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष असार्वत्रिक—जिज्ञासु प्रत्यक्ष ज्ञान के लिये इन्द्रियार्थसन्निकर्ष की कारणता पर आपत्ति उठाता है। सूत्रकार ने उस आपत्ति को सूत्रित किया—

अप्राप्य ग्रहणं काचाभ्रपटलस्फटिकान्तरितोपलब्धेः ॥ ४४ ॥ (२४१)

[अप्राप्य] प्राप्ति-सन्निकर्ष के विना [ग्रहणम्] ज्ञान (होता देखाजाता है), [काच–अभ्रपटल–स्फटिक–अन्तरितोपलब्धेः] शीशा, अभ्रक–पत्तर, स्फटिक (बिल्लौर) से व्यवहित पदार्थ की उपलब्धि होने से।

इन्द्रियों की अभौतिकता में हेत्वन्तर—इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्षज्ञान होता है, यह नियम सार्वत्रिक नहीं है। कतिपय स्थलों में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष के विना विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता देखाजाता है। काच से आवृत पदार्थ चलता-फिरता या रक्खा हुआ प्रत्यक्ष से स्पष्ट दिखाई देता है। यहाँ अर्थ के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष नहीं है। किन्हीं दो पदार्थों का सन्निकर्ष–उनके मध्य में किसी व्यवधान के न होने पर सम्भव है। परन्तु यहाँ इन्द्रिय और अर्थ के मध्य में काच आदि का व्यवधान स्पष्ट है। यह व्यवधान चक्षुरश्मि का विषय के साथ सन्निकर्ष में रुकावट डालदेता है। यदि चक्षुरश्मि का विषय के साथ सन्निकर्ष प्रत्यक्षज्ञान का हेतु हो, तो यहाँ व्यवहित वस्तु के साथ उसका सन्निकर्ष न होने से वस्तु का ग्रहण न होना चाहिये। परन्तु काच आदि से व्यवहित वस्तु का प्रत्यक्ष से ग्रहण स्पष्ट देखाजाता है। यह स्थिति प्रकट करती है–इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं, अर्थात् विषय के साथ सन्निकर्ष के विना विषय का ग्रहण करने में समर्थ रहती हैं। यह विशेषता अभौतिक पदार्थों में देखीजाती हैं। प्राप्यकारी होना भौतिक धर्म है। इससे इन्द्रियों का अभौतिक होना प्रमाणित होता है। अतः गतसूत्रों [३०–४३] द्वारा जो इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध कियागया है, वह युक्त प्रतीत नहीं होता ॥ ४४ ॥

इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

कुड्यान्तरितानुपलब्धेरप्रतिषेधः ॥ ४५ ॥ (२४२)

[कुड्यान्तरितानुपलब्धेः] भींत से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि न होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध अयुक्त है (इन्द्रियों के भौतिक होने का)।

यदि इन्द्रियाँ अप्राप्यकारी हैं, अर्थात् ग्राह्य विषय के साथ सन्निकर्ष हुए विना इन्द्रियाँ अपने विषय का ग्रहण करती हैं, इसलिये अभौतिक हैं, तो भींत आदि से व्यवहित पदार्थ का इन्द्रियों द्वारा ग्रहण होना चाहिये। परन्तु ऐसे स्थलों में विषय का उपलब्ध होना सम्भव नहीं होता। ऐसी दशा में इन्द्रियों के भौतिक होने का प्रतिषेध सर्वथा निराधार व असंगत है ॥ ४५ ॥

चक्षु का काचादि से अवरोध क्यों नहीं—जिज्ञासा होती है, यदि इन्द्रियाँ प्राप्यकारी हैं, तो काच आदि से व्यवहित वस्तु की उपलब्धि कैसे होजाती है? वह न होनी चाहिये। सूत्रकार ने बताया—

अप्रतिघातात् सन्निकर्षोपपत्तिः ॥ ४६ ॥ (२४३)

[अप्रतिघातात्] प्रतिघात-रुकावट न होने से (काच आदि के द्वारा चक्षु-रश्मि की) [सन्निकर्षोपपत्तिः] सन्निकर्ष होना उपपन्न-युक्त है।

काच आदि पदार्थ पारदर्शी होते हैं; ये चक्षुरश्मि का प्रतिघात नहीं करते। चक्षुरश्मि उनमें से पार होकर विषय के साथ सन्निकृष्ट होजाती है, तभी विषय का प्रत्यक्षज्ञान होता है। अतः इन्द्रियों के भौतिक होने में कोई बाधा नहीं है ॥ ४६ ॥

जो यह समझता है कि भौतिक पदार्थ का अप्रतिघात नहीं होता, अर्थात् भौतिक का प्रतिघात होना आवश्यक है, उसका यह समझना ठीक नहीं है। सूत्रकार ने बताया—

आदित्यरश्मेः स्फटिकान्तरितेऽपि दाह्येऽविघातात् ॥ ४७ ॥ (२४४)

[आदित्यरश्मेः] सूर्य की किरणों के, [स्फटिकान्तरिते] स्फटिक (बिल्लौर) से व्यवहित में [अपि] तथा [दाह्ये] पकाये जानेवाले पदार्थ में [अविघातात्] विघात-रुकावट-अवरोध न होने से (भौतिक रश्मियों का)।

सूत्र के 'अविघातात्' पद का सम्बन्ध शेष तीनों पदों के साथ होजाता है—आदित्यरश्मेः-अविघातात्; स्फटिकान्तरिते—अविघातात्; दाह्ये—अविघातात्। तैजस भौतिक रश्मियों की व्यवधान से रुकावट न होने के ये तीन उदाहरण पृथक्-पृथक् हैं। आदित्यरश्मि भौतिक हैं। यदि पानी का घड़ा

ढक्कन देकर धूप में रखदियाजावे, तो घड़े के अन्दर का पानी गरम होजाता है। घड़े की पर्त्त सूर्य की किरणों का अवरोध नहीं करती। व्यवधान को भेद-कर भौतिक सूर्यकिरणें पानी से संयुक्त होकर उसे उष्ण करदेती हैं।

स्फटिक के बने प्रदीपकोष्ठ (आधुनिक काचनिर्मित लालटैन के समान दीपाधानी) में रक्खी दीपशिखा-स्फटिक के पर्त्त का व्यवधान होने पर-बाहर रक्खे पदार्थों को प्रकाशित करदेती है। दीपशिखा से फैलती रश्मियों के भौतिक होने पर भी स्फटिक उनका अवरोधक नहीं होता। वे व्यवधान को पार कर विषय के साथ सन्निकृष्ट हो, उसका ग्रहण करादेती हैं।

चूल्हे पर रक्खी कड़ाही में खाद्य पदार्थ भूनाजाता या तलाजाता है। तवे पर फुलका पकायाजाता है। कड़ाही या तवा तैजस उष्ण रश्मियों का अवरोध नहीं करते। तैजस रश्मियाँ उनमें प्रसृत होकर वहाँ रक्खे पदार्थ के साथ सन्निकृष्ट हो उसे पकादेती हैं। स्पष्ट है, व्यवधान होने पर भी भौतिक तैजस रश्मियों का अवरोध नहीं होता, विषय के साथ रश्मियों का सन्निकर्ष होजाता है। अन्यथा विना सन्निकर्ष के दाह होना संभव न होगा।

सूत्र के 'अविघात' पद का तात्पर्य है-व्यवधायक द्रव्य से व्यवहित द्रव्य की कार्यक्षमता का प्रतिबन्ध न होना। एक घड़े में अच्छा ठण्डा पानी भरा हुआ है। बाहर से छूने पर शीतस्पर्श का त्वगिन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण होता है। शीतस्पर्श जल का गुण-धर्म है। इन्द्रिय के साथ द्रव्य का सन्निकर्ष हुए विना शीतस्पर्श का ग्रहण नहीं होसकता। ग्रहण होने से ज्ञात होता है-घड़े के अन्दर रक्खे जल के अंश घड़े की ढीली बनी पर्त्त में से फैलते हुए बाहर की ओर आजाते हैं। कभी-कभी जलीय अंश बाहर की ओर फैलता व टपकता हुआ स्पष्ट दिखाई देता है। यह इस तथ्य का द्योतक है कि अनेक बार भौतिक पदार्थ का व्यवधान से प्रतिघात नहीं होता। फलतः अप्रतिघात केवल अभौतिक पदार्थ का धर्म हो, ऐसा नियम नहीं है। यह भौतिक पदार्थों में भी देखाजाता है। इसलिये चक्षुरश्मियों का व्यवधान से अप्रतिघात होने पर उनकी भौतिकता बनी रहती है; उसमें किसी बाधा की संभावना नहीं ॥ ४७ ॥

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता सन्दिग्ध—शिष्य जिज्ञासा करता है, इन्द्रियों की यह स्थिति किसी निर्णय पर न पहुँचाकर एक नये सन्देह को उत्पन्न कर देती है। आचार्य ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया—

नेतरेतरधर्मप्रसङ्गात् ॥ ४८ ॥ (२४५)

[न] नहीं (निश्चायक, पूर्वोक्त इन्द्रियविषयक कथन) [इतरेतरधर्म-प्रसङ्गात्] एक-दूसरे से विरोधी धर्म की प्राप्ति के कारण।

इन्द्रियों का काच आदि व्यवधान से अप्रतिघात उनकी अभौतिकता को

सिद्ध करता है; तथा भींत ग्रादि व्यवधान से प्रतिघात होने के कारण उनकी भौतिकता प्राप्त होती है। भौतिक ग्रौर ग्रभौतिक होना, दोनों धर्म एक-दूसरे के विपरीत हैं। इस विरोध-प्रसंग की निवृत्ति के लिये ग्रावश्यक है—भींत ग्रादि से इन्द्रियों का प्रतिघात होने के समान काच ग्रादि से भी प्रतिघात होना स्वीकार कियाजाय। इस दशा में काच ग्रादि से व्यवहित वस्तु का ग्रहण हो जाने के कारण यह स्पष्ट होता है—इन्द्रियाँ विषय के साथ सन्निकर्ष हुए विना उसका ग्रहण करलेती हैं। यह स्थिति विषयग्रहण में इन्द्रियों की ग्रप्राप्यकारिता को प्रकट करती है, जो इन्द्रियों के ग्रभौतिक होने का साधक है। यदि इन्द्रियाँ भौतिक होतीं, तो उनके लिये प्राप्यकारी होना ग्रावश्यक था। विषय के साथ सन्निकर्ष हुए विना विषय का ग्रहण न करसकना भौतिक धर्म है। तब इन्द्रियों को भौतिक क्यों मानाजाय? ग्रभौतिक क्यों न मानाजाय? ग्रन्यथा इसका नियामक कोई कारण बताना चाहिये॥ ४८॥

इन्द्रियों की प्राप्यकारिता में सन्देह नहीं—ग्राचार्य सूत्रकार ने व्यवस्था का नियामक कारण प्रस्तुत करते हुए उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

ग्रादर्शोदकयोः प्रसादस्वाभाव्याद् रूपोपलब्धि-वत्तदुपलब्धिः॥ ४६॥ (२४६)

[ग्रादर्शोदकयोः] ग्रादर्श (शीशा) ग्रौर उदक (पानी) में [प्रसादस्वाभाव्यात्] प्रसाद-स्वच्छता-पारदर्शिता का स्वभाव होने से [रूपोपलब्धिवत्] रूप-स्वरूप की (प्रतिबिम्बरूप में) उपलब्धि के समान [तद्-उपलब्धिः] उस (काच ग्रादि से व्यवहित वस्तु) की उपलब्धि होजाती है।

कुछ पदार्थ ऐसे देखेजाते हैं, जिनमें स्वभावतः स्वच्छता-पारदर्शिता धर्म रहता है। उन पदार्थों की रचना ऐसी है, उनका स्वरूप ऐसा है—वे विषय के साथ सन्निकर्ष होने में इन्द्रिय का प्रतिघात नहीं करते। ऐसे पदार्थों का व्यवधान होने पर इन्द्रिय का व्यवहित विषय के साथ सन्निकर्ष होजाता है। जैसे किसी के सामने शीशा रक्खा है; चक्षु-रश्मियाँ जब उसके परभाग के ग्राधार द्रव्य से टकराकर उलटी लौटती हैं, तो उनका ग्रपने (शीशे के सामने बैठे पुरुष के) मुख के साथ सन्निकर्ष होने पर मुख का ग्रहण होता है। इसप्रकार मुख की उपलब्धि को (मुख के) प्रतिबिम्ब का ग्रहण कहाजाता है। यह शीशे की रचना के सहयोग से होता है, ग्रतः शीशे का ऐसा स्वरूप उसका निमित्त है। यदि शीशे का ग्राधार-पटल दूषित होजाता है, ग्रथवा शीशा खुरदरा होकर धूमिल होजाता है, तो मुख-प्रतिबिम्ब का वैसा ग्रहण नहीं होता। साधारण भींत ग्रादि में ऐसे प्रतिबिम्ब का ग्रहण कभी नहीं होता। यह शीशे ग्रौर भींत के रचनामूलक स्वरूपभेद के कारण है कि एक जगह प्रतिबिम्ब दीखता है, दूसरी जगह नहीं।

ठीक इसीप्रकार चक्षु-रश्मियों का काच, अभ्रक, स्फटिक, सलिल आदि पारदर्शी स्वच्छ पदार्थों से प्रतिघात नहीं होता; रश्मियाँ उन्हें पारकर विषय के साथ सन्निकृष्ट होजाती हैं। भींत आदि से प्रतिघात होजाता है, इसका नियामक उस द्रव्य का स्वभाव है अर्थात् रचनामूलक उसके स्वरूप की ऐसी स्थिति। इससे चक्षु-रश्मियों के भौतिक होने पर भी व्यवधायक पदार्थ के स्वच्छ तथा अस्वच्छ होने से उनका प्रतिघात अथवा अप्रतिघात हुआ करता है। ऐसी स्थिति इन्द्रियों के अभौतिक होने की साधक नहीं है ॥ ४९ ॥

पदार्थ-स्वभाव में किसीका नियोग नहीं—जिस पदार्थ की जैसी रचना है, उसमें किसीका शासन नहीं चलता कि ऐसा क्यों है ? अथवा ऐसा क्यों नहीं ? पदार्थ की इसी स्थिति को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दृष्टानुमितानां नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः ॥ ५० ॥ (२४७)

[दृष्टानुमितानाम्] प्रत्यक्ष से देखेगये तथा अनुमान से जानेगये पदार्थों के विषय में [नियोगप्रतिषेधानुपपत्तिः] नियोग-ऐसा हो, प्रतिषेध-ऐसा न हो, यह व्यवहार अनुपपन्न है।

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से पदार्थ का तात्त्विक स्वरूप ज्ञात होजाता है। जो पदार्थ प्रत्यक्ष से नहीं जानेजाते, उनका ज्ञान अनुमान-प्रमाण से होता है। प्रत्यक्ष और अनुमान-प्रमाण से जाने हुए पदार्थों के स्वरूप के विषय में कोई भी वस्तु-परीक्षा करनेवाला व्यक्ति विधि-निषेधात्मक रूप से ऐसा आदेश नहीं कर सकता कि यह पदार्थ 'ऐसा होवे' अथवा 'ऐसा न होवे'। जो पदार्थ अपनी रचना के अनुसार जैसा है, उसका वही वास्तविक निर्धारित स्वरूप है। ऐसा आदेश कोई नहीं देसकता कि यदि 'रूप'-गुण चक्षु से गृहीत होता है, तो 'गन्ध'-गुण भी चक्षु से गृहीत होना चाहिये; अथवा 'गन्ध' चक्षु से गृहीत नहीं होता, तो 'रूप' भी गृहीत नहीं होना चाहिये। वस्तुस्वभाव जैसा है, उसको वैसा स्वीकार करना पड़ता है। धूम से यदि अग्नि का अनुमान होता है, तो जल का भी होना चाहिये; अथवा धूम से जैसे जल का अनुमान नहीं होता, तो अग्नि का भी नहीं होना चाहिये; ऐसे निर्देश कोई बुद्धिमान् व्यक्ति नहीं कर सकता। क्योंकि जो पदार्थ जैसा है, उसका रचनामूलक जो स्वरूप है, अस्तित्व है, उसका जो अपना धर्म है, वह प्रमाण से वैसा ही प्रतिपादित किया जाता है। वही प्रमाण का विषय होता है।

इसके विपरीत जिज्ञासु का विधि-निषेधरूप यह निर्देश कि—काच आदि के समान भींत आदि से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात न होना चाहिये, अथवा भींत आदि के समान काच आदि से प्रतिघात होना चाहिये, ऐसा निर्देश बुद्धि-मत्तापूर्ण नहीं है। वस्तु-स्वभाव जैसा है, उसे किसी आदेश द्वारा अन्यथा नहीं

किया जासकता। वस्तुविशेष के व्यवधान से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात अथवा अप्रतिघात होना विषयवस्तु की उपलब्धि अथवा अनुपलब्धि पर निर्भर है। यदि काच आदि का व्यवधान होने पर व्यवहित विषय-वस्तु का चक्षु-रश्मियों द्वारा ग्रहण होजाता है, तो निश्चय है, काच आदि से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात नहीं हुआ। तभी इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष होने से अर्थ-ग्रहण संभव होता है। यदि चाक्षुष प्रत्यक्ष में इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष अपेक्षित न हो, तो व्यवहित दूरस्थित प्रत्येक पदार्थ का चाक्षुष प्रत्यक्ष होना चाहिये। पर यह संभव नहीं। अतः काच आदि के व्यवधान में वस्तु का प्रत्यक्ष होजाना इन्द्रिय-अर्थ के परस्पर सन्निकर्ष का द्योतक है। सन्निकर्ष होना काच आदि से चक्षु-रश्मियों के अप्रतिघात को सिद्ध करता है।

यह स्थिति भींत आदि में नितान्त नहीं है। इनका व्यवधान होने पर चक्षुरश्मि द्वारा व्यवहित विषयवस्तु की उपलब्धि नहीं होती। उपलब्धि का न होना सिद्ध करता है–इन्द्रिय का अर्थ के साथ सन्निकर्ष नहीं होरहा। सन्निकर्ष का न होना भींत आदि से चक्षु-रश्मियों के प्रतिघात का साधक है। फलतः भींत आदि से चक्षु-रश्मियों का प्रतिघात और काच आदि से अप्रतिघात वस्तु-स्वभाव के कारण है; इससे चक्षु-रश्मियों के अस्तित्व तथा उनके भौतिक होने में कोई बाधा नहीं आती। चक्षु के समान सभी इन्द्रियों का भौतिक होना प्रमाणित होता है॥ ५०॥

इन्द्रिय एक या अनेक—गत प्रकरण से इन्द्रियों का भौतिक होना सिद्ध होजाने पर शिष्य जिज्ञासा करता है–इन्द्रिय एक मानना चाहिये, अथवा अनेक? इस विषय में संशय के कारणों को–शिष्य-भावना का ध्यान रखते हुए–स्वयं सूत्रकार ने प्रस्तुत किया—

स्थानान्यत्वे नानात्वादवयविनानास्थानत्वाच्च संशयः॥ ५१॥ (२४८)

[स्थानान्यत्वे] स्थान के अन्य–भिन्न होने पर [नानात्वात्] नाना–अनेक होने से (वस्तुओं के), [अवयविनानास्थानत्वात्] अवयवी के (एक ही अवयवी वस्तु के) नाना–अनेक स्थान (आधार-आश्रय) होने से [च] तथा [संशयः] संशय होता है (इन्द्रियों के विषय में)।

घट, पट आदि अनेक पदार्थ विभिन्न स्थानों पर रक्खे रहते हैं, इससे उनका एक-दूसरे से पृथक् होना तथा बहुत होना सर्वविदित है। क्या इसीप्रकार अपने-अपने गोलकों में एक-दूसरे से पृथक् रहते हुए इन्द्रियों को बहुत मानना चाहिये? अथवा अनेक आश्रयों में रहनेवाले एक अवयवी के समान अनेक गोलकों में आश्रित इन्द्रिय को केवल एक मानना चाहिये? वस्तुओं का दोनों

प्रकार से देखाजाना संशय का कारण है। प्रत्येक अवयवी अपने अनेक अवयवरूप उपादान-कारणों में आश्रित रहता है। अवयवी एक है, आश्रय अनेक हैं। ऐसे ही इन्द्रिय एक होता हुआ अनेक गोलकरूप आश्रयों में रहसकता है ॥ ५१ ॥

'त्वक्' एक इन्द्रिय केवल—'स्थूणानिखननन्याय' के अनुसार विषय के विवेचन और दृढ़तापूर्वक सिद्धान्त की स्थापना के विचार से सूत्रकार ने प्रथम एकदेशी पक्ष का आश्रय लेकर कहा—

त्वगव्यतिरेकात् ॥ ५२ ॥ (२४६)

[त्वक्] त्वक् (नाम का एक इन्द्रिय है) [अव्यतिरेकात्] व्यतिरेक–भेद न होने से।

त्वक् नाम के एक इन्द्रिय को मानना युक्त है। कारण यह है–शरीर में इन्द्रिय का कोई स्थान ऐसा नहीं, जहाँ त्वक् पहुँचा न हो। समस्त गोलक त्वक् से व्याप्त हैं। सम्पूर्ण शरीर को त्वक् सब ओर से घेरे हुए है। जब त्वक् चक्षु-गोलक में स्थित रहती है, तब रूप का ग्रहण करती है; जब नासिका के अग्रभाग में रहती है, तब गन्ध का ग्रहण करती है। इसीप्रकार जिह्वा के अग्रभाग में रस का एवं कर्णशष्कुली में रहते शब्द का ग्रहण करती है। स्पर्श का ग्रहण समस्त शरीर में होता रहता है। किसी विषय का ग्रहण ऐसे गोलक से नहीं होता, जहाँ त्वक् विद्यमान न हो। अतः जिसने सब गोलकों को व्याप्त किया हुआ है, और जिसके होने पर सब विषयों का ग्रहण होता है; वह एकमात्र इन्द्रिय त्वक् है। उसीके द्वारा स्थानभेद से रूप आदि समस्त विषयों का ग्रहण होना सम्भव है। एक से कार्य सम्पन्न होजाने पर अनेक इन्द्रिय मानना अनावश्यक है।

'त्वक्' एक इन्द्रिय विवेचन—इस मान्यता के प्रतिषेध के लिए एक युक्ति इसप्रकार प्रस्तुत कीजाती है—

१. प्रत्यक्ष अनुभव के अनुसार त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण करता है। देखाजाता है–त्वक्-इन्द्रिय से स्पर्श का ग्रहण होने पर अन्धे व्यक्ति के द्वारा रूप का ग्रहण नहीं होता। यदि इन्द्रिय केवल एक त्वक् हो, और उसीके द्वारा रूप, गन्ध आदि सब विषयों का ग्रहण होना मानाजाय, तो अन्धे व्यक्ति को रूप का ग्रहण होना चाहिये, क्योंकि त्वक्-इन्द्रिय उसका यथावत् विद्यमान रहता है; स्पर्श का ग्रहण करने में उसे कोई बाधा नहीं होती। परन्तु रूप का ग्रहण वह नहीं करसकता। अतः केवल त्वक् एक इन्द्रिय का मानाजाना सर्वथा असंगत है।

यदि कहाजाय, त्वक् के अवयवविशेष से रूप का ग्रहण होता है; उसके न रहने पर अन्धे व्यक्ति को रूप दिखाई नहीं देता। जैसे–त्वक् के अवयवविशेष चक्षुगोलक में यदि धुआँ लगता है, तो उसके स्पर्श का अनुभव होजाता है, अन्य

भागों पर नहीं होता। इसीप्रकार त्वक्-इन्द्रिय का एक विशेष अवयव रूप का ग्रहण करलेता है, अन्य अवयवों द्वारा वह कार्य नहीं होपाता। अन्धे व्यक्ति का रूपग्राहक त्वक्-अवयव विकृत होजाने से रूप का ग्रहण नहीं होता। इसलिए त्वक् से अतिरिक्त इन्द्रिय मानना अनावश्यक है।

त्वक्–एकेन्द्रियवादी का उक्त कथन परस्पर-विरुद्ध होने से दोषपूर्ण है। वादी ने पहले कहा–एकमात्र इन्द्रिय त्वक् है। अब कहता है–त्वक् के अवयव-विशेष से रूप का ग्रहण होता है। इसका तात्पर्य हुआ, जितने ग्राह्य विभिन्न विषय हैं, उनके अनुसार उनका ग्राहक साधन होगा। एकमात्र त्वक् सब विषयों का ग्रहण नहीं करपाता। जो अवयवविशेष स्पर्श का ग्रहण करता है, वह रूप का ग्रहण नहीं करपाता; तथा जो रूप का ग्रहण करता है, वह गन्ध का ग्रहण नहीं करपाता। इसप्रकार जितने रूप आदि विषय हैं; उनके ग्राहक उतने अवयवविशेष हैं, जो एक-दूसरे से भिन्न हैं। उनका अपना वैशिष्ट्य परस्पर सबका भेदक है। इस रूप में विभिन्न विषयों के ग्राहक-साधन अनेक सिद्ध होजाते हैं। यह कथन पहले कथन–केवल त्वक् एक इन्द्रिय है–के विरुद्ध है, अतः असंगत व अमान्य है।

इसके अतिरिक्त एकमात्र त्वक्-इन्द्रिय की सिद्धि के लिए प्रयुक्त 'अव्यतिरेक' हेतु संदिग्ध है, अतः साध्य का साधक नहीं होसकता। 'अव्यतिरेक' का तात्पर्य है–सब इन्द्रियों का त्वक् से भिन्न न होना। इस अभेद का साधक बताया–सब इन्द्रियों के गोलकों में त्वक् का व्यापक होना। इसके अनुसार सब इन्द्रियों का एक होना तभी मानाजासकता है, जब नियमपूर्वक व्याप्य और व्यापक को अभिन्न मानाजाय। परन्तु व्याप्य-व्यापक का अभिन्न होना असम्भव है। यह सम्बन्ध दो के परस्पर भिन्न होने पर सम्भव होता है। जब त्वक् सर्वत्र गोलकों में व्यापक है, तो निश्चित ही व्याप्य उससे भिन्न है। तब उनके 'अव्यतिरेक' का अस्तित्व संदिग्ध होजाता है।

इस विषय में यह भी ज्ञातव्य है–त्वक् से व्याप्त होने के समान प्रत्येक गोलक पृथिवी आदि पाँच भूतों से भी व्याप्त रहता है। शरीर का कोई अंश ऐसा नहीं, जहाँ पाँचों भूत विद्यमान न हों। यद्यपि शरीर की रचना में उपादानभूत तत्त्व केवल पार्थिव अवयव होते हैं, परन्तु शेष भूतों का निमित्तरूप में सहयोग अनिवार्य मानागया है [३। १। २८-२९]। इसलिए शरीर का कोई भाग ऐसा नहीं, जो पाँचों भूतों से व्याप्त न हो। इन्द्रियगोलक शरीर का भाग होने के कारण पाँचों भूतों से व्याप्त हैं। यदि व्यापक होना विषयग्रहण के साधन का प्रयोजक हो, तो त्वक् के समान पञ्चभूत को भी सर्वविषयग्राहक मानना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है; पञ्चभूतों की संघटित विषयग्राहकता किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। तब केवल इन्द्रियगोलकों में व्यापक होने से त्वक्

की सर्वविषयग्राहकता सन्दिग्ध होजाती है। फलतः त्वक् अथवा कोई अन्य एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्राहक नहीं होसकता ॥ ५२ ॥

इन्द्रिय एक नहीं—एकेन्द्रियवाद की मान्यता के प्रतिषेध के लिए सूत्रकार ने स्वयं कहा—

न युगपदर्थानुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (२५०)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [युगपत्] एक-साथ [अर्थानुपलब्धेः] अर्थों–विषयों की उपलब्धि न होने से।

सब विषयों को ग्रहण करनेवाला एक इन्द्रिय मानने पर एक-साथ सब विषयों का ग्रहण होजाना प्राप्त होगा। कोई ऐन्द्रियक ज्ञान होने के लिए इन्द्रिय का अर्थ के साथ, मन का इन्द्रिय के साथ, आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध होना अपेक्षित होता है। यदि सब विषयों का ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय एक है, तो उसका एक-साथ अनेक विषयों से सम्बन्ध होना सम्भव है। उस दशा में अनेक विषयों का ज्ञान एक काल में होजाना चाहिए। परन्तु इसप्रकार एक-साथ रूप, रस आदि अनेक विषयों का ज्ञान कभी नहीं होता। इसलिए यह कथन निराधार है–सब विषयों का ग्रहण करनेवाला इन्द्रिय एक है। रूप-रस आदि अर्थों के ज्ञान का साहचर्य [एक-साथ होजाना] न होने से सब विषयों के ग्राहक एक इन्द्रिय का मानाजाना अयुक्त है।

यदि ऐसा सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय स्वीकाराजाता है, तो संसार में अन्ध, बधिर आदि का होना अनुपपन्न होजायगा। क्योंकि चक्षु आदि के न रहने पर स्पर्श का ग्रहण होते रहने से और सर्वविषयग्राहक एक इन्द्रिय मानेजाने से स्पर्श के साथ उसी इन्द्रिय द्वारा रूपादि का ग्रहण प्राप्त होने से अन्ध-बधिर आदि का होना असम्भव होगा। परन्तु स्पर्श, रूप आदि अर्थों के ज्ञानों का न तो साहचर्य होता, और न संसार में अन्धों बहरों आदि का अभाव; इसलिए सब विषयों के ग्रहण करनेवाले एक इन्द्रिय का मानाजाना सर्वथा निराधार है ॥ ५३ ॥

'त्वक्' केवल एक इन्द्रिय नहीं—एकेन्द्रियवाद में आचार्य सूत्रकार ने अन्य दोष प्रस्तुत किया—

विप्रतिषेधाच्च न त्वगेका ॥ ५४ ॥ (२५१)

[विप्रतिषेधात्] विरोध होने से [च] भी [न] नहीं [त्वक्] त्वक् नामक [एका] एकमात्र इन्द्रिय।

प्रत्यक्ष का विरोध होने से एकमात्र त्वक्-इन्द्रिय का मानना अयुक्त है। रूपग्राहक चक्षु–इन्द्रिय द्वारा दूरस्थित रूप का ग्रहण होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष होना आवश्यक है, इस व्यवस्था के अनुसार

चक्षु-इन्द्रिय का दूरस्थित विषय के साथ सन्निकर्ष चक्षु-रश्मियों द्वारा होता है। यदि केवल त्वक् एक इन्द्रिय मानाजाता है, तो दूरस्थित पदार्थ के साथ त्वक् का सन्निकर्ष सम्भव नहीं; तब उस पदार्थ और उसके रूप का–त्वक-इन्द्रिय द्वारा–ग्रहण सन्निकर्ष के विना मानना पड़ेगा। ऐसी स्थिति में त्वक्-इन्द्रिय अप्राप्यकारी होगा। अप्राप्यकारी का तात्पर्य है–ग्राह्य विषय को प्राप्त हुए विना–विषय के साथ सन्निकर्ष के विना--विषय को ग्रहण करनेवाला। इसप्रकार यदि त्वक्-इन्द्रिय को अप्राप्यकारी मानाजाता है, तो भींत आदि से व्यवहित तथा दूरस्थित अदृश्य पदार्थ का प्रत्यक्ष होजाना चाहिये। परन्तु यह कभी सम्भव नहीं। इसलिए त्वक्-इन्द्रिय को रूप आदि सब विषयों का ग्रहण करनेवाला नहीं मानाजासकता।

यदि कहाजाय कि त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श का ग्रहण तो विषय के साथ सन्निकृष्ट होकर करता है, पर रूप आदि का ग्रहण सन्निकर्ष के विना करलेता है; अतः वह प्राप्यकारी और अप्राप्यकारी उभयप्रकार की क्षमतावाला इन्द्रिय मानाजासकता है। यह कथन असंगत है, क्योंकि एक धर्मी में दो विरोधी धर्मों का होना प्रमाणविरुद्ध है। इसके अतिरिक्त इन्द्रिय के अप्राप्यकारी होने से व्यवहित और विप्रकृष्ट (दूरस्थित, अदृश्य) पदार्थों का ग्रहण होजाना प्राप्त होता है; जो सर्वथा प्रत्यक्षविरुद्ध है। आवरण आदि के रहने पर तथा दूरस्थित पदार्थ का त्वक्-इन्द्रिय से ग्रहण कभी नहीं होता। अन्यथा रूप की उपलब्धि और अनुपलब्धि में समीप और दूर एवं अव्यवहित-व्यवहित होने की कारणता का विलोप होजायगा, कहीं भी स्थित पदार्थ के रूप का ग्रहण समानरूप से होजाया करेगा। परन्तु ऐसा कभी सम्भव न होने से एकमात्र त्वक्-इन्द्रिय को मानना सर्वथा निराधार है॥ ५४॥

इन्द्रियाँ केवल पाँच—गत प्रकरण में इन्द्रिय के एकत्व का प्रतिषेध होने से अनेकता प्राप्त होती है; उसमें संख्या-व्यवस्था के लिए सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्॥ ५५॥ (२५२)

[इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्] इन्द्रियों के अर्थ (ग्राह्यविषय) पाँच होने से (पाँच इन्द्रिय होना प्रमाणित होता है)।

सूत्र में प्रयुक्त 'अर्थ' पद का तात्पर्य है–प्रयोजन अथवा उपयोग; इन्द्रिय का प्रयोजन क्या है? किसी नियत विषय का ज्ञान कराने में सहयोग देना। त्वक्-इन्द्रिय स्पर्श का ज्ञान कराने में साधन है; परन्तु उसी इन्द्रिय से रूप का ग्रहण नहीं होता; रूप के ग्रहण के लिए चक्षु-इन्द्रिय का अस्तित्व अनुमान से निर्धारित कियाजाता है। इसीप्रकार गन्ध के ग्रहण में इन दोनों [त्वक्, चक्षु]

इन्द्रियों का कोई उपयोग नहीं होता, उसके लिए घ्राण-इन्द्रिय का अनुमान होता है। ऐसे ही रस और शब्द के ज्ञान के लिए रसन और श्रोत्र - इन्द्रिय अनुमित होते हैं। ये पाँच विभिन्न विषय हैं—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द। इनके ग्रहण के लिए पाँच इन्द्रिय अपेक्षित होते हैं, क्योंकि किसी एक इन्द्रिय के द्वारा इनमें से एकाधिक विषय का ग्रहण करना सम्भव नहीं होता। इसलिए ज्ञानग्राहक इन्द्रियाँ केवल पाँच हैं, यह निर्धारित होता है ॥ ५५ ॥

'अर्थपञ्चत्व' हेतु असाधन—शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि विषयग्रहण की दृष्टि से इन्द्रियाँ पाँच मानीजाती हैं; तो विषयों के बहुत होने के कारण इन्द्रियों की संख्या और अधिक मानीजानी चाहिये। शिष्य-भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न तदर्थबहुत्वात् ॥ ५६ ॥ (२५३)

[न] नहीं (युक्त, इन्द्रियों का पाँच होना) [तदर्थबहुत्वात्] उन-इन्द्रियों के अर्थ (ग्राह्यविषय) बहुत होने से।

पाँच विषयों के ग्रहण कियेजाने के आधार पर इन्द्रियों का पाँच सिद्ध कियाजाना युक्त नहीं है। कारण यह है—इन्द्रियों के यथायथ पूर्वोक्त विषय अपने क्षेत्र में ही बहुत होते हैं। जैसे त्वक् का विषय स्पर्श है, पर स्पर्श के अनेक भेद हैं—उष्णस्पर्श, शीतस्पर्श, अनुष्णाशीतस्पर्श, मृदुस्पर्श, कठोरस्पर्श आदि। ऐसे चक्षु का ग्राह्यविषय रूप है, परन्तु रूप के नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र आदि अनेक भेद हैं, जो एकदूसरे से भिन्न होते हैं। इसीप्रकार गन्ध, रस और शब्द विषयों को अनेक भेदों में विभक्त जानाजाता है। सुरभि-असुरभि आदि गन्ध; मधुर, अम्ल, लवण, कटु, कषाय, तिक्त आदि रस; ध्वनिमात्र तथा वर्णात्मक आदि शब्द; इनमें अन्य अनेक अवान्तर भेद। ऐसी स्थिति में जो यह कहता है कि ग्राह्य विषय पाँच होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं; उसके अनुसार विषयों की संख्या बहुत अधिक होने से इन्द्रियाँ उतनी मानीजानी चाहियें ॥ ५६ ॥

'अर्थपञ्चत्व' हेतु यथार्थ—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

गन्धत्वाद्यव्यतिरेकाद् गन्धादीनामप्रतिषेधः ॥ ५७ ॥ (२५४)

[गन्धत्वादि-अव्यतिरेकात्] गन्धत्व आदि से अभेद होने के कारण [गन्धादीनाम्] सबप्रकार के गन्ध आदि का, [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध अयुक्त है।

गन्धत्व जाति से युक्त सबप्रकार के गन्ध एक श्रेणी में आजाने से अभिन्न हैं। सुरभि, असुरभि, आदि भेद होने पर भी वे सब 'गन्ध' हैं। गन्धरूप में सबका अभेद है। नील, पीत, हरित आदि कोई भेद हो, वह सब 'रूप' है। इसी-

प्रकार रसत्व, स्पर्शत्व, शब्दत्व आदि जातियों से विशिष्ट समस्त रस, स्पर्श, शब्द अपने वर्ग में एकात्मता से सीमित रहते हैं, इसलिए समस्त गन्धसमूह घ्राण का, रससमूह रसन का, रूपसमूह चक्षु का, स्पर्शसमूह त्वक् का और शब्दसमूह श्रोत्र का अनुमान कराते हैं; गन्ध आदि विषयों का केवल एकदेश घ्राण आदि का अनुमापक नहीं होता, जिससे अन्य एकदेश के ग्रहण के लिए इन्द्रियान्तर की कल्पना करना अपेक्षित हो। गन्धमात्र घ्राण का अनुमापक होता है; ऐसे रूपमात्र आदि यथायथ चक्षु आदि के। फलतः विषयसमूह के एकदेश को लेकर पाँच इन्द्रिय होने का प्रतिषेध करना असंगत है।

समस्त गन्ध–उसको ग्रहण करने के असाधारण साधन–घ्राण-इन्द्रिय से गृहीत होजाते हैं। इसीप्रकार समस्त रस रसन-इन्द्रिय से, समस्त रूप चक्षु-इन्द्रिय से, समस्त स्पर्श त्वक्-इन्द्रिय से तथा समस्त शब्द श्रोत्र-इन्द्रिय से गृहीत होजाने के कारण कोई विषय ऐसा शेष नहीं रहता, जो अन्य साधन की कल्पना का प्रयोजक हो। इसप्रकार इन्द्रियों के ग्राह्यविषय पाँच वर्ग में सीमित होने से उनके ग्राहक इन्द्रिय पाँच हैं, यह प्रमाणित होता है; न न्यून न अधिक ॥ ५७ ॥

'विषयत्व' सामान्य एकेन्द्रिय-साधक—शिष्य पुनः आशंका करता है, यदि सामान्य (जाति) के आधार पर समस्त ग्राह्य अर्थ को एक वर्ग में संगृहीत करलियाजाता है, तो 'विषयत्व' सामान्य से समस्त विषय को एक वर्ग में लाकर केवल एक इन्द्रिय उसका ग्राहक क्यों न मानलियाजाय? सूत्रकार ने शिष्यभावना को सूत्रित किया—

'विषयत्वाव्यतिरेकादेकत्वम् ॥ ५८ ॥ (२५५)

[विषयत्वाव्यतिरेकात्] 'विषयत्व' के आधार पर अव्यतिरेक–अभेद से (सब विषयों के एक वर्ग में समीकृत होजाने से) [एकत्वम्] एक होना (इन्द्रिय का, प्राप्त होता है)।

'गन्धत्व' सामान्य से समस्त गन्ध को एक वर्ग में मानकर उसके ग्राहक इन्द्रिय-विशेष का अनुमान कियाजाता है। ऐसे रसवर्ग आदि से रसन आदि इन्द्रिय-विशेष का। तब पाँच इन्द्रिय क्यों मानना? 'विषयत्व' सामान्य से गन्ध, रस, रूप आदि समस्त विषयों को एक वर्ग में संगृहीत कर उसका ग्राहक एक इन्द्रिय पर्याप्त मानलेना चाहिये ॥ ५८ ॥

'विषयत्व' सामान्य इन्द्रियैकत्व का असाधक—आचार्य सूत्रकार ने आशंका का निराकरण करते हुए यथार्थ को समझाया—

न, बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजाति-
पञ्चत्वेभ्यः ॥ ५९ ॥ (२५६)

[न] नहीं (युक्त, 'विषयत्व' धर्म के आधार पर सब विषयों की एकता

से इन्द्रिय का एक बताना) [बुद्धिलक्षणाधिष्ठानगत्याकृतिजातिपञ्चत्वेभ्यः] ज्ञान-लक्षण, अधिष्ठान, गति (विषयग्रहण के विविध प्रकार), आकृति और जाति (कारण) के पाँच होने से।

विषयत्व-धर्म से सब विषयों की एकता का उपपादन कर उसके आधार पर इन्द्रिय का एक बताना किसीप्रकार युक्त नहीं है; क्योंकि इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान-लक्षण आदि एक-दूसरे से भिन्न होते हुए पाँच प्रकार के देखेजाते हैं। उनके आधार पर इन्द्रियों का पाँच होना प्रमाणित होता है। इसलिए 'विषयत्व' सामान्य से एक वर्ग में संगृहीत गन्ध, रस, रूप आदि विषय विभिन्न ग्राहक-साधनों की अपेक्षा न रखते हुए नहीं जानेजाते; प्रत्युत गन्ध आदि विषय अपने 'गन्धत्व' आदि सामान्यों से अपने विशिष्ट वर्ग में एकीभूत हुए विभिन्न इन्द्रियों द्वारा गृहीत होते देखेजाते हैं। अतः विषयमात्र का ग्राहक एक इन्द्रिय का मानाजाना असंगत है। सूत्रकार ने अपने कथन में पाँच हेतु प्रस्तुत किये। पहला हेतु है—

बुद्धि-लक्षण—'बुद्धि' ज्ञान को कहते हैं। गन्ध आदि ज्ञान अलग-अलग पाँच हैं, जो अपने ग्राहक पाँच इन्द्रियों का अनुमान कराते हैं। गन्धज्ञान से घ्राण-इन्द्रिय का, रसज्ञान से रसन का, रूपज्ञान से चक्षु का, स्पर्शज्ञान से त्वक् का और शब्दज्ञान से श्रोत्र-इन्द्रिय का अनुमान होता है। इस तथ्य को सूत्रकार ने 'इन्द्रियार्थपञ्चत्वात्' [३। १। ५५] सूत्र से प्रकट किया है। अतः इन्द्रियों का अनुमान करानेवाले ज्ञानलिङ्गों के पाँच होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं, यह स्पष्ट होता है।

अधिष्ठान—शरीर में इन्द्रियों के स्थान-गोलक अलग-अलग पाँच हैं, जहाँ से इन्द्रिय बाह्य विषय के साथ सम्बद्ध होकर ज्ञानोत्पत्ति में साधन होता है। गन्धग्राहक घ्राण-इन्द्रिय का अधिष्ठान नासिका के अग्रभाग में है; रसग्राहक रसन का जिह्वा के अग्रभाग में, रूपग्राहक चक्षु का गोलकवर्ती कृष्णतारा के अग्रभाग में, जो रश्मियों द्वारा बाहर रूपादि विषय से सम्बद्ध हो उसका ग्रहण करता है। स्पर्शग्राहक त्वक्-इन्द्रिय समस्त शरीर पर व्याप्त त्वक् (त्वचा-चर्माग्रभाग) में अधिष्ठित रहता है; शब्दग्राहक श्रोत्र कान के छेद में अन्दर की ओर अवस्थित रहता है। इसप्रकार शरीर में इन्द्रियों के पाँच पृथक् अधिष्ठान इन्द्रियों के पाँच होने में प्रमाण हैं।

गति—गतिभेद से इन्द्रियों का भिन्न होना स्पष्ट होता है। 'गति' का तात्पर्य है–विषयग्रहण का प्रकार। तैजस चक्षु कृष्णतारा से सीमित स्थान में होकर बाहर निकलती रश्मियों द्वारा बहिःस्थित रूपाश्रय द्रव्य को प्राप्त होकर ग्राह्य विषय का ग्रहण करता है। घ्राण, रसन और त्वक्-इन्द्रियों के गन्ध आदि विषय अपने आश्रय द्रव्य के साथ इन्द्रिय-सान्निध्य में आने पर गृहीत होते हैं।

दूर देश में अपने निमित्तों से उत्पन्न शब्द-सन्ततिद्वारा श्रोत्र-इन्द्रिय से प्रत्यासन्न होने पर गृहीत होता है। इसरूप में इन्द्रियों द्वारा ज्ञान होने के प्रकार में भेद होने से इन्द्रिय का एक मानाजाना सम्भव नहीं।

आकृति—आकृति-आकार-परिमाण-रूपादि ग्राहक इन्द्रियों का भिन्न-भिन्न है। यद्यपि इन्द्रियाँ अतीन्द्रिय हैं, अदृश्य हैं, उनके आकार या परिमाण की कल्पना करना अधिक प्रामाणिक नहीं, फिर भी यह कथन इन्द्रियों के विभिन्न गोलकों की भावना से अथवा विषयग्रहण की पद्धति के आधार पर कियागया है। घ्राण, रसन और स्पर्शन (त्वक्) इन्द्रियाँ केवल अपने निश्चित गोलक प्रदेश में रहती हैं, और जो ग्राह्य विषय उनके स्थितिप्रदेश में आकर सम्बद्ध होता है, उसीका वे ग्रहण करती हैं; इसीसे उनके अस्तित्व का अनुमान कियाजाता है। तैजस चक्षु अपने गोलक के मध्य काली पुतली के सहारे रश्मियों द्वारा उस स्थान से बाहर निकल अपने ग्राह्य विषय को व्याप्त करता है। यह गोलक और विषयग्रहण की पद्धति अन्य इन्द्रियों से भिन्न है। श्रोत्र-इन्द्रिय साक्षात् आकाशरूप है, इसीकारण विभु है, सर्वत्र विद्यमान है। केवल शब्द के ज्ञान से इसका अनुमान होता है। प्राणी के संस्कार अथवा धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट को इसमें निमित्त अथवा सहयोगी कारण समझना चाहिये, जो शरीरावयव कान के प्रदेश से परिच्छिन्न (घिरा हुआ) आकाश शब्द का व्यञ्जक होता है; अपरिच्छिन्न आकाश नहीं। श्रोत्र-इन्द्रिय का ऐसा आकार-प्रकार अन्य सब इन्द्रियों से भिन्न है। इसप्रकार गोलक व विषयग्रहण की पद्धति के आधार पर इन्द्रियों के आकार विभिन्न होने से इन्द्रिय एक न होकर अनेक मानी जाती हैं।

जाति—जाति का अर्थ है–कारण। 'जायतेऽस्मादिति जातिः' जिससे कोई कार्य उत्पन्न हो, वह उस कार्य का 'जाति' है, जन्मदाता है, कारण है। इन्द्रियों के पृथक्-पृथक् पाँच पृथिवी आदि भूत कारण हैं। घ्राण का कारण पृथिवी, रसन का जल, चक्षु का तेज, त्वक् का वायु कारण है। श्रोत्र साक्षात् आकाश-रूप है। इसप्रकार इन्द्रियों के उपादानकारण अलग-अलग पृथिवी आदि पाँच भूत होने से इन्द्रियाँ पाँच हैं, यह प्रमाणित होता है। इन हेतुओं से सिद्ध हो जाता है, इन्द्रिय एक न होकर पाँच हैं॥ ५६॥

'घ्राण' आदि के कारण पृथिवी आदि भूत—शिष्य जिज्ञासा करता है, घ्राण आदि इन्द्रियों के उपादान-कारण पृथिवी आदि भूत बतायेगये; पर यह कैसे ज्ञात होता है कि इनके उपादानकारण पृथिवी आदि पाँच भूत हैं, अन्य कोई अव्यक्त तत्त्व नहीं? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

भूतगुणविशेषोपलब्धेस्तादात्म्यम्॥ ६०॥ (२५७)

[भूतगुणविशेषोपलब्धेः] भूतों के गुण-विशेषों की उपलब्धि से (विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा) [तादात्म्यम्] तदात्मकता-उन-उन भूतों की कारणता (जानी जाती है यथायथ विभिन्न इन्द्रियों के प्रति)।

अनुभव से जानाजाता है–घ्राण-इन्द्रिय केवल गन्ध गुण का ग्रहण करता है। गन्ध केवल पृथिवी का विशेषगुण है। जो जिसका कार्य है, वह उसीके विशेष-गुण का ग्रहण करनेवाला होना चाहिये। घ्राण-इन्द्रिय पृथिवी के विशेषगुण गन्ध का ग्राहक है, अतः घ्राण पृथिवी का कार्य है, यह सिद्ध होता है।

यही नियम अन्य इन्द्रियों के विषय में देखाजाता है। रसन-इन्द्रिय केवल रसगुण का ग्रहण करता है, यह जलों का विशेषगुण है; अतः रसन-इन्द्रिय जलीय है। चक्षु रूप का ग्रहण करता है, रूप तेज का विशेषगुण है, अतः रूप का व्यञ्जक होने से चक्षु-इन्द्रिय तैजस है, त्वक्-इन्द्रिय स्पर्शगुण का अभि-व्यञ्जक है, स्पर्श वायु का विशेषगुण है; अतः स्पर्श-ग्राहक त्वक्-इन्द्रिय वायु का कार्य है। इसप्रकार विभिन्न इन्द्रियों के द्वारा भूतों के यथायथ गुण-विशेषों की उपलब्धि का यह नियम घ्राण आदि इन्द्रियों की पृथिवी आदि भूतकारणता को सिद्ध करता है।

यदि अव्यक्तप्रकृतिक इन्द्रियाँ हों, अर्थात् इन्द्रियों का उपादानकारण कोई अव्यक्त तत्त्व अहङ्कार, अथवा अहङ्कार द्वारा मूल प्रकृति को मानाजाय, तो उस अवस्था में गुणविशेषों की अभिव्यक्ति न होने के कारण, अथवा तब वहाँ समस्त गुणों के अन्तर्हितरूप में विद्यमान रहने के कारण उससे उत्पन्न समस्त इन्द्रियों में समस्त गुणों के ग्रहण करने की क्षमता अभिव्यक्त होनी चाहिये; क्योंकि कार्य सदा कारण के अनुरूप होता है। कारण में जब समस्त गुण अन्तर्हित हैं, तो उसके कार्य में समस्त गुणों की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। परन्तु अनुभव इसके विपरीत है। विभिन्न इन्द्रियाँ केवल किसी एक गुणविशेष का ग्रहण करती हैं; तब वैसा ही उसका उपादानकारण अनुमान कियाजाता है। फलतः एक-एक भूतगुणविशेष की उपलब्धि के साधन होने से इन्द्रियों को उन-उन भूतों का कार्य मानाजाना अधिक प्रामाणिक है, न कि किसी अव्यक्त तत्त्व का कार्य मानाजाना॥ ६०॥

अर्थ-परीक्षा—इन्द्रिय-परीक्षा के अनन्तर अब अर्थ-परीक्षा का अवसर है। शास्त्र के प्रारम्भिक सूत्र [१।१।१४] में उद्देशरूप से यह बताया है–गन्ध आदि पृथिवी आदि द्रव्यों के गुण, तथा इन्द्रियों के 'अर्थ' हैं। 'अर्थ' पद का तात्पर्य है–ग्राह्य विषय। इन्द्रियों के द्वारा इन गुणों का ग्रहण कियाजाता है। ऐसा कथन–पृथिवी आदि का एक गुण मानने पर अथवा अनेक गुण मानने पर- दोनों अवस्थाओं में सम्भव है। इसलिये स्वभावतः यह जिज्ञासा होती है

कि गन्ध आदि गुणों में से कोई एक-एक पृथिवी आदि के गुण हैं, अथवा अधिक भी होसकते हैं ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानां स्पर्शपर्यन्ताः पृथिव्याः ॥६१॥ (२५८)
अप्तेजोवायूनां पूर्वंपूर्वमपोह्याकाशस्योत्तरः ॥ ६२ ॥ (२५९)

[गन्धरसरूपस्पर्शशब्दानाम्] गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द के [स्पर्श-पर्यन्ताः] स्पर्श तक (चार गुण) [पृथिव्याः] पृथिवी के हैं ॥ [अप्तेजोवायूनाम्] जल, तेज, वायु के-(यथाक्रम) [पूर्वं पूर्वम्] पहले-पहलों को [अपोह्य] छोड़-कर-(शेष गुण हैं); [आकाशस्य] आकाश का [उत्तरः] अगला (स्पर्शपर्यन्तों से) शब्द गुण है।

सूत्रनिर्दिष्ट गन्ध आदि पाँच गुणों में से पहले चार गन्ध, रस, रूप, स्पर्श पृथिवी के गुण हैं। इनमें से पहले एक 'गन्ध' को छोड़कर शेष तीन गुण—रस, रूप, स्पर्श जल के गुण हैं। पहले दो–गन्ध, रस को छोड़कर शेष दो गुण—रूप, स्पर्श, तेज के गुण हैं। गन्ध, रस, रूप को छोड़कर शेष एक–स्पर्श, वायु का गुण है। स्पर्श से अगला एक गुण-शब्द, आकाश का है। इसप्रकार पृथिवी में चार, जल में तीन, तेज में दो और वायु तथा आकाश में एक-एक गुण हैं॥ ६१-६२ ॥

पृथिवी आदि में गन्धादि गुणव्यवस्था संगत नहीं—शिष्य आशंका करता है, गुणों की यह व्यवस्था युक्त प्रतीत नहीं होती। शिष्य की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न सर्वगुणानुपलब्धेः ॥ ६३ ॥ (२६०)

[न] नहीं (युक्त, गुणों की उक्त व्यवस्था) [सर्वगुणानुपलब्धेः] सब गुणों के (पृथिवीगत; पार्थिव घ्राण-इन्द्रिय द्वारा) उपलब्ध न होने से।

पहले बतायागया, घ्राण-इन्द्रिय पार्थिव है। तब घ्राण-इन्द्रिय जैसे पृथिवी के गुण गन्ध को ग्रहण करता है, ऐसे पृथिवी के रस, रूप, स्पर्श को ग्रहण करे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं देखाजाता; इसलिये गन्ध के समान रस आदि गुण पृथिवी के हैं; यह व्यवस्था दोषपूर्ण प्रतीत होती है।

इसीप्रकार जलीय इन्द्रिय रसन के द्वारा रूप और स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, जो जल के गुण बतायेगये। ऐसे तैजस इन्द्रिय चक्षु के द्वारा स्पर्श का ग्रहण नहीं होता, जिसको तेज का गुण मानागया। व्यवस्था वह ठीक रहती, जिसमें—जो इन्द्रिय जिस द्रव्य से बना है, उस द्रव्य के—सब गुणों को वह इन्द्रिय ग्रहण करने की क्षमता रखता। परन्तु यहाँ घ्राण आदि इन्द्रियाँ एक-एक गुण का ग्रहण करते देखेजाते हैं। अतः उक्त गुणव्यवस्था युक्त प्रतीत नहीं होती ॥६३ ॥

गुणव्यवस्था का अन्य सुझाव—तब गुणों की यह व्यवस्था कैसी होनी चाहिये ? इस विषय में शिष्य की भावना को सूत्रकार ने अग्रिम तीन सूत्रों द्वारा अभिव्यक्त किया—

एकैकश्येनोत्तरोत्तरगुणसद्भावादुत्तराणां तदनुपलब्धिः ॥ ६४ ॥ (२६१)

[एकैकश्येन] एक-एक गुण के क्रम से [उत्तरोत्तरगुणसद्भावात्] अगला-अगला गुण (पृथिवी, जल आदि द्रव्यों का यथाक्रम होने से), [उत्तराणाम्] अगले गुणों की [तद्-अनुपलब्धिः] उससे (पहले इन्द्रिय द्वारा) उपलब्धि नहीं होती।

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द—यह गुणों का क्रम है। इसके अनुसार पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश—यह भूतद्रव्यों का क्रम है। इनमें एक-एक गुण यथाक्रम एक-एक द्रव्य का है। इसीके अनुसार इन्द्रियों का क्रम है—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र। प्रत्येक इन्द्रिय यथाक्रम पृथिवी आदि भूतद्रव्य-सम्बन्धी है; घ्राण पृथिवी-सम्बन्धी, रसन जलसम्बन्धी आदि। ये इन्द्रिय यथाक्रम एक-एक गुण को ग्रहण करते हैं, इसलिये अगले-अगले गुणों का ग्रहण पहले इन्द्रिय से नहीं होता। घ्राण गन्ध का ग्रहण करता है, रस आदि का नहीं। रसन केवल रस का ग्रहण करता है, रूप आदि का नहीं। चक्षु से केवल रूप का ग्रहण होता है, स्पर्श का नहीं। इससे यह स्पष्ट होजाता है कि गन्ध आदि एक-एक यथाक्रम पृथिवी आदि भूतद्रव्यों के गुण हैं; और उनमें से एक-एक का ग्रहण यथाक्रम घ्राण आदि इन्द्रियों से होता है। इसप्रकार गुणों की व्यवस्था कीजा-सकती है।

इस व्यवस्था में एक समस्या यह रहजाती है कि पृथिवी आदि द्रव्यों में रस आदि गुण प्रत्यक्ष से जानेजाते हैं। पृथिवी में गन्ध के अतिरिक्त रस, रूप, स्पर्श का; जल में रस के अतिरिक्त रूप, स्पर्श का; तेज में रूप के अतिरिक्त स्पर्श का अनुभव होता है। तब पृथिवी आदि में एक ही एक गुण रहता है, यह कैसे मानाजाय ? इसके लिये सुझाव दियागया—

संसर्गाच्चानेकगुणग्रहणम्।

पृथिवी आदि में जो रस आदि अनेक गुण उपलब्ध होते हैं, वे जल आदि के संसर्ग से हैं। पृथिवी आदि भूतों में अपना गुण एक-एक है। अन्य गुण अन्य भूतों के संसर्ग से उपलब्ध होते हैं॥ ६४ ॥

गुणों की व्यवस्था के प्रसंग में यह सुझाव पूरा कारगर नहीं उतरता। क्योंकि चारों भूतों का परस्पर संसर्ग मानने पर यह नियम सम्भव नहीं होता कि पृथिवी चार गुणवाली हो, जल तीन गुणवाले, और तेज दो गुणवाले और

वायु एक गुणवाला हो। जब सबका परस्पर संसर्ग है, तो सब गुण सब भूतों में उपलब्ध होने चाहियें। संसर्ग की व्यवस्था के विषय में सुझायागया—

विष्टं ह्यपरं परेण ॥ ६५ ॥ (२६२)

[विष्टम्] संसृष्ट है–मिला हुआ है [हि] क्योंकि [अपरम्] पिछला [परेण] पहले के साथ।

सब भूत परस्पर सबके साथ मिलजाते हों, ऐसा नहीं है। प्रत्युत पिछला भूत अपने पहले भूतों से संसृष्ट होपाता है। पृथिवी जब बनती है, तब उससे पहले जल, तेज, वायु बन चुके थे, इसलिये पृथिवी की रचना के समय उसमें जल आदि का संसर्ग होना सम्भव है। तब पृथिवी में जलादि के संसृष्ट होने से वहाँ रस आदि गुणों की उपलब्धि सम्भव है; इसीलिये पृथिवी में चार गुण उपलब्ध होते हैं—गन्ध अपना और रस, रूप, स्पर्श, जल, तेज, वायु के। जल की रचना के समय पृथिवी नहीं बनी थी; पर तेज, वायु बनचुके थे, इसलिये जल में पृथिवी का संसर्ग सम्भव न होने से वहाँ गन्ध उपलब्ध नहीं होता; पर तेज और वायु का संसर्ग जल में होने से वहाँ अपने गुण रस के अतिरिक्त रूप और स्पर्श उपलब्ध होजाते हैं।

इसीप्रकार तेज की रचना के समय जल और पृथिवी की रचना नहीं हुई थी, इसलिये जल, पृथिवी का संसर्ग तेज में संभव न होने से उनके गुण रस-गन्ध-तेज में उपलब्ध नहीं होते; पर तेज से पहले वायु की रचना होजाती है, इसलिये वायु का संसर्ग तेज में होने से–अपने गुण रूप के अतिरिक्त–वहाँ वायु का गुण 'स्पर्श' उपलब्ध होता है। वायु की उत्पत्ति तेज, जल, पृथिवी से पहले हुई, इसलिये वायु में रूप, रस, गन्ध की उपलब्धि नहीं होती, अतः वहाँ केवल अपना गुण उपलब्ध होता है।

इसके अनुसार पृथिवी चार गुणवाली, जल तीन गुणवाले, तेज दो गुण वाला और वायु एक गुणवाला है, यह व्यवस्था भूतों की रचना के अनुक्रम के आधार पर समझनी चाहिये। इसप्रकार भूतों में गुणों की व्यवस्था सम्पन्न होजाती है। पृथिवी आदि भूतों का अपना-अपना गुण गन्ध आदि केवल एक-एक है ॥ ६५ ॥

भूतों में गुणों का विनियोग—उक्त तीन सूत्रों [६३-६५] में प्रतिपादित भावना का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

न पार्थिवाप्ययोः प्रत्यक्षत्वात् ॥ ६६ ॥ (२६३)

[न] नहीं (उक्त कथन संगत), [पार्थिवाप्ययोः] पार्थिव और जलीय द्रव्यों के [प्रत्यक्षत्वात्] प्रत्यक्ष होने से।

किसी द्रव्य के प्रत्यक्ष होने के लिये ये निमित्त बताये जाते हैं—१. द्रव्य का महत् होना; वह महत्परिमाणवाला हो। २. अनेक द्रव्यवाला हो, अर्थात् अनेक द्रव्य उसके समवायिकारण हों। ३. वह रूपगुणवाला हो।[1] अब यदि यह मानाजाता है कि रूपगुण केवल तेज का है, तो पार्थिव और जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष न होना चाहिये; क्योंकि पृथिवी का अपना गुण केवल गन्ध है, और जल का केवल रस, रूप इन द्रव्यों का गुण नहीं है। तेज का जल व पृथिवी में संसर्ग होने पर पार्थिव और जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष नहीं होसकता; क्योंकि वहाँ जो रूप है, वह पृथिव्यादिसंसृष्ट तेजोभाग का है, पृथिवी-जल का नहीं। ऐसी दशा में पार्थिव व जलीय द्रव्य का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष होना सम्भव न होगा। अन्य दो निमित्तों के होने पर भी रूप वहाँ नहीं है। परन्तु इसके विपरीत पार्थिव व जलीय द्रव्य का चक्षु-इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होना प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। तैजस द्रव्य के प्रत्यक्ष के समान पार्थिव--जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है। अतः जैसे तेज रूपवाला है, ऐसे जल और पृथिवी को रूपवाला मानना चाहिये। तात्पर्य है, पृथिवी एवं जल में उपलब्ध गुण उनके अपने हैं, अन्य के संसर्ग से प्राप्त नहीं।

यदि पार्थिव-जलीय द्रव्यों का प्रत्यक्ष संसर्गमूलक तेजोरूप के कारण मानाजाता है, तो व्यवहार में तेज का संसर्ग वायु के साथ होने से वायु का भी चाक्षुष प्रत्यक्ष होजाना चाहिये। तेज के संसर्ग से पार्थिव तथा जलीय द्रव्य का प्रत्यक्ष होजाय, वायु द्रव्य का न हो इस नियम का कोई कारण नहीं है। वायु तेज का परस्पर-संसर्ग व्यवहार में सदा देखाजाता है। इसलिये पृथिवी आदि भूत एक-एक गुणवाले हैं, यह कथन असंगत है।

इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है—पृथिवी और जल दोनों में 'रस' गुण देखाजाता है। यदि यह कहाजाय कि पृथिवी में रस जल के संसर्ग से है, तो ऐसा कथन कसौटी पर खरा नहीं उतरता। कारण यह है–जल में अपना गुण रस केवल मधुर रहता है, परन्तु पृथिवी में अर्थात् पार्थिव द्रव्यों में छह प्रकार के रसों का अनुभव होता है। यदि जल के संसर्ग से पृथिवी में रस रहा होता, तो उक्त स्थिति का होना असम्भव था; तब पृथिवी में जल के समान केवल मधुर रस उपलब्ध होपाता।

यही स्थिति 'रूप' गुण के विषय में कहीजासकती है। पृथिवी या जल में यदि रूप तेज के संसर्ग से मानाजाता है, तो यह अटपटा ही होगा। तेज में रूप भास्वरशुक्ल रहता है, जो अन्य पदार्थों का व्यञ्जक है, प्रकाशक है। ऐसा रूप

---

१. द्रव्य के प्रत्यक्ष होने के ये निमित्त कणाद ने बताये हैं— 'महत्यनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः' [वैशेषिकदर्शन, ४। १। ६]।

न जल में है, न पृथिवी में। जल में अभास्वर शुक्ल रूप है, तथा पृथिवी में सात प्रकार के रूप देखे जाते हैं; पर जलीय व पार्थिव सभी रूप व्यङ्ग्य हैं, प्रकाश्य हैं; व्यञ्जक नहीं। स्पष्ट है, ये रूप पृथिवी व जल के अपने गुण हैं, तेज के संसर्ग से तेजोगुण नहीं। पृथिवी–जल के रूप गुण व्यङ्ग्य होने के अतिरिक्त संख्या में भी समान नहीं, पृथिवी में सात और जल में केवल एक रूप रहता है। यदि संसर्ग से होते. तो यह संख्यागत विषमता न होनी चाहिये थी।

अधिक विस्तार की भावना से इस प्रसंग में स्पर्श गुण का विचार किया-जासकता है। पृथिवी आदि चारों भूतों में 'स्पर्श' की स्थिति एक-दूसरे से भिन्न है। वायु के संसर्ग से यदि अन्य भूतों में स्पर्श का अस्तित्व मानाजाता है, तो यह संगत न होगा। वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श अपना गुण है। परन्तु तेज में स्पर्श उष्ण, और जल में शीत रहता है, जो परस्पर-विरोधी होते हुए, वायुस्पर्श के साथ भी समानता नहीं रखते। पृथिवी का स्पर्श यद्यपि अनुष्णाशीत है, फिर भी वायु-स्पर्श से यह सर्वथा भिन्न है। पृथिवी में कठोर अनुष्णाशीत स्पर्श का अनुभव होता है, जिसका वायु में सर्वथा अभाव है। पृथिवी का यह स्पर्श वायु के संसर्ग से होना प्रमाणित नहीं कियाजासकता।

इसके अतिरिक्त यह भी ध्यान देने योग्य तथ्य है कि कोई कार्य अपने कारण के अनुरूप हुआ करता है। प्रत्यक्ष अनुभव में यह आता है कि पृथिवी चार गुणों वाली है–गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। जलों में तीन गुण हैं–रस, रूप, स्पर्श। तेज में दो–रूप और स्पर्श; वायु में एक–स्पर्श। इससे यह अनुमान होता है कि इनके मूलकारण द्रव्य ऐसे ही होने चाहियें। इसप्रकार चारों भूतों के मूलकारण परमाणु-द्रव्य इन्हीं गुणों से युक्त मानेजासकते हैं। पृथिवी-परमाणु चार गुणोंवाले, जलीय परमाणु तीन गुणोंवाले, तैजस परमाणु दो गुणोंवाले और वायवीय परमाणु एक गुणवाले। इसप्रकार पृथिवी आदि भूतों में उपलब्ध गन्धादि गुण अपने मूल समवायिकारणों के गुणों से उत्पन्न होते हैं, किसी अन्य भूत के संसर्ग से नहीं।

इस विषय में यह जानलेना आवश्यक है कि पार्थिव द्रव्य जल, तेज, वायु से सर्वथा वियुक्त (अलग-पृथक्) रहता हुआ प्रत्यक्ष से गृहीत होता है। इसीप्रकार जलीय द्रव्य तेज, वायु से पृथक् तथा तैजस द्रव्य वायु से अलग रहता हुआ गृहीत होता है। उस अवस्था में ये भूत एक-एक गुणवाले गृहीत न होकर यथाक्रम चार, तीन, दो, एक गुणवाले गृहीत होते हैं। इससे यह स्पष्ट होजाता है—पृथिवी के चार, जल के तीन, तेज के दो और वायु का एक गुण अपने हैं, किसी अन्य के संसर्ग से नहीं। इसलिये यह कथन सर्वथा अयुक्त है, कि पिछला द्रव्य पहलों से संसृष्ट रहता है।

भूतरचनाकाल में पहले का पिछले से संसर्ग [औपादानिक-समवायिकारणक सम्बन्ध] बताना प्रामाणिक नहीं है। 'विष्टं ह्यपरं परेण' सूत्र से जिज्ञासु के जिस भाव को अभिव्यक्त कियागया है, उसमें यह समझना आवश्यक है कि भूतों की विष्टता संसर्ग का स्वरूप क्या है ? वस्तुतः संसर्ग केवल दो भूतद्रव्यों का संयोग है; वह केवल भूतरचनाकाल में हो, ऐसा नहीं है। वह आज भी देखाजाता है, जो दोनों द्रव्यों में समान रहता है। वायु के साथ तेज का संसर्ग–संयोग गर्मियों में लू चलने पर स्पष्ट अनुभव होता है। इसीप्रकार पार्थिव द्रव्य जल से संसृष्ट, तथा जल तेज से संसृष्ट जानाजाता है। यदि संयोग से–एक का गुण दूसरे में आजाना मानाजाय, तो वायु–तेज का परस्पर संयोग होने पर वायु के संसर्ग से तेज में स्पर्श प्रतीत होने के समान वायु में रूप की प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु वायु में रूप की प्रतीति का न होना यह स्पष्ट करता है कि उष्ण-स्पर्श वायु का गुण न होकर तेज का गुण है, जो सूक्ष्म तैजस द्रव्य के वायु-संसृष्ट होने पर प्रतीत होता है, क्योंकि इस नियम में कोई कारण दिखाई नहीं देता कि दोनों द्रव्यों का संयोग समान होने पर एक का गुण दूसरे में आजाय, और दूसरे का अन्य में न जाय। गरम लू में तैजस स्पर्श वायु के स्पर्श को दबा देता है; वायु के स्पर्श का ग्रहण नहीं होने देता। यदि स्पर्श गुण केवल वायु का होता, तो वह स्वयं अपने-आपको कैसे दबाता ? फलतः यह प्रमाणित होता है कि स्पर्श चारों भूतों का अपना-अपना विशिष्ट गुण है; रूप तीन का, रस दो का और गन्ध केवल पृथिवी का। इस अर्थ को इसप्रकार भी कहाजा-सकता है कि पृथिवी में चार गुण, जल में तीन, तेज में दो और वायु में एक गुण रहता है। ये गुण उन भूतों में अपने हैं, अन्य किसीके संसर्ग से नहीं ॥ ६६ ॥

'घ्राण' सब पार्थिव गुणों का ग्राहक क्यों नहीं—यह निश्चय होजाने पर कि पृथिवी चार गुणवाली, जल तीन गुणवाले, तेज दो गुणवाला और वायु एक गुणवाला है; एक अन्य जिज्ञासा उसीतरह बनी है कि उस दशा में पार्थिव इन्द्रिय घ्राण पृथिवी के चारों गुणों का ग्रहण क्यों नहीं करती ? इसीप्रकार जलीय इन्द्रिय रसन जल के सब गुणों का ? ऐसे ही तैजस इन्द्रिय तेज के सब गुणों का ? आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात् तत्तत्प्रधानम् ॥ ६७ ॥ (२६४)

[पूर्वपूर्वगुणोत्कर्षात्] पहले-पहले गुण के उत्कर्ष से [तत्तत्प्रधानम्] उस-उस गुण का ग्रहण करना मुख्य रहता है।

गुणों का क्रम इसप्रकार है—गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। इसीके अनुसार इन्द्रियों का क्रम है—घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक्। घ्राण में पहले गुण गन्ध का

उत्कर्ष रहता है । उत्कर्ष का तात्पर्य है-विषय को अभिव्यक्त करने की क्षमता। इसलिये घ्राण-इन्द्रिय में वह प्रधान है, अर्थात् घ्राण इन्द्रिय उसी विषय का ग्राहक होसकता है। अभिप्राय है-घ्राण की रचना जिन उपादान-अवयवों से होती है, उनमें गन्ध गुण का उत्कर्ष रहता है, अतः उनसे उत्पादित घ्राण-इन्द्रिय केवल गन्ध का ग्रहण करने में समर्थ रहता है, यद्यपि वहाँ रसादि गुणों का भी अस्तित्व है ।

इन्द्रियाँ एक गुणविशेष की ग्राहक क्यों—गन्ध की व्यवस्था होने पर आगे तीन गुण रहजाते हैं—रस, रूप, स्पर्श । इनमें पहला गुण रस है । उधर शेष इन्द्रियों में पहला रसन है । इसमें रस का उत्कर्ष होनेसे रसन-इन्द्रिय केवल रस को ग्रहण करने की क्षमता रखता है, यद्यपि वहाँ रूप और स्पर्श का अस्तित्व रहता है। ऐसे ही चक्षु केवल रूप को ग्रहण करने में समर्थ होता है ।

साधारणरूप से यह व्यवस्था इन्द्रियों से अतिरिक्त अन्य बाह्य पार्थिव आदि द्रव्यों में भी देखीजाती है । जैसे पार्थिव गाय का घी, गन्ध आदि चारों गुणों से युक्त रहता है, पर उसमें केसर मिलाने पर वह केसर के केवल गन्ध गुण को अभिव्यक्त करता है, अन्य गुणों को नहीं, ऐसे ही पार्थिव घ्राण केवल गन्ध का व्यञ्जक-ग्राहक होता है, रसादि का नहीं । इसीप्रकार बाह्य जल में शर्करा घोल देने से जल केवल उसके रस का व्यञ्जक होता है; रूप, स्पर्श का नहीं । रसन-इन्द्रिय में भी इसी सिद्धान्त को लागू समझना चाहिये । ठीक ऐसे ही बाह्य तैजस द्रव्य प्रदीप आदि, पदार्थों के रूप का व्यञ्जक होता है, स्पर्श का नहीं । इसीके अनुसार चक्षु केवल रूप का ग्राहक होता है, अन्य गुण का नहीं ; यद्यपि इन सभी व्यञ्जक पदार्थों में गुण अन्य भी विद्यमान रहते हैं । इसप्रकार घ्राण, रसन, चक्षु इन्द्रियों में गन्ध, रस, रूप का उत्कर्ष होने से यथाक्रम घ्राण आदि से गन्ध, रस, रूप गुणों का ग्रहण होता है; किसी एक इन्द्रिय द्वारा सब गुणों का ग्रहण नहीं होपाता ।

जो यह प्रतिज्ञा करता है कि घ्राण-इन्द्रिय से केवल गन्ध का ग्रहण इस कारण होता है कि घ्राण का अपना गुण गन्ध है; उसके मत में यह दोष दियाजासकता है कि घ्राण का गुण रस आदि होने से भी वह रस आदि का ग्रहण क्यों नहीं करता ? वस्तुतः किसी इन्द्रिय द्वारा किसी गुण के ग्रहण करने का प्रयोजक उसका वह गुण होना—नहीं है; प्रत्युत उस गुण का उस इन्द्रिय में उत्कर्ष होना गुण-ग्रहण का प्रयोजक होता है । फलतः इन्द्रियों में गुणोत्कर्ष से गुण-ग्राहकता रहती है, यह तथ्य स्पष्ट होता है ।। ६७ ।।

इन्द्रियों की रचना—शिष्य जिज्ञासा करता है, अनेक गुणों के रहते हुए इस व्यवस्था का क्या आधार है कि एक इन्द्रिय पार्थिव है, अन्य इन्द्रियाँ नहीं ? अथवा कोई पार्थिव है, और कोई आप्य, तैजस, वायव्य ? सब इन्द्रियाँ एक भूत

से उत्पन्न हुए क्यों न स्वीकार कियेजायें ? आचार्य सूत्रकार ने इस व्यवस्था का आधार बताया—

तद्व्यवस्थानं तु भूयस्त्वात् ॥ ६८ ॥ (२६५)

[तद्व्यवस्थानम्] उसकी व्यवस्था [तु] तो [भूयस्त्वात्] भूयस्त्व से—बहुत होने से—उत्कर्ष से होती है ।

पुरुषों के अदृष्ट—धर्म-अधर्मरूप संस्कारों के सहयोग से पुरुष के विशेष प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिये विभिन्न पदार्थों का परस्पर संसर्ग होकर उपयोगी पदार्थों की रचना हुआ करती है; यही 'भूयस्त्व' का स्वरूप है । प्रत्येक पदार्थ की रचना—पुरुष के किसी विशिष्ट प्रयोजन की पूर्त्ति में उपयोग के लिये होती है । वह प्रयोजन जिस प्रकार की रचना से सिद्ध होता है, उस रचना के अनुकूल सहयोगी तत्त्वों का उसमें आधिक्य रहता है । यही सूत्र के 'भूयस्त्व' पद का तात्पर्य है । वस्तुतः जिस भाव को सूत्रकार ने गत सूत्र में 'उत्कर्ष' पद से अभिव्यक्त किया है, वही भाव प्रस्तुत सूत्र में 'भूयस्त्व' पद से प्रकट कियागया है । 'उत्कृष्ट' 'प्रकृष्ट' 'भूयान्' ये पद समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं ।

लोक में प्रत्यक्ष देखाजाता है—विभिन्न पदार्थ एक-दूसरे से पृथक् स्वरूप-वाले, पृथक् प्रयोजन वाले रहते हैं । जो कार्य किसी एक विशिष्ट पदार्थ से सम्पन्न होता है, उस कार्य को उसीरूप में पूरा करना अन्य प्रत्येक पदार्थ के सामर्थ्य से बाहर है । संसार में विविध पदार्थ विष, ओषधि, वनस्पति, रत्न—पाषाण आदि विभिन्न प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं । इनका स्वभाव एक-दूसरे से पृथक् है । इनकी रचना में पुरुषों के धर्म-अधर्म-निमित्त रहते हैं; उन्हींके अनुसार ये पुरुष की प्रयोजन-सिद्धि में उपयोगी होते हैं । प्रत्येक पदार्थ प्रत्येक प्रयोजन को सिद्ध करे, यह सम्भव नहीं ।

रचना का यही सिद्धान्त इन्द्रियों की रचना में लागू समझना चाहिये । घ्राण आदि इन्द्रिय अपनी विशिष्ट रचना के अनुसार पृथक्-पृथक् विषयों के ग्रहण करने में समर्थ रहते हैं । उनकी रचना उनके उपादान तत्त्वों के आधार पर उसीप्रकार की है । घ्राण गन्ध का ग्रहण करेगा, अन्य विषय का नहीं, चक्षु केवल रूप का । कोई एक इन्द्रिय सब विषयों का ग्रहण करने में असमर्थ रहता है । घ्राण पार्थिव इन्द्रिय है, उसकी रचना में गन्धोपादान द्रव्यों का उत्कर्ष (भूयस्त्व) रहता है ; इसलिये वह अपनी रचना के अनुकूल केवल गन्ध का ग्रहण करपाता है, पृथिवी के अन्य गुणों का नहीं । चक्षु की रचना में रूपोपादान तैजस द्रव्यों का उत्कर्ष होने से वह केवल रूप का ग्रहण करने में समर्थ रहता है; वह रूप चाहे किसी द्रव्य में आश्रित हो । अन्य द्रव्याश्रित रूप सदा व्यङ्ग्य रहता है; केवल तैजस रूप अन्य रूप का व्यञ्जक होता है ॥ ६८ ॥

इन्द्रिय स्वगत गुण के ग्राहक नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है–रचना में विशिष्ट गुणोत्कर्ष से इन्द्रियों में उसी गुण को ग्रहण करने का सामर्थ्य रहता है; यदि यह ठीक है, तो इन्द्रियाँ स्वगत गुण को क्यों ग्रहण नहीं करतीं ? यदि करती होतीं, तो घ्राण से सदा गन्ध का ग्रहण होता रहता । सूत्रकार ने बताया—

सगुणानामिन्द्रियभावात् ॥ ६९ ॥ (२६६)

[सगुणानाम्] गुणसहित के (इन्द्रियभावात्] इन्द्रिय होने से ।

'इन्द्रिय' पद का भाव है–विषय को ग्रहण करनेवाला, 'घ्राण' इन्द्रिय पार्थिव द्रव्य है, उसमें पृथिवीगत गन्धादि गुण विद्यमान है, गन्ध गुण का तो उसमें विशेष उत्कर्ष है, जिसके अनुसार वह केवल गन्ध का ग्राहक होता है । तब वह स्वगत गन्ध को ग्रहण क्यों नहीं करता ? यह जिज्ञासा है । सूत्रकार ने बताया, घ्राण का इन्द्रियभाव–गन्धग्राहकताशक्ति गन्धगुणसहित घ्राण में है । जब घ्राण बाह्य गन्ध का ग्रहण करता है, तब घ्राणगत गन्ध ग्राहकता-कोटि में रहता है । तात्पर्य है–घ्राण द्रव्य गन्धरहित होकर गन्ध का ग्रहण नहीं करसकता । घ्राण की ग्राहकताशक्ति के उद्भव में उसका स्वगत गन्ध सहयोगी है । वह ग्राहक-कोटि में रहता है, ग्राह्य कोटि में नहीं । यदि वह ग्राह्य कोटि में आता है, तो ग्राहकताकोटि में गन्ध का अभाव होजाता है; तब सहयोगी के अभाव के कारण घ्राण स्वगत गन्ध के ग्रहण करने में असमर्थ रहता है । इसी स्थिति को शेष इन्द्रियों के सम्बन्ध में समझना चाहिये । रसन-इन्द्रिय स्वगत रस का, चक्षु स्वगत रूप का तथा त्वक् स्वगत स्पर्श का ग्रहण नहीं करसकते ॥ ६९ ॥

ग्राह्य-ग्राहक एक नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है–घ्राण का स्वगत गन्ध उसके द्वारा बाह्य गन्ध के ग्रहण में सहकारी रहे; और उसका ग्राह्य भी हो जाय, इसमें क्या दोष है ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तेनैव तस्याग्रहणाच्च ॥ ७० ॥ (२६७)

[तेन] उससे [एव] ही [तस्य] उसका [अग्रहणात्] ग्रहण न होने से [च] तथा ।

ग्रहण करनेवाला स्वयं ग्रहण होनेवाला हो, यह सम्भव नहीं । चक्षु से जैसे बाह्य द्रव्य का ग्रहण होता है, वैसे चक्षु स्वयं को ग्रहण करे; ऐसे कथन में कोई प्रमाण नहीं है । प्रत्येक इन्द्रिय स्वगत गुण को ग्रहण करसकती है, ऐसी मान्यता का उपपादन किसी प्रमाण से नहीं होपाता । अभिप्राय है–ग्राहक और ग्राह्य में सदा भेद रहता है । यह स्थिति प्रत्येक दशा में भेदघटित होने से अभेद में–एक वस्तु में ग्राह्यता और ग्राहकता का होना–सम्भव नहीं ॥ ७० ॥

श्रोत्र स्वगत गुण का ग्राहक—शिष्य ने उद्‌ट्ंकना की—ऐसा एक उदाहरण देखाजाता है, जो स्वगत गुण का ग्राहक है। सूत्रकार ने शिष्य की भावना को सूत्रित किया—

न शब्दगुणोपलब्धेः ॥ ७१ ॥ (२६८)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [शब्दगुणोपलब्धेः] शब्द गुण की उपलब्धि से।

शब्द आकाश का गुण है, वह श्रोत्र-इन्द्रिय से उपलब्ध होता है, जो स्वयं आकाशरूप है, आकाश से अभिन्न है। आकाशरूप श्रोत्र-इन्द्रिय, आकाशगत गुण—शब्द का ग्रहण करता है। ऐसी दशा में घ्राण आदि इन्द्रियाँ भी स्वगत गन्ध आदि का ग्रहण क्यों न करें ? यदि नहीं करतीं, तो इस विशेषता का कोई कारण बताना चाहिये ॥ ७१ ॥

दयालु आचार्य सूत्रकार ने उसका कारण बताया—

तदुपलब्धिरितरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात् ॥ ७२ ॥ (२६९)

[तद्–उपलब्धिः] शब्द की उपलब्धि (होजाती है श्रोत्र द्वारा), [इतरेतरद्रव्यगुणवैधर्म्यात्] अन्य-अन्य द्रव्यों के गुणों से वैलक्षण्य होने के कारण।

आकाशरूप श्रोत्र-इन्द्रिय द्वारा आकाशगत शब्द गुण का ग्रहण होजाता है, इसमें कोई आपत्ति नहीं। कारण है, पृथिवी आदि विभिन्न द्रव्यों में गुणों की स्थिति से आकाश में गुण की स्थिति का वैलक्षण्य। पृथिवी आदि चार भूत अपने गन्ध आदि गुणों से रहित कभी नहीं होते। उनसे उत्पन्न हुए घ्राण आदि इन्द्रिय सदा गन्ध आदि गुणों से युक्त रहते हैं। घ्राण आदि इन्द्रियों से स्वगत गन्ध आदि गुणों के ग्रहण करने में दोष प्रथम बतादियेगये हैं। घ्राण आदि इन्द्रियों से विपरीत श्रोत्र की यह विलक्षणता है—उसका इन्द्रियभाव सगुण का नहीं रहता। शब्दगुणरहित आकाश, श्रोत्र-इन्द्रिय मानाजाता है। इसलिये श्रोत्र इन्द्रियरूप में स्वगत शब्द का ग्रहण नहीं करता। तात्पर्य है—श्रोत्र समवेत शब्द कभी नहीं रहता। जो आकाशप्रदेश श्रोत्र है, उसमें समवेत न रहकर शब्द प्रदेशान्तर में समवेत रहता है। पर क्योंकि नित्य विभु आकाश में प्रदेश की कल्पना औपचारिक है, इसलिए शब्द के ग्रहण में इन्द्रिय—अर्थ का स्वसमवाय-सम्बन्ध उपचारमूलक समझना चाहिये।

शब्दगुणरहित आकाश श्रोत्र है, इस मान्यता के लिये सैद्धान्तिक आधार है—शब्द को शब्द का व्यञ्जक न मानाजाना। शब्द शब्द का व्यञ्जक नहीं होता; इस तथ्य का उपपादन द्वितीय अध्याय के द्वितीय आह्निक के शब्दविवरण-प्रसंग में कर दिया है। यदि श्रोत्र में शब्दगुणग्राहकता शक्ति शब्दगुणसहित श्रोत्र की मानीजाती है, तो श्रोत्रान्तर्गत शब्द को ग्राह्य शब्द का व्यञ्जक मानना

पड़ेगा, तब शब्द में व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव को बलात् स्वीकार करना होगा, जो सिद्धान्त के विपरीत है। परन्तु गन्ध आदि गुणों में ऐसा नहीं है; उनके परस्पर व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव का आचार्यों ने कहीं निराकरण नहीं किया। अतः गन्ध आदि की अभिव्यक्ति के लिये घ्राण आदि इन्द्रियों के स्वरूप के अन्तर्गत गन्ध आदि का अस्तित्व स्वीकार कियाजाता है। ऐसी दशा में जैसे घ्राण आदि से स्वगत गन्ध आदि का ग्रहण कभी नहीं होता, न प्रत्यक्ष से न अनुमान आदि से, इसीप्रकार श्रोत्र इन्द्रिय भी–स्वगत शब्द का अभाव होने के कारण–स्वगत शब्द का ग्रहण कभी नहीं करता। वह आकाशीय अन्य देशस्थित शब्द का ग्रहण करता है; इसी आधार पर शब्द-गुण आकाश का अनुमान कियाजाता है।

आकाशरूप श्रोत्र से शब्द का ग्रहण प्रत्यक्ष है। आकाश शब्द गुणवाला है, इसका अनुमान कियाजाता है। परिशेष-अनुमान से यह सिद्ध होजाने पर कि शब्द गुण है [द्रष्टव्य, १। १। ५ सूत्र का भाष्य], गुण किसी द्रव्य में आश्रित रहता है। पृथिवी आदि स्पर्शगुणवाले चार भूत शब्द के आश्रय नहीं हैं, क्योंकि पार्थिव आदि कार्यों के गन्ध आदि गुण, अपने आश्रय के कारणगत गुणों से उत्पन्न होते हैं; परन्तु शब्द ऐसा नहीं है। यह आत्मा और मन का भी गुण नहीं होसकता। आत्मा का गुण इसलिये नहीं कि आत्मा में समवेत नहीं रहता; अन्यथा 'अहं सुखी' आदि प्रतीति के समान 'अहं वाद्ये, अहं शब्दवान्'–'मैं बज-रहा हूँ, मैं शब्दवाला हूँ,' ऐसी प्रतीति होनी चाहिये। इसके विपरीत प्रतीति यही होती है कि वीणा बजरही है, शंख फूँकाजारहा है, इत्यादि। मन के गुणों का प्रत्यक्ष न होने के कारण शब्द मन का गुण नहीं होसकता; क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, मन के गुणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। यह काल, दिशा का भी गुण नहीं, क्योंकि वे किसी विशेष गुण का आश्रय नहीं होते। शब्द विशेष गुण है। द्रव्यों में अब केवल आकाश शेष रहजाता है; उसीका यह गुण होसकता है।[1] इसप्रकार शब्द गुण से आकाश का अनुमान होता है।

श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशरूप है, यह परिशेष-अनुमान से जानाजाता है। श्रोत्र आत्मा नहीं होसकता, क्योंकि आत्मा श्रोता है, कर्त्ता है; श्रोत्र करण है। कर्त्ता और करण सर्वथा भिन्न होते हैं; अतः श्रोत्र आत्मरूप नहीं होसकता। श्रोत्र को मनोरूप नहीं मानाजासकता; क्योंकि यदि मन श्रोत्र का कार्य करे, तो कोई बहरा नहीं होना चाहिये, मन नित्य है, सदा बनारहता है, तो सुनने की शक्ति सदा बनी रहेगी। पृथिवी आदि भूतों का सामर्थ्य घ्राण आदि इन्द्रियों की रचना करने में है, श्रोत्र की रचना में नहीं। कारण है–श्रोत्र शब्द का ग्राहक होता है, परन्तु पृथिवी आदि चार भूतों में से किसीका गुण शब्द नहीं है। शब्दगुणवाले आकाश में शब्दग्राहकता सम्भव होसकती है; अतः श्रोत्र का आकाशरूप होना प्रामाणिक है।

---

१. द्रष्टव्य–वैशेषिक दर्शन, २। १। २५–२७॥

इस तथ्य को सिद्ध कियाजाचुका है कि इन्द्रियाँ भौतिक हैं। घ्राण आदि चार इन्द्रियों की सिद्धि पृथिवी आदि चार भूतों से सम्बद्ध बताईजाचुकी है। इन्द्रियों में श्रोत्र-इन्द्रिय शेष रहजाता है, और भूतों में आकाश। इस परिशेषानुमान से श्रोत्र-इन्द्रिय आकाशरूप है, यह प्रमाणित होजाता है। इस प्रसंग के फलस्वरूप यह निश्चित समझना चाहिये कि 'कोई इन्द्रिय स्वगत गुण का ग्रहण नहीं करता' इस मान्यता में किसीप्रकार का दोष नहीं है ।। ७२ ।।

इति श्रीन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
तृतीयाध्यायस्याद्यमाह्निकम् ।

अथ तृतीयाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

बुद्धि-परीक्षा—तृतीयाध्याय के पहले आह्निक में आत्मा, शरीर, इन्द्रिय और अर्थों की परीक्षा कीगई। प्रमेयसूत्र [१ । १ । ६] पठित क्रम के अनुसार बुद्धि की परीक्षा का अवसर है। बुद्धि के विषय में प्रथम यह परीक्षणीय है कि वह नित्य है, अथवा अनित्य ? इस संशय का कारण है–नित्य और अनित्य के समानधर्मों का बुद्धि में उपलब्ध होना। सूत्रकार ने उसीको बताया—

कर्माकाशसाधर्म्यात् संशयः ।। १ ।। (२७०)

[कर्माकाशसाधर्म्यात्] कर्म और आकाश के साधर्म्य से [संशयः] संशय है (बुद्धि के नित्य-अनित्य होने के विषय में)।

बुद्धि का स्वरूप—बुद्धि की परीक्षा के प्रसंग में इसका ध्यान रखना आवश्यक है कि यहाँ 'बुद्धि'-पद से अभिप्रेत वह ज्ञान है, जो प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से किसी विषय का हुआ करता है। इस भाव को सूत्रकार ने स्वयं [१ । १ । १५] स्पष्ट किया है। परन्तु सांख्यदर्शन में 'बुद्धि'-पद प्रकृति के आद्य-कार्य महत्तत्त्व नामक अन्तःकरण का वाचक है। न्याय में प्रयुक्त 'ज्ञान'-पद जानकारी की जिस स्थिति को अभिव्यक्त करता है, सांख्य में उसके लिये प्रायः 'उपलब्धि' अथवा 'बोध'-पद का प्रयोग कियाजाता है। उस बोध के लिये जो करणों [बाह्यकरण इन्द्रिय तथा अन्तःकरणों] का व्यापार होता है, उसके लिये सांख्य में 'ज्ञान'-पद का प्रयोग होता है। बोध होने की इस पद्धति को वहाँ 'ज्ञान-व्यापार' अथवा 'वृत्तिरूपज्ञान' कहाजाता है। बोध के लिये करणों का वर्त्तना, हरकत करना, व्यापार करना आदि। चेतन आत्मा को बाह्यविषय

की जो जानकारी होती है, वह 'बोध', तथा उसके लिये करणों का व्यापार 'वृत्तिज्ञान' है। सांख्य की प्रक्रिया व मान्यताओं के अनुसार इसीको 'करणों का विषयाकार परिणाम' कहाजाता है।

बुद्धि नित्य या अनित्य—बुद्धि के नित्य-अनित्य होने की परीक्षा में अध्येता के लिए यह झमेला सामने रहता है कि प्रस्तुत प्रसंग में बुद्धितत्त्व क्या समझना चाहिये ? स्पष्ट है, यहाँ बुद्धि पद से वह ज्ञान अभीष्ट है, जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी विषय का ज्ञान आत्मा को होता है। उस ज्ञान में एक ऐसा धर्म जानाजाता है, जो नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों में समान रूप से विद्यमान रहता है। वह धर्म है–ज्ञान का 'स्पर्शरहित होना'। अस्पर्श-वत्व धर्म अनित्य कर्म [उत्क्षेपण आदि] और नित्य आकाश दोनों में विद्यमान रहने से संशय का जनक है–स्पर्शरहित बुद्धि को कर्म के समान अनित्य माना जाय, अथवा आकाश के समान नित्य ? यद्यपि बुद्धि में विशेष धर्म–उत्पन्न व विनाश होना–देखाजाता है, जो उसके अनित्य होने का साधक है। तथापि अनित्य और नित्य पदार्थों में यथायथ साधर्म्य का विपर्यय बुद्धि में नहीं देखा जाता। अनित्य कर्म का साधर्म्य स्पर्शराहित्य का विपर्यय–अभाव है–अनित्य घट आदि पदार्थों में; अर्थात् अनित्य घट आदि पदार्थ स्पर्शवाले हैं, वह स्पर्श-वत्ता बुद्धि में उपलब्ध नहीं होती। इसके अनुसार बुद्धि में अनित्यत्व का अभाव प्राप्त होता है। इसीप्रकार नित्य आत्मा आदि पदार्थों में अस्पर्शवत्व होने पर भी उत्पत्ति-विनाश धर्म का विपर्यय–अभाव है; वह भी बुद्धि में उपलब्ध नहीं होता; इसके अनुसार बुद्धि में नित्यत्व का अभाव प्राप्त होता है। इसप्रकार स्पर्शराहित्य और उत्पत्ति-विनाश धर्म से बुद्धि में नित्य-अनित्य होने का संशय होजाता है।

वस्तुतः बुद्धि के नित्य-अनित्य होने का संशय कोई विशेष आधार नहीं रखता। प्रत्येक समझदार व्यक्ति इसकी उत्पत्ति-विनाशशीलता के आधार पर सुख-दुःख आदि के समान इसे अनित्य जानता है। 'ज्ञान हुआ था, ज्ञान होरहा है, ज्ञान होगा' इसप्रकार बुद्धिविषयक त्रैकाल्यव्यवहार बुद्धि के उत्पत्ति और विनाश के बिना संभव नहीं; यह स्थिति बुद्धि को स्पष्टरूप से अनित्य सिद्ध करदेती है। शास्त्र भी इसको इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि से [१।१।४] उत्पन्न हुआ बताता है। मन के लक्षण [१।१।१६] में एकसाथ अनेक ज्ञानों की अनुत्पत्ति बताना, ज्ञान की उत्पत्ति का निश्चायक है। इसलिये संशय की उक्त प्रक्रिया अधिक महत्त्व नहीं रखती। फिर भी कुछ प्रचलित दार्शनिक प्रवादों को लक्ष्यकर इस प्रसंग का प्रारम्भ कियागया है।

कहाजाता है–सांख्य पुरुष के अन्तःकरणरूप बुद्धि को नित्य मानता है।[1] आगे विवेचन से पहले इस कथन के स्वारस्य को समझलेना उपयुक्त होगा।

पहली बात यह है–सांख्य के अन्तःकरणभूत बुद्धितत्त्व और न्याय के इस विवेच्य बुद्धि में बहुत अन्तर है। अन्तःकरण ज्ञान का साधन है; न्याय में विवेच्य ज्ञान, साधन न होकर स्वयं साध्य है। इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि न्याय में विवेच्य बुद्धि गुण की सीमा में आता है; परन्तु सांख्यप्रतिपादित बुद्धितत्त्व न्यायपरिभाषा के अनुसार द्रव्य के अन्तर्गत मानाजायगा। जैसे न्याय में मन अन्तःकरण है, वैसे सांख्य में मन के समान बुद्धितत्त्व अन्यतम अन्तःकरण है। इसप्रकार दो भिन्न–असमान पदार्थों को एक स्तर पर रखकर परस्पर प्रतियोगी के रूप में विवेचन करना आधारहीन होजाता है।

इसके अतिरिक्त दूसरी बात है–सांख्यद्वारा 'बुद्धि' नामक अन्तःकरण को नित्य मानना। यह कथन अपने रूप में यथार्थ प्रतीत नहीं होता। 'बुद्धि' नामक महत्तत्त्व को सांख्य में जगत् के मूल उपादान प्रकृति का आद्यकार्य बतायागया है। जो कार्य है, वह नित्य कैसे? ऐसी स्थिति में भाष्यकार वात्स्यायन के उक्त कथन–तथा सूत्रकार के विवेच्य प्रसंग–के स्वारस्य को समझना आवश्यक होजाता है।

न्याय में प्रत्यक्षादि-प्रमाणजन्य ज्ञान (बुद्धि) को द्विक्षणावस्थायी (दो क्षण तक ठहरनेवाला) मानागया है। परन्तु सांख्यप्रतिपादित बुद्धितत्त्व आदिसर्ग में उत्पन्न होकर चिरकाल तक उसी अवस्था में बना रहता है। अनित्य होने पर वह चिरस्थायी तत्त्व है, जैसे लोक में अन्य भूत-भौतिक तत्त्व हैं, जो चिरकाल तक स्थायी रहते हैं। सांख्यीय बुद्धितत्त्व की इस चिरस्थायिता को नित्यत्व का प्रतीक मानकर प्रस्तुत प्रसंग का आधार बनायाजासकता है। इसके अतिरिक्त दोनों के 'बुद्धि' नाम की समानता को यथाकथञ्चित् आधार कहा जासकता है। यद्यपि सांख्य और न्याय में विवृत 'बुद्धि' नामक पदार्थ एक-दूसरे से भिन्न तथा असमानजातीय तत्त्व हैं। इन आधारों पर बुद्धि के नित्य व अनित्य होने का विचार प्रस्तुत है॥ १॥

बुद्धि की नित्यता में सांख्याचार्यों की ओर से हेतु प्रस्तुत कियाजाता है—

विषयप्रत्यभिज्ञानात्॥ २॥ (२७१)

[विषयप्रत्यभिज्ञानात्] विषय के प्रत्यभिज्ञान से (जानाजाता है, बुद्धि नित्य है)।

---

१. **"एवं हि पश्यन्तः प्रवदन्ति सांख्याः–'पुरुषस्यान्तःकरणभूता नित्या बुद्धिः' इति", वात्स्यायनभाष्य।**

प्रत्यभिज्ञान—पहले और वर्त्तमान काल के—मिलित ज्ञान को कहते हैं। 'जिस पदार्थ को पहले देखा था, उसीको अब देखरहा हूँ' इसप्रकार किसी एक पदार्थ के विषय में जो मिलित ज्ञान होता है, वह प्रत्यभिज्ञान कहाता है। ऐसी प्रतीति का होना तभी संभव है, जब प्रतीति के साधन बुद्धि को अवस्थित माना-जाय। यदि उत्पन्न और नष्ट होते रहने से बुद्धि एक-दूसरे से भिन्न हैं, अनेक हैं, तो प्रत्यभिज्ञा का होना सम्भव नहीं; क्योंकि एक के जाने हुए पदार्थ के विषय में दूसरे को प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता ॥ २ ॥

बुद्धि के नित्य होने का सूत्रकार निराकरण करता है—

साध्यसमत्वादहेतुः ॥ ३ ॥ (२७२)

[साध्यसमत्वात्] साध्य के समान होने से [अहेतुः] उक्त हेतु ठीक नहीं है (साध्य को सिद्ध नहीं करता)।

जैसे अभी बुद्धि का नित्यत्व साध्य है; ऐसे यह साध्य है कि प्रत्यभिज्ञान बुद्धि को होता है, अथवा अन्य किसी को ? वस्तुतः प्रत्यभिज्ञान चेतन का धर्म है; बुद्धि अचेतन है, करण है, केवल ज्ञान या प्रत्यभिज्ञान का साधन। चेतन के धर्म का करण में कथन करना अनुपपन्न है। ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि, बोध, अध्यवसाय, प्रत्यय आदि सब पर्यायवाची पद हैं, समान अर्थ को कहते हैं, जो चेतन पुरुष का धर्म है; क्योंकि वही पहले जाने हुए अर्थ का प्रत्यभिज्ञान करता है। प्रत्यभिज्ञान-हेतु चेतन आत्मा का नित्यत्व सिद्ध करने के लिये सर्वथा युक्त है। यदि प्रत्यभिज्ञान आदि को बुद्धिरूप अचेतन करण का धर्म मानाजाता है, तो चेतन का स्वरूप क्या होगा ?—यह बताना चाहिये। चेतन के स्वरूप को समझे-बताये विना इसप्रकार (ज्ञान को करण का धर्म बताकर) एक शरीर में दूसरे आत्मा का होना स्वीकार करना होगा, जो अनिष्ट है। यदि ज्ञान बुद्धि को होजाता है, तो वह चेतन आत्मा शरीर में क्या करता है ?

कहाजासकता है, यह चेतन आत्मा अपने सान्निध्य से बुद्धि को चेताता है, चेतन-जैसा बनादेता है।[1] शरीर में चेतन पुरुष की उपस्थिति का यही लाभ

---

१. सांख्य के प्रसंगों में कपिल के शिष्य आसुरि के नाम से एक श्लोक उद्धृत हुआ उपलब्ध होता है—

विविक्ते दृक्परिणतौ बुद्धौ भोगोऽस्य कथ्यते।
प्रतिबिम्बोदयः स्वच्छे यथा चन्द्रमसोऽम्भसि ॥

विविक्त अर्थात् पुरुष के असंग रहते हुए, बुद्धि के दृक्-[द्रष्टा]-रूप में परिणत होने पर जो स्थिति बनती है, वही पुरुष का भोग है। तात्पर्य है—बुद्धि अपने सब धर्मों को लेकर असंग चेतन पुरुष में प्रतिबिम्बित होजाती

है। यह कथन युक्त नहीं; क्योंकि चेताना, ज्ञान होने से भिन्न नहीं। संस्कृत के ये क्रियापद–'चेतयते, जानीते, पश्यति, उपलभते' आदि सब समान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं। ऐसी स्थिति में यदि यही कहाजाता है कि ज्ञान बुद्धि को होता है, अर्थात् ज्ञानवृत्ति बुद्धि का धर्म है, तब प्रश्न वही बना रहता है कि फिर पुरुष का क्या कार्य है ?

यदि कहाजाता है कि बुद्धि ज्ञान कराती है, अर्थात् बुद्धि ज्ञान का साधन है, वह ज्ञान होता है पुरुष को, तब यह कथन ठीक है। ज्ञान चेतन पुरुष का धर्म है, गुण है; अन्तःकरण बुद्धि का नहीं। वह तो ज्ञान होने का साधनमात्र है।

प्रस्तुत प्रसंग में यदि यह कहाजाय कि चेतना, ज्ञान, दर्शन, उपलब्धि आदि धर्म एक आत्मा के नहीं हैं, ये परस्पर भिन्न धर्म हैं, और धर्मभेद के अनुसार इनके धर्मी भिन्न हैं, तब यह कहाजासकेगा–'चेतना' जिसका धर्म है, 'ज्ञान' उसका धर्म नहीं है। ऐसी दशा में 'चेतना' आत्मा का धर्म और 'ज्ञान' बुद्धि का धर्म मानाजासकेगा।

ऐसा कहना ठीक नहीं है, क्योंकि इस कथन में–ज्ञान आत्मा का धर्म है–इसका प्रतिषेध होता है; ऐसी दशा में इस प्रतिषेध का कोई हेतु अवश्य बताना चाहिये। जो यह प्रतिज्ञा करता है कि–चेतन, बोद्धा, ज्ञाता, उपलब्धा, द्रष्टा–ये भिन्न पुरुष हैं; चेतना, बोध, ज्ञान आदि एक धर्मी (पुरुष) के धर्म नहीं होसकते। उसे इस प्रतिषेध में हेतु कहना चाहिये; अन्यथा यह प्रतिषेध अहेतुक होने से अमान्य होगा।

यदि कहाजाय–चेतना, ज्ञान आदि के एक धर्मी का धर्म होने में हेतु है–इन पदों के अर्थ का अभेद। चेतना, ज्ञान, दर्शन आदि अभिन्नार्थक पद हैं;

है, इसीको बुद्धि का दृक्परिणाम कहाजाता है। जैसे स्वच्छ जल में चन्द्र अपने धर्मों को लेकर प्रतिबिम्बित होजाता है। इसी आशय का एक श्लोक विन्ध्यवासी का उपलब्ध होता है—

पुरुषोऽविकृतात्मैव स्वनिर्भासमचेतनम्।
मनः करोति साम्निध्योदुपाधिः स्फटिकं यथा॥

अविकारी अथवा असंग रहता हुआ चेतन पुरुष, अपने सान्निध्य से अचेतन मन [–बुद्धि] को स्वनिर्भास अर्थात् चेतन-जैसा करदेता है; जैसे उपाधि–लाल कमल, स्फटिक को सान्निध्य से लाल-जैसा बनादेता है।

मूल में–चेतन पुरुष बुद्धि को चेताता है–इत्यादि कथन सांख्य के इन्हीं विचारों के आधार पर है। इस विषय में सांख्यदर्शन के दूसरे अध्याय के सूत्र ३५-३६ तथा ४५-४६ द्रष्टव्य हैं। इस विषय का विस्तृत विवेचन हमारी रचना–'सांख्य-सिद्धान्त' में देखाजासकता है।

इनका अर्थ एक है। जैसे शुक्ल और गौर पद एकार्थक हैं; जब कहाजाता है–चैत्र शुक्ल है, तब उसे 'चैत्र गौर है'–यह कहने की आवश्यकता नहीं रहती; अन्यथा वैसा कहना पुनरुक्त होगा। पर यह कहाजासकता है–चैत्र शुक्ल है, और मैत्र गौर है। इससे यह स्पष्ट है–शुक्ल, गौर धर्मों के अभिन्न होने पर इनका धर्मी एक नहीं है। इसीप्रकार जब कहाजाता है–कश्चित् चेतयते, कश्चिद् बुध्यते–कोई चेतनायुक्त है, कोई बोध (ज्ञान) युक्त है, तब चेतना और बोध का अर्थ एक होते हुए भी धर्मी भिन्न रहता है, अन्यथा कथन में पुनरुक्त-दोष होगा। इसलिये धर्मी का भेद होने पर भी चेतना, बोध, दर्शन आदि धर्मों का भेद सम्भव नहीं होता। तब चेतना के आत्मधर्म होने पर, ज्ञान बुद्धि का धर्म होगा, आत्मा का नहीं। अर्थ समान होने पर भी ज्ञान, चेतना से भिन्न है; क्योंकि इनके धर्मी भिन्न हैं, ज्ञान के क्रियारूप होने से आत्मा में उसका होना सम्भव नहीं। इसीकारण प्रत्यभिज्ञान–ज्ञान होने से वह–आत्मा का धर्म न होकर बुद्धि का धर्म होगा। इससे प्रत्यभिज्ञान के आधार पर बुद्धि का नित्य होना सिद्ध होता है। प्रत्यभिज्ञान के लिये प्रत्यभिज्ञाता का नित्य होना आवश्यक है।

बुद्धिनित्यत्ववादी के उक्त उपपादन में यह महान् दोष है कि एक देह में समानरूप से दो चेतन तत्त्वों का अस्तित्व उक्त उपपादन से प्राप्त होजाता है, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है। जब चेतना, बोध, ज्ञान, दर्शन आदि सब पद समान अर्थ के वाचक हैं, तब जैसे–'पुरुषश्चेतयते' कहने पर पुरुष का चेतन होना प्राप्त होता है, इसीप्रकार 'बुद्धिर्जानीते' कहने पर 'चेतना' और 'ज्ञान' के एकार्थक होने से 'बुद्धि' का चेतन होना प्राप्त होता है। तब एक देह में दो चेतन की असम्भावना से एक का विलोप मानना होगा। अथवा बुद्धिनित्यत्ववादी की इस मान्यता का विलोप होजायगा कि बुद्धितत्त्व एक जड़ पदार्थ है। उसको मानते हुए जड़तत्त्व बुद्धि में ज्ञान का होना असम्भव है, उसमें प्रत्यभिज्ञान का होना नहीं मानाजासकता। तब उसका नित्य होना असिद्ध होजाता है।

यदि 'बुद्धि' पद का–'बुध्यते अनया' यह करणार्थक निर्वचन करके ज्ञान का साधन बुद्धि को मानाजाता है, तो वह 'मन' ही है, और वह नित्य है; परन्तु उसके नित्य होने का कारण विषय का प्रत्यभिज्ञान नहीं है। प्रत्यभिज्ञान, ज्ञान के साधन मन का धर्म न होकर वह आत्मा में होता है, आत्मा का धर्म है। मन की नित्यता उसके अपने किसी उपादान (समवायि) कारण के न होने से है। उसका अणुपरिमाण होना नित्य होने में उपोद्बलक है। ज्ञान के युगपत् न होने से उसका अणु होना सिद्ध है। प्रत्यभिज्ञान ज्ञाता आत्मा को होता है, यह इस प्रत्यक्ष व्यवहार से सिद्ध है कि दाईं आँख से देखे विषय का बाईं आँख से प्रत्यभिज्ञान होजाता है। तात्पर्य है–करण का भेद होने पर प्रत्यभिज्ञान होता

देखाजाता है। यदि प्रत्यभिज्ञान करण को होता, तो–एक के देखे का दूसरे को स्मरण या प्रत्यभिज्ञान नहीं होसकता–इस व्यवस्था के अनुसार दाएँ चक्षु से देखे का बाएँ चक्षु से देखने पर प्रत्यभिज्ञान असंभव होता। परन्तु प्रत्यभिज्ञान होता है। इसीप्रकार वाह्य साधन एक प्रदीपप्रकाश के द्वारा देखेगये विषय का अन्य प्रदीप के द्वारा देखेजाने पर उस विषय का प्रत्यभिज्ञान होता है। इससे स्पष्ट है–प्रत्यभिज्ञान करण को न होकर ज्ञाता आत्मा को होता है, इसप्रकार वह आत्मा के नित्यत्व का साधक मानाजासकता है ॥ ३ ॥

वृत्ति और वृत्तिमान् में अभेद नहीं—जो यह मानता है कि बुद्धि अवस्थित है, और जैसा विषय अथवा जो विषय उसके सामने आता रहता है, उसीके अनुरूप अथवा तदाकार होती हुई बुद्धि 'ज्ञान' रूप में प्रसार पाती है; अर्थात् विषय में प्राप्त हो, विषयाकार होकर 'ज्ञान' रूप में भासती है, तथा वह वृत्ति वृत्तिमान् से भिन्न नहीं। तात्पर्य है–कार्यकारण का परस्पर अभेद होने से–बुद्धि का कार्य बुद्धिवृत्ति अपने कारण बुद्धि से भिन्न नहीं होती। इस मान्यता के विषय में सूत्रकार ने बताया—

न युगपदग्रहणात् ॥ ४ ॥ (२७३)

[न] नहीं (युक्त, उक्त मान्यता), [युगपत्] एक साथ [अग्रहणात्] ग्रहण न होने से (अनेक विषयों के)।

बुद्धि अवस्थित है; बुद्धि और बुद्धिवृत्ति (बुद्धि का विषयाकार होकर उस विषय का ज्ञान) अभिन्न हैं, तो बुद्धि के अवस्थित (नित्य) होने से वह वृत्ति (विषयज्ञान) भी अवस्थित होनी चाहिये। जब इसप्रकार वृत्तियों (विषय-ज्ञानों) को अवस्थित मानाजायगा, तो एकसाथ अनेक ज्ञानों का होना प्राप्त होगा; परन्तु एकसाथ अनेकज्ञान कभी होते नहीं; इसलिए वृत्तिमान् और वृत्ति का–अर्थात् बुद्धि और बुद्धिवृत्ति (विषयज्ञान) का अभिन्न होना सम्भव नहीं। बुद्धि साधन है, वृत्ति साध्य है; साधन और साध्य (कारण और कार्य) कभी एक (अभिन्न) नहीं होते ॥ ४ ॥

आचार्य सूत्रकार ने वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद में अन्य दोष बताया—

अप्रत्यभिज्ञाने च विनाशप्रसङ्गः ॥ ५ ॥ (२७४)

[अप्रत्यभिज्ञाने] प्रत्यभिज्ञान के न रहने पर [च] तथा [विनाशप्रसङ्गः] विनाश प्राप्त होता है (बुद्धि का)।

प्रत्यभिज्ञान (अतीत-वर्त्तमान ज्ञानों का मिलित ज्ञान) स्वयं एक ज्ञानरूप है, वृत्तिरूप है। बुद्धिनित्यत्ववादी ने बुद्धि और बुद्धिवृत्ति का अभेद माना है। युगपत् वृत्तियों–ज्ञानों के न होने के कारण ज्ञान अनित्य हैं, नष्ट होते रहते हैं। तब उनसे अभिन्न होने के कारण बुद्धि का विनाश प्राप्त होगा। बुद्धि को नित्य

सिद्ध करने चला था वादी, पर वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानकर बुद्धि का विनाश करलिया। यदि बुद्धि को नित्य मानाजाता है, तो वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद होना सम्भव नहीं; इनको परस्पर नाना मानना होगा ॥ ५ ॥

ज्ञान युगपत् नहीं होते—अनेक विषयों के एकसाथ ग्रहण न होने के विषय में सूत्रकार ने बताया कि समस्त बाह्य इन्द्रियों के पीछे अन्तःकरण एक अणु-परिमाण मन है, उसका बाह्य इन्द्रियों से सम्बन्ध क्रमपूर्वक होपाता है। जब जिस इन्द्रिय से मन का सम्बन्ध रहता है, तब उसी इन्द्रिय द्वारा विषय का ग्रहण होता है; इसप्रकार—

क्रमवृत्तित्वादयुगपद्ग्रहणम् ॥ ६ ॥ (२७५)

[क्रमवृत्तित्वात्] पर्याय से (मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध) होने के कारण [अयुगपद्ग्रहणम्] युगपत्–एकसाथ ज्ञान नहीं होता (अनेक विषयों का)।

विभिन्न इन्द्रियों के विषयों का ग्रहण एक समय में एक इन्द्रिय से होपाता है। कारण है–ज्ञान होने के लिए इन्द्रिय के साथ मन का सम्बन्ध। मन अणु होने से एक समय में एक इन्द्रिय से सम्बद्ध होसकता है। जिस इन्द्रिय से सम्बद्ध होता है, उस समय उसी इन्द्रिय के विषय का ग्रहण होता है, अन्य इन्द्रिय के विषय का नहीं। यह स्थिति वृत्ति और वृत्तिमान् के भेद को सिद्ध करती है। यदि इनका भेद न मानाजाय, तो वृत्तिमान् के नित्य होने से वृत्तियाँ नित्य बनी रहेंगी। तब किसी समय में किसी ज्ञान का प्रादुर्भाव होना, तथा किसीका तिरोभाव होना सम्भव न होगा। ज्ञानों के इस अनुभूत क्रम का अभाव होजायगा, जो अनिष्ट है। इस आधार पर वृत्ति और वृत्तिमान् का परस्पर भेद सिद्ध होजाता है ॥ ६ ॥

आचार्य सूत्रकार वृत्ति और वृत्तिमान् के नाना होने में अन्य हेतु प्रस्तुत करता है—

अप्रत्यभिज्ञानं च विषयान्तरव्यासङ्गात् ॥ ७ ॥ (२७६)

[अप्रत्यभिज्ञानम्] प्रत्यभिज्ञान नहीं होता [च] तथा [विषयान्तर-व्यासङ्गात्] अन्य विषय में व्यासङ्ग (आसक्त होने) से (मन के)।

किसी विषय का ग्रहण न होना उस समय सम्भव होता है, जब मन किसी अन्य विषय में आसक्त हो। यह एक व्यवस्था है–अर्थ, इन्द्रिय, मन के परस्पर सन्निकर्ष से एक समय में एक ज्ञान होसकता है। तब स्वभावतः यह स्थिति आती है कि मन जिस विषय में आसक्त होगा, उस विषय की उपलब्धि ज्ञाता आत्मा को होजायगी, अन्य विषयों की उपलब्धि न होगी। इसप्रकार उपलब्धि का न होना–उपलब्धि और उपलब्धिसाधन में भेद को सिद्ध करता है, अर्थात् वृत्ति

और वृत्तिमान् में परस्पर भेद है। यदि ये नाना न हों, तो मन [वृत्तिमान्] का एक विषय में व्यासक्त होना तथा अन्य विषयों से निरपेक्ष रहना निरर्थक होजायगा। तात्पर्य है–एक विषय में मन के व्यासङ्ग का अवसर नहीं आसकता। वृत्तिमान् के नित्य होने से–उससे अभिन्न वृत्तियाँ [ज्ञानरूपा] सदा बनी रहेंगी, तब किसी एक विषय में व्यासक्ति की सम्भावना नहीं रहती। इसीके साथ विभिन्न विषयों के युगपत् ग्रहण होजाने का दोष उपस्थित होजाता है। अतः वृत्ति और वृत्तिमान् का अभेद मानना असंगत है ॥ ७ ॥

मन विभु नहीं—इन्द्रियों के साथ क्रमशः अन्तःकरण मन का संयोग तभी सम्भव है, जब मन को अणुपरिमाण मानाजाता है। मन को विभु मानने पर यह सम्भव नहीं। इस तथ्य को आचार्य सूत्रकार ने बताया—

न गत्यभावात् ॥ ८ (२७७)

[न] नहीं है (विभु मन का क्रमशः इन्द्रियों के साथ संयोग), [गत्य-भावात्] गति के न होने से (विभु पदार्थ में)।

इन्द्रियाँ मन के साथ सम्बद्ध होकर विषय का ग्रहण करापाती हैं। यदि मन को विभु मानाजाता है, तो मन और इन्द्रियों का प्राप्तिरूप सम्बन्ध सदा बना रहेगा। तब क्रमशः संयोग न होने से अनेक विषयों का एकसाथ ग्रहण होते रहना प्राप्त होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है। विभु मन में–एक देश का त्याग और देशान्तर की प्राप्तिरूप–गति का अभाव रहेगा, तब क्रमशः मन का इन्द्रियों से सम्बन्ध न होने के कारण विषयों का अयुगपत् ग्रहण किसी तरह सम्भव न होगा। ऐसी दशा में अन्य किसी हेतु के आधार पर विषयों के अयुगपत् ग्रहण का अनुमान नहीं कियाजासकता।

जैसे चक्षु के द्वारा विषयग्रहण के लिए प्रत्यक्षतः चक्षु का विषयदेश के साथ सम्बन्ध प्रतिषिद्ध समझाजाता है, क्योंकि समीप और दूर के पदार्थ का समानकाल में ग्रहण होता देखाजाता है। आँखों के सामने हाथ फैलाकर हथेली देखने में जितना समय लगता है, उतने समय में चाँद को देखलियाजाता है। यदि चक्षु का विषय–देश के साथ सम्बन्ध होता, तो हथेली के देखने में जितना समय लगा है, उससे बहुत अधिक समय चाँद को देखने में लगता; क्योंकि वह हथेली की अपेक्षा बहुत अधिक दूर है। परन्तु समानकाल में दोनोंका ग्रहण होने से प्रत्यक्षतः चक्षु के विषयदेश में जाने का प्रतिषेध होता है। परन्तु व्यवहित वस्तु का चक्षु द्वारा प्रत्यक्ष न होने से, इस अनुमान के आधार पर चक्षु का विषय देश के साथ सम्बन्ध जानलियाजाता है। उसप्रकार विभु अन्तःकरण का गति के अभाव से प्रतिषिद्ध अयुगपत्- ग्रहण अनुमान से भी जाना नहीं जाता। अतः अन्तःकरण का विभु मानाजाना प्रामाणिक नहीं।

वस्तुतः यह विपरीत चर्चा अन्तःकरण अथवा उसके नित्य होने के विषय में नहीं समझनी चाहिये; क्योंकि यह प्रमाणों से पूर्णतया सिद्ध है कि अन्तःकरण मन है, और वह नित्य है। यह चर्चा अन्तःकरण के विभु होने के विषय में है। जिसकी उपलब्धि किसी प्रमाण से न होने के कारण वह सर्वथा प्रतिषिद्ध है। इसप्रकार अन्तःकरण एक है, और वह ज्ञानरूप नाना वृत्तियों के होने में निमित्त रहता है। चक्षु द्वारा होनेवाला ज्ञान—रूपज्ञान; घ्राण द्वारा होनेवाला ज्ञान—गन्धज्ञान। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा होनेवाले ज्ञानों में मन का प्रत्येक इन्द्रिय के साथ सम्बन्ध रहता है। यह स्थिति मन तथा इन्द्रिय को साधन एवं ज्ञान को साध्य प्रकट करती है। साधन वृत्तिमान् तथा साध्य को वृत्ति कहागया है। इसप्रकार वृत्ति और वृत्तिमान् का एक होना सर्वथा अनुपपन्न है।

ज्ञाता चेतन तत्त्व—किसी ज्ञान का ज्ञाता सदा चेतन पुरुष रहता है, अन्तःकरण नहीं। इससे अन्तःकरण का विषयान्तर में (किसी एक विषय में) व्यासक्त रहना खण्डित होजाता है। वस्तुतः अन्तःकरण मन का व्यासङ्ग—सम्बन्ध एक समय में किसी एक इन्द्रिय के साथ होसकता है। जिस इन्द्रिय के साथ मन का सान्निध्य रहता है, उस इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का आत्मा को ग्रहण होजाता है; जिन इन्द्रियों के साथ जिस समय मन का सान्निध्य नहीं है, उस समय उन विषयों का ग्रहण नहीं होता। मन के ऐसे व्यासङ्ग को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है ॥ ८ ॥

वृत्ति-वृत्तिमान् का भेद भ्रान्तिमूलक—यह ठीक है, अन्तःकरण एक है; इन्द्रियग्राह्य विषयों के अनुसार उसका व्यापार (वृत्तियाँ) अनेक रूप हैं। वृत्तियों की अनेकता वस्तुतः यथार्थ नहीं होती, एक में अनेकता का अभिमान होजाता है, इसलिये वृत्ति और वृत्तिमान् के अभेद मानने में कोई आपत्ति नहीं समझनी चाहिये। पूर्वपक्ष की इस भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

स्फटिकान्यत्वाभिमानवत् तदन्यत्वाभिमानः ॥ ९ ॥ (२७८)

[स्फटिकान्यत्वाभिमानवत्] स्फटिक के अन्य होने की प्रतीति के समान [तद्–अन्यत्वाभिमानः] वृत्ति के अन्य होने का अभिमान (भ्रम-प्रत्यय) होजाता है (वृत्ति के वृत्तिमद्रूप होने से एक होने पर भी)।

स्फटिक स्वच्छ शुक्ल एक है, पर उसके सामने रक्त, नील, पीत आदि उपाधि के आजाने से एक स्फटिक रक्त, नील, पीत आदि नानारूप में प्रतीत होता है। स्फटिक का नील-पीत आदि रूप में जानना भ्रान्त प्रत्यय है; स्फटिक वस्तुतः अपनेरूप में एक रहता है। इसीप्रकार अन्तःकरण एक है, इन्द्रिय-प्रणाली से उसके सामने घट-पट आदि विषय आने पर उसमें अनेकता का अभिमान होजाता है। यह अनेकता का अभिमान विभिन्न विषयों के उपधान से होता है,

अन्तःकरण की इसी स्थिति को 'व्यापार' अथवा 'वृत्ति' कहाजाता है; पर अन्तःकरण वृत्तिमान् से इसका भिन्न अस्तित्व कुछ नहीं। फलतः वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानने में कोई दोष प्रतीत नहीं होता।

वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेदवाद वस्तुतः युक्त प्रतीत नहीं होता। कारण यह है–एक स्फटिक में अन्यता के अभिमान के समान ज्ञानात्मक वृत्तियों में नाना होने का गौण प्रत्यय होता है; तथा गन्ध, रस, रूप आदि के नानात्व के समान यथार्थ प्रत्यय नहीं है; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं। क्यों न गन्ध, रस आदि के यथार्थ भेद के समान ज्ञानात्मक वृत्तियों का वास्तविक भेद मानाजाय ? वृत्ति-भेद के गौण न मानेजाने पर उसके मुख्य होने का कारण यह है कि गन्ध आदि विषयों का ज्ञान क्रमपूर्वक उत्पन्न व विनष्ट होता प्रत्यक्षतः देखाजाता है। इससे वृत्तियों का उत्पाद-विनाशशील होना स्पष्ट है। परन्तु वृत्तिमान्–अन्तःकरण उत्पाद-विनाशशील नहीं मानागया; वह नित्य-स्थायी स्वीकार कियाजाता है। ज्ञानात्मक वृत्तियों का क्रमशः उत्पाद-विनाश होना उनके नाना मानेजाने पर सम्भव है। फलतः उनका नाना होना गन्ध, रस, रूपादि के समान मुख्य है, गौण नहीं। ऐसी दशा में नित्य अन्तःकरण–वृत्तिमान् के साथ उनका अभेद बताना असंगत है ॥ ९ ॥

वस्तुमात्र स्थायी न होकर प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील—यदि स्फटिक में भेद की प्रतीति को गौण न मानकर–पदार्थ के प्रतिक्षण परिवर्त्तनशील मानेजाने के आधार पर उसे–मुख्य मानाजाय, तो वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानने में उक्त बाधा किसी अंश तक दूर होजाती है, क्योंकि इस दशा में दोनों उत्पाद-विनाश-शील होने से समान हैं। आचार्य सूत्रकार ने इसी भावना को सूत्रित किया—

स्फटिकेऽप्यपरापरोत्पत्तेः क्षणिकत्वाद्
व्यक्तीनामहेतुः ॥ १० ॥ (२७९)

[स्फटिके] स्फटिक में [अपि] भी [अपरापरोत्पत्तेः] अपर-अपर–अन्य-अन्य उत्पत्ति से, [क्षणिकत्वात्] क्षणिक होने के कारण [व्यक्तीनाम्] व्यक्तियों के, (व्यक्त पदार्थमात्र के) [अहेतुः] उक्त हेतु असंगत है (स्फटिक में नानात्व के गौण होने का गतसूत्रनिर्दिष्ट हेतु असंगत है)।

वादी कहता है, जितने व्यक्त पदार्थ हैं, सब क्षणिक हैं। प्रत्येक क्षण में वे परिवर्त्तित होते रहते हैं। स्फटिक उनसे बाहर नहीं है; उसमें प्रतिक्षण एक व्यक्तरूप नष्ट होता, तथा अन्य व्यक्तरूप उत्पन्न होता रहता है। नील, पीत उपाधि के आने से स्फटिक का नील, पीत प्रतीत होना गौण तभी कहाजासकता है, जब स्फटिक का स्थायी होना प्रमाणित होसके। प्रत्येक व्यक्त पदार्थ के क्षणिक होने से स्फटिक प्रत्येक क्षण में बदलता रहता है।

'क्षण' काल का एक बहुत छोटा भाग है। उतने समय जिस पदार्थ की स्थिति हो, वह 'क्षणिक' कहाजाता है। प्रत्येक व्यक्त पदार्थ का क्षणिक होना उसके उपचय और अपचय के देखेजाने से प्रमाणित होता है। शरीर आदि में यह उपचय-अपचय अत्यन्त स्पष्ट हैं। जो आहार आदि लियाजाता है, वह पचकर-रुधिर आदि रसों के रूप में परिणत होजाता है। कालान्तर में इससे शरीर की वृद्धि स्पष्ट प्रतीत होती है। आहार का रुधिर आदि के रूप में परिणत होना, उसके प्रतिक्षण परिणाम को प्रमाणित करता है। यदि ऐसा न मानाजाय, तो यह सम्भव नहीं कि उपभुक्त आहार-द्रव्य किसी एक क्षण में रुधिर आदि रूप से परिवर्त्तित होजाता हो। वह प्रतिक्षण परिवर्त्तित होता हुआ कालान्तर में उस दशा को प्राप्त हुआ ज्ञात होता है। जो स्थिति एक द्रव्य में देखीजाती है, उसे द्रव्यमात्र में समझलेना चाहिये।

शरीर में ह्रास की ओर परिवर्त्तन होने पर–जो शरीर कभी वृद्धि की ओर परिवर्त्तित होरहा था, वही अब प्रतिक्षण क्षीणता की ओर जाने से–कालान्तर में पूर्णरूप से परिवर्त्तित होजाता है। उस अवस्था को कहते हैं–शरीर नष्ट होगया। यह परिवर्त्तन संसार के अन्दर प्रत्येक वस्तु में प्रतिक्षण होता रहता है। चाहे वह आपाततः कुछ काल तक प्रतीत न हो, और तब वस्तु को भ्रान्ति से स्थायी समझलियाजाय; परन्तु वस्तु की उत्पत्ति से लेकर नाश तक उसके उपचय-अपचय का क्रम निरन्तर चलता रहता है। उत्पत्ति और विनाश स्वयं अपने रूप में निरन्तर वस्तु-परिणाम का फल हैं। ऐसी स्थिति में स्फटिक को स्थायी मानकर उसमें नील, पीत आदि प्रतीति को भ्रान्त व गौण बतानेवाला हेतु असंगत है। तब उसके दृष्टान्त से वृत्तियों के भेद को गौण बताना निराधार है ॥ १० ॥

पदार्थ की स्थिति यथादृष्ट—आचार्य सूत्रकार ने इन वादों के विषय में यथार्थ विचार प्रस्तुत किया—

नियमहेत्वभावाद् यथादर्शनमभ्यनुज्ञा ॥ ११ ॥ (२८०)

[नियमहेत्वभावात्] नियम में (पदार्थमात्र के क्षणिक होने के नियम में) हेतु न होने से [यथादर्शनम्] देखेजाने के अनुसार [अभ्यनुज्ञा] स्वीकार करना चाहिये (पदार्थ के यथादृष्ट स्वरूप को)।

प्रत्येक व्यक्त पदार्थ क्षणिक है, इस नियम में–इस व्यवस्था के मानने में–कोई विशेष हेतु प्रतीत नहीं होता। इसलिये जो पदार्थ जैसा देखाजाता है–स्थायी अथवा अस्थायी–उसको उसी रूप में स्वीकार कियाजाना चाहिये। समस्त व्यक्त पदार्थों में शरीर के समान उपचय-अपचय का क्रम-सिलसिला निरन्तर बना रहता हो, ऐसा नियम नहीं है। ऐसी व्यवस्था का प्रतिपादक कोई प्रत्यक्ष या

अनुमान आदि प्रमाण नहीं है । इसलिए जो पदार्थ जैसा देखाजाय, उसको वैसा स्वीकार करना यथार्थ है । जहाँ उपचय-अपचय निरन्तर होते प्रत्यक्षादि प्रमाणों से जानेजाते हैं, वहाँ अन्य-अन्य व्यक्ति का परिवर्त्तित होते रहना ठीक है । ऐसे शरीर आदि की सर्वात्मना एकत्व के रूप में स्थायिता स्वीकार नहीं कीजाती । परन्तु जहाँ उपचय-अपचय प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जानेजाते, वहाँ प्रतिक्षण परिवर्त्तन का मानाजाना नितान्त असंगत है; जैसे कठोर पाषाण आदि में । स्फटिक में उपचय-अपचय का क्रम नहीं देखाजाता । तब उसे स्थायी मानना होगा, उसमें प्रतिक्षण अन्य-अन्य व्यक्तस्वरूप का उत्पन्न होना स्वीकार करना सर्वथा अयुक्त है । यह ऐसी बात है, जैसे आखे (अर्क-क्षुप) की कड़ुआहट का स्वाद लेकर अन्य सब पदार्थों को कड़ुआ बताने लगना । आक कड़ुआ है, तो उसे कड़ुआ कहो; आम मीठा है, तो उसे मीठा कहो । यही वास्तविकता है ।। ११ ।।

वस्तु के स्थायित्व में उपपत्ति—द्रव्यस्थिति के अनुक्रम में जो वादी यह समझता है कि वस्तु का सर्वात्मना नाश होकर क्षणान्तर में अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति होती है, वहाँ अन्वित धर्मी कोई नहीं रहता । इस मान्यता के विषय में आचार्य सूत्रकार बताता है—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ।। १२ ।। (२८१)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद), [उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः] उत्पत्ति और विनाश के कारणों की उपलब्धि से (विभिन्न पदार्थों के सन्दर्भ में) ।

विभिन्न पदार्थों के उत्पत्ति एवं विनाश के विविध कारण उपलब्ध होते हैं । किसी पदार्थ के कारणभूत अवयवों का उपचय उत्पत्ति का कारण होता है, और अवयवों का अपचय विनाश का कारण । जब पदार्थ का निर्माण होता है, उसमें अवयवों का जैसे-जैसे उपचय (संकलन-संमिलन) होता है, उसके अनुसार पदार्थ की उत्पत्ति होती रहती है । दीमक-कीट मृदवयवों को संकलित कर वल्मीक को बनाता रहता है; गृह आदि का निर्माण ऐसा ही होता है । इसीप्रकार वस्तु के विनाश के कारण स्पष्ट देखेजाते हैं । अवयवों का अपचय-बिखरजाना-टूटफूटजाना विनाश का कारण है । घट, पट, गृह आदि उत्पन्न पदार्थ टूटते-फूटते देखेजाते हैं । जबतक अवयवों का अपचय नहीं होता, वस्तु अपने रूप में विद्यमान रहती है । अवयवों से वस्तु के उत्पन्न होने पर वहाँ अन्वयी धर्मी अवश्य विद्यमान रहता है । उत्पन्न पदार्थ सीमित काल तक बने रहने से स्थायी देखाजाता है । प्रत्येक पदार्थ को प्रतिक्षण उत्पाद-विनाशशील मानने पर वहाँ उपचय-अपचय का होना अनुपपन्न है । पदार्थ के स्थायी होनेपर उपचय-अपचय का होना सम्भव है । इसप्रकार पदार्थों में उत्पत्ति और विनाश के कारण उपचय-

अपचय के देखेजाने से वस्तु का स्थायी होना सिद्ध होता है, क्षणिक होना नहीं। वस्तु के क्षणिक न होने पर अन्वयहीन अशेष का निरोध और अपूर्व वस्तु का उत्पाद सम्भव नहीं। ऐसी स्थिति में स्फटिक में अन्य-अन्य उत्पत्ति की सम्भावना निराधार होजाती है; क्योंकि स्फटिक स्थायी पदार्थ है। वहाँ नानात्व की प्रतीति को मुख्य नहीं मानाजासकता। फलतः निरन्वय उत्पाद-विनाश किसी हेतु से पुष्ट न होने के कारण अमान्य है ॥ १२ ॥

क्षणिकत्व-कारणानुपलब्धि में उदाहरण—स्फटिक आदि में अन्य-अन्य उत्पत्ति के निराकरण के–वादी द्वारा कियेगये–समाधान को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

क्षीरविनाशे कारणानुपलब्धिवद् दध्युत्पत्तिवच्च तदुपपत्तिः ॥ १३ ॥ (२८२)

[क्षीरविनाशे] दूध के विनाश में [कारणानुपलब्धिवत्] कारण की अनुपलब्धि के समान [दध्युत्पत्तिवत्] दही की उत्पत्ति के समान [च] और [तद्उपपत्तिः] स्फटिक में अन्य-अन्य उत्पत्ति की उपपत्ति जानलेनी चाहिये।

दूध का दही बनजाता है; यहाँ दूध का नाश और दही का उत्पाद देखा-जाता है। परन्तु दूध के विनाश और दही के उत्पाद के कारणों की उपलब्धि नहीं होती। उत्पाद-विनाश के कारणों की उपलब्धि न होने पर भी उनके विनाश और उत्पाद को स्वीकार कियाजाता है। इसीप्रकार स्फटिक आदि में अन्य-अन्य व्यक्ति की उत्पत्ति व विनाश के कारणों की अनुपलब्धि में भी वहाँ अन्य-अन्य व्यक्ति के उत्पाद व विनाश का उपपादन समझना चाहिये। तब जैसे स्फटिक में नाना प्रतीति मुख्य होगी, वैसे वृत्तियों में भी उनका नाना होना मुख्य मानाजायगा। ऐसी दशा में वृत्ति-वृत्तिमान् का अभेद मानने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये ॥ १३ ॥

दध्युत्पत्ति में कारण अनुपलब्ध नहीं—आचार्य सूत्रकार उक्त मान्यता का निराकरण करता है—

लिङ्गतो ग्रहणान्नानुपलब्धिः ॥ १४ ॥ (२८३)

[लिङ्गतः] लिङ्ग से–हेतु से [ग्रहणात्] ग्रहण-उपलब्धि होजाने से (उत्पाद-विनाश कारणों की) [न] नहीं है [अनुपलब्धिः] अनुपलब्धि।

वादी ने कहा–दूध के विनाश और दही के उत्पाद के कारणों की उपलब्धि नहीं होती। यह कथन निराधार है; क्योंकि दूध का दही बनजाना, अर्थात् दूध का नाश और दही का उत्पन्न होजाना इस बात का लिङ्ग है; अर्थात् इस तथ्य के मानेजाने में हेतु है कि उनके विनाश और उत्पत्ति के कारण आवश्यकरूप से

वहाँ विद्यमान हैं। कारण के विना किसी कार्य का होना सम्भव नहीं होता, चाहे वह कार्य विनाश हो अथवा उत्पाद। स्फटिक की दशा में वहाँ कोई ऐसा कार्य-विनाश या उत्पाद-नहीं देखाजाता, जिससे उसके कारण का अनुमान करने की अपेक्षा हो। वहाँ स्फटिक स्थायी पदार्थ एकरूप विद्यमान रहता है। उपाधि के कारण रक्त, पीत, नील आदि प्रतीति औपचारिक हैं, गौण हैं। परन्तु दूध-दही के दृष्टान्त में यह स्थिति नहीं है। यहाँ दूध का विनाश और दही का उत्पाद स्पष्ट रूप से अपने कारणों का अनुमान कराते हैं। अनुमान से कारण की उपलब्धि होजाने पर कारण की अनुपलब्धि बताना सर्वथा निराधार है। फलतः स्फटिक आदि में अन्य-अन्य व्यक्ति की उत्पत्ति का कोई लिङ्ग न होने से वहाँ पूर्व का अशेष नाश और अपर-अपूर्व की उत्पत्ति को स्वीकार नहीं किया-जासकता। इस कारण स्फटिक आदि पदार्थों को अनुवृत्त-स्थायी-निरन्तर विद्यमान रहनेवाले-मानना युक्तियुक्त है ॥ १४ ॥

दूध-दही का विनाशोत्पाद गुणान्तरपरिणाम—प्रस्तुत प्रसंग में अन्य एक वादी के विचार को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न पयसः परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात् ॥ १५ ॥ (२८४)

[न] नहीं युक्त, क्षीरविनाश और दधि-उत्पाद के कारण की उपलब्धि का उक्त समाधान), [पयसः] दूध के [परिणामगुणान्तरप्रादुर्भावात्] परिणाम द्वारा गुणान्तर के प्रादुर्भाव से।

गतसूत्रों में कहागया—दूध के विनाश और दही की उत्पत्ति में कोई कारण अवश्य रहता है। कारण का प्रत्यक्ष न होने पर भी दूध-दही के विनाश-उत्पाद से उसका अनुमान कियाजाता है। प्रस्तुत वादी का कहना है कि वहाँ न दूध का विनाश होता, और न दही का उत्पाद; तब विनाश-उत्पाद के कारण को ढूंढना व्यर्थ है। द्रव्य और उसके धर्मों का सद्भाव बराबर बना रहता है। दूध की दशा में द्रव्य और उसके धर्म विद्यमान हैं, दही की दशा में भी। दूध की दशा में माधुर्य, तारल्य आदि धर्म उद्भूत रहते हैं। दूध जब दही के रूप में परिणत होजाता है, तब वहाँ माधुर्य और तारल्य आदि धर्म अन्तर्निहित होजाते हैं, उद्भूत नहीं रहते; तथा जो धर्म अभीतक अनुद्भूत थे—अम्लता, पिच्छिलता आदि; उनका उद्भव होजाता है। द्रव्य और उसके सब धर्म तब भी विद्यमान थे, अब भी हैं। कभी कोई धर्म उद्भूत रहते हैं, दूसरे अनुद्भूत। इसप्रकार न दूध का नाश होता है, न दही का उत्पाद। द्रव्य की ऐसी स्थिति को परिणाम कहाजाता है। परिणाम का तात्पर्य है—द्रव्य और उसके धर्म अवस्थित रहते हैं, निमित्तविशेष से कभी उद्भूत पूर्वधर्म अनुद्भूत होजाते हैं, और जो धर्म अभी तक अनुद्भूत थे, उनका उद्भव होजाता है।

प्रस्तुत वादी का तात्पर्य है--वस्तुमात्र सदा अवस्थित रहता है। किसी का सर्वात्मना विनाश एवं अपूर्व उत्पाद सम्भव नहीं। सत् का असद्भाव और असत् का सद्भाव कभी नहीं होता। यह विवेचन वादी और सिद्धान्ती के सत्कार्य और असत्कार्य-वाद पर आधारित है[1] ॥ १५ ॥

वादी द्वारा प्रस्तुत उत्पाद-विनाश के अभाव का–आचार्य सूत्रकार ने–प्रतिषेध प्रस्तुत किया—

व्यूहान्तराद् द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनं पूर्वद्रव्यनिवृत्तेरनुमानम् ॥ १६ ॥ (२८५)

[व्यूहान्तरात्] रचना-विशेष (एक अवयव-समुदाय के संयोगविशेष) से [द्रव्यान्तरोत्पत्तिदर्शनम्] भिन्न द्रव्य की उत्पत्ति का देखाजाना [पूर्वद्रव्यनिवृत्तेः] पहले द्रव्य की समाप्ति का [अनुमानम्] अनुमान कराता है।

यह देखाजाता है, कुछ कारण-द्रव्य इकट्ठे होते हैं, अथवा इकट्ठे किये-जाते हैं। वे अपने रूप में यद्यपि स्वतन्त्र अवयवी हैं, परन्तु आगे उनसे जो कार्य उत्पन्न होना है, उसके वे अवयवरूप कारणद्रव्य हैं। इनका अपना व्यूह, अपनी विशेष रचना है। इस पूर्व-अवस्थित अवयवसमुदाय से–दूध आदि द्रव्यविशेष से–एक अन्य द्रव्य दही आदि की उत्पत्ति देखीजाती है। द्रव्य की यह स्थिति पहले द्रव्य के विनाश का अनुमान कराती है। दूध की अवस्था में दही नहीं देखाजारहा था; जब दूध की अवस्था नहीं रही, तब दही देखाजाता है। इससे यह सिद्ध है, किसी कारणविशेष से दूध का विनाश और दही का उत्पाद होता है। कारण का निश्चय इसीसे होजाता है; क्योंकि कारण के विना किसीका विनाश अथवा उत्पाद सम्भव नहीं। दूध के विनाश के विना दही का उत्पाद नहीं होसकता; दूध की विद्यमानता में दही कहाँ है? दही का उत्पन्न होजाना, इस तथ्य का निश्चायक है कि दूध का विनाश होगया है। ये उत्पाद और विनाश अपने कारण का अनुमान करादेते हैं।

यह देखाजाता है, मृत्पिण्ड (पानी से सना-गुथा मिट्टी का ढेर-लौंदा) अपने अवयवों के विशेष संयोग के कारण एक विशिष्ट आकृति को ग्रहण किये रहता

---

१. भाष्यकार वात्स्यायन ने उक्त विचार सांख्य-योग के अनुसार प्रकट करते हुए पातञ्जल योगसूत्र [३।१३] के व्यासभाष्य की एक पंक्ति को 'एक आह' यह कहकर इसप्रकार उद्धृत किया है—"परिणामश्च–अवस्थितस्य पूर्वधर्मनिवृत्तौ धर्मान्तरोत्पत्तिः–इति।" द्रष्टव्य, योगसूत्र [३।१३] पर व्यासभाष्य की अन्तिम पंक्ति। न्यायसूत्र [१।२।६] पर भी व्यासभाष्य [३।१३] के कतिपय अंश उद्धृत हैं। इससे योगभाष्यकार व्यास का काल न्यायसूत्र भाष्यकार वात्स्यायन से पहले है; यह प्रमाणित होता है।

है। पर जब उस मृत्पिण्ड से घट उत्पन्न होजाता है, तब मृत्पिण्ड की दशा में जो अवयव-संयोग था, वह अब दिखाई नहीं देता। उन अवयवों का विभाग होजाने से निश्चित ही पूर्वावयवसंयोग का नाश होजाता है। यह पूर्वद्रव्य–मृत्पिण्ड के नाश का प्रयोजक है। उससे उत्पन्न घट-द्रव्य के अवयवसंयोग का जब नाश होजाता है, अर्थात् घटावयवों में किसी कारण विभाग उत्पन्न होजाने से अवयव बिखर जाते हैं, पूर्व-अवयवसंयोग का नाश होजाता है; तब कहाजाता है–घट नष्ट होगया। इस उत्पाद-विनाश की परम्परा में जैसे मृत्पिण्ड और घट में मृद्रूप द्रव्य अन्वित रहता है; ऐसे दूध-दही में कारण-अवयव द्रव्य अन्वित रहते हैं। निरन्वय अशेष का विनाश तथा सर्वथा अपूर्व द्रव्य का उत्पाद-सिद्धान्त-पक्ष को भी अभिमत नहीं है। परिणामवाद और आरम्भवाद में शाब्दिक ऊपरी बहस बहुत रहती है। गम्भीरता से विचारने पर इनमें मौलिक भेद नहीं के बराबर है[1] ॥ १६ ॥

दूध-दही का विनाशोत्पाद अकारण नहीं—जो वादी दूध का विनाश और दही का उत्पाद विना कारण के होना स्वीकार करता है; आचार्य सूत्रकार ने उसकी इस मान्यता में अनेकान्त दोष प्रस्तुत किया—

क्वचिद् विनाशकारणानुपलब्धेः क्वचिच्चोपलब्धेरनेकान्तः ॥१७॥ (२८६)

[क्वचित्] कहीं (दूध-दही आदि में) [विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाश के कारण की उपलब्धि न होने से [क्वचित्] कहीं [च] और (घट आदि में) [उपलब्धेः] उपलब्धि होने से (विनाश आदि के कारण की), [अनेकान्तः] अनेकान्त है (व्यभिचार-दोष से दूषित है, वादी का उक्त कथन)।

वादी ने कहा–दूध आदि में विनाश का कारण उपलब्ध नहीं होता, यह प्रथम कहाजाचुका है यद्यपि प्रत्यक्ष से दूध आदि में विनाशकारण उपलब्ध नहीं होता, पर अनुमान से उसकी उपलब्धि होजाती है। कार्यमात्र के सकारणक होने से विनाशरूप कार्य भी विना कारण नहीं होसकता; अतः विनाश स्वयं अपने कारण का अनुमान करादेता है। परन्तु सूत्रकार प्रस्तुत सूत्रद्वारा वादी के उक्त कथन में अनेकान्त-दोष की उद्भावना कर प्रकारान्तर से उसका प्रतिषेध करता है।

---

१. **असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद के रूप में आरम्भवाद व परिणामवाद का संक्षिप्त व स्पष्ट विवेचन, हमारी रचना 'वैशेषिक दर्शन–विद्योदयभाष्य' के परिशिष्ट–१ में पृ० ३७६ से ३८२ तक कियागया है। वहाँ देखा-जासकता है।**

यदि दूध आदि के विनाश का कारण उपलब्ध नहीं होता, तथापि घट आदि के उत्पाद-विनाश का कारण तो उपलब्ध होता है। घट आदि के उत्पाद-विनाश में कारण का प्रत्यक्षतः ग्रहण प्रत्येक व्यक्ति करसकता है। ऐसी स्थिति में—वस्तुमात्र के उत्पाद-विनाश निष्कारण होते हैं—यह कथन अनेकान्त होजाता है। यदि दूध-दही के निष्कारण उत्पाद-विनाश के समान स्फटिक आदि में अन्य-अन्य व्यक्ति का विनाश-उत्पाद निष्कारण कहाजाता है, घट आदि के सकारण उत्पाद-विनाश के समान स्फटिक आदि में भी अन्य-अन्य व्यक्ति का उत्पाद-विनाश सकारणक क्यों नहीं मानाजाता ? तात्पर्य है, सकारणक उत्पाद-विनाश के देखेजाने से निष्कारण उत्पाद-विनाश को एकान्त नियम नहीं कहाजासकता।

स्फटिक में विनाशोत्पाद नहीं—उक्त मान्यता में न केवल अनेकान्त-दोष है, अपितु आश्रयासिद्ध दोष भी है। स्फटिक आदि में उत्पाद-विनाश निष्कारण हैं, इसमें दूध-दही के विनाश-उत्पाद का दृष्टान्त दिया। यह दृष्टान्त आश्रयासिद्ध है। इस दृष्टान्त का आश्रय अर्थात् पक्ष असिद्ध है। जैसे दूध-दही में विनाश-उत्पाद गृहीत होते हैं, ऐसे स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद गृहीत कहाँ होते हैं ? यदि दूध-दही के समान स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद गृहीत होते, तो दूध-दही के विनाश-उत्पाद-दृष्टान्त का आश्रय यथार्थ होता। परन्तु स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद गृहीत नहीं होते; अतः इस दृष्टान्त का आश्रय असिद्ध होने से इस आधार पर किया गया कथन असंगत होजाता है।

एक बात और है, वादी स्फटिक आदि में विनाश-उत्पाद को स्वीकार करता है, तो यह उसीके समान मानाजाना चाहिये, जहाँ घट आदि में उत्पाद-विनाश प्रत्यक्षतः गृहीत होते हैं। घट आदि में उत्पाद-विनाश की सकारणकता सिद्ध है, उसका प्रतिषेध नहीं कियाजासकता। तब स्फटिक आदि में यदि उत्पाद-विनाश सम्भव हैं, तो उन्हें सकारणक मानना होगा। इसप्रकार उत्पाद-विनाश को निष्कारणक मानाजाना सर्वथा असंगत है, निराधार है।

ऐसी स्थिति में दूध-दही के विनाश-उत्पाद को निष्कारण नहीं कहाजा-सकता। प्रत्येक कार्य सकारणक होता है, यह एक निश्चित व्यवस्था है। यदि दूध-दही के विनाश-उत्पाद के कारण प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होते, तो उक्त व्यवस्था के आधार पर उनका अनुमान कियाजासकता है; क्योंकि कार्य अपने कारण के अस्तित्व का अनुमापक (लिङ्ग) होता है।

इस समस्त विवेचन के आधार पर परिणाम निकलता है कि वृत्ति और वृत्तिमान् में भेद है; तथा वृत्तिरूप ज्ञान—जो इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि के द्वारा उत्पन्न होता है—वह अनित्य है। उसी ज्ञान का अपरनाम आचार्य ने बुद्धि बताया है [१।१।१५], अतः बुद्धि को अनित्य मानाजाना सर्वथा प्रामाणिक है॥ १७॥

बुद्धि (ज्ञान) किसका गुण है—बुद्धि की अनित्यता का निश्चय होजाने पर बुद्धिविषयक अन्य अवशिष्ट परीक्ष्य अंशों को समझने की भावना से शिष्य जिज्ञासा करता है, बुद्धि को किसका गुण मानाजाना चाहिये ? संशय का कारण यह है—बुद्धि का उत्पाद इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष आदि से मानागया है। उसमें आत्मा और मन का सम्बन्ध आवश्यकरूप से रहता है। अब बुद्धि की उत्पत्ति में ये चार कारण साधारणतः सामने आते हैं–आत्मा, मन, इन्द्रिय और अर्थ। इन चारों में से किसका गुण बुद्धि को मानाजाय ? यह जिज्ञासा है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

नेन्द्रियार्थयोस्तद्विनाशेऽपि ज्ञानाऽवस्थानात् ॥ १८ ॥ (२८७)

[न] नहीं (गुण, बुद्धि) [इन्द्रियार्थयोः] इन्द्रिय और अर्थों का, [तद्विनाशे] इन्द्रिय और अर्थ के विनाश होने पर [अपि] भी [ज्ञानाऽवस्थानात्] ज्ञान के अवस्थान से-विद्यमान रहने से।

बुद्धि, इन्द्रिय–अर्थ का गुण नहीं—ज्ञान (-बुद्धि) की उत्पत्ति में निमित्त उक्त चारों पदार्थों में से इन्द्रिय और अर्थों [गन्ध, रस, रूप आदि तथा घट, पट आदि] का गुण ज्ञान नहीं होसकता; क्योंकि इन्द्रिय और अर्थ के न रहने पर ज्ञान बना रहता है। यदि ज्ञान इनका गुण होता, तो इनके न रहने पर ज्ञान नहीं रहसकता था। कारण यह है–गुण अपने आश्रय-द्रव्य के बिना नहीं रह-सकता। एक वस्तु को किसी व्यक्ति ने आँखों से देखा; देखने के कुछ काल अनन्तर किसी अनिवार्य कारण से उस व्यक्ति की आँखें जाती रहीं। वह वस्तु भी–जो पहले देखी थी-न रही। फिर भी उस व्यक्ति को वस्तु के विषय में 'ज्ञान' बनारहता है, उसे यह निश्चित प्रतीति होती है कि–मैंने उस वस्तु को देखा था। ज्ञाता अर्थात् ज्ञान के आश्रय का विनाश होजाने पर ज्ञान का होना सर्वथा असम्भव है।

इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह 'अनुभव' ज्ञान कहाजाता है। उस ज्ञान के होने में इन्द्रिय साधन और अर्थ विषय रहता है, ज्ञान का आश्रय नहीं। उस ज्ञान का आश्रय इन्द्रिय और अर्थ के अतिरिक्त कोई अन्य है। परन्तु अनन्तर-काल में 'देखा था' (-अद्राक्षम्) रूप से जो ज्ञान होता है, यह अनुभवात्मक न होकर स्मृतिरूप है। इस ज्ञान के होने में इन्द्रिय और अर्थ का तात्कालिक अस्तित्व अपेक्षित नहीं होता। यदि इन्द्रिय और अर्थ इस ज्ञान के आश्रय होते, तो उनके अभाव में इस ज्ञान का होना सम्भव नहीं था। यह स्मृतिरूप ज्ञान आत्मा और मन के सन्निकर्ष से उत्पन्न होजाता है। यह (स्मृति-ज्ञान) उसीको हो सकता है, जिसको प्रथम अनुभव हुआ हो। अन्य के अनुभूत विषय का अन्य को स्मरण नहीं होसकता। चैत्र के अनुभव का मैत्र

स्मरण नहीं करसकता । यह स्थिति स्पष्ट करती है–अनुभव-काल में ज्ञान इन्द्रिय और अर्थ को नहीं हुआ । तब उसके आगे मन को ज्ञाता मानलेने की सम्भावना में इन्द्रिय और अर्थ को ज्ञाता [–ज्ञान का आश्रय] प्रतिपादित नहीं कियाजा-सकता ।। १८ ।।

बुद्धि, मन का गुण नहीं—यह सुनकर शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है–अच्छी बात है, इन्द्रिय और अर्थ का गुण ज्ञान न रहे; तब क्या मन का गुण ज्ञान को मानलेना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेश्च न मनसः ।। १९ ।। (२८८)

[युगपत्] एक-साथ [ज्ञेयानुपलब्धेः] ज्ञेय (अनेक विषयों) की उपलब्धि न होने से [न] नहीं है, [मनसः] मन का (गुण, ज्ञान) ।

आत्मा चेतन-तत्त्व है; अपने चैतन्य के कारण स्वभावतः वह वैभवशाली है, विशिष्ट प्रभावी शक्तियों से सम्पन्न । शरीर में उसकी स्थिति ऐसी है कि एक जगह बैठे भी उसका सम्पर्क समस्त इन्द्रियों से रहता है । इन्द्रियाँ अपने ग्राह्य विषयों के साथ सन्निकृष्ट होकर उस विषय के ग्रहण कराने में साधन होती हैं । शरीर में विशिष्ट स्थिति के कारण आत्मा का समस्त इन्द्रियों के साथ निरन्तर संपर्क बना रहने से प्रतिक्षण अनेक ज्ञानों का होना प्राप्त होता है, जो अनुभव के अनुकूल नहीं है । इस व्यवस्था के लिये आत्मा और इन्द्रियों के मध्य में एक ऐसे साधन-तत्त्व की कल्पना करनी पड़ती है, जो एक क्षण में एक ही इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान कराने में उपयोगी है । वह साधन 'मन' है । उसीको अन्तःकरण कहाजाता है । घ्राण आदि इन्द्रियाँ बाह्य करण हैं । जिस इन्द्रिय के साथ जिस क्षण मन का सन्निकर्ष रहता है, उस क्षण में उसी इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का ज्ञान ज्ञाता को होपाता है । इसप्रकार मन के अस्तित्व की कल्पना ज्ञान के साधनरूप में कीगई है, ज्ञातारूप में नहीं । ज्ञेय की युगपत् उपलब्धि न होने में मुख्य साधन मन है । इसलिये मन को ज्ञाता [ज्ञान का आश्रय] न मानाजाकर ज्ञान का साधन मानाजासकता है ।

बुद्धि आत्मा का गुण है—युगपत् विषय का ग्रहण न होना अन्तःकरण मन का लिङ्ग है । ज्ञान उस अन्तःकरण का गुण नहीं । वह ज्ञाता का गुण है, जो इन सभी साधनों [करणों] पर नियन्त्रण रखता है । करण सब नियम्य हैं । यदि इनमें से किसीका गुण ज्ञान को मानाजाय, तो उसका करणभाव समाप्त होजायगा । ज्ञाता को गन्ध आदि का ज्ञान कराने में बाह्य करण घ्राण आदि साधनों से अनुमान होता है–ज्ञाता को सुख-दुःख आदि तथा स्मृतिरूप ज्ञान के कराने में उपयोगी साधन कोई अन्तःकरण अवश्य होना चाहिये । वही साधन अन्तःकरण मन है । यदि उसीका गुण ज्ञान मानलियाजाय, तो वह ज्ञाता के स्थान

पर आत्मा-रूप में आ बैठता है; तब युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि तथा सुखादि की उपलब्धि के साधनरूप में अन्य तत्त्व की कल्पना करनी होगी। तब अर्थ-तत्त्व तो वैसा ही रहा, केवल उनके नाम में भेद होगया। फलतः यह निश्चित हुआ–मन, ज्ञान सुख आदि का साधनमात्र है; इनका आश्रय ज्ञाता आत्मा है; अतः ज्ञान आत्मा का गुण है।

सूत्र में एक 'च' पठित है–'युगपज्ज्ञेयानुपलब्धेः 'च' मनसः'। व्याख्याकारों ने इस चकार के प्रयोग का यहाँ एक विशेष प्रयोजन बताया है। उनका कहना है, युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि का जो उल्लेख हुआ है, वह अयोगी [–जो योग-समाधिसम्पन्न नहीं है, अर्थात् सर्वसाधारणजन] के विषय में समझना चाहिये। इसी भावना को अभिव्यक्त करने के लिये यहाँ सूत्रकार ने 'च' पद का प्रयोग किया है। क्योंकि वस्तुतः योगी इस परिस्थिति से परे होता है।

जब योगी योग-समाधि-सम्पन्न होजाता है, तब उस आत्मा की प्रसुप्त अनुपम विभूतियाँ जागृत होजाती हैं। उस वैभव के प्रादुर्भूत होजाने पर आत्मा विकरणधर्मा होजाता है। किन्हीं विषयों को ग्रहण करने के लिये उसे इन्द्रिय जैसे बाह्य साधनों की अपेक्षा नहीं रहती। वह युगपत् अनेक विषयों को वैसे ही ग्रहण कर सकता है, जैसे इन्द्रियसहित अन्य अनेक शरीरों में आत्मा उपलब्ध करता है। वह व्यवहित, विप्रकृष्ट तथा अतिसूक्ष्म विषयों का ग्रहण करलेता है, जो इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। उसमें अयोनिज शरीरों के निर्माण करने का सामर्थ्य होजाता है। यह सब वैभवशालिताप्राप्त आत्मा के चैतन्यस्वरूप का चमत्कार समझना चाहिये। अचेतन-जड़ वैभवहीन मन में यह सब सम्भव नहीं। यदि मन को ऐसा वैभवशाली मानलियाजाता है, तो वह आत्म-स्थानीय तत्त्व होगया। इससे ज्ञान अथवा चैतन्य आत्मगुण है, इसका प्रतिषेध नहीं हुआ। उस तत्त्व का केवल नाम बदलदियागया। यदि साधनभूत मन को ऐसा वैभवशाली मानलिया-जाता है, तो फिर समस्त इन्द्रियों द्वारा युगपत् ज्ञान होने को कोई रोक नहीं सकता। क्योंकि आत्मा और इन्द्रियों के बीच में मन नामक वैसा तत्त्व आगया, जैसा स्वयं आत्मा है। इसलिये चैतन्य की वैभवशालिता से रहित साधन की कल्पना युगपत् ज्ञेय की अनुपलब्धि में उपयोगी होसकती है। जो वैभव चैतन्य में सम्भव है, वह जड़ मन में कभी नहीं होसकता। अतः चेतन आत्मा और इन्द्रियों के बीच में एक ऐसे जड़ साधन की कल्पना कीगई है, जो आत्मा को इन्द्रियों द्वारा युगपत् ज्ञान होने में रोक लगाता है। इस विवेचन के फलस्वरूप ज्ञान आत्मगुण है, यह निश्चय होजाता है[1] ॥ १६ ॥

---

१ इस प्रसंग को समझने के लिये आवश्यक है कि देह में आत्मा की स्थिति अथवा आत्मा के निवास को समझ लियाजाय। व्यापकरूप में देहस्थित

ज्ञान के आत्म-गुण होने में दोष—वादी कहता है, ज्ञान को मन का गुण मानने पर जो दोष गत सूत्र द्वारा प्रकट कियागया, वह दोष–ज्ञानको आत्मा का गुण मानने पर भी सम्भव है। आचार्य सूत्रकार ने वादी की इस भावना को सूत्रित किया—

तदात्मगुणत्वेऽपि तुल्यम् ॥ २० ॥ (२८६)

[तत्] वह (–युगपत् ज्ञेय की उपलब्धिरूप) दूषण [आत्मगुणत्वे] आत्मा का गुण होने पर (ज्ञान के) [अपि] भी [तुल्यम्] तुल्य–समान है।

आत्म-चैतन्य के समस्त देह में व्याप्त होने के कारण उसका सम्बन्ध प्रत्येक इन्द्रिय के साथ रहता है। तब प्रतिक्षण प्रत्येक इन्द्रिय द्वारा ग्राह्य विषय का ज्ञान आत्मा को होता रहना चाहिये। जब दोनों में समान दोष है, तो ज्ञान को मन का गुण मानाजाय, अथवा आत्मा का, इसमें क्या अन्तर आता है? ॥ २० ॥

आत्मा को विभु कहना प्रामाणिक नहीं है। देह में आत्मा एकदेशी है, इसकी विभुता चैतन्यस्वरूप के कारण इसकी शक्तियों पर निर्भर है। वे शक्ति व सामर्थ्य साधारण स्थिति में सदा अन्तर्हित रहते हैं। उपलब्ध उपयुक्त साधनों द्वारा साधारण अवस्था में भी वह सामर्थ्य अपना चमत्कार दिखाता है। समाज में महान् लोककर्त्ता पुरुष समाधिसम्पन्न न होने पर भी चैतन्य के विशिष्ट प्रतिभाजन्य स्तर पर पहुँचकर समाज का नेतृत्व करते हैं। परन्तु आत्मा के योग-समाधि से सम्पन्न होजाने पर चैतन्य की वे आश्चर्यजनक शक्तियाँ–जो अभीतक अन्तर्हित थीं–जागृत होजाती हैं। तब आत्मा, देह और इन्द्रिय आदि साधनों की परिधि से परे होजाता है। उसे समस्त व्यवहित, विप्रकृष्ट, सूक्ष्मातिसूक्ष्म तत्त्वों की जानकारी के लिये वह 'सामर्थ्य' मिलजाता है, जहाँ इन्द्रियादि साधन नगण्य हैं। अथवा, जिसकी तुलना में ये साधन हेय हैं।

आत्मा देह के एक देश में स्थित रहता है। यह मस्तिष्कगत हृदय-देश है। सूक्ष्मशरीर आत्मा का परिवेष्टन (एक प्रकार का खोल) है, जिसमें आत्मा आ-सर्गप्रलय अवस्थित रहता है। उसीमें समस्त करण अवस्थित हैं। देह में बाहर को खुले आँख, नाक आदि उन इन्द्रियों के गोलकमात्र हैं, जो इन्द्रियाँ आत्मा के निवास-क्षेत्र में सीमित हैं। इन्द्रियों का अपने गोलकों के साथ सम्बन्ध ज्ञानवहा नाड़ियों द्वारा सम्पन्न होता है, जिनका जाल आत्म-निवास के मस्तिष्क केन्द्र से समस्त देह में फैला हुआ है। देह में आत्म-निवास की अधिक जानकारी के लिये हमारी रचना 'सांख्यसिद्धान्त' के पृष्ठ ११५–१२१ द्रष्टव्य हैं।

बुद्धि के आत्मगुण होने में कोई दोष नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इस आपत्ति का समाधान किया—

इन्द्रियैर्मनसः सन्निकर्षाभावात् तदनुपपत्तिः ।। २१ ।। (२९०)

[इन्द्रियैः] इन्द्रियों के साथ [मनसः] मन का (युगपत्) [सन्निकर्षाभावात्] सन्निकर्ष के अभाव से [तद्–अनुपपत्तिः] उस युगपत् ज्ञान) की उपपत्ति–सिद्धि नहीं होती ।

गन्ध आदि विषयों की उपलब्धि में जैसे घ्राण आदि इन्द्रिय का अर्थ (विषय) के साथ सन्निकर्ष आवश्यक कारण है, इसीप्रकार इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष कारण है । अचेतन अणु मन का सन्निकर्ष एक समय में एक इन्द्रिय के साथ होसकता है । जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मन का सन्निकर्ष होगा, उस समय उसी इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान होगा । मनःसंयोगरूप कारणवैकल्य से उस समय अन्य इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य विषय का आत्मा को ज्ञान न होगा । यद्यपि आत्मचैतन्य का इन्द्रियों से स्वतः, तथा ज्ञानवहा नाड़ीजाल के द्वारा प्रत्येक बाह्य इन्द्रियगोलक के साथ सम्बन्ध सदा बनारहता है । मन का स्वभाव है, वह एक समय में एक इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होसकता है । इसलिये ज्ञान आत्मा का गुण होने पर भी मनोरूप माध्यम के कारण युगपत् ज्ञान आत्मा को नहीं होपाते ।। २१ ।।

मन ज्ञान-साधन—वादी पुनः आशङ्का करता है, यदि ज्ञान आत्मा का गुण है, इन्द्रिय ज्ञान का साधन है, अर्थ ज्ञान का विषय है, तो–'आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ' इन तीन को ज्ञान की उत्पत्ति में निमित्त मानना चाहिये । मन का न तो गुण है ज्ञान, न वह गन्धज्ञान आदि में घ्राण आदि के समान ज्ञान का साधन है, और न ज्ञान का विषय । तब ज्ञानोत्पत्ति के क्षेत्र से मन का बहिष्कार होना चाहिये । ऐसा होने पर युगपत् ज्ञान होने की प्रसक्ति होगी । उससे बचने के लिये यह अच्छा है कि ज्ञानोत्पत्ति की सीमा से आत्मा को बाहर निकालकर वहाँ मन को बैठादियाजाय । तब ज्ञान आत्मा का गुण न मानाजाकर मन का गुण मानलियाजाय । इससे मन के अचेतन अणु होने के कारण युगपत् ज्ञानोत्पत्ति की प्रसक्ति भी न होगी । इस आशंका का आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

नोत्पत्तिकारणानपदेशात् ।। २२ ।। (२९१)

[न] नहीं (युक्त, उक्त आशंका) [उत्पत्तिकारणानपदेशात्] उत्पत्ति (ज्ञानोत्पत्ति) के कारणों में (आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ केवल इन तीन के) कथन न होने से ।

प्रस्तुत शास्त्र में जहाँ ज्ञानोत्पत्ति के निमित्तों का निर्देश कियागया है, वहाँ केवल 'आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ' इन तीन का उल्लेख हुआ हो, ऐसा नहीं है। सूत्रकार ने प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति में साक्षात् इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष का उल्लेख किया है [१ । १ । ४]। अन्यत्र युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति में मन को साधन बताया है [१ । १ । १६]। इससे ज्ञान की उत्पत्ति में मन को साधनरूप से स्पष्ट स्वीकार कियागया है। प्रस्तुत प्रसङ्ग ज्ञान को आत्मा का गुण सिद्ध करता है। शास्त्र की सकल भावना को हृदयंगम कर भाष्यकार आचार्यों ने ज्ञानोत्पत्ति में 'इन्द्रिय-अर्थ' के सन्निकर्ष के समान मनःसन्निकर्ष को साधनरूप से तथा आत्म-सन्निकर्ष को ज्ञानाश्रयरूप से स्वीकारकर उसका स्पष्ट उल्लेख किया है [१ । १ । ४ का वात्स्यायन-भाष्य]। इसप्रकार ज्ञानोत्पत्ति के निमित्तों की सीमा में 'आत्मा-मन-इन्द्रिय-अर्थ' इन सबका समावेश है। मन का इससे बहिष्कार नहीं कियाजासकता। ज्ञानोत्पत्ति की कारणता में मन साधनरूप से समाविष्ट है, ज्ञानाश्रयरूप से नहीं। ऐसी स्थिति में वादी द्वारा उद्भावित–युगपत् ज्ञानोपलब्धिप्रसङ्ग-दोष सिद्धान्त-पक्ष को दूषित नहीं करता। मन के साधनरूप में उपस्थित रहने से अनेक इन्द्रियों के साथ उसका युगपत् सन्निकर्ष असम्भव होता है। अतः एक समय में एक ही ज्ञान होपाता है ॥ २२ ॥

नित्य आत्मा का गुण ज्ञान नित्य हो—ज्ञान को आत्मा का गुण मानने में वादी पुनः दोष प्रस्तुत करता है कि आत्मा के नित्य होने से उसके गुण ज्ञान को नित्य मानाजाना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने वादी की भावना को सूचित किया—

विनाशकारणानुपलब्धेश्चावस्थाने तन्नित्यत्व-प्रसङ्गः ॥ २३ ॥ (२६२)

[विनाशकारणानुपलब्धेः] विनाश के कारणों की उपलब्धि न होने से (ज्ञान के), [च] तथा [अवस्थाने] अवस्थान–ज्ञान का स्थित रहना प्राप्त होने पर [तन्नित्यत्वप्रसङ्गः] ज्ञान का नित्य होना प्रसक्त होता है।

आत्मा नित्य है; ज्ञान को आत्मा का गुण मानाजाता है, तो ज्ञान नित्य होना चाहिये। ऐसी स्थिति में सूत्रपठित 'च' पद गत बीसवें सूत्र से प्रकट कियेगये–युगपत् ज्ञान होने रूप–दोष की प्रसक्ति का समुच्चय करता है। तात्पर्य है–ज्ञानों के नित्य होने पर युगपत् अनेक ज्ञानों का विद्यमान रहना प्राप्त होगा, जो अवाञ्छनीय है। ज्ञान को आत्मा का नित्यगुण मानने पर इस अवाञ्छनीयता को हटाया नहीं जासकता।

गुण-विनाश के कारण दो प्रकोर के हैं। एक है–गुणों के आश्रय का न

रहना । दूसरा है–किसी विरोधी गुण का उपस्थित होजाना । पहला कारण यहाँ सम्भव नहीं; क्योंकि ज्ञान गुण का आश्रय 'आत्मा' नित्य द्रव्य है; उसका नाश कभी सम्भव नहीं । इसलिये आश्रयनाश से ज्ञान-गुण के नाश की कल्पना करना निराधार है । दूसरा कारण है–विरोधी गुण का उपस्थित होना । बुद्धि (ज्ञान) का कोई विरोधी गुण जाना नहीं जाता । कोई ऐसा गुण आजतक गृहीत नहीं है, जिसे बुद्धि का विरोधी कहाजासके । ऐसी स्थिति में बुद्धि को नित्य आत्मा का गुण मानने पर उसका नित्य होना प्राप्त होगा । इसप्रकार बुद्धि को आत्म-गुण मानने से दो दोष प्राप्त हुए । एक–बुद्धि का नित्य होना । दूसरा–नित्य होने से अनेकानेक बुद्धियों (ज्ञानों) का युगपत् बने रहना ॥ २३ ॥

ज्ञान गुण नित्य नहीं—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आपत्ति का समाधान प्रस्तुत किया—

अनित्यत्वग्रहाद् बुद्धेर्बुद्ध्यन्तराद् विनाशः शब्दवत् ॥ २४ ॥ (२९३)

[अनित्यत्वग्रहात्] अनित्य होने के ग्रहण से (बुद्धि के), [बुद्धेः] बुद्धि का [बुद्ध्यन्तरात्] अन्य बुद्धि से [विनाशः] विनाश होजाता है, [शब्दवत्] शब्द के समान ।

शब्द की अनित्यता, तथा उत्पत्तिस्थान से श्रोत्र तक पहुँचने में शब्द-सन्तति का उपपादन विस्तारपूर्वक प्रथम [२ । २ । १३–३९] कियाजाचुका है । शब्द उत्पन्न होकर वीचीतरङ्गन्याय से अगले शब्द को उत्पन्न करता और पहले का नाश करता है । जैसे एक तालाब में पत्थर फेंकने पर, पत्थर के जल में गिरने के स्थान से सब ओर एक लहर, और उस लहर से अन्य लहर–पत्थर गिरने की क्षमता के अनुसार–दूरतक उठती चलीजाती हैं, इसीप्रकार किसी जगह शब्द के होने पर आकाश में शब्द-स्थान से सबओर शब्द की तरंग फैलती चलीजाती हैं । यहाँ पहला शब्द अगले को उत्पन्न करता, और अपने से पूर्व-शब्द को नष्ट करता चलाजाता है । शब्द की ऐसी तरंगों को 'शब्द-सन्तान' अथवा 'शब्द-सन्तति' कहाजाता है । इसप्रकार शब्द के उत्पन्न होने और विनाश होने से उसकी अनित्यता प्रमाणित होती है ।

ठीक इसीप्रकार ज्ञान उत्पन्न होते और नष्ट होते रहते हैं, इस स्थिति को प्रत्येक व्यक्ति जानता-समझता है । एक ज्ञान के बाद दूसरा, और दूसरे के बाद तीसरा, और फिर अन्य विषय का ज्ञान–यह क्रम बराबर चलता रहता है, यह कोई छिपा हुआ तथ्य नहीं है । जब एक ज्ञान के अनन्तर दूसरा ज्ञान होता है, तो वही पहले ज्ञान का विरोधी गुण है । अपने उत्पन्न होने पर पहले ज्ञान को नहीं रहने देता । इसप्रकार ज्ञान का अनित्य होना प्रत्येक व्यक्ति के लिये

सुबोध्य है। ज्ञान के आश्रय आत्मा के नित्य होने से यह आवश्यक नहीं कि वह गुण नित्य हो। नित्य आकाश का गुण शब्द अनित्य रहता है। आत्मा को इन्द्रियार्थसन्निकर्ष आदि से होने वाले विषय-ज्ञान के अनित्य होने में कोई बाधा नहीं है। यह वृत्तिरूप ज्ञान आत्मा का स्वरूप नहीं है, जिससे इस ज्ञान के नित्य होने अथवा आत्मा के अनित्य होने की आपत्ति का उद्भावन किया-जासके ॥ २४ ॥

स्मृति का अयौगपद्य—ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर वादी स्मृति के आधार पर अन्य प्रकार से आपत्ति प्रस्तुत करता है। उसका कहना है–पहले असंख्यात अनुभवों के संस्कार आत्मा में समवेत रहते हैं। आत्मा और मन का सन्निकर्ष होने पर वे संस्कार स्मृति-ज्ञान को उत्पन्न करते हैं। आत्मा और मन का सन्निकर्ष दोनों के नित्य होने से सदा बना रहता है। यदि ज्ञान आत्मा का गुण हो, तो प्रतिक्षण अनेक स्मृतियाँ होती रहनी चाहियें। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे अनुमान होता है–ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है। इस आपत्ति के निवारण के लिये सूत्रकार ने किसी अन्य आचार्य के द्वारा प्रस्तुत समाधान को सूत्रित किया—

ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षान्मनसः स्मृत्युत्पत्तेर्न युगपदुत्पत्तिः ॥ २५ ॥ (२९४)

[ज्ञानसमवेतात्मप्रदेशसन्निकर्षात्] ज्ञान (ज्ञान-हेतु संस्कार) से समवेत आत्मप्रदेश के साथ सन्निकर्ष से [मनसः] मन के [स्मृत्युत्पत्तेः] स्मृति की उत्पत्ति होने के कारण [न] नहीं [युगपत्] एक-साथ [उत्पत्तिः] उत्पत्ति (अनेक स्मृतियों की)।

किसी आचार्य के द्वारा यह समाधान आत्मा को विभु मानकर कियागया है। तात्पर्य है–आत्मा विभु है, सर्वत्र व्यापक है। अनन्त विभिन्न संस्कार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में समवेत रहते हैं। मन क्योंकि अणु है, उसका सन्निकर्ष एक समय में आत्मा के किसी एक प्रदेश के साथ होना सम्भव है। इसप्रकार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों के साथ मन का सन्निकर्ष पर्याय से अर्थात् क्रम से होगा। मनःसन्निकृष्ट आत्मा के प्रदेश में जो संस्कार समवेत होगा; उस क्षण में उसीकी स्मृति होना सम्भव है। अतः मनःसन्निकर्ष के पर्याय से होने के कारण स्मृतियाँ पर्याय से होंगी। फलतः ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर भी स्मृतियों के युगपत् होने की आपत्ति निराधार है ॥ २५ ॥

मन शरीर के बाहर नहीं जाता—स्मृतियों के युगपत् न होने का उक्त समाधान दोषपूर्ण है; यह आचार्य सूत्रकार बताता है—

नान्तःशरीरवृत्तित्वान्मनसः ॥ २६ ॥ (२९५)

[न] नहीं (युक्त, उक्त समाधान), [अन्तःशरीरवृत्तित्वात्] शरीर के भीतर विद्यमान रहने के कारण [मनसः] मन के ।

आत्मा शरीर में और शरीर के बाहर सर्वत्र व्याप्त है । अनन्त संस्कार आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में समवेत हैं, जो शरीर से बाहर हैं । किसी एक आत्मप्रदेश में एक संस्कार रहता है । तब अनन्त संस्कारों का आत्मप्रदेशों में समवेत होना अधिकता से देह के बाहर सम्भव है । परन्तु मन का शरीर से बाहर जाकर आत्मप्रदेशों के साथ सन्निकृष्ट होना सम्भव नहीं । कारण यह है–देहसहित आत्मा का मन के साथ संयोग चालू जीवन का चिह्न है, जबतक प्रारब्ध कर्माशय फलोन्मुख रहता है । जिन कर्मसमूहों से एक जीवन प्रारम्भ होता है, वे कर्म यथाक्रम फलोन्मुख रहते हैं; फल की प्राप्ति पूर्ण होजाने पर उस देह के साथ मनसहित आत्मा का सम्बन्ध समाप्त होजाता है, और जीवन पूरा होजाता है । जीवन के चालू काल में मन का शरीर से बाहर होना असंभव है । ऐसी दशा में एक जीवन के चालू रहते हुए देह के बाहर आत्म-प्रदेशों के साथ मन का सन्निकर्ष उपपन्न नहीं होसकता । तब युगपत् स्मृतियों का न होना क्या ? अधिकतर स्मृति का न होना ही प्राप्त होगा, जो अनिष्ट है । फलतः स्मृतियों के युगपत् न होने का उक्त समाधान सर्वथा दोषपूर्ण है ॥ २६ ॥

मन का देहान्तर्वृत्ति होना साध्य—हेतु वह होता है, जिसका साध्य के प्रति साधनभाव सिद्ध हो, निश्चित हो । स्वयं साध्यधर्म हेतुरूप में प्रस्तुत नहीं कियाजाता । मन का अन्तःशरीरवृत्तित्व अभी सिद्ध कहाँ है ? साध्य होने से इसका हेतुरूप में कथन अयुक्त है । वादी की इस भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

साध्यत्वादहेतुः ॥ २७ ॥ (२९६)

[साध्यत्वात्] साध्य होने से (गतसूत्र प्रयुक्त 'अन्तःशरीरवृत्तित्व' हेतु) [अहेतुः] अहेतु है (साध्य का साधक नहीं) ।

जीवन का जो स्वरूप बतायागया–फलोन्मुख कर्माशय के सहित सदेह आत्मा का मन के साथ संयोग; यदि वस्तुतः जीवन का यह स्वरूप अपेक्षित हो, तो मन का अन्तःशरीरवृत्ति होना उपपन्न होसकता है । परन्तु जीवन के उक्त स्वरूप में अन्तिमभाग (सदेह आत्मा का मन के साथ संयोग) अपेक्षित नहीं है । जीवन का केवल इतना स्वरूप अपेक्षित है–फलोन्मुख कर्मों का सदेह आत्मा में समवेत होना । आत्मा के कर्माशय-प्रचय में से किसी एक शरीर की प्राप्ति के लिये ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार जिन कर्मों को छाँटलियागया, अथवा चुन लियागया है, वे प्रारब्ध-कर्म हैं । उनके अनुसार आत्मा का जिस शरीर के साथ सम्बन्ध हुआ, उस शरीर सम्बद्ध आत्मा में उन कर्माशय-वासनाओं संस्कारों का

समवेत रहना 'जीवन' है। जबतक फलभोग द्वारा उन वासनाओं की समाप्ति न होजायगी, वह शरीर बनारहेगा, उतना ही जीवन है। वासनाओं के समाप्त होजाने पर आत्मा का उस देह से सम्बन्ध छूट जायगा; जीवन समाप्त हो जायगा। जीवन के लिये सदेह आत्मा के साथ मन का संयोग अपेक्षित नहीं है। तब मन आत्मा के साथ संयुक्त देह में रहे, अथवा देह के बाहर, इसमें कोई बाधा नहीं है। इसलिये २५वें सूत्र में स्मृतियों के युगपत् न होने के लिये उन-उन आत्मप्रदेशों के साथ मनःसंयोग को जो निमित्त बतायागया है, वह दोषपूर्ण नहीं है। मन आत्मप्रदेशों के साथ देह में तथा देह से बाहर यथावश्यक संयुक्त होता रहता है; उसीके अनुसार पर्याय से स्मृतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं॥ २७॥

मन का शरीर से बाहर जाना सम्भव नहीं—मन का अन्तःशरीरवृत्ति होना सिद्ध करते हुए आचार्य सूत्रकार ने वादी के उक्त कथन का निराकरण किया—

स्मरतः शरीरधारणोपपत्तेरप्रतिषेधः॥ २८॥ (२९७)

[स्मरतः] स्मरण करते हुए (व्यक्ति के) [शरीरधारणोपपत्तेः] शरीर-धारण की उपपत्ति-सिद्धि से [अप्रतिषेधः] वादी द्वारा प्रस्तुत उक्त प्रतिषेध (मन के अन्तःशरीरवृत्ति होने का प्रतिषेध) असंगत है।

व्यक्ति किसी समय पूर्वानुभूत विषय का–मन को एकाग्र कर चिरकाल तक–स्मरण करता रहता है। स्मरणकाल में शरीर का धारण यथावस्थित देखा-जाता है। तात्पर्य है–स्मरण और शरीरधारण दोनों एक काल में होते रहते हैं। शरीरधारक प्रयत्न सदा आत्म-मनःसन्निकर्षजन्य होता है। शरीर के यथा-वस्थित ठहरे रहने के लिये प्रयत्न की अपेक्षा होती है। यदि वह प्रयत्न न रहे, तो शरीर किसी ओर को लुढ़क जायगा, यथावस्थित ठहरा न रहेगा। शरीर का धारक वह प्रयत्न आत्मगुण, आत्मा में आत्म-मनःसंयोग से उत्पन्न रहता है। यदि स्मृतिकाल में मन देह से बाहर चलाजाय, तो सदेह आत्मा का मनः-संयोग न रहने से वहाँ धारक प्रयत्न उत्पन्न न होगा; तब शरीर यथावस्थित धारित न रहकर प्रायः किसी ओर लुढ़क जाना चाहिये। पर ऐसा किसी स्मृति-काल में कभी नहीं होता। इससे सिद्ध है, स्मृति के लिये मन को देह के बाहर विभिन्न आत्म-प्रदेशों के साथ संयोग के निमित्त कहीं जाना नहीं पड़ता। मन सदा शरीर के भीतर निवास करता है।

आत्म-मनःसन्निकर्ष से उत्पन्न हुआ आत्मगुण-प्रयत्न दो प्रकार का होता है, एक–प्रेरक, दूसरा–धारक। प्रेरक प्रयत्न वह है, जो शरीर अथवा शरीराङ्गों में क्रिया को उत्पन्न करता है। शरीर का चलना, हाथ-पैर आदि का हिलाना

आदि । ऐसी दैहिक क्रियाओं में प्रेरक-प्रयत्न निमित्त रहता है । चलते या बैठे रहते हुए शरीर का यथावस्थित धारित रहना, दूसरे प्रकार के प्रयत्न का कार्य है । स्मरण करने की दशा में शरीर के यथावस्थित रहने से यह स्पष्ट होजाता है—उस दशा में मन शरीर से बाहर कहीं नहीं जाता । अन्यथा मन के शरीर से बाहर निकलजाने पर धारक प्रयत्न के अभाव में आत्मसहित भी देह गुरुत्व के कारण इधर-उधर को गिरजायगा । इससे यह भी सिद्ध होजाता है—मन के शरीरवृत्ति रहते हुए स्मरण होता है ॥ २८ ॥

मन के देह से बाहर रहते भी देहधारण सम्भव—सूत्रकार के उक्त कथन को सहन करते हुए वादी का कहना है—शरीरधारण आदि मन के बाहर जाने पर भी उसके आशुगति (तीव्रगामी) होने के कारण सम्भव है । आचार्य सूत्रकार ने वादी की भावना को सूत्रित किया—

न तदाशुगतित्वान्मनसः ॥ २९ ॥ (२९८)

[न] नहीं (युक्त), [तत्] वह उक्त कथन [आशुगतित्वात्] आशुगति-शीघ्रगामी होने से [मनसः] मन के ।

मन अतिशीघ्र गतिवाला है, इसकी घोषणा सभी शास्त्र करते हैं । ऐसा मन शरीर के बाहर जाकर संस्कारसमवेत आत्म-प्रदेशों के साथ क्रमशः संयुक्त होकर पर्याय से स्मृतियों को उत्पन्न करता, और वापस होकर शरीरधारक प्रयत्न को उत्पन्न करतारहता है । आशुगति होने के कारण दोनों कार्यों का सम्पादन करलेना उसके लिये असाध्य नहीं है । ऐसा भी होसकता है कि शरीर-धारक प्रयत्न को उत्पन्न करके शरीर से बाहर निकलजाय, वहाँ स्मृतियों को उत्पन्न कर पुनः वापस आ शरीर को संभाल ले । आशुगति होने पर मन को कुछ काल बाहर लगेगा, वह कितना भी कम हो; तब तक पूर्वोत्पन्न प्रयत्न की परम्परा कुलालचक्र की भ्रमी के समान चालू रहती हुई शरीर को धारण करेगी । यथावसर मन पुनः देह में आजायगा । इसप्रकार दोनों कार्यों (स्मृति, शरीरधारण) के चालू रहने में कोई बाधा नहीं है । तब पच्चीसवें सूत्र का कथन यथावस्थित रहजाता है ॥ २९ ॥

मन का देह से बाहर होना बाधित—आचार्य सूत्रकार ने वादी के उक्त कथन का निराकरण किया —

न स्मरणकालानियमात् ॥ ३० ॥ (२९९)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [स्मरणकालानियमात्] स्मरण-काल का नियम न होने से (स्मरण-काल की कोई नियत सीमा न होने से) ।

कभी स्मरण जल्दी होजाता है, कभी उसमें चिरकाल लगजाता है । जब किसी विषय को स्मरण करने की इच्छा से मन चिरकाल तक उसी चिन्तनक्रम

में लगारहता है, तब कहीं पर्याप्त विलम्ब से किसी विषय की स्मृति का लिङ्ग-भूत अर्थ स्मर्ता के हाथ आता है, जो स्मृति के उद्भावन में निमित्त होता है। ऐसी दशा में चिरकाल तक मन का शरीर से बाहर निकले रहना किसी आधार पर प्रमाणित नहीं कियाजासकता। यह विवेचकों का अनुभवसिद्ध तथ्य है कि चिन्तन की गहराई में उतर जाने पर चिरकाल तक ज्ञाता को किसी विषयान्तर का किसी प्रकार का भान नहीं होता। ऐसी स्थिति में मन का देह से बाहर रहना सर्वथा अनुपपन्न है, क्योंकि तब देह का धारण होना असम्भव होगा।

इसके अतिरिक्त मन का देह से बाहर जाना मानने में एक और प्रबल बाधक स्थिति है। वह है–आत्म-मनःसंयोग का शरीर-संयोग की अपेक्षा के विना स्मृति का हेतु न होना। आत्म-मनःसंयोग स्मृति को तब-तक उत्पन्न नहीं करसकता, जबतक उनका शरीर के साथ संयोग न हो। शरीर आत्मा के समस्त उपभोग का आधार है। आत्मा सबप्रकार के सुख-दुःख आदि भोगों को शरीर में रहता हुआ प्राप्त करसकता है। यदि शरीर से बाहर मन का आत्मा के साथ संयोगमात्र होने से ज्ञान, सुख, दुःख आदि की उत्पत्ति का होना कल्पना कियाजाता है, तो शरीर का होना व्यर्थ है। शरीरसम्बन्ध के विना यदि ज्ञान, सुख आदि आत्म-मनःसंयोगमात्र से होजाते हों, तब शरीरों का होना निष्फल है। इसलिये यह निश्चित सिद्धान्त है–कर्म करने और कर्म-फलों को भोगने के लिये आत्मा का शरीर-सम्बन्ध में आना अनिवार्य है। फलतः आत्मा को जो कुछ विषयों से सम्बद्ध ज्ञान, सुख आदि प्राप्त होता है, वह शरीर में रहते संभव है, शरीर से बाहर नहीं।

ऐसी स्थिति में स्मृतियों के युगपत् न होने का जो प्रकार पच्चीसवें सूत्र में कहागया है, वह निराधार व असंगत होगा; तब ज्ञान को आत्मा का गुण मानने पर स्मृतियों का युगपत् होना प्राप्त होता है। उसके निवारण के लिये यही मानना उपयुक्त है, कि ज्ञान को आत्मा का गुण न मानकर मन का गुण मानलियाजाय। अन्यथा तब पच्चीसवें सूत्र की अवतरणिका में प्रस्तुत वादी की आशंका तदवस्थ बनी रहती है कि ज्ञान को आत्मगुण मानने पर स्मृतिहेतु आत्म-मनःसंयोग सदा बने रहने से स्मृतियाँ युगपत् होती रहनी चाहियें। इसका उपयुक्त समाधान सूत्रकार ने तेतीसवें सूत्र में प्रस्तुत किया है ॥ ३० ॥

आत्म-मनःसन्निकर्ष देह से बाहर नहीं—आचार्य सूत्रकार यहाँ प्रसंग-प्राप्तशरीर के बाहर आत्म-मनःसन्निकर्ष की अनुपपत्ति को बताता है, जिससे मूल विषय की दृढ़ता का उपपादन होसके। सूत्रकार ने बताया—

आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिश्च न संयोगविशेषः ॥ ३१ ॥ (३००)

[आत्मप्रेरणयदृच्छाज्ञताभिः] आत्मा की प्रेरणा से, यदृच्छा-आकस्मिकरूप

से, ज्ञता-ज्ञानविशिष्टिता से (मन की), [च] और [न] नहीं होता [संयोगविशेषः] संयोगविशेष (मन का शरीर के बाहर आत्म-प्रदेशों के साथ) ।

शरीर के बाहर विभिन्न आत्म-प्रदेशों के साथ मन का संयोग तीन कारणों से होना कहाजासकता है–आत्मप्रेरणा, यदृच्छा और मन का ज्ञ-ज्ञाता अर्थात् ज्ञानविशिष्ट होना ।

पहला कारण–आत्मप्रेरणा है। आत्मा मन को प्रेरणा करे कि मेरे अमुक प्रदेश में स्मर्तव्य विषय का संस्कार समवेत है, वहाँ जाकर आत्म-प्रदेश से संयुक्त होजाओ। मन को आत्मा की प्रेरणा का स्वरूप यही होसकता है। यह स्थिति स्पष्ट करती है–जब आत्मा को मन के प्रेरित करने का संकल्प होता है, तभी उसे स्मर्तव्य विषय का स्मरण होरहा होता है; क्योंकि ऐसे स्मरण के विना उक्त संकल्प व प्रेरणा का होना सम्भव नहीं। तब उस विषय के स्मरण के लिये मन को प्रेरणा करना व्यर्थ है। आत्म-प्रेरणा का अन्य कोई प्रकार सम्भव नहीं; अतः शरीर से बाहर आत्म-प्रदेश के साथ मन के संयोग का यह कारण अनुपपन्न है ।

दूसरा कारण–'यदृच्छा' कहाजासकता है। इसका अर्थ है–आकस्मिक। अर्थात् किसी कार्य का अकस्मात्–विना किसी कारण के–होजाना। ऐसा कथन सर्वथा अन्याय्य है। क्योंकि यह एक नियत व्यवस्था है–कोई कार्य विना कारण के नहीं होसकता। शरीर से बाहर आत्म-प्रदेश के साथ मनःसंयोगरूप कार्य का कोई कारण अवश्य होना चाहिये। कार्य विना कारण-आकस्मिक नहीं होता। अतः यदृच्छा भी उक्त संयोग के लिये कारगर उपाय नहीं ।

तीसरा कारण 'ज्ञता' बताया। 'ज्ञता' पद में 'ज्ञ' से 'तल्'-प्रत्यय-भाव अर्थ में होकर 'ज्ञता' पद निष्पन्न होता है। इसका अर्थ हुआ–'ज्ञ' होना। 'ज्ञ' का अर्थ है–ज्ञाता, ज्ञानविशिष्ट। तात्पर्य हुआ–मन का ज्ञाता-ज्ञानविशिष्ट होना। मन स्वयं ज्ञाता होने से यह जानता है कि आत्मा के अमुक प्रदेश में स्मर्तव्य विषय के स्मृतिहेतु संस्कार समवेत हैं; उस प्रदेश में मुझे संयुक्त होना चाहिये, जिससे आत्मा को उस विषय का स्मरण होसके ।

यह हेतु मूलतः असंगत है। ज्ञान अर्थात् बुद्धि मन का धर्म नहीं है, यह प्रस्तुत प्रसंग में सिद्ध कियाजारहा है। ऐसी दशा में शरीर से बाहर आत्म-प्रदेशों के साथ मनःसंयोग के ये तथाकथित कारण सब बेकार हैं। अन्य कोई कारण सम्भव नहीं। अतः पच्चीसवें सूत्र में स्मृतियों के युगपत् न होने का जो प्रकार बतायागया, वह निराधार व असंगत है ॥ ३१ ॥

मन के देहान्तर्वृत्ति होने में समान दोष—वादी पुनः आशंका करता है–शरीर के बाहर विभिन्न आत्मप्रदेशों के साथ मन के संयोग में गतसूत्र से जो

आपत्ति प्रस्तुत की हैं, वह मन के शरीरान्तर्वृत्ति मानने पर भी समान हैं। सूत्रकार ने वादी की उस भावना को सूत्रित किया—

व्यासक्तमनसः पादव्यथनेन संयोगविशेषेण समानम् ॥ ३२ ॥ (३०१)

[व्यासक्तमनसः] एकमात्र विषय में संलीन मनवाले व्यक्ति के [पादव्यथनेन] पैर में व्यथा होने से (काँटा आदि लगने अथवा कीट-दंश आदि के द्वारा) [संयोगविशेषेण] संयोगविशेष के साथ [समानम्] समान है [शरीर के बाहर संयोगविशेष)।

जब कोई व्यक्ति संगीत आदि देखने–सुनने में नितान्त संलीन है, उसका मन उसी विषय के ग्रहण में व्यासक्त है, ऐसे समय उसके पैर में सुई या काँटा चुभ गया; या किसी कीड़े आदि ने काटखाया; तब शरीर के अन्दर ही श्रोत्र तथा चक्षुस्थानीय आत्म-प्रदेश से संयुक्त मन के–तत्काल उस प्रदेश को छोड़कर पादस्थानीय आत्म-प्रदेश के साथ–संयोगविशेष में कारण क्या होता है ? तात्पर्य है–शरीर के भीतर मन के–एक आत्म-प्रदेश से संयुक्त न रहकर प्रदेशान्तर के साथ–संयुक्त होने में जो कारण होसकता है; वही कारण शरीर से बाहर मन का संयोग होने में मानाजासकता है। इसलिये एक आत्म-प्रदेश से संयुक्त मन का–वहाँ से हटकर–प्रदेशान्तर के साथ संयोग होना, शरीर के भीतर और बाहर दोनों जगह समान है। पैर में अचानक जब दंश होता है, तब तत्काल उसका ज्ञान होजाता है। यद्यपि मन ठीक उसके पूर्वकाल में आत्मा के अन्य प्रदेश के साथ सन्निकृष्ट रहता है। तब प्रदेशान्तर में संयुक्त होने के लिये आत्म-प्रेरण आदि निमित्तों के अभाव में अन्य कोई निमित्त तो मानना होगा। जो निमित्त यहाँ शरीर के भीतर आत्मा के एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में मनःसंयोग का कारण कल्पना कियाजासकता है, वही कारण शरीर के बाहर सम्भव है। इसलिये गतसूत्र में 'आत्म-प्रेरण' आदि के आधार पर शरीर के बाहर आत्मप्रदेश के साथ मन के संयोग का जो प्रतिषेध कियागया है, उसका कोई प्रामाणिक आधार नहीं है।

यदि कहाजाय, व्यक्ति के पूर्वकृत कर्मों से जनित अदृष्ट (धर्म-अधर्मरूप) जो आत्मा में समवेत रहता है, यथावसर व्यक्ति के उपभोग को सम्पन्न करने के लिये, मन में तदनुकूल (उपभोग के अनुकूल) क्रिया को उत्पन्न करने का हेतु होता है। इसीके कारण मन आत्मा के एक प्रदेश से प्रदेशान्तर में यथावसर संयुक्त होतारहता है। उसीके अनुसार आत्मा को सुख-दुःख आदि होते हैं, और उनका ज्ञान होता है। यदि ऐसा है, तो यही कारण व प्रकार स्मृतियों के उत्पन्न होने में मानाजासकता है। आत्मा के उपभोग के लिये स्मृतियों की उत्पत्ति में

उन-उन आत्मप्रदेशों के साथ (चाहे वे शरीर के भीतर हों या बाहर) मन का संयोग होने के लिये मन में क्रिया का हेतु 'अदृष्ट' रहता है। उसके कारण सक्रिय हुआ मन अभिमत आत्म-प्रदेश के साथ संयुक्त होकर स्मर्त्तव्य विषय की स्मृति को उत्पन्न करदेता है। इसलिये इकत्तीसवें सूत्र में शरीर से बाहर आत्मप्रदेश के साथ मन के संयोग का प्रतिषेध आधारहीन है।

वस्तुतः सूत्रकार ने छब्बीसवें सूत्र में सिद्धान्ततः यह स्पष्ट कर दिया है कि मन शरीर के बाहर कहीं नहीं जाता। शरीर के भीतर मन के रहने पर आत्मा और मन का निरन्तर सन्निकर्ष बने रहने से स्मृतियों का युगपत् उत्पन्न होते रहना प्राप्त होता है, जो अनिष्ट है ॥ ३२ ॥

स्मृति के युगपत् न होने का कारण—आचार्य सूत्रकार को अब यह बताना चाहिये कि स्मृति के हेतु आत्म-मनःसंयोग के विद्यमान रहते युगपत् स्मृतियाँ क्यों नहीं होतीं ? सूत्रकार ने स्मृतियों के युगपत् न होने का कारण बताया—

प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानामयुगपद्भावादयुगपत् स्मरणम् ॥ ३३ ॥ (३०२)

[प्रणिधानलिङ्गादिज्ञानानाम्] प्रणिधान एवं लिङ्गादि ज्ञानों के [अयुगपद्भावात्] युगपत् न होने से [अयुगपत्] युगपत् नहीं होता [स्मरणम्] स्मरण।

'प्रणिधान' आदि स्मृतिकारण—स्मृति के हेतु जैसे आत्म-मनःसंयोग और संस्कार आदि हैं, ऐसे प्रणिधान आदि अनेक निमित्त हैं। प्रणिधान आदि का संकलन इसी आह्निक के तेतालीसवें सूत्र में स्मृति-हेतुओं के रूप से कियागया है। कोई कार्य अपने सम्पूर्ण कारणों के उपस्थित होने पर सम्पन्न होपाता है। संस्कार आत्मा में समवेत रहते हैं; आत्म-मनःसंयोग बनारहता है; पर इतने से स्मर्तव्य विषय की स्मृति उभर नहीं पाती, क्योंकि उसके अन्य निमित्त वहाँ उपस्थित नहीं रहते। वे प्रणिधान आदि ऐसे निमित्त हैं, जिनका युगपत् उपस्थित होना सम्भव नहीं होता। उनकी उपस्थिति के अनुसार स्मृतियाँ पर्याय से उभरा करती हैं। स्मृतियों के युगपत् उत्पन्न न होने का यही मुख्य आधार है।

आत्मा देहान्तर्वर्त्ती है—वादी के द्वारा उपस्थापित–विभु आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में विविध संस्कार समवेत रहते हैं, उन विविध प्रदेशों के साथ मन के संयोग का पर्याय से होना, स्मृतियों के युगपत् न होने का कारण है, इत्यादि–मान्यता आचार्य सूत्रकार को अभिमत प्रतीत नहीं होती, इस मान्यता में मूलभूत न्यूनता–आत्मा के विभिन्न प्रदेशों में एक-एक संस्कार का समवेत होना–है। वस्तुतः हृदयस्थित आत्मा में समस्त संस्कार समवेत रहते हैं; तभी आत्म-मनःसंयोग से युगपत् स्मृतियों के होने की आपत्ति उठाई जासकती है।

विभिन्न प्रदेशों में संस्कारों के समवेत मानेजाने की दशा में युगपत् स्मृतियों के होने का प्रश्न ही नहीं उठता। इस आपत्ति का उठायाजाना, और प्रस्तुत सूत्र द्वारा इसका समाधान कियाजाना सूत्रकार की इस अभिमत भावना को अभिव्यक्त करता है कि सूत्रकार आत्मा को देह के भीतर हृदयस्थित मानता है, वहीं आत्मा में समस्त संस्कार समवेत हैं। वहीं मन की स्थिति होने से आत्म-मनः-संयोग बने रहने पर युगपत् स्मृतियों का होना प्राप्त होता है, उसीका समाधान सूत्रकार ने प्रस्तुत सूत्र द्वारा किया है ॥ ३३ ॥

'प्रातिभ' के समान स्मृतियौगपद्य—सामान्यरूप से स्मृतियों के युगपत् होने का निराकरण गतसूत्र से कियागया। फिर भी स्मृतिविशेष को लक्ष्यकर स्मृति के युगपत् होने की–शिष्य द्वारा प्रस्तुत–आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

प्रातिभवत्तु प्रणिधानाद्यनपेक्षे स्मार्त्ते यौगपद्यप्रसङ्गः ॥ ३४ ॥
(२०३)

[प्रातिभवत्] प्रतिभाजन्य ज्ञान के समान [तु] फिर भी [प्रणिधानाद्यनपेक्षे] प्रणिधान आदि निमित्तों की जहाँ अपेक्षा नहीं है, ऐसे [स्मार्त्ते] स्मृतिरूप ज्ञानों में [यौगपद्यप्रसङ्गः] युगपत् होने का अवसर प्राप्त होगा।

अचानक होनेवाली सूझ को 'प्रतिभा' कहते हैं। अनेक वार व्यक्तियों को अचानक ऐसा ज्ञान होजाता है, जिसका कोई साक्षात् कारण दृष्टिगत नहीं रहता; उसे 'प्रातिभ' ज्ञान कहाजाता है। घर में अचानक किसी कन्या ने कहा–'श्वो मे भ्राता आगन्ता, इति मे मनः कथयति' मेरे मन से ऐसी आवाज़ उठरही है–कल मेरा भाई आनेवाला है' और ठीक अगले दिन भाई आजाता है। 'कल मेरा भाई आनेवाला है' यह जो कन्या को अचानक ज्ञान हुआ, यह 'प्रातिभ' ज्ञान है। इसका कोई कारण दिखाई नहीं देता।

इसीप्रकार प्रातिभ ज्ञान के समान कोई स्मरण प्रणिधान आदि कारणों की अपेक्षा के विना ही सकते हों, तो ऐसे स्मृति-अवसरों में स्मृतियों के युगपत् होने का प्रसंग आसकता है। स्मृतियों के युगपत् न होने का कारण यही बतायागया है कि स्मृति के प्रणिधान आदि निमित्तों के पर्याय से होने के कारण स्मृतियां पर्याय से होपाती हैं, युगपत् नहीं होतीं। परन्तु जब स्मृति के होने में प्रणिधान आदि निमित्तों की अपेक्षा नहीं है, तब उनके पर्याय से होने का प्रश्न नहीं उठता। स्मृतियों का युगपत् होना सम्भव होसकता है।

आचार्यों का कहना है–इस कल्पना में कोई हेतु नहीं है। केवल प्रातिभ दृष्टान्त से अभिमत अर्थ की सिद्धि नहीं होसकती। तात्पर्य है–कोई स्मृति प्रणिधान आदि निमित्त के विना होजाय, ऐसा सम्भव नहीं। स्मृति के हेतु का

स्मर्त्ता को उस समय ज्ञान न होपाये, यह अलग बात है। हेतु के रहते भी स्मर्त्ता को स्मृतिहेतु के होने का ज्ञान न होसके, यह सम्भव है। इतने से प्रातिभ ज्ञान के समान स्मृति को निर्हेतुक मानलियाजाय, ऐसा नहीं होसकता। जब अनेक अर्थों के विषय में निरन्तर चिन्तन चलता रहता है, तो यह एक साधारण बात है कि स्मर्त्ता को किसी स्मृति के निमित्त का पता न लगपाये; पर उसका निमित्त होता अवश्य है। स्मृति का अनिमित्तक होना सम्भव नहीं। स्मर्त्ता को प्रत्येक स्मृतिहेतु का ज्ञान होना आवश्यक नहीं। ऐसी दशा में किसी को यह भ्रम होसकता है कि मुझे प्रातिभ ज्ञान के समान यह स्मृति विना निमित्त के होगई। वस्तुस्थिति यह है कि प्रणिधान आदि निमित्तों की अपेक्षा के विना किसी स्मृति का होना सम्भव नहीं होता। प्रणिधान आदि निमित्त पर्याय से होसकते हैं, इसलिये स्मृतियों के युगपत् होने की कोई आशङ्का नहीं रहती।

'प्रातिभ' ज्ञान अकारण नहीं—प्रातिभ ज्ञान के विषय में यह समझना कि वह विना कारण के होजाता है, ठीक नहीं है। पुरुष के कर्मविशेष से उपभोग के नियम के समान प्रातिभ ज्ञान को भी किसी कर्मविशेषका परिणाम समझना चाहिये। पुरुष जो अपने पूर्वकृत कर्मों के फलों का उपभोग करता है, उसमें स्वभावतः एक क्रम देखाजाता है। समस्त कर्मसमूह एक-साथ फल नहीं दे डालता। किसी क्रमविशेष से कर्म फलोन्मुख होते हैं। इसीप्रकार जब किसीका कोई ऐसा विशेष कर्म फलोन्मुख होता है, जो ज्ञानविशेष का उत्पादक हो, तो उस व्यक्ति को वैसा ज्ञान होजाता है। इसमें ज्ञान के किन्हीं बाह्य निमित्तों का तो पता नहीं लगता, पर इससे निमित्त का अभाव प्रमाणित नहीं होता। ऐसे ही प्रत्येक स्मृति का निमित्त अवश्य रहता है। ऐसे कर्मविशेषों का पर्याय से फलोन्मुख होना प्रातिभ ज्ञानों के युगपत् होने में बाधक है।

ज्ञान-करणों की प्रवृत्ति क्रमिक—यदि कहाजाय, कर्मों की क्रमिकता के लिये फलोपभोग का दृष्टान्त तो दिया; परन्तु यहाँ हेतु के अभाव से इसकी मान्यता शिथिल होजाती है। हेतु के विना केवल दृष्टान्त अभिमत का साधक नहीं होता।

आचार्यों का कहना है–यहाँ हेतु का अभाव नहीं है। यह बात स्पष्ट देखी-जाती है कि पर्याय से ज्ञानों के उत्पन्न करने में करणों का सामर्थ्य है। पदार्थ की नैसर्गिक स्थिति को चुनौती नहीं दीजासकती। ज्ञान के करण (साधन) अनेक होने पर भी युगपत् एक ज्ञेय-विषय में अनेक ज्ञान नहीं होसकते, न अनेक ज्ञेय में युगपत् अनेक ज्ञान होसकते हैं। तात्पर्य है–ज्ञान की उत्पत्ति के लिये करण की प्रवृत्ति पर्याय से होती है। यह सर्वथा असम्भव है कि अनेक करण एक काल में अनेक ज्ञानों को उत्पन्न करने के लिये प्रवृत्त हों, यह उनके सामर्थ्य से बाहर की बात है। यही कारण है–एक समय में किसी एक करण से एक ज्ञान उत्पन्न

होसकता है। इसप्रकार ज्ञान का क्रमिक होना प्रत्यक्षद्वारा देखेजाने से करणों की क्रमिक प्रवृत्ति के सामर्थ्य का अनुमान होता है।

योगी 'विकरणधर्मा'—यहाँ यह आशंका कीजासकती है–करणसामर्थ्य के अनुसार ज्ञाता को प्रत्येक दशा में युगपत् अनेक ज्ञान होने का सामर्थ्य न होना चाहिये। पर वस्तुतः जब ज्ञाता वैषयिक ज्ञानों के लिये करणों के साहाय्य की अपेक्षा रखता है, तब एक समय में एक ज्ञान होने की सम्भावना रहती है। परन्तु ज्ञाता जब योगसमाधिद्वारा योगज शक्ति का सम्पादन करलेता है, तब वह 'विकरणधर्मा' होजाता है; ज्ञान के लिये उसे करणों की अपेक्षा नहीं रहती। उस दशा में वह सूक्ष्म, विप्रकृष्ट, व्यवहित पदार्थों का प्रत्यक्ष करसकता है; तथा एक काल में अनेक ज्ञानों को भी करसकता है। उसके लिये अयुगपत् ज्ञान होने का नियम शिथिल होजाता है।

योगी के विकरणधर्मा होने का यह भी तात्पर्य है कि वह अध्यात्मशक्ति-सम्पन्न ज्ञाता विविध करणों के द्वारा युगपत् अनेक ज्ञानों को प्राप्त करलेता है। करणों की क्रमिक प्रवृत्ति की अधीनता से योगी ऊपर उठजाता है। वह करणों को युगपत् कार्य में लगासकता है, और उनसे अभीष्ट कार्य की सिद्धि करसकता है। यह जीवन्मुक्त के विषय में स्पष्ट है।

स्मृति के यौगपद्य का अन्य आधार—स्मृतियों के युगपत् होने का अन्य प्रकार भी सम्भव है, जिसका विवेचन अपेक्षित है। जीवात्मा जब अपने शरीर के साथ किसी एकदेश में पर्याप्त समय तक अवस्थित रहता है, तब शरीर से उपहित आत्मप्रदेश में अनेक ज्ञान एवं उनसे उत्पन्न संस्कार समवेत होते रहते हैं; उस संस्कारविशिष्ट आत्मप्रदेश के साथ जैसे ही मनःसन्निकर्ष होगा, तभी युगपत् अनेक विषयों से सम्बद्ध स्मृतियाँ उत्पन्न होजानी चाहियें। उस आत्म-प्रदेश में अनेक संस्कार समवेत हैं, तथा आत्म-मनःसंयोग भी होगया है। समस्त स्मृतियों के ये ही साधारण कारण हैं। इस आत्म-प्रदेश में–शरीर के एक जगह अवस्थित रहने से अनेक संस्कार उसी एक प्रदेश में समवेत हैं, अतः आत्म-प्रदेश के साथ मनःसंयोग के पर्याय से होने का प्रश्न नहीं रहता। तब उस आत्म-प्रदेश में जितने संस्कार समवेत हैं, उन सभी विषयों का युगपत् स्मरण होजाना चाहिये।

तथा आत्मा का शरीर जब एकदेश में अवस्थित नहीं रहता, निरन्तर चलता फिरता रहता है, उस दशा में आत्मा के विभिन्न प्रदेशान्तरों में अनेक ज्ञानजन्य संस्कार समवेत न होने पायेंगे ; तब उन-उन आत्मप्रदेशों के साथ मनःसंयोग होने पर युगपत् स्मृतियों के होने की सम्भावना नहीं रहेगी।

वस्तुतः यह भी युगपत् स्मृति न होने का निराधार सन्तोषमात्र है। कारण यह है–आत्मा के विभिन्न प्रदेश किसी दशा में द्रव्यान्तर नहीं हैं। वे प्रदेश

कोई पृथक-पृथक् द्रव्य नहीं हैं। वह आत्मा सम्पूर्ण एकमात्र द्रव्य है। उसमें कहीं कोई संस्कार समवेत हो, वे समस्त संस्कार एक द्रव्य में समवेत मानेजासकते हैं। ऐसी दशा में उस आत्मद्रव्य के साथ मनःसंयोग होने पर युगपत् स्मृतियों को होने से रोका नहीं जासकता। मन का संयोग उसी एक आत्मद्रव्य के साथ है, जिसमें समस्त संस्कार समवेत हैं। इसलिये युगपत् स्मृति होने का प्रतिषेध अनुपपन्न है। यह विचार आत्मा को दैशिक दृष्टि से व्यापक मानकर प्रस्तुत कियागया है।

इस प्रसंग में यह ध्यान देने योग्य बात है कि आकाश एक व्यापक द्रव्य है। जब कहीं दो वस्तुओं के आघात आदि से आकाश में शब्द उत्पन्न होता है, तब शब्द के श्रोत्र तक पहुँचने के लिये निरन्तर–एक शब्द से दूसरा, दूसरे से तीसरा, इसप्रकार-शब्दसन्तति चलतीजाती है, जबतक श्रोत्र के साथ शब्द की प्रत्यासत्ति--सन्निकर्ष न होजाय। उसी काल में एकमात्र आकाश के भीतर अनेक शब्द समवेत रहते हैं, तथा श्रोत्रेन्द्रिय स्वयं आकाशरूप है। यह सब रहने पर भी शब्द-सन्तति के अन्तराल में होनेवाले तथा अन्य कोई शब्द युगपत् सुनाई नहीं देते। यद्यपि वे सब एक द्रव्य में समवेत हैं, और ग्राहक श्रोत्रेन्द्रिय उस आकाशतत्त्व से भिन्न नहीं। फिर भी श्रोत्रेन्द्रिय से वही शब्द गृहीत होता है, जो श्रोत्राभिमत आकाश से प्रत्यासन्न हो, सन्निकृष्ट हो।

ठीक इसीप्रकार एकमात्र आत्मद्रव्य में समवेत अनेक संस्कारों में से वही संस्कार स्मृति का जनक होता है, जहाँ आत्मा के साथ मन का संयोग होने पर संस्कारप्रत्यासत्ति हो। संस्कारप्रत्यासत्ति का तात्पर्य है–स्मृति के उद्बोधक निमित्त का क्रमपूर्वक उपस्थित होना। आत्मा में संस्कारों का समवाय और आत्म-मनःसंयोग, भले एकार्थसमवायी बने रहें, पर जबतक स्मृति का उद्बोधक प्रणिधान आदि निमित्त उपस्थित न होगा, तबतक स्मृति उत्पन्न न होपायेगी। निमित्त का नियमितरूप से क्रमशः उपस्थित होना अनिवार्य है; अतः युगपत् स्मृतियों के होने का जो प्रथम प्रतिषेध तेतीसवें सूत्र में किया गया है, वही पूर्णरूप से प्रामाणिक है। उस कारण से--आत्मा में एकत्र समवेत अनेक संस्कारों के होने पर भी–स्मृतियों के युगपत् होने की प्रसक्ति नहीं आती ॥ ३४ ॥

ज्ञान, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के धर्म हैं—'ज्ञान' अथवा 'बोध' पुरुषधर्म है, तथा इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि अन्तःकरण के धर्म हैं; ऐसा किसीका सिद्धान्त है। आचार्य सूत्रकार उसका प्रतिषेध करता है–

ज्ञस्येच्छाद्वेषनिमित्तत्वादारम्भनिवृत्योः ॥ ३५ ॥ (३०४)

[ज्ञस्य] ज्ञाता आत्मा के [इच्छाद्वेषनिमित्तत्वात्] इच्छा और द्वेष के कारण होने से [आरम्भनिवृत्योः] आरम्भ और निवृत्ति के।

ज्ञाता आत्मा है, अर्थात् ज्ञान, धर्म आत्मा का है, यह निश्चित है। ज्ञाता आत्मा अपनी इच्छा के कारण किसी कार्य का आरम्भ करता है, अर्थात् किसी कार्य के करने में प्रवृत्त होता है। ऐसे ही किसीके प्रति द्वेष के कारण ज्ञाता उधर से निवृत्त होता है, द्वेष्य वस्तु से दूर हटता है। ज्ञाता की यह प्रवृत्ति और निवृत्ति उसके इच्छा और द्वेष के कारण होती हैं। इससे प्रमाणित होता है–ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, तथा इनके फलभूत सुख और दुःख का आश्रय एक होना चाहिये। ज्ञान का आश्रय आत्मा निश्चित है, तब शेष सब इच्छा आदि का आश्रय आत्मा ही होसकता है।

इस बात को प्रत्येक आत्मा जानता है–यह मेरे लिये सुख का साधन और यह दुःख का साधन है। ज्ञान के विषय उस सुखसाधन को वह प्राप्त करना चाहता है, तथा दुःखसाधन को छोड़ना चाहता है। यह सर्वजनविदित व्यवहार है। इसमें ज्ञाता अपनी इच्छानुसार सुखसाधन की प्राप्ति के लिये प्रयत्नपूर्वक चेष्टा करता है; तथा दुःखसाधन को छोड़ने की इच्छा से प्रयुक्त हुआ उससे दूर हटता है। इसप्रकार ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख और दुःख इन सब धर्मों का किसी एक धर्मी के साथ सम्बन्ध स्पष्ट होता है। इससे सिद्ध होता है, ज्ञान, इच्छा आदि का एक कर्त्ता और एक आश्रय है। इसलिये चेतन आत्मा के–इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख आदि–धर्म समझने चाहियें, अचेतन अन्तःकरण के नहीं।

आरम्भ और निवृत्ति का मूलभूत निमित्त–प्रयत्न चेतन आत्मा में जाना-जाता है। अचेतन में प्रयत्न का होना सम्भव नहीं। इसलिये ऐसे प्रयत्न के कारणभूत इच्छादि के भी आत्मसमवेत होने का अनुमान कर लेना चाहिये। यह एक नियत व्यवस्था है कि कार्य और कारण का सामानाधिकरण्य होना चाहिये। इससे परस्पर कारण–कार्यभूत इच्छा-द्वेष तथा प्रयत्न का–ज्ञान के समान–आत्मसमवेत होना सिद्ध होता है॥ ३५॥

ज्ञान, इच्छा आदि भौतिक धर्म—ज्ञान अथवा चेतना आदि भूतों का धर्म होसकता है, यह फल उक्त कथन से निकलता है। आत्मा नाम के किसी अतिरिक्त द्रव्य को मानना व्यर्थ है। वादी की इस जिज्ञासामूलक आशङ्का को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

तल्लिङ्गत्वादिच्छाद्वेषयोः पार्थिवाद्येष्व-
प्रतिषेधः॥ ३६॥ (३०५)

[तद्-लिङ्गत्वात्] उन आरम्भ और निवृत्ति से अनुमेय होने के कारण [इच्छाद्वेषयोः] इच्छा और द्वेष के [पार्थिवाद्येषु] पृथिवी आदि भूतों से निर्मित शरीरों में [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होता (ज्ञान आदि होने का)।

आरम्भ और निवृत्ति इच्छा-द्वेषमूलक होते हैं। आरम्भ और निवृत्ति कार्य हैं, इच्छा-द्वेष उनके कारण। कार्यकारण में सामानाधिकरण्य के नियम से जिसके धर्म आरम्भ-निवृत्ति हैं, उसीके धर्म इच्छा और द्वेष को मानना चाहिये। इच्छा-द्वेष ज्ञानमूलक होते हैं; इसलिए ज्ञान को भी उसीका धर्म मानना होगा, जिसके धर्म आरम्भ-निवृत्ति एवं इच्छा आदि हैं। इसे प्रत्येक व्यक्ति देखता व जानता है कि आरम्भ और निवृत्ति शरीर में होते हैं। किसी कार्य को करने के लिए शरीर प्रवृत्त होता है, और दुःखसाधन से बचने के लिए शरीर ही पीछे हटता है। इससे स्पष्ट है–आरम्भ और निवृत्ति शरीर के धर्म हैं। आरम्भ-निवृत्ति के शरीर-धर्म होने से इच्छा, द्वेष, ज्ञान आदि को शरीर का धर्म मानना होगा। शरीर क्योंकि पृथिवी आदि भूतों से निर्मित होता है, अतः ज्ञान, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न एवं सुख-दुःख आदि को भूतों का धर्म मानना चाहिये। शरीर से अतिरिक्त आत्मा नाम का कोई द्रव्य ज्ञानादि का आश्रय मानना व्यर्थ है ॥ ३६ ॥

भौतिक धर्म नहीं हैं, ज्ञान, इच्छा आदि—आचार्य सूत्रकार शरीरचेतन-वाद का निराकरण करता है—

परश्वादिष्वारम्भनिवृत्तिदर्शनात् ॥ ३७ ॥ (३०६)

[परश्वादिषु] परशु-कुल्हाड़ा आदि में [आरम्भनिवृत्ति-दर्शनात्] आरम्भ और निवृत्ति के देखेजाने से (वहाँ ज्ञान आदि के अभाव में भी)।

कुल्हाड़े से लकड़ी काटते समय कुल्हाड़े का लकड़ी पर तीव्रता से आघात करना, और फिर वहाँ से निवृत्त होना, कुल्हाड़े में आरम्भ और निवृत्ति के अस्तित्व का बोधक है। पर वहाँ चैतन्य का नितान्त अभाव है। इसीप्रकार देह में अथवा देह के हाथ-पैर आदि अङ्गों में आरम्भ-निवृत्ति होने पर चैतन्य एवं ज्ञान, सुख, दुःख, प्रयत्न आदि धर्मों का होना आवश्यक नहीं। तात्पर्य है, आरम्भ-निवृत्ति परशु आदि में ज्ञान, सुख आदि का व्यभिचारी है, अतः देह में आरम्भ-निवृत्ति, ज्ञान-सुख-प्रयत्न के साधक नहीं होसकते। इसप्रकार शरीर में ज्ञान, सुख आदि का प्रतिषेध होजाता है।

वादी यही तो कहता है कि देह में आरम्भ-निवृत्ति के देखेजाने से वहाँ इच्छा, द्वेष, सुख, ज्ञान आदि धर्मों का सम्बन्ध मानना चाहिये। यदि ऐसा है, तो परशु में भी इन धर्मों का सम्बन्ध मानाजाना चाहिये, क्योंकि आरम्भ-निवृत्ति वहाँ देखेजाते हैं। यदि कहाजाय–इच्छा, सुख, प्रयत्न आदि का सम्बन्ध शरीर में स्पष्ट देखाजाता है, वहाँ इसे मानना चाहिये; परन्तु परशु आदि करण में आरम्भ-निवृत्ति किसी अन्य की प्रेरणा से होती देखीजाती है; और वह अन्य है–चेतन शरीर। अतः इच्छा-द्वेष आदि के सम्बन्ध के लिए ये अनैकान्तिक हैं,

वहाँ इन्हें न मानाजाय। ऐसी स्थिति में आरम्भ-निवृत्ति को अपने अधिकरण में इच्छा-द्वेष-प्रयत्न आदि धर्मों के अस्तित्व का साधक नहीं मानाजासकता। क्योंकि शरीर में दीखनेवाली आरम्भ-निवृत्ति का प्रेरक भी कोई अन्य है। फलतः पार्थिव आदि शरीरों को ज्ञान, सुख, प्रयत्न आदि का आश्रय कहना सर्वथा अप्रामाणिक है, वस्तुतः गतसूत्र (३५) में 'आरम्भ-निवृत्ति' पद अपने निमित्त-प्रयत्न के बोधक हैं। प्रयत्न के साथ ज्ञान, इच्छा आदि का सामानाधिकरण्य समझना चाहिये। यह चेतन का धर्म है, भौतिक जड शरीरों में इनका होना सम्भव नहीं। ३७॥

भूत चैतन्य में बाधक हेत्वन्तर—वादी कहता है–छत्तीसवें सूत्र का तात्पर्य अन्य प्रकार से समझना चाहिये। वह प्रकार यह है–पृथिवी आदि भूतों से जब स्थावर, जंगम तथा कृमि-कीट आदि के अस्थिर शरीरों की रचना होती है, तब उन भूतों में एक विशेष प्रकार की प्रवृत्ति होती है, जिसका अनुमान शरीरों के विविध रचनाविशेष से होता है। वह पृथिवी आदि भूतों में आश्रित प्रवृत्ति है। उस प्रवृत्तिविशेष का अभाव लोष्ठ (डले, ढेले) आदि में देखाजाता है; वह पृथिवी आदि भूतों में निवृत्ति का स्वरूप है। इसप्रकार भूतों में प्रवृत्ति-निवृत्ति का अस्तित्व प्रमाणित होता है। पैंतीसवें सूत्र में आचार्य ने आरम्भ (प्रवृत्ति) और निवृत्ति का इच्छा-द्वेष आदि के साथ सामानाधिकरण्य बताया है। इसप्रकार आरम्भ-निवृत्ति के आश्रय पृथिवी आदि भूतों में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि का होना प्रमाणित होता है। आचार्य सूत्रकार वादी की उक्त मान्यता का निराकरण करता है—

कुम्भादिष्वनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३८ ॥ (३०७)

[कुम्भादिषु] कुम्भ-घड़े आदि में रचनाविशेष के होने पर भी, ज्ञान-सुख आदि की [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होने से [अहेतुः] हेतु-साधक नहीं है (उक्त कथन, देह में चैतन्य आदि का)।

कुम्भ आदि के रूप में मिट्टी के अवयवों की विशेष रचना देखीजाती है। वादी के उक्त कथन के अनुसार वहाँ प्रवृत्तिविशेष रूप 'आरम्भ' का अस्तित्व है। ऐसा आरम्भ रेत के ढेर में नहीं देखाजाता, अतः वहाँ 'निवृत्ति' है। इस-प्रकार इन भूततत्त्वों में आरम्भ-निवृत्ति के रहने पर भी कुम्भ आदि रचना में ज्ञान, सुख, प्रयत्न आदि का अभाव देखाजाता है। फलतः यहाँ आरम्भ-निवृत्ति होने पर इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, ज्ञान आदि का सम्बन्ध न देखेजाने से वादी का उक्त कथन शरीर में चैतन्य का साधक नहीं होसकता ॥ ३८ ॥

भूतचैतन्य में बाधक व्यवस्था—आचार्य सूत्रकार उक्त मान्यता में प्रकारान्तर से दोष का उद्भावन करता है—

नियमानियमौ तु तद्विशेषकौ ॥ ३६ ॥ (३०८)

[नियमानियमौ] नियम और अनियम (आरम्भ तथा निवृत्ति के) [तु] तो [तद्-विशेषकौ] उन (इच्छा, द्वेष आदि) के विशेषक-भेदक-व्यवस्थापक हैं।

आरम्भ और निवृत्ति ज्ञाता आत्मा के इच्छा एवं द्वेष के कारण होते हैं। जब ग्राह्य विषय की ज्ञाता को इच्छा रहती है, तो उस ओर प्रवृत्ति, तथा विषय के प्रति द्वेष होने पर उधर से निवृत्ति होती है। यह प्रवृत्ति-निवृत्ति इच्छा, द्वेष के आश्रय में नहीं होते। इच्छा-द्वेष प्रयत्न द्वारा प्रवृत्ति-निवृत्ति के निमित्त हैं, प्रयोजक हैं; ग्राह्य व त्याज्य विषय के ग्रहण करने व त्यागने के लिए शरीर को प्रेरित करने में सहयोग देते हैं। इसप्रकार शरीर प्रयोज्य है। प्रवृत्ति और निवृत्ति प्रयोज्य शरीर में आश्रित रहते हैं; तथा इच्छा-द्वेष प्रयोजक ज्ञाता आत्मा में; इनका सामानाधिकरण्य नहीं होता। इसीके साथ यह निश्चित है—आरम्भ और निवृत्ति सर्वत्र—भूतों में रहते, केवल प्रयुज्यमान भूतों में रहते हैं। अर्थात् ज्ञाता आत्मा के द्वारा जो भूत किसी कार्य के लिए प्रेरित होते हैं, उन्हीं में आरम्भ-निवृत्ति देखेजाते हैं, अन्यत्र नहीं। इसप्रकार भूतों में आरम्भ-निवृत्ति का होना अनियत—अव्यवस्थित है; नियमपूर्वक सर्वत्र नहीं होता।

जो वादी यह मानता है कि ज्ञान-चैतन्य का आश्रय भूत हैं, और वहीं ज्ञान-समानाधिकरण होने से इच्छा-द्वेष-प्रयत्न आदि धर्म आश्रित रहते हैं, एवं उसी आश्रय में इच्छा-द्वेष निमित्त से प्रवृत्ति-निवृत्ति होते हैं, तो नियमपूर्वक सर्वत्र भूतों में आरम्भ-निवृत्ति की उपलब्धि होनी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं है; इसलिए प्रयोजक ज्ञाता आत्मा में इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि आश्रित रहते हैं, तथा प्रयोज्य देह में आरम्भ-निवृत्ति, यह सिद्ध होता है।

एक शरीर में अनेक ज्ञाताओं का होना प्रमाणहीन है। परन्तु भूतचैतन्य-वादी का इस आपत्ति से बचनिकलना सम्भव नहीं। कारण यह है—शरीर की रचना अनेक भूतावयवों से होती है। रचना के अनन्तर शरीर को सर्वात्मना एक इकाई के रूप में प्रमाणित करना असिद्ध है। शरीर-दशा में भूतों का अनेकत्व पहले के समान बनारहता है। तब सर्वत्र भूतों में ज्ञान, सुख, इच्छा, प्रयत्न आदि गुण मानने पर एक शरीर में अनेक भूतों के ज्ञानादि—आश्रय होने के कारण अनेक ज्ञाता आत्माओं का वहाँ विद्यमान होना प्राप्त होगा, जो सर्वथा अनिष्ट है।

यदि वादी इसको स्वीकार करता है, तो उसे अपनी इस मान्यता के लिए प्रमाण प्रस्तुत करना होगा। जैसे अनेक शरीरों में ज्ञान आदि की व्यवस्था से अनेक ज्ञाताओं का होना प्रमाणित होता है, ऐसे एक शरीर में अनेक ज्ञाताओं का होना ज्ञान आदि की व्यवस्था से प्रमाणित होना चाहिये। चैत्र-मैत्र आदि

भिन्न शरीरों में चैत्रादि के ज्ञान-सुख आदि परस्पर भिन्न देखेजाते हैं; क्योंकि चैत्र के ज्ञान-सुख आदि का मैत्र को अनुभव नहीं होता। ऐसी स्थिति एक शरीर में नहीं देखीजाती, इसलिए वहाँ नाना ज्ञाता आत्माओं का होना प्रमाणित नहीं होता।

इस प्रसंग में एक और बात गहराई से समझने की है। भूतों में विशेष प्रकार की प्रवृत्ति किसी अन्य के गुणों के कारण देखीजाती है। एक जगह उसके देखेजाने से दूसरी जगह उसका अनुमान करलेना चाहिये।

करणरूप परशु आदि में आरम्भ-निवृत्ति स्वतः नहीं होते। अन्य कर्त्ता के प्रयत्न से होते हैं। कर्त्ता स्वयं अपने प्रयत्न से उसको उठाता, और लकड़ी आदि पर आघात करता है। ऐसे ही घट आदि के उपादान-भूत मृद्-अवयव स्वतः घट के रूप में विशिष्ट अवयव-सन्निवेश द्वारा परिणत नहीं होते; प्रत्युत कुम्भकार कर्त्ता के प्रयत्न से यह सब होता है। इसीके अनुसार जंगम, स्थावर एवं कीट, पतंग आदि अस्थिर शरीरों की विविध रचना, तथा उपादान-तत्त्वों के विशिष्ट अवयव-सन्निवेश में जो भूतों के अन्दर प्रवृत्तिविशेष अथवा गतिविशेष देखाजाता है, वह अन्य किसी के गुण के कारण है। वह गुण धर्माधर्मजनित 'अदृष्ट' एवं संस्कार है, जो प्रयत्न के आश्रय आत्मा का गुण है। वह कार्यमात्र में कारण रहता है, तथा प्राणियों के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए भूतों का प्रयोजक होता है; जैसे घट आदि के निर्माण में कारण अवयवों के सन्निवेश-विशेष का तथा लकड़ी आदि के काटने में कुल्हाड़े आदि का प्रयोजक 'प्रयत्न' रहता है। वस्तुतः शरीर आदि भूतों में आरम्भ-निवृत्ति अथवा क्रिया का होना कहीं आत्म-गुण प्रयत्न के द्वारा, तथा कहीं अदृष्ट आदि के द्वारा होता है। यह निश्चित है कि अचेतन भूतों में यह प्रवृत्ति-निवृत्ति आत्म-गुण प्रयत्न तथा संस्कार अदृष्ट आदि से प्रेरित होकर होते हैं।

गत प्रकरणों में अनेक हेतुओं से आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध कियागया है। यह भी सिद्ध कियागया है कि आत्मा नित्य पदार्थ है। उन सब हेतुओं से आत्मा का चेतन होना, तथा पृथिवी आदि भूतों में चैतन्य [ज्ञान] का प्रतिषेध स्पष्ट समझ लेने चाहियें।[1] वस्तुतः वादी ने 'आरम्भ' और 'निवृत्ति' पदों का तात्पर्य केवल 'क्रिया का होना' और 'न होना' समझकर गत छत्तीसवें सूत्र में निर्दिष्ट पार्थिव आदि भूतों में चैतन्य का अप्रतिषेध (अस्तित्व) प्रस्तुत किया है, जबकि 'आरम्भ-निवृत्ति' पदों का वास्तविक तात्पर्य आत्म-गुण प्रयत्नादि अपेक्षित हैं। पृथिवी आदि भूतों में प्रयत्नादिरूप आरम्भ-निवृत्ति नहीं देखेजाते।

---

१. इसके लिए तृतीय अध्याय के प्रथम आह्निक का प्रारम्भिक भाग, तथा चालू आह्निक के सूत्र १८ का प्रसंग द्रष्टव्य है।

इनका क्रियामात्र अर्थ अनपेक्षित है। इसलिए वह कथन अयुक्त है, जो छत्तीसवें सूत्र में वादी ने प्रस्तुत किया है ॥ ३९ ॥

चैतन्य धर्म मन आदि का नहीं—भूतों में चैतन्य का प्रतिषेध होजाने पर, वह इन्द्रियों और मन में समानरूप से लागू होता है। इसलिए सूत्र में केवल 'मन' पद का ग्रहण उदाहरणमात्र है। मन के चैतन्य-प्रतिषेध से इन्द्रियों का चेतन होना भी प्रतिषिद्ध समझना चाहिये। यही सूत्रकार ने बताया—

यथोक्तहेतुत्वात् पारतन्त्र्यादकृताभ्यागमाच्च न मनसः ॥ ४० ॥ (३०९)

[यथोक्तहेतुत्वात्] यथास्थान कहे हुए हेतुओं के होने से [पारतन्त्र्यात्] परतन्त्र-आत्मा के अधीन होने से [अकृताभ्यागमात्] न किये कर्म के फल की प्राप्ति से [च] और [न] नहीं (चैतन्य गुण) [मनसः] मन का।

आचार्य सूत्रकार ने इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान को आत्मा का लिङ्ग-चिह्न-गुण बताया है [१।१।१०]। उस स्थान से लेकर आगे शास्त्र में अनेक प्रसङ्ग ऐसे हैं, जहाँ ज्ञान, इच्छा, प्रयत्न आदि को आत्मा का गुण बताया गया है। अभी पूर्वप्रसंग की एक टिप्पणी में उन स्थलों का निर्देश कियागया है। उन सब हेतुओं से चैतन्य-ज्ञान के आत्मा का गुण सिद्ध होजाने पर मन व इन्द्रियों का इसे गुण कहना व्यर्थ है। एक देह में एक अभिमानी चेतन का होना सम्भव है। आत्मा के चेतन होने पर मन को चेतन कहना निरर्थक होगा।

इसके अतिरिक्त यह वास्तविकता है कि मन परतन्त्र है; आत्मा के अधीन है। आत्मा के अभीप्सित कार्यों की सिद्धि के लिए मन केवल करण है, साधन-मात्र। इन्द्रियाँ भी साधन-करण हैं। मन अन्तःकरण है, इन्द्रियाँ बाह्य-करण। इसप्रकार शरीर के रूप में भूत, बाह्य इन्द्रियाँ तथा मन, आत्म-गुण प्रयत्न के सामर्थ्य से विभिन्न क्रियाओं के सम्पादन करने में प्रवृत्त होते रहते हैं। इससे इनका आत्मा के अधीन होना स्पष्ट है। यदि शरीर, इन्द्रियाँ और मन को चेतन मानलियाजाय, तो फिर इनके परतन्त्र होने का प्रश्न नहीं उठता; तब ये सब स्वतन्त्र होंगे। पर वस्तुस्थिति यह नहीं है, अतः इनके परतन्त्र होने से इन्हें आत्माधीन मानकर इनका अचेतन [ज्ञान आदि गुणरहित] होना प्रमाणित होता है।

इस प्रसंग में यह भी विचारणीय है, यदि देह, इन्द्रिय, मन को चेतन मानाजाता है, तो इस मान्यता में 'अकृताभ्यागम'-दोष प्रसक्त होता है। स्वयं आचार्य ने [१।१।१७] सूत्र में यह बताया है कि वाणी से, मन से तथा शरीर से कीजानेवाली समस्त प्रवृत्तिरूप क्रिया वे कार्य हैं, जिनका फल आत्मा भोगता है। उक्त कथन में वाणी सब इन्द्रियों का उपलक्षण है। तात्पर्य हुआ—

इन्द्रियों से, मन से तथा देह से होनेवाले कर्मों का फल-भोक्ता आत्मा है। यदि इन्द्रिय, मन, देह को चेतन मानाजाता है, तो कर्म करनेवाले इन्द्रिय आदि हैं, उनका फल भोगनेवाला उनसे अतिरिक्त तत्त्व आत्मा है। आत्मा ने कर्म नहीं किये, वह तो इन्द्रिय आदि ने किये, और फल भोगा आत्मा ने; यह 'अकृत-अभ्यागम'-दोष है। जिसने कर्म नहीं किया, उस फल का अभ्यागम प्राप्त होना स्पष्ट आपत्तिजनक है।

सूत्र में 'अकृताभ्यागम' पद 'कृतहानि'-दोष का भी उपलक्षण समझना चाहिये। इसका तात्पर्य है–जिसने कर्म किया है, उसको फल न मिलना, अपने किये कर्म की हानि होजाना। देहादि ने कर्म किया, परन्तु उन कर्मों का फल देहादि को न मिलकर उनसे अन्य आत्मा को मिलता है। इससे देहादि को चेतन मानने में 'अकृताभ्यागम'-दोष के साथ 'कृतहानि'-दोष भी प्राप्त होता है। अतः देहादिरूप भूत तथा मन एवं इन्द्रियों का गुण ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा आदि को मानकर उन्हें चेतन बताना सर्वथा प्रमाणरहित है॥ ४०॥

आत्म-धर्म हैं ज्ञान, इच्छा आदि—आचार्य सूत्रकार प्रसंग का उपसंहार करते हुए बताता है—

परिशेषाद् यथोक्तहेतूपपत्तेश्च॥ ४१॥ (३१०)

[परिशेषात्] परिशेष से [यथोक्तहेतूपपत्तेः] प्रथम कहे हुए हेतुओं की सिद्धि से [च] तथा (ज्ञानादि गुण आत्मा के निश्चित होते हैं)।

किसी प्रसंग में अभिमत मान्यता की खोज करने के लिए जब कतिपय तत्त्वों का मान्यता के रूप में प्रतिषेध करते चले आते हैं, तब जो तत्त्व उस वर्ग में शेष रहजाता है, उसको वह मान्यता प्राप्त होजाती है। 'परिशेष' का यही तात्पर्य है। प्रस्तुत प्रसंग में यह प्रतिषेध करते चले आरहे हैं कि ज्ञान, प्रयत्न आदि गुण भूत, भौतिक देह आदि तथा मन एवं इन्द्रियों के नहीं हैं। तब द्रव्य-वर्ग में आत्मा शेष रहजाता है। फलतः परिशेष अनुमान से ज्ञान आदि गुण आत्मा के हैं, यह सिद्ध होता है।

आत्मतत्त्व नित्य है—इसके अतिरिक्त आत्मा के लिङ्ग–लक्षणरूप में [१।१।१०] तथा लक्षण की परीक्षा के प्रसंगों [३।१।१–२७] में आत्मा के अस्तित्व तथा नित्यत्व आदि की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, वे पूर्णरूप से अप्रतिषिद्ध हैं। उनका किसीप्रकार प्रतिषेध न होने से उन हेतुओं की विद्यमानता में–ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा आदि गुण आत्मा के हैं, यह निश्चित होता है।

पृथिवी आदि भूत-द्रव्यों तथा मन के अतिरिक्त वह कौन-सा द्रव्य है, जो इस प्रतिषेध-परम्परा में शेष रहजाता है?–उसके ज्ञापन (बोध कराने) के लिए,

तथा प्रस्तुत प्रसंग में अभिमत सिद्धान्त की स्थापना आदि की जानकारी के लिए आचार्य ने इस सूत्र का निर्देश किया है ।

भाष्यकार वात्स्यायन का सुझाव है—सूत्र के 'उपपत्ति'- पद को प्रस्तुत प्रसंग की सिद्धि के लिए स्वतन्त्र हेतु समझना चाहिये । पूर्वोक्त अर्थ 'यथोक्तहेतु' इतने अंश से अभिव्यक्त होजाता है । उसी अर्थ की पुष्टि के लिए 'उपपत्ति' अतिरिक्त हेतु है । इसका तात्पर्य है—यह नित्य आत्मा एक देह से सम्बद्ध होकर वहाँ धर्म का आचरण करते हुए—उस देह के पूरा होजाने पर सुखमय स्थानों में दिव्य आत्माओं के साथ अन्य देह प्राप्त करलेता है । इसीप्रकार एक देह में अधर्म का आचरण करते हुए—उस देह के छूट जाने पर दुःखमय स्थानों में देहान्तर को प्राप्त करता है । एक देह को छोड़कर अपने किये धर्म-अधर्म के अनुरूप देहान्तर को प्राप्त करना 'उपपत्ति' का स्वरूप है । यह उपपत्ति—एक नित्य आत्मा का नाना देहों के साथ सम्बन्ध होना—सिद्ध करती है । आत्मा को नित्य मानने पर 'उपपत्ति' का यह स्वरूप सम्भव है ।

चैतन्य को नित्य एवं स्थिर तत्त्व न मानाजाकर यदि ज्ञान की सन्ततिमात्र मानाजाता है, जो एक क्षण से अधिक अपना अस्तित्व नहीं रखता, तो 'उपपत्ति' हेतु निराधार होजाता है । यह निरन्तर परिवर्त्तित व प्रवाहित रहता ज्ञान आत्म-द्रव्यरूप आश्रय से हीन है । तात्पर्य है—आत्मा आदि जैसा कोई स्थिर द्रव्य उसका (ज्ञान का) आश्रय नहीं होता । चैतन्य के रूप में इसप्रकार के ज्ञान-प्रवाहमात्र को स्वीकार करने पर उक्त 'उपपत्ति' का होना सम्भव नहीं रहता । संसार वस्तुतः है क्या ? एक विद्यमान तत्त्व के अधिष्ठान—कालक्रम के अनुसार—अनेक शरीर रहते हैं । उस स्थिर तत्त्व का निरन्तर नाना शरीरों से सम्बन्ध होते रहना संसार है । जब यह शरीर-सम्बन्ध का क्रम निमित्त-विशेषों से उच्छिन्न होजाता है, तब वह अपवर्ग अथवा मुक्ति का प्राप्तहोना है । एक स्थिर चेतन तत्त्व को मानने पर संसार और अपवर्ग की यह व्यवस्था सम्पन्न होती है । परन्तु जब केवल निरात्मक निराश्रय ज्ञान के प्रतिक्षण परिवर्त्ती प्रवाह को चैतन्य का स्वरूप मानाजाता है, तो संसार और अपवर्ग दोनों का अस्तित्व झमेले में पड़जाता है; क्योंकि ऐसी स्थिति में न तो कोई ऐसा स्थिर तत्त्व स्वीकारागया है, जो चिरकाल से चालू इस लम्बे मार्ग पर यात्रा कर रहा हो—जब ऐसा कोई एक स्थायी तत्त्व नहीं, तो एक का अनेक शरीरों से सम्बन्ध होना-रूप-संसार कहाँ रहा ?—और न कोई तत्त्व इस शरीरबन्धन के अनवरत प्रवाह से छूटनेवाला है; तब संसार और अपवर्ग दोनों के अस्तित्व का अभिलापन अशक्य होजाता है । चैतन्यरूप स्थायी आत्मतत्त्व को माने विना संसार-अपवर्ग की यथायथ व्याख्या सम्भव नहीं ।

स्थायी चेतन आत्मतत्त्व को माने विना—न केवल संसार-अपवर्ग के

अस्तित्व की व्याख्या असम्भव है, प्रत्युत दैनिक लौकिक व्यवहारों का चलना भी दुरूह एवं अकल्पनीय है। प्रत्येक व्यक्ति लोक में अपने कार्यों को करता हुआ पूर्वापर कार्यों के सम्बन्ध को यथायथ बनाये रखता है, यह स्थिति पहले किये ज्ञान कार्यों के स्मरण के विना नहीं होसकती। किसी व्यक्ति को स्मरण अपने अनुभूत का होसकता है, अन्य के ज्ञान का नहीं। जब स्थायी ज्ञाता आत्मा का अस्तित्व नहीं है, तब कोई भी स्मरण होना असम्भव होगा। स्मरण के विना कार्यों का अनुक्रम–परस्पर सम्बन्ध सम्भव नहीं, प्रत्येक कार्य एक-दूसरे से विच्छिन्न होजायगा। क्या किया, क्या करना है, ऐसा कुछ भी निश्चय करना अशक्य होगा। सब कार्य अव्यवस्थित होजायेंगे, किसी कार्य का पूरा होना सम्भव न होगा। इसप्रकार एक नित्य ज्ञाता के अभाव में स्मरण, प्रतिसन्धान आदि के न होसकने से समस्त लोकव्यवहार उच्छिन्न होजायगा। परन्तु ऐसा होता नहीं; लोकव्यवहार अपनी दिशा में यथायथ चलता है; संसार और अपवर्ग की व्यवस्था प्रमाणमूलक है। यह सब स्थिति इस तथ्य को स्पष्ट करती है कि नाना शरीरों में कालक्रम के अनुसार एक नित्य चेतन आत्मतत्त्व सम्बद्ध होता रहता है। यह क्रम अनादि काल से चालू है, और अनन्त काल तक चलना है। इसप्रकार संसार और अपवर्ग की व्यवस्था आत्मा के नित्य और ज्ञाता होने को प्रमाणित करती है॥ ४१॥

आत्मधर्म है स्मृति—भूत, मन, इन्द्रियों का तथा अन्तःकरण-बुद्धि का धर्म ज्ञान नहीं है, यह विवेचन कियागया। प्रसंगवश ज्ञानसन्ततिमात्र चैतन्य नहीं है, यह भी प्रतिपादित कियागया; फलस्वरूप ज्ञान, नित्य चेतन आत्मा का धर्म रहे, परन्तु स्मरण को बुद्धि अथवा बुद्धिसन्तान का धर्म मानने में क्या बाधा है? वादी की इस उद्भावना के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

स्मरणं त्वात्मनो ज्ञस्वाभाव्यात्॥ ४२॥ (३११)

[स्मरणम्] स्मरण [तु] तो [आत्मनः] आत्मा का (धर्म है), [ज्ञस्वाभाव्यात्] ज्ञाता का यह स्वभाव-स्वरूप होने से।

स्मृति, आत्मा का धर्म, स्मरण ज्ञान है; यह ज्ञाता का स्वभाव है, स्वरूप है। ज्ञाता के ज्ञानस्वरूप-चैतन्यरूप होने से–चाहे ज्ञान अनुभवात्मक हो अथवा स्मृत्यात्मक, वह ज्ञाता से अतिरिक्त अन्य किसीका धर्म नहीं होसकता। नित्य चेतन आत्मा त्रिकालविषयक ज्ञान से सम्बद्ध रहता है। इस यथार्थता को प्रत्येक जानकार जानता है। इसलिये बुद्धि-अन्तःकरण का अथवा नित्य आत्मतत्त्व के आश्रय से हीन बुद्धिसन्तान का धर्म न होकर समस्त ज्ञान नित्य चेतन आत्मा का धर्म है, स्वरूप है; यह प्रमाणित होता है॥ ४२॥

स्मृति के निमित्त प्रणिधान आदि—तेतीसवें सूत्र में आचार्य ने बताया—प्रणिधान आदि लिङ्गों के युगपत् प्रादुर्भाव में न आने के कारण आत्मगत अनेक संस्कारों—एवं मनःसंयोग—की विद्यमानता में भी स्मृतियाँ युगपत् नहीं होपातीं। स्मृति के उन प्रणिधान आदि साधनों का आचार्य सूत्रकार ने संकलन किया—

प्रणिधाननिबन्धाऽभ्यासलिङ्गलक्षणसादृश्य-परिग्रहाऽऽश्रयाऽऽश्रितसम्बन्धाऽऽनन्तर्यवियोगैक-कार्यविरोधाऽतिशयप्राप्तिव्यवधानसुखदुःखेच्छा-द्वेषभयार्थित्वक्रियारागधर्माऽधर्मनिमित्तेभ्यः ॥ ४३ ॥ (३१२)

[प्रणिधान-निबन्ध-अभ्यास-लिङ्ग-लक्षण-सादृश्य-परिग्रह-आश्रय - आश्रित-सम्बन्ध-आनन्तर्य-वियोग-एककार्य-विरोध-अतिशय-प्राप्ति-व्यवधान - सुख - दुःख-इच्छा-द्वेष-भय-अर्थित्व-क्रिया-राग-धर्म-अधर्मनिमित्तेभ्यः] प्रणिधान आदि अधर्म-पर्यन्त सत्ताईस निमित्तों से स्मृतियाँ होती हैं।

प्रत्येक निमित्त का स्वरूप व विवरण यथाक्रम इसप्रकार समझना चाहिये—

प्रणिधान—किसी वस्तु को स्मरण करने की इच्छा से मन को एकाग्र कर उसके (स्मृति के) हेतु का चिन्तन करना 'प्रणिधान' कहाता है। स्मरणीय वस्तु की स्मृति के हेतु का चिन्तन करना उस वस्तु की स्मृति का कारण होता है। जैसे—याद किये पाठ को भूलजाने पर छात्र चिन्तन से उसका स्मरण कर लेता है। किसी देश अथवा स्थान के चिन्तन से वहाँ के निवासी तथा अन्य वस्तुओं का स्मरण होआता है।

निबन्ध—अनेक प्रतिपाद्य पदार्थों का एक ग्रन्थ अथवा किसी एक प्रसंग में निबन्धन-ग्रथन-प्रतिपादन करना 'निबन्ध' होता है। इसप्रकार एक जगह ग्रथित अनेक पदार्थ आनुपूर्वी से अथवा विना क्रम के एक-दूसरे के स्मारक होते हैं। जैसे—इसी शास्त्र में प्रतिपादित प्रमाण आदि पदार्थ परस्पर स्मृति के हेतु होते हैं। आनुपूर्वी से, जैसे—प्रमाण का स्मरण करके प्रमेय का स्मरण होआता है। क्रम के विना, जैसे—निग्रहस्थान के स्मरण-प्रसङ्ग से प्रमाण अथवा विशेष-अनुमान का स्मरण होजाय। निबन्ध का एक अन्य स्वरूप बताया जाता है—किन्हीं दो का कल्पनामूलक गठबन्धन। प्राचीन व्याख्याकारों ने लिखा है, जैगीषव्य आदि ऋषियों द्वारा प्रोक्त धारणाशास्त्र में शरीर के विभिन्न अंगों के साथ विशिष्ट देवताओं का सम्बन्ध जोड़ागया बताया है। जो इस सम्बन्ध को जानते हैं, उन्हें अंग-विशेष के ध्यान से सम्बद्ध देवता का स्मरण होजाता है। औपनिषद उपासनाओं में जैसे सूर्य में मधुभाव का आरोप करलियाजाता है; लोकव्यवहार के अनुसार मुखविशेष में चन्द्र का आरोप। चन्द्र को देखकर मुखविशेष का स्मरण होजाता है।

अभ्यास——एक विषय में जानकारी का निरन्तर क्रम बना रहना 'अभ्यास' है। तात्पर्य है–एक पदार्थ का बार-बार चिन्तन करना। ऐसे अभ्यास से उस वस्तु के विषय में दृढ़ संस्कार आत्मा में उत्पन्न होजाता है। प्रस्तुत प्रसंग में 'अभ्यास' पद से वह संस्कार ग्राह्य है। यद्यपि संस्कार स्मृतिमात्र में कारण है; ऐसा संस्कार सद्यः स्मृति का जनक होता है।

लिङ्ग—चिह्न, साधन, हेतु का नाम है। साधन व्याप्य, तथा साध्य व्यापक होता है। साधन से साध्य का स्मरण होजाता है। साध्य-साधन का सम्बन्ध संयोग, समवाय, एकार्थसमवाय एवं विरोध आदि कई प्रकार का होता है। संयोगसम्बन्ध के उदाहरण हैं–धूम से अग्नि का स्मरण। सींग से गाय का स्मरण होना समवाय-सम्बन्ध का उदाहरण है। गाय अवयवी के अवयव हैं–सींग। अवयव-अवयवी का सम्बन्ध समवाय सिद्ध है। एकार्थसमवायी का उदाहरण है–किसीके पैर दीखने से हाथ का स्मरण होजाता है, तथा हाथ के दीखने से पैर का। हाथ और पैर एक अर्थ–शरीर के समवाय वाले हैं। तात्पर्य है–शरीर एक अवयवी हाथ-पैर आदि अवयवों में समवेत रहता है। इसीप्रकार रूप स्पर्श का लिङ्ग है; जहाँ रूप रहता है, स्पर्श वहाँ अवश्य रहता है। रूप के देखने से स्पर्श का तथा अनुभूत रस का आम्र आदि फलों में स्मरण होजाता है। यहाँ रूप, स्पर्श, रस एकार्थसमवायी हैं। एक अर्थ–आम में इन सबका समवाय है। विरोधी लिङ्ग[1] का उदाहरण है–नकुल (नेवला) को इधर-उधर दौड़ता देखकर उसके विरोधी साँप का स्मरण होआना। ऐसे ही साँप को देखकर नकुल का स्मरण होजाता है।

लक्षण–चिह्नविशेष। प्राचीन काल में यह प्रथा थी कि विशिष्ट परिवार के गाय आदि पशुओं के किसी अंग पर एक विशेष चिह्न रंग आदि से अंकित करदियाजाता था, जो उसी परिवार के लिये नियत था। अन्य परिवार का चिह्न कोई और होता था। वे चिह्न (लक्षण) देखेजाने पर उन परिवार व गोत्रों का स्मरण कराते थे। जैसे–ये गाय गर्ग-परिवार (गोत्र) वालों की हैं, और ये विद–परिवार की। यह ऐसी प्रथा थी, जैसे आज कोई चिह्न पेटैन्ट कराये जाते हैं; तथा चुनाव आदि में विभिन्न पार्टियों के विशेष चिह्न नियत कियेजाते हैं। उन चिह्नों को देखकर सम्बद्ध पार्टी का स्मरण होजाता है।

---

१. लिंग वह होता है–जिसका स्वाभाविक अविनाभावसम्बन्ध किसीसे हो। केवल संकेत के लिये प्रस्तुत लिंग 'चिह्न' कहाजाता है। यह इन दोनों पदों में थोड़ा वैशिष्ट्य है। लिंग (व्याप्य) का लिंगी (व्यापक) से सम्बन्ध और उदाहरणों के विवरण के लिये द्रष्टव्य है–'वैशेषिक दर्शन-विद्योदय-भाष्य [३। १। ६–१३]।

सादृश्य—समान होना। चित्र में समान आकृति को देखकर उस-जैसी आकृति के देवदत्त आदि व्यक्ति का स्मरण होजाता है। समान आकृति के किसी व्यक्ति को देखकर उस आकृति के पूर्वज्ञात व्यक्ति का स्मरण होआता है।

परिग्रह—परिग्रह पद का अर्थ 'स्वीकार करना' है। यहाँ वस्तु के–स्व०-स्वामिसम्बन्ध का परस्पर स्वीकार करना–तात्पर्य है। यह परिग्रह 'स्व' से स्वामी का, तथा स्वामी से 'स्व' का स्मरण होने में हेतु रहता है।

आश्रय—सहारा, किसीके अधीन होना। ग्राम के नेता से उसके अधीन रहनेवाले का स्मरण होजाता है। अपने अधीन व्यक्ति का आश्रय होता है–ग्रामनेता।

आश्रित—जो अधीन, अथवा सहारे में रहे। आश्रित से उसके आश्रय का स्मरण होजाता है। आश्रय से आश्रित का, तथा आश्रित से आश्रय का स्मरण होजाना स्वाभाविक है।

सम्बन्ध—किसी नियत आधार पर लोकव्यवहार में दो वर्गों का एक सम्बन्ध स्थापित होजाता है। वहाँ एक का ज्ञान दूसरे का स्मरण करादेता है। लोक में–'गुरु-शिष्य, यजमान-पुरोहित, पिता-पुत्र, राजा-प्रजा' आदि अनेक सम्बन्ध व्यवहार्य देखेजाते हैं। इनमें कोई एक अपने सम्बन्धी दूसरे का स्मरण कराता है।

आनन्तर्य—किन्हीं कार्यों का नियम से क्रमपूर्वक होना–उनमें एक कार्य के अनन्तर दूसरे की स्थिति को प्रकट करता है। एक कार्य के सम्पन्न होने पर ठीक उसके अनन्तर होनेवाले कार्य का स्मरण होआता है। इसप्रकार आनन्तर्य स्मृति का हेतु मानाजाता है। यज्ञादि अनुष्ठानों तथा गणना आदि में यह प्रसंग अपेक्षित रहता है।

वियोग—किन्हीं प्रेमी व्यक्तियों का अलग होजाना वियोग है, यह एक-दूसरे की स्मृति का हेतु रहता है। वियोग से दुःखी–अनुतप्त व्यक्ति अपने प्रेमास्पद का स्मरण कियाकरता है।

एककार्य—एक अर्थात् समान कार्य करनेवाले जाने हुए व्यक्तियों में एक के देखने या चर्चा होने से दूसरे का स्मरण होआता है। हमारे एक परिचित परिवार के व्यक्ति ट्रैक्टर का निर्माण करते हैं; किसी भी ट्रैक्टर बनानेवाले संघ का जब कहीं उल्लेख या चर्चा-प्रसंग आता है, तो उस परिवार का तत्काल स्मरण होआता है। जो कोई व्यक्ति समान कार्य करनेवाले अनेक व्यक्तियों को जानता है, तो उनमें से किसी एक का प्रसंग आनेपर अन्यों का स्मरण होजाता है। कभी कारणवश अपने अनेक गुरुओं में से किसी एक का चर्चा-प्रसंग आता है, तो अन्य गुरुओं का स्मरण होजाता है।

विरोध—जब किन्हीं दो व्यक्तियों या राष्ट्रों का परस्पर-विरोध या

संघर्ष होता है, तो किसी एक का प्रसंग आने पर दूसरे का स्मरण होजाता है। वर्त्तमान काल में रूस-अमेरिका, तथा चीन-रूस का संघर्ष चलता रहता है। इनमें से एक का प्रसंग आने पर दूसरे का स्मरण अवश्य होजाता है।

अतिशय—किसी कार्य में किसी व्यक्ति के द्वारा सर्वोत्कृष्टता प्राप्त करना 'अतिशय' है। गुरुओं के प्रसंग में अतिशय का विचार आने पर तत्काल बलिया-मण्डलान्तर्गत छाता-निवासी गुरुवर श्री काशीनाथ जी शास्त्री का स्मरण होजाता है। जब वर्त्तमान काल के सितारवादकों का कहीं चर्चा-प्रसंग चलता है, तो उसमें अतिशय पं० रविशङ्कर को तत्काल स्मरण करादेता है।

प्राप्ति—किसीने किसीसे कुछ प्राप्त किया, अथवा प्राप्त करना है, वह उसका पुनः-पुनः स्मरण किया करता है।

व्यवधान—ख़ोल या मियान के देखने से उसमें रक्खी वस्तु का स्मरण होजाता है। तकिये के ख़ोल से तकिये का, तथा तलवार के मियान से तलवार का स्मरण होता है।

सुख—सुख की अनुभूति से पूर्वानुभूत सुख के हेतुओं का तथा विविध आधारों का स्मरण होजाता है।

दुःख—इसीप्रकार दुःख का अनुभव करता व्यक्ति पहले जाने हुए दुःख के हेतुओं तथा आधारों को याद किया करता है।

इच्छा—चाहना है; जो व्यक्ति जिस वस्तु को चाहता है, प्राप्त होने तक उसका बार-बार स्मरण किया करता है।

द्वेष—इच्छा के समान द्वेष भी स्मृति का वैसा ही निमित्त है। व्यक्ति जिससे द्वेष करता है, वह द्वेष उस वस्तु को रह-रहकर याद कराता रहता है।

भय—डर भी स्मृति का साधन है। व्यक्ति जिससे डरता है, भय खाता है, वह भय उस व्यक्ति को भय के कारण का स्मरण कराता रहता है।

अर्थित्व—किसी वस्तु की कामना होना, भोजन या वस्त्र आदि की। यह अर्थिता–जिस वस्तु की कामना होती है, उसका स्मरण कराती रहती है।

क्रिया—अर्थात् कार्य। कार्य से कर्त्ता का स्मरण होजाता है। रथ को देखकर रथकार का स्मरण होजाता है। घट-घटिका [घड़ा-घड़ी] आदि कार्य अपने कर्त्ता का स्मरण कराया करते हैं। यह स्मृति का क्षेत्र वहाँ तक है, जहाँ तक हमें कार्य के कर्त्ता की जानकारी रहती है। इसीलिये जगत्कार्य से ईश्वर-कर्त्ता का स्मरण न होकर अनुमान होना मानाजाता है।

राग—जिसमें जिस व्यक्ति का अनुराग होता है, वह उसको याद किया-करता है। स्त्री में अनुराग होने पर पुरुष बार-बार उसका स्मरण करता है। ऐसी दशा में स्त्री पुरुष का स्मरण करती है। एक मित्र दूसरे मित्र का स्मरण करता है।

धर्म—यह एक साधारण ईश्वरीय व्यवस्था है; किसी व्यक्ति को अपने पूर्वजन्म की घटनाओं का स्मरण नहीं होता । परन्तु कभी किसी धर्म-विशेष का अतिशय होने पर कोई व्यक्ति बहुत विरल ऐसा निकल आता है, जिसे पूर्वजन्म की किन्हीं विशेष घटनाओं का स्मरण होआता है । ऐसे ही धर्मविशेष के कारण चालू जीवन में अपने अधीत विषयों का किन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों को स्मरण रहता है । अन्यथा अनेक व्यक्ति चाहने व प्रयत्न करने पर भी अधीत विषयों का प्रायः स्मरण नहीं करपाते । हमारे गुरु श्री पं० काशीनाथ जी शास्त्री संस्कृत के प्रत्येक विषय के प्रत्येक ग्रन्थ को पुस्तक देखे विना पढ़ाया करते थे । ऐसी विशिष्ट स्मृति का कारण धर्म-अदृष्ट होता है ।

अधर्म—पहले अनुभूत दुःख-साधनों का स्मरण अधर्म-निमित्त के उद्रेक से होजाता है । अधर्मनिमित्तक होने से ऐसा स्मरण दुःख का ही जनक होता है ।

सूत्रकार ने यहाँ स्मृति के सत्ताईस निमित्तों का संकलन किया है । यह गणना की व्यवस्था –इयत्ता नहीं, अपितु निर्देशनमात्र है । अन्य निमित्त भी स्मृति के सम्भव हैं । कभी उन्माद आदि स्मृति के कारण बनजाते हैं ।

स्मृति का कोई निमित्त ज्ञात होने पर स्मृति का हेतु होता है । यह एक व्यवस्था है–एक समय में कोई एक ज्ञान होसकता है, एकाधिक नहीं; इसलिये स्मृति हेतुओं का युगपत् होना सम्भव नहीं । इसीकारण स्मृतियाँ युगपत् नहीं होसकतीं । यह बात प्रथम तेतीसवें सूत्र में कहीगई है, उसीका समर्थन प्रस्तुत प्रसंग से किया है ।। ४३ ।।

ज्ञान, उत्पाद-विनाशशील—बुद्धि अर्थात् ज्ञान–जो प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होता है–उत्पत्ति-विनाशशील है । परन्तु कभी ज्ञान चिरकाल तक बना रहता है, इससे उसके अनित्य होने में संशय की स्थिति आजाती है–ज्ञान को क्या शब्द के समान उत्पाद-विनाशशील मानाजाय ? अथवा कालान्तर में अवस्थित रहने से घट आदि के समान स्थायी मानाजाय ? आचार्यों का कहना है कि ऐसे ज्ञान को शब्द के समान उत्पाद-विनाशशील मानाजाना चाहिये । सूत्रकार ने कारण बताया—

कर्मानवस्थायिग्रहणात् ।। ४४ ।। (३१३)

[कर्मानवस्थायिग्रहणात्] कर्म-क्रिया के समान अवस्थायीरूप में ग्रहण न होने से (बुद्धि-ज्ञान को क्रिया के समान क्षणिक–अस्थायी मानना चाहिये) ।

क्रिया कभी स्थायीरूप में गृहीत नहीं होती; वह निरन्तर प्रवाहित होती देखीजाती है । कमान से छूटे हुए तीर में–जब तक वह लक्ष्य में बिंध नहीं जाता, अथवा लक्ष्यभ्रष्ट होकर भूमि आदि पर गिर नहीं जाता, तबतक–क्रिया का प्रवाह निरन्तर रहता गृहीत होता है । इसीप्रकार प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होनेवाला ज्ञान

प्रत्येक विषय के प्रति नियत होता है। एक ज्ञान किसी एक नियत-विषयक रहता है। एक ज्ञान के अनन्तर दूसरा ज्ञान आत्मा में उत्पन्न होजाता है, भले ही कभी ज्ञान का विषय एक हो। जैसे एक गति-क्रिया दूर देश तक नहीं जासकती, वहाँ तीर में एक क्रिया के अनन्तर अन्य क्रिया की उत्पत्ति से क्रिया का सन्तान–निरन्तर उत्पत्ति-विनाश प्रवाह–देखाजाता है; ऐसे ही आत्मा में ज्ञान-सन्तान की उपपत्ति समझनी चाहिये। पूर्वज्ञान के रहते अन्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होसकता, अतः जैसे ही पूर्वज्ञान का नाश होता है, अन्य ज्ञान उत्पन्न होजाता है। इस-प्रकार ज्ञान की क्षणिकता, अस्थायिता सिद्ध होती है।

अनित्य पदार्थों के दो प्रकार—अनित्य पदार्थ दो प्रकार के देखेजाते हैं। एक–कालान्तर तक अवस्थित रहते हैं, जैसे—घट, पट आदि पदार्थ। दूसरे–उत्पन्नापवर्गी होते हैं,–उत्पन्न होना, अनन्तर एक क्षण रहकर फिर नष्ट होजाना। यहाँ 'अपवर्ग'-पद नाश के अर्थ में है। तात्पर्य है–ऐसे अनित्य पदार्थों का अस्तित्व केवल दो क्षण रहता है। एक क्षण उत्पत्ति का, दूसरा स्थिति का; तीसरे क्षण में उनका नाश होजाता है। क्रिया एवं शब्द ऐसे ही पदार्थ हैं। उन्हींके समान यह बुद्धि अर्थात् ज्ञान द्विक्षणावस्थायी है। ज्ञान के उत्पत्ति-विनाशशील अथवा क्षणिक होने का यही तात्पर्य है।

इसके विपरीत यदि यह कहाजाता है कि अनित्य घट आदि के समान बुद्धि कालान्तर में अवस्थित रहती है, तो दीखते हुए घट के–किसी व्यवधान द्वारा–व्यवहित होजाने पर भी उसका प्रत्यक्ष होता रहना चाहिये। जबतक घट सामने रक्खा है, घटविषयक बुद्धि-सन्तान प्रत्यक्षरूप में प्रवाहित होतारहता है। यदि इस बुद्धि को कालान्तरावस्थायी मानाजाय, तो वह घट के व्यवहित होजाने पर भी प्रत्यक्षरूप में अवस्थित रहनी चाहिये। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं; अतः प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि को घट आदि के समान कालान्तरावस्थायी न मानकर, क्रिया आदि के समान द्विक्षणावस्थायी मानाजाना उपपन्न है।

अनन्तरकाल में घट का स्मरण होना प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि के अवस्थित होने में हेतु नहीं है; क्योंकि स्मृति का हेतु सदा संस्कार होता है, जो प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि से उत्पन्न होता है। किसी विषय का प्रत्यक्षज्ञान आत्मा में उस विषय के संस्कार को उत्पन्न करदेता है; स्वयं नष्ट होजाता है। आगे वह संस्कार उस विषय की स्मृति को उत्पन्न कियाकरता है। इसलिये अनित्य बुद्धि को उस विषय की स्मृति होने के आधार पर घट आदि अनित्य पदार्थों के समान कालान्तरावस्थायी नहीं मानाजासकता; क्योंकि स्मृति का कारण प्रत्यक्षादिजन्य बुद्धि नहीं; अपितु बुद्धिजन्य संस्कार होता है, जो आत्मा में समवेत रहता है, तथा यथाकाल प्रणिधान आदि निमित्तों से जागृत होकर स्मृति को उत्पन्न किया करता है।

यह कहना किसीप्रकार युक्त नहीं कि बुद्धि के द्विक्षणावस्थायी होने में हेतु का अभाव है। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य बुद्धि को यदि घट आदि के समान कालान्तर में अवस्थायी मानाजाता है, तो उसके निरन्तर प्रत्यक्षरूप बने रहने से स्मृति का होना असम्भव होजायगा। प्रत्यक्षज्ञान के न रहने पर स्मृति के होने की सम्भावना रहती है। प्रत्यक्षज्ञान को अवस्थित मानलेने पर वह सम्भावना नष्ट होजायगी; जिस विषय का जबतक प्रत्यक्षज्ञान बनारहता है, तबतक स्मृति का होना सम्भव नहीं। तब बुद्धि को अवस्थित मानने से स्मृति का अभाव प्रसक्त होजायगा। यह स्थिति बुद्धि को उत्पन्नापवर्गिणी मानने में अर्थात् द्विक्षणावस्थायी स्वीकार करने में प्रबल हेतु है ॥ ४४ ॥

ज्ञान (क्षणिक) का ग्रहण अस्पष्ट नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, यदि बुद्धि को क्षणिक मानाजाता है, तो विषय का स्पष्ट ग्रहण नहीं होसकेगा। इस जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

अव्यक्तग्रहणमनवस्थायित्वाद् विद्युत्संपाते रूपाव्यक्तग्रहणवत् ॥ ४५ ॥ (३१४)

[अव्यक्तग्रहणम्] अव्यक्त (अस्पष्ट) ग्रहण होना चाहिये (विषय का), [अनवस्थायित्वात्] अवस्थायी न होने से (बुद्धि के), [विद्युत्संपाते] बिजली के चमकने पर [रूपाव्यक्तग्रहणवत्] रूप के अस्पष्ट ग्रहण के समान।

बिजली का चमकना नितान्त अस्थायी होता है। वह चमक आँख-सी झपकजाती है। यह सर्वविदित है–उस प्रकाश में रूप अथवा रूपवाले द्रव्य का स्पष्ट ग्रहण नहीं होता। यदि बुद्धि को इसीप्रकार अस्थायी मानाजाय, वह एक-दो क्षण रहकर नष्ट होजाती है, तो उस बुद्धिरूप ज्ञान-प्रकाश में घटादि विषयों का ग्रहण स्पष्ट नहीं होसकेगा। परन्तु द्रव्यों का ग्रहण स्पष्ट होता देखाजाता है। इससे यह मानाजाना चाहिये कि बुद्धि उत्पन्नापवर्गिणी–उत्पन्न होकर क्षण में नष्ट होजानेवाली–नहीं है ॥ ४५ ॥

आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

हेतूपादानात् प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा ॥ ४६ ॥ (३१५)

[हेतूपादानात्] हेतु के कथन से (जिज्ञासु द्वारा), [प्रतिषेद्धव्याभ्यनुज्ञा] प्रतिषेध कियेजाने वाले अर्थ को स्वीकार करलिया (जिज्ञासु ने)।

बुद्धि को क्षणिक न मानेजाने के लिये जिज्ञासु ने दृष्टान्त व हेतु के रूप में यह कहा कि बिजली की अस्थायी चमक में रूप का स्पष्ट ग्रहण नहीं होता। इस कथन से जिज्ञासु ने बुद्धि की क्षणिकता को स्वीकार करलिया। कैसे कर-लिया ? यह समझिये।

चक्षु द्वारा विषय के ग्रहण करने में प्रकाश आवश्यकरूप से निमित्त होता है। प्रकाश के रहते चक्षु विषय का ग्रहण करसकता है। यदि प्रकाश मन्द अथवा अस्थिर है, तो विषय का ग्रहण मन्द, अस्थिर एवं संदिग्ध न होकर स्पष्ट व निश्चयात्मक होता है। इससे यह सिद्ध होजाता है कि बिजली की चमक में रूप का अव्यक्त ग्रहण बुद्धि की क्षणिकता के कारण न होकर बिजली (प्रकाश) की अस्थिरता के कारण होता है, जो प्रकाशरूप में चाक्षुष बुद्धि का आवश्यक निमित्त है। इससे बुद्धि की क्षणिकता में कोई अन्तर नहीं आता। बुद्धि का व्यक्त (स्पष्ट) व-अव्यक्त (अस्पष्ट) होना बुद्धि के निमित्तों की विविधता से होता है; इसमें बुद्धि का अवस्थित या अनवस्थित होना अपेक्षित नहीं।

वस्तुतः बुद्धि अपने रूप में सदा एक-सी रहती है। विषय का ग्रहण होना 'बुद्धि' अथवा 'ज्ञान' है, वह चाहे स्पष्ट हो, या अस्पष्ट; उसका बुद्धिरूप या ज्ञानरूप होना दोनों अवस्थाओं में समान है। जब पदार्थ के विशेष धर्मों का ग्रहण न होकर केवल सामान्य धर्म गृहीत होते हैं, तब वह ज्ञान अव्यक्त, तथा विशेष धर्मों का ग्रहण होने पर व्यक्त है,-यह कहना भी संगत नहीं है। क्योंकि ज्ञान-चाहे सामान्य हो या विशेष, वे दोनों अपनी स्थिति में व्यक्त हैं। यदि सामान्य ग्रहण के निमित्त उपस्थित हैं, तो वैसा ज्ञान होगा; विशेष ग्रहण के निमित्तों की उपस्थिति में विशेषज्ञान होगा। दोनों प्रकार के ज्ञान एक-दूसरे से पृथक् हैं; तथा अपने-अपने निमित्तों के होने पर आत्मलाभ करते हैं। इसलिये जब कहीं पदार्थ के सामान्य अथवा विशेष धर्मों का ग्रहण नहीं होता, उसमें उनके निमित्तों का न होना कारण है। वह बुद्धि के व्यक्त-अव्यक्त रूप का आपादक नहीं। बुद्धि वस्तुतः सदा व्यक्तरूप रहती है।

यदि व्यक्त-अव्यक्त पदों का बुद्धि के साथ प्रयोग कियाजाना केवल इस भावना से अभीष्ट हो कि वह कहीं विशेष धर्म और कहीं सामान्य धर्म को विषय करती है, तो यह व्यवहारमात्र की दृष्टि से उपयोगी भले हो, पर वस्तुस्थिति यही है कि बुद्धि के अनवस्थायी (क्षणिक-द्विक्षणावस्थायी) होने से उसे अव्यक्त नहीं कहाजासकता। प्रत्येक पदार्थ का जैसा ज्ञान होता है, वह अपने रूप में व्यक्त रहता है॥ ४६॥

ज्ञान स्पष्ट कैसे—आचार्य सूत्रकार इस वास्तविकता को दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करता है—

प्रदीपार्चिस्सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत् तद्ग्रहणम्॥ ४७॥ (३१६)

[प्रदीपार्चिस्सन्तत्यभिव्यक्तग्रहणवत्] प्रदीप की ज्वाला के निरन्तर चलते रहने पर उसके अभिव्यक्त ग्रहण के समान [तद्-ग्रहणम्] बुद्धि-सन्तान का अभिव्यक्त ग्रहण होजाता है।

बुद्धि यद्यपि ग्रनवस्थायी है, क्षणिक है, पर ग्रर्थ का ग्रहण करने के रूप में वह सदा व्यक्त है; यह समझे रहना चाहिये। प्रत्येक व्यक्ति यह स्पष्ट देखता है—दिये की लौ निरन्तर उठती रहती है। तेल-बत्ती के सहयोग से उसका ऊर्ध्व-प्रवाह निरन्तर चालू रहता है। लौ की जिस एक लहर का जो तेल-बत्ती कारण है, वही तेल-बत्ती ग्रन्य लहर का कारण नहीं होता। ग्रत: दीपशिखा की प्रत्येक लहर ग्रपने कारणभेद से ग्रन्य लहर से भिन्न है। यह स्थिति दीपशिखा के प्रतिक्षण परिवर्त्तन की प्रयोजक है। इससे दीपशिखा का ग्रनवस्थायी होना प्रमाणित है। फिर भी उसका ग्रहण व्यक्त है। ऐसे ही विभिन्न विषयों के ग्रनुसार बुद्धि-सन्तान निरन्तर चालू रहता है, ग्रर्थात् परिवर्त्तित होता रहता है; फिर भी ग्रर्थ-ग्रहण के रूप में वह व्यक्त है। जैसे ज्वाला प्रतिक्षण नई-नई चलती रहती भी व्यक्त है, इसीप्रकार नये-नये विषय का ज्ञान विषयानुसार निरन्तर बदलता रहता भी व्यक्त है। ऐसी दशा में बुद्धि के क्षणिक (ग्रनवस्थायी) होने पर उसके ग्रव्यक्त होने का कभी ग्रवसर नहीं ग्राता ॥ ४७ ॥

चेतना ग्रात्मधर्म में संशय—सिद्धान्त को दृढ़तापूर्वक पुष्ट करने की भावना से जिज्ञासा को पुन: उभारागया—चेतना को शरीर का धर्म क्यों न मानाजाय? जबकि शरीर के रहने पर चेतना रहती है, न रहने पर नहीं रहती। सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना के ग्रनुसार ऐसे संशय का कारण बताया—

द्रव्ये स्वगुणपरगुणोपलब्धेः संशयः ॥ ४८ ॥ (३१७)

[द्रव्ये] द्रव्य में [स्वगुणपरगुणोपलब्धेः] ग्रपने गुण तथा ग्रन्य के गुण की उपलब्धि से [संशयः] संशय है (शरीर में चेतनाविषयक)।

द्रव्य में ग्रपने धर्म तो रहते ही हैं, पर कभी ग्रन्य का धर्म ग्रन्य द्रव्य में देखाजाता है। जलों में ग्रपना धर्म (गुण) द्रवत्व (पिघलापन) उपलब्ध होता है। पर कभी ग्रन्य द्रव्य (तेज) का धर्म उष्णता भी उपलब्ध होता है। इससे संशय होता है–शरीर में जो चेतना धर्म उपलब्ध है, यह शरीर का ग्रपना धर्म है, ग्रथवा ग्रन्य किसी द्रव्य का? वह ग्रन्य द्रव्य ग्रात्मा है। तब चेतना को शरीर ग्रौर ग्रात्मा में से किस द्रव्य का धर्म मानाजाय? ॥ ४८ ॥

चेतना शरीर-धर्म नहीं—ग्राचार्य सूत्रकार ने बताया, चेतना शरीर का धर्म नहीं होसकता; क्योंकि—

यावच्छरीरभावित्वाद्रूपादीनाम् ॥ ४९ ॥ (३१८)

[यावच्छरीरभावित्वात्] जबतक शरीर है, तबतक विद्यमान रहने से [रूपादीनाम्] रूप ग्रादि धर्मों के (शरीर-सम्बन्धी)।

यह देखाजाता है–शरीर के ग्रपने धर्म रूपादि उस समय तक शरीर में बराबर बने रहते हैं, जबतक शरीर विद्यमान रहता है। परन्तु शरीर के रहते

भी चेतना नहीं रहती। मृत शरीर में चेतना का अभाव देखाजाता है; परन्तु शरीर के जो अपने धर्म हैं—रूप आदि, वे मृत शरीर में विद्यमान रहते हैं। जैसे जलों में अपना धर्म द्रवत्व बना रहता है, उष्णता पर-धर्म नहीं रहता। इससे प्रमाणित होता है—चेतना शरीर का धर्म नहीं हैं।

कभी शरीर में भी शरीर-धर्म का उत्पाद-विनाश देखाजाता है। स्नान आदि करने से शरीर संस्कृत होजाता है। यह संस्कार-विशेष शरीर का धर्म है; पर शरीर के रहते ही कालान्तर में वह संस्कार नष्ट होजाता है। इसीप्रकार शरीर के रहते चेतना का नाश होजाना सम्भव है। तब चेतना को शरीर-संस्कार के समान शरीर का धर्म क्यों न मानाजाय ?

वस्तुतः स्नान आदि से शरीर में होनेवाला संस्कार अपने कारण के नाश से नष्ट होजाता है। स्नान आदि संस्कार के कारण का प्रभाव न रहने पर वह संस्कार नहीं रहता। परन्तु शरीर में चेतना के कारण का विनाश प्रमाणित नहीं कियाजासकता। जैसे शरीर में चेतना उपलब्ध होती है, वैसे ही शरीर में चेतना का अभाव देखाजाता है। परन्तु संस्कार की स्थिति ऐसी नहीं है; संस्कृत और असंस्कृत शरीर के अन्तर को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। इसलिये स्नानादिजनित संस्कार—शरीरधर्म के समान चेतना को शरीर-धर्म कहना असंगत है।

यदि आग्रहवश चेतना को शरीर का धर्म कहाजाता है, तो ऐसे वक्ता को बताना चाहिये कि चेतना का कारण कहाँ रहता है? शरीर में? या शरीर के बाहर? अथवा शरीर और बाहर दोनों जगह? ये तीनों स्थितियाँ दोषावह हैं। यदि चेतना का कारण शरीर में अवस्थित रहता है, तो शरीर में कभी चेतना उत्पन्न हो, और कभी न हो,–यह स्थिति नहीं होनी चाहिये; जबतक शरीर है, चेतना बराबर बनी रहनी चाहिये; पर ऐसा नहीं है, मृत शरीर में शरीर रहते भी चेतना नहीं रहती।

दूसरा विकल्प भी दोषपूर्ण है। यदि शरीर में चेतना को उत्पन्न करनेवाला कारण शरीर से बाहर कहीं अन्यत्र रहता है, और अन्यत्र अवस्थित वह कारण अपने अधिकरण से भिन्न अधिकरण—शरीर में चेतना को उत्पन्न करदेता है, तो लोष्ट अथवा पाषाण आदि में भी चेतना को उत्पन्न कर दे। पर ऐसा सम्भव नहीं; अतः चेतना के कारण का शरीर से बाहर होना अयुक्त है। तीसरे विकल्प में पूर्वोक्त दोष यथावत् हैं। इसके साथ यह भी आपत्तिजनक बात है कि चेतना-निमित्त उभयत्र होने पर शरीर में ही चेतना उत्पन्न हो, और शरीर के समानजातीय अन्य द्रव्यों में उत्पन्न न हो, ऐसी व्यवस्था में कोई हेतु नहीं है। तब शरीर में चेतना की उत्पत्ति के समान प्रत्येक शरीरजातीय द्रव्य में चेतना उत्पन्न होनी चाहिये। परन्तु ऐसा किसी प्रमाण से उपपन्न नहीं है। अतः चेतना को शरीर का धर्म मानाजाना सर्वथा अप्रामाणिक है॥ ४६॥

चेतना भूत-धर्म, पाकज गुण के समान—शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है, घट आदि एक द्रव्य में श्याम आदि गुण का उत्पन्न होना और विनाश होना देखाजाता है; इसीप्रकार एक शरीर में चेतना के उत्पत्तिविनाश सम्भव हैं। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

न पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः ॥ ५० ॥ (३१९)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [पाकजगुणान्तरोत्पत्तेः] अग्निसंयोग के कारण अन्य गुण की उत्पत्ति होने से (घट आदि द्रव्य में)।

घट का धर्म रूप है, घट में रूप का अत्यन्त विनाश नहीं होता। कच्चे घड़े में श्याम-रूप है; अग्नि-संयोग से घड़ा जब पकजाता है, तब रक्त-रूप की उत्पत्ति होजाती है। दोनों दशाओं में रूप वहाँ बराबर बनारहता है, भले ही श्याम-रूप से रक्त-रूप भिन्न हो। परन्तु शरीर में चेतना का अत्यन्त अभाव हो-जाता है। यदि चेतना शरीर का धर्म हो, तो एक चेतना का विनाश होने पर अन्य चेतना उत्पन्न होजानी चाहिये। परन्तु मृतशरीर में ऐसा सम्भव नहीं होता; इसलिये चेतना को शरीर का धर्म मानना असंगत है ॥ ५० ॥

इस विषय में अन्य विचारणीय सूत्रकार ने बताया—

प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः पाकजानामप्रतिषेधः ॥ ५१ ॥ (३२०)

[प्रतिद्वन्द्विसिद्धेः] प्रतिद्वन्द्वी(–प्रतियोगी-विरोधी गुण) की सिद्धि से [पाकजानाम्] पाकज गुणों की समानता से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (चेतना के शरीरधर्म न होने का)।

जिन द्रव्यों में पूर्ववर्त्ती गुण के प्रतियोगी-विरोधी गुण की सम्भावना रहती है, उन्हीं द्रव्यों में पाकज गुण की उत्पत्ति देखीजाती है। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, गुण अपने आश्रय द्रव्य की उत्पत्ति होने अथवा न होने पर वहाँ किसी एक स्थिति में रहते हैं। जिस स्थिति में रहते हैं, अग्निसंयोग से उसमें परिवर्त्तन होसकता है। वहाँ पहले गुण का नाश होकर गुणान्तर की उत्पत्ति होजाती है। जिस गुण की अग्निसंयोग से उत्पत्ति होती है, वह पहले गुण का विरोधी है। कच्चे आम को पकाने के लिये पाल में रखदियाजाता है। वहाँ अग्निसंयोग अर्थात् ऊष्मा-गरमी पाकर आम पकजाता है। तब उसमें कच्चे आम के गन्ध, रस, रूप, स्पर्श नष्ट होजाते हैं, और दूसरे उनके विरोधी गन्ध, रस, रूप, स्पर्श उत्पन्न होजाते हैं। कच्चे आम में जिस गन्ध का अनुभव होता है, वह पके आम में नहीं रहता; उसकी जगह अन्य प्रकार के गन्ध का अनुभव होता है। कच्चे आम का रस कुछ खट्टा और पके आम का मधुर होता है। रूप भी अनेक बार बदलजाता है; कच्चे का हरा-सा, और पके आम का पीला-जैसा रूप होजाता है। स्पर्श भी कच्चे का कुछ कठोर, तथा पके का मृदु होता है। यही स्थिति

कच्चे और पके घट आदि द्रव्यों में देखीजाती है। इससे स्पष्ट है–इन द्रव्यों में पूर्ववर्त्ती गुणों के प्रतिद्वन्द्वी गुण सम्भव हैं। ये गुण उन द्रव्यों के अपने धर्म हैं। अग्निसंयोग से पूर्ववर्त्ती गुण का नाश होकर उसकी जगह उसका विरोधी दूसरा गुण उभर आता है। यह निश्चित है, उन द्रव्यों में पूर्ववर्त्ती गुण के साथ–विरोधी होने के कारण–पाकज गुण रह नहीं सकता। परन्तु उनमें से कोई एक गुण तबतक द्रव्य में अवश्य रहता है, जबतक उस द्रव्य का अस्तित्व है। पाकज दशा में विरोधी गुण सदा सजातीय रहता है।

यह सब स्थिति चेतना और शरीर के सम्बन्ध में नहीं देखी जाती। यदि पाकज गुण के समान चेतना को शरीर का धर्म मानकर वहाँ उसके उत्पाद-विनाश की स्थिति को कहाजाता है, तो शरीर में चेतना का प्रतिद्वन्द्वी गुण होना चाहिये, जो मृतशरीर में चेतना के न रहने पर उसके स्थान में आसके। परन्तु विरोधी होने से चेतना के साथ न रहसकनेवाला उसका प्रतिद्वन्द्वी अन्य सजातीय गुण कभी किसी को आजतक गृहीत नहीं हुआ, जिससे चेतना के साथ उसके विरोध का अनुमान कियाजासके। अतः चेतना शरीर का धर्म नहीं है,-इस तथ्य का जो प्रतिषेध कियागया, वह निराधार है ॥ ५१ ॥

शरीर का धर्म, चेतना नहीं—शरीर का गुण चेतना नहीं है; इसकी पुष्टि के लिये सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शरीरव्यापित्वात् ॥ ५२ ॥ (३२१)

[शरीरव्यापित्वात्] शरीर में व्यापी होने से।

शरीर और शरीर के जितने अवयव हैं, उन सब में चेतना व्याप्त है, ऐसा जानाजाता है। शरीर का ऐसा कोई अङ्ग नहीं है, जहाँ चेतना का अनुभव न हो। शरीर के अवयव अपनी स्थिति में शरीर से भिन्न हैं। तब शरीर और शरीर के समस्त अवयवों में चेतना के प्रतीत होने से एक शरीर व शरीरावयवों में अनेक चेतनों का होना प्राप्त होता है।

विभिन्न शरीरों में चेतन एक है, अथवा प्रत्येक शरीर में चेतन पृथक्-पृथक् हैं? इस जिज्ञासा के समाधान के लिये यह हेतु दियाजाता है, एक चैत्र शरीर में स्थित चेतन को होनेवाले सुख, दुःख, ज्ञान आदि का अनुभव अथवा स्मरण अन्य मैत्रादि शरीरवर्त्ती चेतन को नहीं होता; इसलिये प्रत्येक शरीर में चेतन पृथक्-पृथक् मानाजाता है। इसी व्यवस्था के अनुसार यदि चेतना को शरीर का धर्म मानकर शरीर में व्यापी होने से शरीर के प्रत्येक अवयव में चेतना को पृथक्-पृथक् मानाजाता है, तो शरीर के एक अवयववर्त्ती चेतन के सुख, दुःख, ज्ञान आदि का अन्य अवयववर्त्ती चेतन को अनुभव न होना चाहिये। चेतना को शरीर का गुण मानने पर–जैसे विभिन्न शरीरों में पूर्वोक्त व्यवस्था है,

ऐसे एक शरीर में भी वह व्यवस्था लागू होगी। शरीर के अवयवभेद से एक शरीर में अनेक चेतन होने के कारण उन्हें परस्पर सुखादि का अनुभव न होना चाहिये। परन्तु एक शरीर में ऐसा कभी नहीं होता, इसलिये एक शरीर में अनेक चेतन का होना सम्भव नहीं। इसी आधार पर चेतना को शरीर का गुण मानना भी सम्भव नहीं ॥ ५२ ॥

केश आदि देहावयव में चेतना नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है, शरीर के किसी अवयव में चेतना अविद्यमान नहीं रहती, यह कथन युक्त प्रतीत नहीं होता। जिज्ञासा को सूत्रकार ने सूत्रित किया—

केशनखादिष्वनुपलब्धेः ॥ ५३ ॥ (३२२)

[केशनखादिषु] केश और नख आदि में [अनुपलब्धेः] उपलब्धि न होने से (चेतना की)।

चेतना को शरीर में व्यापी बताने के आधार पर एक शरीर में शरीरावयवों के सहारे अनेक चेतनों की कल्पना कर चेतना को शरीर-धर्म होने का निषेध कियागया। परन्तु शरीर में केश, नख आदि ऐसे अवयव हैं, जहाँ चेतना नहीं रहती। ऐसी दशा में पूर्वोक्त 'शरीरव्यापी' हेतु असिद्ध होजाता है। वह अपने साध्य–चेतना शरीर का गुण नहीं है–को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ ५३ ॥

केश आदि में चेतना का प्रसंग नहीं—आचार्य सूत्रकार ने समाधान किया—

त्वक्पर्यन्तत्वाच्छरीरस्य केशनखादिष्वप्रसंगः ॥ ५४ ॥ (३२३)

[त्वक्पर्यन्तत्वात्] त्वक् पर्यन्त होने से [शरीरस्य] शरीर के [केशनखादिषु] केश नख आदि में [अप्रसंगः] प्रसंग–प्राप्ति नहीं (शरीर का अंग होने की)।

शरीर के अंग नहीं केश आदि शरीर का लक्षण [१ । १ । ११] चेष्टाश्रय, इन्द्रियाश्रय, अर्थाश्रयरूप में प्रथम कियागया है। यह स्थिति केश, नख आदि में घटित नहीं होती। इनके काटने आदि से कोई दुःख नहीं होता, जो शरीर के किसी अन्य अंग में अवश्य होता है। समस्त शरीर त्वक् से आच्छादित है, त्वक्-इन्द्रिय के अधिष्ठान त्वक्-सहित का नाम शरीर है। केश, नख, आदि–जो त्वक् से बाहर हैं, उनकी शरीर में गणना नहीं होती। त्वक्पर्यन्त यह कलेवर-पिण्ड जीवन, चिन्तन, मनन, सुख, दुःख, ज्ञान आदि भोग-प्राप्ति के लिये आत्मा का अधिष्ठान है, यही शरीर है। वस्तुतः यह लक्षण जीवित शरीर का समझना चाहिये। शरीर नाम मृत का भी रहता है, पर उसमें उक्त लक्षण नहीं रहते। जीवित अवस्था में चेतना को शरीरव्यापी बतायागया है। केश, नख आदि को

शरीर के अन्तर्गत न मानेजाने से उक्त हेतु में कोई दोष प्राप्त नहीं होता । फलतः उक्त हेतु के आधार पर चेतना को शरीर का धर्म नहीं मानाजासकता ।। ५४ ।।

शरीर का गुण नहीं चेतना—चेतना के शरीर-गुण न होने में आचार्य सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया—

शरीरगुणवैधर्म्यात् ।। ५५ ।। (३२४)

[शरीरगुणवैधर्म्यात्] शरीर के गुण (रूपादि) से (चेतना में) वैधर्म्य-वैलक्षण्य होने के कारण (चेतना शरीर-गुण नहीं) ।

शरीर के गुण दो प्रकार के हैं, एक जिनका प्रत्यक्ष नहीं होता; जैसे—गुरुत्व आदि । दूसरे वे हैं—जिनका बाह्येन्द्रिय से प्रत्यक्ष होजाता है; जैसे—रूप, स्पर्श आदि गुण । चेतना-गुण इन दोनों प्रकारों से विलक्षण है । न तो वह अप्रत्यक्ष है, क्योंकि उसका आन्तर इन्द्रिय मन से प्रत्यक्ष होता है । तथा रूपादि के समान बाह्येन्द्रिय से चेतना का प्रत्यक्ष होता नहीं, क्योंकि चेतना केवल आन्तर इन्द्रिय का विषय है । इसलिये यह शरीर का गुण न होकर किसी अन्य द्रव्य का गुण मानाजाना चाहिये । वह द्रव्य आत्मा है ।। ५५ ।।

शरीर-गुणों में वैधर्म्य—उक्त हेतु के विषय में शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूचित किया—

न रूपादीनामितरेतरवैधर्म्यात् ।। ५६ (३२५)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [रूपादीनाम्] रूप आदि गुणों का [इतरेतरवैधर्म्यात्] परस्पर एक-दूसरे से वैलक्षण्य होने से ।

रूप, स्पर्श, गुरुत्व आदि गुणों का परस्पर वैलक्षण्य होने पर भी ये सब शरीर के गुण बने रहते हैं । इसीप्रकार यदि चेतना का इन गुणों से वैलक्षण्य है, तो वह भी अन्य रूप, गुरुत्व आदि गुणों के समान शरीर का गुण मानाजा-सकता है । इसलिये चेतना को शरीर का गुण न मानने में, 'शरीरगुणवैधर्म्य'- हेतु अनैकान्तिक है ।। ५६ ।।

शरीरगुण बाह्येन्द्रियग्राह्य—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

ऐन्द्रियकत्वाद् रूपादीनामप्रतिषेधः ।। ५७ ।। (३२६)

[ऐन्द्रियकत्वात्] बाह्येन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष होने से [रूपादीनाम्] रूप आदि गुणों के, [अप्रतिषेधः] उक्त हेतु का प्रतिषेध असंगत है ।

शरीर के जितने गुण हैं, उनके उक्त दो प्रकार निश्चित हैं—कतिपय गुणों का बाह्य इन्द्रियों से प्रत्यक्ष होता है; तथा कतिपय गुण सर्वथा अप्रत्यक्ष रहते हैं; उनका ज्ञान अनुमान आदि से होता है । परन्तु चेतना-गुण इन दोनों प्रकारों

में नहीं आता। वह न तो सर्वथा अप्रत्यक्ष है, क्योंकि उसका मानस प्रत्यक्ष होता है ; न वह बाह्येन्द्रियग्राह्य है। यदि चेतना रूपादि के समान शरीर का गुण होता, तो वह शरीर-गुणों के उक्त द्वैविध्य का अतिक्रमण न करता। जैसे कि रूपादि परस्पर विलक्षण होते हुए भी उस द्वैविध्य का अतिक्रमण नहीं करते। शरीर का कोई गुण ऐसा नहीं, जो उक्त द्वैविध्य के अन्तर्गत न आजाता हो। इसके विपरीत चेतना ऐसा गुण है, जो उन दोनों विधाओं में नहीं आता। अतः 'शरीरगुणवैधर्म्य'- हेतु के आधार पर चेतना का शरीर-गुण न होना सिद्ध होता है।

यद्यपि यह प्रथम [१८वें सूत्र से लगाकर ४१ सूत्र तक] प्रमाणित कर-दियागया है कि पृथिवी आदि भूतों, इन्द्रियों तथा मन का धर्म 'ज्ञान' नहीं है। 'चेतना' ज्ञान ही है। और शरीर भी पृथिवी आदि भूतों का विकार है। तब उतने से यह सिद्ध होजाता है–चेतना शरीर का गुण नहीं होसकता। परन्तु विशेष परीक्षा के लिए पुनः, एवं प्रकारान्तर से चेतना को शरीर-गुण न होने का उपपादन कियागया है, जिससे विषय का विविध रीति पर यथार्थ बोध होसके। अनेक प्रकार से तत्त्व की परीक्षा उस विषय में दृढ़ निश्चय करादेती है ॥ ५७ ॥

मन की परीक्षा—बुद्धि की परीक्षा के अनन्तर अब क्रमप्राप्त मन की परीक्षा करना अपेक्षित है। जिज्ञासा होती है–प्रत्येक शरीर में एक आत्मा के साथ एकं मन सम्बद्ध रहता है, अथवा अनेक मन ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ज्ञानायौगपद्यादेकं मनः ॥ ५८ ॥ ३२७)

[ज्ञानायौगपद्यात्] ज्ञानों के युगपत् (एकसाथ) न होने से [एकम्] एक है [मनः] मन, (एक शरीर में)।

मन एक है, एक देह में—शरीर में चक्षु आदि इन्द्रियाँ अनेक हैं। वे अपने-अपने विभिन्न विषयों का ज्ञान कराने में साधन होते हैं। इसप्रकार के प्रत्येक प्रत्यक्ष ज्ञान में बाह्य इन्द्रिय के समान आन्तर इन्द्रिय मन' भी साधन होता है। चक्षु आदि बाह्य इन्द्रियाँ अपने रूप आदि नियत विषयों के ग्रहण का सामर्थ्य रखते हैं; परन्तु मन अनियतविषय होता है, क्योंकि अणु-परिमाण होने से मन का एक समय में एक इन्द्रिय से सम्बन्ध रहता है, इसलिए उस क्षण में उसी इन्द्रिय के ग्राह्य विषय का ज्ञान होपाता है; भले ही उसी समय अन्य इन्द्रिय भी अपने ग्राह्य विषय से सम्बद्ध हो। उस विषय का ज्ञान उस क्षण में नहीं होसकेगा; क्योंकि मन तब उस इन्द्रिय से सम्बद्ध नहीं है। इसप्रकार एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना सम्भव नहीं होता। यह स्थिति शरीर में एक मन की सत्ता को सिद्ध करती है। यदि एक से अधिक अनेक मन की स्थिति एक शरीर

में मानीजाती है, तो एक क्षण में अनेक इन्द्रियों के साथ अनेक मन-द्रव्यों का सम्बन्ध होने पर अनेक ज्ञानों का उत्पन्न होना प्राप्त होता है। परन्तु एक क्षण में अनेक ज्ञान कभी उत्पन्न नहीं होते । इसलिए विषयग्रहण में क्रम होने से एक शरीर में एक मन का होना प्रमाणित होता है ॥ ५८ ॥

क्रिया व ज्ञान देह में एक-साथ अनेक—शिष्य व्यावहारिक स्थिति के आधार पर जिज्ञासा करता है, एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना देखाजाता है, आचार्य ने जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न युगपदनेकक्रियोपलब्धेः ॥ ५९ ॥ (३२८)

[न] नहीं (युक्त प्रतीत होता, उक्त कथन) [युगपत्] एकसाथ [अनेक-क्रियोपलब्धेः] अनेक क्रियाओं की उपलब्धि से ।

एक क्षण में अनेक ज्ञानों के एकसाथ न होने के आधार पर प्रतिशरीर में केवल एक मन का मानाजाना युक्त प्रतीत नहीं होता; क्योंकि एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना व्यवहार में स्पष्ट देखाजाता है। कोई भी क्रिया सदा ज्ञानपूर्वक होती है; अतः एक क्षण में अनेक ज्ञानों का होना मानाजाना चाहिये, जो प्रतिशरीर एक मन स्वीकार करने पर सम्भव न होगा। एक क्षण में अनेक क्रिया व ज्ञानों का होना व्यवहारसिद्ध है। एक अध्यापक अथवा कोई धार्मिक व्यक्ति नदी पर स्नान करने के अनन्तर मन्त्रों का पाठ कर रहा है, चलताजारहा है, जलपात्र को हाथ में थामे हुए है, मार्ग को आगे देखरहा है, इधर-उधर जंगल में उठते हुए शब्दों को सुनरहा है, कुछ भयभीत भी होरहा है, यह समझकर–कि कहीं जंगल की ओर से उठनेवाली इन ध्वनियों में किसी हिंसक पशु का रव तो नहीं है ? उसे पहचानने का प्रयत्न कररहा है; अपने गन्तव्य स्थान का प्रतिक्षण उसे स्मरण होरहा है। इस सब स्थिति में क्रिया व ज्ञान का कोई क्रम प्रतीत नहीं होता, ये एकसाथ होते रहते हैं। इसके आधार पर एक शरीर में अनेक मनों का होना प्रतीत होता है; अतः उक्त कथन चिन्तनीय है ॥ ५९ ॥

ज्ञान एक-साथ अनेक नहीं—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

अलातचक्रदर्शनवत् तदुपलब्धिराशुसञ्चारात् ॥ ६० ॥ (३२९)

[अलातचक्रदर्शनवत्] अलातचक्र के दीखने के समान [तद्-उपलब्धिः] उन विषयों की उपलब्धि होती है [आशुसञ्चारात्] शीघ्र सञ्चार से ।

आग से दहकते हुए सिरेवाली लकड़ी को 'अलात' कहते हैं। लकड़ी के अनजले दूसरे सिरे को पकड़कर जब उसे तेज़ी से घुमायाजाय, उस आग के गोल घेरे का नाम 'अलातचक्र' है। अलात घुमायेजाते समय पूरे एक गोल घेरे [चक्र]

के रूप में दिखाई देता है। परन्तु वह अलात जिस समय उस घेरे के जिस एक कोण पर है, उसी समय अन्य किसी कोण पर नहीं है; परन्तु अलात के तेज़ी से घुमाये जाने के कारण [आशुसञ्चारात्] उसके व्यवच्छेद [अनुपस्थिति के अवकाश] को दृष्टि से पकड़ा नहीं जाता। यद्यपि प्रत्येक कोण पर अलात ठीक क्रम के अनुसार आता है। इसीप्रकार आशुसञ्चारी मन विभिन्न इन्द्रियों के साथ क्रमपूर्वक सम्बद्ध होकर ही उस विषय के ग्रहण में साधन बनता है। ये ग्रहण [ज्ञान] बराबर क्रमपूर्वक होते हैं; परन्तु मनःसञ्चार की तीव्रता के कारण उस क्रमको पकड़ने में व्यक्ति अक्षम रहता है, और यह समझता है कि यह सब एकसाथ होरहा है। एकसाथ होने की प्रतीति केवल भ्रम है।

आशङ्का कीजासकती है कि क्रम का ग्रहण न होने से क्रियाओं का युगपत् होना प्रतीत होता है; इसमें प्रमाण क्या है? ऐसा क्यों न मानाजाय कि वे समस्त क्रियामूलक ज्ञान वस्तुतः युगपत् होरहे हैं?

ज्ञान व क्रियाओं के युगपत् न होने में प्रमाण का उल्लेख प्रथम करदिया-गया है। विभिन्न इन्द्रियों द्वारा उनके ग्राह्य विषय क्रम से गृहीत होते हैं, युगपत् नहीं होते; यह ज्ञानायौगपद्य हेतु अबाधित है। प्रत्येक व्यक्ति अपने अनुभव से इसे जानता है। इसी आधार पर मन का एकत्व सिद्ध कियागया है। मन के एक होनेसे एक क्षण में अनेक क्रियाओं का होना सम्भव नहीं। इससे निश्चित होता है—अनेक क्रियाओं के युगपत् होने की प्रतीति—क्रम का ग्रहण न होने के कारण—भ्रान्त है। इस तथ्य को दृष्टान्त के आधार पर इसप्रकार समझना चाहिये—

जब व्यक्ति अपने देखे या सुने अर्थों के विषय में चिन्तन करता है, तब स्मृतिरूप ज्ञान निरन्तर क्रमपूर्वक उसके अन्तरात्मा में उभरते रहते हैं, इनमें यौगपद्य किसी अंश में नहीं देखाजाता। इससे अन्य अवस्थाओं में भी ज्ञान का क्रमपूर्वक होना अनुमान कियाजासकता है। क्रम के अग्रहण का अन्य उदाहरण प्रस्तुत कियाजाता है—

एक व्यक्ति अन्य व्यक्ति को किसी अर्थ का बोध कराने के लिए ज्ञान-पूर्वक एक वाक्य का उच्चारण करता है। वहाँ वर्ण, पद, वाक्य और उनका ज्ञान, तथा उनके अर्थों का ज्ञान होने में क्रम का ग्रहण नहीं होपाता। कहना, सुनना, समझना सब युगपत् होगया,—ऐसा प्रतीत होता है; यद्यपि प्रत्येक वर्ण का उच्चारण क्रमपूर्वक है, एक वर्ण के उच्चारणकाल में अन्य वर्ण का उच्चारण असम्भव है। प्रत्येक पद में एक-एक वर्ण का ज्ञान और प्रत्येक वाक्य में अनेक पदों का ज्ञान क्रमपूर्वक होता है। क्रमिक उच्चारण के समान उनका श्रवण क्रम-पूर्वक होता है। वर्णों से पद का और पदों से वाक्य का प्रतिसन्धान होता है, अनन्तर पदार्थ के स्मरण से वाक्यार्थ-बोध होता है। यह सब कार्य क्रमपूर्वक

होता है, परन्तु उन ज्ञानों का व्यापार अति शीघ्र होजाने से उनके क्रम का ग्रहण नहीं होपाता। यह स्थिति अन्यत्र भी ज्ञान व क्रियाओं के युगपत् न होने का अनुमान कराती है। वस्तुतः क्रम का ग्रहण न होने से इनके युगपत् होने का भ्रम होजाता है। ज्ञानों का युगपत् होना कहीं सन्देहरहित नहीं है, जिससे एक शरीर में अनेक मन होने का अनुमान कियाजासके ॥ ६० ॥

मन अणु है—आचार्य सूत्रकार ने उक्त हेतु के आधार पर मन के एक अन्य धर्म का निर्देश किया—

यथोक्तहेतुत्वाच्चाणु ॥ ६१ ॥ (३३०)

[यथोक्तहेतुत्वात्] जैसा कहागया है हेतु, उसके होने से [च] तथा [अणु] अणु-परिमाण है, मन।

ज्ञानों के युगपत् न होने से मन अणु-परिमाण है। यदि मन को अणु-परिमाण न मानाजाय, तो एक समय में अनेक इन्द्रियों के साथ मन का संयोग होने से अनेक ज्ञानों का युगपत् होना प्राप्त होगा, जो सम्भव नहीं है। इसलिये मन को विभु न मानकर अणु मानाजाता है। मध्यम-परिमाणवाला प्रत्येक द्रव्य सावयव तथा अनित्य होता है। मन नित्य एवं निरवयव है, अतः उसे मध्यम परिमाण नहीं कहाजासकता। अनित्य मानने पर उसके कारणों की कल्पना करनी होगी; जो सम्भव नहीं। अतः मन नित्य व अणु है ॥ ६१ ॥

शरीर की रचना पूर्व-कर्मानुसार—प्राणी के शरीर की रचना, वहाँ भी मानव-शरीर की रचना बड़ी अद्भुत है। इसकी रचना में प्राणी के धर्म-अधर्म-रूप अदृष्ट का सहयोग पूर्णरूप में रहता है। लोक में निर्बाधरूप से यह देखा-जाता है कि समस्त इन्द्रियों के सहित मन का सब व्यापार शरीर के आधार से होता है, अन्यत्र नहीं। ज्ञाता चेतन-आत्मा के सबप्रकार के ज्ञान और समस्त उपभोग, किसी का त्यागना व पाना आदि सब व्यवहार शरीर के भरोसे पर होपाते हैं। इस विषय में एक-दूसरे के विपरीत विचारों को जानकर संशय होजाता है कि क्या शरीर की रचना आत्मा के पूर्वकृत कर्मों के कारण होती है, अथवा कर्म-निमित्तता की उपेक्षा करके, अर्थात् कर्म-सहयोग के विना केवल पृथिवी आदि भूतों के संयोग से होजाती है? क्योंकि सुनाजाता है—कोई आचार्य शरीर-रचना को कर्म-निमित्तक मानते हैं; तथा अन्य आचार्य विना कर्म-निमित्त के भूतमात्र से इसकी रचना बताते हैं। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में यथार्थ तत्त्व का निर्देश किया—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ॥ ६२ ॥ (३३१)

[पूर्वकृतफलानुबन्धात्] पहले किये कर्मों के फलरूप (आत्मनिष्ठ) अदृष्ट (धर्म-अधर्म) के सम्बन्ध से—सहयोग से [तद्-उत्पत्तिः] उसकी (शरीर की) उत्पत्ति-रचना होती है।

पहले जन्मों के काल में जो वाणी, बुद्धि और शरीर के द्वारा आत्मा ने शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान किया, उन कर्मों के फलस्वरूप धर्म-अधर्म (अदृष्ट) एवं संस्कार आत्मा में निहित रहते हैं। भूतों से शरीर की उत्पत्ति में आत्म-समवेत वे धर्म-अधर्म सहयोगी रहते हैं। जहाँ शरीर के उपादान समवायि-कारण भूत-तत्त्व हैं, वहाँ शरीर को प्राप्त करनेवाले आत्मा के पूर्वकृत धर्म-अधर्म शरीर के निमित्त कारण हैं। अदृष्टनिरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से शरीर की उत्पत्ति नहीं होती।

जिसमें अधिष्ठित आत्मा यह 'मैं हूँ' ऐसा समझता, व अभिमान करता है, जिसको अपना रूप मानता हुआ उसकी चोट-फेंट, रोग, व्रण आदि को स्वयं में अभिनिवेशित करता है, जहाँ उपभोग की लालसा से विषयों को उपलब्ध करता हुआ धर्म और अधर्म का सञ्चय कियाकरता है, वह इस आत्मा का शरीर है। एक शरीर के निमित्त धर्म-अधर्म जब भोग आदि के द्वारा समाप्त होजाते हैं, तब वह शरीर पूरा होजाता है, नष्ट होजाता है; उसके अनन्तर अन्य सञ्चित अदृष्ट से किन्हीं सीमित धर्म-अधर्म के अनुसार आत्मा को अन्य शरीर प्राप्त होजाता है। इस शरीर के प्राप्त होने पर पहले शरीर के समान आत्मा इसमें अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए वाणी, बुद्धि एवं शरीर द्वारा कियेजानेवाले अनुष्ठानों में निरन्तर प्रवृत्त रहाकरता है। जीवन की यह सब प्रक्रिया—भूतों से शरीर की उत्पत्ति में—आत्मगत धर्म-अधर्म का सहयोग मानने पर सम्भव होती है।

लोकव्यवहार में यह स्पष्ट देखाजाता है—पुरुष के प्रयोजन-जलाहरण, देहाच्छादन, सुगमयात्रा—आदि को सम्पन्न करने में समर्थ घट-पट-रथ आदि द्रव्यों का उत्पादन—पुरुष के विशेषगुण प्रयत्न का सहयोग होने पर—भूतों से होपाता है। स्वतन्त्र भूत घट, पट, रथ आदि का निर्माण नहीं कर सकते, न वे इस रूप में स्वयं परिणत होते हैं। इसीप्रकार शरीररचना के विषय में अनुमान करलेना चाहिये। भूतों का विकार यह शरीर आत्मा के धर्म-अधर्मरूप विभिन्न गुणों के सहयोग विना नहीं होपाता, जिसमें अधिष्ठित हुआ आत्मा समस्त जीवनकाल में अपने प्रयोजनों की सिद्धि के लिए प्रवृत्त रहता है॥ ६२॥

शरीररचना कर्मनिमित्तक नहीं—आत्मा एवं आत्मगत गुणों की अपेक्षा न रखते हुए अन्य भूत-तत्त्वों की रचना के समान, शरीर की रचना कर्मनिरपेक्ष मानलेनी चाहिये; शिष्य की ऐसी आशङ्का को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

भूतेभ्यो मूर्त्त्युपादानवत् तदुपादानम्॥ ६३॥ (३३२)

[भूतेभ्यः] भूतों से (कर्मों की अपेक्षा के विना) [मूर्त्त्युपादानवत्] मूर्त्तियों—पृथिवी आदि द्रव्यों के उपादान—आत्मलाभ के समान [तद्-उपादानम्] शरीर का उपादान-उत्पाद होजाता है (केवल भूतों से)।

पृथिवी आदि भूत-भौतिक लोक तथा पृथिवी में रेत, कंकड़ी, पत्थर, गेरू, अञ्जन आदि विविध मूर्त्त द्रव्य जैसे कर्मनिरपेक्ष स्वतन्त्र भूतों से उत्पन्न होते हैं, तथा पुरुष के प्रयोजनों को सिद्ध करने के लिए इनका उपयोग कियाजाता है; ऐसे कर्मनिरपेक्ष भूतों से–पुरुष के प्रयोजनों को सिद्ध करनेवाले–शरीर का उत्पन्न होना मानाजासकता है। इस मान्यता में भूतों से अतिरिक्त किसी आत्मा आदि चेतनतत्त्व को मानने की अपेक्षा नहीं रहती ॥ ६३ ॥

'मूर्त्त्युपादान' दृष्टान्त साध्यसम—आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

न साध्यसमत्वात् ॥ ६४ ॥ (३३३)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [साध्यसमत्वात्] साध्य के समान होने से ।

प्रमाण से सिद्ध कोई हेतु या उदाहरण, किसी अन्य साध्य अर्थ को सिद्ध करने में समर्थ होता है। जो अर्थ अभी सिद्ध न होकर स्वयं साध्य है, वह अन्य अर्थ को सिद्ध नहीं करसकता। गत सूत्र में प्रस्तुत 'मूर्त्त्युपादान' दृष्टान्त अभी स्वयं साध्य है। तात्पर्य है–पृथिवी आदि लोकलोकान्तर, एवं पृथिवी में विविध पदार्थों की रचना किसी चेतन की प्रेरणा के विना एवं कर्मों की अपेक्षा के विना होजाती है, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। अतः इसके आधार पर कोई निर्णय नहीं लियाजासकता; यह दृष्टान्त साध्यसम है ॥ ६४ ॥

शरीर-रचना कर्म-सापेक्ष—आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन में अन्य दोष प्रस्तुत किया—

न उत्पत्तिनिमित्तत्वान्मातापित्रोः ॥ ६५ ॥ (३३४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [उत्पत्तिनिमित्तत्वात्] उत्पत्ति का निमित्त होने से [मातापित्रोः] माता-पिता के, (पुत्र-शरीर की रचना में) ।

पृथिवी-पाषाण, गैरिक आदि विविध भूत–भौतिक पदार्थों की रचना निर्बीज होती है; परन्तु शरीर की रचना रजवीर्य-निमित्तपूर्वक होती है। अतः शरीर की उत्पत्ति में 'मूर्त्त्युपादान' दृष्टान्त विषम है। तात्पर्य है–पाषाण आदि की उत्पत्ति जैसे केवल भूतों से होना सम्भव है, वैसे शरीर की उत्पत्ति सम्भव नहीं; क्योंकि जैसे शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता का रज-वीर्य निमित्त होता है, वैसे पाषाण आदि की उत्पत्ति में नहीं है। अन्यथा पाषाण आदि के समान शरीर शुक्र-शोणित के विना उत्पन्न होजाना चाहिये। अतः पाषाण आदि तथा शरीर की उत्पत्ति में समता न होने से यह विपरीत दृष्टान्त है ।

सूत्र में 'मातृ-पितृ' पद शोणित व शुक्र का बोध कराते हैं। आत्मा अपने धर्म-अधर्म के अनुसार जब मातृ-गर्भ में आता है, तब वह कर्मानुसार गर्भवास की कष्टमय स्थिति का अनुभव करता है। माता-पिता अपने कर्मों के अनुसार

पुत्रफल-प्राप्ति का अनुभव करते हैं। यह स्थिति स्पष्ट करती है—माता के गर्भाशय में आश्रय पाकर भूतों से शरीरोत्पत्ति के प्रयोजक होते हैं—कर्म। शरीर-रचना के साथ कर्मों का सम्बन्ध स्पष्ट है। इससे पाषाण आदि द्रव्य तथा शरीर की उत्पत्ति का भेद ज्ञात होजाता है-शरीर में बीज की अनुकूलता है, पाषाण आदि में नहीं। अतः उक्त दृष्टान्त कर्मनिरपेक्ष शरीररचना का साधक नहीं होसकता ॥ ६५ ॥

शरीर-रचना का क्रम—शरीर की रचना में आचार्य सूत्रकार शुक्र-शोणित के अतिरिक्त अन्य कारण बताता है, जो पाषाणादि की उत्पत्ति में सम्भव नहीं। आचार्य ने बताया—

तथाऽऽहारस्य ॥ ६६ ॥ (३३५)

[तथा] उसी प्रकार [आहारस्य] आहार के (माता द्वारा कियेगये, शरीरोत्पत्ति का निमित्त होने से)।

मातृ-आहार देहरचना में हेतु—गत सूत्र से 'उत्पत्तिनिमित्तत्वात्' हेतुपद यहाँ अनुवृत्त होता है। जैसे गर्भस्थिति के लिए शरीरोत्पत्ति में शुक्र-शोणित निमित्त हैं, उसीप्रकार गर्भस्थिति होजाने के अनन्तर आगे शरीर की रचना में माता-द्वारा कियागया आहार निमित्त होता है। माता जो खाती-पीती है, उसके पचजाने पर माता के शरीर में रस-द्रव्य का उपचय होता है, जिससे गर्भस्थित कलल-पिण्ड पालित पोषित होता हुआ शरीर के रूप में शनैः-शनैः वृद्धि को प्राप्त होतारहता है। गर्भ में शुक्र-शोणित के साथ सञ्चित आहाररस शरीर की क्रमिक रचना का प्रयोजक है। शरीर का रचनाक्रम इन पदों से अभिव्यक्त कियाजाता है—अर्बुद, मांसपेशी, कलल, कण्डर अथवा कण्डरा, शिरस्, पाणि पाद आदि। इनका स्वरूप इसप्रकार समझना चाहिये—अर्बुद-बुलबुलाजैसा, मांस-जब उसमें थोड़ा ठोसपना आजाता है। जब उसमें और अधिक पिट्ठी के समान घनता आजाती है। कलल-अङ्गों की अभिव्यक्ति के लिए उसमें कुछ भाग जब उभरने लगते हैं। कण्डर—जब उसमें कुछ लम्बाई दिखाई देनेलगती है। शिरस्—ऊपर का भाग कुछ अधिक स्पष्ट सिर-जैसा तथा शेष भाग से कुछ भारी अलग-जैसा दीखने लगता है। पाणि—बाँह व हाथ के भाग, एवं पाद—टाँग व पैर के भाग स्पष्ट होजाते है। शरीर का ऐसा स्वरूप लगभग तीन मास में पूरा होता है। याज्ञवल्क्यस्मृति में बताया है—

प्रथमे मासि संक्लेदभूतो धातुर्विमूर्च्छितः।
मास्यर्बुदं द्वितीये तु तृतीयेऽङ्गेन्द्रियैर्युतः

[प्रायश्चित्ताध्याय, (३), ७५]

वीर्यधातु अन्य अपेक्षित पार्थिव आदि धातुओं से मिलकर गर्भ के पहले महीने में द्रवरूप बनारहता है। दूसरे महीने में कुछ कठिन मांसपिण्ड के समान

होजाता है; उसकी संज्ञा 'अर्बुद' है। तीसरे महीने में शरीर सिर, हाथ, पैर आदि अङ्ग तथा इन्द्रिय-गोलकों से युक्त होजाता है। सुश्रुत [शा० ३। १४] में कहा है—**'द्वितीये शीतोष्णानिलैरभिपच्यमानो भूतसंघातो घनो जायते।'** शरीर के कारण तत्त्व भूतसंघात गर्भ के दूसरे महीने में सरदी-गरमी तथा प्राणवायु के द्वारा पकायाजाता हुआ घनता-कठोरता को प्राप्त होजाता है।

इसप्रकार माताद्वारा उपभुक्त आहार-द्रव्य के परिणामभूत रसों से पुष्ट होता हुआ शरीर नौ-दस मास में सर्वथा पूर्ण होजाता है; यह प्रसवकाल है। मातृभुक्त आहारद्रव्य के रस गर्भ-नाड़ी द्वारा गर्भ में पहुँचकर शिशु-शरीर को उस समय तक पुष्ट करते रहते हैं, जबतक प्रसवकाल आजाय।

अन्न-पान आदि की यह सब स्थिति घट, पट, रेता, पत्थर आदि की रचना में सम्भव नहीं। इसलिए शरीर की रचना में आत्मा के धर्म-अधर्म को निमित्त मानेजाने में कोई बाधा नहीं है। यदि कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति होजाया करती, तो शुक्रशोणित सम्पर्क के अनन्तर कोई दम्पती निःसन्तान न रहाकरते ॥ ६६ ॥

कर्मनिरपेक्ष देहरचना नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इसी अर्थ का प्रकारान्तर से निर्देश किया—

प्राप्तौ चानियमात् ॥ ६७ ॥ (३३६)

[प्राप्तौ] प्राप्त होजाने पर (स्त्री-पुरुष संयोग के) [च] भी [अनियमात्] नियम न होने से सन्तानोत्पत्ति का)।

पति-पत्नी का संयोग सर्वत्र गर्भाधान का हेतु होजाता हो, ऐसा नहीं है। तब मानना पड़ता है, माता-पिता के पूर्व-कर्म जहाँ सन्तानोत्पत्ति के अनुकूल होते हैं, वहाँ संयोग होने पर गर्भाधान एवं सन्तान-प्रसव की सम्भावना रहती है। जहाँ अनुकूल कर्म नहीं होते, वहाँ संयोग निष्फल जाता है। यह नियम नहीं कि संयोग होने पर अवश्य शरीररचना व सन्तानोत्पाद हो। यदि कर्मनिरपेक्ष केवल भूततत्त्व शरीररचना में निमित्त हों, तो पति-पत्नी-संयोग के अनन्तर नियमपूर्वक शरीररचना व सन्तानोत्पत्ति होनी चाहिये; क्योंकि यहाँ अन्य किसी कारण का अभाव नहीं रहता। कारणसामग्री के रहने पर कार्य अवश्य होना चाहिये। नियम से सन्तानोत्पत्तिरूप कार्य का—पति-पत्नी-संयोग होने पर भी—न होना, वहाँ किसी कारणविशेष के अभाव को अभिव्यक्त करता है। वह कारण आत्मा के स्वकृत पूर्व-कर्म सम्भव हैं। अतः शरीररचना में कर्मों की कारणता अबाधित है ॥ ६७ ॥

कर्मसापेक्ष है—नर-नारी-संयोग—आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में और भी बताया—

शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत् संयोगोत्पत्तिनिमित्तं कर्म ॥ ६८ ॥ (३३७)

[शरीरोत्पत्तिनिमित्तवत्] शरीर की उत्पत्ति में निमित्त होने के समान [संयोगोत्पत्तिनिमित्तम्] संयोग की उत्पत्ति में निमित्त होता है [कर्म] कर्म (आत्मा का पूर्वकृत धर्म-अधर्म) ।

नर-नारी का संयोग होने पर जब गर्भाधान नहीं होता, वहाँ यह कहाजा-सकता है,–ऐसे अवसरों पर यही समझना चाहिये कि संयोग ठीक नहीं हो-पाया । उसमें कुछ न्यूनता रहगई हैं, इसी कारण संयोग होने पर गर्भाधान नही होसका । इसमें कर्म को निमित्त मानने की कोई आवश्यकता नहीं है । इसके समाधानरूप में सूत्रकार ने बताया–कर्म न केवल शरीर की उत्पत्ति में कारण हैं, अपितु जो नर-नारी-संयोग शरीरोत्पत्ति का प्रयोजक है, उसका भी निमित्त कर्म है । सन्तानोत्पादक संयोग आवश्यकरूप से कर्मसापेक्ष रहता है । संयोग होने पर गर्भाधान न होना, सन्तानोत्पत्ति में जिस कारण के अभाव को अभि-व्यक्त करता है, वह कारण कर्म है । नर-नारी- संयोग सर्वत्र समान रहते हैं । संयोग में अन्य किसी प्रकार की न्यूनता सम्भव नहीं । इसलिए संयोग की पूर्णता कर्म-सापेक्ष माननी पड़ती है ।

शरीर की रचना दुरूह––शरीर की रचना वस्तुतः अत्यन्त दुरूह है। मानवदृष्टि से उसे अकल्पनीय कहाजाय, तो इसमें कुछ असत्य नहीं । पूर्वकाल में, और आज भी, भौतिकविज्ञान, आयुर्विज्ञान एवं जन्तुविज्ञान के इतना अधिक उन्नत होने पर भी शरीररचना के पूर्णज्ञान का दावा नहीं कियाजासकता; रचना करना तो दूर की बात है । शरीर की रचना पर विचार कीजिये–इसमें रक्त आदि धातु, प्राण तथा ज्ञानवहा नाड़ियों का जाल बिछा हुआ है । यह नाड़ीजाल इतना सूक्ष्म एवं परस्पर गुथा हुआ है, जिसका पूर्णरूप से ज्ञान आज-तक भी मानव नहीं करसका है । त्वक्-इन्द्रिय का समस्त शरीर पर व्याप्त रहना, तथा प्रत्येक रोम एवं छोटे-से-छोटे अंश पर संवेदनशीलता व उसकी संचार-पद्धति का विद्यमान होना; न्यूनाधिक मात्रा की मांसपेशियों का यथा-स्थान संघटन एवं विभिन्न अंगों में छोटे-बड़े जोड़ों का सामंजस्य; सिर, भुजाएँ, उदर आदि की चमत्कारी रचना; विभिन्न प्रकोष्ठों में वात, पित्त, कफ के प्रतिष्ठान व सञ्चार आदि की व्यवस्था; मुख-कण्ठ आदि में ध्वनि के उपयोगी अवयव-सन्निवेश; आमाशय-पक्वाशय एवं विविध प्रकार के ऊर्ध्व–अधःस्रोतों का नितान्त व्यवस्थित प्रसार, आदि रूप में शरीर की रचना अपने अवयव-सन्निवेश आदि के साथ इतनी सुविचारपूर्ण नियमित व सुदृढ़ है, जिसे केवल जड़मय भूततत्त्वों के द्वारा सम्पन्न कियाजाना सर्वथा अशक्य है । ऐसी रचना में

कर्मसापेक्षता चेतन के सहयोग का साक्षी है। इसप्रकार आत्मा के सुकृत-दुष्कृत को शरीरोत्पत्ति में निमित्त मानना प्रमाणित होता है।

यह व्यवहार द्वारा स्पष्ट सिद्ध है कि चैत्र के सुख-दुःख आदि भोग का अनुभव मैत्र आदि अन्य किसीको नहीं होता। इसका कारण है–शरीर के आधार पर चैत्र नाम से व्यवहृत आत्मा उस नियत देह में सुख-दुःख आदि का अनुभव करता है। यदि आत्मा की शरीरप्राप्ति एवं शरीररचना को अकर्मनिमित्त माना-जाता है, तो सुख-दुःख-भोग आदि की इस व्यवस्था का होना असम्भव हो-जायगा। क्योंकि उस दशा में आत्मा सब समान हैं, तथा शरीररचना व भोग के साधन विशुद्ध [कर्मनिरपेक्ष] भूत-तत्त्व सबके लिए समान हैं। तब चैत्र के भोगानुभव का मैत्र को अनुभव होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। सब अनुभव सबको समानरूप से प्रतीत हों। परन्तु ऐसी स्थिति का नितान्त अभाव है। तब वस्तुस्थिति को देखते हुए यह मानना पड़ता है कि जिस आत्मा के जो कर्म फलोन्मुख हैं, उनके अनुसार ईश्वरीय व्यवस्था से उस आत्मा के लिये शरीर-रचना होती है; तथा वही आत्मा उस शरीर द्वारा कर्मानुसार सुख-दुःख आदि का अनुभव किया करता है, अन्य आत्मा नहीं। क्योंकि प्रत्येक आत्मा के अपने-अपने कर्म उनसे सम्बद्ध रहते हैं, तथा एक आत्मा की स्थिति को अन्य आत्मा की स्थिति से भिन्न करते हैं।

इसप्रकार जैसे शरीर की उत्पत्ति में कर्म निमित्त हैं, वैसे आत्मा का विशिष्ट शरीर के साथ संयोग होने में कर्म निमित्त हैं। प्रस्तुत प्रसंग में प्रत्येक आत्मा का किसी व्यवस्थित शरीर के साथ सम्बन्ध होना यहाँ 'संयोग' पद का अर्थ है। फलतः आत्मा का ऐसे शरीर के साथ सम्बन्ध होना भी कर्मनिमित्तक है। शरीर की उत्पत्ति के लिए नर-नारी का संयोग, शरीर की विशिष्ट रचना, एवं किसी विशिष्ट आत्मा का एक व्यवस्थित शरीर के साथ संयोग, इन सभी कार्यों में आत्मा के सुकृत-दुष्कृत कर्म निमित्त रहते हैं। सांसारिक विविध अनुभूतियों में आत्म-कर्मों की प्रयोजकता अपना विशिष्ट स्थान रखती है॥ ६८॥

शरीर-भेद कर्मसापेक्ष—आचार्य सूत्रकार ने उक्त विवरण का अन्यत्र अतिदेश बताया—

एतेन[1] नियमः प्रत्युक्तः ॥ ६९ ॥ (३३८)

[एतेन] इस पूर्वोक्त विवरण से [नियमः] नियम का (शरीरों की एक-रूपता का) [प्रत्युक्तः] प्रत्याख्यान समझलेना चाहिये।

---

१. 'एतेनानियमः' ऐसा पाठ अन्य संस्करणों में है। वाचस्पति मिश्र ने भी यही पाठ माना है। परन्तु सभी संस्करणों में पाठान्तर 'एतेन नियमः' दियागया है। यह पाठ अर्थानुकूल उपयुक्त होने के कारण यहाँ स्वीकार किया है।

शरीर आदि की रचना कर्मों को निमित्त माने बिना होजाती है; इस विचार के अनुसार आत्माओं के निरतिशय [विशिष्टतारहित-समान] होने तथा भूतों के परस्पर समान होने से शरीरों की एकरूपता का नियम प्राप्त होता है। परस्पर आत्माओं में तथा परस्पर भूतों में कार्योत्पत्ति के लिए विलक्षणता के किसी कारण की सम्भावना न होने से शरीर आदि कार्य एकरूप होने चाहियें। प्रस्तुत सूत्र में 'नियम' पद का यही तात्पर्य है। तब एक आत्मा का जैसा शरीर है, सब आत्माओं का वैसा ही शरीर होना चाहिये; इस नियम का प्रत्याख्यान गत सूत्र [६८] द्वारा करदियागया है। शरीरों के वैलक्षण्य का कारण आत्म-कर्म रहते हैं; इनके अनुसार शरीरों की विलक्षण रचना होने से उक्त नियम नहीं रहता। यह अनियम, भेद अथवा एक-दूसरे से व्यावृत्ति का नियामक है।

इसीके अनुसार प्रत्येक आत्मा के शरीर-सम्बन्धरूप जन्म में भेद देखा-जाता है। कोई ऊँचे कुल में जन्म लेता है, कोई नीच कुल में। कोई शरीर प्रशंसनीय सुन्दर होता है, तथा कोई निन्दित-कुरूप। कोई शरीर रोगयुक्त रहता है, कोई नीरोग। कोई पूरे अंगों से युक्त होता है, कोई विकलांग। कोई शरीर कष्टों से भरा रहता है, कहीं सुखों का बाहुल्य देखाजाता है। कोई शरीर पौरुष-उत्कर्ष के सूचक लक्षणों से युक्त रहता है, जैसे—आजानुबाहु आदि होना; तथा कोई इससे विपरीत होते हैं, अपकर्ष के सूचक , जैसे—अंगुलियों का मोटा व ठिगना होना, दोनों भौंहों का मिले हुए होना आदि। कोई शरीर प्रशंसनीय लक्षणों वाला होता है, अतिसुन्दर सुडौल-सुघटित आदि; तथा कोई निन्दनीय लक्षणों से युक्त, जैसे—नाक व होठों का मोटा होना, माथा दबा हुआ होना आदि। किसी शरीर में इन्द्रियाँ बड़ी पटु, अपने विषय को ग्रहण करने में पूर्ण समर्थ; तथा कोई शरीर शिथिल इन्द्रियों से युक्त रहता है, न ठीक दिखाई देता न सुनाई देता आदि। शरीर के अन्य सूक्ष्म आन्तरिक भेद इतने होसकते हैं, जिनकी गणना करना कठिन है।

मानव का यह जन्म-सम्बन्धी भेद प्रत्येक आत्मा में समवेत [नियमपूर्वक विद्यमान] धर्म-अधर्म भेद के कारण होता है। यदि प्रत्येक आत्मा में नियत धर्म-अधर्म-रूप अदृष्ट को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो स्वकृत कर्मरूप अतिशय से रहित समस्त आत्माओं की स्थिति एक-समान रहती है; तथा पृथिवी आदि भूततत्त्व सबके लिए समानरूप होते हैं; क्योंकि जन्मादि सम्बन्धी भेदों का नियामक कोई हेतु पृथिवी आदि तत्त्वों में नहीं देखाजाता। ऐसी स्थिति में शरीरसम्बन्धी समग्र रचना प्रत्येक आत्मा के लिए समानरूप में प्राप्त होनी चाहिये। परन्तु लोक में ऐसा देखा नहीं जाता। जन्म-सम्बन्धी विशेषताओं का प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। इस भेद के नियामक आत्माओं के अपने-अपने

विशेष कर्म हैं । इसलिए शरीर की रचना में कर्मों को निमित्त मानना पूर्णरूप से प्रामाणिक है ।। ६९ ।।

कर्मसापेक्ष जन्म में अपवर्ग की उपपत्ति—जन्म को कर्मनिमित्तक मानने पर मृत्यु का होना तथा कालान्तर में अपवर्ग का होना भी उपपन्न होता है; आचार्य सूत्रकार ने बताया—

उपपन्नश्च तद्वियोगः कर्मक्षयोपपत्तेः ।। ७० ।। (३३९)

[उपपन्नः] सम्पन्न-सिद्ध होता है [च] भी [तद्-वियोगः] उसका (शरीर का) वियोग (मृत्यु अथवा अपवर्ग रूप में), [कर्मक्षयोपपत्तेः] कर्मों के क्षय की उपपत्ति-सिद्धि से ।

विशिष्ट कर्मों के आधार पर आत्मा को एक शरीर प्राप्त होता है । ऐसे कर्मों को प्रारब्ध-कर्म कहाजाता है । इन कर्मों के फल, चालू शरीर के आधार पर भोगे जाकर समाप्त होजाते हैं, तब उस चालू देह का पतन होजाता है; आत्मा उस देह को छोड़जाता है; यह मृत्यु है । आत्मा का शरीर के साथ यह वियोग तभी सम्भव है, जब शरीर की रचना व उसकी प्राप्ति को कर्मनिमित्तक मानाजाता है । क्योंकि प्रारब्ध-कर्मों का क्षय होने से मृत्यु का अवसर आता है । इसीप्रकार आत्मज्ञान होजाने पर जब सञ्चित व प्रारब्ध आदि सब प्रकार के कर्मों का क्षय होजाता है, तब चालू शरीर के पतन के अनन्तर तत्काल देहान्तर (अन्य शरीर) प्राप्त होजाने की सम्भावना नहीं रहती । चालू शरीरपात के अनन्तर निरन्तर देहान्तरप्राप्ति की सम्भावना न रहना अपवर्ग की स्थिति है । इस अवस्था का सिद्ध होना तभी सम्भव है, जब शरीररचना व प्राप्ति को कर्म-निमित्तक मानाजाता है; क्योंकि मृत्यु व अपवर्ग का होना कर्मक्षय पर अवलम्बित रहता है ।

प्रारब्ध-कर्मों का भोग से क्षय होकर एक देह के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति होती रहती है । सम्यग्दर्शन, अर्थात् आत्म-साक्षात्कार होने के अनन्तर, मोह (अज्ञान) तथा राग (विषयासक्ति) के क्षीण होजाने से वीतराग आत्मा पुनः देह प्राप्त होने के निमित्तभूत कर्मों का शरीर, वाणी तथा मन से अनुष्ठान करना त्याग देता है । इससे आगे कर्मों का उपचय नहीं होता, तथा पूर्वसञ्चित कर्मों का भोग एवं आत्मज्ञान से क्षय होजाता है । इसप्रकार आगे शरीररचना व उससे आत्मा का सम्बन्ध करनेवाले हेतुओं (कर्मों) का अभाव होजाने से चालू शरीर के पूरा होजाने पर पुनः शरीरान्तर की उत्पत्ति उस आत्मा के लिए नहीं होती । तब उसके जन्म-मरण का निरन्तर क्रम चिरकाल के लिए छूटजाता है । यदि शरीररचना को कर्मनिमित्तक नहीं मानाजाता, तो भूततत्त्वों के सदा बने रहने से आत्मा का भौतिक शरीर के साथ वियोग अनुपपन्न होगा । उस दशा में जन्म-मरण का निरन्तर क्रम कभी समाप्त नहीं होसकता ।। ७० ।।

आत्मा के देहसम्बन्ध में अविवेक कारण नहीं—जिज्ञासा होती है, शरीर-रचना में कर्मों को निमित्त मानना अपेक्षित नहीं। उसकी रचना में कारण-अदर्शन है। अदर्शन का तात्पर्य है–जड़ और चेतन (प्रकृति-पुरुष) के भेद का न दीखना–ज्ञान न होना, अर्थात् अविवेक। आचार्य सूत्रकार जिज्ञासा का निर्देश करता हुआ समाधान करता है—

तददृष्टकारितमिति चेत् पुनस्तत्प्रसङ्गोऽपवर्गे।। ७१ ।। (३४०)

[तद्-अदृष्टकारितम्] जड़ और चेतन (प्रकृति-पुरुष) के अदर्शन (अज्ञान) से करायाजाता है (शरीरोत्पाद एवं आत्मा के साथ शरीर का संयोग), [इति] ऐसा [चेत्] यदि (कहो, तो वह युक्त नहीं; क्योंकि) [पुनः] फिर [तत्प्रसङ्गः] शरीरसम्बन्ध प्राप्त होता है [अपवर्गे] अपवर्ग में, अथवा अपवर्ग होजाने पर।

सूत्र में 'अदृष्ट' पद का तात्पर्य अदर्शन है—दर्शन-ज्ञान न होना। 'तयोः प्रकृतिपुरुषयोः अदृष्टकारितम्-तददृष्टकारितम्'। प्रकृति-पुरुष के अदर्शन से, उनके भेदज्ञान,विवेकज्ञान के न होने से शरीर की रचना तथा शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध होता है। कारण यह है–शरीर के उत्पन्न न होने पर आयतन-अधिष्ठान से हीन द्रष्टा दृश्य को कभी नहीं देखपाता। द्रष्टा का यह दृश्य दो प्रकार का बतायागया है। एक-विषय-रूप, शब्द, स्पर्श आदि। दूसरा–नानात्व, अर्थात् प्रकृति-पुरुष का भेद। द्रष्टा आत्मा शरीर प्राप्त होने पर रूपादि विषयों को भोगता है, तथा प्रकृति-पुरुष के भेद को जानपाता है। इसप्रकार द्रष्टा आत्मा के शरीर-सम्बन्ध होने पर दृश्य दो हुए–भोग तथा अव्यक्त (जड़ प्रकृति) और चेतन आत्मा के नानात्व-भेद का ज्ञान। पहला–संसार, और दूसरा अपवर्ग है। इन्हीं दो प्रयोजनों को सम्पन्न करने के लिए शरीर की रचना होती है। तात्पर्य है–शरीर की रचना में ये प्रयोजक हैं, कर्म नहीं। जब ये प्रयोजन पूर्ण व सम्पन्न होजाते हैं, तब चरितार्थ हुए भूत उस आत्मा के लिए शरीर को उत्पन्न नहीं करते; उस दशा में शरीर का वियोग मृत्यु अथवा अपवर्ग का होना उपपन्न होता है। अतः शरीररचना में कर्मों को अनपेक्षित समझना चाहिये।

आचार्य सूत्रकार ने इस जिज्ञासा का समाधान किया–यदि शरीररचना में कर्मों को निमित्त नहीं मानाजाता, तथा प्रकृति-पुरुष का अदर्शन शरीररचना का निमित्त है, तो अपवर्ग-दशा में दर्शन के हेतु शरीर के न होने से अदर्शन की अवस्था आजाती है; तब वहाँ भी शरीरोत्पत्ति का होना प्रसक्त होता है। शरीर के उत्पन्न न होने पर प्रकृति-पुरुष का 'अदर्शन' है। वह अदर्शन शरीरोत्पत्ति का प्रयोजक है। शरीरोत्पत्ति अर्थात् शरीर का सद्भाव आत्मसम्बद्ध होकर अदर्शन को हटाने में सहयोग देता है। शरीर की अनुत्पत्ति दशा में जो अदर्शन स्वीकार कियागया है; शरीर के निवृत्त,समाप्त होजाने पर अपवर्ग में जब

शरीर का अभाव रहता है, तब पुनः अदर्शन की स्थिति होगी; क्योंकि दर्शन की उत्पत्ति शरीर के रहने पर होती है। शरीरोत्पत्ति से पहले के अदर्शन और शरीरनिवृत्ति के अनन्तर होनेवाले अदर्शन में कोई अन्तर नहीं है। इसलिए जैसे शरीरोत्पत्ति से पूर्व की अदर्शन-अवस्था में दर्शन के लिए शरीरोत्पत्ति अपेक्षित है; ऐसे ही शरीरनिवृत्ति के अनन्तर शरीर के अभाव में प्राप्त अदर्शन की स्थिति को हटाकर दर्शन के लिए शरीरोत्पत्ति का होना अपेक्षित होजाता है। तब शरीरनिवृत्ति होनेपर अपवर्ग में जिज्ञासु की उक्त व्यवस्था के अनुसार शरीरोत्पत्ति का होना प्राप्त होता है। इसलिए शरीरचना में कर्मों की उपेक्षा नहीं कीजासकती।

यदि कहाजाय, शरीर के आरम्भक भूततत्त्व प्रकृति-पुरुषभेद के दर्शन के लिए शरीर को उत्पन्न करते हैं। शरीर के उत्पन्न होने पर जब एक वार भेद का दर्शन होजाता है, तब भूत चरितार्थ होजाते हैं, अर्थात् अपने अपेक्षित कर्त्तव्य कार्य को पूरा करचुके होते हैं; तब पुनः शरीर को उत्पन्न करने में उनकी प्रवृत्ति नहीं रहती। इसलिए अपवर्ग-दशा में शरीर के उत्पन्न होने का प्रसङ्ग नहीं आता।

यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि प्रयोजन के पूरा होने और न होने की दोनों अवस्थाओं में शरीर की उत्पत्ति का होना देखाजाता है। शरीरोत्पत्ति के दो प्रयोजन बताये—भोग और प्रकृति-पुरुष के भेद का दर्शन। एक वार शरीर की उत्पत्ति से भोगों की उपलब्धि होने पर भूत चरितार्थ होजाते हैं, फिर भी बार-बार शरीर का उत्पन्न होना जानाजाता है। फिर एक शरीर प्राप्त होने पर वह शरीर प्रकृति-पुरुष के नानात्व-दर्शन को उत्पन्न नहीं करता। उसी कार्य के लिए बार-बार शरीर का उत्पन्न होना निरर्थक रहता है। जब एकबार भोगों के भोगेजाने पर पुनः भोगों की उपलब्धि के लिए शरीर का उत्पन्न होना स्वीकार कियाजाता है; तो एक बार नानात्व का दर्शन होने पर उसके लिए भी पुनः शरीर का उत्पन्न होना क्यों नहीं मानाजासकता! फलतः अपवर्ग में उक्त कथन के आधार पर शरीरोत्पत्ति का होना प्राप्त होता है, जो अवाञ्छनीय तथा अनपेक्षित होने से उसका आधार उक्त कथन त्याज्य है। जन्म-मरण एवं भोग-अपवर्ग की व्यवस्था शरीररचना में कर्मों को निमित्त माने विना सम्भव नहीं है। आत्मदर्शन अथवा जड़-चेतन के भेददर्शन की व्यवस्था कर्मनिमित्तक सर्ग मानने पर सम्भव है। अन्यथा आत्माओं के निरतिशय तथा भूतों के समान होनेपर किसी अन्य विशिष्ट कारण के अभाव में जन्म-मरण आदि की व्यवस्था तथा अपवर्ग का होना असम्भव होगा।

आर्हतदर्शन की कर्मविषयक मान्यता—कर्मों के फलों का भोग अथवा अनुभव ही 'दर्शन' है, और वह अदृष्टजन्य होता है। यह अदृष्ट परमाणुओं का

गुणविशेष है। वही परमाणुओं की क्रिया का हेतु होता है। उससे प्रेरित हुए परमाणु परस्पर संघट्टित होकर शरीर को उत्पन्न करते हैं। उस शरीर में मन अपने अदृष्ट से प्रेरित हुआ प्रविष्ट होजाता है। मन-सहित शरीर में द्रष्टा को विषयों की उपलब्धि हुआ करती है। ऐसी मान्यता आर्हत-दर्शन में स्वीकार कीगई है।

इस मान्यता में पूर्वोक्त दोष प्राप्त होता है, अर्थात् अपवर्ग-दशा में सांसारिक प्रक्रिया का चालू रहना अबाधित होगा; शरीर और जन्म-मरण का क्रम वहाँ बना रहेगा। तात्पर्य है–उस दशा में अपवर्ग का होना असम्भव होगा, जो अपवर्ग सर्वदर्शन-संमान्य सिद्धान्त है। कारण यह है–परमाणुओं का गुण-विशेष अदृष्ट–जो परमाणुओं को क्रिया एवं रचना के लिए प्रेरित करता है–सदा बना रहता है। जबतक परमाणु है, तबतक उसका गुण-विशेष अदृष्ट उसमें विद्यमान रहता है। न परमाणु का कभी उच्छेद होता, और न उसका गुणविशेष किसी कारण से उच्छेद्य है। इसलिए शरीर की उत्पत्ति में यह मान्यता भी सर्वथा अग्राह्य है॥ ७१॥

कर्म मनोनिष्ठ नहीं—उक्त मान्यता में आचार्य सूत्रकार स्वयं दोष बताता है—

मनःकर्मनिमित्तत्वाच्च संयोगानुच्छेदः ॥ ७२ ॥ (३४१)

[मनःकर्मनिमित्तत्वात्] मन में रहनेवाले अदृष्ट (कर्म) के निमित्त होने से [च] और (भी, कभी) [संयोगानुच्छेदः] संयोग (शरीर-मन के संयोग) का उच्छेद न होगा।

परमाणुगत अदृष्ट से प्रेरित परमाणु शरीर को उत्पन्न करते हैं, मनोगत अदृष्ट से प्रेरित मन उस शरीर में प्रविष्ट होजाता है। मनोगत अदृष्ट मन में सदा विद्यमान रहता है। तब शरीर के साथ मन के संयोग का कभी उच्छेद न होगा। एक बार जन्म होकर वह जीवन सदा-सदा के लिए निरन्तर बना रहना चाहिये। मन को शरीर से बाहर निकालनेवाला कोई कारण उपलब्ध नहीं है।

शरीर की उत्पत्ति को कर्मनिमित्तक मानने पर ऐसा कोई दोष सामने नहीं आता। कारण–जिस कर्माशय से एक शरीर का प्रारम्भ होता है, भोग द्वारा उस कर्माशय का क्षय होजाने पर वह शरीर समाप्त होजाता है, अर्थात् उस एक चालू जीवन का मृत्युकाल आजाता है। पुनः सञ्चित कर्माशय से–जो कर्म सद्यः फलोन्मुख होते हैं, उनके निमित्त अन्य शरीर की रचना होकर–पहले शरीर को छोड़कर–इस अन्य शरीर में मन आदि सहित आत्मा आजाता है। यह मृत्यु के अनन्तर पुनः जन्म का होना है। इसप्रकार एक शरीर में भोग द्वारा कर्मक्षयरूप कारण से मन का अपसर्पण तथा अन्य विपच्यमान कर्माशयरूप कारण से शरीरान्तर में उपसर्पण उपपन्न होजाता है।

यदि पूर्वोक्त विचार के अनुसार एक शरीर से मन के अपसर्पण का कारण मनोगत अदृष्ट को मानाजाय, तो अर्थ का सामञ्जस्य नहीं होपाता। क्योंकि मनोगत जो अदृष्ट शरीर में मन के उपसर्पण का हेतु है, वही अदृष्ट अपसर्पण का हेतु नहीं होसकता। एक ही अदृष्टरूप-कारण–जीवन और मरण दोनों का हेतु हो, यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। परन्तु उक्त मान्यता के अनुसार जीवन (जन्म, शरीर में मन के उपसर्पण) के हेतु अदृष्ट को ही मरण [शरीर से मन के अपसर्पण) का हेतु कहने से--दोनों का हेतु एक है–ऐसा विचार सामने आता है, जो सर्वथा अनुपपन्न है ॥ ७२ ॥

भूत-मनोगत अदृष्ट में दोष—अपने इसी कथन के आधार पर आचार्य सूत्रकार पूर्वोक्त विचार में जीवन के नित्य होने की प्रसक्ति का उद्भावन करता है—

नित्यत्वप्रसङ्गश्च प्रायणानुपपत्तेः ॥ ७३ ॥ (३४२)

[नित्यत्वप्रसङ्गः] नित्य होना प्राप्त होगा (शरीर का) [च] तथा [प्रायणानुपपत्तेः] प्रायण-मरण के उपपन्न–सिद्ध न होने से।

गतसूत्र में दिये विवरण के अनुसार जब शरीर से मन के संयोग का उच्छेद न होगा, तो मनःसंयोग के निरन्तर बने रहने से मरण का अवसर न आयेगा। मृत्यु की असिद्धि से वही जीवन आगे सदा बने रहने के कारण उस शरीर का नित्य होना प्राप्त होता है।

कर्मों के फल भोग लेने से प्रारब्ध-कर्माशय का क्षय होजाता है। इन्हीं कर्मों के निमित्त से यह शरीर उत्पन्न हुआ, जिससे शरीर-आश्रय में आत्मा उन कर्मों का फल भोगसके। फलभोग से कर्मों के क्षीण होजाने पर उस शरीर का पतन होजाता है, इसका नाम प्रायण अथवा मरण है। अन्य फलोन्मुख कर्माशय फिर सामने आजाता है, उनके निमित्त से आत्मा अन्य शरीर का लाभ करता है, यह पुनर्जन्म है। यदि कर्मनिरपेक्ष केवल विशुद्ध भूतों से शरीर की उत्पत्ति मानीजाती है, तो एकवार शरीर के उत्पन्न होजाने पर उसके पतन का अवसर कभी नहीं आयेगा; क्योंकि उसके उत्पत्तिकारणों में कोई ऐसा विशेष धर्म नहीं मानागया, जिसके क्षय से शरीरनाश का अवसर आये। जब शरीर का नाश न होगा, तो उसके नित्य होने का प्रसङ्ग स्पष्ट है।

यदि मरण को आकस्मिक–अहेतुक मानाजाता है, तो मरणविषयक विविधताओं का होना अनुपपन्न होगा। मृत्यु का कोई विशेष कारण न होने से वह सर्वत्र एवं सदा एकरूप होना चाहिए। क्योंकि कार्य में भेद, कारणभेद के विना नहीं होसकता। सिद्धान्तपक्ष में तो कर्मकारणों के विलक्षण होने से जन्म-मरण की विशेषता तथा उनकी विविधताओं का सकारण उपपादन होजाने से कोई दोष सन्मुख नहीं आता ॥ ७३ ॥

मोक्ष में देहोत्पत्ति नहीं, अणुश्यामता के समान—इकहत्तरवें सूत्र से पूर्वोक्त जिज्ञासु के विचार में जो आपत्ति प्रस्तुत कीगई थी–अपवर्ग में शरीर का उत्पन्न होना प्रसक्त होगा। उसका समाधान जिज्ञासु ने सिद्धान्त-पक्ष की एक मान्यता का सहारा लेकर करना चाहा। आचार्य सूत्रकार ने उस भावना को सूत्रित किया—

अणुश्यामतानित्यत्ववदेतत् स्यात् ॥ ७४ ॥ (३४३)

(अणुश्यामतानित्यत्ववत्] अणु की श्यामता के नित्य होने के समान [एतत्] यह (अपवर्ग के अनन्तर वहाँ शरीरोत्पत्ति का अभाव) [स्यात्] सम्भव है।

पृथिवी-परमाणुओं में श्याम-रूप को नित्य कहाजाता है। अग्निसंयोग से उसका नाश होकर उन परमाणुओं में रक्तरूप उत्पन्न होजाता है। नित्य स्वीकृत भी श्यामरूप वहाँ फिर कभी उभर नहीं पाता। इसीप्रकार अदृष्ट अविवेक से उत्पन्न कियागया शरीर, एक वार नष्ट होजाने पर फिर उत्पन्न नहीं होता। इससे अपवर्ग में शरीरोत्पत्ति के प्रसंग का अवसर न आयेगा ॥ ७४ ॥

कर्मनिरपेक्ष भूतमात्र से अविवेकनिमित्तक शरीरोत्पत्ति की सिद्धि में गतसूत्र द्वारा प्रस्तुत कियेगये दृष्टान्त की अनुपपत्ति बताते हुए आचार्य सूत्रकार ने कहा—

नाकृताभ्यागमप्रसङ्गात् ॥ ७५ ॥ (३४४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [अकृताभ्यागमप्रसङ्गात्] अप्रमाणित अर्थ के स्वीकार कियेजाने की आपत्ति से, अथवा न किये हुए की प्राप्ति के प्रसंग से।

कर्मनिरपेक्ष भूतों से शरीर की उत्पत्ति में दियागया दृष्टान्त संगत नहीं है। क्योंकि इसे मानने पर अप्रमाणित अर्थ को स्वीकार करना होगा। सूत्र में 'अकृत' पद का तात्पर्य है–प्रमाण से सिद्ध न होना। जो पदार्थ किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है, उसे यदि स्वीकार करना पड़े, तो यह अवाञ्छनीय है। अकर्म-निमित्तक शरीरोत्पत्ति के लिए नित्य अणुश्यामता का दृष्टान्त स्वीकार कियागया। परन्तु अभी तक प्रत्यक्ष अथवा अनुमान आदि किसी प्रमाण से यह सिद्ध नहीं है कि अणु की श्यामता नित्य है, तथा अग्निसंयोग से उसका नाश होकर वह फिर कभी उत्पन्न नहीं होती। वस्तुतः जो नित्य है, उसका नाश होना सम्भव नहीं। तथा द्रव्यों के जो गुण किन्हीं निमित्तों से नष्ट होते व उत्पन्न होते देखेजाते हैं, उनको नित्य कहना सर्वथा असंगत है। इसलिए अणु की नित्य श्यामता स्वयं अपने रूप में अभी सन्दिग्ध है, किसी प्रमाण से उसकी नित्यता सिद्ध न होने के कारण उसे साध्य समझना युक्त होगा। फलतः दृष्टान्त के उक्त स्वरूप व स्थिति को मानने पर एक ऐसे अर्थ को स्वीकार करना पड़जाता है, जो अभी किसी प्रमाण

से सिद्ध नहीं है। अतः उक्त दृष्टान्त के आधार पर प्रस्तुत अर्थ को असंगत मानना युक्त होगा।

अथवा सूत्र के 'अकृताभ्यागमप्रसङ्ग' हेतु का यह अर्थ करना चाहिये—अणुश्यामता-दृष्टान्त से अकर्मनिमित्तक शरीरसर्ग का समाधान करनेवाले के सन्मुख—आत्मा के कर्म किये विना फलप्राप्तिरूप-आपत्ति उपस्थित होगी। आत्मा कर्म तो करता नहीं, परन्तु सुख-दुःख भोगता है, यह 'अकृत-अभ्यागम' विना कर्म किये सुख-दुःख की प्राप्ति महान् आपत्तिजनक दोष है, सर्वथा अन्याय्य है। अपने किये कर्म का फल प्राप्त करना उचित व न्याय्य है। यदि विना कर्म किये सुख-दुःखप्राप्ति को स्वीकार कियाजाता है, तो इसका प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से विरोध स्पष्ट है।

प्रथम प्रत्यक्षविरोध को देखिये—संसार में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्यक्ष से इसका अनुभव करता है कि विभिन्न आत्माओं के अनुभव में आनेवाले सुख-दुःख के विविध प्रकार हैं। इनका वैविध्य इतना अधिक है कि पूर्णरूप में उसकी गणना करना अशक्य है। सुख और दुःख किसीको तीव्र होता है, किसीको मन्द। कोई चिरकाल तक दुःख व सुख भोगता है, किसीका अल्पकाल में पूरा होजाता है। कोई नानाप्रकार की सम्पद्-विपद् प्राप्त करता है, किसीको एक-आध प्रकार ही नसीब होता है। फिर सुख-दुःख-प्राप्ति के निमित्तों का कोई ठिकाना नहीं। एक के लिये जो वस्तु सुखहेतु है, वही अन्य के लिये दुःख का हेतु होजाती है। फिर प्राणियों की कोटि-कोटि संख्या व असीमित संख्या होने से उनके सुख-दुःखों का प्रकार व उनके निमित्तों का परिसीमन करसकना असम्भव है। अकर्म-निमित्तक शरीरसर्ग में सुख-दुःख के इस असीमित वैविध्य का कोई विशेष हेतु उपलब्ध नहीं। हेतुविशेष [विभिन्न-हेतु] के न होने पर फलविशेष का होना सम्भव नहीं। परन्तु फलविशेष प्रत्यक्षतः देखेजाते हैं, इसलिए अकर्मनिमित्तक शरीर-सर्ग की स्थिति का प्रत्यक्ष से स्पष्ट विरोध है।

कर्मनिमित्तक शरीरसर्ग मानने पर ऐसी कोई आपत्ति सामने नहीं आती; क्योंकि सुख-दुःख के वैविध्य का निमित्त कर्मों का वैविध्य रहता है। प्राणियों के अपने-अपने विविध कर्म हैं, उनके अनुसार विविध सुख-दुःखभोग। कर्मों का संचय तीव्र-मन्द, उत्कृष्ट-अपकृष्ट, शुभ-अशुभ आदि जैसा होगा, उसके अनुसार सुख-दुःखभोग का वैविध्य उपपन्न होजायगा। इसप्रकार कर्मरूप हेतु के विभिन्न होने से लोक में अनुभूत सुख व दुःख का भेद उपपन्न होजाता है। अकर्म-निमित्तक शरीरसर्ग में हेतु का भेद न होने से सर्वानुभूत सुख-दुःखभेद न होगा। इस मान्यता में यही प्रत्यक्षविरोध है।

अब अनुमान का विरोध देखिये—आत्मा के एक गुण अदृष्ट की स्थिति के अनुसार सुख-दुःखभोग की स्थिति देखीजाती है। यह चेतन आत्मा किन्हीं

विशिष्ट साधनों के सहयोग से सम्पादनीय सुखों को जान-समझकर उस सुख को प्राप्त करना चाहता है। तब उन साधनों का संग्रह करने के लिये प्रयत्न करता है। प्रयत्न द्वारा साधनसञ्चय से वह व्यक्ति सुख को प्राप्त करलेता है। इससे विपरीत जो यत्न नहीं करता, वह सुख को प्राप्त नहीं करपाता।

इसीप्रकार विशिष्ट साधनों से होनेवाले दुःख को जान-समझकर यह चेतन आत्मा–उन दुःखों को छोड़ने एवं उनसे दूर रहने की अभिलाषा से–दुःख-साधनों को छोड़ने के लिये यत्न करता है। इसके फलस्वरूप वह अपने-आपको दुःख से दूर रखपाता है। जो ऐसा नहीं करता, दुःख-साधनों को छोड़ने की ओर प्रयत्नशील नहीं रहता, वह दुःख से दूर नहीं रहपाता,–दुःखों को सतत भोगा करता है। इसका परिणाम निकला–चेतन आत्माओं के सुख-दुःख की व्यवस्था आत्म-गुण प्रयत्न के विना नहीं होती। परन्तु यह प्रयत्न सर्वत्र समान नहीं रहता; उसकी व्यवस्था किसी अन्य आत्म-गुण से नियन्त्रित होती है,–यह अनुमान से जानाजाता है। अकर्मनिमित्तक सुख-दुःख-प्राप्ति मानने पर इसका उक्त अनुमान से विरोध होता है। कारण यह है कि आत्मगुण-प्रयत्न का व्यवस्थान आत्मा के जिस अन्य गुण के द्वारा मानाजाता है, वह गुण आत्मनिष्ठ संस्कार तथा धर्म-अधर्म हैं। संस्कार आत्मा के पूर्वकृत कर्मों का परिणाम है; तथा धर्म-अधर्म आत्मा द्वारा अनुष्ठित शुभ तथा अशुभ कर्मों से जनित होते हैं। इससे सुखादि के अभिलाषी पुरुष के प्रयत्न का व्यवस्थापन कर्माधीन रहता है, यह अनुमान से प्रमाणित होता है। सुखादि-प्राप्ति अकर्मनिमित्तक मानने पर उसका विरोध स्पष्ट है।

इसके अनन्तर अब आगमविरोध देखना चाहिये–ऋषियों ने अनुष्ठेय और परिवर्जनीय कर्मों के विस्तृत उपदेश दिये हैं, जो धार्मिक, आध्यात्मिक व सामाजिक वेदानुकूल साहित्य के रूप में हमें प्राप्त हैं। उन उपदेशों का यह फल है कि समाज वर्ण एवं आश्रम-विभाग के अनुसार अनुष्ठेय कर्मों में प्रवृत्त रहता, तथा वर्जनीय कर्मों से निवृत्त रहता है। यह इसीलिए होता है, जिससे शुभ कर्मों का अनुष्ठान, तथा अशुभ कर्मों का परित्याग कियाजासके। जो दर्शन इस विचार का अनुयायी है कि–शुभ-अशुभ कर्म कोई नहीं, आत्मा को सुख-दुःख का भोग विना कर्म किये होतारहता है–वह पूर्वोक्त आगम से स्पष्ट विरुद्ध है। फलतः अकर्मनिमित्तक शरीरोत्पत्ति तथा सुख-दुःख-भोग को प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विरुद्ध होने के कारण पापाचरण करनेवाले नास्तिकों का मिथ्यादर्शन समझना चाहिये ॥ ७५ ॥

इति तृतीयाऽध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तस्तृतीयोऽध्यायः ।

अथ चतुर्थाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

प्रवृत्ति की परीक्षा—गत अध्याय के अन्तिम भाग में मन की परीक्षा की-गई। प्रमेयसूत्र [१ । १ । ९] पठित अनुक्रम के अनुसार मन की परीक्षा के अनन्तर प्रवृत्ति की परीक्षा कीजानी चाहिये। शास्त्र के प्रारम्भ [१ । १ । १७] में प्रवृत्ति का स्वरूप बताया है।

व्यक्ति जो आरम्भ [क्रिया, अनुष्ठान] अपने मन, वाणी और शरीर से करता है, वह सब प्रवृत्ति है। प्रवृत्ति शुभ-अशुभ दोनों प्रकार की होती है। जब इसकी पृष्ठभूमि में राग-द्वेष का अधिकार रहता है, तब असत्य, ईर्ष्या, माया, लोभ आदि दोष प्रत्येक प्रवृत्ति के मूल में उभर आते हैं। उन दोषों से प्रेरित हुआ व्यक्ति शारीरिक प्रवृत्ति में हिंसा, चोरी, प्रतिषिद्ध मैथुन आदि का आचरण करता है। वाचिक प्रवृत्ति में असत्य एवं कठोर भाषण, गाली-गलौच, चुग़ल-खोरी आदि जैसे कार्य करता है। मानस प्रवृत्ति में परद्रोह, दूसरे की धन-सम्पदा को हड़पलेने की अभिलाषा, एवं नास्तिक भावनाओं में रमजाता है। यह पापात्मिका अशुभ प्रवृत्ति है, जो अधर्म की जनक होती है।

इससे विपरीत प्रवृत्ति शुभ है। इसके मूल में राग, द्वेष का अधिकार न होकर करुणा एवं सहानुभूति का प्राबल्य [—उभार] रहता है। तब व्यक्ति शरीर से प्रवृत्त हुआ दान, दूसरों की रक्षा तथा सेवा करता है। वाणी से प्रवृत्त हुआ सत्य, हितकारी एवं प्रिय-भाषण तथा स्वाध्याय आदि में संलग्न रहाकरता है। मन से प्रवृत्त हुआ—सब प्राणियों पर दया, किसी की सम्पदा आदि के लिए इच्छा न करना, सम्पन्न सुखीजनों को देखकर प्रसन्न व उल्लसित होना, तथा आस्तिक भावनाओं में श्रद्धा रखनेवाला होता है। यह प्रवृत्ति धर्म की जनक होती है।

इस सबकी परीक्षा, धर्म-अधर्म की परीक्षा के साथ तथा धर्म-अधर्म अनुष्ठान के आश्रय शरीर आदि की परीक्षा के रूप में कीजाचुकी है। उसे प्रवृत्ति की परीक्षा समझनी चाहिये। इसी भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा—

प्रवृत्तिर्यथोक्ता ॥ १ ॥ (३४५)

[प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति को [यथा] जिस रूप में [उक्ता] कहागया है, (उसी-को प्रवृत्ति की परीक्षा समझनी चाहिये)।

शास्त्र के गत प्रसंगों में जहाँ-जहाँ प्रवृत्तिविषयक विवरण प्रस्तुत हुआ है, वह प्रवृत्ति की परीक्षा है, जिसका संकेत प्रस्तुत सूत्र की अवतरणिका में कर-दिया है ॥ १ ॥

दोषों की परीक्षा—प्रवृत्ति के अनन्तर दोषों की परीक्षा होनी चाहिये; इस भावना से सूत्रकार ने बताया—

तथा दोषाः ।। २ ।। (३४६)

[तथा] वैसे [दोषाः] दोषों की परीक्षा होगई है ।

'दोष' पद से राग, द्वेष, मोह का ग्रहण होता है । इसका विवरण शास्त्र के प्रारम्भ [१ । १ । १८] में आगया है । ज्ञान का आश्रय चेतन आत्मा है, वही राग, द्वेष, मोह का आश्रय है, अर्थात् जैसे ज्ञान आत्मा का गुण है, वैसे राग आदि आत्मा के गुण हैं । पदार्थज्ञान के विना राग आदि का उद्भव नहीं होता । इससे स्पष्ट है–जहाँ ज्ञान है, वहाँ राग आदि है ।

ये दोष सबप्रकार की प्रवृत्ति के कारण होते हैं, तथा पुनर्जन्म के सम्पादन एवं प्राप्त कराने मे इनका सामर्थ्य रहता है; इसीलिए इनको संसार का हेतु, अर्थात् जन्म-मरण के अनवरत संसरण का कारण मानाजाता है । संसार अनादि है, इसलिए राग आदि का क्रमानुक्रम (सिलसिला-संसरण) अनादिकाल से प्रवृत्त है । ऐसे संसरण का संकेत शास्त्र के प्रारम्भ में द्वितीय सूत्र द्वारा कियागया है । इसका मूल मिथ्याज्ञान है । उसकी निवृत्ति तत्त्वज्ञान से होती है । मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाने पर मिथ्याज्ञानमूलक राग, द्वेष, मोह का सिलसिला समाप्त होजाता है । इनका इसप्रकार उच्छेद होजाना 'अपवर्ग' है । यह स्थिति आत्मा की मोक्षदशा का बोध कराती है ।

राग आदि दोष सदा उत्पाद-विनाशशाली होते हैं । किन्हीं राग-द्वेष आदि का नाश तथा अन्य राग-द्वेष आदि का उत्पाद क्रमानुक्रम से बराबर हुआ करता है । दोषों के ऐसे स्वरूप का निरूपण प्रथम यथाप्रसंग कियाजाचुका है । इसके लिये [३ । १ । २५ के] प्रसंग को देखना चाहिए ।। २ ।।

दोषों की तीन राशि—शिष्य जिज्ञासा करता है–दोषों में केवल राग, द्वेष, मोह की गणना कीजाती है; मान, ईर्ष्या, असूया, मद, मात्सर्य आदि की उपेक्षा करदीगई है । दोषों में इनकी गणना क्यों नहीं कीजाती ? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तत्त्रैराश्यं रागद्वेषमोहार्थान्तरभावात् ।। ३ ।। (३४७)

[तत्-त्रैराश्यम्] उन (दोषों) के तीन राशि हैं (तीन समुदाय हैं, उन सबका) [राग-द्वेष-मोहार्थान्तरभावात्] राग, द्वेष, मोह में अन्तर्भाव होजाता है ।

उन समस्त दोषों के तीन समुदाय–तीन पक्ष हैं । मद-मात्सर्य, काम-ईर्ष्या आदि समस्त प्रवृत्ति-हेतु दोष उन्हीं तीन समुदायों में अन्तर्हित (छिपे) रहते हैं । काम, मत्सर, स्पृहा, तृष्णा, लोभ ये सब राग-समुदाय में आजाते हैं । क्रोध,

ईर्ष्या, असूया, द्रोह, अमर्ष आदि का समावेश द्वेष-पक्ष में होजाता है। मोह-पक्ष में आते हैं–मिथ्याज्ञान, विचिकित्सा (संशय–सन्देह, शक्की होने की आदत), मान (मिथ्या घमण्ड), प्रमाद आदि। इसप्रकार तीन समुदायों के अन्तर्गत दोषों का सब परिवार आजाता है, इसलिए उनकी नाम लेकर गणना नहीं की-गई।

आशंका कीजासकती है, दोषों को उक्त तीन राशि में बाँटकर क्यों रक्खा-जाता है? एक राशि दोष नामक रहे; उसीमें सब अन्तर्गत हों। तीन पक्षों में दोषों का विभाग करना अनुपपन्न है।

आचार्यों का कहना है–यह विभाग अनुपपन्न नहीं है; क्योंकि राग, द्वेष, मोह, परस्पर एक-दूसरे से सर्वथा भिन्नस्वरूप हैं। एक-दूसरे की कोटि में इनका अन्तर्भाव नहीं होसकता। राग आसक्ति-स्वरूप है;–किसी अन्य की ओर गहरी अनुकूलता के साथ आकृष्ट होना। जबकि, द्वेष अमर्षस्वरूप होता है, अन्य को सहन न करपाना। यहाँ अनुकूलता का अंश भी न रहकर विशुद्ध-प्रतिकूलता का अस्तित्व है। दोनों का क्षेत्र एक-दूसरे से सर्वथा भिन्न है। मोह मिथ्याज्ञान-स्वरूप है, जो पहले दोनों से सर्वथा भिन्न है। इसमें अनुकूलता-प्रतिकूलता दोनों का अभाव रहता है, इसलिए यह उन दोनों कोटियों में अन्तर्भुक्त न होकर अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है।

इनके विभिन्न स्वरूपों को प्रत्येक व्यक्ति अपने दैनिक व्यवहार में अच्छी-तरह समझता है। जब किसी व्यक्ति की भावना राग से अभिभूत रहती है, वह भलीभाँति जानता है कि मेरे अन्दर इस समय राग का उद्रेक है। इसीप्रकार वह विराग अर्थात् राग न होने की स्थिति को भी जानता है। ऐसे ही द्वेष का उद्रेक होने पर उसका स्पष्ट अनुभव कियाजाता है। दोनों के अभाव में मोह की स्थिति को जानना भी प्रत्येक व्यक्ति के लिए सम्भव होता है। ऐसी दशा में दोषों की–परस्पर भिन्न इन तीन राशियों का स्वीकार कियाजाना अनिवार्य है। मान, ईर्ष्या, असूया आदि का अन्तर्भाव यथायथ इन्हीं तीनों में होजाता है, जैसा प्रथम निर्देश करदियागया है। इसीकारण ईर्ष्या, असूया आदि की अतिरिक्त गणना उपेक्षित करदीगई है ॥ ३ ॥

तत्त्वज्ञान एक विरोधी से दोष-त्रैराश्य अयुक्त—शिष्य आशंका करता है–राग आदि का त्रैराश्य अस्वीकार कियाजाना चाहिये, क्योंकि इनका विरोधी धर्म केवल एक तत्त्वज्ञान है। उसकी प्रतियोगिता में इनका एक मानाजाना, अथवा एक इकाई के रूप में इन्हें स्वीकारना सामंजस्यपूर्ण है। शिष्य की इस भावना को आचार्य ने सूत्रित किया—

नैकप्रत्यनीकभावात् ॥ ४ ॥ (३४८)

[न] नहीं (युक्त, रागादि का त्रैराश्य), [एकप्रत्यनीकभावात्] एक विरोधी होने से (इन सबका)।

राग, द्वेष, मोह तीनों का विनाश एकमात्र तत्त्वज्ञान से होजाता है। एक के द्वारा इनका नाश होना, इनके एक माने विना सम्भव नहीं। घट-पट परस्पर भिन्न पदार्थ हैं। घटविषयक ज्ञान, घटविषयक अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को नष्ट करसकता है; पटविषयक अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान को नहीं। यदि राग आदि वस्तुतः एक-दूसरे से भिन्न हैं, तो इनका विनाशक विरोधी तत्त्व एक नहीं होसकता। परन्तु यह निश्चित है कि इनका विनाशक विरोधी तत्त्व एकमात्र तत्त्वज्ञान है; तब इनको परस्पर भिन्न न मानकर एक मानना होगा। इससे इनका त्रैराश्य समाप्त होजाता है।

त्रैराश्य असंगति में 'एकनाश्य' हेतु अनैकान्तिक—तत्त्वज्ञान वस्तु के यथार्थज्ञान को कहते हैं। जिसका–सम्यङ्मति, आर्यप्रज्ञा, सम्बोध आदि अनेक पदों से लोक व शास्त्र में व्यवहार होता है॥ ४॥

आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

व्यभिचारादहेतुः ॥ ५ ॥ (३४९)

[व्यभिचारात्] व्यभिचार–अनैकान्तिक होने से [अहेतुः] उक्त हेतु संगत नहीं है।

विभिन्न अनेक पदार्थों का एक से नाश होना देखाजाता है। कपड़ा, लकड़ी, पुस्तक, ये सब एक-दूसरे से भिन्न–विजातीय पदार्थ हैं, परन्तु एक अग्नि से सबका नाश होजाता है। इसलिए एकनाश्य होना वस्तुओं के अभेद का कारण नहीं होसकता। जो एकनाश्य हैं, वे सब अभिन्न हैं, यह व्यभिचरित व्याप्ति है। अतः 'एकप्रत्यनीक' हेतु अनैकान्तिक होने से साध्य का साधक नहीं।

इसीप्रकार मिट्टी से बने कच्चे घड़े में रूप श्याम है, स्पर्श मृदु है, गन्ध एक विशेष प्रकार का है। ये रूप, स्पर्श और गन्ध एक-दूसरे से सर्वथा पृथक् गुण हैं; परन्तु इन सबका नाश एक अग्निसंयोग से होजाता है। पाकजन्य जितने गुण हैं, उन सबका कारण एक है–अग्निसंयोग। इसप्रकार एक अग्निसंयोगनाश्य होने पर भी रूपादि गुण परस्पर अभिन्न नहीं हैं। ऐसे ही एक तत्त्वज्ञान से नाश्य होने पर राग-द्वेष-मोह की अभिन्नता सिद्ध नहीं होती। फलतः 'एकप्रत्यनीक' हेतु अनैकान्तिक होने से अहेतु है, साध्य का असाधक है॥ ५॥

मोह दोषों में पापीयान्—राग-द्वेष-मोह के परस्पर विभिन्न अर्थ होने पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तेषां मोहः पापीयान् नामूढस्येतरोत्पत्तेः ॥ ६ ॥ (३५०)

[तेषाम्] उन तीनों में से [मोहः] मोह [पापीयान्] अत्यन्त पापी-दुष्ट

(अतिप्रबल) है, [न] नहीं [अमूढस्य] मोहरहित व्यक्ति के [इतरोत्पत्तेः] इतर–राग द्वेष–की उत्पत्ति होने से।

जो व्यक्ति मोहरहित है, उसे किसीके प्रति राग-द्वेष नहीं रहता। क्योंकि मोह राग-द्वेष का जनक है; राग-द्वेष का मूल है–मोह। इसीलिए इन तीनों में मोह अतिप्रबल है। मोह वस्तुतः सत्य-असत्य, तत्त्व-अतत्त्व के विवेक का न होना है। जब व्यक्ति यथार्थ तत्त्व को नहीं समझता, तभी राग-द्वेष के जाल में फँसता है। शब्द, स्पर्श आदि विषयों में हर्ष व उल्लासपूर्ण संकल्पों का होना, उनमें राग का हेतु है। ऐसे संकल्प व्यक्ति को तभी अभिभूत करते हैं, जब वह शब्द-स्पर्श आदि विषयों की यथार्थता से अनभिज्ञ रहता है। यह मोह की दशा है। विषयों को सुख का साधन समझकर व्यक्ति उनमें अनुरक्त होजाता है। ऐसे ही विक्षेप-विघटन के जनक संकल्प द्वेष के हेतु होते हैं। ये दोनों प्रकार के संकल्प, मिथ्याज्ञानरूप मोह के क्षेत्र से अपने-आपको बाहर नहीं करपाते। इनका अस्तित्व व उभार मोह के दायरे में घिरा रहता है। इसप्रकार मोह इन दोनों–राग और द्वेष–का कारण है। मोह के क्षेत्र में ये अंकुरित होते, पनपते और बढ़ते हैं।

तत्त्वज्ञान होजाने से मिथ्याज्ञानरूप मोह की निवृत्ति-समाप्ति होजाती है, जड़ें उखड़जाती हैं। तब राग-द्वेष के अंकुरित होने का अवकाश नहीं रहता। खेत ही न रहा, तो अंकुर सिर कहाँ उठायेगा? इसप्रकार एकमात्र विरोधी तत्त्वज्ञान से तीनों चारों-खाने चित आते हैं; अपना दम तोड़ बैठते हैं। तत्त्वज्ञान से किसप्रकार इन तीनों का नाश होता है, इसका विवेचन शास्त्रारम्भ के द्वितीय सूत्र [१। १। २] में विस्तार से करदियागया है।

तत्त्वज्ञान वस्तुतः अपने विरोधी एकमात्र मिथ्याज्ञान का नाश करता है। उसके नाश से तज्जन्य राग-द्वेषवर्गीय समस्त दोष नष्ट होजाते हैं। जब मिथ्याज्ञान कारण न रहा, तो रागादि कार्य कैसे रहसकेंगे? अतः चतुर्थसूत्र में निर्दिष्ट आपत्ति का यह भी समाधान है॥ ६॥

मोह दोष नहीं—इतना सुनकर शिष्य जिज्ञासा की भावना से प्रोत्साहित हो उछल पड़ा; बोला—तब तो मोह को दोष नहीं मानाजाना चाहिये। शिष्य-जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—.

निमित्तनैमित्तिकभावादर्थान्तरो दोषेभ्यः॥ ७॥ (३५१)

[निमित्तनैमित्तिकभावात्] कारण-कार्यभाव होने से (मोह और राग-द्वेष में) [अर्थान्तरः] भिन्न अर्थ है (मोह) [दोषेभ्यः] दोषों से (राग-द्वेष से)।

कारण अन्य होता है, और कार्य अन्य। तात्पर्य है–प्रस्तुत दर्शन में कार्य-कारण का परस्पर भेद स्वीकार कियाजाता है। गतसूत्र में बतायागया–मोह के

विना राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती। इससे राग-द्वेष कार्य, और मोह उनका कारण सिद्ध होता है। कार्य और कारण का भेद होने से मोह राग-द्वेष की श्रेणी से बाहर निकलजाता है। राग-द्वेष दोष हैं, तब मोह को दोषों में नहीं गिनाजाना चाहिए ॥ ७ ॥

दोष के अन्तर्गत है, मोह—आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

न दोषलक्षणावरोधान्मोहस्य ॥ ८ ॥ (३५२)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [दोषलक्षणावरोधात्] दोष के लक्षण की सीमा में आजाने से [मोहस्य] मोह के।

आचार्य ने दोष का लक्षण बताया है–'प्रवर्त्तनालक्षणा दोषाः' [१।१।१८] जो शुभ-अशुभ प्रवृत्ति के हेतु हैं, वे दोष हैं। मोह भी राग-द्वेष के समान इस लक्षण के अन्तर्गत आजाता है। इसलिये मोह को दोष मानेजाने में कोई बाधा नहीं; भले ही वह राग-द्वेष का कारण रहता हो। इससे उसके दोष-स्वरूप में कोई न्यूनता नहीं आती ॥ ८ ॥

कार्यकारणभाव तुल्यजातीयों में भी—सूत्रकार समानजातीय पदार्थों में कार्य-कारणभाव की प्रामाणिकता बताकर उक्त कथन को पुष्ट करता है—

निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेश्च तुल्यजातीयानामप्रतिषेधः ॥ ९ ॥ (३५३)

[निमित्तनैमित्तिकोपपत्तेः] कारण-कार्यभाव सिद्ध होने से [च] भी, अथवा तथा [तुल्यजातीयानाम्] समानजातीय पदार्थों का, [अप्रतिषेधः] मोह के दोष होने का प्रतिषेध करना असंगत है।

समानजातीय द्रव्यों तथा गुणों का परस्पर समवायि–असमवायि निमित्त-भेद से विविध प्रकार का कार्य-कारणभाव प्रमाणसिद्ध है। मृत्तिका और घट समानजातीय हैं–द्रव्य अथवा पार्थिव रूप में। मृत्तिका घट का समवायिकारण है। कारणगत गुण कार्य में गुणों के असमवायिकारण होते हैं। गुण होने से दोनों [कारण-कार्यगत गुणों] की समानजातीयता स्पष्ट है। काल द्रव्य है, वह समस्त कार्य-द्रव्यों का निमित्तकारण होता है। इसीप्रकार दोष होते हुए भी मोह समानजातीय राग-द्वेष का कारण होसकता है ॥ ९ ॥

प्रेत्यभाव की परीक्षा—दोषों की परीक्षा के अनन्तर अब 'प्रेत्यभाव' की परीक्षा का क्रम है। जन्म-मरण के अनुक्रम (सिलसिले) को 'प्रेत्यभाव' कहाजाता है। परन्तु आत्मा के नित्य होने से ऐसा प्रेत्यभाव अनुपपन्न है। शिष्य की ऐसी जिज्ञासा पर आचार्य ने बताया–आत्मा के नित्यत्व की सिद्धि के अवसर पर

प्रेत्यभाव के स्वरूप को सिद्ध कियागया है, उसीके अनुसार यह समझना चाहिये—

आत्मनित्यत्वे प्रेत्यभावसिद्धिः ॥ १० ॥ (३५४)

[आत्मनित्यत्वे] आत्मा के नित्य होने पर [प्रेत्यभावसिद्धिः] प्रेत्यभाव की सिद्धि होती है।

'प्रेत्यभाव' का यह तात्पर्य नहीं है कि नित्य आत्मा स्वरूप से मरता व जन्म लेता है। प्रत्युत–आत्मा के द्वारा चालू शरीर को छोड़देना 'मरण' है। अनन्तर अन्य शरीर को प्राप्त करना 'जन्म' है। आत्मा को नित्य मानने पर इसप्रकार शरीरों के छोड़ने और प्राप्त करने का अनुक्रम सम्भव है। अन्यथा स्वरूप से उत्पन्न होकर नष्ट होनेवाली वस्तु फिर कभी दोबारा अस्तित्व में नहीं आसकती; इसप्रकार अनित्य पदार्थ के विषय में प्रेत्यभाव का प्रश्न नहीं उठता। नित्य आत्मा के देह की प्राप्ति–और परित्याग–का नाम प्रेत्यभाव है। आत्मा को अनित्य मानने पर 'कृतहानि' और 'अकृतप्राप्ति' दोष प्रसक्त होता है। आत्म-सम्बन्धी ऐसा सब विवेचन तृतीयाऽध्याय के प्रारम्भ में विस्तार से करदियागया है ॥ १० ॥

व्यक्त देहादि का कारण व्यक्त—नित्य आत्मा का एक देह को छोड़कर अन्य देह को प्राप्त करना जन्म है; इस प्रसंग से शिष्य जिज्ञासा करता है, वह देह उत्पन्न कैसे होता है? सूत्रकार ने बताया—

व्यक्ताद् व्यक्तानां प्रत्यक्षप्रामाण्यात् ॥ ११ ॥ (३५५)

[व्यक्तात्] व्यक्त कारण से [व्यक्तानाम्] व्यक्त कार्यों की (उत्पत्ति होती है) [प्रत्यक्षप्रामाण्यात्] प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा सिद्ध होने से।

व्यक्त मृत्तिका से अथवा व्यक्त मृद्-अवयवों से व्यक्त घट उत्पन्न होता है, यह प्रत्यक्ष से जानाजाता है। इसीप्रकार व्यक्त शरीर अपने अवयवरूप व्यक्त कारणों से उत्पन्न होता है। शरीर के कारण पृथिवी आदि वे भूततत्त्व हैं, जो परमसूक्ष्म नित्य परमाणुरूप में जानेजाते हैं। उन परमाणुओं से त्रसरेणु आदि के रूप में पृथिवी आदि प्रत्यक्ष भूततत्त्व उत्पन्न होते हैं, जो शरीर, इन्द्रिय, इन्द्रियग्राह्य अन्य समस्त पदार्थ तथा आत्मा के भोगसाधनभूत–अन्य पदार्थों के आधार हैं–समवायिकारण हैं। पृथिवी आदि समस्त द्रव्यादि व्यक्त जगत् उन्हीं मूल उपादान व्यक्त तत्त्वों से यथाक्रम उत्पन्न होता हुआ वर्त्तमानरूप में आता है।

इन्द्रियग्राह्य पदार्थ को व्यक्त कहाजाता है। उसकी समानता से उसका कारणतत्त्व भी व्यक्त मानाजाता है। कार्य-कारण दोनों में रूप आदि गुणों का योग होना उनकी समानता है। रूपादि गुणों से युक्त परमसूक्ष्म नित्य पृथिवी आदि

परमाणुओं से रूपादि गुणयुक्त शरीर आदि की उत्पत्ति होती है। इसमें प्रत्यक्ष प्रमाण का आधार इसप्रकार समझना चाहिये–रूपादिगुणयुक्त मृत्तिका से रूपादि-गुणयुक्त घट की उत्पत्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। उससे अदृष्ट मूल उपादान तत्त्व की वैसी [रूपादिगुणयुक्त] स्थिति का अनुमान करलेना चाहिये। प्रत्यक्षगृहीत पृथिवी आदि कारण-कार्यों में रूपादि गुणों का अन्वय [अनुक्रम-सिलसिला--कारणगुणों से कार्य में गुणों का उत्पन्न होना] देखाजाता है। रूपादि का यह अनुक्रम मूल उपादान परमाणु तक पहुँचता है; इससे रूपादिगुणयुक्त नित्य, अतीन्द्रिय परमाणुओं का रूपादिगुणयुक्त विश्व कार्य के प्रति–कारणभाव अनुमान द्वारा स्वीकार कियाजाता है।

नित्य परमसूक्ष्म परमाणुओं से स्थूल देहादि कैसे उत्पन्न होजाते हैं? उसकी प्रक्रिया का प्रस्तुत सूत्र द्वारा संकेत कियागया है। तथा दृश्य जगत् के अनुसार मूल उपादानतत्त्व के स्वरूप का निर्देश कियागया है—दृश्य के समान मूल उपादान रूपादिगुणयुक्त है। वे परमाणु नर-नारी में शुक्र-शोणितरूप प्राप्त कर उनके संयोग से देह को उत्पन्न करते हैं। इसप्रकार व्यक्त तत्त्वों से व्यक्त देहादि की उत्पत्ति होती है ॥ ११ ॥

व्यक्तमात्र से व्यक्त की उत्पत्ति नहीं—शिष्य आशंका करता है, सर्वत्र व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति नहीं देखीजाती। व्यक्त घट से अन्य घट उत्पन्न नहीं होता। सूत्रकार ने आशंका को सूत्रित किया—

न घटाद् घटानिष्पत्तेः ॥ १२ ॥ (३५६)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन) [घटात्] घट से [घटानिष्पत्तेः] घट की निष्पत्ति-उत्पत्ति न होने से।

व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न होता है, यह कथन युक्त नहीं है, क्योंकि व्यक्त घट से कोई घट उत्पन्न होता नहीं देखाजाता। इसलिये यह भी प्रत्यक्ष सिद्ध है कि व्यक्त से व्यक्त उत्पन्न नहीं होता। इससे पूर्व-कथन का प्रतिषेध होजाता है। व्यक्त को सर्वत्र कारण बताना असंगत है ॥ १२ ॥

व्यक्त घट आदि व्यक्त कारण से—आचार्य सूत्रकार ने शंका का समाधान किया—

व्यक्ताद् घटनिष्पत्तेरप्रतिषेधः ॥ १३ ॥ (३५७)

[व्यक्तात्] व्यक्त कारण से [घटनिष्पत्तेः] घट की उत्पत्ति होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति होने का)।

आचार्य सूत्रकार कहता है—हमारा यह आशय कदापि नहीं, और न हमने कहीं ऐसा कहा है कि प्रत्येक व्यक्त द्रव्य अन्य व्यक्त को उत्पन्न करता है। उसका आशय केवल इतना है कि जो व्यक्त द्रव्य आदि पदार्थ उत्पन्न होता है,

वह उसीप्रकार के व्यक्त द्रव्य से उत्पन्न हुआ करता है; व्यक्त घट जिन द्रव्यों से उत्पन्न होता है, वे मृद्-अवयव अथवा कपाल-खण्ड व्यक्त द्रव्य हैं। यदि इसका अपलाप कियाजाता है, तो कहीं कोई व्यवस्था टिक नहीं सकती। यह कार्य-कारणभाव का यथार्थ सिद्धान्त है। अतः व्यक्त से व्यक्त की उत्पत्ति का प्रतिषेध युक्त नहीं है ॥ १३ ॥

उत्पत्तिविषयक वाद—कार्य की उत्पत्ति के विषय में अनेक वादियों के विविध विचारों को प्रसंगवश सूत्रकार ने यहाँ प्रस्तुत किया है। उनमें एक विचार इसप्रकार है—

अभावाद् भावोत्पत्तिर्नानुपमृद्य प्रादुर्भावात् ॥ १४ ॥ (३५८)

[अभावात्] अभाव से [भावोत्पत्तिः] भाव पदार्थ की उत्पत्ति होती है [न] नहीं [अनुपमृद्य] उपमर्द–विनाश किये विना (कारण का), [प्रादुर्भावात्] प्रादुर्भाव से—कार्य की उत्पत्ति होने से।

अभाव से भावोत्पत्ति—कार्य की उत्पत्ति के विषय में एक पक्ष है–अभाव–असत् से भाव-सत् की उत्पत्ति होजाती है। यह देखाजाता है–खेत में बीज बोने पर बीज को नष्ट किये विना अंकुर उत्पन्न नहीं होता। बीज का विनाश यदि अंकुर का कारण न हो, तो बीज के यथावस्थित रहने पर अंकुर उपज आना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखाजाता; इसलिये यही समझना चाहिये कि जिसको कार्य का कारण बतायाजाता है, वस्तुतः उसका विनाश कार्य का कारण होता है, वह स्वयं नहीं। जैसे–बीज को अंकुर का कारण कहा जाता है, परन्तु बीज जबतक अपनी स्थिति में रहता है, अंकुर उत्पन्न नहीं होता; बीज को मिट्टी में मिलादेने से जब वह स्वरूप को छोड़ देता है, तब अंकुर उद्भव में आता है। इससे स्पष्ट होता है–अंकुर का कारण बीज न होकर बीजाभाव है। यह स्थिति अभाव से भाव की उत्पत्ति को सिद्ध करती है ॥ १४ ॥

भावोत्पत्ति अभाव से नहीं—आचार्य सूत्रकार ने इसका समाधान करते हुए बताया—

व्याघातादप्रयोगः ॥ १५ ॥ (३५९)

[व्याघातात्] व्याघात से-विरोध से [अप्रयोगः] उक्त प्रयोग असंगत है।

वादी का कहना है—अंकुर बीज का उपमर्द-विनाश करके उत्पन्न होता है–'उपमृद्य प्रादुर्भावात्'। यह कथन युक्त नहीं है; क्योंकि बीज का जो उपमर्दन करता है, वह उपमर्द के अनन्तर उत्पन्न हो, यह असंगत है, वह तो उपमर्दन-काल में विद्यमान रहेगा, उसके उत्पन्न होने का प्रश्न नहीं उठता। जिसका प्रादुर्भाव होना है, वह अभी अविद्यमान है, उसके द्वारा बीज का उपमर्द होना बताना सर्वथा निराधार है। जो स्वयं नहीं, वह उपमर्द कैसे करेगा?

यदि कहाजाय, उपमर्द एक कार्य है, वह अविद्यमान अंकुर से होजाता है। अर्थात् अंकुर का अभाव बीजोपमर्द को उत्पन्न करता है; यह स्थिति अभाव से कार्योत्पत्ति की पोषक है। यह कथन भी ठीक नहीं; पहली बात है–कार्य-उपमर्द-स्वरूप से अभाव है, उसका कारण अंकुराभाव बताया; यह अभाव से अभाव की उत्पत्ति का निर्देशक है, भाव की नहीं। दूसरी बात है–जिस काल में अविद्यमान अंकुर [अंकुराभाव] बीज का उपमर्द करता है, उससे पहले वह विद्यमान रहता है, तब उपमर्द क्यों नहीं करता ? यदि उपमर्दकाल में सहयोगी कारणान्तरों की उपस्थिति को आवश्यक मानाजाता है, तो अभाव से भाव की उत्पत्ति का सिद्धान्त उखड़जाता है, क्योंकि उपमर्द के सहयोगी कारणान्तर–मिट्टी, नमी, गरमी (ऊष्मा) आदि सभी भावरूप हैं। वस्तुतः बीज तथा बीज के सहयोगी वे भावरूप कारण, भावरूप अंकुर–कार्य के उत्पादक होते हैं। उन्हें अंकुराभाव का सहयोगी बताकर बीजोपमर्द का कारण कहना वस्तुस्थिति का शीर्षासन करदेना है। इसलिये अभाव से भाव की उत्पत्ति का पक्ष अत्यन्त शिथिल है ॥ १५ ॥

अभाव से भावोत्पत्ति में व्याघात-दोष नहीं—पूर्वोक्त व्याघात-दोष के परिहार की पूर्वपक्षी-भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

नातीतानागतयोः कारकशब्दप्रयोगात् ॥ १६ ॥ (३६०)

[न] नहीं (उक्त दोष, मेरे पक्ष में) [अतीतानागतयोः] अतीत और अनागत कार्यों के विषय में [कारकशब्दप्रयोगात्] कारक शब्दों के प्रयोग से।

अतीत और अनागत पदार्थों के विषय में कर्त्तृत्व आदि के बोधक कारक शब्दों का प्रयोग देखाजाता है। भविष्य में होनेवाले पुत्र को लक्ष्यकर प्रयोग होता है–'पुत्रो जनिष्यते'–पुत्र उत्पन्न होगा। यहाँ अनागत पुत्र में कर्त्ता कारक का प्रयोग है। अन्य प्रयोग है–'जनिष्यमाणं पुत्रं अभिनन्दति'–उत्पन्न होनेवाले पुत्र का विचार कर पिता प्रसन्न होता है। यहाँ अनागत पुत्र का कर्मकारक में प्रयोग है। ऐसे ही एक अन्य प्रयोग है–'जनिष्यमाणस्य पुत्रस्य नाम करोति' उत्पन्न होनेवाले पुत्र का नाम रखलेता है। पुत्र अभी हुआ नहीं, नाम पहले निश्चित कर लिया। यहाँ अविद्यमान अनागत पुत्र का सम्बन्ध-कारक में प्रयोग है। इसीप्रकार अतीतकालविषयक प्रयोग देखेजाते हैं–'अभूत् कुम्भः'–घड़ा था, यहाँ अविद्यमान अतीतकालिक घट का कर्त्ता कारक में प्रयोग है। अन्य प्रयोग है–'भिन्नं कुम्भं अनुशोचति' अभी रजापुर[1] से नया घड़ा लाया था, बरांडे की मुण्डेल पर रक्खा था, तेज़ आँधी का झोका आया, वह गिरकर फूट गया, उसका बड़ा दुःख है। यहाँ अविद्यमान अतीत घट का कर्म कारक में प्रयोग है। ऐसे

---

१. **ग़ाज़ियाबाद के समीप रज़ापुर गाँव में निर्मित घड़ों के अन्दर पानी बहुत ठण्डा रहता है। यह उस ग्राम की मिट्टी की विशेषता है।**

ही एक प्रयोग है–'भिन्नस्य घटस्य कपालानि'-टूटे हुए घड़े के ये खिपरे पड़े हैं। अतीत घट का सम्बन्ध-कारक में यह प्रयोग है। अन्य प्रयोग है–'अजाताः पुत्राः पितरं तापयन्ति'–अनुत्पन्न पुत्र माता-पिता को कष्ट देते हैं। यहाँ अविद्यमान पुत्र का कर्त्ता-कारक में प्रयोग है।

इसप्रकार के प्रयोग बहुतायत से लोक में देखेजाते हैं; ये सब गौण प्रयोग होते हैं। इनके गौण अथवा भाक्त होने का प्रयोजक–आनन्तर्य है–अनन्तर होना। कुछ काल अनन्तर होनेवाले पुत्र, एवं कुछ काल बीती घटना में ऐसे प्रयोगों का होना लोकव्यवहार के अनुकूल है। इसी आनन्तर्य-सामर्थ्य के आधार पर उत्पन्न होनेवाला अंकुर बीज का उपमर्द करता है—'प्रादुर्भविष्यन् अंकुरो बीजं उपमृद्नाति'–ऐसा प्रयोग सम्भव है। इसमें किसीप्रकार के दोष की उद्भावना नहीं कीजानी चाहिये। फलतः अविद्यमान अनागत अंकुर में कर्त्ता कारक का प्रयोग दोषपूर्ण नहीं है॥ १६॥

बीजविनाश से अंकुरोत्पत्ति सम्भव नहीं—उक्त दोषपरिहार का आचार्य सूत्रकार निराकरण करता है—

न विनष्टेभ्योऽनिष्पत्तेः॥ १७॥ (३६१)

[न] नहीं (युक्त, उक्त दोष-परिहार), [विनष्टेभ्यः] नष्ट हुए बीजों से [अनिष्पत्तेः] उत्पत्ति न होने से (अंकुरों की)।

यदि अभाव से भाव की उत्पत्ति मानीजाती है, और उसमें बीज-विनाश से अंकुरोत्पत्ति का दृष्टान्त दियागया। ऐसी स्थिति में अंकुरोत्पत्ति के लिये बीज की आवश्यकता क्या है? बीज का न होना अथवा हुए बीज का विनष्ट होजाना –दोनों अवस्थाओं में बीज का अभाव समान है। तब अंकुर की उत्पत्ति विना बीज के होजानी चाहिये। परन्तु ऐसा होना सम्भव नहीं। कोई किसान नष्ट बीज को बोने के लिये ग्रहण नहीं करता। नष्ट हुए पिता आदि से पुत्र उत्पन्न होता नहीं देखाजाता। यह माना कि अविद्यमान वस्तु में कारक पदों का भाक्त (गौण) प्रयोग होसकता है; परन्तु ऐसा प्रयोग अविद्यमान (अकारण) वस्तु में कार्यजननशक्ति का आपादक नहीं होसकता। वह शक्ति तो विद्यमान (भावरूप) कारणतत्त्व में ही निहित रहती है। अतः अभाव से भाव की उत्पत्ति बताना सर्वथा अप्रामाणिक है।

जहाँतक अतीत या अनागत अविद्यमान अर्थ में कारक पदों के प्रयोग की बात है, वह भी प्रस्तुत प्रसंग में सहायक नहीं है। क्योंकि वहाँ कारक-पद अनन्तर होनेवाले कार्य के प्रति कर्तृत्व का बोधन कराता है। जनिष्यमाण पुत्र में कारक-चिह्न अथवा कारक-विभक्ति जन्म के अनन्तर होनेवाले नामकरण अथवा प्रसन्नता आदि के प्रति कर्तृत्व का बोधक है, जो सर्वथा सम्भव है।

परन्तु प्रकृत में अंकुर की उत्पत्ति से पहले होनेवाले बीज-उपमर्द के प्रति अंकुर में कर्तृत्व का बोधन होता है, जो सर्वथा असम्भव है, क्योंकि अंकुर का तबतक अस्तित्व नहीं। फलतः अभाव से भाव की उत्पत्ति का विचार नितान्त निराधार है ॥ १७ ॥

अभावकारणवादी भाव और अभाव के कार्य-कारणभाव में पूर्वापरक्रम (कारण पूर्व, कार्य अपर; बीज-विनाश पूर्व, अंकुर अपर; विनाश के अनन्तर अंकुर का उत्पन्न होना, ऐसे क्रम) का हेतुरूप से उपन्यास करता है। तात्पर्य है—कारण-कार्य का पूर्वापरभावक्रम निश्चित है। इसे स्वीकार करते हुए सूत्रकार अभाव से भाव की उत्पत्ति को प्रामाणिक नहीं मानता। इसके अनुसार सूत्रकार विवेचन प्रस्तुत करता है—

क्रमनिर्देशादप्रतिषेधः ॥ १८ ॥ (३६२)

[क्रमनिर्देशात्] 'क्रमनिर्देश' से बीज—हेतु का [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं है।

बीजविनाश के अनन्तर अंकुर उत्पन्न होता है। बीज की आकृति, अथवा उसका जैसा अवयवसन्निवेश (बनावट) है, उसके लोप हुए बिना अंकुर की आकृति का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं होता। परन्तु केवल इतने से भाव और अभाव का कार्य-कारणभाव सिद्ध नहीं होजाता। अन्यथा स्थल में कमल के बीज का अभाव होने से वहाँ कमल उत्पन्न होजाया करे। ऐसी दशा में कारणदेश को छोड़कर प्रत्येक वस्तु का सर्वत्र प्रादुर्भूत होजाना प्राप्त होता है, जो असम्भव है। इसलिये भाव-अभाव का कार्य-कारणभाव सर्वथा अमान्य है; परन्तु बीज-विनाश और अंकुरोत्पत्ति के पूर्वापरक्रम को स्वीकार करने में सिद्धान्त-पक्ष को कोई बाधा नहीं है। अभावकारणवादी उपमर्द-प्रादुर्भाव के इस क्रम को—अभाव से भाव की उत्पत्ति में—हेतु कहता है, जो [क्रम] प्रत्यक्षसिद्ध है।

सिद्धान्तपक्ष उस क्रम एवं उसकी प्रत्यक्षसिद्धता का प्रतिषेध नहीं करता। यह स्पष्ट देखाजाता है—बीज का जैसा अवयवसन्निवेश है, उसमें अवयवों का पहला संयोग नष्ट होजाता है; इससे बीज की पूर्व-आकृति अथवा रचना निवृत्त होजाती है; तथा उन अवयवों—एवं उनके सहयोगी अन्य अपेक्षित द्रव्यों—का विशिष्ट संयोग एक नई रचना को प्रकट करदेता है। इसप्रकार वह बीज पहली रचना को छोड़कर अन्य रचना के रूप में अभिव्यक्त होजाता है। इस क्रमानुसार बीज से अंकुर उत्पन्न होता है। उस समय अंकुर के साथ बीज के कतिपय अवयव संयुक्त हुए दिखाई देते हैं, जो इस तथ्य के प्रमाण हैं कि बीजावयवों से अंकुर आकृति उभर आई है। इसलिये अंकुर की उत्पत्ति के कारण बीजावयवों से अतिरिक्त अन्य कोई नहीं हैं। यह कारणता उपादान अथवा समवायि-कारण का निर्देश

करती है; अंकुर के अन्य कारणों का इससे प्रतिषेध नहीं होता। प्रत्येक बीज दो भागों में देखाजाता है, जो आपस में घनीभूत होकर सटे रहते हैं। बीज जब भूमि में बोदियाजाता है, तब जल, भूमि, ऊष्मा का सहयोग पाकर बीज के दोनों भागों का घनीभाव शिथिल होकर मध्यगत मींगी से अंकुर को उभरने का अवसर देता है। बीज पहली अवस्था को छोड़कर अवस्थान्तर में दिखाई देता है। यह अवस्थाओं का पूर्वापरीभाव ही 'क्रम' है। इसीको बीज का उपमर्द कहाजाता है। इससे बीज अपने बीज-भाव को छोड़ नहीं देता। वह अबीज नहीं होजाता। अंकुर निकल आने पर कोई भी व्यक्ति अंकुर के साथ बीजावयवों को लगाहुआ देखसकता है। इस सब विवेचन से भावरूप कार्य का अभाव उपादान अथवा समवायि-कारण है, इस मान्यता का निराकरण होजाता है ॥ १८ ॥

ईश्वर कारण है फलोत्पत्ति में—पदार्थों के कार्य-कारणभाव के विषय में आचार्य सूत्रकार अन्य एक विचार को प्रस्तुत करता है—

ईश्वरः कारणं पुरुषकर्माफल्यदर्शनात् ॥ १९ ॥ (३६३)

[ईश्वरः] ईश्वर [कारणम्] कारण है, [पुरुषकर्माफल्यदर्शनात्] पुरुष-कर्मों की अफलता देखेजाने से।

यह पुरुष चेष्टा अथवा कर्म करता हुआ अपनी चेष्टाओं व कर्मों का अवश्य फल प्राप्त करलेता हो, ऐसा नहीं है। इससे अनुमान होता है—पुरुष-कर्मों के फल-प्राप्ति की सिद्धि अन्य किसी के अधीन है। जिसके अधीन है, वह ईश्वर है। फलोत्पत्ति के अनुकूल ईश्वरेच्छा के विना पुरुषकर्म विफल रहते हैं। इसलिये फलसिद्धि का कार्य जिस ईश्वर के अधीन है, उसीको कार्यमात्र का कारण मानना चाहिये। पुरुषकर्मों के फलों की सिद्धि जगद्रचना के विना सम्भव नहीं; जगद्रचना ईश्वराधीन है। अतः ईश्वर को सब कार्यों का कारण मानना उपयुक्त है ॥ १९ ॥

कर्म कारण, फलोत्पत्ति में—शिष्य आशंका करता है, पुरुष-कर्मों के अभाव में ईश्वर किसका फल देगा ? फल कर्मों का मिलता है; ईश्वर को बीच में कारण क्यों मानाजाय ? आचार्य ने आशंका को सूत्रित किया—

न पुरुषकर्माभावे फलानिष्पत्तेः ॥ २० ॥ (३६४)

[न] नहीं (युक्त, ईश्वर को कारण कहना), [पुरुषकर्माभावे] पुरुष-कर्मों के न होने पर [फलानिष्पत्तेः] फल की प्राप्ति—सिद्धि न होने से।

पुरुष को अपने किये कर्मों से फल की प्राप्ति होती है। यदि ईश्वर की इच्छा के अधीन पुरुष को फलों की प्राप्ति मानीजाय, तो पुरुष की चेष्टाओं एवं कर्मों के विना फलप्राप्ति होनी चाहिये। यदि इसे स्वीकार कियाजाता है, तो यह [illegible]त्रमर्यादानुसार अकृताभ्यागम-दोष है, विना कर्म किये फल का प्राप्त होना।

इसके अतिरिक्त पुरुषों की फलप्राप्ति में विविधता व न्यूनाधिकता होने से ईश्वर पर अन्याय एवं पक्षपात का दोष आरोपित होता है। लूला-लंगड़ा, अन्धा-काणा, बहरा-गूँगा, सबल-दुर्बल, सुन्दर-कुरूप, सुडौल-अष्टावक्र, धनी-निर्धन, विद्वान्-मूर्ख आदि विविध भेदों के रूप में पुरुष फलों को ईश्वर की इच्छा के अधीन पाता है, तो स्पष्ट ईश्वर अन्यायी, पक्षपाती कहाजायगा। ईश्वर ऐसा होना नहीं चाहिये। अतः कर्मों द्वारा फलप्राप्ति में ईश्वर को अन्तर्गत मानकर कार्य का कारण बताना व्यर्थ है ।। २० ।।

ईश्वर कर्मफलदाता—आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का समाधान किया—

तत्कारितत्वादहेतुः ।। २१ ।। (३६५)

[तत्-कारितत्वात्] ईश्वर द्वारा कारित–सम्पादित होने से (कर्मफल के), [अहेतुः] उक्त हेतु ठीक नहीं है।

पुरुष की फलप्राप्ति में ईश्वर को कारण बताने से पुरुष के किये कर्मों का प्रतिषेध नहीं होता। प्रत्युत ईश्वर उनको सफल बनाता है। कर्म करनेवाले पुरुष का इतना सामर्थ्य नहीं कि वह स्वकृत कर्मों की सफलता के लिये मूलभूत साधनों का सम्पादन करसके। मूलभूत साधन है–वर्त्तमान विश्व के रूप में पृथिवी आदि भूतों की रचना। पुरुष इन्हींके आधार पर स्वकृत कर्मों के फलों को प्राप्त करपाता है। विश्व की यह रचना ईश्वराधीन है, इसप्रकार पुरुष के कर्मों का फल ईश्वरकारित है।

कर्मफल ईश्वरकारित—इसके अतिरिक्त, अनन्त पुरुषों के अनन्त विविध कर्मों का लेखा-जोखा किसी एक पुरुष के ज्ञान में न होने से उसकी व्यवस्था का होना सम्भव नहीं। केवल सर्वज्ञ ईश्वर के ज्ञान में अनन्त कर्मों का लेखा-जोखा रहना सम्भव है। उसीके आधार पर पुरुषों के कर्मानुरूप फलों की व्यवस्था होती रहती है। इसप्रकार कर्मफलों का सम्पादन ईश्वर करता है। यदि ईश्वर यह सब न करे, तो पुरुष-कर्म विफल होजायेंगे। अतः उनको ईश्वरकारित मानना सर्वथा प्रामाणिक है।

यह समझने की बात है–ईश्वर की कृपा के विना पुरुष अपने कर्म करने में अक्षम रहता है। शरीरादि की प्राप्ति पर पुरुष कर्म करसकता है। यह सब विश्वरचना के विना असम्भव है। इसीकारण समस्त सत्य ज्ञान एवं समस्त पदार्थों का आदि मूल परमेश्वर को मानाजाता है। फलतः जिस हेतु के आधार पर उक्त आशंका कीगई है, वह वस्तुतः हेतु न होकर हेत्वाभास है। ईश्वर की कारणता को स्पष्ट करदियागया है; उसमें पुरुषकर्मों का अभाव नहीं मानागया। अतः उक्त हेतु स्वरूपसिद्ध हेत्वाभास होने से साध्य का साधक नहीं। इससे कार्यमात्र में ईश्वर की कारणता अबाधित है।

ईश्वर क्या है ?—ईश्वर है क्या ? विशिष्ट गुणयुक्त चेतन आत्मतत्त्व ईश्वर है। प्रस्तुत सूत्रों में 'पुरुष' पद का प्रयोग चेतन जीवात्म-तत्त्व के लिये हुआ है। सांख्य में इस पद का प्रयोग जीवात्मा और परमात्मा दोनों के लिये कियागया है। जैसा जीवात्मा चेतन तत्त्व है, वैसा चेतन तत्त्व परमात्मा है। उनके चेतन स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। जीवात्मा अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, परिमाण है, एवं अधर्म, मिथ्याज्ञान, प्रमाद, राग, द्वेष आदि से अभिभूत होजाता है; इसके विपरीत परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, परममहत्परिमाण, सत्यसंकल्प आदि है, तथा अधर्म आदि से कभी अभिभूत नहीं होता; यह जीवात्मा–परमात्मा का परस्पर अन्तर है। इसी भावना से योगदर्शन में पतञ्जलि ने बताया–"क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" [१।२४]। दुःख, शुभ-अशुभ कर्म, कर्मफल तथा आशय (अनादि काल से सञ्चित कर्मों का भण्डार) ये सब जीवात्मा के धर्म हैं। इनमें सर्वथा असंलग्न (पूर्णरूप से अछूता) जो चेतन आत्मतत्त्व-विशेष है, उसे ईश्वर समझना चाहिये। समाधिजन्य अष्टविध अणिमा आदि ऐश्वर्य उसकी तुलना में यत्किञ्चनमात्र हैं, तुच्छ हैं; क्योंकि ईश्वर जगद्रचना आदि अचिन्त्य कल्पनातीत कार्यों को संकल्प-मात्र से सम्पादित करदेता है, इसके लिये कोई क्रिया, कोई गति उसे नहीं करनी पड़ती।

संकल्पमात्र से सबका जनक होने के साथ उसका यह धर्म है, परम कर्त्तव्य है–वह प्रत्येक आत्मा [जीवात्मा] में वर्त्तमान धर्म-अधर्म की राशि को फलोन्मुखता के लिए प्रवृत्त करता है; तथा जगत् के उपादानकारण मूल तत्त्वों को प्रेरित कर वर्त्तमान पृथिवी आदि के रूप में भूत-तत्त्वों का निर्माण करता है। इस निर्माण में आत्माओं के कर्म फलप्राप्ति की अनुरूपता को बनाये रखने के लिए सहयोगी रहते हैं। विश्वप्रक्रिया में यह आवश्यक है कि जीवात्मा देहादि को प्राप्त कर शुभ-अशुभ कर्मों का अनुष्ठान करे; तथा परमात्मा इस सबके सम्पादन के लिए विश्व की रचना करे। परमात्मा का यह विश्वनिर्माण की पूर्णता का कार्य मानो उसके अपने किये कर्मों का फल हो, जिसमें उसके कर्त्तव्य का लोप न होकर पूर्णसम्पन्नता निहित रहती है। वस्तुतः यह उसका स्वभाव है।

वह ईश्वर विश्व का साक्षी और रक्षक है–जैसे पिता अपने अपत्यों (सन्तान) का, वैसे ईश्वर सब प्राणियों का। वह आत्मजातीय तत्त्व है, अन्य कोई प्रकार उसका सम्भव नहीं। उसका लिङ्गभूतधर्म अर्थात् उसकी पहचान का एक-मात्र साधन है–पूर्णज्ञान। इससे अतिरिक्त अन्य कोई पूर्ण परिचायक धर्म उसका नहीं है। तात्पर्य है–वह पूर्ण चेतनस्वरूप है। वेद उसको द्रष्टा, बोद्धा, सर्वज्ञाता ईश्वर कहता है। उसके पूर्ण ज्ञानस्वरूप में उसकी आनन्दरूपता अन्तर्निहित है।

विलक्षण जगत्-निर्माण से ज्ञानरूपता, तथा पूर्णकाम होने से आनन्दरूपता अभिलक्षित होती है। आगम बताता है–'यः सर्वज्ञः सर्ववित् यस्य ज्ञानमयं तपः' [मुण्ड० १ । १ । ६] तथा 'द्रष्टा श्रोता, मन्ता, विज्ञाता' [बृ० ३ । ७ । २३] इत्यादि।

लौकिक प्रत्यक्ष-अनुमान-शब्द - प्रमाणों का जो विषय नहीं है, ऐसे निरूपाख्य-अलिंग ईश्वर का बुद्धि, सुख, इच्छा आदि आत्मलिंगों के द्वारा उपपादन कियाजाना अशक्य है। जीवात्म-कर्मों की अनुकूलता से ईश्वर जगत् का निर्माण करता है। जो वादी इस रचना को कर्मनिरपेक्ष कहते हैं, उनकी इस मान्यता में अपने किये कर्मों के फलों की प्राप्ति के लोप तथा अकृत की प्राप्ति–का दोष सामने आता है। इसका विस्तृत विवेचन 'देहादि सर्ग कर्मनिरपेक्ष होता है' प्रसंग [३ । २ । ६२-७५] में करदियागया है ॥ २१ ॥

भावोत्पत्ति अनिमित्तक—प्रत्येक कार्य विना कारण के होजाता है, ऐसे अकारणवाद का निर्देश आचार्य सूत्रकार ने किया—

अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः कण्टकतैक्ष्ण्यादि-
दर्शनात् ॥ २२ ॥ (३६६)

[अनिमित्ततः] निमित्त के विना [भावोत्पत्तिः] भाव-कार्य की उत्पत्ति होती है [कण्टकतैक्ष्ण्यादिदर्शनात्] काँटों की तीक्ष्णता आदि के देखेजाने से।

देह आदि कार्यों की उत्पत्ति विना कर्म-कारण के होजाती है, ऐसा मान-लेना चाहिये। क्योंकि काँटों की तीक्ष्णता, पर्वत में होनेवाली धातुओं की विविधता, पत्थरों का चिकनापन आदि सबका कोई कर्म निमित्त नहीं देखाजाता। काँटे आदि के उपादान-तत्त्वों का कोई कर्म-कारण प्रतीत नहीं होता। इसलिए जैसे विना कर्म-निमित्त आदि के इन पदार्थों की रचना होजाती है, ऐसे देहादि सर्ग भी विना निमित्त के होसकता है ॥ २२ ॥

अनिमित्तक नहीं भावोत्पत्ति—शिष्यों को उस दिशा में शिक्षित करने के लिए आचार्य ने उक्तवाद का प्रौढ़िवाद से प्रत्याख्यान किया—

अनिमित्तनिमित्तत्वान्नानिमित्ततः ॥ २३ ॥ (३६७)

[अनिमित्तनिमित्तत्वात्] अनिमित्त के निमित्त होने से [न] नहीं [अनिमित्ततः] विना निमित्त से (कार्योत्पत्ति)।

वादी ने कहा है–'अनिमित्ततो भावोत्पत्तिः'–अनिमित्त से भाव (कार्य) उत्पन्न होता है। जिससे जो उत्पन्न होता है, वह उसका निमित्त है। अनिमित्त से उत्पन्न होने के कारण, कार्य का वही निमित्त मानाजायगा। इसलिए कार्य की उत्पत्ति को अनिमित्त नहीं कहाजासकता।

अकारणवादी द्वारा प्रस्तुत–उक्त उत्तर के–निराकरण को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

निमित्तानिमित्तयोरर्थान्तरभावादप्रतिषेधः ॥ २४ ॥ (३६८)

[निमित्तानिमित्तयोः] निमित्त और अनिमित्त के [अर्थान्तरभावात्] परस्पर भिन्न अर्थ होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध युक्त नहीं है (उक्त अकारणवाद का)।

निमित्त अन्य होता है, अनिमित्त अन्य। निमित्त सद्वस्तु है, किसी कार्य का प्रयोजक; अनिमित्त उसका अभाव है। भाव और अभाव एक नहीं होसकते। अनिमित्त अर्थात् निमित्त का अभाव किसीका निमित्त अथवा स्वयं निमित्तरूप नहीं होसकता। यदि उसको (निमित्ताभावको) कारण मानाजाता है, तो यह अभावकारणवाद-पक्ष की सीमा में चलाजाता है, जो एक अतिरिक्त वाद है [४।१।१४-१८]। प्रस्तुत पक्ष उससे भिन्न है, जिसका तात्पर्य है–कार्य की उत्पत्ति विना कारण आकस्मिक होजाती है। इसलिए गतसूत्र में अनिमित्त को निमित्त कहकर इस वाद का जो प्रतिषेध किया है, वह संगत नहीं है। जैसे किसी ने कहा–'अनुदकः कमण्डलुः'–पात्र में जल का अभाव है। यह जलाभाव स्वयं जल नहीं होसकता। ऐसे ही निमित्ताभाव निमित्त नहीं होसकता।

सूत्रकार ने इस वाद का निराकरण-सूत्र नहीं लिखा। यह वाद अभाव-कारणवाद [४।१।१४-१८] एवं अकर्मकारणवाद [३।२।६२-७५] के अन्तर्गत आजाता है। उन वादों के प्रत्याख्यान से इस वाद का प्रत्याख्यान अनायास समझलियेजाने के कारण सम्भवतः सूत्रकार ने स्वयं यहाँ उत्तर-सूत्र लिखने की उपेक्षा करदी हो। कतिपय विद्वानों की ऐसी कल्पना है–कदाचित् आचार्य ने सूत्र लिखा होगा, परन्तु भाष्यकार वात्स्यायन काल से पहले वह अज्ञातकारणवश खण्डित होगया। ऐसी कल्पना का कोई उपयुक्त आधार प्रतीत नहीं होता। भाष्यकार वात्स्यायन ने ऐसा संकेत दिया है कि 'अकर्मनिमित्तवाद' के प्रत्याख्यान से इस वाद का प्रत्याख्यान समझलेना चाहिये ॥ २४ ॥

सर्वानित्यत्ववाद—इसके अनन्तर आचार्य सूत्रकार अन्य वाद को प्रस्तुत करता है—

सर्वमनित्यमुत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात् ॥ २५ ॥ (३६९)

[सर्वम्] सब [अनित्यम्] अनित्य है, [उत्पत्तिविनाशधर्मकत्वात्] उत्पत्ति एवं विनाश-धर्मक होने से।

अनित्य का स्वरूप क्या है ? जो कभी हो, और कभी न हो, वह अनित्य है। उत्पत्तिधर्मक पदार्थ उत्पन्न होने से पहले नहीं रहता। ऐसे ही विनाशधर्मक पदार्थ का कभी विनाश न होता हो, ऐसा नहीं है। तात्पर्य है–उत्पत्ति से पहले पदार्थ नहीं रहता; उत्पन्न होने के अनन्तर कालान्तर में अवश्य उसका विनाश

होजाता है। यह पदार्थ का कभी होना और कभी न होना—उसकी अनित्यता का प्रयोजक है।

सूत्र में कहा है—'सर्वं अनित्यम्' सब अनित्य है। वह 'सर्व' क्या है? शरीर आदि भौतिक पदार्थ तथा बुद्धि सुख-दुःख आदि अभौतिक पदार्थ 'सर्व' पद से ग्राह्य हैं। समस्त विश्व इन्हीं दो भागों में विभक्त है। कुछ पदार्थ भौतिक हैं, कुछ अभौतिक। पदार्थ की तीसरी कोई विधा नहीं। ये दोनों प्रकार के पदार्थ उत्पत्ति-विनाशधर्मक देखेजाते हैं। इसलिए सबकी अनित्यता प्रमाणित होती है॥ २५॥

सूत्रकार प्रथमनिर्दिष्ट रीति पर उक्त वाद का निराकरण करता है—

नानित्यतानित्यत्वात्॥ २६॥ (३७०)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [अनित्यतानित्यत्वात्] अनित्यता के नित्य होने से।

सब अनित्य है, इस कथन से यह परिणाम स्पष्ट होता है, सब पदार्थों में विद्यमान अनित्यता सदा बनी रहती है। यदि सबकी अनित्यता सदा रहती है, तो वह नित्य होगई। उसके नित्य होने से यह कथन असंगत होगया कि सब अनित्य है। यदि अनित्यता को अनित्य मानाजाता है, तो अनित्य होने के कारण उसके न रहने पर सब नित्य मानाजाना चाहिये। ऐसी स्थिति में सर्वानित्यत्ववाद को प्रामाणिक नहीं कहाजासकता॥ २६॥

सर्वानित्यत्ववादी द्वारा कियेगये उक्त आपत्ति के समाधान को आचार्य ने सूत्रित किया—

तदनित्यत्वमग्नेर्दाह्यं विनाश्यानुविनाशवत्॥ २७॥ (३७१)

[तद्-अनित्यत्वम्] अनित्यता का अनित्य होना मान्य है, [अग्नेः] आग के [दाह्यम्] जलने योग्य पदार्थ को [विनाश्य] विनष्ट कर 'जलाकर' [अनु-विनाशवत्] पश्चात् स्वयं विनाश के समान।

लोक में यह देखाजाता है कि आग अपने दाह्य पदार्थ को जलाकर अन्त में बुझ जाती है। दाह्य पदार्थ को प्रथम नष्ट कर फिर स्वयं नष्ट होजाती है। इसीप्रकार सबकी अनित्यता सबको विनष्ट कर—अनित्य बनाकर अन्त में स्वयं विनष्ट होजाती है। इस रीति पर सबकी अनित्यता के साथ स्वयं अनित्यता भी अनित्य बनी रहती है॥ २७॥

अनित्यत्ववाद-निराकरण—आचार्य सूत्रकार ने उक्त समाधान का प्रत्याख्यान किया—

नित्यस्याप्रत्याख्यानं यथोपलब्धि व्यवस्थानात्॥ २८॥ (३७२)

[नित्यस्य] नित्य का [अप्रत्याख्यानम्] प्रत्याख्यान (निराकरण) नहीं (कियाजासकता) [यथोपलब्धि] उपलब्धि के अनुसार [व्यवस्थानात्] व्यवस्था होने से।

यह सर्वानित्यत्व-वाद किसी भी पदार्थ (प्रत्येक पदार्थ) के नित्य होने का निराकरण करता है। किन्तु नित्य का निराकरण सर्वथा अनुपपन्न है, अप्रामाणिक है। क्योंकि जो पदार्थ जैसा उपलब्ध होता है, उसीके अनुसार उसकी व्यवस्था कीजानी चाहिये। जो पदार्थ प्रमाण के अनुसार उत्पत्तिविनाशधर्मक उपलब्ध होता है, उसे अनित्य मानाजाना चाहिये। इसके विपरीत प्रमाण द्वारा जो ऐसा नहीं जानाजाता, उसे नित्य मानना होगा।

परमसूक्ष्म परमाणुरूप में पृथिवी आदि भूत, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, मन, ये सब द्रव्य तथा इनमें समवेत (समवाय सम्बन्ध से रहनेवाले) कतिपय गुण (परमाणु-परिमाण, परममहत्परिमाण, नित्यद्रव्यवृत्तिसंयोग—परमाणु-द्वय संयोग को छोड़कर—आदि), एवं सामान्य, विशेष, समवाय, ये पदार्थ किसी प्रमाण से उत्पत्तिविनाशधर्मक नहीं जानेजाते। इसलिए ये सब पदार्थ नित्य हैं। फलतः सब पदार्थों को बिना किसी प्रमाण के अनित्य नहीं कहाजासकता ॥ २८ ॥

सर्व-नित्यत्ववाद—आचार्य सूत्रकार अन्य एक वाद का उपक्रम करता है—

सर्वं नित्यं पञ्चभूतनित्यत्वात् ॥ २९ ॥ (३७३)

[सर्वम्] सब [नित्यम्] नित्य है, [पञ्चभूतनित्यत्वात्] पाँच भूतों के नित्य होने से।

समस्त विश्व पाँच भूतों से बना है, इसलिए यह सब भूत-स्वरूप है; भूतों से अतिरिक्त कुछ नहीं। भूत सब नित्य हैं, क्योकि भूतों का पूर्ण उच्छेद सर्वथा अनुपपन्न है; किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं है। इसलिए पदार्थमात्र को नित्य मानना उपयुक्त है ॥ २९ ॥

सूत्रकार ने उक्त वाद का निराकरण किया—

नोत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः ॥ ३० ॥ (३७४)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद), [उत्पत्तिविनाशकारणोपलब्धेः] उत्पत्ति और विनाशकारणों की उपलब्धि से (अनेक पदार्थों के)।

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से घट आदि अनेक पदार्थों की उत्पत्ति और विनाश के कारण उपलब्ध होते हैं। यह स्थिति सबको नित्य मानने का विरोध करती है। जिन पदार्थों के उत्पत्तिविनाशकारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों से उपलब्ध हैं, वे स्पष्टतः अनित्य हैं। इसलिए पदार्थमात्र को नित्य कहना प्रामाणिक नहीं माना-जासकता ॥ ३० ॥

सर्वनित्यत्ववादी द्वारा कियेगये–उक्त निराकरण के–प्रतिवाद को आचार्य ने सूत्रित किया—

तल्लक्षणावरोधादप्रतिषेधः ।। ३१ ।। (३७५)

[तद्-लक्षणावरोधात्] भूत-लक्षण के अन्तर्गत आजाने से (सब पदार्थों के), [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध युक्त नहीं (सबकी नित्यता का)।

जिन पदार्थों के उत्पत्ति-विनाशकारण उपलब्ध हैं, वे सब भूत-लक्षण के अन्तर्गत आजाते हैं; अर्थात् वे सब भूतमात्र हैं; अथवा भूतमय हैं, उनसे अतिरिक्त नहीं। पाँच भूतों के नित्य होने से सबकी नित्यता का उपपादन कियागया है। भले ही किन्हीं पदार्थों के उत्पत्ति-विनाशकारण उपलब्ध हों, परन्तु भूतों के कभी उच्छिन्न न होसकने के कारण समस्त भूतमात्र का नित्य होना प्राप्त होता है। अतः सबकी नित्यता का प्रतिषेध युक्त नहीं है ।। ३१ ।।

नित्यत्ववाद-निराकरण—आचार्य सूत्रकार उक्त कथन का निराकरण करता है—

नोत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः ।। ३२ ।। (३७६)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [उत्पत्तितत्कारणोपलब्धेः] उत्पत्ति और उत्पत्ति के कारणों की उपलब्धि से।

लोक में प्रत्यक्षादि प्रमाणों से यह जानाजाता है कि किसी कार्य की उत्पत्ति उसके समानगुणवाले कारण से होती है। कार्य की उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि–ये दोनों बातें पदार्थमात्र के नित्यविषयक नहीं हैं। उत्पत्ति के ज्ञान और उत्पत्ति के कारणों के ज्ञान का अपलाप नहीं किया-जासकता। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणजन्य ज्ञान निर्विषय नहीं होता। ज्ञानसामर्थ्य से उसके विषय–कार्योत्पत्ति और उसके कारणों–का अस्तित्व निर्भ्रान्त है। इससे यह निश्चित होजाता है–कोई समानगुण कार्य अपने समानजातीय कारण से उत्पन्न होता है। मिट्टी से उत्पन्न घट मृत्समानजातीय अथवा मृत्समानगुण होने से मृद्रूप कहाजाता है। इसीप्रकार जो कार्य भूतों से उत्पन्न होते हैं, वे भूतात्मक हैं। भूतलक्षण की सीमा में उनका अन्तर्गत होना उपपन्न है। परन्तु उत्पाद-विनाशशील पदार्थ का–भूतलक्षण के अन्तर्गत होने से–नित्य होना सम्भव नहीं है; क्योंकि कार्य के उत्पत्ति और विनाश उसके नित्य मानेजाने में बाधक हैं।

इसके अतिरिक्त किसी कार्य की उत्पत्ति एवं विनाश के लिए–इनकी अभिलाषा से प्रयुक्त हुए कर्त्ता का–प्रयत्न देखाजाता है। उस प्रयत्न के फलस्वरूप कार्य का उत्पन्न होना और विनष्ट होना देखाजाता है। यह स्थिति सबके नित्य होने का बाधक है। इसलिए सबका नित्य होना सम्भव नहीं। इसके साथ यह ध्यान देने योग्य है कि प्रत्येक अवयवी उत्पत्ति-विनाशधर्मवाला होता है, यह

प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध है। ऐसी अवस्था में अवयवी पदार्थ के अनित्य होने का निराकरण नहीं कियाजासकता।

'सब नित्य है' इस प्रतिज्ञा की सिद्धि के लिए 'पञ्चभूतनित्यत्व' एवं 'तल्लक्षणावरोध' हेतु दियेगये। परन्तु शब्द, कर्म, बुद्धि, सुख, दुःख आदि पदार्थों में ये हेतु अव्याप्त हैं। 'सर्व नित्यम्' इस प्रतिज्ञा की सीमा में शब्द आदि आजाते हैं; परन्तु हेतु की सीमा में नहीं आते। हेतु इनमें अव्याप्त है, हेतु की व्याप्ति शब्दादि के साथ नहीं। जहाँ-जहाँ पञ्चभूतत्व है, वहाँ शब्दत्व आदि हैं, ऐसी व्याप्ति सम्भव नहीं। साध्याधिकरण में अव्याप्त हेतु अनैकान्तिक होता है, अतः साध्य का साधक नहीं होसकता।

उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि के विषय में यह आशंका कीजासकती है कि जैसे स्वप्नज्ञान में विषय न होते हुए विषय का केवल अभिमान होता है, जो भ्रम-रूप है, ऐसे ही उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि केवल मिथ्या उपलब्धि है। विषय के न होने पर वहाँ उसका [विषय के अस्तित्व का] अभिमानमात्र है। तात्पर्य है–स्वप्न के समान विषय के न होने पर भी उपलब्धि होना सम्भव है। उत्पत्ति और उसके कारण की उपलब्धि भी ऐसी ही है। इससे अनित्यत्व का कोई विषय न होने से सबका नित्यत्व सिद्ध होजाता है।

प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के प्रारम्भ में यद्यपि उपलब्धि के विषय की प्रत्यक्षादि द्वारा प्रामाणिकता एवं अप्रत्याख्येयता सिद्ध कर इस आशंका का उपयुक्त समाधान करदियागया है, परन्तु आशंका के अनुरूप प्रौढि (तुर्की-ब-तुर्की) समाधान इसप्रकार कियाजासकता है–स्वप्न के समान जैसे उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि के विषय को मिथ्या बतायागया, ऐसे ही भूतोप-लब्धि के विषय को मिथ्या क्यों न समझाजाय ? पृथिवी आदि भूतों की उपलब्धि को स्वप्न के समान भ्रान्त मानलेना होगा। तब भूत स्वरूपतः मिथ्या होंगे; उनके नित्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

यदि कहाजाय–पृथिवी आदि के अभाव में सबप्रकार के व्यवहार का विलोप होजायगा, तो उत्पत्ति और उसके कारणों की उपलब्धि के विषय के अभाव में भी सबप्रकार के व्यवहार का विलोप प्रसक्त होगा। इसलिए स्वप्नविषय के अभिमान के समान उपलब्धि का विषय अभिमानमात्र है, मिथ्या है; यह कथन असंगत है। नित्य पदार्थ सब अतीन्द्रिय हैं, प्रत्यक्ष से उनकी उपलब्धि होती नहीं; उत्पत्ति-विनाश की उपलब्धि के विषय को नित्यत्ववादी स्वीकार नहीं करता। तब प्रत्यक्ष उपलब्धि का होना सम्भव ही न होगा। कोई भी प्रत्यक्षादि-जन्यज्ञान निर्विषय नहीं होसकता। क्योंकि उपलब्धि [प्रत्यक्षादिजन्य ज्ञान] का अपलाप नहीं कियाजासकता, इसलिए उसके विषय-भूत प्रत्यक्षयोग्य अनित्य

पदार्थ को स्वीकार करना आवश्यक है। इससे सबका नित्यत्व असिद्ध होजाता है ॥ ३२ ॥

नित्यत्ववादसिद्धि, प्रकारान्तर से—सबकी नित्यता का उपपादन एक अन्य प्रकार से सम्भव है। वह इसप्रकार है–उपादान कारण अवस्थित रहता है, उसके कुछ धर्म निवृत्त अर्थात् अन्तर्निहित होजाते हैं, और अन्य कतिपय धर्म उभर आते हैं। इसप्रकार धर्मों का अपाय और उपजन ही विनाश तथा उत्पत्ति का विषय है। जिसका उपजन-प्रादुर्भाव होता है, वह उससे पहले भी [कारणरूप में] विद्यमान रहता है। जिसका अपाय-तिरोभाव होता है, वह अपेत होकर भी [कारणरूप में] विद्यमान रहता है। इसप्रकार सब पदार्थों की नित्यता सिद्ध होती है। तात्पर्य है–सर्वात्मना किसी पदार्थ का कभी विनाश नहीं होता, न कोई सर्वात्मना नया पदार्थ बनता है। यह प्रकार पदार्थ की नित्यता का साधक है। आचार्य सूत्रकार ने इसका निराकरण प्रस्तुत किया—

न व्यवस्थानुपपत्तेः ॥ ३३ ॥ (३७७)

[न] नहीं (युक्त, उक्त कथन), [व्यवस्थानुपपत्तेः] व्यवस्था की अनुपपत्ति से।

नित्यत्वसिद्धि-प्रकारान्तर का निरास—यदि यह मानाजाता है–सदा अवस्थित उपादान द्रव्य के कुछ धर्मों का प्रादुर्भाव उत्पाद है, और कुछ धर्मों का तिरोभाव विनाश; तथा प्रादुर्भाव के पूर्व एवं तिरोभाव के पश्चात् भी वे धर्म विद्यमान रहते हैं; तो इस मान्यता में उत्पाद-विनाश की व्यवस्था उपपन्न नहीं होसकती, क्योंकि उत्पन्न पदार्थ उत्पत्ति से पूर्व एवं विनष्ट पदार्थ विनाश के पश्चात् भी विद्यमान हैं; तब यह धर्म प्रादुर्भूत हुआ, और यह धर्म तिरोहित हुआ; ऐसी व्यवस्था सर्वथा अनुपपन्न होजाती है। वे धर्म कार्य के उपादान द्रव्य के साथ प्रत्येक अवस्था में निरन्तर विद्यमान रहते हैं, तब किसका कैसा प्रादुर्भाव ? और कैसा तिरोभाव ?

इस विषय में कालव्यवस्था भी उपपन्न नहीं होती। धर्म और धर्मी के सदा विद्यमान रहने से अमुक काल में धर्म का उपजन [प्रादुर्भाव-उत्पाद] और अमुक काल में धर्म की निवृत्ति [तिरोभाव-विनाश] होती है, यह व्यवस्था अनुपपन्न होगी; क्योंकि धर्म सदा समानरूप से विद्यमान रहता है।

इसीप्रकार किसी धर्म से सम्बद्ध अतीत–अनागत काल की व्यवस्था भी नहीं बनसकती; जबकि लोक में उत्पाद-विनाशशील पदार्थों के साथ अतीत-अनागत व्यवहार होता है, जिसकी यथार्थता में सन्देह नहीं कियाजासकता। जब प्रत्येक पदार्थ के निरन्तर विद्यमान रहने से वह वर्त्तमान काल से सम्बद्ध है, तब अतीत-अनागत व्यवहार अनुपपन्न होगा, जो सर्वथा अवाञ्छनीय है।

उक्त मान्यता के विपरीत जब यह मानाजाता है कि अविद्यमान पदार्थ

का आत्मलाभ करना उपजन है, उत्पत्ति है, तथा विद्यमान पदार्थ की आत्म-हानि होजाना निवृत्ति है, विनाश है, तब उक्त दोष सिर नहीं उठाते। इस मान्यता में उत्पाद-विनाश की व्यवस्था, उत्पाद-विनाश के काल की व्यवस्था, तथा कार्य से सम्बद्ध कालकृत अतीत-अनागत व्यवहार की व्यवस्था सब उपपन्न होजाते हैं। इसलिए जो यह कहागया कि उत्पत्ति से पूर्व और विनाश के पश्चात् भी कार्य विद्यमान रहता है, वह सर्वथा अयुक्त है। इस आधार पर सब पदार्थों का नित्य सिद्ध कियाजाना सर्वथा असंगत व अप्रामाणिक है॥ ३३॥

पृथक्त्ववाद—आचार्य सूत्रकार ने यथावसर अन्य एक वाद प्रस्तुत किया—

सर्वं पृथक् भावलक्षणपृथक्त्वात् ॥ ३४ ॥ (३७८)

[सर्वम्] सब (पदार्थमात्र) [पृथक्] नाना हैं, [भावलक्षणपृथक्त्वात्] भाव लक्षणों के पृथक् (नाना) होने से।

सूत्र का 'भाव'-पद प्रत्येक उस वस्तुतत्त्व का बोधक है, जो अपनी स्वतन्त्र इकाई रखता है। 'लक्षण'-पद उसके स्वरूप एवं उसके वाचक पद का बोध कराता है। जगत् के सब पदार्थ नानारूप हैं; व्यवहार में आनेवाला कोई पदार्थ एकमात्र इकाई नहीं है; वह अनेक अवयवों का समुदायमात्र है, जो अवयव अपनी सत्ता में स्वयं स्वतन्त्र हैं। क्योंकि प्रत्येक भाव [सदात्मक पदार्थ] का अपना निजी स्वरूप तथा अपना-अपना अभिधान है, नाम है; अथवा कहना चाहिये—प्रत्येक भाव का समाख्या शब्द–संज्ञा व वाचक पद–पृथक् है। प्रत्येक पद का अपना पृथक् वाच्य है। भावों के समस्त घट, पट आदि समाख्या-शब्द जिन घट, पट आदि अर्थों का निर्देश करते हैं, वे सब अनेक अवयवों का समूह हैं, जो गन्ध, रस, रूप, स्पर्श तथा बुध्न [बर्तन की तली अथवा निम्नतम भाग], पार्श्वभाग, ग्रीवा आदि अनेक पदार्थों के रूप में विद्यमान रहता है। यह केवल उदाहरण-मात्र है; प्रत्येक व्यवहार्य वस्तु के विषय में यही स्थिति समझनी चाहिये। फलतः घट आदि पद एक अवयवी के रूप में किसी अर्थ का अभिलापन नहीं करते। घट आदि सब नानारूप हैं, यही वास्तविक स्थिति है।

यद्यपि सूत्रकार गौतम तथा भाष्यकार वात्स्यायन एवं अन्य व्याख्याकार आचार्यों ने प्रत्यक्ष-प्रमाण की परीक्षा के प्रसंग [२। १। ३२-३६] में विस्तार के साथ प्रमाणपूर्वक अवयवी की वास्तविकता को सिद्ध किया है। उसके अनुसार अवयवी की मान्यता निर्विवाद है। परन्तु सूत्रकार ने प्रावादुकों के विचार-विवेचन के इस प्रसंग में उसे पुनः स्मरण कराया है; तथा प्रस्ताव के अनुसार भिन्न प्रकार से उसका विवेचन किया है॥ ३४॥

सर्वपृथक्त्ववाद का निराकरण—आचार्य सूत्रकार उक्त वाद का निराकरण करता है—

नानेकलक्षणैरेकभावनिष्पत्तेः ॥ ३५ ॥ (३७९)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद), [अनेकलक्षणैः] अनेक अवयव एवं अन्य साधनों से [एकभावनिष्पत्तेः] एक पदार्थ की उत्पत्ति के कारण।

सूत्र के 'अनेकलक्षण' पद का अर्थ—मध्यमपदलोपी समास के आधारपर—'अनेकविधलक्षण' समझना चाहिये। अनेक अवयवों तथा विभिन्न पदवाच्य साधनरूप अर्थों से एक पदार्थ उत्पन्न होजाता है। घट एक अर्थ बुध्न, ग्रीवा आदि अवयवों—तथा गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, संयोग आदि पद वाच्य विभिन्न गन्ध आदि साधनों—से एक घटरूप अर्थ की उत्पत्ति होती है। यह घटरूप अर्थ गन्धादि गुणों से अतिरिक्त एक द्रव्य है। जैसे द्रव्य और गुण परस्पर भिन्न हैं, ऐसे ही अवयव और अवयवी परस्पर भिन्न होते हैं। गुण द्रव्य में आश्रित रहता है, तथा अवयवी अवयवों में आश्रित। आश्रय और आश्रित का भेद प्रमाणसिद्ध है। इसलिए गुण-गुणी एवं अवयव-अवयवी की परस्पर विभक्त स्थिति सर्वथा न्याय्य है। फलतः अवयवी को अवयवरूप नहीं मानाजासकता। एक घट आदि पदार्थ नानारूप न होकर एकमात्र इकाई है; यही तथ्य है ॥ ३५ ॥

अवयवी-साधक युक्ति—लक्षण-नानात्व से वादी ने सब पदार्थों को नाना बताया। आचार्य सूत्रकार लक्षण की व्यवस्था से उक्त वाद का प्रतिषेध प्रस्तुत करता है—

लक्षणव्यवस्थानादेवाऽप्रतिषेधः ॥ ३६ ॥ (३८०)

[लक्षणव्यवस्थानात्] लक्षणों के व्यवस्थान-सद्भाव से [एव] ही, अथवा भी [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध अनुपपन्न है (अवयवी के एकत्व का; इससे नानात्व का प्रतिषेध उपपन्न होजाता है)।

एक अवयवीरूप भाव-पदार्थ नहीं है, ऐसा प्रतिषेध अयुक्त है, क्योंकि लोकव्यवहार में कोई संज्ञा-शब्द एक अर्थ के बोधन कराने में व्यवस्थित है। लक्षणों—संज्ञापदों एवं अवयवों के व्यवस्थित सद्भाव से अवयवी के एकत्व का प्रतिषेध अनुपपन्न है। 'घट' एक पद है, उसका वाच्य कम्बुग्रीव वाला एक अर्थ है। वह केवल परमाणु-समूह नहीं है। परमाणु अतीन्द्रिय है, उसका प्रत्यक्ष किसी इन्द्रिय से नहीं होता, परन्तु घट आदि पदार्थों का प्रत्यक्ष प्रत्येक सेन्द्रिय व्यक्ति करता है, जानता है। प्रसिद्ध लोकव्यवहार है—जिस घट को मैंने देखा, उसको छूरहा हूँ, तथा जिसको कभी पहले छुआ था, उसको देखरहा हूँ। यह अनुभव-व्यवहार परमाणु-समूहमात्र में असम्भव है। इसलिए जो पदार्थ इन्द्रियों से गृहीत होरहा है, वह एक है, वही अवयवी है।

यदि अवयवी कोई एक अतिरिक्त तत्त्व नहीं है, तो जिन तत्त्वों से घट का निर्माण होता है, उनके लिये 'अवयव' पद का प्रयोग असंगत होगा। किन्हीं

कारणतत्त्वों में 'अवयव' पद का प्रयोग अवयवी-सापेक्ष है। अवयव किसी अवयवी के कारण-तत्त्वों को कहाजासकता है। यदि 'अवयवी' कोई एक इकाई नहीं है, तो वे कारण-तत्त्व किसके अवयव कहलायेंगे? अवयव-अवयवी सम्बद्ध पद हैं। किसी व्यवहार्य अर्थ को 'अवयव-समूह' कहकर 'अवयवी' की इकाई से नकार कियाजाना असम्भव है। उस दशा में 'अवयव-समूह' पद का प्रयोग ही निराधार होजायगा। इसलिए अवयवी की एकता का प्रतिषेध असंगत है।

"'घट' आदि संज्ञावाचक पदों का प्रयोग अनेकों के समूह में होता है, किसी एक अर्थ में नहीं।" वादी का यह कथन भी युक्त नहीं है; क्योंकि समूह—एक-एक के समुच्चय को कहाजासकता है। यदि एक अर्थ नहीं है, तो समुच्चय किसका? समूह को मानकर एक का निषेध करना परस्पर-विरोधी कथन है। एक के विना समूह नहीं बनसकता; यदि समूह को मानें, तो एक का प्रतिषेध नहीं कियाजासकता। इसप्रकार वादी समूह में संज्ञाशब्द का प्रयोग मानकर जिसका प्रतिषेध करना चाहता है, उसी 'एक' को स्वीकार करलेता है; क्योंकि 'एक' के अस्तित्व को माने विना समूह की कल्पना निराधार है। फलतः घटादि संज्ञावाच्य अर्थ को एक अवयवी न मानकर उसे समूहमात्र कहना सर्वथा निरर्थक एवं प्रमाणहीन वाद है, अतः त्याज्य है॥ ३६॥

अभाववाद—आचार्य सूत्रकार प्रावादुकों के अन्य एक वाद को यथावसर प्रस्तुत करता है—

सर्वमभावो भावेष्वितरेतराभावसिद्धेः॥ ३७॥ (३८१)

[सर्वम्] सब [अभावः] अभाव है [भावेषु] भावों में [इतरेतराभाव-सिद्धेः] अन्योन्याभाव की सिद्धि से।

जितना पदार्थमात्र भावरूप में कहाजाता है, वह सब वस्तुतः अभावरूप है; क्योंकि प्रत्येक भाव का उससे अतिरिक्त समस्त भावों में अभाव रहता है। गौ अश्वादिरूप नहीं है, तथा गौ से अतिरिक्त अश्वादि पदार्थ गौ नहीं हैं। इसप्रकार गौ का अश्वादि समस्त पदार्थों में अभाव है; और अश्वादि समस्त पदार्थों का गौ में अभाव है। तब ये सब गौ आदि पदार्थ एक-दूसरे का रूप न होने से एक-दूसरे के अभावरूप हैं। इसप्रकार सबकी विभिन्नता अभाव में पिण्डीभूत होजाती है। तात्पर्य है—प्रत्येक तथाकथित भाव पदार्थ का अभाव से सामानाधिकरण्य है। फलतः सबको 'अभाव' कहने या मानने में कोई बाधा नहीं है।

प्रस्तुत प्रावादुक-विचार प्रकरण के प्रारम्भ [४।१।१४-१८] में अभाव की कारणता का प्रतिषेध कियागया है। यहाँ भाव को अभाव मानेजाने का विवेचन है।

वादी का यह कथन अत्यन्त शिथिल है, क्योंकि यह स्वयं अपना विरोध करता है। प्रतिज्ञावाक्य है—'सर्वं अभावः'—सब अभाव हैं। इसमें 'सर्व' पद अनेक

भाव-पदार्थों की अशेषता–सम्पूर्णता का बोध कराता है। यह सद्रूप पदार्थ का निर्देशक (सोपाख्य) है। प्रतिज्ञावाक्य में दूसरा पद 'अभावः' भावरूप पदार्थ के प्रतिषेध को कहता है, जो अभावरूप (निरुपाख्य) है, तुच्छ है। ये दोनों पद परस्पर-विरोधी अर्थ का निर्देश कररहे हैं–जो भाव है, वह स्वरूप से अभाव नहीं होसकता। इसप्रकार परस्पर-विरोधी होने से प्रतिज्ञावाक्य असंगत है। यदि 'सर्व'-पद को अभाव का निर्देशक मानाजाता है, तो भी विरोध वैसा ही बना रहता है, क्योंकि अभाव-प्रतीति से अनेक की अशेषता का बोध नहीं होसकता। परन्तु 'सर्वम्' पद से यह बोध होता है; अतः 'सर्व' को 'अभाव' नहीं कहाजासकता। फलतः विरोध स्पष्ट है।

इसके अतिरिक्त प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर-विरोध है। 'सर्व अभावः' इस प्रतिज्ञावाक्य में भावमात्र का प्रतिषेध कियागया है। इसके अनुसार यदि 'सब अभाव' है, तो हेतु में 'भावेषु' पद का प्रयोग निराधार होजाता है। जब 'भाव' कुछ है नहीं, तो 'भावेषु' कथन किस आधार पर? यदि हेतुपद को स्वीकार कर 'भाव' का अस्तित्व मानाजाता है, तो 'सर्व अभावः' यह प्रतिज्ञा झूठी हो-जाती है। इसप्रकार ये प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर-विरुद्ध होने से त्याज्य हैं। फलतः सबको अभाव कहना सर्वथा अनुपपन्न है ॥ ३७ ॥

भाव पदार्थ, अभाव नहीं—आचार्य सूत्रकार स्वयं उक्त वाद का निराकरण करता है—

न स्वभावसिद्धेर्भावानाम् ॥ ३८ ॥ (३८२)

[न] नहीं (युक्त, उक्त वाद) [स्वभावसिद्धेः] स्व-भाव (अपने अस्तित्व) की सिद्धि से [भावानाम्] भावों की।

सब कुछ अभाव या शून्य नहीं है; क्योंकि अपने अस्तित्व से स्व-रूप से प्रत्येक पदार्थ की विद्यमानता प्रत्यक्षादि प्रमाणों से सिद्ध होती है। भाव-पदार्थों का स्व-रूप अथवा स्व-धर्म क्या है? इसे समझना चाहिये।

द्रव्य, गुण, कर्म में सत्ता-सामान्य समवेत रहता है; इससे उनका सद्भाव सिद्ध होता है। इन पदार्थों को केवल अभाव-शून्य-तुच्छ या अलीक नहीं कहा-जासकता। जो सत् है, उसका तुच्छ होना असम्भव है। द्रव्यों का क्रियावत्त्व और गुणवत्त्व विशेष-धर्म है। इसीप्रकार द्रव्यों में पृथिवी के धर्म हैं–गन्ध, रस, रूप, स्पर्श। अनन्तर द्रव्य, गुण, कर्म और इनमें सामान्य के अवान्तर अनन्त भेद हैं। ये सभी भाव पदार्थ हैं।

फिर सामान्य, विशेष, समवाय के अपने नित्यत्व आदि विशेष धर्म प्रमाणों के द्वारा जानेजाते हैं। यदि यह सब केवल अभाव हो, तो अभाव के तुच्छ–निरुपाख्य होने के कारण, तथा पूर्णरूप से एक प्रकार का होने के कारण वह पूर्वोक्त अर्थभेद का प्रत्यायक–बोधक नहीं होसकता। परन्तु प्रत्यक्षादि प्रमाणों

का–यह तथ्यभूत अनन्त अर्थ-भेद–विषय होता है; इसलिये 'सब अभाव है' यह कथन असंगत है।

अथवा सूत्रार्थ का अन्य प्रकार इस रूप में समझना चाहिये–सूत्र के 'स्वभावसिद्धेः' पद में 'स्वभाव' का अर्थ 'स्व-रूप' है। गौ पद का प्रयोग होने पर इस पद से गोत्वजातिविशिष्ट पशु-विशेष द्रव्य का बोध होता है, अभावमात्र का नहीं। यदि सब अभाव है, गौ पद के प्रयोग से अभाव की प्रतीति होनी चाहिये; स्व-रूपविशेष की नहीं। परन्तु गौ पद के प्रयोग से द्रव्यविशेष की प्रतीति प्रमाण-सिद्ध है। अतः सबको अभाव बताना अयुक्त है।

सूत्रार्थ का अन्य प्रकार यह है–अश्वात्मना गौ का अभाव है, और गवात्मना अश्व का अभाव, अर्थात् गाय घोड़ा नहीं है; और घोड़ा गाय नहीं है; इसप्रकार सबके अभाव का उपपादन कियाजाता है। यदि वस्तुतः सब अभाव है, तो गवात्मना गौ का अभाव, और अश्वात्मना अश्व का अभाव क्यों नहीं कहाजाता? जब वादी गौ को गवात्मना सत् कहता है, और अश्वात्मना असत् बताता है, तब गौ का स्व-भाव से, स्व-रूप से अर्थात् गवात्मरूप से अस्तित्व सिद्ध होजाता है। इसीप्रकार अश्वात्मना अश्व का अस्तित्व सिद्ध होता है। वस्तु की परख का पहला कदम है, उसका अस्तित्व; उसका स्व-भाव, उसका स्व-रूप, उसकी उपेक्षा करके अन्य आधार से, अन्य रूप से उसके अस्तित्व को झुठलाना सर्वथा अन्याय्य एवं अप्रामाणिक है। फलतः पदार्थमात्र की स्व-रूप से विद्यमानता सिद्ध होती है।

यह आशंका कीजासकती है–यदि गौ आदि अभावरूप नहीं हैं, तो अश्वात्मना गौ का अभाव [–असन् गौः अश्वात्मना], एवं गवात्मना अश्व का अभाव [–असन् अश्वो गवात्मना] ऐसा प्रयोग तथा ऐसा ज्ञान कैसे होते हैं? ऐसे प्रयोग और प्रतीति का होना इस बात को प्रमाणित करते हैं कि प्रत्येक भाव का अभाव के साथ सामानाधिकरण्य है, अर्थात् जहाँ भाव की प्रतीति है, वहाँ अभाव विद्यमान है। इसलिए वस्तुमात्र के अभावरूप होने में कोई बाधा नहीं समझीजानी चाहिये।

इस आशंका के समाधान के लिए यह समझना आवश्यक है कि भाव के साथ अभाव के सामानाधिकरण्य के प्रयोग अथवा प्रतीति का प्रयोजन क्या है? जब 'असन् गौः अश्वात्मना' कहाजाता है, तब अश्वसद्भाव के साथ गौ के अभाव का सामानाधिकरण्य अभिलक्षित होता है। इसमें गौ और अश्व के अव्यतिरेक-अभेद का प्रतिषेध कियाजाता है। भावों का अभाव के सामानाधिकरण्य का यही स्वरूप है। यहाँ 'गाय घोड़ा नहीं है' यह कथन व ऐसा ज्ञान गाय और घोड़े के भेद का बोध कराता है; यही इसका प्रयोजन है।

जिन वस्तुओं का संयोग-सम्बन्ध सम्भव है, उनका परस्पर-भेद निश्चित

है। उनके अभेद-सम्बन्ध का प्रतिषेध करने के लिए असत् (अभाव) के साथ सत् (भाव) का सामानाधिकरण्य कहाजाता है। गाय और घोड़ा अभिन्न नहीं हैं, एक नहीं है; इस कथन से गाय-घोड़े के अभेद अर्थात् एकता का प्रतिषेध कियागया। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि गाय या घोड़ा अभावरूप हैं; इस कथन का केवल इतने में पर्यवसान होजाता है–गाय और घोड़ा एक नहीं, ये भिन्न पदार्थ हैं, और अपना स्व-तन्त्र अस्तित्व रखते हैं। फलतः भाव-अभाव का सामानाधिकरण्य भाव की अभावरूपता को सिद्ध न कर भावों के परस्पर भेद को सिद्ध करता है। भावों के परस्पर-भेद को बोधन कराना सामानाधिकरण्य का प्रयोजन है। अतः इस आधार पर उक्त आशंका का उभारना असंगत व निर्मूल है॥ ३८॥

भाव-पदार्थ स्वभाव-सिद्ध नहीं—वस्तु-सद्‌भाव के साधक 'भावों की स्वभावसिद्धि' हेतु के वादी द्वारा निराकरण की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न स्वभावसिद्धिरापेक्षिकत्वात् ॥ ३९ ॥ (३८३)

[न] नहीं (युक्त) [स्वभावसिद्धिः] स्व-भाव की सिद्धि [आपेक्षिकत्वात्] आपेक्षिक होने से।

अन्य की अपेक्षा के आधार पर जो वस्तु-स्वरूप सामने आता है, वह 'आपेक्षिक' कहाजाता है। वस्तुओं में ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ, तथा दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व व्यवहार होता है। यथार्थ में कोई वस्तु स्व-रूप से अवस्थित नहीं है। इसके अनुसार भावों की पूर्वोक्त स्व-भावसिद्धि सम्भव नहीं; क्योंकि उसका अस्तित्व आपेक्षिक होता है। जैसे ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ, तथा दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व का व्यवहार पदार्थों में देखाजाता है, ऐसे ही प्रत्येक पदार्थ का अस्तित्व परस्पर भेद-सापेक्ष है। जब कहाजाता है–'यह घट है', तब घट अपने अस्तित्व में–घट से अतिरिक्त पट आदि समस्त पदार्थों के भेद की अपेक्षा करता है। यदि घट-सत्ता व घट-ज्ञान में पट आदि का भेद अपेक्षित न हो, तो घट को पट आदि भी क्यों न समझलियाजाय? भेद की अपेक्षा न रहने पर घट को पट समझाजासकता है। पर ऐसा नहीं है, यथार्थज्ञान की स्थिति में घट को घट ही समझाजाता है। इससे निश्चित है–घट की सत्ता व प्रतीति में पटादिभेद का ज्ञान अपेक्षित होता है। इससे परिणाम निकलता है–कोई भाव-पदार्थ स्वतन्त्रतापूर्वक स्व-रूप से अवस्थित नहीं है, क्योंकि वह अपने सद्‌भाव को अपेक्षासामर्थ्य से प्राप्त करता है। अपेक्षा का सामर्थ्य यह है कि सापेक्ष पदार्थ को अपने मुकाबले में तुच्छ बनादेती है। जब भाव अपने सद्‌भाव में भेद (अभाव) की अपेक्षा करेगा, तो अभाव अपने मुकाबले में भाव को तुच्छ बनाकर

उसपर हावी होजायगा। इसलिए 'भावों की स्वभावसिद्धि' हेतु-आपेक्षिक होने से भावों के स्वतन्त्र सद्भाव को सिद्ध करने में असमर्थ है ॥ ३९ ॥

भाव को स्वभावसिद्ध न मानना व्याहत—आचार्य सूत्रकार वादी के उक्त तर्क का निराकरण करता है—

व्याहतत्वादयुक्तम् ॥ ४० ॥ (३८४)

[व्याहतत्वात्] व्याहत होने से-अन्योन्याश्रय-दोष-दुष्ट होने से (आपेक्षिकत्व हेतु के) [अयुक्तम्] अयुक्त है (सबकी तुच्छता का कथन)।

वस्तुओं में ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार को-वस्तु की स्वरूप-सिद्धि के आधार पर न मानकर-यदि एक-दूसरे की अपेक्षा से मानाजाता है, तो इस मान्यता में अन्योन्याश्रय-दोष स्पष्ट है। यदि ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ है, तो 'ह्रस्व' व्यवहार तथा ह्रस्व-ग्रहण किसकी अपेक्षा से होगा ? क्योंकि ह्रस्व-स्थितिकाल में अभी दीर्घ-ग्रहण नहीं है। तात्पर्य है-ह्रस्व की अपेक्षा से दीर्घ-ग्रहणकाल के पूर्व दीर्घ-ग्रहण नहीं है; तब दीर्घ का प्रयोजक ह्रस्व-ग्रहण व व्यवहार किसकी अपेक्षा से होगा ? यदि दीर्घ की अपेक्षा से ह्रस्व-ग्रहण प्रथम मानाजाता है, तो वैसे ही दीर्घ-ग्रहण किसकी अपेक्षा से होगा ? क्योंकि दीर्घ अभीतक अनापेक्षिक है। ऐसी दशा में इन दोनों के अन्योन्याश्रय होने से एक के अभाव में दूसरे का अभाव होने के कारण दोनों का अभाव होजायगा। इसप्रकार अपेक्षा के आधार पर वस्तु की व्यवस्था अनुपपन्न होजाती है। तब वस्तु को स्वरूपसिद्ध मानना प्रामाणिक है।

इसके विपरीत यदि वस्तु को स्वरूपसिद्ध नहीं मानाजाता, तो जो द्रव्य परस्पर सम (वराबर) हैं उनमें, अथवा दो परमाणुओं में-जो सर्वथा सम होते हैं-ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार होना चाहिये। क्योंकि वादी परस्पर-सापेक्षता को ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार का प्रयोजक मानता है, तथा सम द्रव्यों में सापेक्षता विद्यमान रहती है; क्योंकि समता का निर्देशन परस्पर-सापेक्षता से होता है। परन्तु सम द्रव्यों में ह्रस्व-दीर्घ-व्यवहार न देखाजाता है, न प्रमाणसिद्ध है। यह स्थिति उनकी स्वरूपसिद्धि को प्रमाणित करती है। इससे उनका तुच्छ होना सम्भव नहीं।

वादी कहसकता है-ह्रस्व-दीर्घ आदि की-सापेक्षता और निरपेक्षता, ये-दोनों स्थितियाँ स्वीकार करलेनी चाहियें। उस दशा में सापेक्ष होने से वस्तु की तुच्छता सिद्ध होती है; और निरपेक्ष होने से अन्योन्याश्रय-दोष का निराकरण होजाता है। इससे ह्रस्व और दीर्घ, दोनों के अभाव की आपत्ति का अवसर भी दूर होजाता है।

वादी द्वारा पक्ष में निरपेक्षता को स्वीकार करलेने पर भी दोष पूर्ववत् बना रहता है। यदि ह्रस्व-दीर्घ की स्थिति निरपेक्ष है, तो ह्रस्व-दीर्घ द्रव्यों में

सभता की प्रतीति होना प्राप्त होजाता है। क्योंकि द्रव्य में ह्रस्व-दीर्घता रूप विशेषता का ग्रहण ग्रन्य की ग्रपेक्षा से होसकता है। ग्रापेक्षिक न होने पर ह्रस्व-दीर्घ दोनों द्रव्य-सम प्रतीत होने चाहियें; ह्रस्व-दीर्घता का ग्रहण न होना चाहिये; जबकि प्रत्येक ग्रवस्था में वस्तु स्व-रूप का परित्याग न कर स्थिर बनी रहती है। तब ह्रस्व-दीर्घ ग्रादि विशेषता के गृहीत होने से उक्त मान्यता युक्त प्रतीत नहीं होती।

सापेक्ष मानने पर ह्रस्व-दीर्घ ग्रादि द्रव्यों की विशेषता का ग्रहण होना तो सम्भव है, परन्तु इसमें पूर्वोक्त ग्रन्योन्याश्रय-दोष के ग्राधार पर ह्रस्व-दीर्घ दोनों के ग्रभाव की ग्रापत्ति सामने उपस्थित रहती है। इसलिये पदार्थों की स्व-रूपसिद्धि को स्वीकार करना ही चाहिये।

यदि भाव स्वरूपसिद्ध हैं, तो ग्रपेक्षासामर्थ्य-ग्रपेक्षा का प्रयोजन क्या होगा ? क्योंकि पदार्थ का ह्रस्व-दीर्घ होना ग्रपेक्षा पर ग्राधारित है, यही उसका सामर्थ्य-प्रयोजन है। यदि पदार्थ स्वरूपसिद्ध है, स्वरूप से ही वह ह्रस्व-दीर्घ-रूप में विद्यमान है, तो ग्रपेक्षा व्यर्थ है।

दो पदार्थों का ज्ञान होने के समय उनके किसीप्रकार के ग्रतिशय-विशेषता के ग्रहण में ग्रपेक्षा निमित्त है, यही ग्रपेक्षा का सामर्थ्य-प्रयोजन समझना चाहिये। वस्तु का स्वरूप जैसा है, ग्रपेक्षा-ग्रनपेक्षा दोनों ग्रवस्थाग्रों में ठीक वैसा ही बना-रहता है। दो वस्तुग्रों के ग्रहण के ग्रवसर पर ग्रपेक्षा उनकी किसी विशेषता का केवल बोध कराने में निमित्त रहती है। वस्तु के स्वरूप ह्रस्व, दीर्घ व सम-भाव की उत्पत्ति में उसका कोई सहयोग नहीं होता; वह वस्तु-स्वरूप बोध होने से पूर्व विद्यमान है। फलतः ग्रपेक्षा का सामर्थ्य-प्रयोजन विद्यमान ह्रस्व-दीर्घ ग्रादि का निश्चयात्मक ज्ञान कराना मात्र है। इस विवेचन के ग्राधार पर यह निर्धा-रित होजाता है, कि पदार्थ केवल ग्रभाव नहीं है ॥ ४० ॥

संख्यैकान्तवाद—कतिपय विचार संख्या के ग्राधार पर निरूपित किये-जाते हैं, जैसे–सब पदार्थों में 'सद्भाव' समान होने से सब एक है–सत्। पदार्थों में केवल दो प्रकार सम्भव हैं–नित्य ग्रौर ग्रनित्य। ग्रतः दो पदार्थ मानना युक्त है। पदार्थों का विभाजन तीन प्रकारों में देखाजाता है–ज्ञाता, ज्ञेय, ज्ञान। यह विभाजन चार प्रकार का भी होसकता है–प्रमाता, प्रमाण, प्रमेय, प्रमिति। ऐसी ग्रन्य कल्पना भी कीजासकती हैं।जैसे–स्कन्ध (रूप, संज्ञा, संस्कार, वेदना, ग्रनुभव) रूप में पाँच पदार्थ हैं, ग्रथवा भूतों के रूप में पाँच पदार्थ हैं। द्रव्यादिरूप में छह पदार्थ हैं। ग्रभाव को जोड़कर सात हैं, इत्यादि। इनकी परीक्षा करने की भावना से ग्राचार्य सूत्रकार ने कहा—

संख्यैकान्तासिद्धिः कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ४१ ॥ (३८५)

[संख्यैकान्तासिद्धिः] संख्या के आधार पर किसी एक सिद्धान्त की सिद्धि युक्त नहीं, [कारणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्] कारणों की अनुपपत्ति और उपपत्ति से (किसी पदार्थ की असिद्धि अथवा सिद्धि होने के कारण)।

किसी पदार्थ का होना या न होना उसके कारणों पर आधारित है। यदि उसके कारण–साधक प्रमाण उपपन्न हैं, तो वह पदार्थ मानाजायगा, यदि प्रमाण अनुपपन्न हैं, असिद्ध हैं, तो वह अमान्य होगा। परीक्षा करनी चाहिये–संख्या के आधार पर पदार्थ का एक, दो, तीन आदि होना सम्भव है, या नहीं?

पहली मान्यता है–पदार्थ एक है। इसकी सिद्धि के लिये साधक-प्रमाण का होना आवश्यक है। साध्य और साधन कभी एक नहीं होसकते। साध्य-साधन का परस्पर-भेद निश्चित है। 'सब एक है' यह साध्य है; इसका साधन निश्चितरूप में इससे भिन्न होगा। तब 'सब एक है' यह मान्यता असंगत होगी, क्योंकि उससे अतिरिक्त उसका 'साधन' विद्यमान रहता है। यदि साधन अति-रिक्त नहीं है, तो साधन के अभाव में साध्य असिद्ध होगा। तब भी उक्त मान्यता का असंगत होना स्पष्ट है। इसप्रकार यह रस्सी की फाँस दोनों ओर से उक्त मान्यता को जकड़ लेती है।

उक्त वादों के प्रत्याख्यान का यह प्रकार प्रत्येक वाद में लागू होजाता है। 'सब पदार्थ दो हैं' यह साध्य है; इसका साधन इससे अतिरिक्त होगा। तब 'सब दो पदार्थ हैं' यह मान्यता संगत न रहेगी, साधन की संख्या बढ़जायेगी। यदि साधन उसी के अन्तर्गत है, तो साध्य से अतिरिक्त साधन के अभाव में साध्य असिद्ध होगा, क्योंकि साधन के विना किसी अर्थ की सिद्धि नहीं होसकती।

यही प्रक्रिया तीन, चार आदि संख्याओं के आधार पर पदार्थों की मान्यता के विषय में लागू करलेनी चाहिये ॥ ४१ ॥

संख्यैकान्तवाद की असिद्धि के–वादी द्वारा–निराकरण की भावना को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

न कारणावयवभावात् ॥ ४२ ॥ (३८६)

[न] नहीं (युक्त, संख्यैकान्तवाद की उक्त असिद्धि), [कारणावयव-भावात्] कारण के (स्वीकृत वाद का ही) अवयव-अंश होने से।

संख्यैकान्तवाद की असिद्धि युक्त नहीं है; क्योंकि साधन स्वीकृतवाद का अंश होता है, उससे अतिरिक्त नहीं। एक अर्थ का कोई अंश साध्य और कोई अंश साधन होसकता है। प्रत्येक स्वीकृत वाद में ऐसा होना सम्भव है। साध्य अवयवी और साधन अवयवरूप है। अवयव-अवयवी में अभेद होने से साधन भी साध्य से अभिन्न रहता है; इसलिये वाद को स्वीकृत संख्या में कोई अन्तर नहीं आता ॥ ४२ ॥

आचार्य सूत्रकार वादी की उक्त भावना का निराकरण करता है—

निरवयवत्वादहेतुः ।। ४३ ।। (३८७)

[निरवयवत्वात्] अवयव-रहित होने से (एक तत्त्व के, अथवा स्वीकृत वाद की इकाई के), [अहेतुः] उक्त (कारणावयवभावात्) हेतु ठीक नहीं है ।

तत्त्व के एकमात्र होने पर उसमें अवयव की कल्पना निराधार है । जब 'सर्वं एकम्–सब एक है' इस रूप में प्रतिज्ञा कीजाती है, तब उससे बाहर कुछ शेष नहीं रहता। प्रतिज्ञात अर्थ साध्य है, साध्य का एकदेश–अवयव कभी साधन नहींहो सकता । इसके साथ यह भी ज्ञातव्य है कि जहाँ अवयव की कल्पना होती है, वहाँ वस्तु का एकमात्र होना असम्भव है; क्योंकि प्रत्येक अवयव अपने रूप में एक स्वतन्त्र इकाई होने से वस्तु की एकमात्रता को नष्ट करदेता है । अवयव की सम्भावना अनित्य द्रव्य में कीजाती है, यह भी ध्यान रखना चाहिये । एकमात्र द्रव्य की मान्यता में यदि उसे अनित्य मानाजाता है, तो उसकी एकता स्वतः नष्ट होजाती है ।

अन्य वादों में भी यह स्थिति समझलेनी चाहिये । पदार्थों का नित्य-अनित्य होना, उनका केवल प्रकार-भेद है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि पदार्थ केवल दो इकाइयों में पूरा होजाता है । नित्य पदार्थ अनेक हैं; और अनित्य पदार्थ भी संख्या की दृष्टि से अनन्त कहेजासकते हैं । तब 'पदार्थ दो हैं' कहना असंगत होजाता है । पदार्थों के तीन या चार मानने में असंगति का प्रकार गत सूत्र [४ । १ । ४१] में कहदियागया है ।

संख्यैकान्तवाद में एक, दो, तीन, चार आदि संख्याओं के अनुरूप पदार्थों की मान्यता इस रूप में भी प्रकट कीजासकती है—

१. एक ब्रह्मतत्त्व अथवा आत्मतत्त्व–एकदेशी औपनिषद । इस मान्यता को अनन्तर काल में बौद्ध आचार्यों ने शून्य-एकतत्त्व के रूप में तथा गौड़पाद एवं शङ्कर आदि आचार्यों ने निष्कल ब्रह्मतत्त्व के रूप में स्वीकृत व प्रचारित किया ।

२. पुरुष और प्रकृति दो तत्त्व–एकदेशी सांख्य वार्षगण्य एवं उसके अनुयायी सांख्याचार्य । ये आचार्य 'पुरुष'-पद से केवल जीवात्मतत्त्व को स्वीकार करते हैं; तथा चेतन (पुरुष) एवं अचेतन (जड़-प्रकृति) के रूप में केवल दो प्रकार के तत्त्व स्वीकार करते हैं ।

३. ईश्वर, जीवात्मा, प्रकृति तीन तत्त्व–प्राचीन कपिल, पतञ्जलि आदि सांख्य-योगाचार्य, एवं वेदानुयायी विद्वान् । कपिल आदि आचार्य 'पुरुष' और 'प्रकृति' पदों से विवेचित तत्त्वों में 'पुरुष'-पद से ईश्वर और जीवात्मा दोनों चेतन तत्त्वों का ग्रहण करते हैं । यह ईश्वर वही तत्त्व है, जिसको 'ब्रह्म' व 'आत्मा' आदि पदों से अन्यत्र प्रकट कियागया है । 'आत्मा' पद जीवात्म-तत्त्व

का भी बोधक होने के कारण उससे भेद करने के लिए 'ईश्वर' अर्थ का बोध 'परम' विशेषण लगाकर 'परमेश्वर' अथवा 'परमात्मा' पद से करायाजाता है। कपिल आदि आचार्यों ने तत्त्व-त्रय का उपपादन वेदों के आधार पर प्रस्फुटित किया है।

४. पृथिवी, जल, तेज, वायु, चार मूल तत्त्व–बृहस्पति आदि आचार्य। इस विचार को चार्वाक आदि आचार्यों ने व्याख्यात व प्रचारित किया।

५. उक्त चार तत्त्वों में एक आकाश तत्त्व को जोड़कर पाँच भूततत्त्व–समस्त भौतिकवादी आचार्य; इनमें आर्हत भी अन्तर्गत हैं।

६. द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय, ये छह पदार्थ अथवा तत्त्व-कणाद, तथा उसके अनुयायी आचार्य।

७. उक्त छह पदार्थों में 'अभाव' नामक पदार्थ को जोड़कर सात पदार्थ–वैशेषिक विद्वान्। संख्या छह-सात में कथित मान्यता का मूल उद्बोधक आचार्य कणाद है। विभिन्न व्याख्याताओं के विचारों के अनुसार यहाँ उसे दो भागों में प्रस्तुत करदिया है।

प्रावादुक मान्यताओं के विवेचन का यह प्रसंग प्रारम्भ में जगत् के मूल उपादान तत्त्व की परिशुद्धि एवं उसकी स्पष्टता का बोध कराने के लिए प्रस्तुत कियागया; परन्तु आगे चलकर विचार-परम्परा में यह खोया-सा गया है; अपने मूल ध्येय से बिखर-सा गया प्रतीत होता है। फलस्वरूप जगत् के मूल उपादान-तत्त्व-विवेचन के अतिरिक्त अन्य कारण-तत्त्वों तथा प्रासंगिक विचारों का भी विवेचन इसमें आगया है।

प्रस्तुत संख्यैकान्तवाद में जिन मान्यताओं का गत पंक्तियों में उल्लेख हुआ है, उनमें पहली मान्यता केवल एक चेतन तत्त्व को जगत् का मूल मानकर उसके विस्तार की व्याख्या करती है। चौथी और पाँचवीं संख्याओं पर निर्दिष्ट मान्यताएँ जगत् के मूल में केवल जड़तत्त्व को मानकर उसकी व्याख्या प्रस्तुत करती हैं। इन मान्यताओं में यथाक्रम चेतन से जड़ की सृष्टि, तथा जड़ से चेतन की सृष्टि को स्वीकार कियागया है। शेष मान्यताओं में चेतन और जड़ की स्वतन्त्र स्थिति को स्वीकार कियागया है। ये दोनों प्रकार के तत्त्व एक-दूसरे से पृथक् हैं, तथा अपने अपेक्षित कार्य को निबाहते हुए मिलकर जगत् के निर्माण में कारण होते हैं। इस कार्य-कारणभाव की परिशुद्धि के लिए यह प्रावादुक मान्यताओं का विवेचन प्रस्तुत कियागया है।

इस विवेचन का सार इतना है–यदि ये संख्यैकान्तवाद–अपने विशिष्ट कारणों से अभिव्यक्त अर्थभेद के विस्तार (अनन्त रूपों में विभक्त जगत् के विस्तार) का--प्रत्याख्यान करने के लिए प्रवृत्त होते हैं, तो ये प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द आदि समस्त प्रमाणों के विरुद्ध होने से सर्वथा मिथ्यावाद एवं अमान्य हैं।

यदि ये जगत् के रूप में अर्थभेद के विस्तार को स्वीकृत करते हैं, तो अनेक सामान्य धर्मों के आधार पर–जगत् के इस अनन्त विस्तार को किन्हीं थोड़े-से वर्गों में परिगणित व परिसीमित करने की व्यवस्था होसकती है। जैसे–सभी विविध पदार्थों का 'सद्भाव' समान है। इस 'सत्ता' समान धर्म के कारण विविध प्रकार के अनेक पदार्थ एक वर्ग में आजाते हैं; तथा अपने विशेष कारणों से अभिव्यक्ति द्वारा एक इकाई-रूप में सब एक-दूसरे से भिन्न हैं। इसप्रकार एक (सत्ता-सामान्य द्वारा), अथवा कतिपय परिगणित वर्गों (द्रव्यत्व, गुणत्व आदि; एवं गोत्व, अश्वत्व आदि) में समस्त विश्व का संग्रह कियाजासकता है। ऐसी स्थिति में पदार्थों की संख्या का नियम (संख्यैकान्तवाद) निराधार व अमान्य होजाता है, अपने अस्तित्व को छोड़बैठता है। प्रवादों की यह परीक्षा इसप्रकार तत्त्वज्ञान के विवेचन में प्रतिफलित होजाती है ॥ ४३ ॥

फल-परीक्षा—प्रेत्यभाव की परीक्षा के अनन्तर अब 'फल' प्रमेय की परीक्षा क्रमप्राप्त है। उस विषय में सूत्रकार ने जिज्ञासु शिष्य की भावना को सूत्रित किया—

सद्यः कालान्तरे च फलनिष्पत्तेः संशयः ॥ ४४ ॥ (३८८)

[सद्यः] जल्दी, [कालान्तरे] अन्य काल में (अर्थात् विलम्ब से) [च] और [फलनिष्पत्तेः] फल-सिद्धि होने के कारण [संशयः] सन्देह होता है (व्यवस्थित फलप्राप्ति के विषय में)।

कार्य करने पर फल-प्राप्ति की कोई नियत व्यवस्था नहीं है। कभी फल जल्दी प्राप्त होजाता है, कभी विलम्ब से। ऐसी दशा में यह सम्भव है–कभी फल प्राप्त न भी हो। व्यक्ति खाना पकाता है, गाय दुहता है; इस कार्य का फल तत्काल उसे प्राप्त होजाता है। भोजन पकाकर उसका उपभोग करता है, गाय दुहकर दूध पाता है। कुछ कार्यों का फल विलम्ब से मिलता है। किसान खेत जोतता है, बीज बोता है। उसका फल महीनों के अनन्तर प्राप्त होता है; किसान प्रभूत अन्नराशि पाजाता है।

लौकिक कार्यों के अतिरिक्त कतिपय शास्त्रीय कर्म हैं, 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः'–स्वर्ग की इच्छा रखनेवाला व्यक्ति अग्निहोत्र होम करे। इच्छुक व्यक्ति इसका अनुष्ठान करता है। विलम्ब से भी चालू जीवन में ऐसे अनुष्ठान का फल न मिलने के कारण सन्देह होता है–इसका फल मिलता है, या नहीं? फलतः यह व्यवस्था नहीं है कि कर्म-फल नियमपूर्वक मिलता हो ॥ ४४ ॥

आचार्य सूत्रकार उक्त जिज्ञासा का समाधान करता है—

न सद्यः कालान्तरोपभोग्यत्वात् ॥ ४५ ॥ (३८९)

[न] नहीं [सद्यः] जल्दी (प्राप्त होता, यज्ञानुष्ठान का फल), [कालान्तरोपभोग्यत्वात्] कालान्तर में–विलम्ब से उपभोग्य होने के कारण ।

यज्ञादि कर्मानुष्ठानों का फल जल्दी इसी जीवन में प्राप्त नहीं होता । शास्त्रों में उल्लेख है–यागानुष्ठान आदि का फल स्वर्ग में प्राप्त होता है । इस देह के छूट जाने पर देहान्तर की प्राप्ति उस व्यक्ति को सवप्रकार के सुख-साधन-सम्पन्न घरों में होती है, जिसने यागादि अनुष्ठान पूर्व-जीवन में किया होता है । स्वर्ग उस सुखविशेष का नाम है, जो असाधारण अवस्था में प्राप्त होता है ।

शास्त्र में कतिपय ऐसी इष्टियों का विधान है, जिनके अनुष्ठान का फल इसी जीवन में प्राप्त होता है । उनमें ग्रामकाम इष्टि, तथा पुत्रकाम इष्टि का नाम लियाजासकता है । जो व्यक्ति भू-सम्पत्ति की तथा पुत्र की कामना करता है, उसे उक्त इष्टियों का अनुष्ठान करने से इसी जीवन में अनुकूल फल की प्राप्ति होजाती है । इससे शेष शास्त्रीय यागों के अनुष्ठान से अनुकूल फलप्राप्ति का अनुमान कियाजासकता है । भले ही वह अन्य जीवन में प्राप्त हो ॥ ४५ ॥

फलप्राप्ति कालान्तर में कैसे—विलम्ब से होनेवाली फलप्राप्ति के विषय में शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया—

कालान्तरेणाऽनिष्पत्तिर्हेतुविनाशात् ॥ ४६ ॥ (३९०)

[कालान्तरेण] कालान्तर-विलम्ब से [अनिष्पत्तिः] निष्पत्ति-सिद्धि-प्राप्ति नहीं (होनी चाहिये, फल की) [हेतुविनाशात्] हेतु–कर्म का विनाश होजाने से (तथाकथित फलप्राप्तिकाल से बहुत पहले ही) ।

यज्ञादि से होनेवाले सुखादि फलों की प्राप्ति का कारण यज्ञानुष्ठान है । वह यज्ञानुष्ठान-क्रिया के अनन्तर समाप्त होजाता है, नष्ट होजाता है । यदि उसका फल तत्काल न मिलकर विलम्ब से मिलने की बात कहीजाती है, तो वह युक्त प्रतीत नहीं होती । क्योंकि तथाकथित फलप्राप्ति के समय फल का हेतु यज्ञ-कर्म नष्ट होचुका होता है । हेतु के अभाव में फल का होना मानाजाना अप्रामाणिक है । ऐसा मानने से सब कार्य-कारण व्यवस्था का विलोप होजायगा । इसलिए यज्ञादि अनुष्ठानों की फलप्राप्ति के विषय में संशय तदवस्थ बना रहता है ॥ ४६ ॥

आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया—

प्राङ् निष्पत्तेर्वृक्षफलवत् तत्स्यात् ॥ ४७ ॥ (३९१)

[प्राक्] पहले [निष्पत्तेः] निष्पत्ति-सिद्धि से (फलप्राप्ति की) [वृक्षफलवत्] वृक्ष के फल के समान [तत्] वह (कर्मफल) [स्यात्] होता है (ऐसा समझना चाहिये) ।

जो व्यक्ति वृक्ष से उसके फल लेना चाहता है, वह वृक्ष की जड़ में अनुकूल खाद आदि डालता है, अन्य खरपत-घास-कवाड़ को पेड़ की जड़ के आस-पास पनपने नहीं देता, उन्हें उखाड़ता रहता है; समय-समय पर जड़ में जल सींचता है। ये सब जल-सेचन आदि क्रिया अपने अनुष्ठान के अनन्तर नष्ट होजाती हैं। परन्तु सिञ्चित जल आदि का वृक्ष-फल के साथ सम्बन्ध को समझना चाहिये। यह ठीक है–कारण के अभाव में कार्य नहीं होसकता। सेचन आदि क्रियाओं के न रहने पर कालान्तर में वृक्ष से फल प्राप्त होता है। यदि सेचन आदि क्रिया न कीजायें, तो न वृक्ष परिपुष्ट होगा, न फल प्राप्त होगा। इससे फल की उत्पत्ति और सेचन आदि क्रियाओं के परस्पर कार्य-कारणभाव का पता लगता है। असम्बद्ध कारण कार्य को उत्पन्न नहीं करसकता, तब सिञ्चित जल आदि कारणों का फलोत्पत्ति-कार्य से सम्बन्ध का जानना आवश्यक होजाता है।

खाद व सिञ्चित जल आदि उस भूभाग में सम्मिश्रित होजाते हैं, जहाँ वृक्ष पौधे के रूप में रोपागया है। वे जड़ों के समीप पहुँचकर वहाँ की ऊष्मा से अनुकूल रसों के रूप में परिवर्त्तित होते हैं। तब वृक्ष की जड़ें उन अपने अनुकूल रसों को अपने अन्दर आकृष्ट करती हैं, उन्हें चूसजाती हैं। वृक्ष में पहुँचे हुए, एवं व्याप्त हुए वे द्रव्यभूत रस वृक्ष की विशिष्ट पाकक्रिया के अनुरूप यथास्थान सन्निविष्ट होकर पत्ते, फूल, फल आदि की उत्पत्ति में सहायक होते हैं। इस-प्रकार जल-सेचन आदि क्रिया के न रहने पर भी सिञ्चित जल आदि का सम्बन्ध ज्ञात होजाता है; इसके अनुसार वे क्रिया सफल मानीजाती हैं। यहाँ हेतु के अभाव में फलनिष्पत्ति नहीं है। सिञ्चित जल आदि परम्परा से अनुकूल रसादि के रूप में परिर्वात्तत होते हुए फलोत्पत्ति में कारण होते हैं।

इसीप्रकार यागादि शुभ तथा अन्य अशुभ कर्मों के अनुष्ठान से कर्त्ता आत्मा में धर्म-अधर्मरूप संस्कार उत्पन्न होजाते हैं। तात्पर्य है–अनुष्ठान पूरा होकर आत्मगत धर्म-अधर्म के रूप में उभर आते हैं। आत्मा में व्यवस्थित वे धर्म-अधर्म कालान्तर में फलोत्पत्ति के सहयोगी साधनों के मिलने पर सुख-दुःख-रूप फल को उत्पन्न करदेते हैं। इससे कर्मों की फलप्राप्ति के विषय में कोई सन्देह नहीं होनाचाहिये। कर्मफल का विवरण 'पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः' [३।२।६२] सूत्र के प्रसंग में भी दियागया है ॥ ४७ ॥

फल-उत्पत्ति से पूर्व असत्—फल अर्थात् कार्य की उत्पत्ति के प्रसंग से इस समय एक अन्य विचार-चर्चा का लक्ष्य बनकर सामने आगया–यह उत्पन्न होनेवाला कार्य अपनी उत्पत्ति से पूर्व सत् है? असत् है? अथवा सत्-असत् उभयरूप है? या अनुभयरूप? न सत् न असत्। इन सब पक्षों को उपस्थित कर आचार्य उत्पत्ति से पहले कार्य के अभाव का उपपादन करना चाहता है। इस भावना से सूत्रकार ने प्रथम सब पक्षों को प्रस्तुत किया—

नासन्न सन्न सदसत् सदसतोर्वैधर्म्यात् ॥ ४८ ॥ (३६२)

[न] नहीं [असत्] अविद्यमान (कार्य, उत्पत्ति से पहले), [न] नहीं [सत्] विद्यमान, [न] नहीं [सद्-असत्] विद्यमान तथा अविद्यमान [सद्-असतोः] विद्यमान और अविद्यमान के (परस्पर) [वैधर्म्यात्] विरुद्धधर्मवाला होने से।

कार्य-उत्पत्ति से पूर्व असत्-उत्पत्तिधर्मक कोई कार्य अपनी उत्पत्ति से पहले असत् नहीं होता। उत्पत्ति से पूर्व भी वह विद्यमान रहता है। प्रत्येक उत्पद्यमान कार्य के लिए उसके उपादान-कारण के विषय में एक नियम है, व्यवस्था है। किसी कार्य के लिए किन्हीं विशेष कारणों का उपादान कियाजाता है। कारणसामग्री उपादाता जानता है-मिट्टी से घट, पीतल आदि धातु से कलश, एवं तन्तुराशि से वस्त्र की उत्पत्ति होती है। वह उन-उन कार्यों के लिए उन्हींका उपादान करता है। इससे उन कारणों में उन कार्यों की विद्यमानता परिलक्षित होती है। यदि कारणों में उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वात्मना अविद्यमान हो, तो कार्याभाव के सर्वत्र समानरूप से होने की स्थिति में प्रत्येक कार्य प्रत्येक कारण से उत्पन्न होजाना चाहिये; परन्तु ऐसा नहीं होता। घट मिट्टी से ही होता है, तन्तु से नहीं। वस्त्र तन्तु से ही होता है, मिट्टी से नहीं। इससे उन कारणों में उत्पत्ति से पूर्व भी किसी रूप में कार्य की विद्यमानता जानीजाती है। यह पक्ष 'सत्कार्यवाद' कहाजाता है।

इसके विपरीत दूसरा पक्ष–असत्कार्यवाद है। इसकी मान्यता है–उत्पत्ति से पूर्व कार्य विद्यमान नहीं रहता। यदि कार्य उत्पत्ति से पहले विद्यमान है, तो उसकी उत्पत्ति होना अनुपपन्न है। विद्यमान की उत्पत्ति कैसी ?

तीसरा पक्ष–सदसद्वाद है। इस वाद में उत्पत्ति से पूर्व कार्य की किसी रूप में सत्ता और किसी अन्य रूप में असत्ता मानीजाती है। परन्तु इस मान्यता में यह शिथिलता है कि एक वस्तु विद्यमान हो, और साथ ही अविद्यमान भी; यह सम्भव प्रतीत नहीं होता। क्योंकि 'सत्' का स्वरूप है–वस्तु की विद्यमानता को स्वीकार करना; और 'असत्' का स्वरूप–वस्तु का प्रतिषेध करना। 'स्वीकार' और 'प्रतिषेध' ये दोनों परस्पर-विरुद्ध स्थितियाँ हैं। इनका एक अधिकरण में साथ रहना अनुपपन्न है ॥ ४८ ॥

तीनों पक्षों को प्रस्तुतकर सूत्रकार अपना अभिमत बताता है–उत्पत्ति से पूर्व कार्य असत् रहता है। हेतु दिया—

उत्पादव्ययदर्शनात् ॥ ४९ ॥ (३६३)

[उत्पादव्ययदर्शनात्] उत्पाद-उत्पत्ति तथा व्यय-विनाश देखेजाने से (कार्यमात्र का)।

कार्य की उत्पत्ति देखीजाती है। यह एक नये रूप में वस्तु का प्रकट,

प्रादुर्भाव होना है। वस्तु का यह रूप पहले कभी प्रकट में नहीं आया, इसलिए उत्पत्ति से पूर्व इसे अविद्यमान मानना चाहिये। उत्पत्ति के अनन्तर कालान्तर में उत्पन्न वस्तु का विनाश देखाजाता है। उत्पन्न वस्तु का वह रूप एक बार नष्ट होकर फिर कभी उभार में नहीं आता। यह स्थिति उत्पत्ति से पूर्व वस्तु की अविद्यमानता को स्पष्ट करती है। जिन किन्हीं कारणों से जो रूप आगे अभिव्यक्त होगा, वह वही रूप नहीं होसकता, जो एकवार नष्ट होचुका है। पहले के समान होसकता है, पर वही नहीं। इसलिए उत्पत्ति से पहले और विनाश के पश्चात् कार्य की असत्ता-अविद्यमानता उपपन्न होती है ॥ ४९ ॥

उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सत्ता—उत्पत्ति से पूर्व कार्य की सर्वात्मना असत्ता मानने पर कार्य-कारणभाव की व्यवस्था बिखरजाती है। किसी विशिष्ट कार्य के लिए नियत उपादान-तत्त्वों के ग्रहण करने का कोई आधार नहीं रहता, जो सत्कार्यपक्ष में उपादाननियम हेतु से प्रथम प्रकट कियागया है। इसको स्पष्ट करने के लिए आचार्य सूत्रकार ने बताया—

बुद्धिसिद्धं तु तदसत् ॥ ५० ॥ (३९४)

[बुद्धिसिद्धम्] बुद्धिसिद्ध [तु] तो (होता है) [तत्] (वह उत्पत्ति से पूर्व) [असत्] अविद्यमान कार्य।

उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमान कार्य की बुद्धिसिद्ध सत्ता तो रहती है। कारणों के सन्निवेश-विशेष से उत्पन्न कार्य का जो आकार-प्रकार अभिव्यक्ति में आता है, उस कार्य को अभिव्यक्त व उत्पन्न करने में कौनसे कारण समर्थ हैं, यह कर्त्ता की बुद्धि द्वारा सिद्ध-निश्चित-निर्धारित होता है। किसी कार्य का कर्त्ता-निर्माता कार्य की उत्पत्ति व निर्माण से पूर्व इस बात को असन्दिग्धरूप में जानता है कि अमुक कार्य के लिए किन कारणों का उपादान करना चाहिये। उन कारणों से किस आकार-प्रकार का कार्य उभारना है, यह भी वह जानता है। जो आकार-प्रकार निर्माण के अनन्तर अभिव्यक्ति में आता है, ठीक वही आकार-प्रकार निर्माता को निर्माण के पूर्व कारणतत्त्वों में बुद्धि द्वारा दृष्टिगोचर होता है। वह रचना पूर्ण ज्ञानपूर्वक होती है, अकस्मात् नहीं निकल आती। उत्पत्ति से पूर्व अविद्यमान कार्य के बुद्धिसिद्ध होनेका यही तात्पर्य है। कहा-जासकता है—उत्पत्ति के अनन्तर कार्य जिस आकार-प्रकार में अभिव्यक्त हुआ है, उससे पूर्वकाल में वह अनभिव्यक्त रहता है। यही उसकी अविद्यमानता-असत्ता का स्वरूप है।

इससे परिणाम निकलता है—उत्पत्ति से पूर्व कार्य सर्वात्मना असत् नहीं होता। कारण में अनभिव्यक्तरूप से विद्यमान कार्य की सत्ता को निर्माता अपनी बुद्धि द्वारा देखता है, और निर्माण के अनन्तर उसे अभिव्यक्त करलेता है। ईंट

तथा अन्य गृहसामग्री के ढेर में गृहशिल्पी को–बनायेजानेवाले–घर का पूरा आकार-प्रकार दिखाई देता है। उसीके अनुसार सामग्री के सन्निवेश से वह उसको उभारलेता है। कार्य की उत्पत्ति के लिए कारणसामग्री के उपादान-नियम का यही आधार है। कारण में कार्य अनभिव्यक्त–अनुत्पन्न रहता है; यदि पहले ही अभिव्यक्त–उत्पन्न हो, तो उसकी उत्पत्ति व अभिव्यक्ति अनावश्यक है ॥ ५० ॥

फलप्राप्ति में वृक्षफल दृष्टान्त असंगत—प्रसंगागत चर्चा को पूराकर 'वृक्षफलवत्' [सूत्र ४७] दृष्टान्त के आधार पर कालान्तर से फलप्राप्ति के विषय में शिष्य द्वारा उद्भावित आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

आश्रयव्यतिरेकाद् वृक्षफलोत्पत्तिवदित्यहेतुः ॥ ५१ ॥ (३९५)

[आश्रयव्यतिरेकात्] आश्रय के भेद से [वृक्षफलोत्पत्तिवत्] वृक्षफल की की उत्पत्ति के समान (अग्निहोत्रादिकर्मफल कालान्तर में सम्भव है), [इति] यह [अहेतुः] साधक नहीं है (अभिलषित का)।

जलसेचन व खाद आदि का प्रयोग वृक्ष के मूल में कियाजाता है; और फल भी वृक्ष पर लगता है; दोनों (जलसेचन आदि तथा फलोत्पत्ति) का आश्रय एक वृक्ष है। परन्तु अग्निहोत्र आदि कर्म और उसके फल में यह स्थिति नहीं है। कर्म इस चालू शरीर से कियाजाता है, तथा फल–इस शरीर के नष्ट होजाने के अनन्तर जन्मान्तर में–अगला शरीर मिलने पर प्राप्त होता है। इसमें कर्म और फल के आश्रय का भेद होजाता है। इसलिए उक्त दृष्टान्त अग्निहोत्र आदि कर्म के कालान्तर में होनेवाले फल का साधक नहीं होसकता ॥ ५१ ॥

कर्मफल कालान्तर में कैसे—आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

प्रीतेरात्माश्रयत्वादप्रतिषेधः ॥ ५२ ॥ (३९६)

[प्रीतेः] प्रीति के–सुख के [आत्माश्रयत्वात्] आत्माश्रय होने से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध (कर्मफलप्राप्तिविषयक) संगत नहीं है।

प्रीति-सुख आत्मा का गुण है; आत्मा उसका प्रत्यक्ष अनुभव करता है, यह सब जानते हैं। अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठाता आत्मा होता है। शरीर आदि उसके कार्यों में साधनमात्र हैं। अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान से जो धर्म-अधर्मरूप अदृष्ट उत्पन्न होता है, उसका आश्रय आत्मा है। इसलिये अग्निहोत्र आदि का अनुष्ठाता आत्मा अग्निहोत्रजनित धर्म का आश्रय होता है, तथा धर्म से जनित सुख का आश्रय भी आत्मा है, वही उस सुख का भोग करता है। इन सबका आश्रय एक होने के कारण शरीर के आधार पर आश्रयभेद की कल्पना असंगत

होने से उक्त प्रतिषेध अनुपपन्न है। कर्म करनेवाला आत्मा कालान्तर में कर्म-जनित सुख-रूप फल को प्राप्त करता है, अन्य कोई नहीं ॥ ५२ ॥

कर्म का फल सुख नहीं—शिष्य जिज्ञासा करता है—कर्म-फल के रूप में लोक तथा शास्त्र पुत्र, पशु, स्त्री, सम्पदा आदि का परिगणन करता है, सुख का नहीं। वह कोई फल नहीं मानाजाना चाहिये। आचार्य ने शिष्य-जिज्ञासा को सूत्रित किया—

न पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफलनिर्देशात् ॥ ५३ ॥ (३९७)

[न] नहीं (सुख, कर्मों का फल) [पुत्रपशुस्त्रीपरिच्छदहिरण्यान्नादिफल-निर्देशात्] पुत्र, पशु, स्त्री, परिच्छद (–पारिवारिक सम्पदा), हिरण्य, अन्न आदि का फल के रूप में निर्देश होने से।

लोक के अतिरिक्त शास्त्र में भी याग का फल पुत्र आदि बताया है–'पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत'–पुत्रप्राप्ति की कामनावाला व्यक्ति पुत्रेष्टि से याग करे। इसीप्रकार पशु, हिरण्य, परिच्छद, अन्न आदि फल की प्राप्ति के लिये ग्राम (भूमि-सम्पत्ति) की कामना को लक्ष्य कर याग का विधान है–'ग्रामकामो यजेत'। भूसम्पत्ति प्राप्त होने पर पशु, अन्न आदि फल अनायास प्राप्त होते रहते हैं। इसलिये प्रीति (सुख) को याग आदि कर्म का फल बताना युक्त नहीं है ॥ ५३ ॥

सुख ही कर्म का फल—आचार्य ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

तत्सम्बन्धात् फलनिष्पत्तेस्तेषु फलवदुपचारः ॥ ५४ ॥ (३९८)

[तत्-सम्बन्धात्] उन (पुत्रादि) के सम्बन्ध से [फलनिष्पत्तेः] सुख-रूप फल की सिद्धि होने के कारण [तेषु] उन (पुत्र आदि) में [फलवत्] फल के समान (उपचारः] गौण व्यवहार होता है।

'पुत्र, स्त्री तथा अन्य समस्त साधन-सामग्री से–सम्बद्ध व्यक्ति को–सुख की प्राप्ति होती है, इसलिये यहाँ फल केवल सुख है। पुत्र आदि में फल का व्यवहार गौण है; इसलिये सुख और उसके कारण अदृष्ट (धर्म-अधर्म) का एक अधिकरण आत्मा है, इसमें किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। यह ऐसा ही गौण व्यवहार है, जैसे प्राण-साधन अन्न में 'प्राण' पद का गौण व्यवहार देखाजाता है–'अन्नं वै प्राणिनां प्राणाः' [माश–६।६।४।५॥२।२।१।६॥३।८।।४।८॥४।३।४।२५॥]–प्राणियों का प्राण अन्न है। वस्तुतः अन्न प्राण-जीवन नहीं, प्रत्युत जीवन का साधन है ॥ ५४ ॥

दुःख-प्रमेय की परीक्षा—प्रमेय सूत्र [१।१।९] में फल के अनन्तर दुःख का निर्देश है। अतः क्रमप्राप्त दुःख की परीक्षा कीजानी चाहिये। आचार्य

ने कहा है–'बाधनालक्षणं दुःखम्' [१ । १ । २१], बाधना, पीड़ा, ताप ही दुःख है । जिज्ञासा है–क्या यह उस सुख का अभावमात्र है–सुख का प्रतिषेध; जिस सुख का समस्त प्राणि-जगत् प्रत्यक्ष अनुभव करता है ? अथवा दुःख का अन्य कोई प्रकार है ? अन्य कोई विशिष्ट स्वरूप है ?

आचार्य का कहना है–दुःख अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है; सुख का प्रतिषेध नहीं है । तात्पर्य है–'दुःखमेव सर्वम्' कहकर शास्त्र ने समस्त संसार को जो दुःखरूप बताया है, उसके अनुसार प्रमेयसूत्र में दुःख का कथन क्या सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध करने की भावना से कियागया है ? अथवा दुःख का स्वतन्त्र अस्तित्व बोधन कराने के लिये कथन है ? इसमें आचार्य सूत्रकार को दूसरा विकल्प मान्य है । दुःख का उद्देश सुख के प्रतिषेध के लिये नहीं है । समस्त प्राणि-जगत् जिस सुख का प्रत्यक्ष अनुभव करता है, उसका प्रत्याख्यान कियाजाना अशक्य है । संसार में सुखानुभव को झुठलाया नहीं जा सकता–तब दुःख के उद्देश तथा 'दुःखमेव सर्वम्' का क्या तात्पर्य है ? इस कथन का क्या विशेष प्रयोजन है ? यह स्पष्ट होना चाहिये ।

आचार्य ने बताया–यह विशेषरूप से दुःख का उद्देश–संसार की ओर से मुँह मोड़कर–वैराग्य की भावना को जागृत करने के लिये कियागया है । जन्म-मरण का अनवरत क्रम दुःख का मूल है, इस दुःख से छुटकारा पाने की भावना से व्यक्ति सब ओर दुःख-ही-दुःख देखता है, तो उससे खिन्न होकर विरक्ति की ओर अग्रसर होजाता है । उसे दीखने लगता है–ये सब प्राणि-देह, सब लोक, सब योनियाँ, समस्त जन्म विविध प्रकार के दुःखों से सने हुए हैं; इनमें कोई ऐसा स्थान नहीं, जिसका दुःखों से साहचर्य न हो । इसीलिये ऋषियों ने दुःख को बाधना-पीड़ा-स्वरूप बताया है, और इस सबमें दुःख की भावना का उपदेश किया है । 'दुःखमेव सर्वं विवेकिनः' [पा० यो० २ । १५]–विवेकशील व्यक्ति के लिये यह सब ही दुःखमात्र है । इसी भावना से प्रस्तुत दुःख-प्रसंग में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः ॥ ५५ ॥ (३९९)

[विविधबाधनायोगात्] अनेक प्रकार के दुःखों का सम्बन्ध होने से [दुःखम्] दुःख [एव] ही है [जन्मोत्पत्तिः] जन्म का होना (पुनः-पुनः आत्मा का शरीर धारण करना) ।

शरीर, इन्द्रियाँ, और इन्द्रियों के द्वारा होनेवाले ज्ञान सब उत्पाद-विनाश-शील हैं । भूत-तत्त्वों के सन्निवेश-विशेष से शरीर आदि का प्रादुर्भाव होता है, यही उत्पत्ति अथवा जन्म है । शरीर आदि के साथ आत्मा का सम्बन्ध होने से आत्मा में जन्म का उपचार होजाता है । आत्मा स्वरूप से अजन्मा, अजर, अमर,

नित्य है। शरीर के साथ सम्बन्ध होने पर यह नाना प्रकार के दुःखों को भोगता है। वे दुःख–हीन, मध्यम, उत्कृष्ट आदि रूप में अनेक प्रकार के देखेजाते हैं। नारकी आत्माओं को उत्कृष्ट (महान्-गहरा) दुःख भोगना होता है। पशु-पक्षियों को मध्यम, तथा मनुष्यों को होनेवाले दुःख की मात्रा हीन मानीगई है। देवों (विद्वानों-ज्ञानियों) एवं वीतराग व्यक्तियों को होनेवाला दुःख हीनतर कहाजाता है। इसप्रकार कोई ऐसा उत्पत्तिस्थान नहीं, जो विविध दुःखों से सना हुआ न हो। इस वास्तविकता को समझते हुए व्यक्ति के मस्तिष्क में–ऐहिक सुख और सुख के साधन शरीर-इन्द्रिय आदि सब दुःख के मूल हैं–ऐसी भावना स्थिर होजाती है। यह भावना समस्त लौकिक सुख-साधनों के प्रति आकर्षण को समाप्त करदेती है; इससे उनके प्रति व्यक्ति की तृष्णा उच्छिन्न होजाती है। तृष्णा न रहने से वह सब दुःखों से छूटजाता है।

सांसारिक सुखों को ऐसा समझना चाहिये, जैसा विष मिला हुआ दूध। जो इस बात को जानता है–इस दूध में विष मिला हुआ है, वह उसको ग्रहण नहीं करता, और मृत्यु-दुःख से बचजाता है। जो इस तथ्य को नहीं जानता, वह विषयुक्त दूध का उपयोग करता है, और मृत्यु-दुःख को प्राप्त होता है। यही स्थिति सांसारिक सुखोपभोगों की है। इससे जन्म-मरण के अनवरत क्रम में आत्मा फँसा रहता है, तथा दुःख भोगता है॥ ५५॥

सुख भी है संसार में—संसार के दुःखमय विवरण का यह तात्पर्य नहीं कि सुख का नितान्त अस्तित्व संसार में नहीं है। दुःखों के बीच सुख बराबर प्राप्त हुआ करता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

सुखस्याप्यन्तरालनिष्पत्तेः॥ ५६॥ (४००)

[सुखस्य] सुख की [अपि] भी [अन्तरालनिष्पत्तेः] बीच-बीच में प्राप्ति से (संसार में सुख का अप्रत्याख्येय अस्तित्व है)।

पूर्वोक्त दुःख-विवरण से संसार में सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध नहीं होता। दुःखों के बीच में सुख प्राप्त होतारहता है। प्रत्येक शरीरी प्राणी इसका अनुभव करता है। ऐसे अनुभूयमान सुख से सर्वात्मना नकार नहीं कियाजा-सकता॥ ५६॥

आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में और बताया—

बाधनाऽनिवृत्तेर्वेदयतः पर्येषणदोषादप्रतिषेधः॥ ५७॥ (४०१)

[बाधनाऽनिवृत्तेः] दुःख की निवृत्ति न होने से [वेदयतः] जानते हुए व्यक्ति के (सुख-साधनों को) [पर्येषणदोषात्] पर्येषण–सुखप्राप्ति की अभिलाषा में बाधा-(रुकावट) रूप दोष से [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध नहीं होता (सुख के अस्तित्व का)।

संसार में प्राणी को दुःख निरन्तर लगा रहता है, इस कारण वैराग्य की भावना को जागृत करने के लिये सब वस्तुओं में दुःखरूप होने का उपदेश कियाजाता है; सुख का सर्वथा अभाव होने के कारण नहीं। इसलिये प्रमेय सूत्र में दुःख के कथन से सुख का संसार में प्रतिषेध नहीं समझना चाहिये। व्यक्ति इस तथ्य को जानता है कि अमुक साधनों से सुख की प्राप्ति होसकती है। उन सुख-साधनों को प्राप्त करने तथा दुःख-साधनों को दूर करने के लिये वह सदा प्रयत्न करता रहता है। सुख-साधनों की प्राप्ति के लिये प्रयत्न करने के अवसरों पर अनेक प्रकार के दुःख सिर उठाते रहते हैं। वह दुःखों के अनुभव का ढेर सबको दुःख कहदेने के लिये व्यक्ति को बाध्य करदेता है। इससे सुख के अस्तित्व का लोप नहीं होजाता।

सुख का साधन संसार में अर्थ-सम्पदा को समझाजाता है। ऐसे साधनों के सम्पादन में कष्टों की गाथा को एक कवि ने इसप्रकार गाया है—

अर्थानामर्जने दुःखं अर्जितानां च रक्षणे।
आये दुःखं व्यये दुःखं धिगर्थान् कष्टसंश्रयान् ॥

अर्थों के अर्जन में—कमाने में दुःख, अर्जित अर्थों की रक्षा करने में दुःख। चोर, डाकू, राजा आदि द्वारा अर्जित सम्पदा के अपहरण होजाने का भय व चिन्ता सम्पन्न व्यक्ति को सदा सताया करते हैं। इसप्रकार अर्थों के आने और जाने में सदा दुःख ही दुःख है; ऐसे कष्ट के भण्डार सम्पदाओं को धिक्कार है! सुख-साधनों के विषय में ऐसी भावना का मुख्य प्रयोजन केवल संसार की ओर से वैराग्य को उत्पन्न करना है। अनुभूयमान सुख के अस्तित्व का प्रतिषेध करना इसका प्रयोजन नहीं है।

संसार में आकर व्यक्ति सुख की कामना करता है, यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। सुख पाने के लिये उसके साधनों को जुटाने में लगजाता है। वैषयिक सुख-साधनों के अर्जन की यह तृष्णा—उत्सुकता सुरसा के समान मुँह बाये दिनों-दिन बढ़ती चलीजाती है। वह प्रार्थना करता है—संसार के समस्त सुख-साधन उसे अनायास प्राप्त होजायें। उन सुख-साधनों की सूची कठ उपनिषद् [१।१। २२—२५] में यमाचार्य ने नचिकेता के सन्मुख प्रस्तुत की है। सुख-साधनों की प्राप्ति के लिये व्यक्ति की यह प्रार्थना व प्रयत्न जब पूरा नहीं होता, अथवा पूरा होकर नष्ट होजाता है, या पूरा होने में कुछ कमी रहजाती है, अथवा प्रार्थना के सर्वथा प्रतिकूल स्थिति सामने आजाती है, तब व्यक्ति को विविध प्रकार के मानस सन्ताप सताया करते हैं। चला तो था सुख की प्राप्ति के लिये, पर पल्ले में पड़ा निरा दुःखों का अम्बार। यहाँ तक पहुँचते-पहुँचते मानव की शारीरिक व मानसिक क्षमता क्षीण होजाती है; परलोक-यात्रा के आसार दिखाई देने लगते

हैं; तब व्यक्ति हाथ मलता रहजाता है। मानव की इस समस्त परिस्थिति को आचार्य ने सूत्र के 'पर्येषणदोष' पद से अभिव्यक्त किया है।

इसप्रकार जान-बूझकर सुखों के साधन में लिपटे हुए व्यक्ति के सामने दुःखों की परम्परा निरन्तर बनीरहती है। सुखों के अन्तराल में भी दुःखों का क्रम बने रहने से समस्त प्रवृत्तियों में दुःख संज्ञा की भावना का कथन कियाजाता है। संसार में दुःख की भावना वैराग्य को जन्म देती है। विरक्त व्यक्ति साधना करता हुआ मिथ्याज्ञान के फाँस से अलग होकर दुःख की इस परम्परा से दूर होजाता है। वस्तुतः संसार में आना अर्थात् जन्म होना ही दुःख का मूल है। इससे संसार में होने वाले वैषयिक सुखों का अभाव परिलक्षित नहीं होता।

पुराने अनुभवी आचार्यों ने बताया है—कामनाओं की पूर्ति के लिये प्रयत्न करता हुआ व्यक्ति दिनों-दिन कामनाओं से घिरता चलाजाता है। एक कामना की पूर्ति होने तक अन्य नई दस कामनाएँ सिर उठालेती हैं। यदि मानव सागर-पर्यन्त भूमि पर उपलब्ध समस्त सम्पदाओं को प्राप्त करलेता है, तो भी सम्पन्न व्यक्ति की अन्य सम्पत्ति-प्राप्ति की अभिलाषा तृप्त नहीं होती। तब वस्तुतः धन की कामना में सुख कहाँ? ॥ ५७ ॥

संसार दुःख क्यों—संसार दुःखमय है, इस भावना के उपदेश का कारण आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दुःखविकल्पे सुखाभिमानाच्च ॥ ५८ ॥ (४०२)

[दुःखविकल्पे] दुःखों के विविध प्रकारों में [सुखाभिमानात्] सुख का अभिमान (भ्रम) होने से [च] तथा।

संसार में दुःख-संज्ञा की भावना का जो उपदेश कियागया है, उसका कारण यह है कि व्यक्ति सुख की प्राप्ति में दृढ़ एवं तत्पर हुआ यह समझता है—संसार में विषय-सुख ही जीवन का परमपुरुषार्थ है। वैषयिक सुख से अतिरिक्त मोक्ष-आनन्द कुछ नहीं है। विषयजनित सुखों के प्राप्त होनेपर जीवन चरितार्थ हो-जाता है, यही जीवन की पूर्ण सफलता है; इन सुखों के प्राप्त होजाने पर कर्त्तव्यों की इतिश्री समझनी चाहिये; तब अन्य कुछ कर्त्तव्य शेष नहीं रहजाता।

व्यक्ति का यह संकल्प, ऐसा दृढ़ विचार सर्वथा मिथ्याज्ञानमूलक होता है। इस मिथ्या संकल्प से अभिभूत हुआ व्यक्ति वैषयिक सुखों एवं विषय-सुखसाधनों में अनुरक्त रहता है। उनमें लिपटा हुआ सुख-प्राप्ति के लिये चेष्टा कियाकरता है। इसप्रकार की चेष्टाओं में प्रयत्नशील रहते हुए यह आत्मा देह-बन्धन में आकर जन्म, जरा (बुढ़ापा), व्याधि (शारीरिक रोग), आधि (मानस कष्ट), मरण, अनिष्ट की प्राप्ति, इष्ट का वियोग, अभिलाषाओं-कामनाओं की असिद्धि आदि निमित्तों से अनेक प्रकार के दुःखों को भोगतारहता है। इस विविध

दुःखराशि को भी वह सुख मानता है । वह समझता है–यह दुःख सुख का अङ्ग-भूत है, क्योंकि दुःख को प्राप्त किये विना सुख का मिलना सम्भव नहीं होता । तब सुख-प्राप्ति के लिये उतना दुःख उठाना अकिञ्चन है, साधारण बात है । क्योंकि यह दुःखभोग सुख की प्राप्ति के लिये है, इसलिये इसे सुख में ही गिनना चाहिये ।

इसप्रकार संसार को सुखमय समझते हुए व्यक्ति की प्रज्ञा विषयसुखों के उपभोग में दबकर नष्टप्राय होजाती है, उसमें मिथ्या-सत्य के विवेक की क्षमता नहीं रहती । ऐसी दशा में आत्मा देह-बन्धन में आकर जन्म-मरण के निरन्तर अनुक्रम को लाँघ नहीं पाता । तब संसार में सुख की भावना का प्रतिपक्ष-संसार को दुःखमय बताने की भावना का उपदेश कियाजाता है । संसार में आत्मा के देह-प्राप्तिरूप जन्म को दुःख इसीकारण बतायाजाता है, क्योंकि वह दुःखों से अनुषक्त है, लिप्त है । दुःख उसे सब ओर से घेरे रहते हैं । उसे दुःख बतायेजाने का यह कारण नहीं है कि संसार में सुख का अभाव है ।

शिष्य जिज्ञासा करता है–यदि ऐसी बात है, तो पचपनवें सूत्र में 'दुःखं जन्म' इतना ही कहना चाहिये था, 'दुःखमेव जन्म' ऐसा क्यों कहा ? वहाँ 'एव' पद के पाठ से आचार्य का यह तात्पर्य ज्ञात होता है कि वह संसार में जन्म होने पर केवल दुःख की सत्ता को स्वीकार करता है, सुख की सत्ता को नहीं । इससे आचार्य की भावना के अनुसार संसार में सिद्धान्ततः सुख का अभाव बोधित होता है । यहाँ सांसारिक सुख को स्वीकार करने से सिद्धान्त का विरोध स्पष्टतः सामने आजाता है ।

आचार्य का समाधान है–सूत्र में 'एव' पद का प्रयोग दुःख के मूल 'जन्म' को वश में करने की भावना का उद्बोधक है; उससे संसार में सुख के अभाव का बोध नहीं होता । जन्म स्वरूप से दुःख नहीं है; प्रत्युत जन्म होने पर दुःख-बाहुल्य के कारण उसे दुःख मानलियागया है । वस्तुतः जन्म स्वरूप से न दुःख है, न सुख । वह सुख-दुःख दोनों की उद्‌भावना के लिये समान है । जैसे जन्म होने पर संसार में दुःख का बाहुल्य देखाजाता है; वैसे ही मोक्ष के समस्त साधनों का सम्पादन जन्म लेने पर, मानव-देह प्राप्त होने पर ही सम्भव है । सांसारिक सुखों का लाभ भी मानव-देह प्राप्ति पर होता है । अन्य प्राणियों को भी वैषयिक सुख प्राप्त होते हैं । जन्म को दुःख बताने का कारण यही है कि व्यक्ति सांसारिक विषयों की ओर से हटकर मोक्षसाधनों के सम्पादन में अपना जीवन लगासके ॥ ५८ ॥

अपवर्ग-परीक्षा—प्रमेयसूत्र में दुःख के अनन्तर 'अपवर्ग' का पाठ है । उसकी परीक्षा कीजानी चाहिये । अपवर्ग का अभाव बताते हुए शिष्य की जिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धादपवर्गाभावः ॥ ५९ ॥ (४०३)

[ऋणक्लेशप्रवृत्यनुबन्धात्) ऋण, क्लेश और प्रवृत्ति के निरन्तर चालू रहने से [अपवर्गाभावः] अपवर्ग का अभाव है (उक्त कारणों से अपवर्ग के लिये कोई अवसर ही नहीं रहता)।

तीन कारण हैं, जिनके निरन्तर चालू रहने से अपवर्ग के होने में रुकावट होजाती है। वे हैं–ऋण, क्लेश, प्रवृत्ति।

ऋण—वैदिक साहित्य में उपलब्ध वाक्यों से ज्ञात होता है–उत्पन्न होनेवाला बालक ऋणी के रूप में उत्पन्न होता है। बौधायन गृह्यसूत्र के अन्तर्गत परिभाषासूत्र [१।१] में उल्लेख है—"जायमानो ह वै ब्राह्मणस्त्रिभिर्ऋणै-र्ऋणवान् जायते–ब्रह्मचर्येण ऋषिभ्यो यज्ञेन देवेभ्यः प्रजया पितृभ्यः" [द्रष्टव्य–तै० सं० ६।३।१०]–उत्पन्न व्यक्ति तीन ऋणों से दबा रहता है–ऋषिऋण, देवऋण, पितृऋण। व्यक्ति इन ऋणों को यथाक्रम ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन से, यज्ञ-अग्निहोत्र आदि के अनुष्ठान से तथा सन्तानोत्पादन से चुकाता है। इन ऋणों को चुकाने के लिये कियेजानेवाले कर्मों का सम्बन्ध व्यक्ति के साथ जीवनपर्यन्त बना रहता है। इस विषय में बताया है–"जरामर्यं वा एतत्सत्रं यदग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ चेति। जरया ह एष तस्मात् सत्राद्विमुच्यते मृत्युना ह वा" [द्रष्टव्य–श० १२।४।१।१॥ तै० आ० १०।६४] अग्निहोत्र अथवा दर्श-पूर्णमास आदि अनुष्ठान व्यक्ति के बूढ़ा होकर अशक्त होजाने अथवा मृत्यु होनेतक लगे रहते हैं। इनसे छुटकारा तभी होता है, जब व्यक्ति बूढ़ा होकर अशक्त होजाय, अथवा मरजाय। ऐसी दशा में अपवर्ग के लिये अनुष्ठान का कोई अवसर ही नहीं रहता। अतः अपवर्ग का अस्तित्व स्वीकार करना व्यर्थ है।

क्लेश—क्लेशों का सम्बन्ध आत्मा के साथ निरन्तर बना रहता है। व्यक्ति क्लेश से युक्त पैदा होता है, और क्लेश से युक्त मरता है। समस्त जीवन आत्मा विविध क्लेशों से दबा रहता है। शास्त्र [पा० यो० २।३] में–अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश–ये पाँच क्लेश बताये हैं। आत्मा इनसे सदा अनुबद्ध रहता है, कभी छुटकारा नहीं पाता। क्लेशों के रहते आत्मा का अपवर्ग कैसा?

प्रवृत्ति—जन्म से लेकर मरणपर्यन्त आत्मा वाणी, मन और शरीर से विभिन्न कार्यों के अनुष्ठान में लगारहता है; इनसे छुटकारा नहीं पाता। यही प्रवृत्ति का स्वरूप है [सूत्र–१।१।१७]। इनसे निरन्तर घिरा हुआ आत्मा अपवर्ग के लिए उपाय कब सोचे, कब करे? इसलिए प्रथम [१।१।२] जो कहागया है–तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर फिर अनुक्रम से दोष, प्रवृत्ति, जन्म, दुःख का विनाश होने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है, वह सब अनुपपन्न है, सर्वथा आधारहीन ॥ ५९ ॥

ऋण अपवर्ग में बाधक नहीं—आचार्य सूत्रकार ने उक्त जिज्ञासा के ऋण-विषयक आधार का अग्रिम तीन सूत्रों से समाधान किया। उनमें पहला सूत्र है—

प्रधानशब्दानुपपत्तेर्गुणशब्देनानुवादो निन्दाप्रशंसोपपत्तेः ॥ ६० ॥ (४०४)

[प्रधानशब्दानुपपत्तेः] प्रधान (अर्थ-परक) शब्दों (ऋण, जायमान इत्यादि) की अनुपपत्ति-असिद्धि के कारण [गुणशब्देन] गौण (अर्थ-परक) शब्द से [अनुवादः] कथन कियागया है (उक्त सन्दर्भों में अभिलषित अर्थ का)।

'जायमानो ह वै' इत्यादि सन्दर्भ में 'ऋण' एवं 'जायमानः' आदि पद अपने मुख्य अर्थ को न कहकर गौण अर्थ-परक हैं। 'ब्राह्मण'-पद अन्य समस्त वर्णों का उपलक्षण है। 'ऋण' पद का मुख्य अर्थ वह है–जहाँ एक व्यक्ति दूसरे को धन आदि सम्पत्ति इस भावना से देता है कि यह कालान्तर में मुझे वापस मिल-जायगा; तथा दूसरा व्यक्ति इस भावना से उस धन को स्वीकार करता है कि यह धन कालान्तर में मुझे वापस लौटाना है। ऐसी भावना के साथ धन के आदान-प्रदान में 'ऋण' पद का प्रधान-अर्थपरक प्रयोग है। यह अर्थ प्रस्तुत प्रसंग में घटित नहीं होता। ब्रह्मचर्यपालन, अग्निहोत्र, यज्ञादि अनुष्ठान और सन्तानोत्पत्ति में अर्थ के आदान-प्रदान का कोई प्रश्न नहीं है, कोई समस्या नहीं है; इसलिये इन प्रसगों में ऋण पद का प्रयोग गौणवृत्ति से समझना चाहिये। ये स्थितियाँ क्योंकि ऋण के समान हैं, इसलिए सादृश्य-औपम्य के कारण ब्रह्मचर्य, याग आदि में 'ऋण' पद का प्रयोग करदियागया है। ऋषियों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदादि का अध्ययन कर इस परम्परा को हमतक पहुँचाया है, यह एक प्रकार से हम पर उनका ऋण है। हम उसका अनुष्ठान कर इस परम्परा को आगे अनुवृत्त कर इसको विच्छिन्न न होने दें; यह शास्त्र का तात्पर्य है; यही ऋण से उऋ॑ण होना है।

ऐसे प्रयोग वैदिक साहित्य व लोक में अनेक देखेजाते हैं। बालक के तेज, ओज व उत्कट भावनाओं को देखकर कहाजाता है–'अग्निर्माणवकः'—यह बालक तो आग है। वस्तुतः बालक आग नहीं, उसमें अग्नि के तेजस्विता आदि गुणों का अभिव्यञ्जन होने से वैसा कथन कियाजाता है। बालक में जैसे इन गुणों के आधार पर अग्नि पद का प्रयोग गौण है; इसीप्रकार ब्रह्मचर्य, याग आदि में 'ऋण' पद का प्रयोग गौण समझना चाहिये।

जिज्ञासा होती है, यहाँ गुण शब्द से उक्त अर्थ के कथन करने का आधार क्या है? सूत्रकार ने बताया—निन्दा और प्रशंसा की सिद्धि। उत्तमर्ण से ऋण लेकर यदि कोई अधमर्ण लिए ऋण को वापस नहीं करता, तो उसकी निन्दा होती है। ऋण का नियमानुसार वापस करदेना अभिनन्दनीय कार्य समझाजाता है।

इसीके समान ऋषियों–पूर्वजों ने ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन की परम्परा को यहाँ-तक पहुँचाया है; दैवी शक्तियाँ हमको निरन्तर जीवन-साधन प्रदान करती रहती हैं; माता-पिता ने हमको जन्म देकर जीवन-सन्तति को अभीतक अविच्छिन्न रक्खा है। यह सब हमारे ऊपर एक ऋण के समान है। यदि हम ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठानों से इन सब ऋणों को उतारते हैं, अर्थात् उन परम्पराओं को चालू रखने में हम अपने जीवन का सहयोग देते हैं, तो यह हमारा एक अभिनन्दनीय कार्य है, हमारी प्रशंसा का जनक है। यदि इन अनुष्ठानों में हम शिथिलता करते हैं, और ज्ञान, सामाजिक पोषण तथा पारिवारिक तन्तुओं को विच्छिन्न करदेते हैं, तो निश्चित ही यह हमारा निन्दनीय कार्य होगा। उक्त सन्दर्भों में इसी भावना को अभिव्यक्त कियागया है कि व्यक्ति अपने जीवन में उन अनुष्ठानों को निष्ठापूर्वक सम्पन्न करे। इसीमें समस्त ज्ञान, समाज, परिवार एवं राष्ट्र का सर्वतोमुखी अभ्युदय निहित रहता है। उक्त कर्मों की आवश्यक अनुष्ठेयता में शास्त्र का तात्पर्य है।

उदाहृत सन्दर्भ में 'जायमानः' पद भी अपने प्रधान अर्थ को न कहकर गौण अर्थ का बोध कराता है। 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' का तात्पर्य है–गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति। यदि 'जायमानः' पद का 'सद्यः उत्पन्न बालक' अर्थ कियाजाता है, तो यह अनुपपन्न है, क्योंकि जातमात्र शिशु किसी भी पूर्वोक्त अनुष्ठान में सर्वथा अक्षम होता है। शास्त्र उस दशा में किसी अनुष्ठान के लिए उसे अधिकारी नहीं बताता। शक्तिसम्पन्न होजाने पर किसी कार्य में प्रवृत्ति का होना सम्भव होता है। अतः 'जायमानः' पद यहाँ अपने मुख्य अर्थ-उत्पन्न हुआ शिशु–को छोड़कर, गौण अर्थ–शक्तिसम्पन्न होजाने–को प्रकट करता है।

ब्रह्मचर्यपूर्वक वेदाध्ययन के लिए अधिकारी उपनयन के अनन्तर मानाजाता है। ऋषि-ऋण के उतारने का यह उपक्रम है। गृहस्थ होजाने पर वेदाध्ययन छोड़ना न चाहिये। यज्ञादि अनुष्ठान के द्वारा देवऋण, तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा पितृ-ऋण से उऋण होना इसी आश्रम में सम्भव है। राजसूय, वाजपेय, ज्योतिष्टोम आदि याग तथा दर्श-पूर्णमास आदि इष्टियाँ किन्हीं विशेष कामनाओं–निमित्तों से प्रेरित होकर कियेजाते हैं। माता से सद्यः जायमान शिशु में–किसी यज्ञादि अनुष्ठान के लिए विशिष्ट कामना से प्रेरित होना तथा अनुष्ठान की क्षमता का होना–इन दोनों बातों का अभाव रहता है। इसलिए पूर्वोक्त वैदिक वाक्य में 'जायमानः' पद का तात्पर्य–समर्थ होने व गृहस्थ होने से है, तत्काल उत्पन्न शिशु से नहीं। साधारण अनाड़ी व्यक्ति भी जातमात्र बालक को यह नहीं कहसकता कि तू ब्रह्मचर्य का पालन कर, वेद पढ़, यज्ञ का अनुष्ठान कर आदि। तब प्रामाणिक यथार्थ का उपदेश करनेवाला शास्त्र ऐसा कथन कैसे करसकता है? जो विचारपूर्वक कार्य करनेवाले सर्वज्ञकल्प

साक्षात्कृतधर्मा का उपदेश है। नर्त्तक अन्धों में तथा गायक बहरों में प्रवृत्त नहीं होता। तब शास्त्र अनधिकारी एवं अक्षम के विषय में कैसे प्रवृत्त होगा ?

उपदेश की सफलता इसीमें है, कि उपदेश्य व्यक्ति उपदिष्ट अर्थ को जाने, समझे। यदि वह उपदिष्ट अर्थ को जान-समझ नहीं सकता, तो उसके लिए उपदेश करना व्यर्थ है। शास्त्र का उपर्युक्त उपदेश जायमान बालक के विषय में कियागया सम्भव नहीं। न वह उस अवस्था में उक्त अनुष्ठानों के लिये समर्थ होता है, और न वह तबतक वेदादि अध्ययन एवं यागादि अनुष्ठान के अधिकार को प्राप्त करसका है। इसके अतिरिक्त उक्त विषय का प्रतिपादक शास्त्र व्यक्ति के द्वारा कर्मानुष्ठान में पत्नी के सम्बन्ध को आवश्यक बताता है। यह गार्हस्थ्य का लिङ्ग है। इसलिये उक्त सन्दर्भ में 'जायमानः' पद का तात्पर्य—गृहस्थ में प्रवेश करता हुआ व्यक्ति—समझना चाहिये।

कर्मानुष्ठान जरापर्यन्त कब—उपर्युक्त दूसरे सन्दर्भ में जो यह बतायागया है कि कर्मानुष्ठान का अनुक्रम बुढ़ापा व मृत्युपर्यन्त बराबर चालू रहता है, ऐसी दशा में अपवर्ग के उपायों का अनुष्ठान करने के लिए समय न रहने से अपवर्ग का मानना निराधार होजाता है। इस विषय में आचार्यों का कहना है कि बुढ़ापा व मृत्यु तक कर्मानुष्ठान का कथन उसी दशा में है, जब अनुष्ठाता की फलप्राप्ति-विषयक कामना बनी रहती है। जिन विशिष्ट फलों को प्राप्त करने की इच्छा से विशेष याग आदि का अनुष्ठान कियाजाता है, वह इच्छा यदि फलों की ओर से वैराग्य के कारण नष्ट होचुकी है, तो यागादि के अनुष्ठान का प्रश्न नहीं रहता। 'जरा' (बुढ़ापा) का तात्पर्य है—वैराग्यपूर्वक प्रव्रज्या (संन्यास) का ग्रहण करना। इसलिए जबतक वैराग्य नहीं होता, कामना बनी रहती हैं; तभीतक कर्मानुष्ठान अपेक्षित होता है। फलों के प्रति वैराग्य होजाने से कामनाओं के अभाव में अपवर्ग की साधना के लिये समर्थ जीवन का पर्याप्त भाग उपयोग में लायाजासकता है।

'जरा' पद का तात्पर्य—उक्त सन्दर्भ में 'जरा' पद का तात्पर्य ऐसे बुढ़ापे से नहीं है, जहाँ व्यक्ति अपना शारीरिक व मानसिक आदि सब प्रकार का सामर्थ्य खोबैठा हो। यदि फलों के प्रति उसकी कामना तब भी बनी हुई हैं, तो स्वयं अशक्त होने पर वह अपने निर्धारित प्रतिनिधि के द्वारा कर्मानुष्ठान करा-सकता है। प्रतिनिधि उसका अन्तेवासी छात्र होसकता है, जिसको उसने वेद का अध्ययन कराया है; अथवा अपने दूध का सम्बन्धी—भाई, पुत्र, भतीजा, पोता आदि होसकता है, जो अनुष्ठान का पारिश्रमिक देकर प्रतिनिधि बनायाजाता है। व्याख्याकारों ने सन्दर्भ के 'क्षीरहोता' पद का अर्थ 'अध्वर्यु' किया है। तात्पर्य है—क्षीर अर्थात् वृत्ति के लिये—अपने जीवन-निर्वाह के लिये जो 'होता' बनता हो; पारिश्रमिक लेकर यज्ञानुष्ठान करने-करानेवाला व्यक्ति। फलतः

उक्त सन्दर्भ में 'जरा' पद का तात्पर्य–ऐसा बुढ़ापा नहीं है, जब व्यक्ति सर्वथा शरीर आदि से असमर्थ होजाता है। क्योंकि कामनाओं के रहने पर अशक्त का भी कर्मानुष्ठान से छुटकारा नहीं। अपने प्रतिनिधि द्वारा उसे करासकता है। इसलिये 'जरा' पद का तात्पर्य–कर्मफलों के प्रति वैराग्य की भावना का होना–समझना चाहिये।

प्रस्तुत प्रसंग में एक अन्य विचार करना शेष रहजाता है। 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यादि सन्दर्भ कर्मानुष्ठान का विधायक है? अर्थात् विधिवाक्य है? अथवा विधिवाक्य द्वारा अन्यत्र विहित अर्थ का केवल अनुवाद करता है? अनुष्ठान के लिये स्मरणमात्र करा देता है? आचार्यों का कहना है–इसे विहित अर्थ का अनुवादमात्र समझना उपयुक्त होगा; क्योंकि इस वाक्य में विधि-विभक्ति का निर्देश नहीं है। विधिवाक्य न होने से यह आवश्यक नहीं रहजाता कि व्यक्ति जरा व मृत्यु-पर्यन्त कर्मानुष्ठान करता रहे। वह कर्मानुष्ठान को छोड़कर अपवर्ग-साधना के लिये अपना जीवन लगासकता है।

तब क्या 'जायमानः' इत्यादि सन्दर्भ को निरर्थक समझना चाहिये? नहीं, वह निरर्थक नहीं है; उसका प्रयोजन है–जब व्यक्ति सक्षम होता है, अथवा गृहस्थ आश्रम में प्रवेश कररहा होता है, उस समय कुछ उत्तरदायित्व उस पर आयद होजाते हैं, जिन्हें उक्त सन्दर्भ में 'ऋण' पद से अभिव्यक्त कियागया है। यद्यपि ये मुख्यरूप में 'ऋण' नहीं होते; परन्तु व्यक्ति पर ऋणों का उत्तरदायित्व जिस स्थिति को प्रकट करता है, वैसी ही स्थिति इन उत्तरदायित्वों के विषय में मानीजाती है। इसीकारण 'ऋण' न होते हुए भी इनको 'ऋण'-पद से अभिव्यक्त कियागया है। ऐसा कथन स्पष्ट करता है—सक्षम होता हुआ अथवा गृहस्थ होता हुआ व्यक्ति सर्वथा स्वतन्त्र नहीं होता; वह इन उत्तरदायित्वों से दबा रहता है, इनका सम्पन्न करना उसके लिये आवश्यक होता है। यही बोध कराना इस सन्दर्भ का प्रयोजन है। इसलिये विधिवाक्य न होने पर भी इसे निरर्थक न समझना चाहिये।

पीछे कहागया–कर्मानुष्ठान कामनामूलक है। कामना एक बालक को भी होसकती है। तब बालक को कर्मानुष्ठान का अधिकार मानना चाहिये। ऐसी दशा में उक्त सन्दर्भ के 'जायमानः' पद से बालक का ग्रहण क्यों न कियाजाय?

वस्तुतः इस विषय में समझने की बात यह है कि जो प्रयत्न व्यक्ति के द्वारा कियाजाता है, वह फल के लिये न होकर फल के साधनों को सम्पन्न करने के लिये होता है। तात्पर्य है—प्रयत्न का साक्षात् विषय-फल नहीं होता; प्रत्युत वे साधन होते हैं, जो फलों को उत्पन्न करते हैं। व्यक्ति अपने प्रयत्न से फलोत्पादक साधनों का संग्रह व सम्पादन करता है। साधनों के सम्पन्न होने पर वे फलों को अनिवार्यरूप से उत्पन्न करदेते हैं। इस वास्तविकता को समझलेने

से यह स्पष्ट होजाता है कि बालक में कामना के होने पर भी फलोत्पादक अपेक्षित साधनों के सम्पादन की क्षमता नहीं रहती। साधनों के लिये प्रयत्न करना बालक की शक्ति से बाहर की बात है। इसलिये कामना के होते भी सामर्थ्य के अभाव से बालक का कर्मानुष्ठान में अधिकार सम्भव नहीं होता। अतः 'जायमानः' पद से बालक का ग्रहण करना अनुपपन्न है। फलोत्पत्ति के साधन याग आदि विशेष प्रयत्न-साध्य होते हैं, बालक में उसका सर्वथा अभाव रहता है।

इस विषय में यह ध्यान देने की बात है कि 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यादि सन्दर्भ को चाहे विधिवाक्य मानाजाय, अथवा विहितानुवाद, दोनों अवस्थाओं में कर्मानुष्ठान से जिसका सम्बन्ध होगा, उसीका ग्रहण 'जायमानः' पद से कियाजायेगा। जातमात्र बालक का कर्मानुष्ठान से सम्बन्ध असम्भव है, अतः यह पद उसका बोधक नहीं मानाजासकता। तब इसका तात्पर्य–सशक्त एवं गृहस्थ 'होता' व्यक्ति समझना होगा।

'प्रव्रज्या' शास्त्रीय विधान—अपवर्ग-साधन के लिये प्रथम प्रव्रज्या-काल का निर्देश कियागया है। परन्तु प्रव्रज्या का–शास्त्र के अभिमत प्रसंगों में–कहीं विधान नहीं है। गार्हस्थ्य का विधान तो ब्राह्मणादि ग्रन्थों में प्रत्यक्ष देखाजाता है। यदि गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम शास्त्र को मान्य होता, तो उसका वह विधान करता। अतः 'प्रव्रज्या' कोई आश्रम शास्त्रविहित न होने से अपवर्ग-साधन के लिये जीवन में अवसर का न होना स्वभावतः प्राप्त होता है। तब अपवर्ग का अभाव मानना संगत होगा।

आचार्य का इस विषय में कहना है–प्रव्रज्या के प्रतिषेध का भी तो शास्त्र में कहीं विधान नहीं देखाजाता। 'गृहस्थ एकमात्र आश्रम है, गृहस्थ से अतिरिक्त अन्य कोई आश्रम नहीं' ऐसा आश्रमान्तर के प्रतिषेध का वाक्य कहीं ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में उपलब्ध नहीं होता। इसलिये प्रव्रज्या के विधान का शास्त्र में अभाव कहकर अपवर्ग के साधनों के लिये जीवन में अनवसर का निर्देश करना अयुक्त है। जबकि इसके विपरीत शास्त्र में प्रव्रज्या का विधान उपलब्ध होता है। ब्राह्मणोपजीव्य जाबाल उपनिषत् [४] में बताया है—

> **"ब्रह्मचर्यं समाप्य गृही भवेत्, गृही भूत्वा वनी भवेत्, वनी भूत्वा प्रव्रजेत्। यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्, गृहाद्वा वनाद्वा। अथ पुनरव्रती वा व्रती वा स्नातको वाऽस्नातको वा उत्सन्नाग्निरनग्निको वा यदहरेव विरजेत् तदहरेव प्रव्रजेत्॥"**

ब्रह्मचर्य आश्रम समाप्त कर गृहस्थ होजावे, गृहस्थ को पूराकर वानप्रस्थ होजावे, वानप्रस्थ पूरा कर प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करले। अथवा इसमें व्यतिक्रम होसकता है–ब्रह्मचर्य आश्रम से ही प्रव्रज्या ग्रहण करले, अथवा गृहस्थ

से, अथवा वानप्रस्थ से। चाहे ब्रह्मचर्य व्रत का विधिपूर्वक पालन न कररहा हो, अथवा कररहा हो; विद्याध्ययन पूरा कर स्नातक होचुका हो, अथवा न हुआ हो; अग्निहोत्र आदि दैनिक यज्ञ-होम छोड़ चुका हो, अथवा करता ही न हो; पर जिस दिन व्यक्ति को तीव्र वैराग्य होजावे, उसी दिन प्रव्रज्या ग्रहण करले।

प्रव्रज्या के लिये तीव्र वैराग्य का होना अपेक्षित है; गृहस्थ आदि आश्रम का इसमें कोई बन्धन या रुकावट नहीं है। लौकिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य होने पर प्रत्येक अवस्था में संन्यास ग्रहण कियाजासकता है। ऐसी दशा में अपवर्ग-साधन के लिये जीवन के पर्याप्त भाग का उपयोग होना सम्भव है; तब केवल अपवर्ग-साधन के लिये अनवसर का बहाना बनाकर अपवर्ग के अस्तित्व को झुठलाया नहीं जासकता।

इस विषय में यह विचारणीय है—प्रत्येक शास्त्र अपने प्रतिपाद्य विषय का विवरण प्रस्तुत करता है, अन्य शास्त्रों के प्रतिपाद्य अर्थ का प्रतिषेध नहीं करता। अग्निहोत्र के विधायक वाक्य से ज्योतिष्टोम अथवा वाजपेय आदि यागों का अभाव सिद्ध नहीं होता। सांख्य-योग आदि शास्त्रों द्वारा अपने प्रतिपाद्य अर्थ का विधान करने से अन्य न्याय-वेदान्त आदि शास्त्रों का अभाव सिद्ध नहीं होजाता। ऐसे ही 'जायमानो ह वै ब्राह्मणः' इत्यादि वाक्य अपने शास्त्र में गृहस्थ आश्रम के प्रसंग का है। वह साक्षात् गृहस्थ का विधान करता है; इससे अन्य आश्रमों का अभाव सिद्ध नहीं होता।

इसके अतिरिक्त वेद तथा अन्य वैदिक साहित्य में अपवर्ग का निरूपण करनेवाले अनेक सन्दर्भ उपलब्ध होते हैं। यजुर्वेद [३१। १८] में मन्त्र है—

वेदाऽहमेतं पुरुषं महान्तं आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्।
तमेव विदित्वाऽति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय॥

तमस्-अज्ञान, मोह अथवा प्रकृति से परे उस महान् पुरुष परमात्मा को जानकर ही व्यक्ति मृत्यु—नश्वर संसार को पार करजाता है; मोक्षपद को प्राप्त करलेता है। अपवर्ग की प्राप्ति के लिये परमात्मज्ञान से अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग—उपाय नहीं है।

इस विषय में ब्राह्मण आदि वैदिक साहित्य के अनेक प्रमाण द्रष्टव्य हैं—

कर्मभिर्मृत्युमृषयो निषेदुः प्रजावन्तो द्रविणमिच्छमानाः।
अथापरे ऋषयो मनीषिणः परं कर्मभ्योऽमृतत्वमानशुः॥
न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।
परेण नाकं निहितं गुहायां बिभ्राजते तद् यतयो विशन्ति॥

[तै० आ०, १०। १०। ३]

अन्य ब्राह्मणग्रन्थों में भी ये प्रसंग उपलब्ध होते हैं—

शतपथ ब्राह्मण [१४। ७। २। २५] में सन्दर्भ है—'एतमेव प्रव्राजिनो

लोकमीप्सन्तः[1] प्रव्रजन्ति'—वैराग्य को प्राप्त हुए व्यक्ति पूर्ववर्णित उस लोक [ब्रह्मलोक-मोक्षपद) की चाहना रखते हुए प्रव्रज्या ग्रहण करलेते हैं। इस सन्दर्भ में साक्षात् प्रव्रज्या (संन्यास) आश्रम में प्रवेश का निर्देश है।

इसके अतिरिक्त कामनायुक्त एवं निष्काम व्यक्तियों का विवरण देते हुए शतपथ ब्राह्मण में अन्यत्र बताया है—

"अथो खल्वाहुः—काममय एवायं पुरुष इति स यथाकामो भवति[2] तथा-क्रतुर्भवति यथाक्रतुर्भवति तत्कर्म कुरुते यत्कर्म कुरुते तदभिसंपद्यते।"
[श० १४।७।२।७]

अनुभवी आचार्यों ने बताया है—यह पुरुष कामनामय है। जैसी कामना होती है, उसीके अनुसार उसका संकल्प होता है, जैसा संकल्प होता है, वैसा कर्मानुष्ठान करता है। अनन्तर कर्मानुसार फल पाता है। ऐसे कामनामय व्यक्ति के विषय में ब्राह्मण आगे लिखता है—'इति नु कामयमानः' यह पूर्वोक्त विवरण कामनाओं से अभिभूत व्यक्ति का दियागया। इसके आगे कामना-हीन व्यक्ति के विषय में बताया—

"अथाऽकामयमानः—योऽकामो निष्काम[3] आत्मकाम आप्तकामो भवति न तस्मात्[4] प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव[5] समवनीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति।"
[श० १४।७।२।८]

१. न्यायदर्शन के वात्स्यायन-भाष्य में इसी सूत्र पर 'ईप्सन्तः' के स्थान पर 'अभीप्सन्तः' पाठ उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषत् [४।४।२२] में 'इच्छन्तः' पाठ है। अर्थ दोनों का समान है। ब्राह्मण और उपनिषत् के पाठभेद का कारण शाखाभेद सम्भव है। उपलब्ध ब्राह्मण शुक्लयजु की माध्यन्दिन-(वाजसनेयि)-शाखा का है, तथा उपनिषत् काण्व-शाखा के शतपथ ब्राह्मण का भाग है। पाठ की अधिक समानता से ज्ञात होता है—वात्स्यायन ने भाष्य में यह उद्धरण ब्राह्मण [मा० शा०] ग्रन्थ से दिया है, उपनिषत् [का० शा०] से नहीं।

२. 'तत्क्रतुर्भवति यत्क्रतुर्भवति' बृ० उ० पाठ [४।४।५]। वात्स्यायन ने भाष्य में ब्राह्मणानुसारी पाठ दिया है।

३. बृ० उ० में 'आप्तकाम आत्मकामो' इसप्रकार पदों का विपर्यास है। [४।४।६]

४. 'तस्य' बृ० उ० [४।४।६], वात्स्यायन-भाष्य।

५. 'अत्रैव समवनीयन्ते' पाठ नहीं है, [बृ० उ० ४।४।६] वात्स्यायन-भाष्य के उद्धृत सन्दर्भ में 'इहैव समवलीयन्ते' पाठ है। प्रस्तुत प्रसंग के वात्स्यायन-भाष्य में उद्धृत पाठ अधिक समता के कारण ब्राह्मण-ग्रन्थ से लियेगये ज्ञात होते हैं।

तीव्र वैराग्य के कारण जब व्यक्ति लौकिक अथवा वैषयिक कामनाओं से रहित होजाता है, तब कामनामूलक अनुष्ठान एवं कामना के संकल्प को भी वह छोड़ देता है। उसे केवल आत्मज्ञान की कामना रहती है; उसके प्राप्त करलेने पर वह कृतकृत्य होजाता है, प्राप्तव्य को पाचुकता है। मृत्युकाल आने पर उसके प्राण शरीर से उत्क्रमण नहीं करते; अर्थात् कर्मफल भोगने के लिये जन्मान्तर ग्रहण नहीं करते। वे यहीं अपने कारणों में लीन होजाते हैं। वह आत्मदर्शी व्यक्ति ब्रह्म का साक्षात्कार करता हुआ ब्रह्मानन्द को प्राप्त करता है।

वेद एवं वैदिक साहित्य के ये प्रसंग सिद्ध करते हैं–गृहस्थ से अतिरिक्त ब्रह्मचर्य एवं प्रव्रज्या (संन्यास) आदि अन्य आश्रम हैं; जीवन का पर्याप्त भाग इस आश्रमकाल में व्यतीत होता है, जिसका उपयोग आत्मज्ञान के लिये उपायों के अनुष्ठान में कियाजाता है। आत्मसाक्षात्कार होजाने पर अर्थात् आत्मा के स्वरूप-प्रतिष्ठित होजाने पर वह परमात्मा का साक्षात्कार करलेता है; आत्मज्ञान से बीच के आवरण नष्ट होचुके होते हैं। आत्मज्ञान होजाने पर ब्रह्म-साक्षात्कार होना अनिवार्य है। ब्रह्म-साक्षात्कार से ब्रह्मानन्द का प्राप्त होना अपवर्ग का स्वरूप है। इसप्रकार अपवर्ग के प्रमाणित होजाने पर यह कहना अयुक्त है कि ऋणों के अनुबन्ध से अपवर्ग का अभाव मानना चाहिये।

वैदिक साहित्य में चार आश्रमों का उल्लेख व विवरण उपलब्ध होने से–एक ही आश्रम गार्हस्थ्य है–यह कथन अनुपपन्न होजाता है।

बुढ़ापे अथवा मृत्युपर्यन्त अग्निहोत्र व दर्श-पूर्णमास आदि के अनुष्ठान का ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में कथन उन्हीं व्यक्तियों के विषय में कियागया है, जो वैषयिक फलप्राप्ति की कामना रखते हैं ॥ ६० ॥

जरामर्यवाद कर्मियों के लिये—आचार्य सूत्रकार ने इसका कारण बताया—

समारोपणादात्मन्यप्रतिषेधः ॥ ६१ ॥ (४०५)

[समारोपणात्] समारोपण से (आहवनीय आदि अग्नियों के [आत्मनि] आत्मा में, [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध अयुक्त है (संन्यास आश्रम का)।

जब मोक्षकाम व्यक्ति को सांसारिक विषयों की ओर से तीव्र वैराग्य उत्पन्न होजाता है, तब कर्मानुष्ठान के लिये आधान कीगई आहवनीय आदि अग्नियों का समारोपण उस [मोक्षकाम] आत्मा में करलियाजाता है। आत्मा में आहवनीय आदि अग्नियों के समारोपण की कल्पना का तात्पर्य है–तब बाह्य अग्नि में फलोत्पादक समस्त कर्मानुष्ठानों का परित्याग, तथा केवल आत्मज्ञान सम्बन्धी अनुष्ठानों को सम्पन्न कियाजाना। यह आत्मा में अग्नियों के समारोपण का विधान संन्यास ग्रहण करने के लिये होता है। जब इसप्रकार संन्यास आश्रम

का ग्रहण करना सिद्ध है, तो अपवर्ग का होना स्वतः सिद्ध है; क्योंकि संन्यास-ग्रहण उसीकी प्राप्ति के लिये कियाजाता है। इसलिये कर्मानुष्ठान के विषय में जरामर्यवाद (बुढ़ापे या मृत्यु तक कर्मानुष्ठान का कथन) उन्हीं व्यक्तियों के लिये है, जो फलार्थी हैं; कर्मानुष्ठान से होनेवाले फलों की कामना रखते हैं।

संन्यास आश्रम शास्त्र-विहित—वैदिक[1] साहित्य में बतायागया है—**प्राजापत्य इष्टि का** सम्पादन कर उसमें सर्ववेदस[2] होम करने के अनन्तर कर्मकाण्ड साधक **आहवनीय आदि** अग्नियों का आत्मा में समारोपण कर तीव्र वैराग्य-युक्त व्यक्ति संन्यास ग्रहण करले। ऐसे प्रमाणों के द्वारा स्पष्ट होजाता है कि जो व्यक्ति पुत्रैषणा, वित्तैषणा और लोकैषणा से रहित होजाते हैं, और कर्मफलों की कामना से दूर हटजाते हैं, उन्हीं व्यक्तियों के आत्मा में अग्निस्थापना की कल्पना का विधान है।

ब्राह्मणग्रन्थ [श० ब्रा० १४। ७। ३। १-१५] में उल्लेख[3] है– एकबार अपने चालू जीवन से भिन्न जीवन-चर्या को स्वीकार करने की भावना से याज्ञवल्क्य ने अपनी पत्नी मैत्रेयी को पुकारा, और कहा–अब इस स्थान से प्रव्रज्या लेनेवाला हूँ; चाहता हूँ–तुम अब अन्य पत्नी कात्यायनी के साथ रहती रहो। मैत्रेयी ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न कर कहा–जिस अमृतपद को आप प्राप्त करने के लिए अपने चालू जीवनपथ में परिवर्त्तन कररहे हैं, मैं भी उसका अनुसरण क्यों न करूँ? मुझे उसी मार्ग का उपदेश कीजिये। याज्ञवल्क्य ने तब विस्तार से आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया। अन्त में याज्ञवल्क्य ने कहा–मैत्रेयि! पूर्ण उपदेश करदियागया है, यही अमृतपद का स्वरूप है। इतना कहकर याज्ञवल्क्य ने प्रव्रज्या को स्वीकार किया।

---

१. सन्दर्भ है–"प्राजापत्यामिष्टिं निरूप्य तस्यां सर्ववेदसं हुत्वा आत्मन्यग्नीन् समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेत्।"

२. सर्ववेदस होम वह होता है, जो संन्यास ग्रहण करने से पूर्व कियाजाता है। इस अवसर पर व्यक्ति अपनी अधिकृत समस्त सम्पत्ति का त्याग करदेता है; अथवा उपयुक्त अधिकारियों को दान करदेता है। सर्ववेदस होम को गृहस्थ व्यक्ति भी अपने आश्रम के अन्तराल-काल में करलिया करते थे। कठ उपनिषत् के प्रारम्भ तथा कालिदासकृत रघुवंश काव्य के पञ्चम सर्ग की प्रारम्भिक कथा में इसके संकेत उपलब्ध होते हैं।

१. सन्दर्भ है–"सोऽन्यद् वृत्तमुपाकरिष्यमाणो याज्ञवल्क्यो मैत्रेयीति होवाच। प्रव्रजिष्यन् वा अरेऽहमस्मात् स्थानादस्मि हन्त तेऽनया कात्यायन्यान्तं करवाणीति।…उक्तानुशासनासि मैत्रेयि एतावदरे खल्वमृतत्वमिति होक्त्वा याज्ञवल्क्यः प्रवव्राज।"

वैदिक साहित्य के इन प्रसंगों में संन्यास आश्रम का प्रत्यक्ष विधान उपलब्ध है। इससे प्रमाणित होजाता है–कर्मानुष्ठान-विषयक जरामर्यवाद केवल फलार्थी व्यक्ति के लिए है। जो फलार्थी नहीं, उनके लिए संन्यास का विधान है, संन्यास क्योंकि अपवर्ग-साधनों के अनुष्ठान के लिए ग्रहण कियाजाता है, इससे अपवर्ग की सिद्धि स्वतः होजाती है ॥ ६१ ॥

चालू जीवन-कर्म मोक्ष के बाधक नहीं—गत विवरण से यह स्पष्ट होजाता है कि अग्निहोत्र आदि कर्म अपवर्ग में बाधक नहीं हैं। परन्तु जो व्यक्ति अपने जीवन के प्रारम्भिक काल अथवा गार्हस्थ्य-जीवन-काल में अग्निहोत्र आदि कर्मों का अनुष्ठान करता है, अनन्तर वैराग्य होजाने से साधन करते हुए आत्मज्ञानी होजाता है; देहपात होने पर उसका मोक्ष नहीं होना चाहिये। क्योंकि उसी जीवन में अनुष्ठित कर्मों का फल उसे अवश्य मिलना चाहिए। वह फल जन्मान्तर में देहधारण के विना मिलना सम्भव नहीं। अतः वे फल आत्मज्ञान होजाने पर भी अपवर्ग में बाधक होंगे। आचार्य ने इसका समाधान किया—

पात्रचयान्तानुपपत्तेश्च फलाभावः ॥ ६२ ॥ (४०६)

[पात्रचयान्तानुपपत्तेः] पात्र-चयन के अन्त की अनुपपत्ति से संन्यासी आत्मज्ञानी के लिए [च] तथा (अन्य कारणों की अनुपपत्ति से भी), [फलाभावः] फल का अभाव होता है; फल प्राप्त नहीं होता (आत्मज्ञानी संन्यासी को, गत समीपजीवन में अनुष्ठित कर्मों का)।

बुढ़ापे या मृत्युतक कर्मानुष्ठान के विधान की पूर्णता उस समय मानीजाती है, जब अनुष्ठाता के मरजाने पर उसके शव के साथ अन्त्येष्टि के समय चिता में यज्ञिय पात्रों का चयन करदियाजाता है।[1] जीवन में किये अग्निहोत्र आदि कर्मानुष्ठान का यह अङ्ग मानाजाता है। किसी कर्म के फल की प्राप्ति तभी सम्भव है, जब उसे अङ्गसहित पूराकियाजाय। संन्यासी के लिए पात्रचयन के साथ अन्त्येष्टि का होना असम्भव है; क्योंकि बाह्य आहवनीयादि अग्नि-सम्बन्धी

---

१. घृतपूर्ण स्रुवा मुख पर, उपभृत वाम हाथ में, जुहू दक्षिण में, चमस सिर के साथ, ध्रुवा वक्ष पर आदि क्रम से पात्रों का चयन कियाजाता है। शतपथ ब्राह्मण [१२।५।२।७] इस विषय में द्रष्टव्य है। आगे ब्राह्मण [१२।५।२।८] में बताया है–"स एष यज्ञायुधी यजमान···योऽस्य स्वर्गो लोको जितो भवति तमभ्यत्येति" उन यज्ञपात्ररूप आयुधों से युक्त हुआ यजमान···स्वर्ग में जो लोक इसने जीत लिया होता है, उसको प्राप्त होजाता है।

कर्म का वह परित्याग करचुका होता है। संन्यासी की अन्त्येष्टि के समय उसके शव के साथ पात्रचयन न होसकने के कारण जीवन में किये अग्निहोत्र आदि कर्म अङ्गहीन रहते हैं, अधूरे, सर्वथा अपूर्ण। ऐसे कर्मों के फल की कोई सम्भावना न होने से आत्मज्ञानी के मोक्ष में फल बाधक नहीं होपाता।

अन्त्येष्टि के समय शव के साथ पात्रचयन साधारणरूप से सबके लिए समान हो, ऐसा नहीं मानाजाता। यदि ऐसा होता, तो एषणाओं को छोड़कर संन्यास का विधान शास्त्र में न कियाजाता। परन्तु शास्त्र में संन्यास का विधान साक्षात् उपलब्ध होता है–

''एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे ब्राह्मणा अनूचाना विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते, किं प्रजया करिष्यामो येषां नोऽयमात्माऽयं लोक इति, ते ह स्म पुत्रैषणायाश्च वित्तैषणायाश्च लोकैषणायाश्च व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति॥''

[श० १४।७।३।२६]

यह जानाजाता है–मूर्द्धन्य ज्ञानी, नैष्ठिक विरक्त विद्वान् सन्तान की कामना नहीं करते; कर्मानुष्ठानबहुल गृहस्थ आदि आश्रमों में जाने की इच्छा नहीं रखते। वे विचार करते हैं–सन्तान से हम क्या करेंगे? यह सब धन-सम्पत्ति, कर्मानुष्ठान एवं सन्तान आदि से हमें क्या करना है? जब हमारे लिए यह परब्रह्म परमात्मा सबकुछ है। ऐसा विचारकर वे पुत्र, वित्त और यश आदि की कामनाओं को दूर फेंक भिक्षाचरण से जीवन व्यतीत करदेते हैं।

ये प्रसंग स्पष्ट करते हैं–ऐसे वैराग्ययुक्त नैष्ठिक ज्ञानी गृहस्थ आश्रम तथा तत्सम्बन्धी कर्मानुष्ठानों का परित्याग कर एवं सब प्रकार की एषणाओं से छुटकारा पाकर ब्रह्मज्ञान की साधना में लगे भिक्षाचर्या से जीवननिर्वाह करलेते हैं। यह सब विवरण संन्यासविधान का स्वरूप स्पष्ट करता है। ऐसे एषणाविहीन संन्यासियों की अन्त्येष्टि में पात्रचयन–कार्य सर्वथा अनुपपन्न होने से अनुष्ठाता के लिए पूर्वकृत कर्मानुष्ठान फल का प्रयोजक नहीं होता। इतिहास, पुराण तथा सभी धर्मशास्त्रों में चार आश्रमों का विधान उपलब्ध होने से केवल एक गृहस्थ आश्रम मानना अनुपपन्न है।

इतिहास-पुराण का प्रामाण्य—इतिहास, पुराण आदि को अप्रमाण कहना उचित न होगा; क्योंकि वैदिक ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण से इतिहास, पुराण आदि का प्रामाण्य स्वीकार कियाजाता है। ब्राह्मण आदि ग्रन्थों में[1] इतिहास, पुराण आदि के अध्ययन-निर्देश से उनका प्रामाण्य जानाजाता है। इसलिए इतिहास

---

१. द्रष्टव्य, श० ११।५।६।८॥ ११।५।७।९॥ गो० १।१।२१॥ शां० आ० ८॥ ११॥ अन्य अनेक प्रसंग सूचियों के आधार पर सुविधापूर्वक देखेजासकते हैं।

पुराण को अप्रमाण कहना अयुक्त है। धर्मशास्त्र का अप्रामाण्य मानने से तो लोकव्यवहार का उच्छेद होजाने के कारण समस्त समाज उच्छृंखल व आचार-हीन होकर नष्टभ्रष्ट होजाय, क्योंकि सब लोकव्यवहार धर्मशास्त्रों के निर्देशानुसार चलते हैं।

इसके अतिरिक्त इतिहास-पुराण आदि के प्रामाण्य में अन्य कारण है–द्रष्टा-प्रवक्ता आचार्यों का समान होना। जो विद्वान् ऋषि-मुनि वेदमन्त्रों के द्रष्टा हैं, वे ही इतिहास-पुराण-धर्मशास्त्र आदि के रचयिता हैं। विभिन्न शास्त्रों का अपना प्रतिपाद्य विषय नियत होने से उसी विषय में उनका अबाधित प्रामाण्य मानाजाता है। वेद एवं वैदिक वाङ्मय-ब्राह्मण आदि का प्रामाण्य अध्यात्म-विद्याओं तथा यज्ञानुष्ठान आदि में है। इतिहासपुराण का विषय लोकवृत्त को सुस्थिर तथा संस्मृत रखना है। उसी विषय में उसका प्रामाण्य है। लोकव्यवहार को व्यवस्थित रखना धर्मशास्त्र का विषय है; उसीमें वह प्रमाण है। किसी एक शास्त्र द्वारा सबकी व्यवस्था नहीं होती। जैसे प्रत्येक इन्द्रिय अपने नियत विषय का ग्राहक होता है, कोई एक या अनेक सब विषयों को ग्रहण नहीं करसकते, ऐसे ही अपने नियत प्रतिपाद्य विषय के अनुसार विभिन्न शास्त्रों का प्रामाण्य स्वीकार कियाजाता है। इतिहास-पुराण भी अपने विषय में प्रमाण हैं॥ ६२॥

क्लेशानुबन्ध अपवर्ग का बाधक नहीं—अपवर्ग के अभाव का साधक दूसरा हेतु–क्लेशानुबन्ध बतायागया। क्लेशों का अनुक्रम जीवन में निरन्तर बने रहने से अपवर्गप्राप्ति के उपायों का अनुष्ठान करने के लिए व्यक्ति को अवसर नहीं रहता। ऐसी दशा में अपवर्ग का स्वीकार करना निरर्थक है। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

सुषुप्तस्य स्वप्नादर्शने क्लेशाभावादपवर्गः॥ ६३॥ (४०७)

[सुषुप्तस्य] गहरे सोये हुए व्यक्ति के [स्वप्नादर्शने] स्वप्न न दीखने की दशा में [क्लेशाभावात्] क्लेश के अभाव से [अपवर्गः] अपवर्ग सिद्ध होता है।

गहरी नींद के समय व्यक्ति को किसीप्रकार के क्लेश का अनुभव नहीं होता। यद्यपि यह अज्ञान की दशा मानी जाती है, फिर भी क्लेश के निरन्तर होनेवाले प्रवाह का विच्छेद होजाना अपवर्ग के साथ सुषुप्ति की समानता है। जैसे क्लेश का सिलसिला गहरी नींद के समय विच्छिन्न होजाता है, किसीप्रकार के राग-द्वेष एवं सुख-दुःख आदि की प्रतीति नहीं होती, इसीप्रकार समस्त एषणाओं से दूर हुए ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त के समस्त क्लेशों का अनुक्रम उच्छिन्न होजाता है। शरीरपात के अनन्तर क्लेशों के अभाव में वह ब्रह्मज्ञानी आत्मा ब्रह्म की आनन्दरूपता का अनुभव करता है; यही अपवर्ग का स्वरूप है। फलतः अपवर्ग का अभाव कहना असंगत है॥ ६३॥

प्रवृत्ति अपवर्ग की बाधक नहीं—अपवर्ग के अभाव का साधक तीसरा हेतु–प्रवृत्यनुबन्ध बताया है। वाणी, मन तथा देह से कर्मों का कियाजाना 'प्रवृत्ति' है। यह क्रम अनिवार्यरूप से जीवनपर्यन्त चालू रहता है। तब अपवर्ग के उपायों का अनुष्ठान न होसकने से अपवर्ग का मानना व्यर्थ है। आचार्य सूत्रकार ने इस विषय में बताया—

न प्रवृत्तिः प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य ॥ ६४ ॥ (४०८)

[न] नहीं [प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति-देहादि क्रिया (समर्थ), [प्रतिसन्धानाय] जन्मान्तर से सम्बन्ध के लिए [हीनक्लेशस्य] क्लेशरहित-ब्रह्मज्ञानी जीवन्मुक्त की।

आत्मज्ञानी होजाने से जिसने सब क्लेशों से छुटकारा पालिया है, ऐसे जीवन्मुक्त व्यक्ति की देहादिक्रियारूप प्रवृत्तियाँ जीवन्मुक्त का अगले जन्म से सम्बन्ध जोड़ने के लिए समर्थ नहीं होतीं। राग-द्वेष-मोह आदि क्लेशों का जब आत्मज्ञान होजाने से क्षय होजाता है, तब पहला जन्म समाप्त होने पर अर्थात् आत्मज्ञानी जीवन्मुक्त का देहावसान होजाने पर क्रियमाण (उस देहादि से किये-गये) कर्म एवं सञ्चित कर्म अगले जन्म के साथ जीवन्मुक्त का सम्बन्ध जोड़ने में अपना सामर्थ्य खोबैठते हैं। तात्पर्य है–प्रारब्ध कर्मों को छोड़कर शेष सभी प्रकार के कर्मों का क्षय आत्मज्ञान से होजाता है। जीवन्मुक्त दशा में जो कर्म देहादि से कियेजाते हैं, वे तात्कालिक भोग के अतिरिक्त अन्य किसीप्रकार के फल को उत्पन्न करने में सर्वथा क्लीब रहते हैं। कर्म की क्लीबता का परिचय इसी अवसर पर मिलता है। आगे देहादि के साथ आत्मज्ञानी का सम्बन्ध न होने से उसका अपवर्ग होना सिद्ध होता है।

प्रारब्ध कर्मों का फलभोग अनिवार्य—इससे यह न समझना चाहिये कि कर्मों के विफल होजाने का दोष प्राप्त होता है। आत्मज्ञानी का पूर्वजन्म समाप्त होजाने पर अगला जन्म न होने का यह तात्पर्य नहीं है कि वह अपने पूर्वकृत कर्मों का फलोपभोग नहीं करता। वस्तुतः जिस जन्म के अनन्तर आत्मज्ञानी का फिर जन्म नहीं होता, उसी जन्म में वह अपने पूर्वकृत सब कर्मों का फल भोग-लेता है। किसी जन्म में भोग्य-कर्म केवल प्रारब्ध-कर्म होते हैं। कर्मों के अनन्त सञ्चय में से जो कर्म किसी एक शरीर का प्रारम्भ करते हैं, अर्थात् जिस एक जन्म के निमित्त होते हैं, वे 'प्रारब्ध'-कर्म कहेजाते हैं। आत्मज्ञान होजाने पर जबतक उन सब कर्मों का फल भोग नहीं लियाजाता, तबतक उस देहका नाश नहीं होता; वह जीवन चालू रहता है। समस्त प्रारब्ध-कर्मों के फल जब भोग लियेजाते हैं, तभी आत्मज्ञानी का देहपात होकर आगे देहादि-सम्बन्धरूप जन्म नहीं होता।

सञ्चित एवं नवीन क्रियमाण कर्मों से जनित संस्कारों का नाश आत्मज्ञान

से होजाता है, जैसा अभी गत पंक्तियों में प्रकट कियागया। 'अवश्यमेव भोक्तव्यं कृतं कर्म शुभाशुभम्।' अथवा 'नाभुक्तं क्षीयते कर्म' इत्यादि कथन सब प्रारब्ध कर्मों के विषय में है। उनका फलोपभोग अनिवार्य है। आत्मज्ञान होने से पहले वे अपने फलोपभोग के लिये जन्म-ग्रहण का निमित्त बनकर सजग होचुके होते हैं। अनन्तर उत्पन्न आत्मज्ञान का प्रभाव उनपर नहीं होता। सञ्चित कर्मों (जो अभी सोये पड़े हैं) तथा आत्मज्ञानी के क्रियमाण कर्मों को आत्मज्ञान दबोच-लेता है; उन्हें फलोपभोग के लिए सजग नहीं होनेदेता ॥ ६४ ॥

क्लेशसन्तति अनुच्छेद्य—शिष्य जिज्ञासा करता है, अनादि काल से चली आरही स्वभाव-प्राप्त क्लेशसन्तति–क्लेश के निरन्तर होते रहने का उच्छेद युक्त प्रतीत नहीं होता। शिष्यजिज्ञासा को आचार्य ने सूत्रित किया—

न क्लेशसन्ततेः स्वाभाविकत्वात् ॥ ६५ । (४०९)

[न] नहीं (युक्त उच्छेद), [क्लेशसन्ततेः] क्लेशसन्तति का [स्वाभाविकत्वात्] स्वभाव प्राप्त होने से (क्लेशसन्तति के)।

प्राणी के जीवन में निरन्तर आते रहनेवाले क्लेशों का उच्छेद होना युक्त प्रतीत नहीं होता, क्योंकि क्लेशों का यह क्रम अनादि काल से चला आया है। इसका उच्छेद होना शक्य नहीं। जैसे आत्मा अनादि नित्य है, उसीके साथ क्लेशों का सिलसिला अनादि प्रवाह से नित्य है। आत्मा के समान क्लेशों का भी उच्छेद नहीं; तब अपवर्ग की बात कहाँ रहजाती है? ॥ ६५ ॥

क्लेशसन्तति का उच्छेद सम्भव—आचार्य गौतम के शिक्षाकेन्द्र में उपस्थित एक उत्साही शिष्य ने उक्त जिज्ञासा का सत्वर समाधान किया-प्रागभाव अनादि भी अनित्य है। ऐसे अनादि क्लेशसन्तति भी अनित्य मानीजासकती है। आचार्य सूत्रकार ने वात्सल्य से समाधान को सूत्रित किया—

प्रागुत्पत्तेरभावानित्यत्ववत्
स्वाभाविकेऽप्यनित्यत्वम् ॥ ६६ ॥ (४१०)

[प्राग्-उत्पत्तेः] उत्पत्ति से पहले (कार्य की), [अभावानित्यत्ववत्] अभाव (कार्याभाव) के अनित्य होने के समान [स्वाभाविके] अनादि होने पर [अपि] भी (कार्याभाव के), [अनित्यत्वम्] अनित्य होना सम्भव है (अनादि क्लेश-सन्तति का)।

कार्य की उत्पत्ति से पहले कार्य का अभाव अर्थात् प्रत्येक उत्पद्यमान भाव-पदार्थ का–उसकी उत्पत्ति से पहले अनादिकाल से चला आरहा अभाव विद्यमान रहता है, जिसे 'प्रागभाव' कहाजाता है। उस भावकार्य के उत्पन्न होजाने पर अनादि भी प्रागभाव नष्ट होजाता है। अतः उसका अनित्य होना सिद्ध है। इसीप्रकार अनादि क्लेशसन्तति का आत्मज्ञान से विनाश होजाने के

कारण अनित्य होना सम्भव है। तब क्लेशों के न रहने से अपवर्ग का होना सिद्ध है ॥ ६६ ॥

इस समाधान से प्रोत्साहित होकर अन्य शिष्य ने एक और समाधान प्रस्तुत किया। आचार्य ने उसको सूत्रित किया—

अणुश्यामतानित्यत्ववद्वा ॥ ६७ ॥ (४११)

[अणुश्यामतानित्यत्ववत्] पृथिवी परमाणु की (अनादि) श्यामता के अनित्य होने के समान (क्लेशसन्तति का अनित्य होना सम्भव होगा), [वा] अथवा।

पूर्वोक्त प्रागभाव के दृष्टान्त में आपाततः यह न्यूनता स्पष्ट है कि वह अभाव है, क्लेशसन्तति अभाव नहीं। अभाव के अनादि होने पर भी उसमें अनित्यता सम्भव है; पर अनादि क्लेशसन्तति भावरूप होने से उसमें अनित्यता की सम्भावना नहीं कीजासकती। अनादि भावपदार्थ आत्मा आदि नित्य होता है। भावरूप क्लेशसन्तति के अनादि होने से नित्य बने रहने के कारण अपवर्ग सिद्ध न होसकेगा। इसलिये प्रस्तुत प्रसंग में ऐसे भावपदार्थ का दृष्टान्त उपयुक्त रहेगा, जो अनादि होता हुआ अनित्य हो। इसी भावना से प्रस्तुत सूत्र में 'अणुश्यामता' दृष्टान्त दियागया। पृथिवी परमाणु की श्यामता भावरूप है, अनादि है; फिर भी अग्निसंयोग से श्यामता के नष्ट होजाने के कारण वह अनित्य है। अनादि भावरूप क्लेशसन्तति भी तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान के सम्पर्क से नष्ट होजाती है। इसप्रकार क्लेशों के अभाव में अपवर्ग सिद्ध होता है।

आचार्य ने शिष्यों के प्रति वात्सल्य एवं प्रोत्साहन की भावना से उक्त दोनों दृष्टान्तों को मूल जिज्ञासा के समाधान के रूप में प्रदर्शित किया; पर वस्तुतः दोनों दृष्टान्त प्रसंग में अनुपयुक्त हैं। नित्य होना और अनित्य होना यह भाव-पदार्थ का धर्म मानाजाता है। भावपदार्थ में प्रधानरूप से इनका उल्लेख होता है। अभाव में इनका (नित्यत्व–अनित्यत्व का) प्रयोग गौणरूप में होता है। तात्पर्य है–अभाव-पदार्थ को मुख्यरूप से नित्य अथवा अनित्य नहीं कहाजा-सकता। इसलिए प्रागभाव में मुख्य अथवा वास्तविक नित्यत्व न होने पर उसका विनाश सम्भव है। पर क्लेशसन्तति अभाव न होने से अनादि होने के कारण उसका विनाश सम्भव न होगा। तब अपवर्ग असिद्ध होजायगा। अतः क्लेश-सन्तति के विनाश में प्रागभाव के विनाश का दृष्टान्त अनुपयुक्त है।

अणुश्यामता दृष्टान्त भी अनुपयुक्त है। पृथिवी का सबप्रकार का रूप पाकज होने से अनित्य मानाजाता है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि पृथिवी परमाणु में श्यामता अनादि अथवा नित्य होती है। अनुत्पादविनाशधर्मक भाव-पदार्थ नित्य होता है। परन्तु पदार्थ अनित्य हो और अनुत्पत्तिधर्मक हो, इसका

साधक हेतु कोई उपलब्ध नहीं है। ऐसी स्थिति में अणुश्यामता को अनुत्पत्ति-धर्मक मानकर अनित्य कहना नितान्त असंगत है। वस्तुतः पृथिवी का रूप पाकज होने से अनित्य है, चाहे वह श्याम हो अथवा रक्त अथवा अन्य कुछ। इसलिए पार्थिव परमाणु का श्याम एवं कोई अन्य रूप अनादि नहीं कहाजासकता। अतः क्लेशसन्तति के विनाश में उसका दृष्टान्त असंगत है ॥ ६७ ॥

क्लेशसन्तति का उच्छेद—आचार्य ने उक्त मूलजिज्ञासा का वास्तविक समाधान प्रस्तुत किया—

न संकल्पनिमित्तत्वाच्च रागादीनाम् ॥ ६८ ॥ (४१२)

[न] नहीं (कोई बाधा, रागादि क्लेशों की निवृत्ति में) [संकल्पनिमित्त-त्वात्] संकल्पनिमित्त होने से [च] तथा–इतरेतरनिमित्तक होने से [रागादी-नाम्] राग आदि क्लेशों के।

जिज्ञासा प्रकट कीगई–राग आदि क्लेशों के अनादि होने से उनकी निवृत्ति सम्भव न होगी; तब क्लेशों के निरन्तर बने रहने से अपवर्ग का अभाव प्राप्त होगा।

आचार्य ने बताया–क्लेशों के निवृत्त होने में कोई बाधा नहीं है। क्लेश संकल्प से अर्थात् संकल्पपूर्वक कियेगये कर्मों से उत्पन्न होते हैं। सूत्रपठित 'च' पद से आचार्य ने क्लेशों का एक अन्य कारण बताया–राग, द्वेष, मोह आदि क्लेशों से एक-दूसरे का उत्पन्न होना। तत्त्वज्ञान से वह कर्मविषयक मिथ्या संकल्प निवृत्त होजाता है, नष्ट होजाता है। मिथ्या संकल्प के नष्ट होने पर रागादि क्लेशों का–कारण के न रहने से–स्वतः नाश होकर अपवर्ग अनायास सिद्ध होजाता है।

इसप्रकार मिथ्यासंकल्पमूलक कर्मों से तथा परस्पर एक-दूसरे के कारण राग, द्वेष, मोह आदि से क्लेश उत्पन्न हुआ करते हैं। प्रत्येक व्यक्ति मिथ्या संकल्प से प्रेरित होकर सुखमूलक, दुःखमूलक एवं अज्ञानमूलक कर्मों के करने में प्रवृत्त होता है; उससे राग, द्वेष, मोह आदि क्लेश जन्म लेते रहते हैं। अनुष्ठित कर्म प्राणी के आगामी देहप्राप्ति में निमित्त रहते हैं; उन्हींके अनुसार नियम-पूर्वक रागादि क्लेशों को उत्पन्न कराने में प्रयोजक होते हैं। लोक में ऐसा नियम देखाजाता है–कोई शरीर राग-बहुल होता है, कोई द्वेषबहुल एवं कोई मोहबहुल। जैसे कबूतर आदि पक्षी तथा गाय, हरिण आदि पशुओं में नियम से राग का बाहुल्य देखाजाता है। सर्प तथा अन्य हिंसाशील पशु-पक्षियों एवं सरीसृपों में नियम से द्वेष का बाहुल्य रहता है। आलस्य एवं निद्रा आदि से अतिशयित अभिभूत जातियों में मोह का बाहुल्य समझना चाहिये। जैसे–अजगर, स्लोथ आदि। इसप्रकार प्राणीमात्र में रागादि क्लेश अपने कर्मों के कारण बराबर उत्पन्न होते रहते हैं।

राग आदि यथावसर एक-दूसरे को उत्पन्न किया करते हैं। जब मोह के प्रभाव से व्यक्ति कहीं अनुरक्त होजाता है, तब वहाँ राग की उत्पत्ति में मोह कारण है। जब मोह से अभिभूत व्यक्ति राग की उत्पत्ति में किसी बाधा को देखता है, तो उसके विषय में द्वेष उत्पन्न होजाता है। यहाँ मोह द्वेष की उत्पत्ति में कारण है। जब व्यक्ति कहीं अनुरक्त होकर मोह में फँसजाता है; वहाँ मोह का कारण राग है, अर्थात् राग से मोह की उत्पत्ति है। किसी विषय में उग्र द्वेष होने से, उसके विरोधी विषय में व्यक्ति का मोह एवं अनुराग उत्पन्न हो-जाता है। यहाँ मोह तथा राग का कारण द्वेष है। इसप्रकार राग, द्वेष, मोह यथावसर एक-दूसरे को उत्पन्न कियाकरते हैं।

मिथ्यासंकल्प अथवा परस्पर एक-दूसरे से उत्पन्न होनेवाले राग, द्वेष, मोह आदि सभी क्लेशों का उच्छेद तत्त्वज्ञान से होजाता है। तत्त्वज्ञान, क्लेशों के निमित्त मिथ्यासंकल्प को जड़ से उखाड़ फेंकता है। जब क्लेशों का कारण मिथ्यासंकल्प न रहा, तब कारण के अभाव में क्लेश-कार्य उत्पन्न नहीं होपाता। इसप्रकार रागादि क्लेशों का अत्यन्त उच्छेद होजाता है।

रागादि क्लेशों का सिलसिला अनादि है; यह कहना भी युक्त नहीं है। समस्त राग-द्वेष आदि आध्यात्मिक भावों तथा देह आदि प्राप्ति का अनुक्रम आत्मा के साथ अनादि-प्रवाह में चला आरहा है। यह वस्तुतः निरन्तर बहने-वाली जलधारा के समान एक अटूट प्रवाह समझाजाना चाहिये। इस प्रवाह में ऐसा नहीं है कि राग आदि क्लेश अथवा शरीर आदि अभूतपूर्व उत्पन्न होते हों; अर्थात् जो पहले कभी उत्पन्न न हुए हों, और यह उनकी उत्पत्ति का प्रथम अवसर हो। स्वरूप और विषय [क्षेत्र] की दृष्टि से वे ही राग आदि चक्रभ्रमि के समान अनवरत सामने आया करते हैं। केवल तत्त्वज्ञान ऐसा है, जिसकी उत्पत्ति किसी जीवन में अभूतपूर्व होती है। तात्पर्य है, उसका उत्पाद किसी ज्ञातकाल में पहले नहीं हुआ होता।

राग आदि क्लेश अथवा शरीर आदि के ऐसे अनवरत प्रवाह के कथन से किसी अनुत्पत्तिधर्मक पदार्थ को विनाशशील स्वीकार कियागया हो, ऐसा नहीं है। क्लेश तथा शरीर आदि सब उत्पाद विनाशशील पदार्थ हैं, भले ही उनका प्रवाह अनादि है। तत्त्वज्ञान से मिथ्यासंकल्प-मिथ्याज्ञान का विनाश होजाता है; राग आदि क्लेशों की उत्पत्ति का कारण जब मिथ्यासंकल्प नहीं रहता, तब राग आदि का उत्पन्न होना असम्भव होजाता है। तत्त्वज्ञान होजाने पर भी चालू जीवन के प्रारब्ध-कर्मों का सुख-दुःखरूप फल ज्ञानी को अवश्य भोगना होता है। देहपात के अनन्तर किसी प्रकार के दुःख का न रहना—अपवर्ग का

स्वरूप है। फलतः अपवर्ग के अस्तित्व में किसी बाधा की कल्पना निराधार है ॥ ६८ ॥

इति गौतमीयन्यायशास्त्रस्योदयवीरशास्त्रिविरचिते विद्योदयभाष्ये
तुरीयाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ॥

आकाशगुणखनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे।
श्रावणाऽसितपक्षस्य द्वितीयस्यां तिथौ तथा ॥
ग्रन्थांशोऽयं पूर्त्तिमगात्सुपूते कुजवासरे।
सोऽयं मनांसि विदुषां रञ्जयत्वनिशं चिरम् ॥

अथ चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

तत्त्वज्ञान किसका—गत प्रकरण में कहागया–तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होकर अपवर्ग की सिद्धि होती है। यहाँ स्वभावतः जिज्ञासा उभर आती है–तत्त्वज्ञान क्या समस्त विषयों का होना चाहिये? अथवा कतिपय नियत विषयों का?

विषयों के अनन्त होने से सबका तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं। कतिपय नियत विषयों का तत्त्वज्ञान मानने पर, अन्य अनेक विषयों में मिथ्याज्ञान बना रहेगा। एक विषय के तत्त्वज्ञान से अन्य विषय के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति नहीं हो-सकती। मोह अथवा मिथ्याज्ञान अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है; तत्त्वज्ञान का अभावमात्र मिथ्याज्ञान नहीं है, जिससे जिस-किसी विषय का तत्त्वज्ञान हो-जाने पर मिथ्याज्ञानमात्र का उच्छेद होजाय। इसलिये यह समझना आवश्यक है कि किन पदार्थों का तत्त्वज्ञान होना अपेक्षित है, जो मिथ्याज्ञान के उच्छेद में समर्थ हो।

मिथ्याज्ञान के आधार—स्पष्ट है, जिन विषयों में मिथ्याज्ञान का होना संसार का कारण है, अर्थात् जिन विषयों के मिथ्याज्ञान से आत्मा संसार-बन्धन में फँसा रहता है, उन विषयों का तात्त्विक रूप से जानना अपेक्षित है। वह विषय और तद्विषयक मिथ्याज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञातव्य है। वे विषय हैं–शरीर-इन्द्रिय आदि प्रमेय; तथा उन विषयों में मिथ्याज्ञान का स्वरूप है–उन अनात्म तत्त्वों को आत्मा समझ बैठना। शरीर आदि आत्म-भिन्न पदार्थों में 'यही मैं आत्मा हूँ' ऐसा अहंभाव होना मोह-अज्ञान अथवा मिथ्याज्ञान है। जिन

अनात्म विषयों में आत्मा होने का अहंभाव उभरता है, वे हैं–शरीर, इन्द्रिय, मन, वेदना, बुद्धि आदि। शरीर के मोटे-पतले, बली-दुर्बल होने को आत्मा का मोटा-पतला होना आदि मानना। इन्द्रियों के विकार काणा, बहरा आदि को– 'मैं काणा, बहरा हूँ' इसप्रकार आत्मा का स्वरूप समझना। मानसिक कष्ट व विकार (उन्माद) आदि को आत्मा का विकार जानना। 'वेदना'-पद पुत्र, कलत्र, पशु, परिच्छद आदि के संयोग-वियोग से होनेवाले सुख-दुःख का बोधक है; उनको आत्मा समझना, यह सब घोर मिथ्याज्ञान है। बुद्धि को आत्मा समझना, जो आत्मा की बाह्य अनुभूतियों के लिये एक साधनमात्र है–मिथ्या-ज्ञान है।

मिथ्याज्ञान संसारहेतु कैसे—जिज्ञासा होती है-शरीरादिविषयक आत्मा-भिमान संसार का कारण कैसे होता है? यह स्पष्ट होना चाहिये। जब आत्मा शरीर–इन्द्रिय आदि समुदाय को 'यही मैं हूँ' इसप्रकार आत्मा का स्वरूप समझता है, और इसी भावना में आस्था रखता है, तब शरीर आदि के उच्छेद को आत्मा का उच्छेद मानता हुआ उसके अनुच्छेद के लिये इच्छुक, उत्सुक, सतृष्ण बना रहता है। विनाशशील शरीर आदि के अनुच्छेद की तीव्र तृष्णा में डूबा हुआ यह व्यक्ति बार-बार शरीर आदि को धारण करता रहता है। इसका अभिप्राय है–जन्म-मरण के निरन्तर आवर्त्तमान चक्र में फँसा रहता हे। उससे छुटकारा न मिलने के कारण वह दुःख से अत्यन्त विमुक्त नहीं होपाता। फलतः शरीर आदि अनातम तत्त्वों को आत्मा जानना मिथ्याज्ञान है, और यह संसार का कारण है; इसलिए इन्हींके विषय का तत्त्वज्ञान उक्त मिथ्याज्ञान का उच्छेद कर अपवर्ग का साधन होता है।

जीवन में यह स्थिति लाने के लिए आवश्यक है–व्यक्ति दुःख, दुःख के घर शरीर आदि तथा दुःखों में सने हुए सुख को भी दुःख समझे, ऐसा समझ-कर उससे दूर रहने के उपायों का अनुष्ठान करे। इससे दुःखों का वेग क्षीण होता चलाजाता है। संसार में यद्यपि वैषयिक सुख का बड़ा आकर्षण रहता है; परन्तु अति मधुर, पर विषमिश्रित अन्न जैसे त्याज्य है, ऐसे ही दुःखों के कीचड़ में सने हुए वैषयिक सुखों को त्याज्य समझकर उनके क्षय के लिए उपाय करना अपेक्षित होता है। इसप्रकार अध्यात्म-मार्ग पर चलनेवाला व्यक्ति, प्रवृत्ति के हेतु दोषों [राग, द्वेष, मोह आदि] को दुःख का कारण जानलेता है। जब तक दोष क्षीण नहीं होजाते, दुःख का सिलसिला टूट नहीं सकता; ऐसा समझकर वह दोषों को छोड़ने का प्रयास करता है। राग आदि दोषों के न रहने पर विषयों में प्रवृत्ति का होना रुकजाता है, तथा जन्मान्तर के साथ जोड़ेजाने का आधार न रहजाने से व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र को लाँघ जाने की स्थिति में पहुँचजाता है [४। १। ६४]। तब अध्यात्ममार्ग का यात्री–पुनर्जन्म, कर्मफल

तथा संसार दुःखों का सागर है–इनकी वास्तविकताओं को निश्चितरूप से समझ-लेता है। इसके साथ त्याज्य प्रवृत्ति और दोषों को भी जानलेता है।

इसप्रकार आत्मा के लिए अपवर्ग एक प्राप्तव्य अवस्था है, मानव-जीवन का यह सर्वोच्च लक्ष्य है। उसकी प्राप्ति का उपाय केवल तत्त्वज्ञान है, जिसका विवरण गत पंक्तियों में दियागया है। यह सब मिलाकर समस्त ज्ञातव्य विषय चार विधाओं में सीमित होजाता है–१. हेय-त्याज्य, संसार है। २. हेयहेतु, प्रवृत्ति और दोष हैं। ३. प्राप्य-उपादेय, अपवर्ग है। ४. प्राप्य का हेतु, तत्त्व-ज्ञान है। इन चार को–'हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय' रूप में कहाजाता है। 'हान' का तात्पर्य है–दुःख का अत्यन्त विनाश। उसका उपाय-साधन तत्त्वज्ञान है। इसप्रकार जो व्यक्ति प्रमेयमात्र का विभाग कर इसी भावना से निरन्तर अभ्यास-आचरण करता हुआ तत्त्वज्ञान के उपायों का अनुष्ठान करता है, उसे यथावसर तत्त्वज्ञान होजाता है। सूत्रकार ने बताया, इसप्रकार—

दोषनिमित्तानां तत्त्वज्ञानादहङ्कारनिवृत्तिः ॥ १ ॥ (४१३)

[दोषनिमित्तानाम्] दोष कारणवाले शरीर आदि के [तत्त्वज्ञानात्] तत्त्वज्ञान से [अहङ्कारनिवृत्तिः] अहङ्कार (शरीर आदि में आत्माभिमान) की निवृत्ति होजाती है।

अहङ्कारनिवृत्ति कैसे—राग, द्वेष आदि दोष शरीर आदि की प्राप्ति के निमित्त हैं। मानवशरीर में आकर व्यक्ति रागादि से प्रेरित होकर कर्म करता है, वे कर्म आगे अन्य रागादि को उत्पन्न करते हैं, जो चालू देह के पतन के अनन्तर देहान्तर की प्राप्ति में निमित्त होते हैं। इसप्रकार पूर्वरागादि से यह देह, इस देह के द्वारा कर्मपूर्वक अन्य राग आदि का उत्पाद, पुनः सञ्चित व क्रियमाण कर्मों से अन्य देह की प्राप्ति, यह क्रम अनादिकाल से चल रहा है। इसका कारण है-शरीरादिविषयक मिथ्याज्ञान। शरीर आदि दुःखपर्यन्त अनात्म-तत्त्वों को आत्मा समझना। यह मिथ्याज्ञान शरीरादिविषयक तत्त्वज्ञान से निवृत्त होता है, क्योंकि एक विषय का मिथ्याज्ञान और तत्त्वज्ञान परस्पर-विरोधी होने से एक काल में नहीं रहसकते। जबतक तत्त्वज्ञान नहीं होता, मिथ्याज्ञान बना रहता है। व्यक्ति तब शरीरादि अनात्मतत्त्वों को आत्मा समझता हुआ सब व्यवहार करता है। जब शरीरादि अनात्मा को अनात्मा–और शरीरभिन्न चेतन आत्मा को आत्मा–होने का साक्षात्कार होजाता है, तब यह तत्त्वज्ञान शरीरादिविषयक मिथ्याज्ञान का उच्छेद करदेता है। मिथ्याज्ञान के न रहने पर–कारणनाश से कार्यनाश की व्यवस्था के अनुसार यथाक्रम–दोष, प्रवृत्ति, जन्म और दुःखों का उच्छेद होजाने से आत्मा को अपवर्ग की अवस्था प्राप्त होजाती है। यह सब प्रथम [१। १। २ तथा ९-२२ में] कहाजाचुका

है, उसीका यहाँ पुनः कथनमात्र है, नया विधान कुछ नहीं। इससे यह स्पष्ट होजाता है–तत्त्वज्ञान उन्हीं विषयों का होना अपेक्षित है, जिनका मिथ्याज्ञान संसार का निमित्त है ॥ १ ॥

दोषों के कारण रूपादि—तत्त्वज्ञान के लिए प्रवृत्त होने पर किस पदार्थ का ज्ञान प्रथम और किसका अनन्तर होनाचाहिये, इस ज्ञानक्रम को बतलाने के लिए सूत्रकार ने कहा—

दोषनिमित्तं रूपादयो विषयाः सङ्कल्पकृताः ॥ २ ॥ (४१४)

[दोषनिमित्तम्] रागादि दोषों को उत्पन्न करनेवाले होते हैं–[रूपादयः] रूप, रस आदि [विषयाः]विषय [सङ्कल्पकृताः] संकल्प से उद्भूत हुए–उभरे हुए।

रूपादि विषय दोषों के कारण—रूप, रस, गन्ध आदि चक्षु आदि इन्द्रियों के ग्राह्य अर्थ हैं। इनमें संकल्प अर्थात् मानसिक विकार से व्यक्ति की कामना उत्पन्न होजाती है, इनको प्राप्त करने व भोगने की चाहना। रूपादि के प्रति यह कामना व्यक्ति में राग आदि को उत्पन्न करदेती है। इसलिए सबसे प्रथम रूप, रस आदि विषयों को तात्त्विकरूप से जानने का प्रयत्न करना चाहिये। रूपादि को इसप्रकार जानने के लिए प्रयत्न करते हुए व्यक्ति का रूपादिविषयक मिथ्यासंकल्प, अर्थात् मिथ्याज्ञान निवृत्त होजाता है। उसके निवृत्त होजाने पर शरीर, इन्द्रिय आदि की वास्तविकता को जानने का प्रयास करे। इनकी रचना, इनके उपादान कारण तथा तात्त्विक स्वरूप क्या हैं? यह जानने का प्रयत्न करे। इसके जानलेने पर व्यक्ति को निश्चय होजाता है–शरीर-इन्द्रिय आदि सब जड़ तत्त्व हैं, आत्मा चेतन ज्ञानवान् है; शरीरादि जड़तत्त्व आत्मा नहीं होसकते। ऐसी स्थिति में शरीरादिविषयक मिथ्याज्ञान–'यही मैं आत्मा हूँ'–निवृत्त होजाता है। इसप्रकार जब बाह्य और आन्तर विषयों में मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाती है, तब संयतचित्त आत्मा जीवन्मुक्त होजाता है। उसकी चित्तवृत्तियाँ बाह्य तथा आन्तर विषयों में दौड़-धूप नहीं करतीं। वह शान्तचित्त हो आत्मानन्द का अनुभव करता है ॥ २ ॥

हेय-भावनीय भाव—इस स्थिति को प्राप्त होकर आध्यात्मिक व्यक्ति के लिए यह अपेक्षित होता है कि वह किन्हीं विषयों का परित्याग करे, तथा किन्हीं का निरन्तर चिन्तन किया करे। इससे किन्हीं अर्थों का निराकरण अथवा किन्हीं अर्थों का उपपादन करना आचार्य को अभिप्रेत नहीं है। वह केवल अर्थों के चिन्तन-अचिन्तन की बात कहना चाहता है। इस विषय में कौन और कैसे हेय, तथा भावनीय है–चिन्तन करने–साधना करने के योग्य है? आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तन्निमित्तं त्ववयव्यभिमानः ॥ ३ ॥ (४१५)

[तन्निमित्तम्] उन रागादि दोषों का निमित्त [तु] तो (होता है) [अवयव्यभिमानः] अवयवी में अभिमान (अपनी भोग्य वस्तु में अपने अभिमत होने का ज्ञान)।

सूत्र में 'अवयवी' पद का तात्पर्य—भोग्य देह—से है। वह पुरुष के लिए स्त्री का और स्त्री के लिए पुरुष का होता है। पुरुष के लिए स्त्री का देह रागादि की उत्पत्ति का हेतु होता है, और स्त्री के लिए इसीप्रकार पुरुष का देह। प्रत्येक व्यक्ति भिन्नलिङ्गी देह के विषय में उसके विशिष्ट अङ्गों को लक्ष्यकर अपना एक अभिमत, विचार व संकल्प बनाता है। यह विचार अङ्गों की दो बातों को लक्ष्य करता है—एक-अङ्गों की स्थिति, दूसरी—उनकी बनावट। स्थिति में केवल इतना विचार आता है कि आँख-नाक, दाँत-ओष्ठ, श्रोत्र, रसना, हाथ-पाँव, बाँह आदि का स्मरण रागादि को उत्पन्न करदेता है। दूसरे—बनावट में ऐसा विचार आता है—उसकी आँखें ऐसी हैं, उसके दाँत, ओष्ठ, नाक, कान आदि ऐसे हैं। ये विचार उनमें अपनी अभिमत भावना को अभिव्यक्त करते हैं। इनमें पहले विचार या संकल्प को आचार्यों ने 'निमित्तसंज्ञा' नाम दिया है; दूसरे को 'अनुव्यञ्जनसंज्ञा' अथवा 'अनुरञ्जनसंज्ञा'। पहले नाम का आधार है—रागादि की उत्पत्ति का निमित्त होना। दूसरे का आधार है—अङ्गों के अभिमत सौन्दर्य को अभिव्यक्त करना। ये विचार व्यक्ति की कामवासना को उभारते व बढ़ाते हैं, तथा उससे सम्बद्ध अन्य सभी प्रकार के दोषों को उत्पन्न करते हैं, जिनको वर्जनीय, अर्थात् हेयपक्ष में मानागया है। अध्यात्ममार्ग पर चलनेवाले व्यक्ति को इन विचारों का सर्वात्मना परित्याग करना चाहिये।

इससे विपरीत, देह आदि के विषय में जो भावनीय विचार हैं, उनके अनुसार देह व देहाङ्गों को भिन्नरूप में अभिव्यक्त कियाजाता है। कारणों के आधार पर एक-एक अङ्ग का विश्लेषण करने से देह का शीराज़ा बिखर-सा जाता है। इसमें केश, लोम, माँस, रक्त, हड्डी, नस, नाड़ी, कफ, पित्त, मल, मूत्र आदि के अतिरिक्त और देह है ही क्या? ऐसी क्या ये वस्तु हैं, जिसके लिए व्यक्ति अपना जीवन नष्ट करदेता है? आचार्यों ने इसप्रकार की विचार-स्थिति का नाम 'अशुभसंज्ञा' रक्खा है। इसमें व्यक्ति की देहादिविषयक अशुभ भावना जागृत होती है, जिससे व्यक्ति केवल देहादि रचना की ओर आकृष्ट नहीं होता। उसका कामनामूलक अनुराग इस प्रवृत्ति से क्षीण होने लगता है, तथा अध्यात्ममार्ग पर निर्बाध सफलता की सम्भावना बढ़जाती है।

विषयों के अपने रूप में अथवा अपनी स्थिति में यथायथ बने रहने पर 'हेय' और 'ध्येय' इन दोनों प्रकारों का उपदेश आचार्यों ने किया है; जिससे व्यक्ति विषयों में भावनीय एवं परिवर्जनीय स्वरूप को समझकर अपने लक्ष्य

का निर्धारण कर सके। जैसे विषसंमिश्रित अन्न में 'अन्न-संज्ञा' उसका ग्रहण करने के लिए, तथा 'विष-संज्ञा' परित्याग के लिए होती है; ऐसे ही समष्टिरूप में शरीर के सौन्दर्य की भावना कामोत्पत्ति के लिए, तथा मांस, मज्जा, रक्त आदि की भावना परित्याग के लिए होती है। इसमें देह के अवयव मांस, मज्जा आदि को 'अशुभ' मानेजाने के कारण इसे 'अशुभसंज्ञा' तथा पहली भावना में उसे 'शुभ' समझेजाने के कारण 'शुभसंज्ञा' नाम दियेगये हैं। इस प्रसंग से यह स्पष्ट करदियागया है, कि मिथ्याज्ञान की निवृत्ति के लिए किन विषयों का तत्त्वज्ञान अपेक्षित होता है। उसके लिए व्यक्ति को प्रयास करना चाहिये ॥ ३ ॥

अवयवी संशयित—गत सूत्र के द्वारा देह आदि अवयवी में आत्माभिमान से रागादि की उत्पत्ति का होना बताया। इस प्रसंग से शिष्य अवयवी के विषय में संशय प्रस्तुत करता है। आचार्य ने शिष्य-भावना को सूत्रित किया—

विद्याऽविद्याद्वैविध्यात् संशयः ॥ ४ ॥ (४१६)

[विद्याऽविद्याद्वैविध्यात्] विद्या-उपलब्धि तथा अविद्या-अनुपलब्धि के दोनों प्रकार होने से [संशयः] संशय है (अवयवी के विषय में)।

अनात्मतत्त्व देह आदि अवयवी में आत्मविषयक मिथ्याज्ञान से राग आदि दोषों की उत्पत्ति मानने का उस समय कोई आधार नहीं रहता; जब अवयवी का अस्तित्व सिद्ध न हो। यद्यपि दूसरे अध्याय [२।१।३२-३६] में अवयवी को सिद्ध कियागया है; और वहाँ प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा करते हुए कहागया है, कि द्रव्य का प्रत्यक्ष अवयवी के रूप में होना सम्भव है, अतः द्रव्य का प्रत्यक्ष होना अवयवी के सद्भाव में निमित्त है। परन्तु प्रस्तुत प्रसंग में वस्तु का प्रत्यक्ष होजाने पर संशय का आधार उसके आगे है। इसलिए पूर्व प्रसंगानुसार सिद्ध अवयवी के विषय में संशय का एक नया आधार यहाँ सामने आता है।

संशयलक्षणसूत्र [१।१।२३] में प्रथम उपलब्धि और अनुपलब्धि की अव्यवस्था को संशय का कारण बताया गया है। प्रस्तुत प्रसंग में संशय का उद्भावन शिष्य उसी आधार पर करता है। कहागया—द्रव्य की उपलब्धि केवल अवयवी के रूप में सम्भव है। परन्तु ऐसी कोई व्यवस्था नहीं है, कि उपलब्धि सदा केवल विद्यमान वस्तु की हो। अविद्यमान वस्तु की भी उपलब्धि होती है। रज्जु में अविद्यमान सर्प तथा मरु-मरीचिकाओं में अविद्यमान जल की उपलब्धि-प्रतीति होती है। इसीप्रकार सम्भव है—अवयवी अविद्यमान रहता हुआ उपलब्ध होता हो।

यदि अवयवी को अनुपलब्ध मानाजाता है, संशय की दशा तब भी बनी-रहती है। क्योंकि वस्तु की अनुपलब्धि के विषय में यह व्यवस्था नहीं है, कि वह केवल अविद्यमान वस्तु की हो। कभी विद्यमान वस्तु भी उपलब्ध नहीं होती।

वृक्ष का मूल भूमि में विद्यमान होने पर उपलब्ध नहीं होता। भूमि में गाड़े हुए खूँटे तथा दीवार में गाड़ीगई कील का अन्तर्हित भाग विद्यमान होता हुआ भी उपलब्ध नहीं होता। कुए में गहराई का पानी होते हुए भी नहीं दीखता। इस दशा में अवयवी यदि उपलब्ध होता है, अथवा नहीं होता, दोनों प्रकार संशय से उसका छुटकारा नहीं है। संदिग्ध अस्तित्व के आधार पर रागादि-उत्पत्ति के हेतु का उपपादन करना अधिक संगत नहीं कहाजासकता ॥ ४ ॥

अवयवी की सत्ता असंदिग्ध—आचार्य ने उक्त संशय का निराकरण किया—

तदसंशयः पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात् ॥ ५ ॥ (४१७)

[तद्-असंशयः] उस अवयवी में संशय नहीं है [पूर्वहेतुप्रसिद्धत्वात्] पूर्वोक्त हेतुओं से अच्छीतरह सिद्ध होने के कारण।

अवयवी के अस्तित्व में संशय प्रस्तुत करना युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा के अवसर पर [२। १। ३२-३६] अवयवी की सिद्धि के लिए जो हेतु प्रस्तुत कियेगये हैं, उनका प्रतिषेध न होने से वे अपने साध्य को सिद्ध करने में पूर्ण समर्थ हैं। इसलिए मानना चाहिये–कारण-द्रव्य अपने विशिष्ट संयोग आदि द्वारा एक नवीन द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, जो 'अवयवी' कहाजाता है। देह आदि द्रव्य ऐसे ही अवयवी हैं॥ ६ ॥

अवयवि-विवेचन—पूर्वोक्त हेतुओं को जैसे-तैसे स्मरण करता हुआ शिष्य उनकी उपेक्षा से प्रकट करना चाहता है–'अवयवी के अस्तित्व में संशय नहीं है' ऐसा न कहकर यह कहना चाहिये–'अवयवी के अभाव में संशय नहीं है'। तात्पर्य है–संशय का न होना अवयवी के अस्तित्व में न कहकर अवयवी के अभाव में कहना चाहिये। अवयवी जब है ही नहीं, तो उसमें संशय कैसा? शिष्य की इस भावना को आचार्य ने अग्रिम पाँच सूत्रों द्वारा विवृत किया है। पहला सूत्र है—

वृत्त्यनुपपत्तेरपि तर्हि न संशयः ॥ ६ ॥ (४१८)

[वृत्त्यनुपपत्तेः] वृत्ति-स्थिति की अनुपपत्ति से (अवयवों में अवयवी की तथा अवयवी में अवयवों की स्थिति उपपन्न-सिद्ध न होने से) [अपि] भी [तर्हि] तो [न] नहीं [संशयः] संशय।

न अवयवी में अवयव रहसकते, और न अवयवों में अवयवी। वृत्ति की व्यवस्था किसीप्रकार न होने से यही कहाजासकता है कि अवयवी है ही नहीं। तब उसके विषय में संशय निराधार है। फलतः अवयवी के अभाव में असंशय समझना चाहिये, भाव में नहीं॥ ६ ॥

वृत्ति की अनुपपत्ति को स्पष्ट करते हुए प्रथम अवयवी में अवयव किस-प्रकार नहीं रहसकते, यह बताया—

कृत्स्नैकदेशाऽवृत्तित्वादवयवानामवयव्यभावः ॥ ७ ॥ (४१६)

[कृत्स्नैकदेशावृत्तित्वात्] कृत्स्न–सम्पूर्ण अवयवी में अथवा अवयवी के एकदेश में वृत्ति न होने से [अवयवानाम्] अवयवों की [अवयव्यभावः] अवयवी का अभाव समझना चाहिये।

जिन अवयवों से अवयवी का उत्पन्न होना कहाजाता है, क्या वह एक-एक अवयव सम्पूर्ण अवयवी में रहता है? ऐसा होना सम्भव नहीं, क्योंकि अवयव और अवयवी के परिमाण में भेद मानाजाता है। तब प्रत्येक अवयव सम्पूर्ण अवयवी में नहीं रहसकता। यदि कहाजाय, अवयवी के एकदेश में रहता है, तो यह भी सम्भव नहीं। क्योंकि कारण-अवयवों के अतिरिक्त अन्य कोई अवयवी के एकदेश अवयविवादी नहीं मानता। जब तथाकथित अवयवी में एकदेश की कल्पना नहीं, तब उसमें (एकदेश में) अवयव की वृत्ति कहना असंगत होगा। इसप्रकार प्रत्येक अवयव न सम्पूर्ण अवयवी में, न उसके एकदेश में रहसकता, अतः अवयवी का मानना व्यर्थ है ॥ ७ ॥

यदि अवयवों में अवयवी की वृत्ति मानीजाय तो वह भी ठीक नहीं; क्योंकि–

तेषु चाऽवृत्तेरवयव्यभावः ॥ ८ ॥ (४२०)

[तेषु] उन अवयवों में [च] तथा (अथवा–भी) [अवृत्तेः] न रहने से (अवयवी के) [अवयव्यभावः] अवयवी का अभाव समझना चाहिये।

अवयविवादी के अनुसार अवयव और अवयवी के परिमाण में भेद होने से प्रत्येक अवयव में अवयवी का रहना सम्भव नहीं। यदि ऐसा मानलियाजाता है, तो तथाकथित एक घट अवयवी के स्थान पर उतने अवयवी मानेजायेंगे, जितने अवयवों का समुदाय घट है, जो अवयविवादी के लिए अमान्य है। इसके अतिरिक्त यदि प्रत्येक अवयव में एक अवयवी विद्यमान है, तो अवयव-अवयवी में अन्तर क्या रहगया? इससे तो यही ज्ञात होता है कि अवयव को 'अवयवी' नाम देदियागया। अवयव से अतिरिक्त अवयवी का मानना निष्प्रयोजन है। ऐसा मानने में यह एक अन्य दोष है–प्रत्येक अवयव में एक अवयवी की वृत्ति मानने से अवयव के समान अवयवी को भी निरवयव मानना होगा। परन्तु अवयवि-वाद में अवयव को निरवयव तथा अवयवी को सावयव मानाजाता है।

यदि अवयवसमुदाय के किसी एकदेश में अवयवी के रहने की कल्पना की-जाती है, तो किन्हीं निर्धारित अवयवों में अपने किन्हीं अंशों के साथ ही अवयवी रहसकेगा। क्योंकि अवयवसमुदाय के जिन अवयवों में वह अवयवी नहीं है, उसके लिए अवयवी के अन्य अवयवों की कल्पना करनी होगी, जो अवयविवाद

में स्वीकार्य नहीं है। फलतः अवयवी में अवयवों के रहने तथा अवयवों में अवयवी के रहने की सम्भावना किसीप्रकार बनती नहीं; इसलिए अवयवी का स्वीकार करना निरर्थक है ॥ ८ ॥

अवयवों से पृथक् भी अवयवी का रहना सम्भव नहीं, यह बताया—

पृथक् चावयवेभ्योऽवृत्तेः ॥ ९ ॥ (४२१)

[पृथक्] अलग [च] भी [अवयवेभ्यः] अवयवों से [अवृत्तेः] न रहने के कारण (अवयवी के)।

अवयवों को अवयवी का कारण बतायाजाता है। कोई कार्य अपने कारणों को छोड़कर अन्य अधिकरण में नहीं रहता। तब अवयवी भी अपने कारण-अवयवों को छोड़कर उनसे पृथक् अन्य अधिकरण में रहे, ऐसा सम्भव नहीं ॥ ९ ॥

अवयवी को अवयवरूप भी नहीं कहाजासकता, यह बताया—

न चावयव्यवयवाः ॥ १० ॥ (४२२)

[न] नहीं है [च] और [अवयवी] अवयवी [अवयवाः] अवयवरूप।

समस्त अवयव ही अवयवी है, ऐसा नहीं कहाजासकता। क्योंकि तब अवयवों के अस्तित्व में अवयवी का मानना व्यर्थ है। इसके अतिरिक्त अवयवी के अवयवरूप होने से अवयवी को अवयवों के समान निरवयव मानना होगा, जैसा प्रथम कहाजाचुका है, जो अवयविवाद में अमान्य है। अवयवों को अवयवी मानने पर दोनों में अभेद स्वीकार करना होगा, जो उक्त वाद में मान्य नहीं। ऐसी स्थिति में अवयव-अवयवी का अभिमत आधाराधेयभाव सम्भव न रहेगा, जो दो के भेद में होसकता है। इसप्रकार भी अवयवी सिद्ध नहीं होता।

अवयवी की अवयवरूपता का तात्पर्य यदि यह है कि अवयवी के तथा-कथित कारणभूत समस्त अवयवों में अवयवी विद्यमान रहता है। इसप्रकार अवयवी की वृत्ति समस्त अवयवों में मानीजासकती है। अवयवि-निराकरणवादी का कहना है कि यह प्रकार भी अवयवी का साधक नहीं है। क्योंकि जिस अवयवसमुदाय को अवयवी का कारण कहाजाता है, वह अपने रूप में स्वतः विद्यमान है; उसमें अतिरिक्त अवयवी की कल्पना के लिए कोई कारण दिखाई नहीं देता। अवयवी की कल्पना जिस प्रयोजन के लिए हो, वह सब अवयव-समुदाय से सम्पन्न होसकता है ॥ १० ॥

अवयवि-सद्भाव आवश्यक—आचार्य ने शिष्य की भावना का उदारता-पूर्वक विवरण प्रस्तुत कर उसका उपयुक्त समाधान किया—

एकस्मिन् भेदाभावाद् भेदशब्दप्रयोगानुप-पत्तेरप्रश्नः ॥ ११ ॥ (४२३)

[एकस्मिन्] एक में [भेदाभावात्] भेद के न होने से [भेदशब्द-प्रयोगानुपपत्तेः] भेद-बोधक शब्दों का प्रयोग उपपन्न (युक्त) न होने के कारण [अप्रश्नः] प्रश्न संगत नहीं है (पूर्वोक्त अवयवि-निराकरणविषयक) ।

'अवयवी' नितान्त एक व्यक्तिरूप द्रव्य है। उसे अपने सद्भाव-काल में च्छिन्न नहीं कियाजासकता। कृत्स्न अथवा एकदेश आदि पदों का प्रयोग भेद की अवस्था में सम्भव है। यदि एक चैत्र या मैत्र आदि कोई व्यक्ति सामने उपस्थित होता है, तो यह नहीं कहाजासकता कि ये सब आदमी खड़े हैं, अथवा आदमी का एकदेश खड़ा है। किसी संस्था अथवा आश्रम में पचास व्यक्ति रहते हैं। यदि समस्त पचास व्यक्ति सामने उपस्थित हैं, तो वहाँ 'कृत्स्न' तथा समस्त आदि पदों का प्रयोग उपपन्न है, प्रमाणसिद्ध है। यह पद निर्धारित अनेक व्यक्तियों की अशेषता-सम्पूर्णता का कथन करता है। जितने व्यक्ति आश्रम में हैं, वे सब उपस्थित हैं, कोई शेष नहीं रहा। ये पचास व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न हैं। भिन्न व्यक्तियों की अशेषता में 'कृत्स्न' पद का प्रयोग उपयुक्त है।

यदि पचास व्यक्तियों में बीस, पच्चीस, तीस अथवा और जितने भी न्यूनाधिक उपस्थित हैं, शेष अनुपस्थित, तो वहाँ उपस्थित अथवा अनुपस्थित आश्रमनिवासियों के लिये 'एकदेश' पद का प्रयोग उचित होगा। आश्रमवासियों का एकदेश, एकभाग, एक अंश उपस्थित अथवा अनुपस्थित है। 'एकदेश' पद अनेक व्यक्तियों में से किन्हीं सीमित व्यक्तियों का कथन करता है। इसप्रकार 'कृत्स्न' तथा 'एकदेश' पद का प्रयोग अनेक व्यक्तियों की निर्धारित सम्पूर्णता एवं असम्पूर्णता का बोध कराने के लिये होता है। एक अवयवी में–जो नितान्त एकमात्र द्रव्य है–इन पदों का प्रयोग अनुपपन्न है। फलतः ये सब प्रश्न–एक-एक अवयव कृत्स्न अवयवी में रहता है, अथवा अवयवी के एकदेश में ? तथा प्रत्येक अवयव में अवयवी रहता है, अथवा अवयवों के एकदेश में ?–सर्वथा अनर्गल-असंगत हैं ॥ ११ ॥

सातवें-आठवें सूत्र की व्याख्या में जो यह कहागया कि अवयवी के कारण-भूत अवयवों से अतिरिक्त अन्य कोई अवयव या एकदेश अवयवी के नहीं होते; इसलिए अवयवी के एकदेश में अवयव का विद्यमान होना, अथवा अपने एकदेश से अवयवी का अवयवों में रहना सम्भव नहीं। अवययी के न मानने में यह हेतु असंगत है; क्योंकि अवयवी के अन्य एकदेश मानलेने पर भी अवयव में अवयव की वृत्ति कहीजासकेगी, अवयवी की नहीं। वह एकदेश अवयवी न होकर अवयव-मात्र है। इसीको सूत्रकार ने बताया—

अवयवान्तरभावेऽप्यवृत्तेरहेतुः ॥ १२ ॥ (४२४)

[अवयवान्तरभावे] अन्य अवयव (एकदेश) होने पर (अवयवी के,

कारणातिरिक्त), [अपि] भी [अवृत्तेः] वृत्ति-विद्यमानता न होने से (अवयवी की) [अहेतुः] उक्त हेतु असंगत है।

आशंकावादी शिष्य ने तर्क किया–प्रत्येक अवयव अथवा कतिपय अवयवों में अपने एकदेश से अवयवी नहीं रहसकता; क्योंकि कारणभूत अवयवों के अतिरिक्त अन्य कोई अवयव या एकदेश अवयवी का नहीं होता। आचार्य ने इस तर्क का निराकरण यह कहकर किया कि अवयवी के कारणभूत अवयवों से अतिरिक्त यदि अन्य कोई अवयव या एकदेश मान भी लियेजायें, तो भी अवयव में एकदेश से अवयवी का रहना सम्भव नहीं है। जब अवयवी का उसके एकदेश से अवयव में रहना कहाजाता है, तब अवयव में अवयव का ही रहना हम कहते हैं; क्योंकि वह एकदेश अवयवमात्र है, स्वयं अवयवी नहीं। वस्तुतः यह एक प्रकार से वदतोव्याघात है। कहा तो यह जाता है कि अवयव में अवयव (एकदेश) रहरहा है; पर उस रहनेवाले एकदेश को नाम अवयवी देदियाजाता है। यह स्पष्ट असत्य है–जो वाणी से 'एकदेश' कहकर उसे पूर्ण अवयवी बताया-जाता है। इसलिए आशंकावादी का 'अवयवान्तराभावात्' अथवा 'अन्यावयवा-भावात्' हेतु असंगत है, जो अवयव में अवयवी के एकदेश से रहने के निराकरण में प्रयुक्त कियागया है। क्योंकि अवयवी के कारणातिरिक्त अन्य अवयव मानलेने पर भी उस एकदेश के द्वारा पूर्ण अवयवी का अवयव में रहना सम्भव नहीं।

वस्तुओं के परस्पर कार्य-कारणभाव पर अवयवी और अवयव का व्यवहार आश्रित है। कार्य कारण में समवेत रहता है; यह 'रहना' (वृत्ति) कार्य-कारण के आधाराधेयभाव को अभिव्यक्त करता है। कार्य आधेय और कारण उसका आधार है। इसका नियामक है–कारणतत्त्वों को छोड़कर कार्य का कहीं अन्यत्र आत्मलाभ न करसकना। कारण-तत्त्व अवयव और कार्यद्रव्य अवयवी होता है। अवयवी अपने कारणभूत अवयवों को छोड़कर अन्यत्र नहीं रहसकता। इसके विपरीत कारणतत्त्व कार्य के विना रहसकता है। फलतः अवयवों में अवयवी आधाराधेयभाव-सम्बन्ध से विद्यमान रहता है। जितने कारणभूत तत्त्वों से कोई एक कार्यद्रव्य-अवयवी आत्मलाभ करता है–उत्पन्न होता है, उन समस्त अवयवों में वह एक अवयवी समवेत रहता है। कतिपय अवयवों के दृष्टिगोचर होने पर भी अवयवी का पूर्णरूप से प्रत्यक्ष होता है, जो समस्त अवयवों में समवेत है। उपलब्धि की यथार्थता उसकी सफलता से स्पष्ट होजाती है, इसलिए अवयवी की उपलब्धि में अव्यवस्था का कोई प्रश्न नहीं उठता।

द्रव्यों के कारण-कार्यभाव में अवयव-अवयवी का व्यवहार बताया। यहाँ शंका कीजासकती है–नित्य पदार्थों में यह व्यवहार कैसे होगा? वहाँ कार्य-कारणभाव तो सम्भव नहीं। पर आधाराधेयभाव देखाजाता है–आकाश में पक्षी

उड़ता है; आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है; घट में परमाणु का उपयोग होता है, इत्यादि।

आचार्यों ने इसका समाधान किया है—जैसे अनित्यों में आधाराधेयभाव होता है, वैसे नित्यों में समझना चाहिये। इनमें विवेक इसप्रकार होगा—

१. अवयव-अवयवी-व्यवहार केवल द्रव्यों में सम्भव है। जिन द्रव्यों में परस्पर उपादानोपादेयभाव है, वहीं अवयव-अवयवी व्यवहार होता है। इनके आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' है।

२. जहाँ उपादानोपादेयभाव द्रव्यों का न होकर द्रव्य और गुण अथवा कर्म का है, वहाँ कार्य-कारणभाव है, पर अवयव-अवयवी व्यवहार नहीं। उसके स्थान पर गुण-गुणी, अथवा गुण-द्रव्य; एवं कर्म-क्रियावान्, अथवा कर्म-द्रव्य व्यवहार होगा। यहाँ भी इनके आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' होगा। इसमें द्रव्य आधार और गुण तथा कर्म आधेय हैं।

३. जहाँ द्रव्यों का उपादानोपादेयभाव नहीं, पर उनमें आधाराधेयभाव है; जैसे—आकाश में पक्षी उड़ता है, अथवा कटोरे में दूध भरा है, यहाँ आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' होगा, समवाय नहीं। ऐसे आधाराधेयभाव में दोनों अथवा एक अनित्य अवश्य होगा। इसका तात्पर्य है—दो नित्य पदार्थों [विशेषतः दो नित्य द्रव्यों] का परस्पर आधाराधेयभाव नहीं होता।

आत्मा में ज्ञान उत्पन्न होता है, इस वाक्य में आत्मा नित्य द्रव्य और ज्ञान गुण है। यह आधाराधेयभाव संख्या दो के विवरण में आजाता है। घट में परमाणु का उपयोग होता है,—इस वाक्य में अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए चाहे पदों का प्रयोग किसीप्रकार कियागया हो, पर इसमें परमाणु और घट का उपादानोपादेयभाव स्पष्ट हैं। इसका समावेश संख्या एक में होजाता है।

४. आधाराधेयभाव की एक और विधा है, जहाँ दोनों पदार्थ नित्य हैं। जैसे—नित्य द्रव्यों में द्रव्यत्व जाति का तथा नित्य गुणों में गुणत्व जाति का रहना। यहाँ नित्य द्रव्य तथा नित्य गुण आधार हैं, तथा द्रव्यत्व एवं गुणत्व जाति आधेय हैं। ये आधार और आधेय दोनों नित्य हैं। इसीप्रकार जहाँ नित्य द्रव्यों में नित्य गुण रहते हैं, वे भी इसी विधा में आते हैं। इनके आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'समवाय' होता है।

इसप्रकार जहाँ आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध समवाय है; आचार्यों ने उसके पाँच स्थल निर्धारित कर दिये हैं—अवयव अवयवी [अथवा कारण-कार्य], गुण—गुणी, क्रिया—क्रियावान्, जाति—व्यक्ति, नित्यद्रव्य—विशेष। इस विषय में यह ध्यान रखना चहिये—जहाँ आधाराधेयभाव का नियामक सम्बन्ध 'संयोग' है, वहाँ सर्वत्र; तथा दोनों नित्य पदार्थों के आधाराधेयभाव में उपादानोपादेयभाव की स्थिति नहीं रहती। इसलिए आधाराधेयभाव के लिए नित्य या अनित्य होना

कोई नियामक बिन्दु नहीं है। जहाँ तक अवयव-अवयवी के आधाराधेयभाव का कथन है, वहाँ उपादानोपादेयभाव अथवा कारण- कार्यभाव निश्चित है।

इस सब विवेचन से स्पष्ट होजाता है–देह आदि अवयवी का होना सिद्ध है। मोक्ष की कामना करनेवाले व्यक्ति के लिए यहाँ केवल इतनी बात कहीगई है कि वह जड़ देहादि अवयवी को चेतन आत्मा न समझे। देहादि अवयवी के आत्मा होने का प्रतिषेध करना यहाँ अभीष्ट है; अवयवी का प्रतिषेध करना नहीं। देह को आत्मा समझने से राग, द्वेष आदि दोषों की उत्पत्ति होती है; इसीकारण उसे [देह में आत्माभिमान को] हेय मानागया है। जैसे रूप आदि विषयों में होनेवाले मिथ्या संकल्प का प्रतिषेध कियाजाता है, रूप आदि विषयों का नहीं। रूपादि विषयों के उपभोग से दुःखों की निवृत्ति होना–समझना ही रूपादि-विषयक मिथ्यासंकल्प है। आशंकावादी शिष्य ने इस यथार्थ को समझकर समुचित सन्तोष का अनुभव किया॥ १२॥

अवयवी न मानने पर उपलब्धि सम्भव—द्वितीय अध्याय के अवयवी-प्रसंग [२। १। ३४-३६] में यद्यपि अवयवी की सिद्धि करदीगई है, तथापि उसको विस्मृत-सा करता हुआ अन्य शिष्य प्रकारान्तर से वस्तुतत्त्व को दृढ़तापूर्वक समझने की भावना के साथ जिज्ञासा करता है–वस्तु का ग्रहण अवयवी को न मानने पर भी सम्भव है। वस्तु-प्रत्यक्ष के लिये अवयवी का मानना अनिवार्य नहीं। आचार्य ने उसे सूत्रित किया—

केशसमूहे तैमिरिकोपलब्धिवत्तदुपलब्धिः॥ १३॥ (४२५)

[केशसमूहे] केशों के समूह में [तैमिरिकोपलब्धिवत्] तैमिरिक के द्वारा उपलब्धि के समान [तद्-उपलब्धिः] वस्तुमात्र की उपलब्धि होजाती है।

'तैमिरिक' आँखों के उस रोगी व्यक्ति को कहते हैं, जिसे गहरा झुटपुटा होजाने पर साफ दिखाई नहीं देता। मोटा-मोटा दीखता है, ज़रा बारीक चीज़ नहीं दीखती। इसे लोकभाषा में 'रतौन्धा आना' कहते हैं। रात होने पर अन्धा-जैसा होजाना। तैमिरिक व्यक्ति को झुटपुटा होजाने पर सिर के बाल अलग-अलग एक-एक दिखाई न देकर केशसमूह–बालों का एक गुच्छा-सा दिखाई देता है; यद्यपि प्रत्येक बाल उस अवस्था में अपना स्वतन्त्र अस्तित्व, अपनी स्वतन्त्र इकाई रखता है। इसीप्रकार पृथिवी आदि समस्त जगत् परमाणुओं का समूह है। एक केश के समान परमाणु अकेला पृथक् दिखाई नहीं देता। पर उनका समूह–जो विश्व के रूप में प्रस्तुत है–दिखाई देता है। तात्पर्य है–प्रत्यक्ष-ग्रहण के लिये अवयवी का मानना आवश्यक नहीं। यह ठीक है–परमाणु अकेला दिखाई नहीं देता पर केशसमूह के समान परमाणुसमूह के दीखने में कोई आपत्ति न होनी चाहिये। तब अवयवी को मानने की अपेक्षा नहीं रहती॥१३॥

अवयवी न मानने पर दोष—आचार्य ने उक्त जिज्ञासा का समाधान किया—

स्वविषयानतिक्रमेणेन्द्रियस्य पटुमन्दभावाद् विषयग्रहणस्य तथाभावो नाविषये प्रवृत्तिः ॥ १४ ॥ (४२६)

[स्वविषयानतिक्रमेण] अपने ग्राह्य विषय का अतिक्रमण न करने से [इन्द्रियस्य] इन्द्रिय के [पटुमन्दभावात्] पटु अथवा मन्द होने के कारण [विषय-ग्रहणस्य] ग्राह्य विषय के ग्रहण-ज्ञान का [तथाभावः] वैसा होना,पटु अथवा मन्द होना, होता है, [न] नहीं [अविषये] अपने अग्राह्य विषय में [प्रवृत्तिः] प्रवृत्ति (इन्द्रिय की)।

इन्द्रिय अपने ग्राह्य विषय को कभी लाँघता नहीं। ऐसा कभी नहीं होता कि जो विषय इन्द्रिय के लिए अग्राह्य है, अतीन्द्रिय है, उसको इन्द्रिय ग्रहण करने लगे। इन्द्रिय यदि विषय को ग्रहण करने में पटु है, तीव्र है, तो विषय का ग्रहण पटु होगा, स्पष्ट होगा। यदि इन्द्रिय मन्द है, रोगग्रस्त है, तो विषय का ग्रहण मन्द होगा, अस्पष्ट होगा। तैमिरिक व्यक्ति का इन्द्रिय मन्द है, रोगग्रस्त है, उससे प्रत्येक केश का पृथक् ग्रहण नहीं होपाता। परन्तु जो तैमिरिक नहीं है, वह प्रत्येक केश की अलग स्थिति को स्पष्ट देखलेता है, उसका इन्द्रिय पटु है। यह स्थिति प्रमाणित करती है—एक केश अलग अपनी इकाई के रूप में इन्द्रियग्राह्य है। इन्द्रिय ने यहाँ अपने विषय का अतिक्रमण नहीं किया। यह किसीप्रकार सम्भव नहीं कि रूपग्राहक चक्षु अपने ग्राह्य विषय को लाँघकर अग्राह्य गन्ध आदि का ग्रहण करनेलगे। परमाणु भी चक्षु का अग्राह्य विषय है। वह न परमाणु का, न उसके समूह का ग्रहण करसकता है। क्या कोई यह स्वीकार करेगा कि चक्षु एक गन्ध का ग्रहण न कर गन्धसमूह का ग्रहण करले? फलतः जब 'यह घट है' ऐसा ग्रहण होता है, वह परमाणुसमूह का ग्रहण न होकर अवयवी का ग्रहण है, जो अवयवों से अतिरिक्त होता हुआ अवयवों [अपने कारणभूत तत्त्वों] में समवेत है।

यदि आग्रहवश कहाजाय—चक्षु से परमाणुसमुदाय का ग्रहण होता है, तो यह समझना चाहिये—क्या परमाणुसमुदाय परमाणु से अतिरिक्त है? अथवा अनतिरिक्त? अर्थात् परमाणुरूप ही है। यदि दूसरा विकल्प मानाजाता है, तो परमाणु के समान परमाणुरूप समुदाय के अतीन्द्रिय होने से उसका चक्षु द्वारा ग्रहण होना सम्भव नहीं। यदि प्रथम विकल्प को स्वीकारा जाता है, तो समुदाय नामान्तर से अवयवी सिद्ध होजाता है। परमाणु अपनेरूप में अवस्थित रहतेहुए अतीन्द्रिय हैं; परन्तु जब संहत होकर अतिरिक्त समुदायरूप में गृहीत होते हैं, तब अतीन्द्रियता को छोड़ देते हैं। यही स्थिति तो अवयवी की है। वह समुदाय

जब पुनः बिखरजाता है, तब परमाणुदशा में पहुँचकर पहले के समान इन्द्रिय का विषय नहीं रहता। फलतः अवयवों से अतिरिक्त द्रव्यान्तरभूत अवयवी की उत्पत्ति माने विना लोकव्यवहार में महान् व्याघात उपस्थित होजाता है, जब वस्तुमात्र के ग्रहण न होसकने की स्थिति सन्मुख आती है।

यदि कहाजाय–समस्त ग्राह्य विषय सञ्चयमात्र है; इसको परमाणुओं से अतिरिक्त, द्रव्यान्तर–अवयवी समझना भ्रम होगा।

इस विषय में विचारना चाहिये–'सञ्चय' पद का तात्पर्य क्या है? इसका अभिप्राय है–अनेकों का परस्पर संयोग। संयोग में भी समझना होगा–वह साधारण संयोग है, अथवा विशेष संयोग? साधारण संयोग वह है–जहाँ इकट्ठी रक्खी हुई अनेक संयुक्त वस्तुओं में एकत्व की प्रतीति नहीं होती। जैसे–अन्न की राशि पड़ी है, जिसमें प्रत्येक दाना एक-दूसरे से संयुक्त है; अथवा बर्त्तनों का ढेर, ऊपर-नीचे व बराबर एक-दूसरे से सटे हुए लोटा, थाली, गिलास, कटोरी, कटोरे आदि रक्खे हैं। यह अन्न एवं बर्त्तनों का सञ्चय है। यहाँ अन्न के दानों में तथा बर्त्तनों में एक-दूसरे के साथ साधारणसंयोग है। वहाँ अन्न के दानों और विभिन्न बर्त्तनों में एकत्व-बुद्धि उत्पन्न नहीं होती। इसके विपरीत अन्य स्थल हैं–घट, पट आदि द्रव्य। यहाँ घट में अनेक कपालरूप अवयवों का, तथा पट में अनेक तन्तुरूप अवयवों का परस्पर विशेष संयोग है। इनका वैशिष्ट्य यही है–इन द्रव्यों में एकत्व का ज्ञान होता है, और वह ज्ञान व्यवहार्य एवं सत्य है।

प्रकृत में देखना यह है–परमाणुओं के परस्पर संयोग से जो ग्राह्य विषय को परमाणु-सञ्चयमात्र कहाजाता है, उसकी स्थिति क्या है? इसमें पहली आपत्ति है–विषय का इन्द्रियग्राह्य न होसकना। परमाणु अपनी अवस्था में किसीप्रकार इन्द्रियग्राह्य नहीं होते। अतीन्द्रिय पदार्थों का परस्पर संयोग भी अतीन्द्रिय होता है। परमाणु-सञ्चय–जो परमाणुओं का संयोगमात्र है, परमाणुओं के अतीन्द्रिय होने से वह भी अतीन्द्रिय रहेगा। तब इन्द्रियों द्वारा विषय का ग्रहण कियाजाना किसीप्रकार सम्भव न होगा, जो प्रत्यक्ष के विपरीत है।

आगे परमाणु-सञ्चय में परमाणुओं का परस्पर साधारण संयोग स्वीकार कियाजाता है, तो किसी ग्राह्य विषय में एकत्व की प्रतीति न होनी चाहिये; जैसे–अनाज व बर्त्तन आदि के ढेर में नहीं होती। ऐसा होना प्रत्यक्ष के विपरीत है। लोक में अनेकानेक पदार्थ व्यक्तिरूप से एकत्व के साथ प्रतीत होते हैं।

यदि परमाणु-सञ्चय में परमाणुओं का परस्पर विशेष संयोग मानाजाता है, और उसके आधार पर ग्राह्य विषयों में एकत्व-प्रतीति का सामंजस्य स्थापित कियाजाता है, तो एक प्रकार से अवयवी का होना सिद्ध होजाता है। एकत्व-प्रतीति का विषय स्वयं परमाणु नहीं होसकते, क्योंकि वे स्वरूप से अनेक हैं। अनेक में एकत्वबुद्धि मिथ्याबुद्धि होगी। यदि कहाजाय–परमाणु-सञ्चय एकत्व-

बुद्धि का विषय है, तो सञ्चय को परमाणुओं से अतिरिक्त मानना होगा। वही अवयवी का स्वरूप है।

इस विवेचन के फलस्वरूप यह स्थिति सामने आती है–अनेकों का संयोग-रूप सञ्चय, जब इन्द्रियग्राह्य विषयों का होता है, तब वह संयोग भी इन्द्रिय-ग्राह्य होता है। प्रत्येक व्यक्ति दो इन्द्रियग्राह्य पदार्थों के संयोग को स्पष्ट देखता है–यह पदार्थ इससे संयुक्त है, इनके संयोग को प्रत्यक्ष देखरहा हूँ। इसके विपरीत अतीन्द्रिय परमाणुओं का संयोग अतीन्द्रिय होगा, इसलिए यह सर्वथा अयुक्त है कि परमाणु-सञ्चय इन्द्रिय-ग्राह्य विषय होता है।

जो विषय इन्द्रिय से गृहीत होजाता है, उसकी अनुपलब्धि का कारण या तो कोई आवरण आदि होसकता है, अथवा विषय को ग्रहण करने में इन्द्रिय की क्षमता का न रहना कहाजासकता है। परमाणु-सञ्चय की अनुपलब्धि के लिए न तो किसी आवरण का पता लगता है, और न इन्द्रिय की दुर्बलता को कारण मानाजासकता है। जैसे गन्ध के ग्रहण न करसकने में चक्षु की दुर्बलता को कारण नहीं कहाजासकता, प्रत्युत चक्षु द्वारा अग्राह्य होना उसका कारण है। इसीप्रकार परमाणु इन्द्रियों द्वारा अग्राह्य होने से वह इन्द्रियों का विषय नहीं होसकता। इन्द्रियों से जो ग्राह्य होता है, वह अवयवी है, तथा उसके आश्रित, एवं अन्य द्रव्याश्रित पदार्थ-धर्म ॥ १४ ॥

अवयवी को स्वीकार न करने पर आचार्य ने अन्य दोष बताया—

अवयवावयविप्रसङ्गश्चैवमाप्रलयात् ॥ १५ ॥ (४२७)

[अवयवावयविप्रसङ्गः] अवयव और अवयवी का प्रसङ्ग-अनुक्रम, सिल-सिला (चल पड़ता है) [च] तथा [एवम्] इसप्रकार (वृत्तिविकल्प से अवयवी को स्वीकार न करने पर) [आप्रलयात्] प्रलय-विनाश-शून्य पर्यन्त पहुँचने तक (वस्तुतत्त्व के)।

गत प्रसङ्ग में जो यह कहागया कि–अवयवों में अवयवी की वृत्ति–विद्यमानता का प्रतिषेध होने से अवयवी नहीं है; यह सिलसिला उसके अवयवों तथा और आगे उसके भी अवयवों में प्राप्त होता हुआ वस्तुमात्र के प्रलय-विनाश के लिए सिद्ध होसकता है, अथवा निरवयव परमाणु पर जाकर ठहरसकता है। दोनों प्रकार से वस्तुमात्र की उपलब्धि का होना असम्भव होजायगा।

जब कहाजाता है–अवयवों में अवयवी का रहना युक्त नहीं है, तब आगे भी यह कहाजासकेगा कि उन अवयवों का अपने अवयवों में रहना उपपन्न नहीं है। ऐसे ही आगे उन अवयवों का अपने अवयवों में विद्यमान होना युक्त न होगा। यह क्रम या तो वस्तुमात्र का शून्य में पर्यवसान करेगा, अथवा परमाणु-पर्यन्त पहुँचकर रुक जायगा। दोनों अवस्थाओं में वस्तुमात्र का उपलब्ध होना

सम्भव न रहेगा। यदि शून्य में पर्यवसान है, तो शून्य-अभाव का भावरूप में परिवर्तित होना अशक्य होने से वस्तुमात्र का उपलब्ध होना असम्भव होजायगा। यदि वह क्रम परमाणु पर रुकजाता है, तो परमाणु के अतीन्द्रिय होने से उनका समुदाय भी अतीन्द्रिय होगा। तब परमाणुसमुदायरूप विश्व की प्रत्यक्ष उपलब्धि होना सम्भव न होगा। दोनों अवस्थाओं में वस्तु की उपलब्धि का अभाव प्रसक्त होजायगा, जो प्रत्यक्ष के विपरीत है।

इसके अतिरिक्त अवयवों में अवयवी की वृत्ति [विद्यमानता] का प्रतिषेध उपलब्धि के आश्रय पर कियागया है, क्योंकि वस्तु की उपलब्धि के विना अवयवों में उसकी विद्यमानता का प्रतिषेध सम्भव न होगा। तब वह विद्यमानता [वृत्ति] का प्रतिषेध अपने कारणीभूत उपलब्धि का व्याघात करता हुआ अपना ही नाश करलेगा। वस्तु की उपलब्धि न होगी, तो वृत्ति-प्रतिषेध भी न हो-सकेगा। इसलिए अवयवों में अवयवी की वृत्ति का प्रतिषेध न कियाजाना चाहिये। उस दशा में स्वतः अवयवी सिद्ध होजाता है ॥ १५ ॥

वस्तुतत्त्व अभाव नहीं—वस्तुतत्त्व का शून्य दशा में पहुँचना, अथवा सर्वथा अभाव होजाना यह सम्भव नहीं। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

न प्रलयोऽणुसद्भावात् ॥ १६ ॥ (४२८)

[न] नहीं [प्रलयः] विनाश, अभाव (सर्वशून्य होना वस्तु तत्त्व का), [अणुसद्भावात्] परमाणु-दशा में वस्तुतत्त्व के विद्यमान रहने से।

किसी वस्तु का आगे-आगे अवयव-विभाग या विश्लेषण करते जाने पर यह परम्परा परमाणु पर जाकर थमजाती है। परमाणु निरवयव है, और आगे उसका अवयवविभाग असम्भव है। निरवयव होने का तात्पर्य है—उस पदार्थ का छोटे-से-छोटा अवयव, जिसका आगे विभाजन सम्भव नहीं। जैसे—पृथिवी अथवा किसी पार्थिव पदार्थ का विभाजन करते जाने पर पृथिवी का जो सर्वान्तिम कण रहता है, वह पृथिवी-परमाणु है। पृथिवीजातीय पदार्थ के रूप में आगे उसका विभाजन नहीं होगा। यदि विभाजन सम्भव है, तो उसके अनन्तर वे अवयव-तत्त्व पृथिवीजातीय नहीं रहेंगे; अन्य कुछ भी तन्मात्र आदि रूप उनका रहो। इसलिए पृथिवीजातीय अन्तिम कण अपने रूप में निरवयव है। वही अल्पतम पृथिवी का परमाणु है। जलादि परमाणुओं के विषय में भी इसी स्थिति को समझना चाहिये। पार्थिव आदि परमाणुओं को अविभाज्य मानने का यही तात्पर्य है। न्याय-वैशेषिक शास्त्र में इसी आधार पर पार्थिव आदि परमाणु को नित्य मानलियागया है। फलतः उपलभ्यमान अवयवी का सर्वथा अभाव में अथवा शून्य में पर्यवसान नहीं होता। प्रत्येक उपलभ्यमान पदार्थ अपने विद्यमान रूप में न रहने पर उपादानकारण के रूप में विद्यमान बना रहता है ॥ १६ ॥

परमाणु निरवयव क्यों—वस्तुतत्त्व-विभाजन के परिणामस्वरूप सर्वान्तिम वस्तु-कण निरवयव क्यों मानाजाता है; सूत्रकार ने बताया—

परं वा त्रुटेः ॥ १७ ॥ (४२९)

[परम्] पर है, (और अधिक सूक्ष्म है, जो) [वा] तथा [त्रुटेः] त्रुटि से–त्रसरेणु से (वह परमाणु है)।

सूत्र का 'त्रुटि' पद स्त्रीलिङ्ग है, त्रसरेणु का पर्याय है। इसी अर्थ में अन्य कतिपय पुल्लिङ्ग पदों–लव, लेश, कण, अणु आदि का प्रयोग होता है[1]। दो परमाणुओं के संयुक्त होने पर एक द्व्यणुक तथा तीन द्व्यणुकों के संयुक्त होने पर त्रसरेणु उत्पन्न होता या बनता है। त्रसरेणु के अर्थ में 'त्रुटि' पद का प्रयोग है। प्रत्येक स्थूल वस्तु विभक्त होते-होते त्रसरेणु-अवस्था में पहुँचती है। उसका विभाग होजाने पर वह द्व्यणुक रूप में आजाती है। द्व्यणुक का विभाग होजाने से परमाणु निरवयव रहजाता है। वस्तु-विभाजन का किसी स्तर पर अन्त मानना आवश्यक है। यदि यह नहीं मानाजाता, तो त्रसरेणु के विभाजन का कहीं अन्त न होने से त्रसरेणु असंख्येय द्रव्यों का समवाय होगा; इसीके समान प्रत्येक वस्तु असंख्येय द्रव्यों का समवाय मानाजायगा, तब वस्तुओं का अनुभूयमान नियत परिमाण सर्वथा अव्यवस्थित होजायगा। प्रत्येक वस्तु में अवयव-आनन्त्य की समानता से सबका समान-परिमाण होना प्राप्त होगा; जो सर्वथा अनुपपन्न है। ऐसी दशा में त्रुटि का त्रुटित्व [त्रसरेणुपना] समाप्त होजायगा। अतः वस्तु-विभाजन के फलस्वरूप वस्तु के अन्तिम स्तर को निरवयव मानना आवश्यक व प्रमाण-संगत है। उसीका नाम परमाणु है।

परमाणुओं के परस्पर संयोगविशेष से द्व्यणुकादिक्रम द्वारा स्थूल द्रव्य की उत्पत्ति होती है; वही अवयवी का स्वरूप है। उसीका इन्द्रिय द्वारा प्रत्यक्ष ग्रहण होता है। इसलिए अवयवों से उत्पन्न अवयवों में समवेत अवयवी का प्रत्याख्यान सर्वथा अनुपपन्न है। अन्यथा समस्त लोकव्यवहार के उच्छेद होजाने की स्थिति प्राप्त होसकती है॥ १७ ॥

परमाणु निरवयव नहीं—अवयवी के अस्तित्व की सिद्धि से सन्तुष्ट होजाने पर भी, परमाणु की स्थिति के आधार पर प्रकारान्तर से शिष्य पुनः जिज्ञासा करता है। परमाणु को निरवयव सिद्ध कियागया, तथा आकाश को सर्वव्यापक एवं विभु कहाजाता है। इसी आधार पर शिष्य की उद्भूत जिज्ञासा व आशंका को आचार्य ने सूत्रित किया—

आकाशव्यतिभेदात् तदनुपपत्तिः ॥ १८ ॥ (४३०)

---

१. 'त्रुटिस्त्रसरेणुरित्यनर्थान्तरम्' तात्पर्यटीका। 'स्त्रियाँ मात्रा त्रुटिःपुंसि लवलेशकणाणवः' अमरकोष।

[आकाशव्यतिभेदात्] आकाश के समावेश से (परमाणु में) [तद्-अनुपपत्तिः] परमाणु का निरवयव होना अनुपपन्न है।

परमाणु को निरवयव तथा नित्य नहीं मानाजाना चाहिये, क्योंकि विभु होने से आकाश उसके अन्दर-बाहर व्याप्त रहता है। परमाणु में आकाश का समावेश परमाणु की निरवयवता को समाप्त करदेता है। किसी वस्तु में किसीका समावेश उस वस्तु के अन्दर-बाहर के रूप में अवयवों की कल्पना के विना सम्भव नहीं। अवयवों के सद्भाव में परमाणु को निरवयव कहना निराधार है। तब सावयव होने से वह नित्य नहीं मानाजासकता। सावयव द्रव्य सब अनित्य होते हैं। अनित्य का विनाश आवश्यक होने से परमाणु का भी विनाश होगा। तब क्या वस्तुमात्र का पर्यवसान अभाव में मानने के लिए बाध्य होना पड़ेगा? ॥ १८ ॥

परमाणु की निरवयवता व नित्यता को अबाधित रखने के लिए यदि कहाजाय–परमाणु में आकाश का समावेश नहीं है, तब—

आकाशासर्वगतत्वं वा ॥ १९ ॥ (४३१)

[आकाशासर्वगतत्वम्] आकाश का असर्वगत (सब पदार्थों में व्याप्त न) होना (दोष प्राप्त होता है) [वा] अथवा–(अन्य पक्ष में)।

यदि अन्य पक्ष को लक्ष्य कर कहाजाता है; परमाणु में आकाश का समावेश नहीं है; तो आकाश को सर्वगत–व्यापक मानाजाना असंगत होगा। यह उभयतःपाशा रज्जु है। सिद्धान्त-पक्ष दोनों ओर से फाँस में आरहा है। यदि आकाश को विभु–सर्वगत मानाजाता है, तो परमाणु का नित्य होना नहीं बनता। यदि परमाणु की नित्यता को सुरक्षित रक्खाजाता है, तो आकाश का सर्वगत होना समाप्त होजाता है। आकाश विभु रहे, और परमाणु नित्य रहे; यह बात बनती दिखाई नहीं देती। इसका उपयुक्त समाधान होना चाहिये॥ १९ ॥

कार्य-द्रव्य में 'अन्तः'-'बहिः' प्रयोग—आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

अन्तर्बहिश्च कार्यद्रव्यस्य कारणान्तरवचनादकार्ये तदभावः ॥ २० ॥ (४३२)

[अन्तः] अन्दर [बहिः] बाहर [च] और (ऐसे व्यवहार में) [कार्य-द्रव्यस्य] कार्य द्रव्य के [कारणान्तरवचनात्] विभिन्न कारणों का कथन होने से [अकार्ये] अकार्य में (जो किसी का कार्य नहीं है, ऐसे परमाणु आदि द्रव्य में) [तद्–अभावः] उस–अन्दर-बाहर का अभाव रहता है।

परमाणु नित्य-निरवयव—अन्दर-बाहर व्यवहार केवल कार्यद्रव्य में सम्भव है। जब किसी द्रव्य को लक्ष्य कर 'अन्दर' पद का प्रयोग कियाजाता है, तब

बाहर के कारण-अवयवों से ढके हुए अन्य कारण-अवयवों का उस पद से अभिलापन होता है। इसीप्रकार 'बाहर' पद के प्रयोग में इस पद से उन कारण-अवयवों का कथन होता है, जो अन्य अवयवों को ढकनेवाले अवयव हैं। इस-प्रकार 'बहिः' और 'अन्तः' पद किसी कार्य के विभिन्न कारणों–अवयवों का कथन करते हैं। इन पदों का अन्य कोई अर्थ सम्भव नहीं। इससे स्पष्ट है–इनका प्रयोग किसी कार्य-द्रव्य को लक्ष्य कर कियाजासकता है; अकार्य-द्रव्य में नहीं। अकार्य-द्रव्य के किन्हीं कारणों–अवयवों का होना सम्भव नहीं, अतः ऐसे द्रव्य के विषय में उक्त पदों का प्रयोग असंगत है। परमाणु ऐसा ही द्रव्य है, वहाँ 'अन्तः, बहिः' प्रयोग अयुक्त हैं। किसी भी पदार्थ का अल्पतम कण, एक अवयवमात्र 'परमाणु' होता है। फलतः उसके निरवयव एवं नित्य होने में कोई बाधा नहीं ॥ २० ॥

आकाश की विभुता अबाध्य—यदि परमाणु नित्य निरवयव है, उसमें 'अन्दर-बाहर' व्यवहार अयुक्त है। तब आकाश का उसमें समावेश न होने पर वह 'सर्वगत' कैसे मानाजायगा ? आचार्य ने बताया—

शब्दसंयोगविभवाच्च सर्वगतम् ॥ २१ ॥ (४३३)

[शब्द-संयोगविभवात्] शब्द के सर्वत्र होने से तथा संयोग के समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ होने से [च] और [सर्वगतम्] सर्वगत मानाजाता है (आकाश)।

आकाश को सर्वगत अथवा विभु इस कारण मानाजाता है कि शब्द अपने आघात आदि निमित्तों के उपस्थित होने पर सर्वत्र उत्पन्न होता अनुभव किया-जाता है। शब्द आकाश का गुण है, उसके आश्रित रहता है। शब्द का सर्वत्र उत्पन्न होना तथा तरङ्गित होकर प्रदेशान्तर में सुनाजाना आकाश के सर्वगत होने का साधक है; यही उसका स्वरूप है।

आकाश के सर्वगत होने का दूसरा प्रयोजक है–समस्त मूर्त्त द्रव्यों के साथ आकाश का संयोग। एकदेशी द्रव्य मूर्त्त कहाजाता है। जिसमें क्रिया हो, गति हो, वह द्रव्य मूर्त्त है। कोई ऐसा मूर्त्त द्रव्य उपलब्ध नहीं, जिसका आकाश के साथ संयोग न हो। अतिसूक्ष्म मन आदि द्रव्य, परमाणु तथा परमाणुओं के जितने कार्य हैं, जो दूरातिदूर समस्त विश्व के रूप में फैले पड़े हैं, प्रत्येक का आकाश के साथ संयोग है। प्रत्येक मूर्त्त द्रव्य को अपनी स्थिति के लिए, गति के लिए अवकाश अपेक्षित होता है। अवकाश प्रदान करना आकाश-धर्म एवं उसका स्वरूप है। मूर्त्तद्रव्यमात्र का आकाश के साथ संयोग आकाश के विभु होने का प्रयोजक है। विभु का यही स्वरूप है ॥ २१ ॥

आकाश के धर्म—इसी प्रसंग से आचार्य ने आकाश-धर्मों का निर्देश किया—

अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि चाकाशधर्माः ॥ २२ ॥ (४३४)

[अव्यूहाविष्टम्भविभुत्वानि] अव्यूह, अविष्टम्भ तथा विभु होना [च] और [आकाशधर्माः] आकाश के धर्म हैं ।

'व्यूह'–रचना होना या इकट्ठे होना–को कहते हैं । सक्रिय प्रतिघाती द्रव्य से–बिखरी या बहती चीज़ को–एकत्रित करदियाजाना 'व्यूह' है । बिखरी हुई मट्टी-धूल या अनाज को फावड़े या लकड़ी या लकड़ी के फट्टे से समेटकर इकट्ठा करदियाजाता है । बहते पानी को आगे लकड़ी का तख्ता लगाकर अथवा बाँध बनाकर रोकदियाजाता है । जलराशि लौटकर इकट्ठा होजाती है । प्रतिघाती सावयव द्रव्य द्वारा ऐसा होता है । इसका नाम 'व्यूह' है । आकाश से ऐसा होना सम्भव नहीं, अतः आकाश 'अव्यूह' द्रव्य है । न वह स्वयं सिमटता, न किसी अन्य को समेट सकता है । अतः वह निरवयव है ।

'विष्टम्भ' प्रतिघात अथवा रुकावट को कहते हैं । किसी गतिशील-सक्रिय द्रव्य को आकाश रोकता नहीं । रोकना स्पर्शवाले द्रव्यों का धर्म होता है । सरकते या बहते हुए द्रव्य का आकाश के द्वारा न रोकाजाना आकाश के 'अविष्टम्भ' स्वरूप को प्रकट करता है । 'रोकना' धर्म सदा स्पर्शवाले सावयव द्रव्य में देखेजाने से आकाश का अस्पर्श व निरवयव होना प्रमाणित होता है ।

प्रत्येक सक्रिय द्रव्य की क्रिया के होने में रुकावट न डालने के कारण उस द्रव्य का आकाश के साथ संयोग होना प्रमाणित होता है । यह स्थिति आकाश के विभु होनेको स्पष्ट करती है । क्रिया एवं क्रिया के कारण होनेवाले उत्तर-देश संयोग तथा पूर्वदेशविभाग आदि के लिए आकाश निर्बाध अवकाश का प्रदान करता है; उस दशा में सक्रिय द्रव्य का आकाश के साथ संयोग सर्वथा शंकारहित है । विश्वरूप में सर्वत्र प्रसृत सक्रिय द्रव्यों का आकाश के साथ यह संयोग आकाश के विभु होने को सिद्ध करता है । आकाश के विभु अथवा सर्वगत होने का यही स्वरूप है ।

परमाणु की नित्यता—इसीके अनुसार परमाणु का आकाश के साथ संयोग है । इसका यह तात्पर्य नहीं कि आकाश परमाणु में समाविष्ट है, और इस कारण परमाणु सावयव एवं अनित्य मानाजाना चाहिये । कोई द्रव्य अनित्य उस समय मानाजाता है, जब उसके कारणभूत–अवयव द्रव्य विद्यमान हों । यदि परमाणु को सावयव मानाजाता है, तो उसके कारण–द्रव्य अवयव अवश्य उससे अधिक सूक्ष्म होंगे; क्योंकि कार्य और कारण के परिमाण में सदा भेद देखाजाता है । कार्य द्रव्य स्थूल और कारण उसकी अपेक्षा सूक्ष्म होता है । इसलिए यदि किसी अतिसूक्ष्म द्रव्य के कारणभूत अवयव विद्यमान हैं, तो निश्चित ही वह परमाणु-तत्त्व नहीं है, उसे परमाणुओं का कार्य समझना चाहिये । अतएव

'अन्तः, बहिः' आदि प्रयोगों के द्वारा जिसका प्रतिषेध कियागया; वह परमाणुओं के कार्य का प्रतिषेध कहाजासकता है, परमाणु का नहीं। वस्तुतः वह कार्य-द्रव्य की नित्यता व निरवयवता का प्रतिषेध है, परमाणु की नित्यता व निरवयवता का नहीं।

इस विवेचन से यह स्पष्ट होजाता है-किसी द्रव्य की अनित्यता उसके कारणों के विभाग से जानीजाती है; इससे नहीं कि उसमें आकाश का समावेश है। एक मिट्टी का डला इसीलिए अनित्य है कि उसके अवयवों का विभाग होजाता है, और पूर्व-स्वरूप में अवस्थित नहीं रहता। वह इसलिए अनित्य नहीं कि उसमें आकाश का समावेश है। फलतः परमाणु निरवयव एवं नित्य है, यह प्रमाणित होता है ॥ २२ ॥

मूर्त्त होने से परमाणु सावयव—द्रव्य के मूर्त्त-स्वरूप को लक्ष्य कर शिष्य प्रकारान्तर से पुनः आशङ्का करता है। शिष्य की आशङ्का को आचार्य ने सूत्रित किया—

मूर्त्तिमताञ्च संस्थानोपपत्तेरवयवसद्भावः ॥ २३ ॥ (४३५)

[मूर्त्तिमताम्] मूर्त पदार्थों के [च] तथा [संस्थानोपपत्तेः] संस्थान-आकृतियुक्त होने से [अवयवसद्भावः] अवयवों की विद्यमानता (वहाँ सिद्ध होती है)।

उक्त विवेचन के अतिरिक्त मूर्त्त पदार्थों के विषय में यह विचारणीय है कि उसे किसी आकृति से युक्त अवश्य होना चाहिये। प्रत्येक मूर्त्त पदार्थ का कुछ आकार निश्चयरूप से होगा। वह तिकोना हो, चौकोर हो, आयताकार हो, सम हो, लम्बा वेलन आकार हो, गोल आकार हो मूर्त्त का आकार अवश्य होगा। सूत्र के 'संस्थान' पद का अर्थ है-अवयवों के सन्निवेश-संघटन से बना आकार-विशेष। परमाणु भी मूर्त्त पदार्थ है; उसका आकार गोल-वर्तुल माना-जाता है, इसीकारण उसे 'परिमण्डल' कहते हैं। तब परमाणु को सावयव मानाजाना चाहिये। सावयव होने से अनित्य होगा ॥ २३ ॥

संयोग से परमाणु सावयव—इसके अतिरिक्त परमाणु के सावयव व अनित्य होने का अन्य कारण है—

संयोगोपपत्तेश्च ॥ १४ ॥ (४३६)

[संयोगोपपत्तेः] संयोग की उपपत्ति-सिद्धि से [च] भी (परमाणु सावयव एवं अनित्य है)।

संयोग को अव्याप्यवृत्ति मानाजाता है। जिन दो द्रव्यों का परस्पर संयोग होता है, वे एक-दूसरे में समा नहीं जाते, प्रत्युत दोनों का कोई-सा एक भाग एक-दूसरे से संयुक्त होता है। एक-दूसरे में व्याप्त न होने से संयोग को

अव्याप्यवृत्ति मानाजाता है। जब एक परमाणु से दूसरा परमाणु संयुक्त होता है, तब वह पहले के एक ओर संयुक्त होगा। अन्य परमाणु पहले परमाणु के दूसरी ओर आकर मिलजाता है। पहले परमाणु के दोनों ओर दो अन्य परमाणु संयुक्त हैं। मध्यगत पहला परमाणु अन्य दो परमाणुओं को परस्पर नहीं मिलने देता। उनके मध्य में व्यवधान बना बैठा है। मध्यगत परमाणु एक ओर से एक परमाणु के साथ, तथा दूसरी ओर से अन्य परमाणु के साथ संयुक्त है। दो के मध्य में व्यवधान तथा पर-अपर भाग से संयोग की स्थिति परमाणु को स्पष्ट सावयव सिद्ध करदेती है। 'भाग' एवं 'अवयव' एक अर्थ को कहनेवाले विभिन्न पद हैं। इस दशा में परमाणु का निरवयव व नित्य होना सन्दिग्ध प्रतीत होता है।

यद्यपि आचार्य ने यह बात प्रथम समझा दी है कि किसी कार्यद्रव्य का अल्पतम–छोटे से छोटा कण परमाणु है। ऐसे द्रव्य का विश्लेषण-विभाजन होता हुआ जब सर्वान्तिम स्तर पर पहुँच जाता है, और आगे उस अल्पतम कण का उसी रूप में [पृथिवी कण है, तो पृथिवीरूप में; जलीय कण है, तो जल रूप में] विभाजन होना असम्भव होजाता है, द्रव्य की उस स्थिति का नाम 'परमाणु' है। यदि आगे विभाजन सम्भव होगा, तो वह द्रव्य का अल्पतम परमाणु कण नहीं मानाजायगा। इसलिए परमाणु में संस्थान–अवयवसन्निवेश का होना सम्भव नहीं। वह दो परमाणुओं में व्यवधान अपने अस्तित्व के कारण करता है, अवयवसन्निवेश के कारण नहीं। उत्पादक भूततत्त्व होना उसका अस्तित्व है। पूर्व-अपर भाग की कल्पना गौण है। उसका व्यवधायक अस्तित्व ही वह गुण है, जो उसमें पूर्व-अपर भाग की कल्पना करादेता है। वस्तुतः मुख्यरूप से परमाणु के कोई भाग नहीं होते। यदि भाग होते, तो उसी तत्त्व के रूप में उसके विभाजन को कोई रोक नहीं सकता। तब वह 'परमाणु नहीं रहेगा। इसलिए मूर्त्त एवं संयोग के आधार पर जो प्रतिषेध है, वह परमाणु का प्रतिषेध न होकर परमाणु के कार्य का प्रतिषेध कहाजासकता है॥ २४॥

परमाणु की नित्यता अबाध्य—मूर्त्त द्रव्यों के आकार और परमाणुओं के संयोग को लक्ष्य कर परमाणुओं की सावयवता व अनित्यता को सिद्ध करनेवाले उक्त हेतुओं के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनवस्थाकारित्वादनवस्थानुपपत्तेश्चा-
प्रतिषेधः॥ २५॥ (४३७)

[अनवस्थाकारित्वात्] अनवस्थाकारी–अनवस्था दोष के उद्भावक होने से [अनवस्थानुपपत्तेः] अनवस्था के उपपन्न-युक्त न होने से [च] तथा [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध असंगत है (परमाणु की निरवयवता एवं नित्यता का)।

परमाणु की निरवयवता और नित्यता पर सन्देह करते हुए शिष्य ने अपने

विचार की पुष्टि के लिए दो हेतु प्रस्तुत किये–'मूर्त्तिमतां संस्थानोपपत्तेः' तथा 'संयोगोपपत्तेः'। इन हेतुओं से परमाणु को सावयव सिद्ध कियागया। आचार्य का कहना है–ये दोनों हेतु परमाणु को सावयव बताकर अनवस्था-दोष की उद्भावना के प्रयोजक होजाते हैं। कार्यद्रव्य के विभाजन का कोई अन्तिम स्तर अवश्य मानना चाहिये। यदि अन्तिम स्तर अभिमत परमाणु को मानकर उसे सावयव कहाजाता है, तो विभाजन की इस परम्परा का कहीं पर्यवसान न होने से अनवस्था-दोष प्रसक्त होगा। यदि ऐसी स्थिति को दोष नहीं मानाजाता, तो वे हेतु सच्चे कहेजासकेंगे। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं; क्योंकि अवयव-विभाग की परम्परा अनन्त होने पर न किसी वस्तु के यथार्थ परिमाण का और न गुरुत्व का ग्रहण होसकेगा। सभी वस्तुओं का परिमाण व गुरुत्व समान होना प्रसक्त होगा। प्रत्येक वस्तु के अवयवों की सीमा न होना द्रव्यमात्र का समानधर्म होने से सबका परिमाण व गुरुत्व आदि समान होगा। ऐसा होने पर विभज्यमान पदार्थ का अपना वैयक्तिक अस्तित्व समाप्त होजायगा, जो प्रत्यक्षादि समस्त प्रमाणों के विपरीत है। इसलिए कार्यद्रव्य के अवयव-विभाग की परम्परा का कोई अन्तिम स्तर होना आवश्यक है, जिससे प्रत्यक्षादि प्रमाणसिद्ध पदार्थ का अस्तित्व निर्बाध बना रहसके। इससे वस्तुमात्र का पर्यवसान–प्रलय-सर्वात्मना विनाश में एवं अभावरूप में–होने से भी बचाजासकता है। फलतः कार्यद्रव्य के विभागानन्तर अन्तिम स्तर परमाणु को निरवयव व नित्य मानना पूर्णरूप से प्रामाणिक एवं संगत है॥ २५॥

अवयवी अवयवातिरिक्त नहीं—गत प्रसंग में यह सिद्ध कियागया कि जो द्रव्य-पदार्थ बुद्धि का विषय होता है, वह अवयवी-तत्त्व है। इन्द्रियादि साधनों द्वारा घट-पट आदि के रूप में होनेवाले ज्ञान का विषय अवयवी होता है। ऐसी स्थिति की वास्तविकता को और गहराई के साथ समझने की भावना से शिष्य आशंका करता है–ज्ञान के आश्रय पर अवयवी-रूप विषय का स्वीकार कियाजाना सन्दिग्ध है, क्योंकि बुद्धि द्वारा तथाकथित विषय-वस्तु का विवेचन करने पर अवयवों के अतिरिक्त वहाँ अन्य किसी का अस्तित्व प्रतीत नहीं होता। शिष्य-भावना को आचार्य ने सूत्रित किया—

बुद्ध्या विवेचनात्तु भावाना याथात्म्यानुपलब्धिस्तन्त्वपकर्षणे पटसद्भावानुपलब्धिवत्तदनुपलब्धिः॥ २६॥ (४३८)

[बुद्ध्या] बुद्धि-ज्ञान द्वारा [विवेचनात्] विवेचन–(वस्तु का) विश्लेषण करने से [तु] तो [भावानाम्] भावों-पदार्थों के [याथात्म्यानुपलब्धिः] वस्तु-सत् होने की उपलब्धि नहीं होती, [तन्त्वपकर्षणे] एक-एक तन्तु के खींचलिये-जाने पर (पट के) [पटसद्भावानुपलब्धिवत्] पट के सद्भाव की अनुपलब्धि के

समान [तद्-अनुपलब्धिः] वस्तुमात्र की (अवयवी के रूप में) अनुपलब्धि समझनी चाहिये।

ज्ञानग्राह्य विषय-वस्तु की यथार्थता क्या है ? इसे समझने के लिये उदाहरणरूप में एक पट (वस्त्र) को देखिये। उसमें तन्तुओं के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु-तत्त्व दिखाई नहीं देता। एक-एक तन्तु को अलग करदेने पर उनके अतिरिक्त वहाँ और कुछ नहीं बचता, जो उपलब्ध होकर 'पट' बुद्धि का विषय कहाजाय। तात्पर्य है–अवयवीरूप में ऐसा कोई तत्त्व नहीं है, जिसे 'पट' नाम दियाजाय। इसलिये जो पदार्थ नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होना अयथार्थज्ञान है। फलतः पटज्ञान को मिथ्याज्ञान समझना चाहिए। यदि यह यथार्थज्ञान हो, तो तन्तु-अवयवों के अतिरिक्त वह अवयवीरूप विषय दिखाई देना चाहिए। यह दोनों ओर से गले की फाँस है। यदि पटादि बुद्धि को यथार्थ मानाजाता है, तो तन्तु-अवयवों को छाँट देने पर अवयवी अलग दिखाई देना चाहिए, जो ज्ञान का विषय कहाजारहा है। यदि न दीखने के कारण वस्तुतः उसका अभाव है, तो 'पटज्ञान' को निश्चित ही मिथ्याज्ञान कहना होगा। इसका स्पष्टीकरण अपेक्षित है। अन्यथा अवयवी का अस्तित्व सन्दिग्ध बना रहेगा॥ २६॥

अवयवी को अवयवरूप कहना व्याहत—आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

व्याहतत्वादहेतुः॥ २७॥ (४३९)

[व्याहतत्वात्] विरोधी होने से (अपने कथन का), [अहेतुः] उक्त हेतु साध्य का साधक नहीं।

आशंका उठाने के अवसर पर कहागया–भावों का बुद्धिपूर्वक विवेचन करने से वस्तुभूत (अवयवीरूप) भाव पदार्थ प्रतीत नहीं होता। यह कथन अपने में ही विरोधी है–यदि भाव नहीं है, तो विवेचन-विश्लेपण किसका कियाजारहा है ? 'भाव'को माने विना विश्लेपण की वात करना निराधार होजाता है। 'भावों का विश्लेपण' तथा 'भाव नहीं' ये दोनों वाक्य परस्पर-विरोधी हैं। यदि इस लचर कथन के सहारे पर भाव-तत्त्व (अवयवी) को झुठलायाजाता है, तो वस्तु के अवयव-विश्लेपण की कोई सीमा स्वीकार न कियेजाने से गत पन्द्रहवें सूत्र में प्रदर्शित आपत्तिजनक स्थिति सामने आजाती है। उसकी उपेक्षा नहीं कीजा-सकती॥ २७॥

अवयवी का ग्रहण, आश्रय-अवयवों से पृथक् नहीं—भाव के अवयवीरूप में अवयवों से अतिरिक्त गृहीत न होने का कारण आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदाश्रयत्वादपृथग्ग्रहणम्॥ २८॥ (४४०)

[तद्-आश्रयत्वात्] उन अवयवों के आश्रित होने से (अवयवी-भाव के)

[अपृथग्ग्रहणम्] अवयवों से पृथक् रहकर अवयवी का ग्रहण नहीं होता। अथवा—अवयवों के परस्पर पृथक् होजाने पर अवयवी का ग्रहण नहीं होता।

कार्य-द्रव्य सदा कारण-द्रव्यों में आत्मलाभ करता, एवं वहीं आश्रित रहता है। जिन द्रव्यों में परस्पर उपादानोपादेयभाव-सम्बन्ध रहता है, वहाँ उपादेय (कार्य) द्रव्य उपादान (कारण) द्रव्यों को छोड़कर नहीं रहता; न तब उसका ग्रहण होना सम्भव है। विशिष्टसंयोगपूर्वक परस्पर सन्निहित हुए अवयवों में ही अवयवी आत्मलाभ करता व गृहीत होता है। ऐसी दशा में जब अवयव परस्पर विश्लिष्ट करदियेजाते हैं, तब अवयवी के उपलब्ध होने का प्रश्न ही नहीं उठता। विश्लेषण से अवयवों का परस्पर संयोगविशेष न रहने पर अवयवी रह कहाँजाता है? तब उपलब्ध कैसे होजायेगा? जब विशिष्टसंयोगपूर्वक अवयव परस्पर सन्निहित रहते हैं, तभी अवयवी उपलब्ध होता है; वह कारणों में आश्रित हुआ कारणों से अतिरिक्त सद्भाव के रूप में (अवयवीरूप में) गृहीत होता है। पट आदि बुद्धि का वही विषय है।

जहाँ द्रव्यों में परस्पर उपादानोपादेयभाव (कारणकार्यभाव) नहीं होता, वहाँ परस्पर आश्रिताश्रय होने पर आश्रितभाव गृहीत होता है, भले ही आश्रय न रहे। पात्र में रक्खे फल आश्रयभूत पात्र के न रहने पर भी गृहीत होते व विद्यमान रहते हैं। जब द्रव्यों में परस्पर कार्य-कारणभाव की स्थिति आवश्यकरूप से मान्य होती है, तब अवयवों में आश्रित, पर अवयवों से अतिरिक्त अवयवीरूप में पदार्थ की सत्ता को स्वीकार करना पड़ता है। केवल परमाणुवाद की कल्पना में—अतीन्द्रिय परमाणुओं में जो वस्तुतत्त्व इन्द्रियद्वारा गृहीत होता है, उसके विषय में बुद्धिपूर्वक विवेचन करने से यह स्पष्ट होजाता है कि वह इन्द्रियग्राह्य पदार्थ अतीन्द्रिय परमाणुओं से भिन्न है। एक ही पदार्थ अतीन्द्रिय और इन्द्रिय-ग्राह्य दोनों रूप नहीं होसकता। अतः इन्द्रियग्राह्य द्रव्य पदार्थ को अतीन्द्रिय परमाणुओं से भिन्न मानना सर्वथा प्रामाणिक है। वही द्रव्य अवयवी है॥ २८॥

अर्थज्ञान अवयवी का साधक—अवयवीरूप में पदार्थों का सद्भाव है, इस विषय में सूत्रकार ने हेतु प्रस्तुत किया—

प्रमाणतश्चार्थप्रतिपत्तेः॥ २९॥ (४४१)

[प्रमाणतः] प्रमाण से [च] तथा [अर्थप्रतिपत्तेः] पदार्थ की सिद्धि होने के कारण।

कौन पदार्थ कैसा है? किस प्रकार से है, किस कारण से ऐसा है? अथवा कौन पदार्थ नहीं है, और किस कारण से नहीं है?—यह सब प्रमाण के अनुसार बुद्धिपूर्वक विवेचन करके निश्चय कियाजाता है। प्रमाणों के आधार पर पदार्थों की उपलब्धि होना बुद्धि द्वारा अथवा बुद्धिपूर्वक उनका विवेचन करना है।

प्रमाणपूर्वक बुद्धि द्वारा कियेगये विवेचन से समस्त शास्त्र, सब अनुष्ठान तथा शरीरधारियों के सब व्यवहार व्याप्त हैं; इसप्रकार के विवेचन के अधीन हैं। वस्तु की यथार्थता की परीक्षा करनेवाला व्यक्ति प्रमाणों के सहारे बुद्धिपूर्वक विवेचन करने पर यह निश्चय करलेता है–कौन वस्तु यथार्थ है, कौन नहीं। ऐसी स्थिति में सब भावों को मिथ्या अथवा अप्रामाणिक नहीं कहाजासकता ॥ २९ ॥

वस्तुमात्र अभाव नहीं— यदि प्रमाणों के अनुसार वस्तुस्थिति को स्वीकार नहीं कियाजाता, तो वस्तुमात्र का अभाव में पर्यवसान कहना, अथवा सबको मिथ्या बताना भी सिद्ध नहीं कियाजासकता। इसीको सूत्रकार ने बताया—

प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम् ॥ ३० ॥ (४४२)

[प्रमाणानुपपत्त्युपपत्तिभ्याम्] प्रमाण की अनुपपत्ति तथा उपपत्ति से (वस्तु का अस्तित्व सिद्ध होजाने पर–सबका अभाव में पर्यवसान–कहना असंगत है)।

यदि वस्तुमात्र के अभाव की सिद्धि में प्रमाण प्रस्तुत कियाजाता है, तो प्रमाण का अस्तित्व स्वीकार कियेजाने से–वस्तुमात्र का अभाव है–कहना अनुपपन्न होजाता है। यदि वस्तुमात्र के अभाव में कोई प्रमाण नहीं है, तो प्रमाणाभाव से उसके असिद्ध होनेपर वस्तुमात्र का अस्तित्व सिद्ध होजाता है। यदि प्रमाण के विना वस्तुमात्र के अभाव को स्वीकार कियाजाता है, तो वस्तुमात्र के अस्तित्व को स्वीकार क्यों न कियाजाय ? फलतः वस्तुमात्र का अभाव कहना सर्वथा अप्रामाणिक एवं अनुपपन्न है ॥ ३० ॥

वस्तुसत्ता-ज्ञान भ्रान्त— शिष्य जिज्ञासा करता है–प्रमाण से पदार्थ का अस्तित्व भले प्रतीत हो, पर सम्भव है–यह वास्तविक अस्तित्व न हो। जैसे स्वप्न में पदार्थ प्रतीत होते हैं, पर वस्तुतः उनका अस्तित्व नहीं रहता। शिष्य-भावना को आचार्य ने सूत्रित किया—

स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः ॥ ३१ ॥ (४४३)

[स्वप्नविषयाभिमानवत्] स्वप्न में विषयों-पदार्थों के अभिमान-मिथ्याज्ञान के समान [अयम्] यह [प्रमाण-प्रमेयाभिमानः] प्रमाण-प्रमेय-विषयक मिथ्याज्ञान है।

स्वप्न में नदी-नाले, पर्वत-नगर आदि विषयों का अस्तित्व नहीं रहता; न होने पर भी ज्ञान होता है; और उस दशा में उनका अस्तित्व वास्तविक-जैसा लगता है। उसीके समान साधारण जगत्-व्यवहार में–यह प्रमाण है, यह प्रमेय है–इत्यादि ज्ञान का होना भी मिथ्या है। जब प्रमेय–ज्ञान का विषय ही नहीं, तो उसके प्रमाण–ज्ञानसाधन का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए प्रमाण की उपपत्ति-अनुपपत्ति से वस्तु के सद्भाव को सिद्ध करने का प्रयास युक्त प्रतीत नहीं होता ॥ ३१ ॥

स्वप्न-दृष्टान्त की पुष्टि में जागृत दशा की कतिपय परिस्थितियों का आचार्य ने निर्देश किया—

मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावद्वा ॥ ३३ ॥ (४४४)

[मायागन्धर्वनगरमृगतृष्णिकावत्] माया, गन्धर्वनगर और मृगतृष्णा के समान [वा] अथवा।

न केवल स्वप्न में ऐसा होता है कि विषय न रहता हो; प्रत्युत जाग्रत दशा में भी अनेक प्रसंग ऐसे आते हैं, जहाँ विषय का अस्तित्व नहीं रहता, परन्तु प्रतीति होती है। माया इन्द्रजाल का नाम है। जब ऐन्द्रजालिक–मायावी अनेक प्रकार की वस्तुओं का चमत्कारपूर्ण प्रदर्शन करता है, तब दर्शकगण की दृष्टि से उन वस्तुओं का वहाँ वास्तविक अस्तित्व नहीं रहता। वस्तु के न रहते भी उसकी प्रतीति होना मायारूप है, मिथ्या है।

कभी-कभी ऊपर अन्तरिक्ष की ओर देखने पर नगर-जैसा दृश्य प्रतीत होता है। मकान, सड़कें, बाज़ार, यातायात आदि सब चिह्न नगर-जैसे प्रतीत होते हैं। पर वहाँ किसी प्रकार नगर का अस्तित्व उपपन्न नहीं; न ऐसा होना सम्भव है। इसप्रकार प्रतीयमान नगर को 'गन्धर्वनगर' कहाजाता है। ऐसी प्रतीति मिथ्याज्ञान है।

मौसम गरम है, रेतीले मैदान दूर तक फैले हैं। पानी का कहीं आस-पास नाम नहीं। हरिणों का प्यासा झुण्ड पानी की तलाश में चलता है। सामने क्षितिज तक फैला दिखाई देता रेतीला मैदान लहराते सागर-जैसा दृश्य उपस्थित करता है। पानी की एक बूंद नहीं, तब लहराते समुद्र का दीखना मिथ्या कहाजायगा। इसीप्रकार जगत् की प्रतीति, एवं प्रमाण-प्रमेय आदि का व्यवहार सब मिथ्या है। स्वप्न एवं जाग्रत दोनों दशा इस परिस्थिति की वास्तविकता को स्पष्ट करती हैं। फलतः वस्तुमात्र का अस्तित्व सन्दिग्ध होजाता है ॥ ३२ ॥

वस्तुसत्ता यथार्थ है—आचार्य सूत्रकार ने समाधान प्रस्तुत किया—

हेत्वभावादसिद्धिः ॥ ३३ ॥ (४४५)

[हेत्वभावात्] हेतु के न होने से [असिद्धिः] सिद्धि नहीं होती (वस्तुमात्र के अभाव की)।

स्वप्न में विषयों की प्रतीति के समान यदि प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या कहाजाता है, तो जागरित अवस्था में विद्यमान विषयों की सत्य उपलब्धि के समान प्रमाण-प्रमेय व्यवहार को सत्य न मानाजाय,–इसमें कोई हेतु नहीं है। जागरित दशा में वस्तु की प्रत्यक्ष उपलब्धि होने से वस्तुमात्र का अभाव स्वीकार नहीं किया जासकता।

यह भी नहीं कहाजासकता कि स्वप्न में प्रतीयमान पदार्थों का सर्वथा अस्तित्व नहीं है। जागृत दशा में जिन पदार्थों का अनुभव व्यक्ति को होता है, स्वप्न में तीव्र स्मृति के कारण वे ही पदार्थ उभर आते हैं। तात्पर्य है–जागृत दशा के अनुभव से जो संस्कार आत्मा में बैठजाते हैं, स्वप्न में मनःसहयोग से तीव्र संस्कार उन पदार्थों की स्मृति कराने में समर्थ होजाते हैं। ऐसी स्थिति में स्वप्न के प्रतीयमान पदार्थों को नितान्त मिथ्या नहीं कहाजासकता।

शंका होसकती है–जागने पर क्योंकि स्वप्न के पदार्थ उपलब्ध नहीं होते, इसलिये उनके मिथ्या होने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए। यदि वे सत्य होते, तो जागने पर भी उपलब्ध हुआ करते, जैसे जाग्रत दशा में अन्य सत् पदार्थ उपलब्ध होते हैं।

यह शंका ठीक नहीं। शंका करते हुए शंकावादी इसका समाधान भी स्वयं करगया, यह कहकर, कि–जागृत दशा में जैसे अन्य सत् पदार्थ उपलब्ध होते हैं। इसका तात्पर्य है–जाग्रत दशा में उपलब्ध पदार्थों को वह सद्रूप स्वीकार करता है।

इसके अतिरिक्त–जागने पर स्वप्न विषय की अनुपलब्धि कहने से यह स्पष्ट होता है कि अनुपलब्धि का होना–विषय की उपलब्धि पर आधारित रहता है। एक विद्यमान ज्ञात विषय की देशान्तर-कालान्तर में अविद्यमानता को अनुपलब्धि प्रकट करती है। इसप्रकार विषय की अनुपलब्धि का होना, उसकी पूर्वकालिक उपलब्धि व विद्यमानता को सिद्ध करता है। इसप्रकार 'प्रतिबोधेऽनुपलम्भात्' (-जागने पर स्वाप्न विषय के अनुपलम्भ से) हेतु अभाव को सिद्ध करने के विपरीत, वस्तु की विद्यमानता को सिद्ध करने में सफल दिखाई देता है। किसी वस्तु का अभाव तभी कहाजाता है, जब वह उपलब्ध न होरही हो। अभाव की प्रतीति से पूर्व उसकी विद्यमानता निश्चित होती है।

यदि स्वप्न और जाग्रत दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अभाव है, तो अनुपलम्भ का सामर्थ्य ही नष्ट होजाता है। क्योंकि अनुपलम्भ पूर्व-उपलब्ध वस्तु का सम्भव है। जब दोनों अवस्थाओं में वस्तु का अभाव मानाजाता है, तब अनुपलम्भ का आधार (प्रतियोगी) न रहने से उसका अस्तित्व निष्फल होजाता है। अथवा जाग्रत दशा में वस्तु के सत्त्व (सामान्य वस्तु प्रत्यक्ष में) और असत्त्व (माया, मृगतृष्णिका आदि में) दोनों प्रकार की प्रतीति से वस्तु-तत्त्व के सर्वात्मना अनुपलम्भ का कथन निरर्थक होजाता है; क्योंकि तब भी वस्तु के सद्भाव का प्रत्यक्ष अनुभव प्रबल रहता है, अनुपलम्भ पूर्वानुभूत वस्तुसत्तापेक्ष होने से नितान्त दुर्बल।

स्वप्नगत विषयों की तुलना जाग्रत में अनुभूत विषयों के साथ करना सर्वथा अप्रामाणिक है। स्वप्न में विषय की प्रतीति का निमित्त केवल तीव्र

संस्कार है, जिससे उन-उन विषयों की स्मृति व्युत्क्रमरूप में तब उभर आती है। परन्तु जाग्रत दशा में वह स्मृति न होकर अपने विभिन्न निमित्तों के अनुसार अनुभव का रूप होता है। स्वप्न और जाग्रत के भेद को स्पष्टरूप में इसप्रकार समझ लेना चाहिए–स्वप्नदर्शी का स्वप्न में किसी से संघर्ष होजाने पर यदि विरोधी की तलवार उसकी गर्दन पर पड़ती है–तो गर्दन का कटना तो अलग रहा, उसमें खुरच भी नहीं आती। पर जाग्रत में किसीकी गर्दन पर तलवार का प्रहार होने पर जो परिणाम होता है, उसे प्रत्येक विचारशील व्यक्ति जानता है। जो स्वप्न-जागरित को समान समझकर स्वप्नगत विषयों के अभाव की तुलना में जागरित विषयों को भी उसीप्रकार अभावरूप समझता है, वह अपनी गर्दन पर तलवार का प्रहार करवाकर देखले, पता लगजायगा, वस्तु का भाव है, या अभाव।

प्रकाश के न होने पर रूप दिखाई नहीं देता; इसका तात्पर्य है–रूप का प्रत्यक्ष–अनुभव प्रकाश की विद्यमानता में होता है। इसीप्रकार जागरित दशा में वस्तु की उपलब्धि से उसका सत्त्व, तथा स्वप्नगत विषय की अनुपलब्धि से उसका असत्त्व सिद्ध होता है। फलतः यह निश्चित है–अभाव की सिद्धि–प्रथम भाव की सिद्धि को स्वीकार किये विना सम्भव नहीं।

यह कहागया–स्वप्न में विषय की प्रतीति स्मृतिमात्र है, उसका निमित्त तीव्र संस्कार आदि रहता है। इसीकारण स्वप्नों में विविध प्रकार का विकल्प देखाजाता है। कोई स्वप्न भयावह, कोई प्रमोद एवं रमणीयता से मिश्रित रहता है। किन्हीं में ये दोनों नहीं रहते। कभी स्वप्न ही दिखाई नहीं देता। यह सब स्थिति विशेष निमित्त के विना नहीं होसकती। संस्कार के अतिरिक्त अन्य कोई निमित्त वहाँ कल्पना नहीं कियाजासकता। संस्कार अनुभवजन्य होता है। वह केवल जागरित दशा में सम्भव है। यह दशा अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखती है, जबकि स्वप्न नहीं। स्वप्न-दशा की परिस्थितियाँ जागरित पर निर्भर करती हैं। इसलिए स्वप्नगत प्रतीति के समान जागरित का प्रमाण-प्रमेय व्यवहार मिथ्या है (स्वप्नविषयाभिमानवदयं प्रमाणप्रमेयाभिमानः, ३१), यह कथन सर्वथा असंगत है ॥ ३३ ॥

स्वप्न का आधार जागरित—स्वप्न स्मृतिमात्र है, वह जागरित अनुभवों पर निर्भर करता है; वह उलटे जागरित पदार्थों के अभाव का साधक नहीं होसकता। आचार्य सूत्रकार ने इस वास्तविकता को बताया—

स्मृतिसंकल्पवच्च स्वप्नविषयाभिमानः ॥ ३४ ॥ (४४६)

[स्मृतिसंकल्पवत्] स्मृति और संकल्प के समान [च] तथा [स्वप्न-विषयाभिमानः] स्वप्न में विषय का ज्ञान होता है।

स्मृति और संकल्प दोनों पहले अनुभव किये पदार्थ के विषय में होते हैं। इसीप्रकार स्वप्न पूर्व-अनुभूतविषयक होता है। पहले अनुभव कियागया वह पदार्थ असत् नहीं होता। इसलिए स्वप्नविषयक प्रतीति को असद्विषयक नहीं कहाजासकता। स्वप्न-प्रतीति जागरित-अनुभव पर आधारित रहती है। वह अपने आधार का विनाश करे, यह सम्भव नहीं। उस दशा में वह अपने नाश के लिए सिद्ध होगी।

स्वप्नदर्शी व्यक्ति जब जागजाता है, वह स्वप्न में देखे पदार्थों का प्रतिसंधान करता है, उसे याद करता है—मैंने यह पदार्थ देखा। जागने पर वह उस पदार्थ को स्वरूप से न पाकर उस प्रतीति को मिथ्या कहता है। उसका मिथ्या समझाजाना जागजाने पर होनेवाली बुद्धिवृत्ति के कारण है। यदि ये दोनों (स्वप्न-जागरितप्रतीति) समान हों, तब एक को साधन बनाना निरर्थक होगा। वह स्वप्न-प्रतीति अपने मूल जाग्रद्विषयक प्रतीति की बाधा करेगी। तब किसकी तुलना से उसके मिथ्यात्व का उपपादन होगा?

जो पदार्थ जैसा नहीं है, उसको वैसा समझलेना मिथ्या कहाजाता है। तात्पर्य है—मिथ्या की कसौटी सत्य है। किसी को मिथ्या—सत्य के मुकाबले में ही—कहा या समझाजासकता है। अपुरुष स्थाणु में पुरुष-ज्ञान को मिथ्या तभी कहाजासकता है, जब पुरुष में पुरुष-ज्ञान को सत्य मानाजाय। स्वप्न में देखे हाथी या पर्वत को मिथ्या तभी कहाजासकता है, जब जागरित में देखे हाथी व पर्वत को सत्य स्वीकार कियाजाता है। यह विषय की प्रतीति प्रधान है, स्वप्न-प्रतीति गौण हैं; क्योंकि वह पहले के आश्रित है; तथा उसके वास्तविक स्वरूप मिथ्यात्व की जानकारी भी प्रधान के भरोसे पर रहती है। इस सबके फलस्वरूप वस्तुमात्र को मिथ्या बताना सर्वथा असंगत है ॥ ३४ ॥

मिथ्याज्ञान यथार्थ पर आश्रित—वस्तुविषयक मिथ्याज्ञान वस्तु के यथार्थ-ज्ञान पर निर्भर रहता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया—

मिथ्योपलब्धिविनाशस्तत्त्वज्ञानात् स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत् प्रतिबोधे ॥ ३५ ॥ (४४७)

[मिथ्योपलब्धिविनाशः] मिथ्या उपलब्धि-ज्ञान का विनाश होजाता है [तत्त्वज्ञानात्] तत्त्वज्ञान—यथार्थज्ञान से [स्वप्नविषयाभिमानप्रणाशवत्] जैसे स्वप्न में विषय की उपलब्धि—ज्ञान का नाश होजाता है [प्रतिबोधे] जागजाने पर।

ऊपर से कटे हुए पेड़ के ठूंठ-जैसे तने में झुट-पुटा होनेपर (प्रकाश की न्यूनता होने पर) दूर से व्यक्ति को 'यह पुरुष है' ऐसा ज्ञान होजाता है। इस ज्ञान में भय, आशङ्का आदि आन्तर कारण तथा प्रकाश की न्यूनता तथा दृष्टि की

दुर्बलता आदि बाह्य कारण होते हैं। इसप्रकार स्थाणु (ठूँठ) में पुरुष का ज्ञान मिथ्या-उपलब्धि है, मिथ्याज्ञान है। स्थाणु में–'यह स्थाणु है' इसप्रकार का ज्ञान तत्त्वज्ञान है। किसी विषय के तत्त्वज्ञान से उस विषय के मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाती है। पर विषय की निवृत्ति नहीं होती। ज्ञान की दोनों दशाओं [मिथ्या-यथार्थ] में विषय की स्थिति एक-समान बनी रहती है। स्थाणु अपनी जगह स्थाणु रहता है; पुरुष अपनी जगह पुरुष। केवल बुद्धि-वृत्ति अथवा ज्ञान बदलता है। मिथ्या की जगह यथार्थ होजाता है। विषय दोनों दशाओं में स्वरूप से विद्यमान रहता है। इसलिए मिथ्याज्ञान में वस्तु का अभाव कहना असंगत है।

ठीक इसी प्रकार स्वप्न में होनेवाली प्रतीति का जागनेपर होनेवाले ज्ञान से नाश होजाता है। स्वप्न में दीखनेवाले–पर्वत, नदी, जंगल, नगर, हाथी, घोड़े, सवारी, सड़क, साथी, अनेक व्यक्ति–आदि पदार्थों का स्वप्नदर्शी व्यक्ति के जाग-जाने पर विनाश नहीं होता। वे सब अपनी-अपनी जगह, स्वप्न–जागरण दोनों अवस्थाओं में विद्यमान रहते हैं। जाग्रत-दशा में जब व्यक्ति पर्वत, नदी आदि का चिन्तन करता है, तब ये पदार्थ चिन्तन करनेवाले व्यक्ति के समीप नहीं आते, न व्यक्ति उनके समीप जाता है। जाग्रत-दशा में व्यक्ति इस यथार्थ स्थिति को जानता है। स्वप्न के ज्ञान में यही मिथ्यात्व है कि स्वप्नदर्शी अपने-आपको इन पदार्थों के साथ पाता है। इसमें निद्रा-दोष निमित्त होता है। जाग्रत का चिन्तन और स्वप्न का यह ज्ञान दोनों स्मृतिरूप हैं; पर स्वप्न में पदार्थों का सामीप्य स्मृतिरूप में न भासकर अनुभवरूप में भास रहा होता है। निद्रा-दोष से स्मृत्यंश लुप्त होजाता है। यह उस ज्ञान का मिथ्यात्व है। जागने पर यथार्थता का बोध होने से स्वप्नगत मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होजाती है। उस ज्ञान का विषय–वस्तुतत्त्व जहाँ-का-तहाँ बनारहता है।

मिथ्याज्ञान की यही स्थिति माया, गन्धर्वनगर, मृगतृष्णिका आदि में समझनी चाहिए। इन सब प्रसंगों में होनेवाला ज्ञान-'अतस्मिंस्तत्' है–जो जैसा नहीं है, उसमें वैसा ज्ञान होजाना। यहाँ भी उस मिथ्याज्ञान–विपरीतज्ञान का प्रतिषेध होता है, वस्तुतत्त्व का नहीं। माया आदि स्थलों में मिथ्याज्ञान के स्वरूप को इसप्रकार समझना चाहिए—

माया—जब मायावी, ऐन्द्रजालिक जिस किसी वस्तु का प्रदर्शन करना चाहता है, उसका आधार या निमित्त कोई अवश्य रहता है। उस प्रदर्शन का आधार या निमित्त अभावमात्र नहीं होसकता। जैसे–मान लीजिये, वह सर्प का प्रदर्शन करना चाहता है; वह उसीके सदृश कोई लकड़ी अथवा लचीली सामग्री से बना कोई वैसा द्रव्य लेकर सर्प का प्रदर्शन करता है। दर्शकों को यह निश्चय कराता है–प्रदर्शन में सर्प दिखायागया है। वस्तुत: वह सर्प नहीं होता। दर्शकों के इस मिथ्याज्ञान का आधार व निमित्त–वस्तुभूत सर्प का प्रथमज्ञान तथा उस

समय प्रदर्शित सर्प-सदृश–वह द्रव्य है। दर्शकों को मिथ्याज्ञान कराना ऐन्द्रजालिक का लक्ष्य है। पर वह स्वयं उस मिथ्याज्ञान से अभिभूत नहीं होता, उसे वस्तु-तत्त्व का यथार्थज्ञान रहता है। इसीका नाम माया है। यहाँ प्रदर्शित वस्तु का उभार अभाव से न होकर किसी वस्तु-तत्त्व से होता है। इसलिए वस्तुमात्र का अभाव में पर्यवसान कहना असंगत है।

गन्धर्वनगर—जब भूमि के समीप का अन्तरिक्ष कोहरा आदि से भरा रहता है, अथवा मरु-भूमि में तीव्र वायुवेग से धूलिकण उड़कर सूक्ष्म बालू के अंश अन्तरिक्ष में उड़ते रहजाते हैं; तब सूर्य-किरणों से प्रकाशित भूस्थित नगर–समीप के कोहरा अथवा बालु-अंश से पूरित अन्तरिक्ष में–प्रतिबिम्बित होउठता है। नगर के ऐसे प्रतिबिम्व को साहित्यिक भाषा में 'गन्धर्वनगर' कहाजाता है। यह स्थिति अभावमात्र से नहीं उभरती। स्थिति को जन्म देनेवाले निमित्त उक्त विवरण से स्पष्ट हैं। जब ऐसी स्थिति नहीं होती, तब 'गन्धर्वनगर' जैसी कोई चीज़ दिखाई नहीं देती।

मृगतृष्णिका—रेतीले मैदानों में भरी दुपहरी के समय सूरज की तीखी किरणों से बालू के कण चमक उठते हैं। उस समय वायु की मन्दगति से भूमि के ऊपर लगते हुए प्रदेश में प्रकाश की लहर-सी चलती हुई दूर से प्रतीत होती है। दूरस्थित व्यक्ति बालुकण और ऊष्मा की संसृष्टि से उभरती हुई स्थिति में बालु-आतप तथा जल के समान गुण शुक्लरूप एवं लहरों को दृष्टिगत करपाता है, विशेष धर्म को नहीं। समीप जाने पर बालू एवं आतप की विशेष स्थिति का ज्ञान होजाने पर पहला जल-विषयक मिथ्याज्ञान प्रतिषिद्ध होजाता है। ज्ञान के निमित्तभूत वस्तुतत्त्व की स्थिति, स्वरूप में बिना किसी विपर्यय के बराबर उसीप्रकार बनी रहती है।

ऐसे भ्रम का शिकार रेतीले मैदानों में मृग प्रायः होजाता है। वह दूर से आगे जल-धाराओं को लहराते देखता है; प्यास से तड़पता हुआ उस ओर दौड़ता है, पर समीप जाकर रेत के सिवाय कुछ नहीं पाता। आगे मुँह उठाकर देखने पर वही लहराती जलधारा जैसा दृश्य। प्यासा मृग उसी लालसा में दौड़ता-दौड़ता दम तोड़ बैठता है। इसीकारण विचारशील व्यक्तियों ने इस स्थिति को 'मृगतृष्णिका' नाम दिया है।

भरी गरमी के वैसाख-जेठ महीनों के दिनों में दूर तक जोतकर डाले हुए नंगे खेतों का मैदान भी इस दृश्य को उभार देता है। कोई भी व्यक्ति ऐसे मैदान के एक ओर बैठा हुआ उन लहरों का साक्षात्कार करसकता है। स्पष्ट है, यह स्थिति अभावमात्र से नहीं उभरती। इसके निमित्त–साधन स्थिति के विवरण से सर्वजनविदित हैं। ऐसी स्थिति के आधार पर मिथ्याज्ञान कहीं किसी काल में किसी व्यक्ति को होता है, सर्वत्र सबको नहीं। यह व्यवस्था उक्त

स्थिति के नैमित्तिक होने को प्रमाणित करती है। जो इस तथ्य का साधन है कि यह स्थिति अभावमात्र से नहीं उभर सकती। अन्यथा अभाव के सर्वत्र समान होने से सबको सर्वत्र ऐसी प्रतीति होती रहाकरतीं।

ज्ञान का द्वैविध्य प्रत्येक व्यक्ति के अनुभव में आता है–यथार्थज्ञान और मिथ्याज्ञान। जब ऐन्द्रजालिक माया का प्रदर्शन करता है, तब उसे वस्तु का यथार्थ-ज्ञान रहता है। साँप की जगह जिस द्रव्य को वह दिखला रहा है, उसे अच्छी तरह जानता है। परन्तु दर्शकगण यही समझता है कि उसने साँप दिखाया है; उसका ज्ञान मिथ्याज्ञान है। इसीप्रकार दूरस्थित व्यक्ति को अन्तरिक्ष में गन्धर्व-नगर तथा सामने रेतीले मैदान में लहराता जल दिखाई देता है; यह मिथ्या-ज्ञान है। जो व्यक्ति उस प्रदेश के समीप स्थित है, उसे गन्धर्वनगर आदि दिखाई न देकर जो वस्तु जैसी है, वैसी दिखाई देती है; उसका ज्ञान यथार्थज्ञान है। ठीक ऐसे ही स्वप्न की प्रतीति मिथ्या, तथा जागने पर उसके विषय का ज्ञान यथार्थ है। ज्ञान की यह सब स्थिति–वस्तु के अस्तित्व को स्वीकार न कर–अभावमात्र तत्त्व मानने पर सम्भव नहीं होसकती ॥ ३५ ॥

मिथ्याज्ञान का अस्तित्व—पदार्थ के सद्भाव का उपपादन कर आचार्य सूत्रकार ने मिथ्याज्ञान के सद्भाव को सिद्ध करने के लिए कहा—

बुद्धेश्चैवं निमित्तसद्भावोपलम्भात् ॥ ३६ ॥ (४४८)

[बुद्धेः] बुद्धि-ज्ञान–मिथ्याज्ञान का [च] भी [एवम्] इसप्रकार (–वस्तुसद्भाव के समान–सद्भाव है।) [निमित्तसद्भावोपलम्भात्] निमित्त-कारण तथा सद्भाव (मिथ्याबुद्धि के) की उपलब्धि होने से।

जैसे वस्तु के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं कियाजासकता, ऐसे ही मिथ्या-बुद्धि का प्रतिषेध अशक्य है। क्योंकि मिथ्याबुद्धि के कारण भी उपलब्ध होते हैं, और यथावसर प्रत्येक व्यक्ति उसका ग्रहण करता है। जिस कार्य के निमित्त उपलब्ध हों, और वह कार्य संवेद्य हो, ग्रहण कियाजाता हो; ऐसे कार्य के अस्तित्व से नकार नहीं कियाजासकता। मिथ्याज्ञान भी ऐसा कार्य है। उसका सद्भाव प्रामाणिक है ॥ ३६ ॥

मिथ्याज्ञान के प्रकार—आचार्य सूत्रकार ने मिथ्याज्ञान के द्विविध निमित्त का निर्देश किया—

तत्त्वप्रधानभेदाच्च मिथ्याबुद्धेर्द्वैविध्योपपत्तिः ॥ ३७ ॥ (४४९)

[तत्त्वप्रधानभेदात्] तत्त्व एवं प्रधान के भिन्न होने से [च] तथा [मिथ्याबुद्धेः] मिथ्याज्ञान–निमित्त का [द्वैविध्योपपत्तिः] द्विविध होना निश्चित है।

स्थाणु में पुरुष का ज्ञान होना मिथ्याज्ञान है। स्थाणु और पुरुष दोनों के विना इसका होना सम्भव नहीं। इस मिथ्याज्ञान में ये दोनों अपेक्षित हैं, दोनों निमित्त हैं। यहाँ स्थाणु 'तत्त्व' है, उसका सद्भाव यथार्थ है। पुरुष यहाँ 'प्रधान' है, क्योंकि प्रतीति में उसीका आभास होरहा है। इन दोनों का परस्पर भेद है, इसीकारण स्थाणु में पुरुष का ज्ञान मिथ्याज्ञान है। यदि इनमें भेद न होता, तो यह ज्ञान मिथ्याज्ञान न कहलाता। इन दोनों के सामान्य धर्मों का ग्रहण होने तथा विशेषधर्मों का ग्रहण न होने से यह ज्ञान उभरता है। तात्पर्य है–जहाँ दो भिन्न पदार्थों के केवल समानधर्म का ग्रहण होता है, वहीं ऐसा ज्ञान उभार में आता है। रज्जु में सर्प का ज्ञान, ध्वजा या पताका में बगुले का ज्ञान, ढेले में कबूतर का ज्ञान ऐसा ही मिथ्याज्ञान है। रस्सी में भैंस का ज्ञान कभी नहीं होता; क्योंकि वहाँ बाह्य आकार में किसीप्रकार के समान धर्म की सम्भावना नहीं। ऐसे मिथ्याज्ञान के लिए दो भिन्न पदार्थों के समानधर्म का ज्ञान होना व्यवस्थित है। जो वादी वस्तुतत्त्व को स्वीकार न कर केवल अभाव के अस्तित्व को मानता है, ऐसी स्थिति में वस्तुभेद न रहने से कहीं भी मिथ्याज्ञान का होना सम्भव न होगा।

यदि फिर भी आग्रहवश मिथ्याज्ञान का होना स्वीकार कियाजाता है, तो गन्ध आदि विषयों में गन्धज्ञान आदि होना मिथ्याज्ञान होना चाहिए, जो वस्तुतः तत्त्वज्ञान है। क्योंकि इनमें 'तत्त्व' और 'प्रधान' के सामान्य धर्म का ग्रहण नहीं होता। अन्यथा जगत्-व्यवहार का ही विलोप होजायगा, जो किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं। फलतः मिथ्याज्ञान अनुभवसिद्ध है, और उसका निमित्त है–दो भिन्न पदार्थों के समानधर्म का ज्ञान। इसप्रकार मिथ्याज्ञान का अस्तित्व वस्तुतत्त्व की सिद्धि में प्रयोजक होता है। ऐसी स्थिति में यह कहना कि प्रमाण-प्रमेय का ज्ञान मिथ्या है, सर्वथा असंगत है॥ ३७॥

तत्त्वज्ञान के साधन—प्रमेय सूत्र [१।१।९] में पठित प्रमेयों में आदि के आत्मा और अन्त के अपवर्ग को छोड़कर शेष शरीरादि दुःखान्त प्रमेय दोषों के निमित्त हैं। दोषों की निवृत्ति के लिए–प्रस्तुत प्रसङ्ग के प्रारम्भ [४।२।१] में–तत्त्वज्ञान का निर्देश किया। शिष्य जिज्ञासा करता है–वह तत्त्वज्ञान उत्पन्न कैसे होता है? आचार्य ने बताया—

समाधिविशेषाभ्यासात्॥३८॥ (४५०)

[समाधिविशेषाभ्यासात्] समाधिविशेष के अभ्यास से, अथवा समाधि के लिए विशेष अभ्यास से (समाधिदशा प्राप्त होजाने पर तत्त्वज्ञान उत्पन्न होजाता है)।

बाह्य विषयों से सुविचारपूर्वक इन्द्रियों को हटाकर, तथा मन की वृत्तियों

का प्रयत्न एवं अभ्यासपूर्वक निरोध करके उसे आत्मा के साथ जोड़लेना समाधि का स्वरूप है। इन्द्रियाँ स्वभावतः बाह्य विषयों की ओर आकृष्ट रहती हैं। गुरु एवं शास्त्र आदि के उपदेश तथा प्राक्तन संसार आदि निमित्तों से जब व्यक्ति की तत्त्वजिज्ञासा उत्कटरूप में उभरती है, तो वह बाह्य विषयों की ओर से विरक्त-सा होजाता है। इन्द्रियों की प्रवृत्ति उस ओर शिथिल होजाती है। तब मानसवृत्तियाँ बाहर की ओर का चिन्तन न कर आत्मतत्त्व के चिन्तन में अग्रसर होने लगती हैं। अष्टांग योग, गायत्री व प्रणव का जप तथा अन्य शास्त्रीय उपायों के निरन्तर अभ्यास से समाधि-दशा प्राप्त होजाती है। तब इन्द्रियाँ बाह्य विषयों में ज्ञानोत्पत्ति का साधन नहीं बनतीं। यह स्थिति तत्त्वज्ञान को प्रकाशित करने में समर्थ होती है।

पातञ्जल योगदर्शन, उपनिषत् एवं अध्यात्मविषयक वाङ्मय में इस अवस्था (समाधिदशा) को प्राप्त करने के लिए विविध उपायों व साधनों का उल्लेख साक्षात्कृतधर्मा आचार्यों ने किया है। उन उपायों के अनुष्ठान से समाधि-लाभ निर्बाध होजाता है। यही तत्त्वज्ञान की स्थिति है॥ ३८॥

विषय-प्राबल्य समाधि में बाधक—विषयों की ओर इन्द्रियों के प्रबल आकर्षण का विचार करते हुए शिष्य आशंका करता है। आचार्य ने शंका को सूत्रित किया—

नार्थविशेषप्राबल्यात् ॥ ३९ ॥ (४५१)

[न] नहीं (युक्त प्रतीत होता उक्त कथन) [अर्थविशेषप्राबल्यात्] अर्थ-विशेष—गन्ध आदि विषयों के अति प्रबल होने के कारण।

समाधि-दशा प्राप्त होजाने पर इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्षजन्य ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, यह कथन युक्त नहीं है। इच्छा न होते हुए भी—विषय इतने प्रबल होते हैं कि इन्द्रियों के सामने आने पर—इन्द्रियाँ मनसहित बलपूर्वक उधर खिच-जाती हैं। बड़े-बड़े योगी महात्मा इससे अभिभूत होजाते हैं। विश्वामित्र, पराशर आदि का इतिहास इसका साक्षी है। इसके अतिरिक्त साधारण अवस्था में योगी जब समाधिस्थित होता है, मेघ आदि की घोर गर्जना होने पर बलात् ध्वनि श्रोत्र-इन्द्रिय को प्रभावित करदेती है। यद्यपि योगी की अपनी इच्छा शब्द सुननेकी नहीं होती। ऐसी स्थिति में समाधिदशा का बने रहना सम्भव प्रतीत नहीं होता॥ ३९॥

इसके अतिरिक्त भूख, प्यास आदि भी योगी को तंगकर समाधि-दशा को विघटित करदेती हैं। आचार्य ने इसे सूत्रित किया—

क्षुदादिभिः प्रवर्त्तनाच्च ॥ ४० ॥ (४५२)

[क्षुद्–ग्रादिभिः] भूख-प्यास ग्रादि के कारण [प्रवर्त्तनात्] प्रवृत्ति हो-जाने से (योगी की) [च] भी ।

समाधि-ग्रवस्था प्राप्त होजाने पर–जब तक देह विद्यमान रहता है–भूख-प्यास, गरम-सरद, रोग तथा ग्रन्य देहसम्बन्धी ग्रावश्यक कार्यों के लिए योगी को विषयों की ग्रोर ग्राकृष्ट होना पड़ता है । न चाहते हुए भी योगी को इसप्रकार के बाह्य ज्ञानों का होते रहना ग्रनिवार्य है । तब निरन्तर एकाग्रता का होना सम्भव नहीं रहता । ऐसी दशा में यह कहना–कि समाधिलाभ होजाने पर इन्द्रिय-ग्रर्थ के सन्निकर्ष से ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती–ग्रसंगत है ।। ४० ।।

संस्कार, समाधिलाभ में सहयोगी—ग्राचार्य सूत्रकार ने ग्राशंका का समाधान किया—

पूर्वकृतफलानुबन्धात् तदुत्पत्तिः ।। ४१ ।। (४५३)

[पूर्वकृतफलानुबन्धात्] पूर्व-जन्म में किये कर्मों से उत्पन्न संस्कारों के ग्रनुरोध से [तद्–उत्पत्तिः] उस समाधि की सिद्धि इस जन्म में सम्भव है ।

यह ठीक है, समाधि-दशा को विघटित करनेवाले ग्रनेक निमित्त योगी के सन्मुख ग्राते रहते हैं । कभी-कभी समाधि के विरोधी ग्रनेक कारण समाधिलाभ में बाधक होजाते हैं । परन्तु ग्रध्यात्म-मार्ग के यात्री प्रत्येक योगी के सन्मुख इस प्रकार की समान बाधक स्थिति ग्राती हो, ऐसा नहीं है । ग्रनेक व्यक्तियों के पूर्व-जन्म में किये शुभकर्मों के प्रबल संस्कार इस जन्म में समाधिसिद्धि के लिए सहयोगी होते हैं । ऐसा देखाजाता है, ग्रनेक ग्रभ्यासरत योगियों को निर्बाध-निर्विघ्न समाधिलाभ होजाता है । प्रत्यक्ष में यदि कोई विघ्न ग्राते हैं, तो उनका विरोध–समाधि के ग्रनुकूल प्रबल संस्कारों के कारण–ग्रनायास होजाता है । विषयों की ग्रोर से पूर्ण वैराग्य को प्राप्त होकर जब ग्रध्यात्ममार्गी दृढ़ता के साथ ग्रभ्यास में निरन्तर रत रहता है, तब उसकी इस क्षमता के सामने विघ्न-बाधा हवा होजाती हैं । यदि ऐसा न हो, तो ग्रादरपूर्वक ग्रभ्यास कौन करे ?

साधारणरूप से लोकव्यवहार में यह बात देखीजाती है–यदि कोई व्यक्ति ग्रपने कार्य में पूर्ण सफलता चाहता है, तो वह दृढ़ता से ग्रपने कार्य के सम्पादन में निरन्तर लगा रहता है, उसका यह ग्रभ्यास का नैरन्तर्य उसे पूर्ण सफलता के सिरे पर पहुँचा देता है; यह उत्तम जनों का लक्षण है । श्रेष्ठ पुरुष वही है, जो पूर्ण सफलता प्राप्त किये विना ग्रपने प्रारब्ध-कार्य का परित्याग नहीं करता ।

भूख-प्यास तथा रोग ग्रादि की निवृत्ति एवं देहसम्बन्धी ग्रन्य ग्रावश्यक कार्यों का पूरा कियाजाना समाधिलाभ के लिए सहयोगी स्थितियाँ हैं । मानव-देह समाधिलाभ के लिए महान् साधन है । इसका स्वस्थ रहना समाधि में पूर्ण सहायक है । इसी स्थिति में भूख-प्यास ग्रादि की निवृत्ति का समावेश होजाता है । मौसम का गरम-सरद होना ग्रभ्यासी के लिए नगण्य है ।। ४१ ।।

योगाभ्यास के अनुकूल स्थान—यदि अभ्यासी ऐसी परिस्थिति में है कि फिर भी कोई विघ्न बाधा उसके सामने आते हैं, तो आचार्य ने उसके लिए बताया—

अरण्यगुहापुलिनादिषु योगाभ्यासोपदेशः ॥ ४२ ॥ (४५४)

[अरण्यगुहापुलिनादिषु] अरण्य, गुहा, पुलिन आदि एकान्त स्थानों में (जाकर या रहकर) [योगाभ्यासोपदेशः] योग के अभ्यास करने का उपदेश (शास्त्र करता है)।

नगर, ग्राम तथा जन-संकुल स्थानों में–कुछ सुविधाओं के होते हुए भी–अभ्यास के लिए विघ्नबाधाओं की अधिक सम्भावना बनी रहती है।

नगर आदि स्थानों में रहता हुआ समाधि का अभिलाषी व्यक्ति अपने समीप के किसी जंगल, गुहा (इसी निमित्त से बनाया एकान्त स्थान) अथवा नदी-तट के पवित्र एकान्त प्रदेश में नियत समय के लिए जाकर योग-समाधि का अभ्यास करसकता है,-ऐसा उपदेश शास्त्रों ने दिया है।[1] यदि ऐसे स्थानों में अन्य अपेक्षित साधारण सुविधा प्राप्त हों, तो उन्हीं प्रदेशों में निवास करता हुआ योगाभ्यास करे। अभ्यास में ऐसी अनुकूलता से किसी सीमातक विघ्न-बाधाओं का परिहार होता रहता है।

इसप्रकार योगाभ्यास से योगी-आत्मा में जो धर्मविशेष, जो दृढ़ संस्कार उत्पन्न होजाते हैं, वे जन्म-जन्मान्तरों में अनुवृत्त होते रहते हैं। जन्मान्तर में फलोन्मुखता के लिए वे सबसे आगे बढ़कर आते हैं। साधारण कर्म-संस्कारों की सञ्चित राशि पीछे पड़ी रहती है। सञ्चित राशि का भुगतान भोग से अथवा आत्मज्ञान से होता है। दयालु न्यायकारी प्रभु इस तथ्य को जानता है–यह व्यक्ति उपयुक्त मार्ग पर चलपड़ा है। उसके लिए प्रभुद्वारा पूरा अवसर दियाजाता है। इसीकारण समाधि के अनुकूल संस्कार जन्मान्तर में फलप्राप्ति के लिए आगे बढ़ आते हैं। तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान में सहयोगी ऐसे संस्कारों का जब प्राबल्य होजाता है, तब समाधि-भावना अपनी उत्कृष्ट अवस्था में पहुँच-जाती है। समाधिलाभ से तत्त्वज्ञान होजाने पर गन्ध आदि बाह्य विषयों की आकर्षणरूप प्रबलता शिथिल होजाती है। तत्त्वज्ञान का उद्रेक उसे सर्वात्मना दबा देता है। इन्द्रियों द्वारा विषयों का सम्पर्क होने पर भी वह युक्त (समाधि-प्राप्त) आत्मा को प्रभावित नहीं करता।

यह तो योगी की स्थिति है, जो बहुत ऊँची है। एक साधारण लौकिक जन भी जब अपने कार्य में सर्वात्मना संलग्न, लीन हुआ-जैसा रहता है, उस समय बाह्य इन्द्रियाँ विषयो से सन्निकृष्ट होती हुई भी उस कार्यरत व्यक्ति के

---

१. द्रष्टव्य–ऋग्वेद, ८। ६। २८ ॥ श्वेताश्वतर-उपनिषत्, २। १० ॥

ध्यान को विघटित नहीं करपातीं। वह जब अपने कार्य से हटकर लोगों के साथ व्यवहार में आता है, तब उनके बताने पर राजा की सवारी इधर से निकल गई, अथवा बारात गाजे-बाजे के साथ चली गई—वह यही कहता है, वह सब बाजा आदि मैंने नहीं सुना, न अन्य कुछ जाना, मेरा मन दूसरे विषय में लगाहुआ था। जब साधारण लोकजन की यह स्थिति है, तब उस अभ्यासी योगी का क्या कहना, जिसका आत्मा स्वरूप में प्रतिष्ठित होचुका है। इन्द्रियार्थसन्निकर्ष उसके लिए कोई बाधा उपस्थित नहीं करते। ऐतिहासिक दृष्टान्त उनके अपुण्यों के परिणाम हैं ॥ ४२ ॥

विषयज्ञान मोक्ष में रहे—यदि युक्त योगी की इच्छा न होते हुए गन्धादि विषय-विशेषों की प्रबलता से ज्ञानादि उत्पत्ति का लगातार होते रहना स्वीकार कियाजाता है, तो सूत्रकार ने बताया—

अपवर्गेऽप्येवं प्रसङ्गः ॥ ४३ ॥ (४५५)

[अपवर्गे] मोक्ष में [अपि] भी [एवम्] इसप्रकार का [प्रसङ्गः] अवसर प्राप्त होजाना चाहिये।

यदि योगी के न चाहने पर विषय बलपूर्वक योगी को आकृष्ट करसकते हों, और उससे प्रेरित बाह्यार्थविषयक ज्ञान योगी को होतेरहसकें, तो अपवर्ग दशा में भी बाह्य विषय अपने सामर्थ्य से मुक्त आत्मा को विषयज्ञान करादिया करें। तब उस दशा में राग-द्वेष आदि की उत्पत्ति होकर उसका मोक्षभाव नष्ट होजाय। वह वर्त्तमान संसार के समान होजाय। पर ऐसा नहीं है, न होसकता है। इसलिए समाधि-अवस्था प्राप्त होजानेपर तत्त्वज्ञान अथवा आत्मज्ञान से विषयों का प्राबल्य अकिञ्चित्कर होजाता है। ये तभी तक अपनी क्षमता का प्रदर्शन करते हैं, जबतक मिथ्याज्ञान बना है। तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश होजाने पर सब प्रकार के विषय चुपचाप जुआ डालकर एक ओर खड़े रह जाते हैं। तब आत्मा की चालू संसारयात्रा पूरी होजाती है।

विषयों के प्रबल होने पर भी अपवर्ग में ऐसा अवसर क्यों नहीं आता? आचार्य ने बताया—

न निष्पन्नावश्यम्भावित्वात् ॥ ४४ ॥ (४५६)

[न] नहीं (युक्त, मुक्ति में ज्ञान आदि की प्रसक्ति का कहना) [निष्पन्नावश्यम्भावित्वात्] कर्मानुसार उत्पन्न शरीर के अवश्यम्भावी निमित्त होने के कारण (बाह्यार्थ-विषयक ज्ञान आदि के प्रति)।

अपने कर्मों के अनुसार आत्मा को देह की प्राप्ति होती है। यह देह चेष्टा, इन्द्रिय और गन्ध आदि विषयों का आश्रय मानाजाता है। जब आत्मा देही रहता है, तभी आत्मा को बाह्यविषयक ज्ञान का होना सम्भव है। क्योंकि

ऐसे वैषयिक ज्ञान के होने में देह, इन्द्रिय आदि आवश्यक कारण हैं। देह के रहने पर बाह्यविषयक ज्ञान आदि का उत्पन्न होना अवश्यम्भावी है। देह के रहते जब योगी को तत्त्वज्ञान होजाता है, तब भी इन्द्रिय के साथ मनोयोगपूर्वक अर्थ का सन्निकर्ष होने पर बाह्यज्ञान की उत्पत्ति को रोका नहीं जासकता। अपवर्ग में आत्मा के साथ देह-इन्द्रिय आदि का सम्बन्ध नहीं रहता, इसलिए वहाँ बाह्यज्ञानोत्पत्ति की प्रसक्ति का कहना निराधार है। बाह्य अर्थ कितना भी प्रबल हो, देह-इन्द्रिय आदि के अभाव में ज्ञानोत्पाद के लिए वह समर्थ नहीं होता ॥ ४४ ॥

यही कारण है–अपवर्ग में बाह्य ऐन्द्रियक ज्ञान नहीं होसकता। सूत्रकार ने इसीका निर्देश किया—

तदभावश्चापवर्गे ॥ ४५ ॥ (४५७)

[तद्-अभावः] देह-इन्द्रिय आदि का अभाव रहता है [च] ही, निश्चय से [अपवर्गे] मोक्ष में।

बाह्य-विषयक ज्ञान की उत्पत्ति जिन देह-इन्द्रिय आदि कारणों से होती है, उन सबका मोक्ष में निश्चयपूर्वक अभाव रहता है। तब कारण के अभाव में कार्य कैसे होगा? इसलिए देहादिरहित मोक्ष-दशा में बाह्यज्ञानोत्पत्तिविषयक आपत्ति का कथन निराधार है। ऐसे निराधार कथन के भरोसे पर सदेह जीवन्मुक्त को विषय-प्रावल्य से बाह्य ज्ञान होने का प्रतिषेध करना असंगत होजाता है। इसीकारण मोक्ष का यह स्वरूप बतायागया है कि वहाँ सबप्रकार के दुःखों का छुटकारा होजाता है। केवल मात्र चेतन आत्मा समाधिजन्य स्वगत सामर्थ्य से परमात्म-आनन्द का अनुभव किया करता है। किसीप्रकार के दुःख के उत्पन्न न होने का कारण यही है कि वहाँ दुःख के कारण व आधार देह-इन्द्रिय आदि का अभाव रहता है। विना निमित्त व विना आधार के दुःख कैसे उत्पन्न होगा? अतः सदेह सेन्द्रिय तथाकथित जीवन्मुक्त को बाह्यज्ञान होते रहने की सम्भावना बनी रहती है; यह स्थिति समाधिलाभ में प्रबल बाधक है, तब समाधिलाभ के लिए क्या उपाय होना चाहिये? ॥ ४५ ॥

समाधिलाभ के उपाय—आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तदर्थं यमनियमाभ्यामात्मसंस्कारो योगाच्चाध्यात्म-विध्युपायैः ॥ ४६ ॥ (४५८)

[तद्-अर्थम्] समाधि-सिद्धि के लिए [यमनियमाभ्याम्] यम और नियम के आचरण से [आत्मसंस्कारः] आत्मा का संस्कार-समाधिलाभ की योग्यता–एकाग्रता आदि का सम्पादन करना, [योगात्] योग-चित्तवृत्तिनिरोध से [च] और [अध्यात्मविध्युपायैः] अध्यात्मशास्त्रों में बताये उपायों से।

समाधिसिद्धि के लिए सबसे पहली बात है–आत्मसंस्कार। जबतक आत्मा में राग, द्वेष, मद, मात्सर्य, ईर्ष्या, क्रोध, मोह, लोभ आदि अवगुणों की राशि जमा रहती है, तबतक आत्मा असंस्कृत रहता है, समाधिलाभ की योग्यता–चित्त की एकाग्रता आदि–का वहाँ अभाव रहता है। इसलिए सर्वप्रथम राग-द्वेष आदि अवगुणों को दूरकर चित्त की एकाग्रता के लिए उपयुक्त क्षेत्र का सम्पादन करना आवश्यक है।

आचार्य ने सूत्र में आत्मसंस्कार के लिए तीन साधनों का निर्देश किया है—१. यम, नियम, २. योग, ३. अध्यात्म-शास्त्रनिर्दिष्ट उपाय।

१. यम-नियम—इनका विस्तृत विवरण पातञ्जल योगदर्शन में दियागया है। पाँच यम हैं–अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह। अहिंसा आदि यमों का आचरण सभी आश्रम व वर्णों के लिए समानरूप से धर्म का साधन मानागया है। जाति, देश, काल तथा अन्य किन्हीं निमित्तों की सीमा से ये रहित हैं। इनको सार्वभौम और महाव्रत बतायागया है।[1] इनके आचरण से रागादि दोषों के निवारण में पूर्ण सहयोग प्राप्त होता है। पाँच नियम हैं–शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान[2]। ये नियम वर्णों और आश्रमों के लिए अपने-अपने अलग होते हैं। इनका विस्तृत वर्णन पातञ्जल योगदर्शन से देखना चाहिये।

२. योग—यह आत्मसंस्कार का दूसरा साधन बताया। चित्तवृत्तियों का निरोध 'योग' कहाजाता है। इन्द्रियों के सहयोग से चित्त [मन अथवा बुद्धि] बाह्य विषयों में फँसारहता है। उसको रोकने का प्रयत्न करना चाहिये। वैषयिक वृत्तियों का निरोध निरन्तर अभ्यास और विषयों में वैराग्य की भावना से होता है। यह स्थिति आत्मसंस्कार में उपयोगी है। अथवा सूत्र के 'योग' पद का अर्थ 'योगशास्त्र' है। वहाँ प्रतिपादित उपायों द्वारा आत्मसंस्कार के लिए प्रयत्न करना चाहिये।

३. अध्यात्मविधि—अध्यात्म के विधायक शास्त्र उपनिषत् आदि हैं। वहाँ आत्मसंस्कार अथवा आत्मज्ञान आदि के लिए विविध उपासना आदि जिन उपायों का वर्णन कियागया है, उनके अनुष्ठान द्वारा आत्मसंस्कार का सम्पादन करना चाहिये।

जब आत्मा संस्कृत होजाता है, तब अधर्मजनक प्रवृत्तियों का नाश तथा धर्म का उपचय होता है। योगशास्त्र में आत्मसंस्कार व आत्मज्ञान के लिए सभी अपेक्षित उपायों का वर्णन कियागया है। वह योग के आठ अङ्गों के रूप में प्रतिपादित है, जो यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान,

---

१. द्रष्टव्य, योगदर्शन, २ ।। ३०-३१ । तथा २ । ३५-३६ ।।

२. द्रष्टव्य, योगदर्शन, २ । ३२ ।। तथा २ । ४०-४५ ।।

समाधि के रूप में वर्णित है। इनके यथाविधि अनुष्ठान के साथ इन्द्रिय और उनके गन्ध आदि विषयों के सम्बन्ध में यह जानने का यत्न करना चाहिये कि उनकी वास्तविकता क्या है? ये सब जड़ व नश्वर पदार्थ हैं; इनमें आसक्ति पतन की ओर लेजासकती है। ऐसी भावना से राग-द्वेष आदि का उभरना समाप्त होजाता है।

इसप्रकार योगशास्त्र आदि प्रतिपादित विधि के अनुसार उपायों का आचरण करता हुआ व्यक्ति आत्मसंस्कार, आत्मज्ञान एवं तत्त्वज्ञान के सर्वोच्च स्तर को प्राप्त करलेता है। यह पूर्ण समाधिसिद्धि का स्तर है। इस अवस्था को प्राप्त कर योगी जीवन्मुक्त होजाता है। तब सदेह और सेन्द्रिय रहते हुए योगी को प्रबल विषय भी अभिभूत नहीं करपाते। उनकी स्थिति तब नगण्य-जैसी होजाती है। इसलिए उस अवस्था में यदि योगयुक्त आत्मा को बाह्यज्ञान से अभिभूत हुआ मानाजाय, तो अपवर्ग में भी इस स्थिति की सम्भावना प्रसक्त होसकती है। इसी आशय को ४३वें सूत्र में प्रकट कियागया है। तात्पर्य है–जैसे मोक्षदशा में आत्मा बाह्य वैषयिक ज्ञान से अभिभूत नहीं होता, इसीप्रकार जीवन्मुक्त अवस्था में बाह्यविषय योगयुक्त आत्मा को अभिभूत नहीं कर-पाते ॥ ४६ ॥

तत्त्वज्ञान का परिपाक—आत्मसंस्कार एवं तत्त्वज्ञान का परिपाक किन उपायों से होसकता है,–आचार्य सूत्रकार ने बताया—

ज्ञानग्रहणाभ्यासस्तद्विद्यैश्च सह संवादः ॥ ४७ ॥ (४५९)

[ज्ञानग्रहणाभ्यासः] आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र का ग्रहण-अध्ययन-धारण तथा अभ्यास-निरन्तर स्वाध्याय-श्रवण-चिन्तन आदि [तद्-विद्यैः] आत्मतत्त्व एवं अध्यात्मशास्त्र के साक्षात्कृतधर्मा व्यक्तियों के–[च] तथा [सह] साथ [संवादः] संवाद-चर्चा करना (तत्त्वज्ञान-परिपाक के उपाय हैं)।

समाधि एवं तत्त्वज्ञान को परिपक्व अवस्था तक पहुँचाने के लिए आचार्य ने दो उपाय इस सूत्र में बताये—१. ज्ञानग्रहणाभ्यास, २. तद्विद्यसंवाद। सूत्र में 'ज्ञान' पद आत्मज्ञान के प्रतिपादक शास्त्र का वाचक है। 'ग्रहण' पद में शास्त्र के अध्ययन, धारण, स्मरण आदि का समावेश होजाता है। 'अभ्यास' का तात्पर्य है–उक्त कार्य के सम्पादन के लिए निरन्तर क्रियाशील रहना। इन कार्यों में कभी आलस्य व उपेक्षा का अंश भी न आने देना। आत्मविद्यासम्बन्धी शास्त्रों का अध्ययन, धारण, स्मरण, चिन्तन आदि में सतत संलग्न रहना। इससे तत्त्वज्ञान व योगसमाधि का स्तर परिष्कृत होता है। इसीलिए अनुभवी आचार्यों ने बताया है—

स्वाध्यायाद् योगमासीत योगात्स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याययोगसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते॥

समाधि व आत्मज्ञान के लिए व्यक्ति का निरन्तर अनुष्ठान में बैठे रहना सम्भव नहीं होता। नियतकाल अथवा अपेक्षित काल तक अनुष्ठान कर जब उसमें कुछ थकावट का अनुभव करे, तो अनुष्ठान से उठकर अध्यात्मशास्त्र के स्वाध्याय–अध्ययन, स्मरण, चिन्तन आदि में लगजाय। जब इधर से अपेक्षित कार्य सम्पन्न होजाय, पुन: योगानुष्ठान में लगजाय। अध्यात्ममार्गी को अन्य किसी अनपेक्षित कार्य में अपना समय नष्ट न करना चाहिये। इसप्रकार स्वाध्याय और योग के अनुष्ठान से यथावसर परमात्मा का साक्षात्कार होजाता है। यह तत्त्वज्ञान के परिपाक के लिए पहला उपाय बताया।

२. **तद्विद्यसंवाद**—जो इस विषय के विशेषज्ञ हैं, अपने से अधिक जानकार हैं, उनके साथ इस विषय पर संवाद करना, जिज्ञासा की भावना से चर्चा करना। इससे अपना ज्ञान परिपक्व होता है। 'परिपाक' पद का तात्पर्य है–ऐसा आचरण करने से उस विषय में कोई सन्देह नहीं रहता; तथा जो अर्थ अभीतक जाना नहीं है, उसकी जानकारी होजाती है। जो अर्थतत्त्व जानाहुआ है, उसमें दूसरे विशेषज्ञ की अनुमति प्राप्त होजाती है, जिससे अपना ज्ञान पुष्ट होता है। 'संवाद' पद का तात्पर्य है–जिससे परस्पर चर्चा करनेवाले दोनों व्यक्तियों का ज्ञान समान होजाय; उनमें न्यूनाधिकता न रहे ॥ ४७ ॥

संवाद किनके साथ करे—गतसूत्र में 'तद्विद्यै: सह संवाद:' इस वाक्य का 'तद्विद्य' पद कुछ अस्पष्ट रहा। वे 'तद्विद्य' कौन होसकते हैं, अथवा कौन होने चाहियें ? सूत्रकार स्वयं उसे स्पष्ट करता है—

**तं शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभि-
रनसूयुभिरभ्युपेयात् ॥ ४८ ॥ (४६०)**

[तम्] उस संवाद को [शिष्यगुरुसब्रह्मचारिविशिष्टश्रेयोर्थिभि:] शिष्य, गुरु, सहाध्यायी, विशिष्ट, तथा श्रेयोर्थी–मोक्षाभिलाषी व्यक्तियों के साथ [अनसूयुभि:] जो असूया–ईर्ष्या आदि करनेवाले नहीं–[अभ्युपेयात्] स्वीकार करे।

सूत्रनिर्दिष्ट शिष्य आदि परस्पर यथावसर अध्यात्मविषयक संवाद किया करें। शिष्य, गुरु पद प्रसिद्ध हैं। सब्रह्मचारी का अर्थ सहाध्यायी है; साथ पढ़नेवाले अन्य छात्र। साथियों में सबकी योग्यता समान नहीं रहती। गुरु से अध्ययन के अनन्तर परस्पर संवाद से अधीत विषय के स्पष्ट होने में बड़ी सहायता मिलती है। 'विशिष्ट' पद का तात्पर्य है–अपनी अपेक्षा से अधिक ज्ञान रखनेवाला। ऐसे साथियों से शास्त्रीय चर्चा करने पर अपना ज्ञान बढ़ता है। इसीप्रकार मोक्षार्थी व्यक्तियों के साथ उस विषय की चर्चा करने से मोक्षसम्बन्धी अपने ज्ञान में वृद्धि की आशा रहती है। यह ध्यान रखना चाहिये, जिनके साथ

संवाद करना है, वे ईर्ष्या आदि रखनेवाले न हों, क्रोधी न हों। ऐसे व्यक्तियों के साथ चर्चा में कभी-कभी ज्ञानलाभ के स्थान पर चित्त में अधिक विक्षेप उत्पन्न होने की सम्भावना होजाती है ॥ ४८ ॥

संवाद में पक्षादि का त्याग—यदि कभी ऐसा अवसर आजाय कि परस्पर चर्चा में पक्ष-प्रतिपक्ष का स्वीकार करना दूसरे के लिए प्रतिकूल प्रतीत हो, तो चर्चा का चालू करना क्या उपयुक्त होगा? शिष्य की इस जिज्ञासा पर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रतिपक्षहीनमपि वा प्रयोजनार्थमर्थित्वे ॥ ४९ ॥ (४६१)

[प्रतिपक्षहीनम्] प्रतिपक्षरहित [अपि] भी [वा] अथवा [प्रयोजनार्थम्] प्रयोजन की सिद्धि के लिए (संवाद स्वीकार करे), [अर्थित्वे] अभिलाषी होने पर (संवाद का)।

यदि जिज्ञासु व्यक्ति अपने गुरु अथवा अन्य आदरणीय व्यक्ति के साथ–अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए–संवाद का अभिलाषी है, तो वहाँ चर्चा में पक्ष-प्रतिपक्ष की स्थापना का विचार छोड़देना चाहिये। गुरु आदि आदरणीय व्यक्तियों के साथ चर्चा में उनके द्वारा प्रतिपक्षस्थापना के लिए संकेत करना, तथा अपने पक्ष की स्थापना के अवसर पर प्रतिपक्ष के प्रत्याख्यान का निर्देश करना शिष्टाचार के प्रतिकूल होसकता है। इसलिए स्वगत तत्त्वज्ञान के परिपाक की भावना से अपने प्रयोजन की सिद्धि के लिए पक्ष-प्रतिपक्ष से रहित संवाद करने में कोई बाधा नहीं। गुरु आदि आदरणीय ज्ञानवृद्ध व्यक्तियों से उपयुक्त ज्ञान का ग्रहण करना अभिप्रेत होता है। उनके सन्मुख जिज्ञासु होकर जाना ठीक है, प्रतिवादी होकर नहीं। ऐसे संवादों में पक्ष-प्रतिपक्ष स्थापना की चिन्ता को छोड़कर गुरु आदि के द्वारा कियेगये उपदेश से अपने ज्ञान का परिशोधन करना अधिक अनुकूल होता है। इसलिए ऐसे संवाद पक्ष-प्रतिपक्ष के विना कियेजासकते हैं ॥ ४९ ॥

तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प आदि का प्रयोग—दार्शनिक जगत् में अनेक अखाड़ेबाज़ों के दर्शनाभास भी परस्पर विरुद्ध दर्शन के रूप में उपस्थापित कियेजाते हैं; उनमें अनेक अपने पक्ष के अनुराग से न्याय्य बात का उल्लंघन करजाते हैं। कहा यह जाता है कि वे तत्त्वज्ञान का परिशोधन करनेवाले हैं, पर कदाचित् वे तत्त्वज्ञान को अपने अन्यथा प्रयास से आविल ही करते हैं। क्या वहाँ संवाद अपेक्षित है? शिष्यजिज्ञासा पर आचार्य ने बताया—

तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थं जल्पवितण्डे बीजप्ररोहसंरक्षणार्थं कण्टकशाखावरणवत् ॥ ५० ॥ (४६२)

[तत्त्वाध्यवसायसंरक्षणार्थम्] तत्त्वज्ञान की सम्यक् रक्षा के लिए [जल्प-वितण्डे] जल्प और वितण्डा-कथा का प्रयोग करे। [बीजप्ररोहसंरक्षणार्थम्] बीज बोये जाकर उनके अङ्कुर फूट आने पर उनकी ठीक रक्षा के लिए [कण्टक-शाखावरणवत्] जैसे कण्टीली शाखाओं की बाड़ लगायीजाती है।

तत्त्वज्ञान की वृद्धि एवं परिशोधन के लिए संवाद का गतसूत्रों में उल्लेख कियागया। संवाद अथवा वाद-कथा का उपयोग जिज्ञासु-भावना में कियाजाता है। यदि तत्त्वज्ञान के लिए केवल वाद-कथा का उपयोग है, तब जल्प और वितण्डा-कथा को क्या निष्प्रयोजन समझना चाहिये? वस्तुतः जल्प-वितण्डा-कथा का उपयोग जिज्ञासा की शान्ति के लिए नहीं होता। उस क्षेत्र में वाद-कथा अपेक्षित रहती है। परन्तु जब मिथ्याज्ञान में डूबे व्यक्ति अपने तत्त्वज्ञानी होने का अभिमान रखते हुए तत्त्वज्ञान को धूमिल करने पर तत्पर होजाते हैं, तब जल्प और वितण्डा-कथा के द्वारा उनके प्रयासों को निष्फल बनायाजाता है। इससे उनके अज्ञान व मिथ्याज्ञानरूप दोष की निवृत्ति होकर तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति के लिए सम्भावना बढ़जाती है।

खेत में बीज बोकर जब कोमल अङ्कुर बाहर की ओर झाँकने लगते हैं, तब कृषक उनकी रक्षा के लिए खेत के चारों ओर कण्टीली शाखाओं की बाड़ (आवरण) लगादेता है, जिससे पशु आदि उनको कोई हानि न पहुँचा सकें। वे रक्षित हुए कोमल-आकर्षक अंकुर समय आने पर उन हानिकारक पशुओं के लिए भी उपयुक्त खाद्य प्रस्तुत करने में समर्थ होते हैं। इसीप्रकार जल्प और वितण्डा से रक्षित तत्त्वज्ञान समय आने पर उन अज्ञानी व्यक्तियों को भी सन्मार्ग दिखाने को सक्षम होता है, जो कभी उसे चबाजाने के लिए तत्पर थे। फलतः जल्प-वितण्डा-कथा भी अपने स्थान पर तत्त्वज्ञान के लिए उपयोगी हैं॥ ५०॥

जल्प आदि का अन्यत्र प्रयोग—अपने ज्ञान की अन्यायपूर्वक दूसरे के द्वारा निन्दा कियेजाने से तिरस्कृत व्यक्ति भी दूसरे पर विजय प्राप्त कर उसे तत्त्वज्ञान का यथार्थ मार्ग दिखाने की भावना से जल्प-वितण्डा-कथा का प्रयोग करसकता है, यह सूत्रकार ने बताया—

ताभ्यां विगृह्य कथनम्॥ ५१॥ (४६३)

[ताभ्याम्] जल्प और वितण्डा कथा द्वारा [विगृह्य] विवेचन कर, तोड़-फोड़कर (परपक्ष की), [कथनम्] कथा का प्रारम्भ रक्खें।

ऐसे अवसरों पर जल्प-वितण्डा का प्रयोग विजय के लिए कियाजाता है; तत्त्वविषयक अपनी जानकारी के लिए नहीं। यह सब तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए कियाजाता है; अपने वैयक्तिक लाभ, सत्कार एवं ख्याति आदि की भावना से नहीं।

यहाँ चतुर्थ अध्याय में प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग प्रमेयों की परीक्षा कीगई। प्रसंगवश अपवर्ग के उपाय तत्त्वज्ञान, एवं उसके साधनों तथा उसकी रक्षा के प्रकार का भी उपपादन कियागया ॥ ५१ ॥

इति श्रीउदयवीरशास्त्रि-प्रणीते न्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
चतुर्थाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम् ।
समाप्तश्चतुर्थोऽध्यायः ।

अथ पञ्चमाध्यायस्याद्यमाह्निकम्

गत चार अध्यायों में प्रमाण, प्रमेय आदि पदार्थों के उद्देश, लक्षण और परीक्षा का निरूपण कियागया। न्यायप्रतिपादित सोलह पदार्थों में से अन्तिम दो पदार्थ 'जाति' और 'निग्रहस्थान' हैं। यहाँ 'जाति' पद सामान्य धर्म का वाचक न होकर अनुमान-वाक्य में किसी नवीन उद्भावना को अभिव्यक्त करदेने के अर्थ में प्रयुक्त है। प्रथम [१। २। १८-१९] जाति और निग्रहस्थान के लक्षण कर सूत्रकार ने कहा है--इनके द्वारा प्रत्याख्यान के विविध प्रकार होने से इनके अनेक विभाग हैं [१। २। २०], उसीको विस्तार से उपपादन करने के लिए यह पञ्चमाध्याय का प्रारम्भ कियाजाता है।

जाति-निर्देश—किसी पक्ष की स्थापना करने पर जाति-प्रयोग द्वारा उसका प्रतिषेध करने के लिए जिन प्रकारों से हेतुनिर्देश कियाजाता है, उनकी संख्या चौबीस है। आचार्य सूत्रकार ने नामोल्लेखपूर्वक उनका निर्देश किया—

साधर्म्यवैधर्म्योत्कर्षापकर्षवर्ण्यावर्ण्यविकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्ति-प्रसंगप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशयप्रकरणाहेत्वर्थापत्यविशेषोप-पत्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः ॥ १ ॥ (४६४)

[साधर्म्य०–० कार्यसमाः] 'साधर्म्यसमा' से 'कार्यसमा' तक जाति-प्रयोगों के चौबीस प्रकार हैं।

सूत्र के अन्त में पठित 'सम' पद का 'साधर्म्य' आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है। इसके अनुसार चौबीस जातियों के नाम इसप्रकार हैं— १. साधर्म्यसमा, २. वैधर्म्यसमा, ३. उत्कर्षसमा, ४. अपकर्षसमा, ५. वर्ण्यसमा, ६. अवर्ण्यसमा, ७. विकल्पसमा, ८. साध्यसमा, ९. प्राप्तिसमा, १०. अप्राप्तिसमा, ११. प्रसङ्गसमा, १२. प्रतिदृष्टान्तसमा, १३. अनुत्पत्तिसमा, १४. संशयसमा, १५. प्रकरणसमा, १६. अहेतुसमा, १७. अर्थापत्तिसमा, १८. अविशेषसमा, १९. उपपत्तिसमा, २०. उपलब्धिसमा, २१. अनुपलब्धिसमा, २२. नित्यसमा, २३. अनित्यसमा, २४. कार्यसमा।

विशेष्य पद 'जाति' होने पर 'साधर्म्यसमा' इत्यादि स्त्रीलिङ्ग निर्देश है। यदि विशेष्य 'प्रतिषेध' पद हो, तो 'साधर्म्यसमः' इत्यादि रूप में पुंल्लिङ्ग प्रयोग होगा, जैसा आगे लक्षणसूत्रों में सर्वत्र उपलब्ध है। जब किसी पक्ष की स्थापना

साधर्म्य-हेतु से कीजाती है, उसीके समान साधर्म्यहेतु से उसका प्रतिषेध करना साधर्म्यसम है। इसीप्रकार स्थापनाहेतु के समान वैधर्म्य से प्रतिषेध करने पर वैधर्म्यसम होजाता है। इनके विषय में अन्य विशेष यथाप्रसंग आगे निरूपण कियाजायगा ॥ १ ॥

साधर्म्य-वैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥ २ ॥ (४६५)

[साधर्म्यवैधर्म्याभ्याम्] साधर्म्यहेतु से अथवा वैधर्म्यहेतु से (वादी के द्वारा अपने पक्ष के) [उपसंहारे] उपसंहार–निगमन-स्थापन करने पर [तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः] साध्य धर्म के विपर्यय–वैपरीत्य की सिद्धि (प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत कियेजाने) से [साधर्म्यवैधर्म्यसमौ] साधर्म्यसम तथा वैधर्म्यसम प्रतिषेध होता है।

साधर्म्यसम जाति—किसी पक्ष की स्थापना में प्रयुक्त हेतु यदि सत् है, यथार्थ है, तो उस सद्धेतु का प्रतिषेध सद्धेतु से नहीं होसकता, क्योंकि वस्तुतत्त्व में विकल्प की सम्भावना नहीं होती। वस्तुतत्त्व का यथार्थ साधकहेतु सद्धेतु है, वह एक ही होगा। उसी अर्थ के विपरीतरूप का साधक हेतु सद्धेतु नहीं होसकता। इसलिए सद्धेतु का प्रतिषेध सद्धेतु और असद्धेतु दोनों से कियाजाता है। असद्धेतु का प्रयोग जाति का स्वरूप है, चाहे वह वादी के द्वारा प्रस्तुत कियागया हो, चाहे प्रतिवादी के द्वारा।

वादी के द्वारा साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से अपने पक्ष का उपसंहार करने पर जब प्रतिवादी द्वारा दोनों का प्रतिषेध साधर्म्य से कियाजाता है, तब वह साधर्म्यसम प्रतिषेध है। ऐसे ही दोनों का प्रतिषेध जब वैधर्म्य से कियाजाता है, तब वह वैधर्म्यसम है। इसप्रकार साधर्म्यसम और वैधर्म्यसम के दो-दो भेद होजाते हैं।

साधर्म्यसम—उदाहरण–वादी साधर्म्यहेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); द्रव्य होने से (हेतु); जो द्रव्य होता है, उसमें क्रिया को उत्पन्न करनेवाला गुण संयोग आदि रहता है, जैसे लोष्ट-ढेला (व्याप्ति सहित दृष्टान्त); ढेला जैसे द्रव्य होते हुए क्रियाहेतु गुणवाला है, सक्रिय है, ऐसा ही आत्मा है (उपनय); इसलिए ढेले के समान आत्मा को सक्रिय मानना चाहिए (निगमन)।

साधर्म्य से पक्ष की स्थापना होने पर प्रतिवादी साधर्म्य से उसका प्रतिषेध प्रस्तुत करता है–आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); जो द्रव्य विभु होता है, वह निष्क्रिय होता है, जैसे आकाश (व्याप्तिसहित दृष्टान्त); आकाश जैसे विभु द्रव्य है, वैसा ही आत्मा है (उपनय); इसलिए आकाश के समान विभु द्रव्य होने से आत्मा निष्क्रिय है (निगमन)। इसमें कोई हेतु नहीं

कि सक्रिय-साधर्म्य से आत्मा सक्रिय मानाजाय, निष्क्रिय-साधर्म्य से निष्क्रिय न मानाजाय। यहाँ साधर्म्य-हेतु से स्थापित पक्ष का समानरूप में साधर्म्य-हेतु से प्रतिषेध होने के कारण 'साधर्म्यसम' जाति का प्रयोग है। यह साधर्म्यसम के पहले भेद का उदाहरण है।

वैधर्म्य-हेतु से जब वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है, जैसे–आत्मा निष्क्रिय है–(प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); सक्रिय द्रव्य अविभु देखाजाता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा ढेले के समान अविभु नहीं है (उपनय); इसलिए आत्मा सक्रिय न होकर निष्क्रिय है (निगमन)। साधर्म्य-हेतु से इसका प्रतिषेध–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रिया के हेतु गुणवाला होने से (हेतु); क्रिया के हेतु गुण से युक्त द्रव्य सक्रिय देखाजाता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा भी क्रियाहेतु गुण से युक्त है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय है, (निगमन)। यह साधर्म्यसम जाति के दूसरे भेद का उदाहरण है।

वैधर्म्यसम—उदाहरण–वादी जब अपने पक्ष की स्थापना वैधर्म्य-हेतु से करता है, जैसे–आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); विभु होने से (हेतु); सक्रिय द्रव्य अविभु देखाजाता है, जैसे ढेला (दृष्टान्त); आत्मा वैसा (अविभु) नहीं है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय न होकर निष्क्रिय है (निगमन)। इस स्थापना का प्रतिषेध वैधर्म्य-हेतु से प्रतिवादी प्रस्तुत करता है–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रिया के हेतु गुण से युक्त होने के कारण (हेतु); निष्क्रिय द्रव्य क्रिया के हेतु गुण से रहित देखाजाता है, जैसे आकाश (दृष्टान्त); आत्मा आकाश के समान क्रिया के हेतु गुण से रहित नहीं है (उपनय); इसलिए आकाश के समान आत्मा निष्क्रिय न होकर सक्रिय है (निगमन)। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है–सक्रिय द्रव्य के वैधर्म्य से आत्मा को निष्क्रिय मानाजाय, तथा निष्क्रिय द्रव्य के वैधर्म्य से सक्रिय न मानाजाय। वैधर्म्य-हेतु से पक्ष-स्थापना का उपसंहार होने पर वैधर्म्य-हेतु से प्रतिषेध करना 'वैधर्म्यसम' जाति के प्रथम भेद का यह उदाहरण है।

वादी जब साधर्म्यहेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है, उसका प्रतिषेध वैधर्म्य-हेतु से कियाजाना, 'वैधर्म्यसम' जाति का दूसरा भेद है। इसका उदाहरण–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रियाहेतु गुण से युक्त द्रव्य होने के कारण (हेतु); क्रिया के हेतु गुण से युक्त द्रव्य सक्रिय होता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा ढेले के समान क्रियाहेतु गुणवाला द्रव्य है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय है (निगमन)। इसका प्रतिषेध वैधर्म्य-हेतु से प्रतिवादी प्रस्तुत करता है–आत्मा निष्क्रिय है (प्रतिज्ञा); अपरिच्छिन्न [विभु] द्रव्य होने से (हेतु); क्रिया-हेतु गुणवाला द्रव्य परिच्छिन्न देखाजाता है, जैसे–ढेला (दृष्टान्त); आत्मा ढेले के समान परिच्छिन्न द्रव्य नहीं है (उपनय); इसलिए ढेले के समान सक्रिय न होकर आत्मा निष्क्रिय है (निगमन)। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि

सक्रिय द्रव्य के साधर्म्य से आत्मा सक्रिय मानाजाय, और सक्रिय द्रव्य के वैधर्म्य से निष्क्रिय न मानाजाय। यह वैधर्म्यसम जाति के दूसरे भेद का उदाहरण है।

साधर्म्य-वैधर्म्य-हेतु से उपसंहृत पक्ष का साधर्म्य-हेतु से प्रतिषेध करना साधर्म्यसम जाति का प्रयोग; तथा साधर्म्य-वैधर्म्य-हेतु से उपसंहृत पक्ष का वैधर्म्य हेतु से प्रतिषेध करना वैधर्म्यसम जाति का प्रयोग मानाजाता है ॥ २ ॥

साधर्म्य-वैधर्म्यसम का उत्तर—साधर्म्य-वैधर्म्यसम जाति के प्रयोग का उत्तर इसप्रकार दियाजाना चाहिए। आचार्य ने बताया—

गोत्वाद् गोसिद्धिवत् तत्सिद्धिः ॥ ३ ॥ (४६६)

[गोत्वात्] गोत्व सामान्य से [गोसिद्धिवत्] गौ की सिद्धि के समान [तत्-सिद्धिः] साध्य की सिद्धि होती है (केवल सद्धेतु से अर्थात् व्याप्तिविशिष्ट हेतु से)।

यह गौ है, इसका निश्चय गो-पशु में समवेत 'गोत्व' सामान्य से होपाता है, अन्य किसी सास्ना आदि के सम्बन्ध से अथवा अन्य किसी गुणविशेष से गौ का निश्चय नहीं होता। सास्ना आदि का सम्बन्ध व्यभिचारी है; नियमितरूप से प्रत्येक गाय में रहे, अथवा केवल गोवर्ग के पशु में रहे, ऐसा नहीं है। अनेक देशों की गायों के सास्ना नहीं होती। भारत में काठियावाड़ की गाय तथा योरोप के देशों की गाय सास्नारहित देखीजाती हैं। गाय के अतिरिक्त अन्य पशुओं के भी गले या गर्दन के नीचे सास्ना के समान लटकता हुआ चर्म-अङ्ग देखाजाता है। अतः गाय की सिद्धि के लिए सास्ना का होना ऐकान्तिक साधन नहीं है। गोत्व सामान्यरूप धर्मविशेष गोमात्र में समवेत रहता है, चाहे उसकी सास्ना हो, या न हो; तथा गोमात्र से अतिरिक्त अन्य किसी प्राणी में गोत्व धर्म समवेत नहीं रहता, भले ही वहाँ सास्ना का सम्बन्ध हो।

इसप्रकार गाय का निश्चायक साधन जैसे 'गोत्व' है, ऐसे आत्मा के निष्क्रिय होने का साधन उसका विभु होना है। विभु का तात्पर्य है—अपरिच्छिन्न। जो द्रव्य किसी देश, काल आदि से परिच्छिन्न—सीमित न हो। ऐसा सर्वत्र व्यापक पदार्थ सक्रिय—गतिशील नहीं होसकता। एकदेश को छोड़कर देशान्तर प्राप्तिरूप क्रिया का एकदेशी द्रव्य में होना सम्भव होता है। क्रिया के हेतु संयोग आदि गुण के होने से ढेले के समान आत्मा में सक्रियता को सिद्ध नहीं कियाजासकता। क्रिया की उत्पत्ति में संयोग गुण अव्यभिचरित साधन नहीं है। विभु द्रव्य आकाश आदि में वायु-संयोग रहता है। जैसे वायु-वृक्ष-संयोग से वृक्ष में क्रिया उत्पन्न होती है, ऐसे वायु-आकाश-संयोग से आकाश में क्रिया होजाया करे। पर यह सम्भव नहीं। आकाश का विभु होना इसमें बाधक है; इसलिए वह

निष्क्रिय है। आत्मा द्रव्य का भी विभु होना उसकी सक्रियता का बाधक है।[1] इसलिए ढेले आदि किसी के साधर्म्यमात्र अथवा अश्व आदि के वैधर्म्यमात्र को किसी साध्य का साधन मानने पर उक्त अव्यवस्था खड़ी होजाती है।

अनुमान द्वारा अर्थ की सिद्धि में पञ्चावयव अनुमान के कैसे हेतु व दृष्टान्त साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होते हैं, इसका निरूपण अवयवप्रकरण [१। १ । ३४-३७] में करदियागया है। साध्य की सिद्धि के लिए अनुमान में प्रतिज्ञा आदि पाँच अवयवों का प्रयोग अपेक्षित होता है। वहाँ साध्य का साधन चाहे सद्धेतु है, अथवा असद्धेतु, वाक्यों का प्रयोग उभयत्र समान होता है, पर इतनी समानतामात्र से प्रत्येक हेतु साध्य का साधन नहीं करसकता। साध्य का साधनसद्धेतु से होता है, असद्धेतु से नहीं। वस्तुतत्त्व सदा एकरूप है; उसमें विकल्प अथवा अन्यथाभाव सम्भव नहीं। असद्धेतु उसके स्वरूप को बदल नहीं सकता। विभु आत्मा की निष्क्रियता को किसीके साधर्म्य अथवा वैधर्म्यमात्र से अन्यथा नहीं कियाजासकता। ऐसा होने पर द्रव्यत्व-साधर्म्य से ढेले के समान आत्मा को जड़ भी मानलियाजासकता है, जो अनिष्ट है। असद्धेतु हेत्वाभासरूप होते हैं; हेत्वाभासों का प्रयोग अव्यवस्था का कारण है। असद्धेतु की असत्यता–साध्य के प्रति असाधनता–प्रकट करदेने पर ऐसे हेतु का प्रयोक्ता चर्चा में पराजित मानाजाता है। तब चर्चा समाप्त होजाती है ॥ ३ ॥

उत्कर्षसम आदि छह जाति—प्रारम्भिक साधर्म्य-वैधर्म्यसम दो जाति-प्रयोगों का निरूपण कर आचार्य सूत्रकार अग्रिम छह जाति-प्रयोगों का विवरण एक सूत्र द्वारा प्रस्तुत करता है—

साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पादुभयसाध्यत्वाच्च उत्कर्षापकर्ष्या-वर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥ ४ ॥ (४६७)

[साध्यदृष्टान्तयोः] साध्य–साध्याधिकरण पक्ष–में तथा दृष्टान्त में (दोनों के–) [धर्मविकल्पात्] धर्म- विकल्प से, [उभयसाध्यत्वात्] दोनों–पक्ष और दृष्टान्त–के साध्य होने से [च] और [उत्कर्षा०···साध्यसमाः] उत्कर्षसम,

---

१. भाष्यकार वात्स्यायन ने जाति-प्रयोगों को समझाने के लिए अनुमान-वाक्य में प्रथम आत्मा को अधिकरण माना है। न्याय आत्मा को विभु मानता है; इसलिए उसका निष्क्रिय मानाजाना सिद्धान्त-पक्ष है। यदि इन प्रसंगों में 'आत्मा' पद परमात्म-परक मानाजाता है, तो जो वादी जीवात्मा को परिच्छिन्न परिमाण मानते हैं, उनके लिए भी यह आपत्तिजनक नहीं। प्रमेय सूत्र [१। १। ६] में 'आत्मा' पद सर्वप्रथम पठित है। जीवात्मा के साथ उक्त पद से परमात्मा का भी निर्देश अथवा संकेत सम्भव है।

अपकर्षसम, वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम, विकल्पसम, साध्यसम जाति का प्रयोग जानाजाता है।

छह जातियों का स्वरूप बताने के लिए दो हेतुओं का निर्देश किया है। एक–'साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पात्-; दूसरा– 'उभयसाध्यत्वात्'। पहले हेतु से प्रारम्भिक पाँच जातियों का स्वरूप अभिव्यक्त होजाता है। दूसरा हेतु अन्तिम पठित 'साध्यसम' जाति की अभिव्यक्ति का आधार है।

उत्कर्षसम—सूत्र के 'धर्मविकल्प' पद का अर्थ है–धर्मों की विविधता। एक पदार्थ में अनेक धर्म आश्रित रहते हैं। किसी पक्ष में साधनीय धर्म को सिद्ध करने के लिए अनुमान का प्रयोग कियाजाता है। अनुमान के पाँच अवयवों में से एक अवयव दृष्टान्त है। पक्ष और दृष्टान्त में हेतु-धर्म के समान होने से उसके आधार पर दृष्टान्तगत अभिमत धर्म के अनुरूप पक्ष में साधनीय धर्म को सिद्ध कियाजाता है। यह आवश्यक नहीं कि दृष्टान्तगत प्रत्येक धर्म का अस्तित्व पक्ष में हो। पदार्थों में धर्म की इस विविधता के कारण हेतु-सामर्थ्य से दृष्टान्तगत ऐसे धर्म को पक्ष में आरोपित करना–जो पक्ष में विद्यमान नहीं–'उत्कर्षसम' जाति का प्रयोग है।

उदाहरण—वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–आत्मा सक्रिय है (प्रतिज्ञा); क्रियाहेतु गुण का आश्रय होने से (हेतु); जो क्रियाहेतु गुण का आश्रय है, वह सक्रिय होता है, जैसे ढेला (उदाहरण); प्रतिवादी इसके उत्तर में कहता है–यदि क्रियाहेतुगुणयोग से ढेले के समान आत्मा सक्रिय है, तो ढेले के समान आत्मा स्पर्शवाला भी होना चाहिए। यदि ऐसा नहीं मानाजाता, अर्थात् ढेले के समान आत्मा स्पर्शवाला नहीं है, तो ढेले के समान सक्रिय भी नहीं मानाजाना चाहिए। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि आत्मा ढेले के समान सक्रिय मानाजाय, पर स्पर्शवाला न मानाजाय। यह प्रतिवादी द्वारा 'उत्कर्षसम' जाति का प्रयोग है। दृष्टान्त के स्पर्श-धर्म को पक्ष में आरोपित कियागया, जो पक्ष में अविद्यमान है।

अपकर्षसम—इसीप्रकार दृष्टान्त की परिस्थिति के अनुसार पक्ष में विद्यमान धर्म का अभाव बताना–'अपकर्षसम' जाति है। पूर्वोक्त वादी द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करने पर प्रतिवादी कहता है–यदि ढेले के समान आत्मा सक्रिय है, तो ढेले के समान वह अविभु (परिच्छिन्न) भी होना चाहिए। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि आत्मा ढेले के समान सक्रिय तो मानाजाय, पर अविभु न मानाजाय। विभुत्वधर्म दृष्टान्त में नहीं, परन्तु पक्ष में विद्यमान है। प्रतिवादी दृष्टान्त की परिस्थिति के अनुसार पक्ष में विभुत्व-धर्म के अभाव का आपादन करता है। यह विद्यमान धर्म का अपचय प्रकट करना 'अपकर्षसम' जाति का प्रयोग है।

वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम—प्रत्येक अनुमान-प्रयोग में प्रतिज्ञा-वाक्य (अवयव) के अन्तर्गत एक 'साध्य' धर्म होता है, अनुमान-प्रयोक्ता जिसका प्रख्यापन-वर्णन करना चाहता है। वह 'वर्ण्य' है, जिसका वर्णन प्रस्तुत अनुमान में अपेक्षित नहीं है; अर्थात् जो पहले से निश्चित है; वह दृष्टान्तगत धर्म 'अवर्ण्य' है। इन दोनों का परस्पर विपर्यास करदेना 'वर्ण्यसम' तथा 'अवर्ण्यसम' जाति का प्रयोग है। समान हेतु के आधार पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता से 'अवर्ण्य' को वर्ण्य बताना 'वर्ण्यसम' तथा 'वर्ण्य' को अवर्ण्य बताना 'अवर्ण्यसम' जाति है। जैसे 'क्रियाहेतुगुणयोग'-हेतु पक्ष और दृष्टान्त दोनों में समान है। वादी द्वारा पूर्वनिर्देशानुसार अपने पक्ष की स्थापना करदेने पर प्रतिवादी कहता है–यदि उक्त हेतु के आधार पर पक्ष और दृष्टान्त दोनों समान हैं, तो पक्षगतधर्म के समान दृष्टान्तगत धर्म को 'वर्ण्य' मानाजाना चाहिए; अथवा दृष्टान्तगत धर्म के समान पक्षगत धर्म को 'अवर्ण्य' मानाजाय। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि पक्ष और दृष्टान्त के समान होने पर एक जगह धर्म वर्ण्य मानाजाय, दूसरी जगह अवर्ण्य। इनमें पहला 'वर्ण्यसम' और दूसरा 'अवर्ण्यसम' जाति के स्वरूप को अभिव्यक्त करता है। इन जातियों के प्रयोग में पक्ष और दृष्टान्त के धर्मों का वैविध्य मूल है।

विकल्पसम—पक्ष और दृष्टान्त में किन्हीं धर्मों के वैविध्य का आश्रय लेकर पक्ष में साध्यधर्म के विपरीत धर्म का आपादन करना 'विकल्पसम' जाति है। वादी के द्वारा पूर्व-निर्देशानुसार अपने पक्ष की स्थापना करदेने पर प्रतिवादी कहता है–क्रियाहेतुगुण से युक्त कोई पदार्थ गुरु [भारी] देखाजाता है, जैसे–ढेला। तथा कोई पदार्थ लघु [हलका] देखाजाता है, जैसे–वायु; यद्यपि क्रिया-हेतुगुणयोग उभयत्र [ढेले और वायु में] समान है। जब उभयत्र हेतु समान होनेपर भी एक गुरु और एक लघु देखाजाता है, तो इसीप्रकार ढेले और आत्मा में क्रियाहेतुगुणयोग समान रहने पर भी ढेला सक्रिय और आत्मा निष्क्रिय क्यों न मानाजाय? अन्यथा ढेले और वायु में भी एक को गुरु और एक को लघु नहीं मानाजाना चाहिये। यहाँ गुरुत्व और लघुत्व धर्मविकल्प की कल्पना से पक्षगत साध्यधर्म–सक्रियत्व के अभाव का पक्ष में आपादन कियाजाता है। अतः यह विकल्पसम जाति का प्रयोग है।

साध्यसम—अनुमान के हेतु, दृष्टान्त आदि अवयवों का सामर्थ्य (साफल्य) जिस धर्म की सिद्धि में निखार प्राप्त करता है, वह धर्म अनुमान-वाक्य में 'साध्य' कहाजाता है। सव्याप्तिक हेतु के बल पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता को प्रस्तुत कर साध्य धर्म का दृष्टान्त में आपादन करना 'साध्यसम' जाति है। वादी अपने पक्ष की स्थापना के अवसर पर जब दृष्टान्त और उपनय का कथन करता है, तब कहता है–जो पदार्थ क्रियाहेतुगुण वाला है, वह सक्रिय है, जैसे–ढेला

(दृष्टान्त); वैसा ही क्रियाहेतुगुण वाला आत्मा है (उपनय)। वादी के ऐसा कहने पर प्रतिवादी कह उठता है–यदि लोष्ट (ढेले) के समान आत्मा है, तो इससे सिद्ध हुआ–जैसा आत्मा है वैसा लोष्ट है। आत्मा का सक्रिय होना अभी साध्य है, तो आत्मा के समान लोष्ट का सक्रिय होना भी साध्य मानना चाहिये। लोष्ट की सक्रियता के निश्चय में साध्यता का आपादन होने से यह 'साध्यसम' जाति का प्रयोग है। यदि लोष्ट में सक्रियता साध्य नहीं है, तो आत्मा को लोष्ट के समान बताकर दोनों को एकधर्मयुक्त कहना असंगत होगा।

साध्यसम और वर्ण्यसम में आपाततः कुछ समानता प्रतीत होती है। वहाँ अवर्ण्य (निश्चित) दृष्टान्त को वर्ण्य (साध्य) कहागया; यहाँ दृष्टान्त में साध्य होने का आपादन कियागया। इन दोनों जातियों के स्वरूप में यह भेद है–'साध्यसम' जाति में दृष्टान्त की अनुपपत्ति प्रकट कीगई है। यदि आत्मा के समान लोष्ट की सक्रियता साध्य है, तो दृष्टान्त के रूप में उसका प्रस्तुत कियाजाना अनुपपन्न होगा। वर्ण्यसम में प्रतिवादी उसकी दृष्टान्तता को चुनौती नहीं देता; प्रत्युत दृष्टान्त के वर्ण्य (साध्य) न होने में हेतु की जिज्ञासा करता है। वह चाहता है कि वादी हेतु प्रस्तुतकर यह सिद्ध करे कि दृष्टान्त-धर्म वर्ण्य (साध्य) नहीं है ॥ ४ ॥

उत्कर्षसम आदि जाति-प्रयोग का समाधान—इन जातियों का प्रयोग किये-जाने पर इनका समाधान किसप्रकार होना चाहिए ? सूत्रकार ने बताया—

किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादप्रतिषेधः ॥ ५ ॥ (४६८)

[किञ्चित्साधर्म्यात्] किसी एक समानधर्म के होने से [उपसंहारसिद्धेः] अभिमत पक्ष का उपसंहार–निगमन निश्चित होजाने के कारण [वैधर्म्यात्] अन्य (अनभिमत-अवाञ्छनीय) धर्म का सहारा लेकर [अप्रतिषेधः] पर-पक्ष का प्रतिषेध करना असंगत है।

जो वस्तुतत्त्व–अथवा पदार्थ की जो स्थिति–प्रमाण से सिद्ध है, उसका अपलाप एवं उपेक्षा कियाजाना संगत नहीं होता। किसी निर्धारित साधर्म्य से उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता है–'यथा गौस्तथा गवयः'–'जैसी गाय है वैसा गवय' होता है। गो-गवयसादृश्य किन्हीं निर्धारित समान अंगों पर आधारित रहता है। ऐसी दशा में गाय और गवय के धर्मभेद के आधार पर उस सादृश्य को चुनौती नहीं दीजासकती।

इसीप्रकार जो अनुमान-वाक्य सद्धेतु और निर्दोष दृष्टान्त आदि सामर्थ्य से युक्त है, उसमें पक्ष एवं दृष्टान्त के किसी आंशिक वैधर्म्य से दोष का उद्भावन करना युक्त नहीं मानाजासकता। ऐसा प्रतिषेध स्वयं मूलतः दोषपूर्ण रहता है। उससे ऐसे साध्य का प्रतिषेध सम्भव नहीं, जो सद्हेतु एवं दृष्टान्त के बल पर खड़ा हो।

उत्कर्षसम के उदाहरण में स्पर्श के अभाव से आत्मा में सक्रियता के अभाव का आपादन कियागया। सक्रियता का प्रयोजक 'क्रियाहेतुगुणयोग' है। स्पर्श के अभाव से उसमें कोई बाधा नहीं आती। मन में स्पर्श का अभाव होने पर सक्रियता प्रमाणित है। अपकर्षसम के उदाहरण में लोष्ट की अविभुता से आत्मा में अविभुता का आपादन कर उसके विभुत्व-धर्म का अपकर्ष कियागया। वह असंगत है, क्योंकि पक्ष और दृष्टान्त में सर्वात्मना साधर्म्य होना सम्भव नहीं होता। तब लोष्ट की तरह आत्मा को जड़ भी कहाजासकता है, जो सर्वथा अप्रामाणिक है।

वर्ण्यसम और अवर्ण्यसम जातियों के प्रसंग में जो पक्ष और दृष्टान्त में धर्मविपर्यास का [वर्ण्य-साध्य में अवर्ण्य-दृष्टान्त का तथा अवर्ण्य-दृष्टान्त में वर्ण्य-साध्य का] निर्देश करना भी सर्वथा अनुपपन्न है; क्योंकि जब सहेतुक दृष्टान्त-बल से पक्ष में साध्य की सिद्धि होजाती है, तब पक्ष में साध्याभाव का निर्देश करना किसीप्रकार प्रामाणिक नहीं कहाजासकता। इसीकारण विकल्पसम जाति का निर्देश भी अनुपपन्न है। दृष्टान्त में साध्यधर्म का निश्चय होने के कारण वहाँ साध्यसम जाति की उद्‌भावना करना निराधार होजाता है ॥ ५ ॥

वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम और साध्यसम जाति-प्रयोगों का आचार्य सूत्रकार ने अन्य समाधान प्रस्तुत किया—

साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥ ६ ॥ (४६९)

[साध्यातिदेशात्] साध्य के अतिदेश से (दृष्टान्त में साध्यधर्म के प्रत्यक्ष-गृहीत होने से [च] तथा [दृष्टान्तोपपत्तेः] दृष्टान्त के उपपन्न-युक्तियुक्त होने के कारण।

वर्ण्य, अवर्ण्य, साध्यसम जाति के प्रयोगों में विभिन्न प्रकार से दृष्टान्त की अनुपपन्नता प्रकट कीजाती है। आत्मा की सक्रियता को सिद्ध करने के लिए सक्रिय लोष्ट का दृष्टान्त दियागया। लोष्ट की सक्रियता प्रत्यक्ष से देखीजाती है, उसकी बाधा किसीप्रकार सम्भव नहीं। जिस वस्तुतत्त्व के विषय में लौकिक (साधारणजन) एवं परीक्षकों (विवेचक विद्वानों) का बुद्धिसाम्य रहता है, किसी एक पदार्थ को सभी जन उसीरूप में देखते व जानते हैं, सन्दिग्ध अर्थ की सिद्धि के लिए दृष्टान्तरूप से उसका अतिदेश कियाजाता है। इसप्रकार सर्वथा निश्चित पदार्थ की दृष्टान्तरूपता के उपपन्न होने पर उसमें संदिग्ध साध्य धर्म का अति-देश करना किसीप्रकार प्रामाणिक नहीं कहाजासकता ॥ ६ ॥

प्राप्तिसम-अप्राप्तिसम जाति—प्राप्तिसम एवं अप्राप्तिसम जाति के प्रयोग का प्रकार सूत्रकार ने बताया—

प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्त्याऽविशिष्टत्वादप्राप्त्या-ऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिसमौ ॥ ७ ॥ (४७०)

[प्राप्य] प्राप्त होकर–संयुक्त होकर [साध्यम्] साध्य को [अप्राप्य] विना संयुक्त हुए [वा] अथवा [हेतोः] हेतु के, [प्राप्त्या] प्राप्ति से [अविशिष्टत्वात्] समान होने के कारण (दोनों संयुक्त द्रव्यों के) [अप्राप्त्या] विना संयोग के [असाधकत्वात्] साधक न होने से [प्राप्त्यप्राप्तिसमौ] प्राप्तिसम तथा अप्राप्तिसम जातिप्रयोग यथाक्रम समझने चाहियें।

'प्राप्ति' पद का अर्थ है–संयोग अथवा सम्बन्ध। वादी के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करदेने पर जब प्रतिवादी देखता है कि इसका सदुत्तर देना सरल नहीं, तो वह पराजय से बचने के लिए जाति का प्रयोग करता है। वह जिज्ञासा करता है–हेतु साध्य से संयुक्त होकर साध्य को सिद्ध करता है, अथवा विना सम्बन्ध के? यदि पहला कथन मानाजाय, तो संयुक्त दो द्रव्य परस्पर समान हैं, तो कौन किसका साध्य हो, और कौन किसका साधन। उनमें से एक हेतु मानाजाय और दूसरा साध्य; इसमें कोई प्रमाण नहीं? संयुक्त धूम और अग्नि संयोग के आधार पर दोनों समान हैं। यदि इनमें धूम को हेतु और अग्नि को साध्य मानाजाता है, तो अग्नि को हेतु और धूम को साध्य भी मानाजाना चाहिये; परन्तु ऐसा सम्भव नहीं होता, अतः साध्य को प्राप्त होकर हेतु उसका साधक होता है, यह कथन असंगत है। यह प्राप्ति से प्रतिषेध कियेजाने के कारण 'प्राप्तिसम' जाति का प्रयोग है।

यदि साध्य को अप्राप्त होकर हेतु साध्य का साधक मानाजाता है, तो यह सम्भव नहीं। तब तो विना सम्बन्ध के कोई भी किसीका साधक होजाय। पदार्थों से असम्बद्ध हुआ प्रकाश कभी उनको प्रकाशित नहीं करसकता। इसप्रकार हेतु की अप्राप्ति से कियागया प्रतिषेध 'अप्राप्तिसम' जाति का प्रयोग है॥ ७॥

प्राप्तिसम-अप्राप्तिसम जाति का उत्तर—प्राप्तिसम-अप्राप्तिसम जाति-प्रयोगों का उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिये, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचाराद-प्रतिषेधः॥ ८॥ (४७१)

[घटादिनिष्पत्तिदर्शनात्] घट आदि का निर्माण–साधनों के सम्बद्ध होने पर–देखेजाने से, [पीडने] कष्ट देने में (दूरस्थित व्यक्ति को) [च] तथा [अभिचारात्] अभिचार-प्रक्रिया से, [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध अयुक्त है।

साध्य को प्राप्त होकर हेतु साध्य का साधक होता है, अथवा अप्राप्त होकर? यह दोनों प्रकार से कियागया प्रतिषेध अयुक्त है; क्योंकि कारण यथावसर दोनों प्रकार से कार्य के साधक होते हैं। कर्त्ता-कुलाल, करण-दण्ड चक्र आदि साधन उपादान-तत्त्व मिट्टी से सम्बद्ध होकर घट-कार्य को उत्पन्न करते हैं। धूम और अग्नि समानरूप में संयुक्त होने पर हेतु वही होगा, जो व्याप्य

होगा, अर्थात् साध्य के साथ जिसकी अव्यभिचरित व्याप्ति सम्भव होगी। 'जहाँ धूम है, वहाँ अग्नि है' इस व्याप्ति में व्यभिचार नहीं है। धूम और अग्नि का परस्पर कार्य-कारणभाव है। धूम-कार्य का अग्नि-कारण के बिना होना सम्भव नहीं। अतः जहाँ धूम होगा, वहाँ अग्नि का होना आवश्यक है, तब धूम-हेतु से साध्य अदृश्य अग्नि की सिद्धि होजाती है। इसीकारण धूम हेतु है, अग्नि साध्य। परन्तु अग्नि धूम का व्यभिचारी है, दहकते अंगार आदि में अग्नि धूम के बिना रहता है; अतः धूम साध्य के लिए अग्नि हेतु नहीं होसकता। इस-प्रकार हेतु की प्राप्ति से कियागया प्राप्तिसम प्रतिषेध असंगत है।

हेतु की अप्राप्ति से कियागया प्रतिषेध भी अयुक्त है, क्योंकि कहीं हेतु साध्य को प्राप्त न होकर उसे सिद्ध करदेता है। सूत्र के 'अभिचार' पद का अर्थ लोकभाषा में जादू-टोना आदि समझाजाता है। लौकिक संस्कृत वाङ्मय में उक्तार्थक प्रयोग इस पद का द्रष्टव्य है।[१] 'पीडन' पद का अर्थ कष्ट पहुँचाना है। दूरस्थित प्रदेश में अनुष्ठित आभिचारिक प्रयोग अनुष्ठाता के अन्यत्र अवस्थित शत्रु को कष्ट पहुँचाता अथवा नष्ट करदेता है। इस प्रसंग में साधन (-आभिचारिक प्रयोग) साध्य (शत्रुदेश) को प्राप्त हुए बिना शत्रुनाशरूप कार्य-साध्य को निष्पन्न करदेता है। अतः अप्राप्ति से कियागया प्रतिषेध भी अयुक्त है। वस्तुतः साध्य-सिद्धि के लिए परस्पर साध्य-साधकभाव का होना आवश्यक है; सम्बन्ध का होना इतना अधिक अपेक्षित नहीं॥ ८॥

प्रसङ्गसम, प्रतिदृष्टान्तसम जाति—क्रमप्राप्त 'प्रसंगसम' तथा 'प्रति-दृष्टान्तसम' जाति-प्रयोगों का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसङ्गप्रतिदृष्टान्तसमौ॥ ९॥ (४७२)

[दृष्टान्तस्य] दृष्टान्त के [कारणानपदेशात्] कारण का कथन न करने से (कियागया प्रतिषेध प्रसंगसम है); [प्रत्यवस्थानात्] प्रतिषेध करने से [च] तथा [प्रतिदृष्टान्तेन] प्रतिदृष्टान्त के द्वारा (प्रतिदृष्टान्तसम है) [प्रसंगप्रति-दृष्टान्तसमौ] प्रसंगसम और प्रतिदृष्टान्तसम (जाति-प्रयोग हैं, यथाक्रम)।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है—आत्मा सक्रिय है; क्रियाहेतुगुण-वाला होने से; लोष्ट के समान। इसपर प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है—

१. द्रष्टव्य, शिशुपालवध काव्य, ७। ५८॥ वैदिक साहित्य में 'अभिचारमन्त्र' अभिचारहोम, अभिचारयज्ञ' आदि पदों का प्रयोग द्रष्टव्य है। 'श्येनेन अभिचरन् यजेत' ऐसा वाक्य छात्रावस्था से स्मृत अन्वेष्य है। ऐसे आभि-चारिक प्रयोग को ग्रामीण भाषा में 'मूठ चलाना' कहाजाता है। कहीं कियाभया ऐसा प्रयोग दूरस्थ व्यक्ति को कष्ट दे देता है।

आत्मा अथवा लोष्ट क्रियाहेतुगुणवाला है, इसमें क्या हेतु है ? बिना हेतु के यह कैसे मानलियाजाय कि आत्मा अथवा लोष्ट ऐसे हैं ? वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु व दृष्टान्त की सिद्धि के लिए आगे हेतु का प्रसंग उठाकर उसकी स्थापना का प्रतिषेध करना 'प्रसंगसम' जाति का प्रयोग है ।

वादी द्वारा प्रयुक्त दृष्टान्त का--उसके विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत कर-- प्रतिषेध करना 'प्रतिदृष्टान्तसम' जाति है । वादी ने कहा--आत्मा सक्रिय है; क्रियाहेतुगुणवाला होने से; लोष्ट के समान । प्रतिवादी ने विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत कर उसका प्रतिषेध किया--आत्मा निष्क्रिय है; क्रियाहेतुगुणवाला होने से; आकाश के समान । प्रतिवादी से प्रश्न कियागया--आकाश में क्रियाहेतुगुण क्या है ? प्रतिवादी ने उत्तर दिया--आकाश-वायु-संयोग । वायु के साथ आकाश का संयोग क्रियाहेतु गुण है । वायु के साथ संयोग क्रिया का हेतु है, यह बात वायु के साथ वृक्ष आदि का संयोग होने पर स्पष्ट होजाती है । इसप्रकार क्रिया-हेतुगुणवाला होते हुए आकाश निष्क्रिय है; इसीप्रकार आत्मा क्रियाहेतुगुणयोगी होने पर निष्क्रिय होना चाहिये । वादी द्वारा स्थापित पक्ष में साध्याभाव की सिद्धि प्रतिदृष्टान्त द्वारा कियेजाने के कारण यह प्रतिदृष्टान्तसम जाति का प्रयोग है ॥ ९ ॥

प्रसङ्गसम का उत्तर--इनका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिये ? आचार्य सूत्रकार ने बताया--

प्रदीपोपादानप्रसङ्गनिवृत्तिवत्तद्विनिवृत्तिः ॥ १० ॥ (४७३)

[प्रदीपोपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्] प्रदीप को देखने के प्रसंग में प्रदीपान्तर की निवृत्ति के समान [तद्--विनिवृत्तिः] हेतु अथवा दृष्टान्त की सिद्धि में अन्य हेतु आदि की निवृत्ति समझलेनी चाहिये ।

प्रदीप को देखने के लिए जैसे अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं रहती; ऐसे हेतु एवं दृष्टान्त की सिद्धि के लिए अन्य हेतु एवं दृष्टान्त की अपेक्षा नहीं होती। प्रदीप का उपयोग वस्तुओं को देखने के लिए कियाजाता है, परन्तु प्रदीप को देखने की इच्छा होने पर विचारशील व्यक्ति अन्य प्रदीप की तलाश नहीं करता; क्योंकि, प्रदीप--विना अन्य प्रदीप के सहयोग के--स्वयं प्रकाशित रहता व दीखता है । इसीप्रकार साध्य की सिद्धि के लिए हेतु तथा दृष्टान्त का प्रयोग कियाजाता है । साध्य को सिद्ध करने की क्षमता होने पर हेतु का प्रयोग होता है; अन्यथा हेतुरूप में उसका प्रयोग निरर्थक है । इसलिए हेतु की सिद्धि के लिए हेतु पूछकर आगे प्रसंग चलाने का प्रयास करना अप्रामाणिक है । दृष्टान्त भी किसी साध्य की सिद्धि के लिए तभी प्रस्तुत कियाजाता है, जब लौकिक और परीक्षक दोनों समानरूप से उसकी क्षमता को स्वीकार करते हैं । इस दशा में दृष्टान्त

की सिद्धि के लिए हेतु का पूछना सर्वथा निरर्थक है। प्रसंगसम जाति के प्रयोग का उत्तर इसप्रकार देदेना चाहिये ॥ १० ॥

प्रतिदृष्टान्तसम का उत्तर—प्रतिदृष्टान्तसम जाति के प्रयोग का उत्तर आचार्य सूत्रकार ने बताया—

प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाऽहेतुर्दृष्टान्तः ॥ ११ ॥ (४७४)

[प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे] प्रतिदृष्टान्त के साधक होने पर [च] भी [न] नहीं होता है [अहेतुः] असाधक [दृष्टान्तः] दृष्टान्त।

प्रतिदृष्टान्त को यदि अपने साध्य का साधक मानलियाजाता है, तो भी दृष्टान्त की साध्य-साधकता नष्ट नहीं होती। दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त दोनों का अपने साध्य की सिद्धि के लिए प्रयोग होने पर इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है कि प्रतिदृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करे, दृष्टान्त न करे। वस्तुतः वह दृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है, जिसके साथ व्याप्तिबल हो। क्रियाहेतुगुणयोगी लोष्ट के समान आत्मा सक्रिय होसकता है, परन्तु क्रियाहेतु-गुणयोगी होते हुए आकाश निष्क्रिय कैसे होगा ? इसलिए यदि दृष्टान्त व्याप्ति-बल से युक्त है, तथा प्रतिदृष्टान्त व्याप्तिबल से युक्त न होने के कारण दृष्टान्त का प्रतिषेध नहीं करपाता, तो दृष्टान्त अवश्य अपने साध्य का साधक माना-जायगा। इसप्रकार प्रतिदृष्टान्त जाति का प्रयोग असंगत होजाता है ॥ ११ ॥

अनुत्पत्तिसम जाति—क्रमप्राप्त अनुत्पत्तिसम जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः ॥ १२ ॥ (४७५)

[प्राक्] पहले [उत्पत्तेः] उत्पत्ति से (किसी कार्य की) [कारणाभावात्] कारणों का अभाव रहने से (अन्य के कथन का प्रतिषेध करना) [अनुत्पत्तिसमः] अनुत्पत्तिसम जाति का स्वरूप है।

किसी कार्य की उत्पत्ति से पूर्व उसके कारणों का अभाव रहता है। कारणों की अविद्यमानता में कार्य की अनुत्पत्ति के आधार पर—वादी द्वारा स्थापित पक्ष में अनित्यत्व का—प्रतिषेध करना अनुत्पत्तिसम जाति का प्रयोग है। वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है—शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा); प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से (हेतु); जो प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है, जैसे घट (दृष्टान्त)। प्रत्येक अनित्य पदार्थ की उत्पत्ति के लिए अथवा उसे प्रकाश में लाने के लिए कर्त्ता को प्रयत्न करना पड़ता है। प्रत्यक्ष है—घटनिर्माण के लिए कुम्हार प्रयत्न करता है, तभी घट उत्पन्न होपाता है। ऐसे ही मुख से शब्दोच्चारण करने अथवा घण्टा-घड़ियाल से ध्वनि उत्पन्न करने में कर्त्ता का

प्रयत्न देखाजाता है; तभी शब्द प्रकाश में आता है, इसलिए शब्द को अनित्य मानाजाना चाहिए।

इसका प्रतिषेध करने की भावना से प्रतिवादी बोला–शब्द को अनित्य कहना युक्त नहीं। कारण यह है–शब्द की तथाकथित उत्पत्ति से पहले उसके कारणों का अभाव है। यदि अभाव न होता, तो शब्द तब सुनाई देता। जिस पदार्थ की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं, वह अनित्य नहीं होसकता। फलतः शब्द का नित्य होना प्राप्त होता है। जो नित्य है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं। इसलिए प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उत्पत्ति बताकर उसे अनित्य कहना असंगत है। इसप्रकार अनुत्पत्ति के सहारे से वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना अनुत्पत्तिसम जाति का प्रयोग है॥ १२॥

अनुत्पत्तिसम का उत्तर—इसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए; आचार्य सूत्रकार ने बताया—

तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः॥ १३॥ (४७६)

[तथाभावात्] वैसा होने से [उत्पन्नस्य) उत्पन्न हुए शब्द के [कारणोपपत्तेः] कारणों की उपपत्ति–सिद्धि से [न] नहीं [कारणप्रतिषेधः] कारणों का प्रतिषेध–अभाव।

जिसको 'शब्द' कहाजाता है, वह उत्पन्न होने पर सम्भव होता है। शब्द का अपने रूप में होना [तथाभाव] तभी सम्भव है, जब वह उत्पन्न होजाता है। क्योंकि वह उत्पन्न हुआ है, इसकारण उसमें प्रयत्नानन्तरीयकता आवश्यकरूप से विद्यमान है। उत्पन्न होना प्रयत्न के विना किसीप्रकार सम्भव नहीं। प्रयत्न शब्दोत्पत्ति का निमित्त है। जब शब्द उत्पन्न है, तब उसमें 'प्रयत्न के अनन्तर होना' इस हेतु का अभाव नहीं कहाजासकता। फलतः शब्द के अस्तित्व को स्वीकार करने पर उसके कारणों की सिद्धि अनायास स्वतः होजाती है। शब्द को मानकर उसके कारण का प्रतिषेध करना सर्वथा असंगत है॥ १३॥

संशयसम जाति—क्रमप्राप्त संशयसम जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया–

सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः॥ १४॥ (४७७)

[सामान्यदृष्टान्तयोः] सामान्य (जाति) और दृष्टान्त (वादी द्वारा स्थापित पक्ष में कथित) का [ऐन्द्रियकत्वे] ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) होना [समाने] समान होने पर (नित्य और अनित्य दोनों के साधर्म्य से कियागया प्रतिषेध) [संशयसमः] संशयसम जाति का प्रयोग है।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है-'शब्द अनित्य है,-प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण,-घट के समान।' जैसे कुम्हार आदि के प्रयत्न के अनन्तर घट उत्पन्न होता है, ऐसे ही उच्चारयिता के प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उत्पत्ति जानीजाती है। इसलिए घट के समान शब्द को अनित्य मानना चाहिए।

प्रतिवादी इसका प्रतिषेध करता है-घट के साथ शब्द का साधर्म्य [प्रयत्नानन्तरीयकत्व] होने से घट के समान यदि शब्द को अनित्य मानाजाता है, तो घट के साथ सामान्य (जाति) का भी साधर्म्य-ऐन्द्रियकत्व-देखाजाता है। घट ऐन्द्रियक है, इन्द्रियग्राह्य है, सामान्य भी इन्द्रियग्राह्य होता है।[1] तथा शब्द भी इन्हींके समान इन्द्रियग्राह्य है। तब जैसे प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधर्म्य से घट के समान शब्द अनित्य है; उसीप्रकार ऐन्द्रियकत्व साधर्म्य से सामान्य के समान शब्द को नित्य मानना चाहिए। सामान्य ऐन्द्रियक है, नित्य होता है; शब्द भी ऐन्द्रियक होने से नित्य क्यों न मानाजाय?

यहाँ प्रतिवादी के द्वारा-अनित्यत्व-साधक पक्ष के प्रतिषेध में-नित्यत्व-साधक हेतु को प्रस्तुत करके संशय की स्थिति प्रस्तुत करदीजाती है। प्रयत्नानन्तरीयक होने से घट के समान शब्द को अनित्य मानाजाय? अथवा ऐन्द्रियक साधर्म्य से जाति के समान शब्द को नित्य मानाजाय? संशय के आधार पर प्रतिषेध होने के कारण यह 'संशयसम' जाति का प्रयोग है॥ १४॥

संशयसम का उत्तर--इसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए; आचार्य सूत्रकार ने बताया--

साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यात् उभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसंगो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः॥ १५॥ (४७८)

[साधर्म्यात्] साधर्म्य से [संशये] संशय होने पर [न] नहीं होता [संशयः] संशय [वैधर्म्यात्] विशेष धर्म के जानलेने से, [उभयथा] साधर्म्य-वैधर्म्य दोनों प्रकार से [वा] अथवा [संशये] संशय होने पर [अत्यन्तसंशय-प्रसङ्गः] अत्यन्त संशय का होना प्राप्त होता है, [नित्यत्वानभ्युपगमात्] नित्य होना स्वीकार न कियेजाने से [च] तथा (अथवा-भी) [सामान्यस्य] सामान्य-साधर्म्य-समानधर्म के रहते (भी) [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध करना असंगत है (संशय प्रस्तुत करके)।

---

१. आचार्यों ने व्यवस्था की है-'येनेन्द्रियेण यद् गृह्यते, तेनैवेन्द्रियेण तद्गता जातिर्गृह्यते'-जिस इन्द्रिय के द्वारा जो वस्तु गृहीत कीजाती है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु में समवेत जाति (सामान्य) का ग्रहण होता है।

आरोह-परिणाह, चढ़ाव-उतार, ऊँचाई-गोलाई आदि साधर्म्य से स्थाणु-पुरुष में सन्देह होजाता है-दूर से झुटपुटे में यह स्थाणु है, अथवा पुरुष है ? ऐसा संशय होजाता है। परन्तु पुरुष के विशेष धर्म-हाथ, पाँव, सिर आदि अङ्ग तथा विशेष चेष्टा आदि-से पुरुष का, तथा टेढ़ापन (वक्रता), खोखलापन (कोटर) एवं लता आदि के सान्निध्यरूप विशेष धर्म से स्थाणु का निश्चय होजाता है। तब समानधर्म के बने रहने पर भी संशय का उच्छेद होजाता है। तात्पर्य है-साधर्म्य तभी तक संशय को उत्पन्न करसकता है, जबतक विशेषधर्म का ज्ञान नहीं होता। विशेषधर्म का ज्ञान होजाने पर संशय निवृत्त होजाता है। यदि उस दशा में साधर्म्य के बलपर संशय होना मानाजाय, तो संशय कभी निवृत्त न होगा। क्योंकि, स्थाणु-पुरुष के समानधर्म तो सदा बने रहते हैं।

इसीप्रकार प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना शब्द का विशेषधर्म है। नित्य जाति तथा अनित्य घट आदि में रहनेवाला इन्द्रियग्राह्यता धर्म समानधर्म है। इस साधर्म्य के रहने पर भी जब शब्द के इस विशेषधर्म का ज्ञान होजाता है कि वह प्रयत्न के अनन्तर आत्मलाभ करता है, तब इस ज्ञात विशेषधर्म के बल पर-साधर्म्य के रहते भी-शब्द का नित्य होना स्वीकार नहीं कियाजासकता। उस दशा में विशेषधर्म का ज्ञान होजाने से समानधर्ममूलक संशय सिर ही नहीं उठापाता। फलतः साधर्म्य से उक्त प्रकार संशय को उभारकर प्रतिषेध करना असंगत है ॥१५॥

प्रकरणसम जाति—आचार्य ने क्रमप्राप्त 'प्रकरणसम' जाति का लक्षण बताया—

उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः ॥ १६ ॥ (४७६)

[उभयसाधर्म्यात्] नित्य-अनित्य दोनों के साधर्म्य से (एवं दोनों के वैधर्म्य से भी) [प्रक्रियासिद्धेः] प्रकरण के चालू बने रहने से (चर्चा की जो स्थिति रहती है, वह) [प्रकरणसमः] प्रकरणसम नामक जाति का स्वरूप है।

सूत्र में 'प्रक्रिया' पद का अर्थ है-नित्य और अनित्य के साधर्म्य से पक्ष तथा प्रतिपक्ष को प्रवृत्त करना। एक वादी अपने पक्ष को प्रस्तुत करता है-'शब्द अनित्य है,-प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने के कारण,-घट के समान।' यह अनित्य साधर्म्य से पक्ष प्रवृत्त कियागया। दूसरा प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष को प्रस्तुत करता है-'शब्द नित्य है,-श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होने के कारण; जो श्रोत्रेन्द्रिय से गृहीत होता है, वह नित्य होता है, जैसे शब्दत्व जाति। यह नित्य साधर्म्य से पक्ष प्रवृत्त कियागया। यहाँ अनित्य साधर्म्य से कहागया पहला हेतु प्रकरण को सम्पन्न नहीं करता, पूरा नहीं करता, अथवा समाप्त नहीं करता। प्रकरण चालू रहने से अर्थ का निर्णायक नहीं होता। ठीक यही स्थिति नित्य

साधर्म्य से कहेगये हेतु में समझनी चाहिए। इसप्रकार प्रकरण को अनिर्णयावस्था में चलाते रहने की प्रवृत्ति से जो परस्पर एक-दूसरे का प्रतिषेध प्रस्तुत कियाजाता है, वह 'प्रकरणसम' जाति का प्रयोग है।

सूत्र में 'साधर्म्य' पद 'वैधर्म्य' का उपलक्षण समझना चाहिए। तब नित्य और अनित्य के वैधर्म्य से प्रकरण को चालू रखना भी 'प्रकरणसम' जाति-प्रयोग की सीमा में आता है। जैसे—शब्द नित्य नहीं है,-कृतक होने से नित्य के साथ वैधर्म्य के कारण; जो कृतक होने से नित्य के साथ वैधर्म्य रखता है, वह नित्य नहीं होता, जैसे घट। यह नित्य वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त कियागया। इसीप्रकार दूसरा पक्ष होगा—शब्द अनित्य नहीं है,-स्पर्शरहित होने से अनित्य के साथ वैधर्म्य के कारण; जो स्पर्शरहित होता हुआ अनित्य के साथ वैधर्म्य रखता है, वह अनित्य नहीं होता, जैसे शब्दत्व जाति। यह अस्पर्श है, और अनित्य के साथ स्पर्शराहित्यरूप इसका वैधर्म्य है। जो नित्य नहीं होता, वह स्पर्शवाला होता है, अथवा स्पर्शवाले में रहता है। अतः अस्पर्श होने से अनित्य के साथ वैधर्म्य के कारण शब्द अनित्य नहीं मानाजाना चाहिए। यह अनित्य वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त कियागया।

उक्त विवेचन के अनुसार प्रकरणसम जाति का प्रयोग चार प्रकार से होता है—१. अनित्य साधर्म्य से पक्ष का प्रवृत्त कियाजाना, २. नित्य साधर्म्य से कियाजाना, ३. नित्य वैधर्म्य से, तथा ४. अनित्य वैधर्म्य से पक्ष का प्रवृत्त कियाजाना।

साधर्म्य-वैधर्म्यसम एवं संशयसम जातिप्रयोगों के साथ प्रकरणसम जाति के अभेद की आशंका करना युक्त न होगा, क्योंकि प्रकरणसम जाति के प्रयोग में प्रतिवादी इस भावना से प्रवृत्त होता है कि मुझे अपने पक्ष के निश्चयपूर्वक उपपादन द्वारा वादी के पक्ष में दूषण प्रस्तुत करना है; परन्तु साधर्म्य-वैधर्म्यसम तथा संशयसम जाति के प्रयोगों में वादी द्वारा स्थापित पक्ष के अनुरूप प्रतिवादी अपना पक्ष स्थापित कर परपक्ष में दूषण प्रस्तुत करता है, यह कहता हुआ कि तुम्हारा पक्ष स्वीकार कियाजाय, हमारा न कियाजाय, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। इन प्रयोगों में प्रतिपक्ष के निश्चय से प्रतिवादी प्रवृत्त नहीं होता। यही इनमें भेद है।

संशयसम के साथ प्रकरणसम का यह भी भेद है कि संशयसम में एक ही व्यक्ति किसी पक्ष की स्थापना कर उसमें अन्य हेतु के आधार पर संशय की उद्भावना करसकता है, परन्तु प्रकरणसम में पृथक् दो व्यक्ति अपने-अपने पक्ष का उपपादन करते हैं॥ १६॥

प्रकरणसम का उत्तर—प्रकरणसम जाति का प्रयोग होने पर उसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए, सूत्रकार ने बताया—

प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः
प्रतिपक्षोपपत्तेः ॥ १७ ॥ (४८०)

[प्रतिपक्षात्] प्रतिपक्ष से (अन्य पक्ष के आश्रय से) [प्रकरणसिद्धेः] प्रकरण की सिद्धि होने के कारण [प्रतिषेधानुपपत्तिः] प्रतिषेध अनुपपन्न है (पर-पक्ष का); [प्रतिपक्षोपपत्तेः] प्रतिपक्ष (पर-पक्ष) के स्वीकार कियेजाने से।

प्रकरण का चालू रहना पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों की स्वीकृति पर निर्भर है। वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है। अनन्तर प्रतिवादी अपने पक्ष की स्थापना कर प्रकरण को चालू रख अनिर्णय की घोषणा करता हुआ अन्य पक्ष के प्रतिषेध को प्रकट करता है। यह प्रतिषेध युक्त नहीं है, क्योंकि वादी द्वारा स्थापित पक्ष को स्वीकार किये विना प्रतिवादी द्वारा स्थापित पक्ष से प्रकरण का चालू रहना सम्भव न होगा। 'प्रकरण चालू है' यह बात प्रतिपक्षी द्वारा तभी कहीजासकती है, जब वह वादी द्वारा स्थापित पक्ष के अस्तित्व को स्वीकार करता है। जब उसे स्वीकार करलिया, तो प्रतिषेध कैसा? स्वीकार और प्रतिषेध दोनों परस्पर-विरुद्ध हैं। यदि पर-पक्ष स्वीकार है, तो प्रतिषेध नहीं। यदि पर-पक्ष प्रतिषिद्ध है, तो प्रकरण को चालू कहना सम्भव नहीं। अनिर्णय में प्रकरण का चालू रहना सम्भव होता है। यदि पर-पक्ष प्रतिषिद्ध होगया, तो अप्रतिषिद्ध शेष पक्ष निर्णय की स्थिति को सन्मुख लादेता है; तब तत्त्व का निर्धारण होजाने पर प्रकरण समाप्त मानाजायगा। इसप्रकार प्रकरणसम जाति के प्रयोग से परपक्ष का प्रतिषेध कहना असंगत है ॥ १७ ॥

अहेतुसम जाति—क्रमप्राप्त 'अहेतुसम' जाति-प्रयोग का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः ॥ १८ ॥ (४८१)

[त्रैकाल्यासिद्धेः] तीनों कालों में सिद्धि न होने से [हेतोः] हेतु की [अहेतुसमः] अहेतुसम जाति है।

अनुमान-प्रमाण के पञ्चावयव वाक्य में साध्य की सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग कियाजाता है। यहाँ ज्ञातव्य है–साध्य का साधन हेतु साध्य से पहले होता है? या पीछे? अथवा दोनों साथ-साथ होते हैं? इनमें से कोई बात बनती प्रतीत नहीं होती। यदि हेतु को पहले मानाजाय, तो साध्य के अभाव में वह साधन किसका होगा? जब साध्य नहीं, तो विद्यमान हेतु सिद्ध किसे करेगा? तात्पर्य है–तब हेतु का होना निरर्थक है। यदि हेतु पीछे होता है, साध्य पहले से विद्यमान है, तब हेतु अनावश्यक है। जिसके लिए हेतु का प्रयोग होना है, वह पहले से विद्यमान है। फिर उसे 'साध्य' कहना भी असंगत है; हेतु के विना वह सिद्ध है। यदि दोनों एकसाथ होते हैं, तो उनमें कौन किसका साधन हो, कौन

किसका साध्य ? एकसाथ अस्तित्व में आई वस्तुओं में परस्पर साध्य-साधनभाव नहीं होसकता। उसके लिए वस्तुओं के अस्तित्व में पौर्वापर्य आवश्यक है। इस-प्रकार अहेतु-स्थिति का आश्रय लेकर पर-पक्ष का प्रतिषेध करना 'अहेतुसम' जाति का स्वरूप है ॥ १८ ॥

अहेतुसम का उत्तर—उक्त जाति-प्रयोग का उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए, अग्रिम दो सूत्रों द्वारा आचार्य ने बताया—

न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः ॥ १९ ॥ (४८२)

[न] नहीं युक्त [हेतुतः] हेतु से [साध्यसिद्धेः] साध्य की सिद्धि होने के कारण [त्रैकाल्यासिद्धिः] तीनों कालों में असिद्धि (हेतु की)।

साध्य से पहले, पीछे अथवा युगपत् तीनों कालों में हेतु की असिद्धि है; यह कहना युक्त नहीं; क्योंकि साध्य की सिद्धि हेतु से होती है। उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति तथा ज्ञेय वस्तु का जानना कारणों के विना नहीं होसकता। किसी कार्य अथवा साध्य की सिद्धि कारण एवं हेतु के विना असम्भव है। जीवन में प्रतिदिन ऐसी स्थिति को प्रत्यक्ष से देखाजाता है। इसलिए कार्य या साध्य से पहले हेतु का होना आवश्यक है।

यह जो कहागया—साध्य से पहले हेतु के होने पर साध्य के अभाव में वह हेतु किसका साधन करता है ? इसका उत्तर स्पष्ट है। विद्यमान हेतु उसीका साधन होता है, जो साध्य है, जो अभी उत्पन्न होनेवाला है, अथवा सिद्ध होने एवं ज्ञात होने की अपेक्षा रखता है। साध्य, उत्पाद्य, ज्ञेय वस्तु का साधन, उत्पादन, ज्ञान हेतु से होता है, अतः हेतु का साध्य आदि से पहले होना आवश्यक है। इसप्रकार हेतु की त्रैकाल्य में असिद्धि न होने से 'अहेतुसम' जाति का प्रयोग असंगत है ॥ १९ ॥

हेतु के व्यवस्थित होने से उक्त प्रतिषेध अयुक्त है, सूत्रकार ने बताया—

प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥ २० ॥ (४८३)

[प्रतिषेधानुपपत्तेः] प्रतिषेध की अनुपपत्ति-असिद्धि से [च] तथा (अथवा-भी) [प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः] प्रतिषेद्धव्य का प्रतिषेध नहीं रहता।

वादी पक्ष की स्थापना करता है—शब्द अनित्य है,—प्रयत्न के अनन्तर होने से,—घट के समान। जातिवादी ने 'अहेतुसम' जाति का प्रयोग कर उसका प्रतिषेध किया। गत सूत्रद्वारा उस प्रतिषेध को अनुपपन्न-असंगत बताया। इसप्रकार जातिरूप प्रतिषेध के अनुपपन्न होने से प्रतिषेद्धव्य—वादी द्वारा स्थापित पक्ष—का प्रतिषेध नहीं रहता। फलतः शब्द का अनित्य होना उपपन्न होजाता है ॥ २० ॥

अर्थापत्तिसम जाति—क्रमप्राप्त अर्थापत्तिसम जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अर्थापत्तितः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥ २१ ॥ (४८४)

[अर्थापत्तितः] अर्थापत्ति के द्वारा [प्रतिपक्षसिद्धेः] प्रतिपक्ष की सिद्धि से (कियागया प्रतिषेध) [अर्थापत्तिसमः] 'अर्थापत्तिसम' नामक जाति है।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–शब्द अनित्य है,–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,–घट के समान। जातिवादी जब अर्थापत्ति के द्वारा प्रतिपक्ष को सिद्ध करता हुआ वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करता है, तब वह 'अर्थापत्तिसम' जाति का प्रयोग है। जातिवादी कहता है–यदि अनित्यता के साधक प्रयत्नानन्तरीय–साधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो अर्थापत्ति के आधार पर ज्ञात होता है–नित्यता के साधक अस्पर्शत्व साधर्म्य से शब्द नित्य होना चाहिए। शब्द का अस्पर्शत्व-साधर्म्य नित्य आकाश के साथ है–शब्द नित्य है, अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से, आकाश के समान। अर्थापत्ति के द्वारा प्रतिषेध होने से यह 'अर्थापत्तिसम' जाति का प्रयोग है ॥ २१ ॥

अर्थापत्तिसम का उत्तर—इसका उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिए, आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥ २२ ॥ (४८५)

[अनुक्तस्य] अनुक्त-असाधित की [अर्थापत्तेः] अर्थापत्ति से [पक्षहानेः] पक्षहानि [उपपत्तिः] उपपन्न होजाती है [अनुक्तत्वात्] अनुक्त–असिद्ध होने से [अनैकान्तिकत्वात्] अनैकान्तिक होने से [च] भी [अर्थापत्तेः] अर्थापत्ति के।

वादी द्वारा हेतुपूर्वक शब्द की अनित्यता सिद्ध करदेने पर जातिवादी उसका प्रतिषेध केवल अर्थापत्ति के बल पर करता है; स्वयं पञ्चावयव वाक्य द्वारा शब्द की नित्यता को सिद्ध नहीं करता। वह इस बात की ओर भी ध्यान नहीं देता कि स्थापित पक्ष का [शब्द के अनित्यत्व का] प्रतिषेध करने में अर्थापत्ति समर्थ-सफल है, या नहीं? यदि अर्थापत्ति का प्रयोग करदेने पर वह अपने प्रयोजन को पूरा नहीं करपाती, तो उसका प्रयोग निरर्थक है। इससे तो उलटी नित्यत्व पक्ष की हानि प्राप्त होजाती है। सद्धेतु के द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होने से अर्थापत्ति के आधार पर यह प्राप्त होता है कि शब्द का नित्यत्व पक्ष असिद्ध है। क्योंकि उसे स्वतन्त्र पञ्चावयव वाक्य द्वारा सिद्ध नहीं कियागया।

इसके अतिरिक्त अर्थापत्ति नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में समान होने से अनैकान्तिक है। यदि अस्पर्श होने के कारण नित्य-साधर्म्य से आकाश के समान

शब्द नित्य है, तो इस अर्थ से आपन्न होता है–प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्य-साधर्म्य से शब्द अनित्य है। यह अर्थापत्ति नियम से–एकान्तरूप से किसी एक अर्थ को सिद्ध करे, ऐसा नहीं है। यदि कोई कहे–ठोस पत्थर नीचे गिरजाता है; इससे कोई यह अर्थापत्ति नहीं निकालसकता कि तरल जलों का गिरना नहीं होता। अर्थापत्ति का प्रामाण्य वहीं होता है, जहाँ अनुक्त अर्थ का ऐकान्तिकरूप से बोध कराने में वह सफल हो। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थापत्ति का ऐसा सामर्थ्य दिखाई नहीं देता, अतः शब्द के अनित्यत्व का 'अर्थापत्तिसम' जाति के रूप में प्रतिषेध असंगत है ॥ २२ ॥

अविशेषसम जाति—क्रमप्राप्त 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का प्रकार आचार्य सूत्रकार बताता है—

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसङ्गात् सद्भावोपपत्तेर-विशेषसमः ॥ २३ ॥ (४८६)

[एकधर्मोपपत्तेः] एक धर्म की उपपत्ति-सिद्धि से [अविशेषे] अविशेष-समानता का कथन होने पर (किन्हीं पदार्थों में), [सर्वाविशेषप्रसङ्गात्] सब पदार्थों में अविशेष-समानता की प्राप्ति से [सद्भावोपपत्तेः] सद्भाव-सत्त्वरूप एक धर्म की उपपत्ति-सिद्धि के कारण (जो प्रतिषेध स्थापित पक्ष का कियाजाता है, वह) [अविशेषसमः] अविशेषसम नामक जाति का स्वरूप है।

वादी अपने पक्ष को स्थापित करता है–शब्द अनित्य है,–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,–घट के समान। यहाँ प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म शब्द और घट दोनों में सिद्ध है। इसके अनुसार दोनों में समानता प्रमाणित होती है–दोनों अनित्य हैं। इसपर जातिवादी कहता है–यदि प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म से शब्द और घट की समानता प्रमाणित होती है, तो सद्भाव-सत्त्वरूप एक धर्म है, जो समस्त पदार्थों में सिद्ध है, निश्चितरूप से विद्यमान रहता है। तब इसके अनुसार सब पदार्थ समान प्राप्त होते हैं। सब नित्य हों अथवा सब अनित्य। पर ऐसा सम्भव नहीं; इसलिए किसी एक धर्म के आधार पर अनेक पदार्थों को अविशेष कहना असंगत है। इसप्रकार सबके अविशेषप्रसङ्ग का निर्देश कर स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करने के कारण यह 'अविशेषसम' जाति का प्रयोग है ॥ २३ ॥

अविशेषसम का उत्तर—आचार्य सूत्रकार इसके उत्तर देने का प्रकार बताता है—

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेःक्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ २४ ॥ (४८७)

[क्वचित्] कहीं [धर्मानुपपत्तेः] धर्म की अनुपपत्ति-असिद्धि से [क्वचित्]

कहीं [च] तथा [उपपत्तेः] सिद्धि से (धर्म की), [प्रतिषेधाभावः] प्रतिषेध का अभाव है (उक्त प्रतिषेध युक्त नहीं है)।

पक्ष और दृष्टान्त-शब्द तथा घट में-प्रयत्नानन्तरीयकत्व एक धर्म की निश्चित विद्यमानता से-अनित्यत्वरूप अविशेष सिद्ध होता है, जो एक अतिरिक्त धर्म है। सद्भाव-सत्त्वरूप धर्म की सब पदार्थों में विद्यमानता ऐसा अन्य धर्म उन पदार्थों में कोई नहीं है जिसे, अविशेष-रूप में बताया जासके, जैसा स्थापित पक्ष में अनित्यत्व धर्म है। तात्पर्य है-जहाँ धर्मविशेष की उपपत्ति से कोई धर्मान्तर अविशेष प्रमाणित होता है, वहाँ उसे स्वीकार करना चाहिये; जहाँ ऐसा अविशेषधर्म अनुपपन्न है, वहाँ वह अस्वीकार्य होगा। यद्यपि समस्त पदार्थों में सद्भाव धर्म विद्यमान रहता है, पर वह उन पदार्थों में अन्य किसी अविशेष धर्म का आपादक नहीं होता। इसलिए ऐसे धर्म के आधार पर स्थापित पक्ष का प्रतिषेध असंगत है।

यदि ऐसा मानाजाता है कि सब पदार्थों में सद्भाव की सिद्धि से उनका 'अनित्य होना' अविशेष प्रमाणित होता है, तो 'सब पदार्थ अनित्य हैं; सद्भाव के कारण' ऐसा पक्ष प्राप्त होता है। इस मान्यता में यह दोष स्पष्ट है-पदार्थ-मात्र का समावेश प्रतिज्ञा-वाक्य में होजाने से उदाहरण के रूप में उल्लेख के लिए कोई पदार्थ शेष नहीं रहता। उदाहरणरहित हेतु साध्य का साधक नहीं होसकता। जिस हेतु के लिए कोई उदाहरण न मिले, वह साध्य के साधन में शिथिल मानाजाता है। प्रतिज्ञा-वाक्य के किसी एक अंश का उदाहरणरूप में प्रस्तुत कियाजासकना अनुपपन्न होता है; क्योंकि जो स्वयं साध्य है, वह उदाहरणरूप में प्रस्तुत किया जाकर साध्य अर्थ का निश्चायक नहीं होसकता।

सद्भावरूप पदार्थ नित्य और अनित्य दोनों प्रकार के देखेजाते हैं। नित्य पदार्थ आकाश आदि हैं, अनित्य घट आदि। ऐसी स्थिति में सद्भाव धर्मविशेष हेतु से सब पदार्थों का अनित्यत्व अथवा नित्यत्व-अविशेष कहना अयुक्त है। इसके अतिरिक्त सद्भाव हेतु से जो सबको अनित्य बताना चाहरहा है, उसके विचार से शब्द का अनित्य होना अनायास सिद्ध होगया। इसके अनुसार जातिवादी ने शब्द का अनित्यत्व स्वीकार करलिया; तब जातिप्रयोग से स्थापनावादी के पक्ष का प्रतिषेध कहाँ हुआ? फलतः जाति का यह प्रयोग अनुपपन्न है॥ २४॥

उपपत्तिसम जाति—क्रमप्राप्त 'उपपत्तिसम' जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः॥ २५॥ (४८८)

[उभयकारणोपपत्तेः] दोनों धर्मों के कारणों की उपपत्ति-सिद्धि से (वादी द्वारा स्थापित पक्ष का) प्रतिषेध करना [उपपत्तिसमः] उपपत्तिसम नामक जाति है।

वादी के द्वारा शब्द के अनित्यत्व की स्थापना करने पर प्रतिवादी कहता है–यदि शब्द के अनित्यत्व का कारणधर्म 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' उपपन्न है, सिद्ध है, तो शब्द के नित्यत्व का साधक धर्म 'अस्पर्शत्व' भी उपपन्न है। नित्य और अनित्य दोनों के कारणों की उपपत्ति से प्रतिषेध प्रस्तुत करना 'उपपत्ति-सम' जाति का प्रयोग है।

इसके प्रयोग में प्रतिवादी की भावना यह रहती है कि शब्द के अनित्य होने का कारण यदि सिद्ध है, तो उसके नित्य होने का कारण भी निश्चित है, प्रमाणित है; तब शब्द को अनित्य क्यों मानाजाय ? नित्य क्यों न मानाजाय ? शब्दनित्यत्व के कारण की विद्यमानता में शब्द के अनित्यत्व की निवृत्ति होजानी चाहिये ॥ २५ ॥

उपपत्तिसम का उत्तर—आचार्य सूत्रकार ने 'उपपत्तिसम' जाति के उत्तर देने का प्रकार बताया—

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥ २६ ॥ (४८९)

[उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानात्] सिद्धि के कारण को स्वीकार करलेने से (प्रतिषेध्य धर्म की,) [अप्रतिषेधः] प्रतिषेध करना असंगत है (उस धर्म का)।

'उभयकारणोपपत्तेः' इन पदों द्वारा प्रतिवादी नित्य और अनित्य दोनों धर्मों के कारणों की सिद्धि को स्वीकार करता है। इससे शब्दगत अनित्य धर्म के कारण की युक्तता को उसने स्वीकार किया, यह स्पष्ट है। स्वीकार करके उसका प्रतिषेध करना असंगत है। यदि प्रतिषेध्य धर्म के कारण की उपपत्ति को स्वीकार नहीं करता, तो 'उपपत्तिसम' जाति का प्रयोग सम्भव न होगा। क्योंकि प्रस्तुत जाति का प्रयोग नित्य-अनित्य दोनों धर्मों के कारणों की उपपत्ति (उभयकारणोपपत्तेः) पर निर्भर है।

यदि प्रतिवादी कहना चाहता है कि नित्य धर्म के कारण का उपपादन होने से उसके विरोधी धर्म अनित्यत्व के कारण का प्रतिषेध होजायगा, तो यह दोनों पक्षों के लिए समान है। अनित्यधर्म के कारण का उपपादन होने से उसके विरोधी नित्यधर्म के कारण का प्रतिषेध क्यों न होगा ? ऐसा विरोध किसी एक पक्ष का साधक हो, दूसरे का न हो, इसमें कोई प्रमाण नहीं। इसलिए उक्त जाति-प्रयोग अयुक्त है ॥ २६ ॥

उपलब्धिसम जाति— क्रमप्राप्त 'उपलब्धिसम' जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः ॥ २७ ॥ (४९०)

[निर्दिष्टकारणाभावे] प्रथम बतलाये कारण के न होने पर [अपि] भी [उपलम्भात्] उपलब्ध होने से (कार्य के), [उपलब्धिसमः] उपलब्धिसम जाति मानीजाती है।

शब्द अनित्य है, इसकी सिद्धि के लिए वादी ने हेतु का निर्देश किया—प्रयत्न के अनन्तर होने से (—प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्)। प्रयत्न आत्मा का गुण है; जहाँ आत्म-प्रेरित प्रयत्न नहीं रहता, वहाँ शब्द की उत्पत्ति न होनी चाहिये। परन्तु इस निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी शब्द की उत्पत्ति देखीजाती है। तीव्र वायु के आघात से वृक्ष के पत्तों में ध्वनि उत्पन्न होती रहती है। इसीप्रकार कभी वायु के तीव्र वेग से वृक्ष की शाखा टूटजाती है, उससे शब्दविशेष उत्पन्न हुआ उपलब्ध होता है। यहाँ पूर्वनिर्दिष्ट कारण—'प्रयत्न' के अभाव में भी कार्य होता देखाजाता है। प्रस्तुत जाति-प्रयोग के द्वारा प्रतिवादी स्थापित पक्ष में हेतु के अनैकान्तिक दोष का प्रदर्शन करना चाहता है। साधन के अभाव में साध्यधर्म की उपलब्धि से प्रतिषेध कियेजाने के कारण इस जाति-प्रयोग को 'उपलब्धिसम' कहाजाता है ॥ २७ ॥

उपलब्धिसम का उत्तर—इसके उत्तर का प्रकार सूत्रकार ने बताया—

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥ २८ ॥ (४६१)

[कारणान्तरात्] अन्य कारण से [अपि] भी [तद्धर्मोपपत्तेः] उस धर्म (अनित्यत्व) की उपपत्ति-सिद्धि होने के कारण [अप्रतिषेधः] उक्त प्रतिषेध अयुक्त है।

वादी द्वारा पक्ष की स्थापना का प्रयोजन शब्द का अनित्यत्व उपपादन करना है। उसके लिए वह 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु प्रस्तुत करता है, जिससे शब्द का उत्पन्न होना निश्चित होता है। इससे कार्योत्पत्ति के कारण की व्यवस्था निर्धारित नहीं होती कि अमुक कार्य का वही एक कारण है। यदि अन्य कारण से वह कार्य उत्पन्न होता देखाजाता है, तो उसे भी कारण मानने में कोई आपत्ति नहीं। शब्द संयोग से, विभाग से तथा शब्द से भी उत्पन्न होता देखाजाता[1] है। यदि शब्द के कारण संयोग और विभाग कहीं प्रयत्न-प्रेरित नहीं हैं, तो इसमें कोई आपत्ति की बात नहीं है। कारण कोई हो, इससे शब्द का अनित्यत्व तो निर्बाध-अक्षुण्ण बना रहता है। तब जातिवादी ने प्रतिषेध क्या किया ?

यहाँ अनैकान्तिक दोष का उद्भावन निराधार है; एक कार्य के अनेक कारणों का होना सम्भव है। समानजातीय कार्य कभी एक कारण से, कभी दूसरे कारण से उत्पन्न होसकता है। इसमें कारण की अवहेलना नहीं होती। कार्य की अनित्यता पूर्व-स्थापना के अनुसार बनी रहती है ॥ २८ ॥

अनुपलब्धिसम जाति—शब्द की अनित्यता को चुनौती देता हुआ प्रतिवादी कहता है—उच्चारण से पहले विद्यमान शब्द-आवरण के कारण सुनाई नहीं

---

१. **वैशेषिक दर्शन, २ । २ । ३१ ॥**

देता। जैसे घट आदि में आवृत जल आदि पदार्थ तथा मकान में आवृत विविध पदार्थ विद्यमान होते दिखाई नहीं देते। इस पर शब्दानित्यत्ववादी कहता है–यदि उच्चारण से पूर्व शब्द के सुनाई न देने का कारण कोई आवरण होता, तो जलादि के आवरण घट आदि के समान वह उपलब्ध होता। अनुपलब्धि से आवरण का अभाव सिद्ध होता है। इसपर प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है, सूत्रकार ने उसे सूचित किया—

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्ते-रनुपलब्धिसमः ॥ २६ ॥ (४६२)

[तद्-अनुपलब्धेः] आवरण की अनुपलब्धि के [अनुपलम्भात्] उपलब्ध न होने से [अभावसिद्धौ] आवरणानुपलब्धि का अभावसिद्ध होजाने पर [तद्-विपरीतोपपत्तेः] आवरणानुपलब्धि से विपरीत आवरणोपलब्धि की उपपत्ति के कारण (शब्द के अनित्यत्व का कियागया प्रतिषेध) [अनुपलब्धिसमः] अनुप-लब्धिसम जाति है।

प्रतिवादी का तात्पर्य है–उच्चारण से पहले विद्यमान शब्द की अनुपलब्धि का कारण कोई आवरण है, जो बीच में आजाने से शब्द के सुनाई देने में बाधक होजाता है। यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव कहाजाता है, तो आवरण की अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से आवरणानुपलब्धि का अभाव मानना होगा। इससे आवरण का होना उपपन्न होजायगा, जो उच्चारण से पहले शब्द की विद्यमानता को सिद्ध कर उसके अनित्यत्व का बाधक होगा। इसप्रकार आवरणानुपलब्धि का समानरूप में उसकी अनुपलब्धि से प्रतिषेध कियेजाने के कारण इस जाति-प्रयोग का नाम 'अनुपलब्धिसम' है। यदि आवरण की अनुपलब्धि है, तो आवरणानुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है। आवरण और आवरणानुपलब्धि में अनुपलब्धि की यही समानता है, जिसके आधार पर प्रतिषेध प्रस्तुत कियागया। 'अनुपलब्धिसम' नाम का यही मूल है ॥ २६ ॥

अनुपलब्धिसम का उत्तर—इस जाति-प्रयोग के उत्तर देने का प्रकार आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥ ३० ॥ (४६३)

[अनुपलम्भात्मकत्वात्] अनुपलम्भरूप होने से [अनुपलब्धेः] अनुपलब्धि के, [अहेतुः] उक्त हेतु अयुक्त है।

उच्चारण आदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है,–इस स्थापना को चुनौती देता हुआ प्रतिवादी कहता है–उच्चारण से पहले विद्यमान शब्द के सुनाई देने में आवरण बाधक होजाता है, न सुनने से उसे अविद्यमान समझाजाता है, जो अयुक्त है; इसलिए शब्द को प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने

से अनित्य न समझना चाहिये। इसके प्रतिवाद में अनित्यत्ववादी कहता है–यदि उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द के सुनाई न देने में कोई आवरण बाधक है, तो वह उपलब्ध होना चाहिये। जो वस्तुतत्त्व है, उसकी उपलब्धि होती है, उससे वस्तु के विद्यमान होने का निश्चय होता है। आवरण क्योंकि उपलब्ध नहीं है, इसलिए उसका अविद्यमान होना प्रमाणित है। तब उच्चारण से पूर्व यदि शब्द विद्यमान हो, तो आवरण के अभाव में अवश्य सुनाई देना चाहिये। ऐसा न होने के कारण शब्द का–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से–अनित्य होना प्रमाणित होता है।

गतसूत्र में प्रतिवादी ने कहा–आवरण की अनुपलब्धि भी अनुपलब्ध है। तब आवरण का अस्तित्व प्राप्त होजाता है। प्रतिवादी के इस कथन पर प्रस्तुत सूत्र में कहागया–जैसे वस्तुतत्त्वकेउपलब्ध होने से उसके अस्तित्व का निश्चय होता है; जो वस्तु नहीं है, उसकी अनुपलब्धि से उसके अभाव का निश्चय होता है। इसलिए आवरण की अनुपलब्धि आवरण के अभाव का निश्चय कराती है। आवरण की अनुपलब्धि का स्वयं अनुपलब्धि प्रतिषेध नहीं करसकती, क्योंकि अनुपलब्धि का विषय स्वयं अनुपलब्धि नहीं होसकता। ऐसी मान्यता आत्मघात की स्थिति को प्रस्तुत करती है। स्वयं अपने को अपने अस्तित्व से हटाना सर्वप्रमाणविरुद्ध है। इसप्रकार आवरण की अनुपलब्धि के बने रहने से आवरण का अस्तित्व पराहत होजाता है। इसलिए गतसूत्र में प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत 'तदनुपलब्धेरनुपलम्भात्' हेतु सर्वथा असंगत है। फलतः प्रयत्नानन्तर उत्पन्न होने से शब्द का अनित्यत्व निर्बाध बनारहता है॥ ३०॥

आचार्य सूत्रकार ने अनुपलब्धिसम जाति-प्रयोग का अन्य प्रकार से समाधान किया—

ज्ञानविकल्पानाञ्च भावाभाव-
संवेदनादध्यात्मम् ॥ ३१ ॥ (४६४)

[ज्ञानविकल्पानाम्] ज्ञान के विभिन्न प्रकारों के [च] तथा [भावाभाव-संवेदनात्] होने न होने की प्रतीति से [अध्यात्मम्] आत्मा में।

आत्मा में विविध प्रकार के ज्ञान होते रहते हैं। उनके विषय में आत्मा को यह प्रत्यय होता है–यह जानता हूँ, और यह नहीं जानता। प्रत्यक्ष, अनुमान, आगम, संशय, स्मृति आदि सभी प्रकार के ज्ञानों के विषय में आत्मा को यह प्रतीति होती है कि अमुक विषय का मुझे प्रत्यक्ष, आनुमानिक, आगमिक, संशयात्मक अथवा स्मृतिरूप ज्ञान है, अथवा नहीं है। इसीप्रकार प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह अनुभव होता है कि मुझे किसी ऐसे आवरण का ज्ञान नहीं है, जो उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द के सुनाई देने में बाधक हो। यह सर्वजन-

संवेद्य अनुभव आवरण के अभाव को सिद्ध करता है । इसलिए आवरणानुपलब्धि प्रतिषेध में २९वें सूत्रद्वारा प्रस्तुत कियागया हेतु सर्वथा अनुपपन्न है ।। ३१ ।।

अनित्यसम जाति—क्रमप्राप्त 'अनित्यसम' जाति का स्वरूप आचार्य सूत्रकार ने बताया—

साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्व-प्रसङ्गादनित्यसमः ।। ३२ ।। (४९५)

[साधर्म्यात्] साधर्म्य से (अनित्य घट के साथ) [तुल्यधर्मोपपत्तेः] तुल्य धर्म (अनित्यत्व) की सिद्धि से [सर्वानित्यत्वप्रसङ्गात्] सबका अनित्यत्व प्राप्त होने के कारण जो प्रतिषेध कियाजाता है, वह [अनित्यसमः] अनित्यसम जाति है ।

घट के साथ शब्द का प्रयत्नानन्तरीय-साधर्म्य होने से यदि घट के समान शब्द को अनित्य मानाजाता है, तो घट के साथ सब पदार्थों का सद्भावरूप साधर्म्य होने से घट के समान सब पदार्थों को अनित्य मानाजाना चाहिए । परन्तु ऐसा मानना अभीष्ट नहीं; क्योंकि सब पदार्थों का अनित्य होना असम्भव है, अन्यथा पदार्थों के कार्य-कारणभाव का विलोप होजायगा, जो सर्वप्रमाणसिद्ध है । इसलिए घट के समान शब्द का अनित्य मानाजाना भी अनिष्ट होगा, अतः वह भी त्याज्य समझना चाहिये । इसप्रकार अनित्य होने के आधार पर–वादी द्वारा स्थापित पक्ष का–कियागया प्रतिषेध 'अनित्यसम' जाति का प्रयोग है ।। ३२ ।।

अनित्यसम का उत्तर—'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का उत्तर किसप्रकार दियाजाना चाहिये ?–आचार्य सूत्रकार ने बताया—

साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्यात् ।। ३३ ।। (४९६)

[साधर्म्यात्] साधर्म्य से [असिद्धेः] असिद्धि यदि मानीजाती है (स्थापित पक्ष की), तो [प्रतिषेधासिद्धिः] प्रतिषेध की भी असिद्धि होजाती है, [प्रतिषेध्यसाधर्म्यात्] प्रतिषेध्य के साथ साधर्म्य से ।

वादी द्वारा स्थापित पक्ष–शब्द के अनित्यत्व–का प्रतिवादी ने साधर्म्य के आधार पर पदार्थमात्र की अनित्यता की प्रसक्ति बताकर उसका प्रतिषेध किया । इसलिए वादी का पक्ष 'प्रतिषेध्य' हुआ, और प्रतिवादी का 'प्रतिषेध' । ऐसी स्थिति में वादी उक्त जाति-प्रयोग का उत्तर देता है–यदि जिस-किसी साधर्म्य से–सद्धेतुपूर्वक स्थापित पक्ष का–प्रतिषेध कियाजाना मान्य होता है, तो 'प्रतिषेध' पक्ष का भी 'प्रतिषेध्य' पक्ष के साथ साधर्म्य है । वह साधर्म्य क्या है ? प्रतिवादी द्वारा पूछेजाने पर वादी बताता है–प्रतिज्ञा आदि पञ्चावयव वाक्य द्वारा हमने अपने पक्ष की स्थापना की । आप उसका प्रतिषेध पंचावयववाक्य के प्रयोग द्वारा करेंगे । तब 'पञ्चावयव वाक्य से युक्त होना' प्रतिषेध्य और प्रतिषेध

दोनों पक्षों का साधर्म्य है। जाति के प्रयोग में आपके द्वारा कथित साधर्म्य से यदि शब्द का अनित्यत्व असिद्ध होजाता है; तो प्रतिषेध्य और प्रतिषेध के उक्त साधर्म्य से प्रतिषेध्य की असिद्धि के समान प्रतिषेध को भी असिद्ध मानना होगा। इस आधार पर आपका प्रतिषेध-पक्ष गिर जाने से शब्द का अनित्यत्व-साधक पक्ष सिद्ध रहजायगा। तात्पर्य है–विशिष्ट साधर्म्य नियतधर्म का साधक होता है, यत्किञ्चित् साधर्म्य नहीं।

'अविशेषसम' (सूत्र-२३) और 'अनित्यसम' जाति के प्रयोगों में आपाततः समानता प्रतीत होती है; क्योंकि वहाँ जैसे पदार्थमात्र को घट के समान होने की आपत्ति प्रस्तुत कीगई है, वैसे ही यहाँ है। इनमें भेद यही है–वहाँ समानता के किसी विशेष धर्म का निर्देश नहीं है। परन्तु यहाँ 'अनित्यत्व' विशेष साध्य-धर्म का निर्देश है। इसीलिए वह 'अविशेषसम' और यह 'अनित्यसम' है।

उद्देशसूत्र [५।१।१] के अनुरोध से क्रम का ध्यान रखते हुए प्रथम 'नित्यसम' जाति का, अनन्तर 'अनित्यसम' का लक्षण कियाजाना चाहिये था। इस क्रमविपर्यास का कारण अन्वेष्य है॥ ३३॥

'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का सूत्रकार ने अन्य प्रकार से समाधान किया—

दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयथा भावान्नाविशेषः॥ ३४॥ (४६७)

[दृष्टान्ते] दृष्टान्त में [च] तथा [साध्यसाधनभावेन] साध्य के साधन-भाव से (साध्यव्याप्यरूप से) [प्रज्ञातस्य] जानेगये (निश्चित कियेगये) [धर्मस्य] धर्म के (कृतकत्व-आदि धर्म के) [हेतुत्वात्] हेतु (साध्य का साधक) होने से [तस्य] उसके (हेतुभाव के) [च] तथा [उभयथा] दोनों प्रकार का (साधर्म्य–वैधर्म्यरूप) [भावात्] होने से [न] नहीं [अविशेषः] समानता (वादी-प्रतिवादी के हेतुओं में)।

यह एक व्यवस्था है—हेतु-धर्म का दृष्टान्त में साध्य के प्रति साधनभाव जानलियाजाता है; अन्वय-व्यतिरेक व्याप्ति के आधार पर साध्य के प्रति हेतु की साधकता को दृष्टान्त में जाँचकर साध्य की सिद्धि के लिए हेतु का प्रयोग कियाजाता है। साधारणरूप में हेतु अन्वय-व्यतिरेकरूप दोनों प्रकार की व्याप्ति से अन्वित होता है। ऐसे हेतु का किसीसे कुछ साधर्म्य तथा किसीसे कुछ वैधर्म्य होना स्वाभाविक है। किसी नियत समानता से साधर्म्य तथा असमानता से वैधर्म्य देखाजाता है। इसप्रकार किसी धर्म के हेतुरूप से प्रस्तुत करने में उसके साधर्म्य-विशेष का आश्रय लियाजाता है; ऐसा नहीं होता कि सर्वथा साधारण-रूप से जिस-किसी भी साधर्म्य को पकड़कर उसके सहारे साध्य की सिद्धि के लिए

हेतु का प्रयोग करदियाजाय। न ऐसे साधारण वैधर्म्यमात्र के सहारे हेतु का प्रयोग होता है। परन्तु प्रतिवादी ने अनित्यसम जाति के प्रयोग में पदार्थमात्र के 'सत्त्व' साधर्म्य का आश्रय लेकर हेतु का प्रयोग करदिया है। 'अनित्यत्व' के साथ 'सत्त्व' की व्याप्ति के लिए कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं। तात्पर्य है–इन धर्मों की ऐकान्तिक (निर्दोष) व्याप्ति सम्भव नहीं। इसके विपरीत वादी के द्वारा स्थापित पक्ष में 'अनित्यत्व' एवं 'कृतकत्व' अथवा 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' साध्यहेतु धर्मों की उभयप्रकार व्याप्ति घटादि पदार्थों में पूर्णरूप से निर्धारित है। अत:वादी और प्रति-वादी के हेतुओं को समान कहकर वादी-पक्ष का प्रतिषेध कियाजाना असंगत है।

सूत्र चौबीस में 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का जिसप्रकार प्रत्याख्यान कियागया है, उसका भी उपयोग इस प्रसंग में कियाजासकता है ॥ ३४ ॥

नित्यसम जाति—यथावसर 'नित्यसम' जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्ते-र्नित्यसमः ॥ ३५ ॥ (४९८)

[नित्यम्] सदा [अनित्यभावात्] अनित्य के स्थिर रहने से [अनित्ये] अनित्य (शब्द आदि पदार्थों) में [नित्यत्वोपपत्तेः] नित्यत्व की सिद्धि से (किया-गया प्रतिषेध) [नित्यसमः] नित्यसम जाति है।

'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा कियेजाने पर पूछा जासकता है–शब्द में अनित्यत्व धर्म क्या नित्य है? अर्थात् शब्द में सदा स्थित रहता है? अथवा अनित्य है? कभी रहता है, कभी नहीं। यदि पहला विकल्प स्वीकार्य है–शब्द में अनित्यत्व धर्म सदा स्थित है, तो धर्म के सदा बने रहने से धर्मी-शब्द भी सदा विद्यमान मानाजायगा। ऐसी अवस्था में शब्द नित्य होना चाहिये, अनित्य नहीं। यदि दूसरा विकल्प मानाजाय–शब्द में अनित्यत्व सदा नहीं रहता, तो अनित्यत्व के न रहने की दशा में शब्द को नित्य स्वीकार कियाजाना चाहिये। तब 'शब्द अनित्य है' यह प्रतिज्ञा असंगत है। इसप्रकार नित्यत्व का आश्रय लेकर स्थापना-वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना 'नित्यसम' जाति है ॥ ३५ ॥

नित्यसम का उत्तर—आचार्य सूत्रकार ने नित्यसम जाति-प्रयोग के समा-धान का प्रकार बताया—

प्रतिषेध्ये नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥ ३६ ॥ (४९९)

[प्रतिषेध्ये] प्रतिषेध के विषय (स्थापनावादी के पक्ष) में [नित्यम्] सदा [अनित्यभावात्] अनित्यत्व धर्म के विद्यमान रहने से [अनित्ये] अनित्य (शब्द

आदि) में [अनित्यत्वोपपत्तेः] अनित्यत्व की सिद्धि से [प्रतिषेधाभावः] प्रतिषेध नहीं रहता (शब्द के अनित्यत्व का)।

'शब्द अनित्य है' यह स्थापनावादी का पक्ष है। प्रतिवादी जाति-प्रयोग द्वारा इसका प्रतिषेध करता है, इसलिए वादी का पक्ष 'प्रतिषेध्य' है। प्रतिवादी ने प्रतिषेध्य पक्ष के विषय में प्रश्न किया—अनित्यत्व धर्म शब्द में सदा रहता है? या कभी-कभी? अर्थात् शब्द में अनित्यत्व नित्य है? या अनित्य? जब प्रतिवादी शब्द में अनित्यत्व धर्म को नित्य-सदा रहनेवाला बताता है, तो उसने शब्द के अनित्यत्व को स्वीकार करलिया। क्योंकि वह प्रतिषेध के लिए 'नित्यं अनित्यत्वस्य भावात्' यह हेतु प्रस्तुत कररहा है। जिसका अर्थ है—शब्द में अनित्यत्व धर्म के सदा रहने से। इसके अनुसार जब शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होजाता है, तो 'शब्द अनित्य नहीं है' यह प्रतिषेध असंगत है। यदि हेतु को स्वीकार नहीं करते, अर्थात् शब्द में अनित्यत्व धर्म के सदा रहने से नकार करते हो, तो हेतु का स्वरूप ही नष्ट होजाता है। तब हेतु के अभाव में प्रतिषेध करना अनुपपन्न होगा।

यह भी समझना चाहिये कि उक्त प्रकार से प्रश्न कियाजाना कहांतक युक्त है? प्रश्न है—शब्द का अनित्यत्व धर्म नित्य है? या अनित्य? इसमें समझना यह है कि अनित्य का स्वरूप क्या है? प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होकर पदार्थ का किन्हीं कारणों से कालान्तर में नष्ट होजाना, न रहना—अनित्य का स्वरूप है। शब्द भी उत्पन्न होकर नष्ट होजाता है। तब उसे अनित्य मानकर—शब्द नित्य है, अथवा अनित्य? यह प्रश्न करना ही निराधार है। उत्पन्न शब्द का विनाश होकर अभाव होजाना शब्द का अनित्यत्व है। ऐसी अवस्था में शब्द और अनित्यत्व के आधाराधेयभाव का विभाग बताना वस्तुस्थिति के सर्वथा विरुद्ध है। जब शब्द अनित्य होने के कारण रहा नहीं, तो वहाँ धर्मी एवं धर्म का आधाराधेयभाव कैसा? नित्यत्व और अनित्यत्व परस्पर-विरुद्ध धर्म हैं; एक-धर्मी में विरुद्ध धर्मों का युगपत् रहना असम्भव है। इसलिए प्रतिषेधवादी का उक्त कथन—शब्द में सदा अनित्यत्व रहने से शब्द नित्य है—सर्वथा वस्तुस्थिति के विपरीत एवं असंगत है। फलतः शब्द का अनित्यत्व अबाधित बना रहता है॥ ३६॥

कार्यसम जाति—क्रमप्राप्त 'कार्यसम' जाति का स्वरूप सूत्रकार ने बताया—

प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः॥ ३७॥ (५००)

[प्रत्यत्नानेककार्यत्वात्] प्रयत्न से अनेक कार्यों के होने के कारण (किया-गया प्रतिषेध) [कार्यसमः] कार्यसम नामक जाति है।

प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द अनित्य बताया गया। जो वस्तु प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होती है, वह उत्पत्ति से पहले विद्यमान न थी, यह स्पष्ट है। पहले न रहकर फिर उत्पन्न होना 'उत्पत्ति' का स्वरूप है। वह पदार्थ अनित्य है, जो इसप्रकार होकर (आत्मलाभ कर) फिर नहीं रहता। पदार्थ की इन अवस्थाओं पर ध्यान देते हुए देखाजाता है कि प्रयत्न के अनन्तर जो कार्य होता है, वह अनेक प्रकार का है। घट आदि पदार्थों को प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता देखाजाता है। घट आदि उत्पत्ति से पूर्व नहीं होते; प्रयत्न के अनन्तर आत्मलाभ करते हैं। इससे विपरीत जो पहले से विद्यमान पदार्थ किसी व्यवधान से आवरण से ढँके रहते हैं, प्रयत्न से आवरण आदि हटाकर उन्हें उपलब्ध कियाजाता है। अन्धकार से आवृत पदार्थ भी प्रकाश के आजाने पर प्रकट होजाता है। यह पदार्थ की 'अभिव्यक्ति' है। यहाँ पहले से विद्यमान पदार्थ प्रकट में आता है। ऐसा नहीं कि पहले न रहकर फिर आत्मलाभ करता हो। तब प्रयत्न से कार्य होने के दो प्रकार सामने आये। एक–उत्पत्ति; दूसरा–अभिव्यक्ति। शब्द के विषय में यह वक्तव्य है कि प्रयत्न के अनन्तर कार्यरूप शब्द की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। कार्य समानरूप से प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न भी होता है, अभिव्यक्त भी। शब्द की अभिव्यक्ति मानेजाने से उसका अनित्य होना सिद्ध नहीं होता। इसप्रकार कार्य का आश्रय लेकर वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना 'कार्यसम' जाति का प्रयोग है॥ ३७॥

कार्यसम जाति का उत्तर—कार्यसम-जातिप्रयोग के समाधान का प्रकार आचार्य सूत्रकार ने बताया—

कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणोपपत्तेः॥३८॥ (५०१)

[कार्यान्यत्वे] कार्य से अन्य होने पर (शब्द के) [प्रयत्नाहेतुत्वम्] प्रयत्न की कारणता नष्ट होजाती, अथवा व्यर्थ होजाती है (यह उसी दशा में सम्भव है, जब घटादि स्थिर पदार्थों के व्यवधायक–) [अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः] अनुपलब्धि के कारण (आवरण आदि) उपपन्न होते हैं।

शब्द को यदि प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होनेवाला नहीं मानाजाता, तथा घट, पट आदि स्थिर एवं व्यवहित पदार्थों के समान–व्यवधान के प्रयत्नपूर्वक न रहने पर–अभिव्यक्त मानाजाता है; तो शब्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ होजाता है। वह स्थिर होने पर प्रयत्न के विना निरन्तर सुनाई देते रहना चाहिये; क्योंकि उसकी अनुपलब्धि का कारण कोई आवरण आदि दृष्टिगोचर नहीं होता, न किसी अन्य प्रमाण से वह सिद्ध है। घट आदि स्थिर पदार्थों की जहाँ व्यवधान के अपावरण से अभिव्यक्ति मानीजाती है, वहाँ व्यवधान–भीत

अथवा यवनिका (चिक, परदा) आदि–स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। इसलिए वहाँ घट आदि पदार्थों की उपलब्धिरूप अभिव्यक्ति के लिए प्रयत्न की हेतुता अक्षुण्ण बनी रहती है, वह व्यर्थ नहीं होती। क्योंकि वहाँ प्रयत्न व्यवधान को हटाने में हेतु रहता है। परन्तु शब्द के विषय में किसी आवरण–व्यवधान का अस्तित्व सर्वथा अनुपपन्न है, तब स्थिर शब्द की उपलब्धि के लिए प्रयत्न करना व्यर्थ होगा। परन्तु शब्द की उपलब्धि के लिए व्यवस्थितरूप से प्रयत्न किया-जाता है।[1] यह स्थिति स्पष्ट करती है–प्रयत्न के अनन्तर शब्द आत्मलाभ करता है, अतः वह अनित्य है। फलतः कार्यसम-जातिप्रयोग के द्वारा कियागया शब्दा-नित्यत्व का प्रतिषेध असंगत है ॥ ३८ ॥

षट्पक्षी चर्चा—पक्ष-प्रतिपक्षरूप से कीजाती हुई चर्चा में अनेक बार स्थापनावादी व्यक्ति–प्रतिपक्ष द्वारा कियेगये दोषपूर्ण प्रतिषेध का सदुत्तर न देकर–उस प्रतिषेध का दोषपूर्ण उत्तर देदेता है। ऐसी कथा में सब मिलाकर वादी–प्रतिवादी दोनों को तीन-तीन वार बोलने का अवसर दियाजाता है, अधिक नहीं। क्योंकि ऐसी चर्चा में उपयुक्त शास्त्रीय युक्तिनिरूपण न होकर निरर्थक कथाक्रम रहजाता है। चर्चा की ऐसी स्थिति को 'षट्पक्षी' कहाजाता है। इसमें तीन पक्ष (बोलने के अवसर) वादी के तथा तीन प्रतिवादी के होते हैं। इसी आधार पर इसको उक्त नाम दियागया है। इसका क्रम इसप्रकार है–

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–'शब्द अनित्य है,–प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,–घट आदि के समान। इसके उत्तर में प्रतिवादी कहता है–शब्द के अनित्यत्व में वादी ने जो हेतु–प्रयत्नानन्तरीयकत्व' प्रस्तुत किया, वह अनैकान्तिक है; पूर्णरूप से साध्य का साधक नहीं है। अथवा प्रतिवादी इसप्रकार उत्तर देता है–शब्द के अनित्यत्व पक्ष को मानने पर 'प्रयत्नानन्तरीयकत्व' हेतु शब्द की उत्पत्ति को प्रकट करता है, अभिव्यक्ति को नहीं; इसमें कोई विशेष-हेतु नहीं है; जिससे शब्द की उत्पत्ति मानीजाय, अभिव्यक्ति न मानीजाय। प्रतिवादी द्वारा ऐसा आक्षेप कियेजाने पर यदि वादी का उत्तर है–

प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः ॥ ३९ ॥ (५०२)

[प्रतिषेधे] प्रतिषेध में [अपि] भी [समानः] समान [दोषः] दोष है।

तो वादी का यह उत्तर भी प्रतिवादी के समान दोषपूर्ण है। प्रतिवादी के आक्षेप का उत्तर स्थापनावादी इसरूप में प्रस्तुत करता है–यदि मेरे पक्ष में

---

१. **आत्मा बुद्ध्या समेत्याऽर्थान् मनो युंक्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम्।
मारुतस्तूच्चरन् मन्दं ततो जनयति स्वरम् ॥ [वर्णोच्चारण शिक्षा]**

अनैकान्तिक दोष है, तो तुम्हारे द्वारा कियेगये प्रतिषेध में भी अनैकान्तिक दोष है। वह कुछ प्रतिषेध करता है, कुछ नहीं। अनैकान्तिक होने से तुम्हारे अभिमत अर्थ का असाधक है। अथवा, शब्द के नित्यत्व पक्ष में भी प्रयत्न के अनन्तर शब्द की अभिव्यक्ति होती है, उत्पत्ति नहीं; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। यदि प्रयत्न से पदार्थ की अभिव्यक्ति मानीजाती है, तो उत्पत्ति भी क्यों न मानीजाय ?

इसप्रकार का कथन दोनों पक्षों में समान है। दोनों के लिए विशेष हेतु का अभाव समान है, तथा दोनों अनैकान्तिक हैं। वादी ने प्रतिवादी के आक्षेप का उसीके समान उत्तर देने में अपने हेतु को अनैकान्तिक, तथा अपने पक्ष की पुष्टि में विशेष हेतु के अभाव को स्वीकार कर लिया। फलतः यदि प्रतिवादी का उत्तर दोषपूर्ण है, तो उसके समाधान में वादी के द्वारा दियागया उत्तर भी उसीप्रकार दोषपूर्ण है ॥ ३९ ॥

इसप्रकार की चर्चा का होना प्रत्येक जाति के प्रयोग में सम्भव है, आचार्य सूत्रकार ने इसका अतिदेश किया—

सर्वत्रैवम् ॥ ४० ॥ (५०३)

[सर्वत्र] समस्त जाति-प्रयोगों में [एवम्] इसप्रकार (समान दोष का उद्भावन करने) की चर्चा का उभर आना सम्भव है।

साधर्म्यसम आदि समस्त जाति-प्रयोगों में प्रतिवादी द्वारा दियेगये वादी के उत्तर का–यदि वादी उसीके कथन के अनुरूप अपना–समाधान प्रस्तुत करता है, तो दोनों पक्ष समानरूप से दोषपूर्ण रहते हैं ॥ ४० ॥

चर्चा की ऐसी स्थिति को आचार्य सूत्रकार ने स्पष्ट किया—

प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥ ४१ ॥ (५०४)

[प्रतिषेधविप्रतिषेधे] प्रतिषेध का (उसी के अनुरूप) विप्रतिषेध करने पर [प्रतिषेधदोषवत्] प्रतिषेध में दोष के समान [दोषः] दोष होता है (विप्रतिषेधमें)।

स्थापनावादी के पक्ष में अनैकान्तिकत्व आदि किसी दोष का उद्भावन कर प्रतिवादी उसके पक्ष का प्रतिषेध करता है। अनन्तर स्थापनावादी उसका उत्तर देते हुए यदि प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध में उसीके अनुरूप 'अनैकान्तिकत्व' आदि दोष का उद्भावन करता है, तो वादी द्वारा प्रस्तुत इस–प्रतिषेध के प्रतिषेध–में भी समान दोष है। ऐसी चर्चा को छह पक्षों (बोलने के पर्यायों) को इसप्रकार समझना चाहिए—

षट्पक्षी चर्चा का प्रकार—वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–'शब्द अनित्य है,—प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से,—घट आदि के समान।' इसप्रकार साधनवादी के द्वारा अपने पक्ष की स्थापना करना–**'प्रथम पक्ष'** है।

यहाँ छह पक्षों को समझाने अथवा स्पष्ट करने के लिए स्थापना-पक्ष के प्रतिषेध करने की भावना से समीप होने के कारण उदाहरणरूप में 'कार्यसम' जाति का प्रयोग करलेते हैं। वैसे वक्ता की इच्छानुसार अथवा योग्यता व जानकारी आदि के आधार पर प्रत्येक जाति-प्रयोग में इसका उपयोग होसकता है।

वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिवादी जाति-प्रयोग द्वारा प्रतिषेध करता है-'शब्द नित्य है, उत्पन्न[1]-प्रध्वंसी न होकर स्थिर है,-प्रयत्न के अनन्तर होने से,-व्यवहित घट आदि के समान।' स्थापनावादी द्वारा प्रस्तुत हेतु में अनैकान्तिकत्व अथवा विशेष हेत्वभाव आदि दोष की उद्भावना से स्थापनापक्ष का प्रतिषेध करनेवाले दूषणवादी का यह कथन प्रस्तुत चर्चा में **'द्वितीय पक्ष'** है। सूत्र में इसी को 'प्रतिषेध' पद से कहागया है; अथवा इसीको अभिव्यक्त करने के लिए सूत्र में 'प्रतिषेध' पद का प्रयोग हुआ है।

प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु–उत्पन्न होकर नष्ट होजानेरूप (उत्पन्न-प्रध्वंसित्व रूप)–अनित्यत्व का ऐकान्तिकरूप से साधक नहीं है, क्योंकि यह चिरस्थायी व्यवहित घट आदि पदार्थों की अभिव्यक्ति में भी हेतु रहता है। अथवा, प्रयत्न के अनन्तर वस्तु की उत्पत्ति होती है, अभिव्यक्ति नहीं; इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। इसप्रकार स्थापना-पक्ष में 'अनैकान्तिकत्व' अथवा 'विशेष हेत्वभाव'-दोष का उद्भावन कर प्रतिवादी ने उसका प्रतिषेध किया। चर्चा में प्रतिवादी का यह प्रथम पर्याय 'द्वितीय पक्ष' है।

प्रतिवादी ने जो दोष स्थापनावादी के पक्ष में उभारे, उसका उत्तर देने के लिए स्थापनावादी उन्हीं दोषों को प्रतिवादी के पक्ष में प्रकट करता हुआ जब कहता है–यह 'अनैकान्तिकत्व' अथवा 'विशेषहेत्वभाव'-दोष तुम्हारे द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध-पक्ष में भी समान है। यह चालू चर्चा में **'तृतीय पक्ष'** है। सूत्र में इसको 'विप्रतिषेध' पद से कहागया है। चर्चा में स्थापनावादी के बोलने का यह 'द्वितीय पर्याय' अथवा दूसरा अवसर है।

इसका उत्तर देते हुए प्रतिवादी जब यह कहता है–तुम्हारे इस विप्रतिषेध में भी तो अनैकान्तिकत्व आदि दोष उसीप्रकार विद्यमान हैं। चालू चर्चा में यह **'चतुर्थ पक्ष'** है। यह प्रतिवादी के बोलने का दूसरा अवसर अथवा द्वितीय पर्याय है ॥ ४१ ॥

---

१. **न्याय-सिद्धान्त में शब्द को 'द्विक्षणावस्थायी' मानाजाता है। इसीको 'उत्पन्न-प्रध्वंसी' कहते हैं। प्रथम क्षण में शब्द उत्पन्न हुआ, दूसरे क्षण में ठहारा, तीसरे में नष्ट होजाता है। शब्द की इसी स्थिति को प्रकृत में 'अनित्य' पद से कहागया है।**

षट्पक्षी का पञ्चम पक्ष—चर्चा के चार पक्ष स्पष्ट होजाने पर सूत्रकार पञ्चम पक्ष का निर्देश करता है–

प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ।। (४२ ।। (५०५)

[प्रतिषेधम्] प्रतिषेध–(द्वितीय पक्ष) [सदोषम्] दोषसहित को [अभ्यु-पेत्य] स्वीकार करके [प्रतिषेधविप्रतिषेधे] प्रतिषेध के विप्रतिषेध में (तृतीयपक्ष में, अर्थात् दूसरी बार बोलते हुए चतुर्थपक्ष से आपने [समानः] समान (जो दोष द्वितीयपक्ष में, तृतीयपक्ष से बोलते हुए स्थापनावादी ने बताया, उसके समान) [दोषप्रसंगः] दोष प्रसक्त करना [मतानुज्ञा] मतानुज्ञा है, दूसरे के मत को स्वीकार करलेना है। (यह निग्रहस्थान में आने का अवसर है; यह **'पंचमपक्ष'** है)।

पञ्चम पक्ष में चर्चा-प्रसंग से अपने बोलने की तीसरी वारी में स्थापना-वादी कहरहा है–तृतीयपक्ष से बोलते हुए (बोलने की अपनी दूसरी वारी में) मैंने प्रतिषेध (प्रतिवादी के बोलने की पहली वार में द्वितीयपक्ष से कियेगये स्थापना के प्रतिषेध) को अनैकान्तिक आदि दोष-सहित बताया। चतुर्थ पक्ष से बोलते हुए अपने बोलने की दूसरी वारी में प्रतिवादी ने अपने प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को सदोष स्वीकार करलिया, उस दोष का उद्धार तो किया नहीं; मेरे तृतीय पक्ष में वही दोष प्रसक्त करदिया। इसप्रकार प्रतिवादी द्वारा अपने प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को उस दोष से युक्त मानलेना–जिसे स्थापनावादी ने उद्घाटित किया–'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान का अवसर दूषणवादी के लिये आजाता है। इसका तात्पर्य है–अपने विरुद्ध कही बात का प्रत्याख्यान न कर उसे स्वीकार करलेना। ऐसा वक्ता चर्चा-प्रसंग में निगृहीत होकर आगे बोलने का अपना अधिकार खोबैठता है। यह **'पञ्चम पक्ष'** है, जिसमें स्थापनावादी षट्पक्षी चर्चा के प्रसंग से तीसरी वार बोलने का अवसर प्राप्त करता है ।। ४२ ।।

षट्पक्षी का षष्ठ पक्ष—षट्पक्षी चर्चा के पञ्चम पक्ष का निर्देश कर सूत्रकार ने षष्ठ पक्ष का स्वरूप बताया—

स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्ष-दोषाभ्युपगमात् समानो दोषः ।। ४३ ।। (५०६)

[स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहारे] अपने पक्ष से लक्षित जाति-प्रयोग से उभरे पक्ष की सिद्धि को बताने वाले [हेतुनिर्देशे] हेतुनिर्देश में (पञ्चम पक्ष में) [परपक्षदोषाभ्युपगमात्] पर पक्ष के दोष का स्वीकार करलेने से [समानः] समान [दोषः] दोष है (चतुर्थ पक्ष के समान पञ्चम पक्ष में भी मतानुज्ञा दोष है; यह प्रतिवादी द्वारा कहागया षट्पक्षी चर्चा का 'षष्ठ पक्ष' है)।

जो मतानुज्ञा दोष स्थापनावादी ने पञ्चम पक्ष द्वारा प्रतिवादी के चतुर्थ पक्ष में प्रकट किया, वही मतानुज्ञा-दोष प्रतिवादी ने षष्ठ पक्ष द्वारा स्थापनावादी के तृतीय पक्ष में बताया। यह भाव सूत्रपदों से कैसे अभिव्यक्त होता है, यह समझना चाहिये।

'स्वपक्ष' स्थापनावादी द्वारा स्थापित प्रथम पक्ष है–उससे लक्षित जातिप्रयोग द्वितीय पक्ष है। जब वादी प्रथम अपने पक्ष की स्थापना करता है, उसीपर आधारित प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है। इसलिए स्वपक्ष से लक्षित-प्रेरित-उत्थापित होने से 'स्वपक्षलक्षण' जाति का प्रयोग हुआ। इसप्रकार 'स्वपक्ष'- प्रथमपक्ष, तथा 'स्वपक्षलक्षण'–द्वितीय पक्ष, जातिप्रयोग। उसकी अपेक्षा से होनेवाला पक्ष 'तृतीय पक्ष' हुआ। जाति का प्रयोग होने पर स्थापनावादी तृतीय पक्ष से उसका उत्तर देता है, इसलिए तृतीय पक्ष–'स्वपक्षलक्षणापेक्ष' हुआ। उसकी उपपत्ति का उपसंहार–सिद्धि का कथन–पञ्चम पक्ष द्वारा किया-गया। अतः 'स्वपक्षलक्षणापेक्षोपपत्त्युपसंहार' हुआ पञ्चमपक्ष।

'पञ्चम पक्ष' स्थापनावादी के द्वारा प्रस्तुत होता है। स्थापनावादी यहाँ अपने द्वारा प्रस्तुत 'तृतीय पक्ष' की पुष्टि के लिए कथन करता है। प्रतिवादी ने 'द्वितीय पक्ष' द्वारा 'प्रथम पक्ष' में अनैकान्तिकत्व आदि दोष प्रकट किया। स्थापनावादी ने वही दोष 'तृतीय पक्ष' से 'द्वितीय पक्ष' में बताया। अनन्तर प्रतिवादी ने 'चतुर्थ पक्ष' में उसी दोष को 'तृतीय पक्ष' में निर्दिष्ट किया। तब 'तृतीय पक्ष' की पुष्टि के लिए 'पञ्चम पक्ष' द्वारा स्थापनावादी कहता है–तृतीय पक्ष से प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में जो दोष प्रकट कियागया, उसका समाधान न कर प्रतिवादी ने उसी दोष को चतुर्थ पक्ष द्वारा तृतीय पक्ष में बतादिया। इससे स्पष्ट होता है–द्वितीय पक्ष में परपक्ष (स्थापनावादी) द्वारा प्रस्तुत दोष को प्रतिवादी ने स्वीकार किया, अतः यह मतानुज्ञानिग्रहस्थान का अवसर आजाता है।

स्थापनावादी के इस कथन पर प्रतिवादी 'षष्ठ पक्ष' के रूप में कहता है–पञ्चम पक्ष से स्थापनावादी ने जो दोष प्रतिवादी पर निर्दिष्ट किया, वह ठीक उसीप्रकार स्थापनावादी पर भी लागू होता है। द्वितीय पक्ष से प्रथम पक्ष में अनैकान्तिकत्व दोष प्रकट कियागया। उसका समाधान न करके प्रथमपक्षवादी (स्थापनावादी) ने उसी दोष को तृतीय पक्ष द्वारा प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में दिखाया। इससे स्पष्ट होता है–परपक्ष (द्वितीयपक्ष) द्वारा दिखायेगये प्रथमपक्ष-गत दोष को स्थापनावादी ने स्वीकार करलिया। इसलिए वह भी मतानुज्ञा निग्रहस्थान की लपेट में आजाने से समान दोष का भागी है। चालू षट्पक्षी चर्चा में यह **'षष्ठ पक्ष'** है।

ऐसी चर्चा में वादी-प्रतिवादी द्वारा एक-दूसरे पर केवल आरोप-प्रत्यारोप चलता है, आक्षेप के सदुत्तर दियेजाने का प्रयास नहीं होता। इसलिए 'षष्ठ

पक्ष' तक आकर चर्चा को समाप्त करदियाजाता है। इसमें प्रथम, तृतीय, पंचम पक्ष स्थापनावादी के होते हैं, तथा द्वितीय, चतुर्थ, षष्ठ पक्ष प्रतिषेधवादी अथवा प्रतिवादी के होते हैं। इनकी साधुता-असाधुता का विचार करने पर स्पष्ट हो-जाता है--चतुर्थ और षष्ठ पक्ष समान रूप से पुनरुक्त-दोषयुक्त रहते हैं। चतुर्थ पक्ष में परपक्ष की समान-दोषता कहीजाती है (सूत्र, ४१)। तथा षष्ठ पक्ष में भी परपक्ष के स्वीकार से समान दोष का निर्देश कियाजाता है (सूत्र ४३)।

इसीप्रकार तृतीयपक्ष और पञ्चमपक्ष में समानरूप से पुनरुक्त-दोष सामने आता है। तृतीय पक्ष में यह बात कही गई–'प्रतिषेध में भी समान दोष है (सूत्र ३९)'–यहाँ दोष की समानता को स्वीकार कियागया है। पञ्चमपक्ष में भी 'प्रतिषेध के विप्रतिषेध में समान दोष है (सूत्र ४१)'–यह कहकर प्रतिषेध के दोष को स्वीकार करलियागया है। दोनों पक्षों में वही एकबात कहीजाने से पुनरुक्त-दोष स्पष्ट होता है। किसी विशेष अर्थ का कथन यहाँ नहीं है। इस-प्रकार पञ्चमपक्ष और षष्ठपक्ष में एक ही बात को दोहराने से पुनरुक्त-दोष, तथा तृतीयपक्ष और चतुर्थपक्ष में विरोधी पक्ष को स्वीकार करने से मतानुज्ञा, एवं प्रथम-द्वितीय पक्ष में स्वपक्ष-साधक विशेष हेतु का अभाव रहता है। इस-प्रकार षट्पक्षी चर्चा में स्थापनापक्ष और प्रतिषेधपक्ष दोनों में से किसी पक्ष की सिद्धि नहीं होती; दोनों असिद्ध मानेजाते हैं।

षट्पक्षी चर्चा उसी दशा में प्रवृत्त होती है, जब स्थापनावादी अपने पक्ष पर जाति-प्रयोग का सदुत्तर न देकर प्रतिवादी पर समान दोष का आरोप करने लगता है। इस अवस्था में दोनों पक्ष असिद्ध रहते हैं। यदि स्थापनापक्ष पर हुए जाति के प्रयोग का स्थापनावादी सदुत्तर देता है, जैसे 'कार्यसम' जातिप्रयोग (सूत्र, ३७) का उत्तर अगले सूत्र से दिखायागया है, तो आगे प्रतिवादी को बोलने का अवसर न रहने से षट्पक्षी चर्चा प्रवृत्त नहीं होती। प्रथमपक्ष (स्थापनापक्ष) और द्वितीयपक्ष (प्रतिषेधपक्ष) के प्रस्तुत होजाने पर तृतीयपक्ष से स्थापनावादी यदि जातिप्रयोगरूप प्रतिषेध का समाधान यथार्थरूप से करदेता है, और जाति के प्रयोग को विशेषहेतुनिर्देशपूर्वक स्पष्ट बतादेता है, तो स्थापनावादी का प्रथम पक्ष सिद्ध होजाता है, षट्पक्षी का आगे कोई अवसर नहीं रहता ॥ ४३ ॥

इति श्रीगौतमीयन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
पञ्चमाध्यायस्य प्रथममाह्निकम् ।

अथ पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्

पञ्चावयवनिर्देशपूर्वक पक्ष की स्थापना होजाने पर उसमें विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति के विविध प्रकार होने के कारण जाति और निग्रहस्थान के अनेक भेद होजाते है, यह संक्षेप से प्रथम [१ । २ । २०] सूत्रकार ने बताया । उसी-के अनुसार गत आह्निक में चौबीस जाति-प्रयोगों का विवरण विस्तार के साथ कियागया है । उसके अनन्तर प्रस्तुत आह्निक में निग्रहस्थानों का निरूपण कर्त्तव्य है ।

निग्रहस्थान पराजय का अवसर—निश्चय ही निग्रहस्थान चर्चा में पराजय का सूचक मानाजाता है । जब चर्चा के अवसर पर कोई वक्ता अपने विरोधीज्ञान अथवा अज्ञान के कारण प्रतिपक्ष का सदुत्तर नहीं देपाता, तब उसके लिए यह अवसर आजाता है । कथाप्रसंग में ऐसी स्थिति प्रतिज्ञा आदि अवयवों के आधार पर उभर आती है, अथवा उभारलीजाती है । इसमें तत्त्ववादी और अतत्त्ववादी दोनों घिर सकते है । तात्पर्य है–यह आवश्यक नहीं कि इस लज्जास्पद अवसर का शिकार अतत्त्ववादी ही हो; कभी तत्त्ववादी भी इसकी लपेट में आजाता है । यथावसर यह स्पष्ट होजायगा । आचार्य सूत्रकार अब निग्रहस्थानों का विभाग बताता है—

प्रतिज्ञाहानिः प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थकमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ।। १ ।। (५०७)

[प्रतिज्ञाहानिः······हेत्वाभासाः] प्रतिज्ञाहानि, प्रतिज्ञान्तर, प्रतिज्ञा-विरोध, प्रतिज्ञासंन्यास, हेत्वन्तर, अर्थान्तर, निरर्थक, अविज्ञातार्थ, अपार्थक, अप्राप्तकाल, न्यून, अधिक, पुनरुक्त, अननुभाषण, अज्ञान, अप्रतिभा, विक्षेप, मतानुज्ञा, पर्यनुयोज्योपेक्षण, निरनुयोज्यानुयोग, अपसिद्धान्त, हेत्वाभास [च] तथा [निग्रहस्थानानि] निग्रहस्थान हैं ।

बाईस निग्रहस्थान—प्रतिज्ञाहानि से प्रारम्भ कर हेत्वाभास-पर्यन्त निग्रह-स्थानों की संख्या बाईस है । आगे समस्त आह्निक में एक-एक निग्रहस्थान का यथाक्रम लक्षण प्रस्तुत कियागया है ।। १ ।।

प्रतिज्ञाहानि—सर्वप्रथम आचार्य सूत्रकार ने प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान का लक्षण बताया—

प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥ २ ॥ (५०८)

[प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा] विरोधी दृष्टान्त के धर्म को स्वीकार करलेना [स्वदृष्टान्ते] अपने दृष्टान्त में, [प्रतिज्ञाहानिः] यह प्रतिज्ञाहानि नामक निग्रह-स्थान है।

वादी अपने प्रतिज्ञात अर्थ की पञ्चावयव वाक्य द्वारा स्थापना करता है—शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा); इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु); जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे चक्षु-इन्द्रिय से ग्राह्य अनित्य घट (व्याप्तिनिर्देश-पूर्वक दृष्टान्त); शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रिय से ग्राह्य होता है (उपनय); अतः वह इन्द्रियग्राह्य घट के समान अनित्य है (निगमन)।

स्थापनावादी द्वारा इसप्रकार अपना पक्ष स्थापित करदेने पर उसके विरोध में प्रतिवादी कहता है—शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा); इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु); जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह नित्य होता है, जैसे चक्षु आदि इन्द्रियग्राह्य सामान्य-घटत्व आदि जाति, (दृष्टान्त); शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रियग्राह्य है (उपनय); अतः सामान्य के समान नित्य है।

प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष का प्रतिषेध होनेपर यदि स्थापनावादी यह कहने लगे—'जैसे इन्द्रियग्राह्य सामान्य नित्य है, भले ही उसीप्रकार घट नित्य रहो।' इसप्रकार कहता हुआ स्थापनावादी अपने पक्ष के साधक दृष्टान्त में विरोधी दृष्टान्त के नित्यत्व धर्म को स्वीकार करता हुआ प्रतिज्ञादि निगमन-पर्यन्त पञ्चावयव वाक्य से साधनीय पक्ष को छोड़ बैठता है। अपने पक्ष के उपपादन द्वारा जिस प्रतिज्ञा को सिद्ध करना चाहता था, उसीकी हानि करलेता है। यह उसके पराजय का स्थान है।

यदि स्थापनावादी प्रतिवादी के कथन का यह कहकर उत्तर देता है कि इन्द्रियग्राह्यत्वरूप नित्यानित्यसमान धर्म से घट का नित्यत्व सिद्ध नहीं होसकता; क्योंकि कृतकत्व अथवा प्रयत्नानन्तरीयकत्व विशेष धर्म से घट का अनित्यत्व प्रमाणित है, तथा उसके समान शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है। ऐसी दशा में प्रति-वादी का पक्ष पराहत होजाता है, तथा स्थापनावादी के निगृहीत होने का अवसर नहीं रहता ॥ २ ॥

प्रतिज्ञान्तर—प्रतिज्ञाहानि के अनन्तर सूत्रकार ने 'प्रतिज्ञान्तर' निग्रह-स्थान का स्वरूप बताया—

प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥ ३ ॥ (५०९)

[प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे] प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध कियेजाने पर (प्रतिवादी

के द्वारा), [धर्मविकल्पात्] धर्म के विविध प्रकार से अर्थात् धर्मभेद से [तद्-अर्थनिर्देशः] उस (प्रतिज्ञात) अर्थ (की सिद्धि) के लिए निर्देश करना (धर्म-विकल्प का) [प्रतिज्ञान्तरम्] प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान होता है।

स्थापनावादी का प्रतिज्ञात अर्थ है–शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, घट के समान। प्रतिवादी इस अर्थ का प्रतिषेध करता है–शब्द नित्य है, इन्द्रिय-ग्राह्य होने से, सामान्य की तरह। इसप्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध कियेजाने पर, स्थापनावादी दृष्टान्त (घट) और प्रतिदृष्टान्त (सामान्य) में इन्द्रिय-ग्राह्यत्व समानधर्म को मानते हुए कहता है–इनमें यथाक्रम 'असर्वगतत्व' और 'सर्वगतत्व' धर्मभेद भी है। घट असर्वगत (एकदेशी) तथा सामान्य सर्वगत (व्यापी) होता है। अपने पूर्वप्रतिज्ञात अर्थ–शब्द के अनित्य–की सिद्धि के लिए वह अब घट के असर्वगत होने का निर्देश करता है। उसका तात्पर्य है–घट असर्व-गत है, तथा शब्द भी असर्वगत है। इसप्रकार असर्वगत शब्द को असर्वगत घट के समान अनित्य मानना चाहिए। सर्वगत सामान्य के समान नित्य नहीं।

इस कथाप्रसंग में पहली प्रतिज्ञा है–शब्द अनित्य है। जब प्रतिवादी ने सामान्य में हेतु को अनैकान्तिक बताकर उसका प्रतिषेध किया, तो उसको प्रतिषेध से बचाने के लिए वादी दूसरी प्रतिज्ञा करता है–शब्द असर्वगत है। यह 'प्रतिज्ञान्तर' नामक निग्रहस्थान होता है।

यह पूर्वप्रतिज्ञा को बचाने के लिए उपयोगी होनेपर भी निग्रहस्थान क्यों मानागया? निग्रहस्थान होने का कारण है–इसका निरर्थक प्रयोग। किसी साध्य की सिद्धि के लिए साधनरूप में हेतु एवं दृष्टान्त का उपयोग कियाजाता है। प्रतिज्ञा किसी अन्य प्रतिज्ञा का साधन नहीं होता। इसलिए इस रूप में उसका प्रयोग व्यर्थ है, इसीकारण वह निग्रहस्थान है। यदि स्थापनावादी प्रतिषेध का प्रतीकार शब्द व घट के विशेष धर्म कृतकत्व के आधार पर करदेता है, तो प्रति-दृष्टान्त सामान्य प्रतिषेध के करने में पराहत होजाता है। ऐसा सदुत्तर न देकर अन्य प्रतिज्ञा द्वारा पक्ष को बचाने की प्रवृत्ति वक्ता के ज्ञानशैथिल्य अथवा प्रतिभाशैथिल्य को प्रकट करती है। यह दशा निगृहीत होने का अवसर है॥ ३॥

प्रतिज्ञाविरोध—क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञाविरोध' का लक्षण आचार्य ने किया—

प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः॥ ४॥ (५१०)

[प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः] प्रतिज्ञा और हेतु परस्पर जहाँ विरुद्ध हों, वह [प्रतिज्ञाविरोधः] प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान होता है।

स्थापनावादी प्रतिज्ञा करता है–'द्रव्य, गुणादि पदार्थों से अतिरिक्त है।' उसकी सिद्धि के लिए हेतु देता है–'रूप आदि गुणों से भिन्न किसी पदार्थ के

उपलब्ध न होने से'। यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध है। यदि गुण आदि से अतिरिक्त द्रव्य पदार्थ है, तो 'रूपादि गुणों से भिन्न पदार्थ की उपलब्धि का न होना' उपपन्न नहीं होता। क्योंकि गुणों से अतिरिक्त द्रव्य यदि है, तो वह रूपादि गुणों से भिन्न अवश्य उपलब्ध होगा; उसकी अनुपलब्धि कैसे ? यदि हेतु-निर्देश के अनुसार रूपादि गुणों से भिन्न कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, तो गुणादि से अतिरिक्त द्रव्य के होने की प्रतिज्ञा करना निराधार होजाता है। इसप्रकार स्थापनावादी द्वारा प्रयुक्त इन प्रतिज्ञा और हेतु का परस्पर विरोध है। चर्चा में ऐसा प्रयोग करनेवाला वक्ता 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत एवं पराजित मानाजाता है।

इस पराजय में आधार यही है कि वाक्य में हेतु वह होना चाहिये, जो प्रतिज्ञात साध्य अर्थ का साधक हो। परन्तु यहाँ साधक होने की जगह उल्टा वह उसका विरोध करता है ॥ ४ ॥

प्रतिज्ञासंन्यास—क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञासंन्यास' निग्रहस्थान का सूत्रकार ने स्वरूप बताया—

पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥ ५ ॥(५११)

[पक्षप्रतिषेधे] स्थापित पक्ष का प्रतिषेध कियेजानेपर [प्रतिज्ञातार्थापनयनम्] प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ बैठना (उसके कहेजाने से नकार कर देना) [प्रतिज्ञासंन्यासः] प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान है।

स्थापनावादी अपने पक्ष की स्थापना करता है–'शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से'। प्रतिवादी नित्य, इन्द्रियग्राह्य 'सामान्य' का उदाहरण देकर इसका प्रतिषेध करता है–'शब्द नित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, सामान्य के समान'। नित्य 'सामान्य' इन्द्रियग्राह्य है, तब इन्द्रियग्राह्य शब्द भी नित्य होना चाहिए।

इस प्रतिषेध से घबड़ाकर सदुत्तर न दियेजाने की दशा में स्थापनावादी कह उठता है–'यह किसने कहा–शब्द अनित्य है ?' शब्द की अनित्यता से नकार कर अपने पूर्व-प्रतिज्ञात अर्थ 'शब्द अनित्य है' का अपलाप करदेता है। चर्चा में ऐसा कथन 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान है। वक्ता मानो अपनी 'प्रतिज्ञा' से 'संन्यास' लेलेता है ॥ ५ ॥

हेत्वन्तर निग्रहस्थान—आचार्य सूत्रकार क्रमप्राप्त 'हेत्वन्तर' का लक्षण करता है—

अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥ ६ ॥ (५१२)

[अविशेषोक्ते] सामान्यरूप से प्रयुक्त [हेतौ] हेतु का [प्रतिषिद्धे] प्रतिषेध कियेजाने पर [विशेषम्] विशेष हेतुप्रयोग को [इच्छतः] चाहते हुए

अथवा करते हुए वक्ता का ऐसा कथन [हेत्वन्तरम्] हेत्वन्तर नामक निग्रहस्थान मानाजाता है।

स्थापनावादी अपने पक्ष की सिद्धि के लिए स्थापना करता है-'यह समस्त व्यक्त जगत् एक प्रकृति (उपादानतत्त्व) से उत्पन्न है'। इसके लिए हेतु देता है-'परिमाण; अर्थात् परिमित होने से'। एक मिट्टी के विकार शकोरा, घड़ा, रहट की डोलची, मटका आदि सब परिमित हैं। जितना सीमित उपादान-तत्त्व है, उसीके अनुसार विकार की रचना होती है। इसप्रकार समस्त विकार परिमाण से युक्त देखाजाता है। जितना व्यक्त पदार्थ है, उस सबके परिमाणयुक्त होने के कारण समस्त विकार किसी एक प्रकृति (उपादानतत्त्व) से उत्पन्न होता है, यह सिद्ध होजाता है।

ऐसी स्थापना कियेजाने पर प्रतिवादी प्रतिषेध करता है-एकप्रकृतिक घड़ा, शकोरा आदि के समान नानाप्रकृतिक घड़ा, कड़ा (आभूषण) आदि विकारों को भी परिमाणयुक्त देखाजाता है। इसलिए यह आवश्यक नहीं कि एकप्रकृतिक विकारों में ही परिमाण रहता हो। नानाप्रकृतिक घट-रुचक आदि विकारों में भी परिमाण होने से उक्त हेतु अनैकान्तिक है।

इसप्रकार प्रतिषेध कियेजाने पर वादी उक्त हेतु में संशोधन प्रस्तुत करता है-केवल परिमाण से नहीं, प्रत्युत एकप्रकृति का समन्वय होने पर विकारों के परिमित देखेजाने से उनकी एकप्रकृतिकता (एकस्वभाव उपादान से उत्पत्ति) सिद्ध होती है। प्रस्तुत प्रसंग में 'प्रकृति' पद का अर्थ 'कार्य-कारण का समान स्वभाव' समझना चाहिये। ऐसा उपादानतत्त्व जो एक स्वभाव से समन्वित होता हुआ परिमाण से युक्त हो। समस्त व्यक्त एवं परिमित विकार सुख-दुःख-मोहस्वभाव से समन्वित जानाजाता है। इसलिए वह सब एकप्रकृतिक (सुख-दुःख-मोहात्मक एक उपादानतत्त्व से उत्पन्न) है। प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत नानाप्रकृतिक घट-रुचक आदि के उदाहरण में परिमाण-योग होने पर भी इन विकारों के उपादानतत्त्व मृत्तिका-सुवर्ण में एकस्वभाव का समन्वय नहीं है। ये दोनों परस्पर भिन्नस्वभाव उपादान हैं; अतः इनके सहारे उक्त हेतु में अनैकान्तिकता-दोष का उद्भावन निराधार है। घड़ा, शकोरा आदि एकप्रकृतिक हैं, क्योंकि उनका उपादान मृत्तिका समानस्वभाव से समन्वित है। रुचक, कुण्डल आदि एकप्रकृतिक हैं, क्योंकि इनका उपादानतत्त्व सुवर्ण समानस्वभाव से समन्वित है। इसीप्रकार समस्त विश्वरूप विकार एकप्रतिक है, क्योंकि उसका उपादानतत्त्व (प्रकृति) सुख-दुःख-मोहात्मक एकस्वभाव से समन्वित है। यह भाव विकारमात्र में समानरूप से अनुगत है। प्रकृति के एक होने का तात्पर्य यह है-सुख-दुःख-मोहरूप उपादानतत्त्व में अन्य किसीप्रकार के उपादानतत्त्व का संमिश्रण नहीं है।

प्रस्तुत प्रसंग में हेत्वन्तर निग्रहस्थान का यह किसप्रकार उदाहरण है, समझना चाहिये। वादी, पक्ष की स्थापना के समय केवल 'परिमाणात्' हेतु प्रस्तुत करता है। अनन्तर प्रतिवादी के द्वारा हेतु में अनैकान्तिक-दोष की उद्भावना करने पर उसके प्रतीकार के लिए 'एकप्रकृतिसमन्वये सति' यह विशेषण देकर संशोधन प्रस्तुत करता है। इससे स्पष्ट है--पहले प्रस्तुत कियागया हेतु अपने साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ रहा, यह वादी को स्वीकार्य हुआ। इसीकारण उसने प्रथम हेतु के स्थान पर अन्य हेतु प्रस्तुत किया। विशेषण देने से हेतु का स्वरूप बदल जाता है। पहले साधारणरूप में हेतु का निर्देश है, अनन्तर विशेषरूप में। पहले हेतु में साधनाभाव का अनुभव होना निग्रहस्थान का प्रयोजक है ॥ ६ ॥

अर्थान्तर-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

प्रकृतादर्थादप्रतिसंबद्धार्थमर्थान्तरम् ॥ ७ ॥ (५१३)

[प्रकृतात्] प्रसंगप्राप्त [अर्थात्] अर्थ से [अप्रतिसंबद्धार्थम्] असंबद्ध अर्थ का कथन करना [अर्थान्तरम्] 'अर्थान्तर' नामक निग्रहस्थान है।

अपने पक्ष और प्रतिपक्ष को स्वीकार कर जब वादी-प्रतिवादी चर्चा प्रारम्भ करते है, तब कोई एक वक्ता अपने पक्ष की स्थापना करता है—'शब्द नित्य है' यह मेरी प्रतिज्ञा है। 'स्पर्शरहित होने से' यह हेतु है। इतना कहकर 'हेतु' पद का निर्वचन करने लगता है—'हेतु' यह नाम पद है, 'हिनोति' धातु से 'तुन्' प्रत्यय करके कृदन्तपद के रूप में सिद्ध होता है। 'पद' चार प्रकार के होते हैं—नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात। आगे नाम आख्यात आदि की व्याख्या प्रारम्भ करदेता है। प्रस्तुत चर्चा के मुख्य विषय की सिद्धि के लिए जिसका कोई उपयोग नहीं होता। इसप्रकार चालू चर्चा में अनुपयोगी अन्य अर्थ का कथन करते जाना 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान कहाजाता है।

चर्चा के समय जब कोई वक्ता अपने बोलने का अवसर पाता है और अपने स्थापित पक्ष को प्रमाणपूर्वक सिद्ध करने के लिए स्वयं को असमर्थ पाता है, तब अपने बोलने के समय को पूरा करने तथा श्रोताओं एवं प्रतिवादी के सन्मुख चुप न होजाने, कुछ-न-कुछ बोलते रहने की भावना से इस निग्रहस्थान की प्रवृत्ति होती है ॥ ७ ॥

निरर्थक-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'निरर्थक' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥ ८ ॥ (५१२)

[वर्णक्रमनिर्देशवत्] वर्णों का क्रम से कथनमात्र करना [निरर्थकम्] निरर्थक नामक निग्रहस्थान है।

वादी कहता है–क च ट त प शब्द नित्य हैं, ज ब ग ड द श होने से, झ भ घ ढ ध प के समान। चर्चा में इसप्रकार का कथन 'निरर्थक' निग्रहस्थान की सीमा में आता है। निरर्थक होने के कारण है–साध्य, हेतु एवं दृष्टान्त के रूप में केवल वर्णों का क्रमपूर्वक निर्देश करदियाजाना। इनका परस्पर न तो साध्य-साधनभाव है, और न ये वर्ण किसी वाच्य अर्थ का बोध कराते हैं ॥ ८ ॥

अविज्ञातार्थ निग्रहस्थान—'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने कहा—

परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञात-मविज्ञातार्थम् ॥ ९ ॥ (५१५)

[परिषत्प्रतिवादिभ्याम्] परिषत् और प्रतिवादी के द्वारा (वादी वक्ता का-) [त्रिः] तीन बार [अभिहितम्] कहा गया [अपि] भी (वाक्य जब) [अवि-ज्ञातम्] समझा नहीं जाता, (तब वह) [अविज्ञातार्थम्] अविज्ञातार्थ नामक निग्रहस्थान मानाजाता है।

चर्चा में कभी कोई वक्ता अत्यन्त क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करता है; अथवा ऐसे पदों का प्रयोग करता है, जो अपेक्षित अर्थों का बोध कराने में कहीं जाने नहीं जाते; अथवा इतनी द्रुतगति व तीव्रता से पदों का उच्चारण करता है, कि सुननेवाला कुछ नहीं समझपाता, अथवा ध्वनि कभी इतनी मन्द रहती है कि साथ कान लगाने पर भी शब्द सुनाई न पड़े, इत्यादि कारणों से जब वादी के कथन को–तीन बार बोलने पर भी समस्त सभा और प्रतिवादी–न समझपायें, तो वक्ता निगृहीत मानाजाता है। उसका उक्त प्रकार कथन 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान के अन्तर्गत आता है।

किसी विषय के निर्णय के लिए आयोजित सभा में चर्चा के समय ऐसा कथन प्रायः अपने मिथ्यावैदुष्य के ख्यापन के लिए अथवा अपनी शास्त्रचर्चा-सम्बन्धी दुर्बलता को छिपाने के लिए कियाजाता है। यही इसके निग्रहस्थान मानेजाने का आधार है ॥ ९ ॥

अपार्थक-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'अपार्थक' निग्रहस्थान का लक्षण बताया–

पौर्वापर्यायोगादप्रतिसंबद्धार्थमपार्थकम् ॥ १० ॥ (५१६)

[पौर्वापर्यायोगात्] पूर्वापर सम्बन्ध न होने से (प्रयुक्त पदों एवं वाक्यों में जब) [अप्रतिसंबद्धार्थम्] असंबद्ध अर्थवाला होजाता है (वाक्यसमूह, तब वह) [अपार्थकम्] अपार्थक नामक निग्रहस्थान है (प्रकृत अर्थ से अपगत-दूर होजाना)।

चर्चा के प्रसंग में जब ऐसे पद व वाक्य बोले जायें, जिनका पूर्वापर के साथ परस्पर कोई अर्थ-सम्बन्ध प्रतीत न हो, ऐसे असम्बद्धार्थक पदों वा वाक्यों का प्रयोग 'अपार्थक' नामक निग्रहस्थान का प्रयोजक होता है। पद-समुदाय का

अर्थ अपगत–दूर होजाने से–अर्थात् उनका कोई उपयुक्त पारस्परिक अर्थ न होने से–यह 'अपार्थक' नाम है। 'निरर्थक' में प्रकरण से असम्बद्ध अर्थ रहता है, यहाँ पदों के परस्पर सम्बन्ध का अभाव रहता है; यह इनमें भेद है।

वात्स्यायन-भाष्य में उदाहरणरूप से ये पद दियेगये हैं–"दश दाडिमानि, षडपूपाः,[1] कुण्डमजाजिनम्, पललपिण्डः, अध[2] रौरुकमेतत्, कुमार्याः पाय्यं,[3] तस्याः पिता अप्रतिशीनः" इन पदों का यथाक्रम अर्थ है–"दस अनार, छह पुए, कूँडा, बकरे अथवा बकरी का चमड़ा, मांस का टुकड़ा, अब विशेष हरिणसम्बन्धी यह, कुमारी का परिमाण अथवा प्रक्षण उसका पिता बूढ़ा"।

यद्यपि इन पदों में से प्रत्येक का अपना अर्थ है, परन्तु पूर्वापर के साथ किसी का अर्थ-सम्बन्ध नहीं है। चर्चा के प्रसङ्ग से इसप्रकार के पदों का बोला-जाना 'अपार्थक' निग्रहस्थान में आता है। वक्ता की अज्ञानता का द्योतक यहाँ निग्रहस्थान का प्रयोजक है ॥ १० ॥

---

१. कतिपय पुस्तकों में 'कुण्डम्, अजाजिनम्' इसप्रकार पृथक् पाठ मुद्रित है।

२. चौखम्बा, वाराणसी-संस्करणों में 'अथ' पाठ है। इसी अर्थ में 'अध' पद का प्रयोग भी देखाजाता है। 'रुरु' हरिण की एक जाति है, जिसकी पीठ की खाल पर चटाक (धब्बे) होते हैं। इस जाति के नर को 'झाँख' तथा मादा को 'चीतल' कहते हैं। इंग्लिश में इसका नाम Spotted Dear है। आचार्यों का सुझाव है, यहाँ 'अर्धोरुकमेतत्' पाठ होना चाहिये। कोषकारों ने (अर्धोरुकं वरस्त्रीणां···अंशुकम्)' अर्धोरुक वरस्त्रियों का वस्त्र लिखा है। 'अर्धोरुक' पद से यह भाव प्रकट होता है–वस्त्र आधे ऊरुभाग तक रहना चाहिये। कोष में 'वरस्त्री' पद वाराङ्गना की ओर संकेत करता प्रतीत होता है। सम्भव है, प्राक्काल में नृत्य आदि के अवसर पर वार-वनिता ऐसा वस्त्र पहिनती हों। आजकल विद्यालय जानेवाली बालिका प्रायः ऐसा वस्त्र पहनती हैं, जिसे मिनी स्कर्ट (Mini Skirt) कहाजाता है। आधुनिक कोष-संकलयिताओं ने 'अर्धोरुकं' का अर्थ 'पेटीकोट' बताया है, जिसको साड़ी के नीचे महिला पहिनती हैं। परन्तु यह टखने तक टाँगों को ढकता है, आधे ऊरु तक नहीं। यह अधिक सम्भव है, प्राक्काल में साड़ी के नीचे पहनने का वस्त्र घोंटुओं के ऊपर तक रहता हो। अथवा महिला-गण साड़ी के नीचे जाँघिया-जैसा वस्त्र पहनती हों।

३. 'पाय्यं' पद का अर्थ वाचस्पति मिश्र ने 'पयायितव्यम्' किया है, अर्थात् कोई पेय पदार्थ। वैसे यह पद पाणिनि [३।१।१२९] के अनुसार मान-परिमाण अर्थ में निपातित है।

अप्राप्तकाल—आचार्य सूत्रकार ने 'अप्राप्तकाल' नामक क्रमप्राप्त निग्रह-स्थान का लक्षण बताया—

अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥ ११ ॥ (५१७)

[अवयवविपर्यासवचनम्] प्रतिज्ञा आदि अवयवों का उलटफेर करके कथन [अप्राप्तकालम्] 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान कहाजाता है।

प्रतिज्ञा आदि अवयवों का अपने सामर्थ्य व प्रयोजन के अनुसार एक क्रम निर्धारित है। चर्चा तथा अन्य प्रसंगों में पञ्चावयव वाक्य के प्रयोग के अवसर पर उसका पालन करना आवश्यक होता है, जिससे अपेक्षित अर्थ की अभिव्यक्ति में सुविधा रहे। इसमें उलट-फेर करने से व्याख्येय अर्थ के स्पष्ट करने में अड़चन की सम्भावना रहती है, तथा अवयवों से बोध्य अर्थ आपस में असम्बद्ध-सा होजाता है। इसप्रकार का अवयवविपर्यास वक्ता की घबराहट से एवं उपयुक्त अवसर पर अवयव के न फुरने आदि से होता है, जो निग्रहस्थान का प्रयोजक है ॥ ११ ॥

न्यून-निग्रहस्थान—'न्यून' निग्रहस्थान का आचार्य ने लक्षण बताया—

हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥ १२ ॥ (५१८)

[हीनम्] रहित [अन्यतमेन] पाँचों अवयवों में से किसी एक [अपि] भी [अवयवेन] अवयव से (कथन) [न्यूनम्] 'न्यून' निग्रहस्थान कहाजाता है।

प्रतिपाद्य अर्थ की पूर्णसिद्धि के लिए पाँचों अवयवों का बोलना आवश्यक होता है। इससे अपेक्षित अर्थ की सिद्धि में कोई सन्देह नहीं रहता। चर्चा के अवसर पर किसी अवयव का न बोलाजाना साध्य की सिद्धि में बाधक रहता है। पाँचों अवयवों का प्रयोग साध्य का साधन मानागया है, उसके अभाव में साध्य असिद्ध रहेगा। इसप्रकार किसी अवयव का प्रयोग न कियाजाना वक्ता की असमर्थता को प्रकट करता है ॥ १२ ॥

अधिक-निग्रहस्थान—'अधिक' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

हेतूदाहरणाधिकमधिकम् ॥ १३ ॥ (५१९)

[हेतूदाहरणाधिकम्] हेतु और उदाहरण का जब अधिक प्रयोग कर-दियाजाय, तो वह [अधिकम्] 'अधिक' नामक निग्रहस्थान मानाजाता है।

पञ्चावयव वाक्य में एक हेतु एवं एक उदाहरण के प्रयोग से साध्य की सिद्धि सम्पन्न होने पर अतिरिक्त हेतु एवं उदाहरण का प्रयोग अनर्थक है, निष्प्रयोजन है। यही निग्रहस्थान का कारण है। एक हेतु एवं उदाहरण का निर्देश कर देने पर दूसरे हेतु एवं उदाहरण का कथन वक्ता की इस भावना को अभिव्यक्त करता है कि उसके द्वारा प्रयुक्त पहला हेतु कदाचित् साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ हो। यह असमर्थता का द्योतन निग्रहस्थान का प्रयोजक है।

'अधिक' निग्रहस्थान हेतु और उदाहरण के अतिरिक्त प्रयोग पर निर्भर है। प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन का अतिरिक्त प्रयोग सम्भव नहीं। यदि ऐसा कियाजाय, तो वह 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान के अन्तर्गत आयेगा। हेतु और उदाहरण का अधिक प्रयोग उसी दशा में निग्रहस्थान मानाजायगा, जब वाद के प्रारम्भ में एक हेतु एवं उदाहरण के कहेजाने का नियम निर्धारित करलियागया हो। ऐसे नियम के उल्लङ्घन में यह निग्रहस्थान है, अन्यथा नहीं।

उदाहरण है–यह प्रपञ्च मिथ्या है,–जड़ होने से, तथा दृश्य होने से; रज्जु-सर्प के समान, तथा गन्धर्वनगर के समान ॥ १३ ॥

पुनरुक्त निग्रहस्थान—'पुनरुक्त' निग्रहस्थान का सूत्रकार ने लक्षण बताया—

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥ १४ ॥ (५२०)

[शब्दार्थयोः] शब्द अथवा अर्थ का [पुनः] फिर, दुबारा [वचनम्] कथन करना [पुनरुक्तम्] 'पुनरुक्त' नामक निग्रहस्थान है, [अन्यत्र] अतिरिक्त स्थल में [अनुवादात्] अनुवाद से।

अनुवाद में शब्द अथवा अर्थ का दोहराना सप्रयोजन होता है, इसलिए अनुवाद के प्रसंग को छोड़कर अन्य स्थल में शब्द एवं अर्थ का दोबारा कहना पुनरुक्त निग्रहस्थान है। शब्द और अर्थ दोनों का दोहराना इस निग्रहस्थान के अन्तर्गत आने से यह 'शब्दपुनरुक्त' तथा 'अर्थपुनरुक्त' दो प्रकार का है। पहले का उदाहरण है–'शब्दः नित्यः, शब्दः नित्यः' अर्थात् 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है' इत्यादि। दूसरे का उदाहरण है–'शब्द अनित्य है, ध्वनि उत्पत्ति-निरोधधर्मक है'। यद्यपि यहाँ शब्द नहीं दोहरायेगये; तथापि दो प्रकार से कहे शब्दों का अर्थ एक है, अतः अर्थ दोहरायेजानेसे यह दूसरा पुनरुक्त है।

अनुवाद में शब्द अथवा अर्थ का दोबारा कहना दोषावह नहीं होता, क्योंकि वहाँ शब्द एवं अर्थ के दोबारा कहने से विशेष अर्थ का बोध कराना अभीष्ट होता है। जैसे 'गच्छ, गच्छ' 'जाओ, जाओ' यह शब्द का अभ्यास 'जल्दी चले जाओ' इस विशेष अर्थ का बोधक है। 'जाओ, अपना रास्ता पकड़ो' यहाँ शब्द तो भिन्न हैं, पर अर्थ उनका वही है; अर्थ का दोहराना भी 'जल्दी चले जाओ' इस विशेष अर्थ को प्रकट करता है। ऐसे स्थलों में पुनरुक्त-दोष नहीं मानाजाता। इसीके अनुसार आचार्य ने स्वयं अनुमान के पञ्चावयव वाक्य में हेतु के कथन के साथ प्रतिज्ञा के पुनः बोलेजाने को 'निगमन' का अभिमत स्वरूप दिया है[1] ॥ १४ ॥

---

१. द्रष्टव्य, **'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्'** [१ । १ । ३९] ।

'पुनरुक्त' निग्रहस्थान का अन्य लक्षण सूत्रकार ने बताया—

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ।। १५ ।। (५२१)

[अर्थात्—आपन्नस्य] अर्थ से प्राप्त-अर्थापत्ति से जाने गये भाव का [स्वशब्देन] अपने शब्द से [पुनर्वचनम्] फिर कहना (उसी भाव को, पुनरुक्त निग्रहस्थान मानाजाता है)।

गत सूत्र से 'पुनरुक्तम्' पद की यहाँ अनुवृत्ति है। एक बात कहदेने पर उससे अर्थापत्ति के द्वारा जो भाव अभिव्यक्त होजाता हो, उसे पुनः अपने शब्दों के द्वारा प्रकट करना 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान मानाजाता है। जैसे कहागया–'उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य होता है'। इतना कहने से अर्थापत्ति द्वारा यह प्रकट होजाता है–'जो अनुत्पत्तिधर्मक है, वह नित्य है'। इस भाव को साक्षात् शब्दों द्वारा पुनः अभिव्यक्त करना 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान है। तात्पर्य है–शब्द का प्रयोग किसी अर्थ का बोध कराने के लिए कियाजाता है। यदि वह पहले ही अर्थापत्ति द्वारा ज्ञात है, तो उसके लिए शब्दों का प्रयोग व्यर्थ होने से पुनरुक्त होगा ।। १५ ।।

अननुभाषण—क्रमप्राप्त 'अननुभाषण' निग्रहस्थान का लक्षण किया—

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारण-मननुभाषणम् ।। १६ ।। (५२२)

[विज्ञातस्य] अच्छीतरह जानेगये का [परिषदा] परिषत्–श्रोता समुदाय–के द्वारा, [त्रिः] तीन बार (वादी के द्वारा) [अभिहितस्य] कहेगये-उच्चारित कियेगये [अपि] भी (वाक्य के) [अप्रत्युच्चारणम्] उत्तर अथवा विरोध के लिए प्रतिवादी के कथन को पुनः न बोलना [अननुभाषणम्] 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान है।

प्रतिवादी के द्वारा कथित वाक्यार्थ को सभा में उपस्थित व्यक्तियों ने अच्छीतरह समझलिया है, तथा प्रतिवादी ने इसी अभिप्राय से अपने अभिमत को तीन बार कह दिया है, फिर भी वादी उसका उत्तर देने के लिए प्रतिवादी के कथन का प्रत्युच्चारण नहीं कररहा। वाद-कथा की यह मर्यादा है कि प्रतिवादी के कथन का अनुवाद कर वादी उसका उत्तर दे। यदि वादी प्रतिवादी के कथन को अपने मुँह से नहीं दुहराता, तो किस आधार पर वह उसका उत्तर देगा? परपक्ष के प्रतिषेध के अवसर पर, परपक्ष का प्रथम निर्देश कर उसका प्रतिषेध करना चर्चा में आवश्यक होता है, क्योंकि प्रतिषेध का आलम्बन-आश्रय वही है। जो ऐसा नहीं करता, वह निगृहीत मानाजाता है, चाहे वादी हो, अथवा प्रतिवादी ।। १६ ।।

अज्ञान-निग्रहस्थान—'अज्ञान' निग्रहस्थान का सूत्रकार ने लक्षण किया—

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥ १७ ॥ (५२३)

[अविज्ञातम्] नहीं जानागया [च] तथा अथवा भी [अज्ञानम्] 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान है ।

गत सूत्र से 'विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्य' इन पदों का यहाँ अनुक्रम समझना चाहिये । वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा कहेगये वाक्यार्थ को सभी सभास्थित व्यक्तियों ने अच्छी तरह समझलिया है, तथा इसी अभिप्राय से वादी अथवा प्रतिवादी ने अपने वाक्यार्थ को तीन बार कहदिया है, फिर भी यदि वादी अथवा प्रतिवादी अपने विरोधी के वाक्यार्थ को नहीं समझपाता, तो वह 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान में निगृहीत मानाजाता है । वादी और प्रतिवादी दोनों में से जो कोई अपने विरोधी के कहे वाक्यार्थ को उक्त परिस्थिति में नहीं समझापायेगा, वही निगृहीत होगा ॥ १७ ॥

अप्रतिभा-निग्रहस्थान—'अप्रतिभा' निग्रहस्थान का लक्षण सूत्रकार ने किया—

उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥ १८ ॥ (५२४)

[उत्तरस्य] उत्तर का [अप्रतिपत्तिः] न सूझना (अवसर पर), [अप्रतिभा] 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान है ।

वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा अपने अभिमत की स्थापना करदेने पर विरोधी के द्वारा प्रस्तुत प्रतिषेध का जब अवसर पर उत्तर नहीं सूझता, वह अप्रतिभा निग्रहस्थान है । वादी तथा प्रतिवादी दोनों में से जिस किसी को अपने विरोधी के कथन का उत्तर नहीं सूझता, वह निगृहीत मानाजाता है ॥ १८ ॥

विक्षेप-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'विक्षेप' का लक्षण सूत्रकार ने बताया—

कार्यव्यासङ्गात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥ १९ ॥ (५२५)

[कार्यव्यासङ्गात्] किसी कार्य के बहाने से [कथाविच्छेदः] चालू कथा का परित्याग करजाना [विक्षेपः] 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान है ।

कथा के चालू रहते हुए वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा किसी कार्य का बहाना बनाकर जो कथा का परित्याग करजाना है, वह विक्षेप निग्रहस्थान है । जो ऐसा करता है, वह निगृहीत मानाजाता है । अपने विरोधी के कथन का उत्तर देने में जब वक्ता अपने-आप को असमर्थ पाता है, तब बहाना करता है—मुझे अकस्मात् इस समय एक आवश्यक कार्य का स्मरण हो आया है, उसे पूरा करके कथा में पुनः भाग ले सकूंगा; यह कहकर चालू कथा को छोड़कर चलाजाता है । ऐसा व्यक्ति निगृहीत मानाजाता है । निग्रहस्थान में आजाने से स्वतः उस

कथाप्रसंग की समाप्ति होजाने पर कालान्तर में अन्य कथा का प्रारम्भ होना स्वाभाविक है। अनन्तर जो कथाप्रसंग चलेगा, वह दूसरा होगा ॥ १९ ॥

मतानुज्ञा-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान का सूत्रकार ने लक्षण किया—

स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोषप्रसङ्गो मतानुज्ञा ॥ २० ॥ (५२६)

[स्वपक्षे] अपने पक्ष में [दोषाभ्युपगमात्] दोष स्वीकार करलेने से [परपक्षे] परपक्ष में–विरोधी के पक्ष में [दोषप्रसङ्गः] उसी दोष का प्रदर्शन करना [मतानुज्ञा] 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान है।

वादी और प्रतिवादी दोनों में जो कोई–अपने पक्ष में विरोधी के द्वारा प्रकट कियेगये दोष का समाधान न कर–उसी दोष को अपने विरोधी के पक्ष में प्रसक्त करता है, वह वक्ता 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान में निगृहीत हुआ मानाजाता है। वादी-प्रतिवादी दोनों में से कोई एक जब दूसरे के कथन में दोष का उद्भावन करता है, और दूसरा अपने पक्ष में उस दोष का समाधान न कर उद्भावयिता के पक्ष में उसी दोष को प्रकट करता है, तो इसका तात्पर्य है कि उसने (दूसरे ने) अपने पक्ष में उस दोष को स्वीकार करलिया है। ऐसी दशा में वह निगृहीत मानाजायगा। यह 'मतानुज्ञा' निग्रहस्थान है; विरोधी के कथन को मानलेना ॥ २० ॥

पर्यनुयोज्योपेक्षण—'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान का आचार्य सूत्रकार ने लक्षण बताया—

निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम्॥ २१ ॥ (५२७)

[निग्रहस्थानप्राप्तस्य] निग्रहस्थान में आये हुए का [अनिग्रहः] निग्रहस्थान-प्राप्तिविषयक कथन न करना पर्यनुयोज्योपेक्षणम्] 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान है।

वादी-प्रतिवादी दोनों में से कोई एक ऐसा प्रयोग करता है, जो किसी निग्रहस्थान की सीमा में आजाता है; उसके विरोधी वक्ता को चाहिये कि वह इस बात का निर्देश करे कि इस वक्ता ने अमुक निग्रहस्थान का प्रयोग किया है। निग्रहस्थान का प्रयोक्ता 'पर्यनुयोज्य' कहाजाता है, क्योंकि उसपर निग्रहस्थान के प्रयोग का अनुयोग (आरोप) लगाया गया है। यदि निग्रहस्थान का प्रयोग करनेवाले वक्ता (पर्यनुयोज्य) की विरोधी वक्ता द्वारा उपेक्षा करदी जाती है,

वह उसके प्रयुक्त निग्रहस्थान का निर्देश नहीं करता, तो वह स्वयं 'पर्यनुयोज्यो-पेक्षण' नामक निग्रहस्थान के अन्तर्गत आजाता है।

ऐसी स्थिति में वादी-प्रतिवादी दोनों निग्रहस्थान के दोष से ग्रस्त होते हैं। पहले वक्ता ने स्पष्ट किसी निग्रहस्थान का प्रयोग किया है। दूसरा वक्ता उसके निर्देश की उपेक्षा करदेने से प्रस्तुत निग्रहस्थान की सीमा में घिरजाता है। उसके लिए स्वयं अपने दोष का प्रकट करना सम्भव नहीं होता। अपनी कमी को स्वयं कौन उघाड़े ! पहला वक्ता भी दूसरे के विषय में यह नहीं कहसकता कि इसने मेरे द्वारा प्रयुक्त अमुक निग्रहस्थान को नहीं पकड़ा, उसका निर्देश नहीं किया, इसलिए यह 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान से निगृहीत हुआ। क्योंकि ऐसा कहने से स्वयं उसके निग्रहस्थान-प्रयोग का भेद खुलता है। इसलिए कोई वक्ता स्वयं अपने दोष को प्रकट नहीं करेगा। ऐसी दशा में किसका पराजय हुआ, इसका निर्णय करना परिषत् अथवा मध्यस्थ का कार्य है। वस्तुतः प्रस्तुत निग्रहस्थान के अवसर पर वादी-प्रतिवादी दोनों दोषग्रस्त होते हैं। परन्तु प्रथम वक्ता द्वारा प्रयुक्त निग्रहस्थान की उपेक्षा करनेवाला द्वितीय वक्ता–चाहे वह वादी हो अथवा प्रतिवादी–प्रस्तुत निग्रहस्थान से निगृहीत समझना चाहिये ॥ २१ ॥

निरनुयोज्यानुयोग—अब क्रमप्राप्त 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान का लक्षण आचार्य सूत्रकार ने बताया—

अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो
निरनुयोज्यानुयोगः ॥ २२ ॥ (५२८)

[अनिग्रहस्थाने] अनिग्रह की स्थिति में [निग्रहस्थानाभियोगः] निग्रह-स्थान का अभियोग लगाना [निरनुयोज्यानुयोगः] निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान है।

चालू चर्चा में जब कोई वक्ता अपने विरोधी पर यह अभियोग लगाता है कि आपने निग्रहस्थान का प्रयोग किया है. पर वस्तुस्थिति में उसने निग्रहस्थान का प्रयोग नहीं किया होता, तो उस दशा में मिथ्या अभियोग लगानेवाला वक्ता स्वयं निरनुयोज्यानुयोग निग्रहस्थान से निगृहीत मानाजाता है ॥ २२ ॥

अपसिद्धान्त—क्रमप्राप्त 'अपसिद्धान्त' का लक्षण सूत्रकार ने किया—

सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात्
कथाप्रसङ्गोऽपसिद्धान्तः ॥ २३ ॥ (५२९)

[सिद्धान्तम्] सिद्धान्त को [अभ्युपेत्य] स्वीकार कर [अनियमात्] अनियम से [कथाप्रसङ्गः] कथा को चलाना [अपसिद्धान्तः] अपसिद्धान्त निग्रह-स्थान है।

कथा के समय किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार कर यदि कोई वक्ता उसके विपरीत कथन करता है, तो वह 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत मानाजाता है। जैसे एक वक्ता कहता है–सत् पदार्थ कभी स्वरूप को छोड़ता नहीं, अर्थात् सत् का विनाश नहीं होता। इसीप्रकार जो असत् है, वह आत्म-लाभ नहीं करता, अर्थात् असत् कभी उत्पन्न नहीं होता। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर अपने पक्ष की स्थापना करता है-यह समस्त व्यक्त जगत् एक प्रकृति (उपादान-तत्त्व का) विकार है, क्योंकि विकारों का अपने उपादान तत्त्व के साथ समन्वय देखाजाता है। जैसे मिट्टी के विकार घड़ा, शकोरा आदि मृद्धर्म से अन्वित रहते हैं। घट आदि विकारों में उनके उपादान-तत्त्व की मृद्रूपता बराबर बनी रहती है। इसीप्रकार यह समस्त व्यक्त विश्व सुख-दुःख-मोह से अन्वित देखाजाता है; यह अन्वयी धर्म उपादानरूप होने से विश्व के सुख-दुःख-मोहात्मक उपादानतत्त्व का निश्चय कराता है। उसीको 'प्रकृति' अथवा 'प्रधान' नाम से कहाजाता है।

उक्त प्रकार से पक्ष की स्थापना कियेजाने पर वक्ता से पूछाजाता है–यह प्रकृति है, और यह इसका विकार है, इसको कैसे पहचानाजाता है? वक्ता उत्तर देता है, उनका पहचानना स्पष्ट है–जो अन्वयी धर्मी अवस्थित रहता है, जहाँ कतिपय धर्मों का तिरोभाव होकर अन्य धर्म उभर आते हैं, वह उपादान-तत्त्व 'प्रकृति' है; तथा जो धर्म उभर आते हैं, वह 'विकार' है। जैसे ठोस गोल मृत्पिण्ड 'प्रकृति' है; वह आकार तिरोहित होकर गोल, पोल, शंख के समान गर्दन वाले खुले मुंह के आकारवाला घट उभर आता है, वह विकार है।

इस उत्तर पर गम्भीरतापूर्वक विचार करने से स्पष्ट होजाता है–वक्ता ने अपने प्रथम स्वीकृत सिद्धान्त को छोड़कर उससे विपरीत मान्यता को स्थापित किया है। वक्ता ने पहले यह सिद्धान्त स्वीकार किया–असत् का आविर्भाव नहीं होता और सत् का तिरोभाव नहीं होता। परन्तु प्रकृति-विकार का अन्तर (पहचान) बतलाते समय वक्ता ने कहा–मृत्पिण्ड का गोल-ठोस सत् आकार तिरोहित होजाता है; जो आकार अभीतक नहीं था, अर्थात् जो अभीतक असत् था, वह आकार घटरूप में आविर्भूत होजाता है। तब सत् और असत् के यथाक्रम तिरोभाव एवं आविर्भाव के विना किसी उपादान-तत्त्व में विकार के लिए प्रवृत्ति और निवृत्ति नहीं होसकती। इसलिए जहाँ उपादान और विकार का अस्तित्व है, वहाँ सत् का तिरोभाव और असत् का आविर्भाव आवश्यक है। ऐसी स्थिति में वक्ता अपने पूर्वस्वीकृत सिद्धान्त के विपरीत पक्ष की स्थापना से 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान के प्रयोग का दोषी ठहरता है।

यदि कहाजाय–उपादान तत्त्व मृत् के अवस्थित रहते हुए–घटादिरूप धर्मान्तर उत्पन्न होगा, यह 'प्रवृत्ति' है, तथा–घट उत्पन्न हुआ था, यह प्रवृत्ति

का उपरम अर्थात् निवृत्ति है। तात्पर्य है–उपादानतत्त्व की प्रवृत्ति-निवृत्ति; अथवा विकार का आविर्भाव-तिरोभाव; यह सब विकार के लिए 'प्रकृति' की प्रक्रिया का स्वरूप है; प्रकृति-तत्त्व प्रत्येक दशा में अवस्थित रहता है। फिर भी वक्ता से पूछाजासकता है–मृत् के अवस्थित रहने के समान पिण्ड अथवा घट के धर्म आकार को भी अवस्थित मानना चाहिये। आकार भी आविर्भूत व तिरोभूत न हों। क्योंकि ऐसा होने से भी सत् का तिरोभाव और असत् का आविर्भाव मानना पड़ता है। यदि वह आकार के आविर्भाव-तिरोभाव को मानता है, तो असत् के आविर्भाव और सत् के तिरोभाव को स्वीकार करलेता है, उससे नकार नहीं करसकता[1]। यदि आकार के तिरोभाव-आविर्भाव को नहीं मानता, तो उपादान-तत्त्व सदा अपनेरूप में पड़ा रहेगा; वहाँ कोई विकार सम्भव नहीं होसकता। ऐसी दशा में वक्ता का स्थापनीय पक्ष–यह समस्त व्यक्त विश्व एक प्रकृति का विकार है–असिद्ध होजाता है। वक्ता की उक्त मान्यताओं में वह अपने-आपको 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान से बचा नहीं सकता ॥ २३ ॥

हेत्वाभास-निग्रहस्थान—क्रमप्राप्त हेत्वाभासरूप निग्रहस्थान के विषय में आचार्य सूत्रकार ने बताया—

हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥ २४ ॥ (५३०)

[हेत्वाभासाः] सब हेत्वाभास [च] तथा (अथवा–भी) [यथोक्ताः] जैसे कहेगये हैं (उसीरूप में निग्रहस्थान हैं)।

प्रथम अध्याय के द्वितीय आह्निक [४-९ सूत्र] में हेत्वाभासों का निरूपण कियागया है। वहाँ जिसरूप में इनका विवरण प्रस्तुत है, उसीरूप में वे निग्रह-स्थान मानेजाते हैं। उनके निग्रहस्थान मानेजाने के लिये हेत्वाभास-लक्षण के अतिरिक्त अन्य किसी लक्षण अथवा स्वरूप के विवरण की आवश्यकता नहीं है।

---

१. ऐसा विवेचन इसी आह्निक के छठे सूत्र की व्याख्या में 'हेत्वन्तर' निग्रह-स्थान के प्रसङ्ग से प्रस्तुत कियागया है।
चालू प्रसंग में उक्त सिद्धान्त के अनुसार यह जानलेना चाहिये–सत् का विनाश अथवा तिरोभाव, और असत् का उत्पाद अथवा आविर्भाव न होने की व्यवस्था 'सद्वस्तु' के विषय में मानीजाती है। आकार कोई 'वस्तु सत् तत्त्व' नहीं है। उसके आविर्भाव-तिरोभाव होते हैं, तो होतेरहें। इससे 'वस्तु-सत् तत्त्व' के विनाश तथा असत् के उत्पाद को सिद्ध नहीं कियाजासकता। इस विवेचन का आधार 'सत्कार्यवाद-असत्कार्यवाद' की मान्यता है। इसका उपयुक्त व संक्षिप्त विवेचन [४।१।४८-५०] सूत्रों की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

इस शास्त्र में प्रमाण आदि सोलह पदार्थों का प्रथम नाममात्र से कथन कियागया है; अनन्तर उन सब पदार्थों के लक्षण एवं विस्तार के साथ ऊहापोह-पूर्वक परीक्षा कीगई है। इसप्रकार अपने विषय के उपपादन में यह पूर्णशास्त्र है।

इस शास्त्र के रचयिता ऋषि मेधातिथि गौतम हैं। इसका नाम 'न्यायदर्शन' है। इस पर अभीतक उपलब्ध सबसे प्राचीन भाष्य वात्स्यायन मुनि का है। इनका यथोपलब्ध विस्तृत इतिहास अन्यत्र प्रस्तुत करने का संकल्प है॥ २४॥

नभोगुणव्योमनेत्रमिते वैक्रमवत्सरे,
आश्विनाऽसितपक्षस्य तृतीयस्यां तिथौ तथा।
प्रभोर्गुरुचरणानां कृपया शनिवासरे,
विदुषां सन्तोषकरो ग्रन्थः पूर्त्तिमगादयम्॥

इति श्रीपूर्णसिंहतनुजेन तोफादेवीगर्भजेन, बलियामण्डलान्तर्गत,
'छाता' नगरनिवासिश्रीकाशीनाथशास्त्रिपादाब्जसेवालब्ध-
विद्योदयेन, बुलन्दशहरमण्डलान्तर्गत-**बनैल**-ग्राम-
वास्तव्येन, विद्यावाचस्पतिना—**उदयवीरशास्त्रिणा**
समुन्नीते गौतमीयन्यायदर्शनविद्योदयभाष्ये
पञ्चमाध्यायस्य द्वितीयमाह्निकम्।

सम्पूर्णश्चायं ग्रन्थः।

सूत्र-सूची

(अकारादिक्रमानुसार)

प

उद्धृत-सन्दर्भ-सूची

(अकारादिक्रमानुसार) पृष्ठ

विषय-निर्देशिका

(अकारादिक्रमानुसार)

फ

ब